।। कोबातीर्थमंडन श्री महावीरस्वामिने नमः ।।

।। अनंतलब्धिनिधान श्री गौतमस्वामिने नमः ।। ।। गणधर भगवंत श्री सुधर्मास्वामिने नमः ।।

।। योगनिष्ठ आचार्य श्रीमद् बुद्धिसागरसूरीश्वरेभ्यो नमः ।। ।। चारित्रचूडामणि आचार्य श्रीमद् कैलाससागरसूरीश्वरेभ्यो नमः ।।

आचार्य श्री कैलाससागरसूरि ज्ञानमंदिर

पुनितप्रेरणा व आशीर्वाद

राष्ट्रसंत श्रुतोद्धारक आचार्यदेव श्रीमत् पद्मसागरसूरीश्वरजी म. सा.

जैन मुद्रित ग्रंथ स्केनिंग प्रकल्प

ग्रंथांक : १

श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र

आचार्यश्री कैलाससागरसूरि ज्ञानमंदिर
कोबा, गांधीनगर-श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र
आचार्यश्री कैलाससागरसूरि ज्ञानमंदिर
कोबा, गांधीनगर-३८२००७ (गुजरात)
(079) 23276252, 23276204
फेक्स : 23276249
Websiet : www.kobatirth.org
Email : Kendra@kobatirth.org

शहर शाखा

आचार्यश्री कैलाससागरसूरि ज्ञानमंदिर
शहर शाखा
आचार्यश्री कैलाससागरसूरि ज्ञानमंदिर
त्रण बंगला, टोलकनगर
परिवार डाइनिंग हॉल की गली में
पालडी, अहमदाबाद – ३८०००७
(079) 26582355

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

श्री आवश्यकसूत्र

अनुवादक—

मु० भद्रा मु० मुनि श्री सौभाग्यसागरजी महाराज

प्रकाशक—

मु० चंदनमल नागोरी, ब्यावर

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

श्री आचाराङ्ग-सूत्रम्

प्रथम श्रुतस्कन्ध

[संशुद्ध मूलपाठ-संस्कृतच्छाया-शब्दार्थ-भावार्थ-विवेचन-टिप्पण-परिशिष्टान्वितम्]

अनुवादक:—

शास्त्रविशारद पं. मुनि श्री किशनलालजी म. के सुशिष्य
प्रसिद्ध वक्ता पं. मुनि श्री सौभाग्यमलजी महाराज.

सम्पादक:—

पं. रमन्तीलाल नलवाया. "न्यायतीर्थ"

प्रकाशक:—

श्री जैन साहित्य समिति, नयापुरा, उज्जैन

प्रथमावृत्ति	मूल्य	वीर सं० २४७७
१०००	२१)	वि० सं० २००७

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

प्रकाशक :—
मंत्री, श्री जैन साहित्य समिति,
नयापुरा, उज्जैन

प्रथमावृत्ति
१०००

श्री जा
श्री र
द्रः

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

समर्पण

शास्त्रविशारद पं. प्रवर मुनिश्री किशनलालजी म.

की पवित्र सेवा में

पूज्य गुरुदेव !

आपने मुझे बचपन से ही अपने चरण-कमलों में आश्रय दिया और अपने असीम अनुग्रह से मुझे साहित्य और समाज की यत्किञ्चित सेवा बजा सकने का सामर्थ्य प्रदान किया। आपके उपकारों से मैं उऋण नहीं हो सकता हूँ। तदपि "पत्रं पुष्पं फलं तोयं" की उक्ति के अनुसार यह अकिञ्चन गुरु-दक्षिणा श्रद्धापूर्वक आपके कर-कमलों में सादर समर्पित करता हूँ।

—"सौभाग्य मुनि"

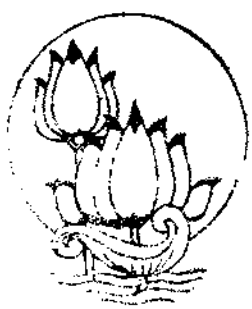

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

प्रस्तुत ग्रन्थ के लिए
समिति को सहायता देने वाले सज्जनों की
शुभ नामावली

५०००) श्रीमान सेठ घासीलालजी पांचूलालजी, नयापुरा, उज्जैन

२५००) ,, ,, भग्गाजी रतनलालजी, बदनावर और धार

७५०) ,, ,, जुगराजजी गा० श्रीश्रीमाल, येवला

७५०) ,, रावसाहब किशनलालजी नन्दलालजी, येवला

५००) ,, सेठ हरकचन्दजी माणकचन्दजी रांका, नयापुरा उज्जैन

५००) ,, ,, पूनमचन्दजी सा० रांका, नासिक

३००) ,, ,, मीठूमचन्दजी केवलचन्दजी ललवानी, मनमाड़

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

सम्पादकीय वक्तव्य

आज के युग में जबकि भौतिकवाद आँधी और तूफान की तरह बढ़ता चला जा रहा है, विज्ञान की नई-नई शोध विश्व-शान्ति को चुनौती दे रही है, संहारक-साधनों का विद्युद्गति से निर्माण किया जा रहा है, जबकि मानव भौतिक स्पर्धा के मैदान में जी-जान से दौड़ा जा रहा है, उसकी महत्त्वाकांक्षाएँ दानव की तरह बढ़ती जा रही हैं, जब कि मानव अपनी मानवता को भूलकर निर्जीव यन्त्रों के हाथ बिकता चला जा रहा है और जब कि विज्ञान के झंझावात ने धर्म और अध्यात्म के दीपक को बुझा-सा दिया है। ऐसे अवसर पर भगवान महावीर की अहिंसा, प्रेम एवं शान्ति से सनी हुई वाणी का प्रचार और प्रसार होना विश्व-शान्ति के लिए अनिवार्य है। भगवान् महावीर की वाणी वह महौषधि है जो विश्व-शरीर के समस्त रोगों को नष्ट कर उसे चिर आरोग्य प्रदान कर सकती है। भगवान् की वाणी में वह अनुपम शीतलता है जो संसार के संताप को दूर कर उसे शान्ति का रसास्वादन करा सकती है। उसमें वह ओज और तेज सन्निहित है जो मिथ्या भ्रान्तियों का निराकरण कर सत्य मार्ग को आलोकित करता है। अतएव भान भूले हुए विश्व को भगवान् की वाणी-सुधा का ज्ञान और पान कराना आज का युगधर्म है।

आज की दुनिया का एक बहुत बड़ा समुदाय धर्म को निरी रूढ़ि, पाखण्ड, आडम्बर और उन्नति का अवरोधक समझ कर उससे विमुख होता जा रहा है। धर्म के नाम से ही उसे चिढ़ छूटती है। वह धर्म को कलह और झगड़े का मूल मान बैठा है। कहना न होगा कि इस वर्ग की ऐसी धारणा के पीछे कोई हेतु अवश्य है। वह हेतु है वास्तविक धर्म की आज के धार्मिक कहलाने वाले व्यक्तियों के द्वारा की जाने वाली उपेक्षा और रूढ़ि को ही धर्म समझ लेने की मिथ्या मान्यता। वास्तविक धर्म के प्रति किसी भी वर्ग की उपेक्षा नहीं हो सकती। धर्म के बिना संसार का कार्य एक क्षण के लिए भी नहीं चल सकता। धर्म के आधार पर ही पृथ्वी, सूर्य, चन्द्रमा, आकाश, अग्नि, हवा, जल, समुद्र, पर्वत आदि प्रतिष्ठित हैं। प्रकृति की सारी क्रियाएँ धर्म से ही नियमित हैं। धर्म से ही मानव और अन्य प्राणियों का अस्तित्व है। धर्म ही सुख-शान्ति का स्रोत बहाने वाला और संसार को नन्दनवन बना देने वाला तत्त्व है। इस रहस्य को समझ कर भगवान् महावीर और उनके समकालीन महापुरुष बुद्ध ने जगत् कल्याण के लिए सत्य और अहिंसामय धर्म का उपदेश प्रदान किया। उन्होंने भी अपने समय में चली आने वाली रूढ़ियों के विरुद्ध अहिंसक क्रान्ति की और धर्म में आई हुई विकृति को दूर कर सत्य-धर्म की प्रतिष्ठा की। भगवान् महावीर और बुद्ध के इस मार्ग से प्रेरणा प्राप्त कर वर्त्तमान समय में महात्मा गांधी ने सत्य और अहिंसा पर अवलम्बित क्रान्ति का आश्रय लेकर जो अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की उससे सत्य और अहिंसा के प्रति विश्व का ध्यान पुनः आकर्षित हुआ। उत्तरोत्तर बढ़ती हुई हिंसा और अशान्ति से संक्षुब्ध विश्व के वातावरण में सत्य और अहिंसा का पुनः प्रतिष्ठापन हो यह नितान्त वाञ्छनीय है। भगवान् महावीर की वाणी मूल जैनागमों में संकलित है अतएव उनके अधिक से अधिक प्रचार और प्रसार में विश्व का कल्याण है और साथ ही साथ जैनधर्म की प्रचुरतर प्रभावना भी।

उक्त उदार दृष्टिकोण को सामने रखकर ही आचाराङ्ग सूत्र का अनुवादित और सम्पादित प्रस्तुत संस्करण पाठकों के सन्मुख रखा जा रहा है। जैनागमों में आचाराङ्ग सूत्र का सर्वप्रथम स्थान है। यह आगम सबसे अधिक प्राचीन और मौलिक है। इसमें प्ररूपित विषय अत्यन्त गम्भीर, व्यापक और तल-स्पर्शी है। मुमुक्षु आत्माओं के लिए यह आकाश-दीप की तरह पथ-प्रदर्शक है। यह धर्म के रहस्य को प्रकट

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

करने वाला, आध्यात्मिकता को जागृत करने वाला, जीवन की विषम गुत्थियों को सुलझाने वाला और जीवन को सत्य धर्म की ओर ले जाने वाला प्रथम कोटि का ग्रंथरत्न है।

प्रसिद्ध वक्ता पं. मुनि श्री सौभाग्यमलजी म. ने, जब मैं श्री श्रमण जैन सिद्धान्तशाला, रतलाम में अध्यापक के रूप में कार्य करता था, मेरे सामने आचाराङ्ग सूत्र का अनुवाद करने की अभिलाषा व्यक्त करते हुए इस कार्य में सहयोग देने के लिए मुझे पूछा। मैंने इसे अपना परम सौभाग्य समझा कि आगम-सेवा के पवित्रतम कार्य में मैं भी किसी अंश तक सहायक हो सकता हूँ। मैंने मुनिश्री को मुझ से जितना बन सकता है उतना सहयोग देना स्वीकार किया। मुनिश्री ने अनुवाद का कार्य आरम्भ कर दिया। मुनिश्री परिश्रमपूर्वक जैसे २ कार्य करते जाते वैसे २ अनुवादादि की पाण्डुलिपि मुझे संशोधन व सम्पादन के लिए देते जाते थे। इस प्रकार मैंने प्रस्तुत ग्रंथ का सम्पादन किया है।

सम्पादन शैली—श्री धर्मदास जैन मित्र मण्डल रतलाम के पुस्तकालय में संग्रहीत हस्तलिखित प्राचीन प्रतियों के आधार इसका मूल पाठ लिया गया है। पाठान्तरों के होने पर टीकाकार श्री शीलांकाचार्य विरचित संस्कृत टीका के आधार से पाठ-निर्णय कर मूल में रक्खा गया है। प्रारम्भ में पाठान्तरों को फुटनोट में स्थान दिया गया है परन्तु बाद में सुविधा की दृष्टि से विशिष्ट पाठान्तरों की एक स्वतंत्र सूची दे दी गई है। टीका के आधार से मूल का संस्कृतछायानुवाद भी दिया गया है ताकि संस्कृतज्ञों को मूल पाठ समझने में सुविधा हो। अभ्यासार्थी वर्ग की सुविधा के लिए अन्वययुक्त शब्दार्थ भी दिये गये हैं। इसके पश्चात् मूलानुस्पर्शी हिन्दी अनुवाद और तत्पश्चात् सूत्र के गम्भीर मर्म को स्पष्ट समझाने के लिए विवेचन दिया गया है। परिशिष्ट में पारिभाषिक शब्द कोष भी दे दिया गया है ताकि जैनेतर जनता को उस शब्द का मर्म समझ में आ सके।

यह ग्रंथ आज से ६ वर्ष पूर्व ही तय्यार हो चुका था। लेकिन द्वितीय महायुद्ध के कारण प्रकाशन-सामग्री की दुर्लभता एवं महर्घता के कारण प्रकाशित नहीं किया गया। महायुद्ध की समाप्ति के पश्चात् जब कागज सुलभ होने लगा तब इसके प्रकाशन का विचार किया गया। पं. श्री किशनलालजी महाराज तथा प्रसिद्ध वक्ता मुनिश्री सौभाग्यमलजी म. के उज्जैन के चातुर्मास में श्री जैन साहित्य समिति की स्थापना हुई और उसकी ओर से श्री गुरुकुल प्रिंटिङ्ग प्रेस ब्यावर में इसके मुद्रण की व्यवस्था की गई।

इस संस्करण के आदि निर्माण से लेकर मुद्रित एवं प्रकाशित होने तक सब कार्यों में मेरा हाथ रहा है इसलिए इस संस्करण में रह जाने वाली भूलों के लिए मैं अपने आपको दोषी समझता हूँ। आगम का कार्य महान् और गम्भीर है। इसके सम्पादन के लिए विशिष्ट योग्यता की आवश्यकता होती है यह जानते हुए भी आगम-सेवा की भावना से प्रेरित होकर मैंने यह उत्तरदायित्व अंगीकार किया। अज्ञान, प्रमाद और दृष्टिदोष के कारण भूल हो जाना स्वाभाविक है। यदि कोई सज्जन उदार और शुभ आशय से रही हुई भूलों के लिए सूचन करेंगे तो मैं उनका आभार मानूँगा।

जैन समाज के प्रसिद्ध लेखक पण्डितवर्य श्री शोभाचन्द्रजी भारिल्ल, न्यायतीर्थ प्रधानाध्यापक श्री जैन गुरुकुल, ब्यावर ने मेरी आग्रहभरी प्रार्थना को मान देकर विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावना लिखकर इस संस्करण का महत्व बढ़ाया है इसके लिए मैं उनका हार्दिक आभार मानता हूँ।

गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति साधवः॥

महावीर जयन्ती
श्री जैन गुरुकुल, ब्यावर

—बसन्तीलाल नलवाया, न्यायतीर्थ

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

प्राक्कथन

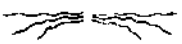

धन्य हैं वे मुमुक्षु-मधुकर जिन्होंने महामहिमामय महावीर के मुखारविन्द से झरते हुए मकरंद का साक्षात् पान किया ! और धन्य हैं वे भव्यात्मा नर-नारी जो परम्परागत वीतराग-वाणी का रसास्वादन करते हैं !! परम सौभाग्य है इस अकिञ्चन 'सौभाग्य' का, जिसे परम-पावनी, कर्म-मल-नाशिनी, भव्य-जन-मन-आह्लादिनी और सतत हितकारिणी वीतराग-वाणी की यत्किञ्चित् सेवा करने का पवित्रतम सुअवसर प्राप्त हुआ। मेरे जीवन की वह घड़ी सचमुच अनमोल थी, वह पल वस्तुतः बहुमूल्य था जिसमें मुझे आर्ष-वाणी की यथाशक्ति सेवा करने की पुण्य-प्रेरणा प्राप्त हुई। अस्तु !

जैन वाङ्मय में द्वादशाङ्गी का वही गौरवमय स्थान है जो वैदिक परम्परा में वेदों को प्राप्त है। सर्वज्ञ-सर्वदर्शी भगवान् महावीर ने अपनी कठोरतम साधना के फलस्वरूप जो अनुभव, जो ज्ञान का विमल आलोक, जो दिव्य प्रकाश और जो त्रिलोक-त्रिकालस्पर्शी रहस्य ज्ञान प्राप्त किया था वह उन्होंने जगत्कल्याण की उदात्त भावना से अपने वचनों के रूप में विश्व को प्रदान किया। वीतराग भगवान् के श्रीमुख से निकली हुई अमृतमय वाणी को विशिष्ट-ज्ञानी गणधरों ने संकलित करके सूत्रों का रूप प्रदान किया। वही द्वादशाङ्गी के नाम से विख्यात है।

आचाराङ्ग का स्थान और महत्त्व—

इस द्वादशाङ्गी में आचाराङ्ग का सबसे अधिक महत्वपूर्ण स्थान है। इसीलिए द्वादशाङ्गी में सर्वप्रथम आचाराङ्ग का ही नाम निर्देश किया गया है। सब तीर्थङ्कर तीर्थ-प्रवर्त्तन के आरम्भ में आचाराङ्ग का प्ररूपण करते हैं और बाद में शेष ग्यारह अङ्गों का। गणधरदेव भी इसी क्रम से उनका संकलन करते हैं। इससे आचारशास्त्र की महत्ता का स्वयमेव आभास हो जाता है। निर्युक्तिकार श्री भद्रबाहुस्वामी ने "अंगाणं किं सारो ? आयारो" कहकर इस शास्त्र को समग्र द्वादशांगी का सार बतलाया है। इससे अधिक आचार-शास्त्र का और क्या महत्व हो सकता है ? दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि आचारांग सकल जैन वाङ्मय का शिरमौर एवं चूडामणि है।

आचारांग, अध्यात्म की अनमोल निधि है। यह जागृति का जीवन-सूत्र है। यह आभ्यन्तर गुण-रत्नों का रत्नाकर है। इसमें वह तेज, वह प्रकाश और वह प्रेरणा है जो बाह्य संसार की कृत्रिम एवं मायावी चमक-दमक को निरस्त कर आत्मिक अन्धकार को नष्ट करती है। आत्मा के मौलिक गुणों को विकसित और पल्लवित करने की इसमें विपुल सामग्री है। यह अध्यात्म का उच्चतम कोटि का ग्रन्थ है। यह बाह्याचार की अपेक्षा अन्तरंग तत्त्वों पर विशेष भार देने वाला ग्रन्थरत्न है। यह पुरातन जैन संस्कृति का सूचन करने वाला प्रामाणिक एवं प्राचीनतम आधार है।

आचाराङ्ग-परिचय—

आचारांग सूत्र दो विभागों में विभक्त है। जिन्हें 'श्रुतस्कन्ध' कहा जाता है। प्रथम श्रुतस्कन्ध में नौ अध्ययन हैं जो "बंभचेरज्झयणाइं" (ब्रह्मचर्याध्ययन) कहलाते हैं। इन नौ अध्ययन के ४४ उद्देशक हैं।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

अध्ययन के अन्तर्गत विभाग को उद्देशक कहा जाता है। द्वितीय श्रुतस्कन्ध में सोलह अध्ययन हैं। उनमें मुख्यरूप से आहार, शय्या, वस्त्र, पात्र आदि के ग्रहण-अग्रहण सम्बन्धी विधि-निषेधात्मक बाह्य आचार का प्ररूपण किया गया है, जबकि प्रथम श्रुतस्कन्ध में तत्त्वज्ञान और अध्यात्म का तलस्पर्शी विवेचन है।

इस ग्रंथ के अर्थरूप से प्रणेता तो स्वयं सर्वज्ञ सर्वदर्शी भगवान् महावीर देव हैं और सूत्ररूप की अपेक्षा श्रीमत् सुधर्मस्वामी हैं—जो भगवान के पञ्चम गणधर थे और जिनकी शिष्य-प्रशिष्य परम्परा अब तक अविच्छिन्नरूप से चली आ रही है। जिसके अर्थरूप प्रणेता स्वयं भगवान् हों और सूत्ररूप प्रणेता चार ज्ञान के स्वामी हों उसकी प्रामाणिकता के लिए शंका का अवकाश ही नहीं रह जाता है। परन्तु इस ग्रंथ का उत्तर भाग जो वर्त्तमान में उपलब्ध हो रहा है वह अपने मूलरूप में ही है या उसमें दुर्भिक्ष और काल-प्रवाह के कारण न्यूनाधिक्य हुआ है यह चर्चा एवं शोध का विषय बना हुआ है। पूर्वार्ध और उत्तरार्ध की रचना शैली, भाषा और विषय-प्रतिपादन में रही हुई भिन्नता के कारण विद्वद्वर्ग में इस सम्बन्धी ऊहापोह हो रहा है। तत्त्व केवलिगम्य है।

इस ग्रंथ पर श्रीमद् भद्रबाहुस्वामी विरचित निर्युक्ति, प्राकृतभाषा निबद्ध चूर्णि, शीलाङ्काचार्य विरचितवृत्ति, अजितदेवकृत दीपिका आदि टीका ग्रन्थों का निर्माण हुआ है। शीलाङ्काचार्य अपनी टीका में गन्धहस्तिकृत शस्त्रपरिज्ञा विवरण का अत्यन्त गहन-ग्रन्थ के रूप में उल्लेख करते हैं। वह विवरण उपलब्ध नहीं हुआ।

यूरोप महाखण्ड में प्रो. जेकोबी और शुब्रिंग के द्वारा इस ग्रन्थ का मूलपाठ और अनुवाद प्रकाशित हुए हैं। भारतवर्ष में आगमोदय समिति की तरफ से सटीक संस्करण प्रकाशित हुआ है। इसके अतिरिक्त बाबू धनपतिसिंह बहादुर की तरफ से प्रकाशित संस्करण, पूज्य अमोलकऋषिजी म. कृत अनुवाद वाला संस्करण, संतबाल कृत गुजराती अनुवाद, राजकोट से प्रकाशित संस्करण आदि २ अब तक इस ग्रन्थ के कतिपय संस्करण प्रकट हुए हैं।

विशिष्ट भाषा-शैली—

उपलब्ध जैन आगमों में आचाराङ्ग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध की भाषा और वाक्यपद्धति सबसे विलक्षण है। अन्य आगमों की भाषा और इसकी भाषा का भेद स्पष्ट दिखाई देता है। भाषा-विशेषज्ञों का यह अनुमान है कि इसकी भाषा अन्य जैन आगमों की भाषा की अपेक्षा प्राचीनतम है। आचाराङ्ग के प्राचीनतम आगम होने का उसकी भाषा भी प्रबलतम प्रमाण है।

इसकी भाषा की यह लाक्षणिकता है कि इसमें बहुत छोटे-छोटे पद हैं पर अर्थ की दृष्टि से वे बहुत गम्भीर और विस्तृत हैं। आचाराङ्ग के पदों में सूत्र का लक्षण अधिक स्पष्ट रूप से पाया जाता है। कम से कम अक्षरों में अधिक से अधिक अर्थ को सूचित करने वाला 'सूत्र' कहा जाता है। सूत्र का यह लक्षण इसके पदों में विशेष रूप से पाया जाता है। देखने में छोटे लगने वाले इसके पद 'गागर में सागर' की उक्ति को चरितार्थ करते हैं। सूत्रकार ने बड़ी ही कुशलता के साथ सागर के समान विस्तृत अर्थ को छोटे २ पद रूपी गागर में समा देने का सफल प्रयत्न किया है।

इसके अतिरिक्त इसकी भाषा में गद्य और पद्य का मिश्रण पाया जाता है। कहीं कहीं केवल गद्य है और थोड़े ही अन्तर से प्राचीन छोटे २ छन्दों में पद्य भी आ जाते हैं। कहीं केवल पद्य हैं और कहीं

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

गद्य-पद्य का ऐसा सम्मिश्रण है कि साधारणतया उनका भेद भी नहीं जाना जाता है। तुलनात्मक अभ्यासियों का कहना है कि यह शैली अति प्राचीन है और प्राचीन उपनिषदों, ऐतरेय ब्राह्मण और कृष्ण यजुर्वेद में भी इस शैली का अनुसरण हुआ है।

इस पर से यह निष्कर्ष निकलता है कि इसकी भाषा प्राचीन अर्धमागधी है। ध्यानपूर्वक पढ़ने वाले समझदार पाठक को इसकी भाषा में माधुर्य और प्रसाद गुण के दर्शन होते हैं। निष्कर्ष यह है कि आचारांग की भाषा और शैली बड़ी मनोहर, आकर्षक और प्रसादगुणोपेत है।

विषय-निर्देश—

यह पहले कहा जा चुका है कि प्रथम आचारांग अध्यात्म का और तत्त्वज्ञान का प्रतिपादक ग्रंथ है। तदनुसार इसका प्रतिपाद्य विषय वही है जो आत्मा और तत्त्व से सम्बन्ध रखता है। अतः इस ग्रन्थ का आरम्भ ही आत्मा और उसके पुनर्जन्म सम्बन्धी विचारणा को लेकर हुआ है। प्रथम अध्ययन के प्रथम उद्देशक में आत्मा का अस्तित्व, उसका भवान्तर में गमनागमन और गमनागमन के कारणों की मीमांसा की गई है। उक्त मीमांसा करते हुए आत्मा के शुद्ध स्वरूप और कर्मबन्ध के कारणों का निरूपण किया गया है। हिंसा और ममत्व कर्मबन्धन के मुख्य कारण हैं अतः कर्म-बन्ध से मुक्त होने की अभिलाषा रखने वाले मुमुक्षुओं को हिंसा और ममत्व से दूर रहना चाहिए, यह बतलाने के लिए द्वितीय आदि उद्देशकों में पृथ्वी, अप्, तेजस्, वनस्पति, त्रस और वायुकाय की हिंसा का परिहार करने का उपदेश दिया गया है। पृथ्वी, पानी आदि में भी अव्यक्त चेतना वाली आत्माएँ हैं यह सत्य सर्वप्रथम जैनधर्म ने ही जगत् के सामने रक्खा और उन अव्यक्त आत्माओं के प्रति भी अहिंसक रहने का न केवल उपदेश ही दिया अपितु वैसा आचरण करके भी बताया। यह जैनधर्म की अहिंसा की लाक्षणिकता है। जो व्यक्ति इन सूक्ष्म जीवों के प्रति भी अहिंसक रह सकता है वह स्थूल जीवों के प्रति तो अहिंसक रहेगा ही। यह बात दूसरी है कि अहिंसा के उद्देश्य और हार्द को न समझने के कारण कोई व्यक्ति केवल रूढ़ि के अनुसार सूक्ष्म जीवों की यतना का तो ध्यान रक्खे और लोभादि कषायों के वश होकर स्थूल जीवों की अहिंसा के प्रति दुर्लक्ष करे। ऐसा करने से उसका अविवेक ही प्रकट होता है। सच्चा मुमुक्षु अहिंसा के हार्द को समझ कर उसका पालन करता है।

आचाराङ्ग में जगह २ यह स्पष्ट किया गया है कि कर्मबन्ध या मोक्ष का मुख्य आधार बाह्य क्रियाओं पर उतना नहीं है जितना आत्मा की अन्तर-वृत्तियों पर। अतएव अन्तर-वृत्तियों के संशोधन पर मुख्य ध्यान देना चाहिए। अहिंसा की आराधना के लिए भी अन्तर-वृत्तियों में अहिंसा व्याप्त हो जानी चाहिए। बाहर से अहिंसक रहने पर भी वृत्तियों में हिंसा हो सकती है और वह हिंसा कर्म-बन्धन का कारण हो जाती है। इसलिए वृत्तियों में अहिंसा, सत्य आदि गुणों को रमाने का प्रयत्न होना चाहिए।

दूसरे अध्ययन में 'लोकविजय' का वर्णन है। जब तक साधक बाह्य पदार्थों और बाह्य-सम्बन्धों में उलझा रहता है तब तक वह आत्मा के साक्षात्कार और उसकी अनुपम विभूति से वञ्चित रहता है। आत्मदर्शन के लिए बाह्य संसार—धन धान्य, माता-पिता स्त्री आदि परिवार—की ममता का परिहार करना आवश्यक होता है। अतएव इस अध्ययन में सांसारिक वस्तुओं से ममता का सम्बन्ध तोड़ लेने का मर्मस्पर्शी उपदेश दिया गया है। यह उपदेश देते हुए भी स्पष्ट किया गया है कि धन-धान्य, माता-पिता आदि परिवार का बाह्यदृष्टि से त्याग कर देने पर भी अन्तर-वृत्तियों में उनके प्रति ममता का अंश रह जाता है अतः उसको सर्वथा निर्मूल करने का प्रयास करने में पूर्ण जागरूकता रखनी चाहिए।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

तृतीय अध्ययन में यह बतलाया गया है कि त्यागमार्ग में चलते हुए अनेक इष्ट-अनिष्ट संयोगों में से गुजरना होता है। अतः साधक को उनसे विचलित न होना चाहिए। इसके लिए 'शीतोष्णीय' अध्ययन में सुख-दुख-सहिष्णु बनने की—समभाव रखने की शिक्षा प्रदान की गई है। इष्ट-अनिष्ट में समभाव रखना ही स्थितप्रज्ञता है। इसकी आराधना, साधना का उपयोगी अंग है।

चतुर्थ 'सम्यक्त्व' अध्ययन में साध्य के प्रति अटल श्रद्धा रखने का विविध रीति से प्ररूपण किया गया है। मोक्ष और मोक्ष के साधनों के प्रति जब तक पर्वत की भांति अडोल विश्वास नहीं होता तब तक उनकी ओर हार्दिक प्रवृत्ति नहीं होती अतः श्रद्धा के दीपक को प्रबल झंझावात में भी सुरक्षित रख सकने की शक्ति साधक में पैदा होनी चाहिए। यह चतुर्थ अध्ययन का निरूपणीय विषय है।

पाँचवे अध्ययन में चारित्र को लोक का सार कहा गया है। इस असार संसार में चारित्र ही सार है अतः साधक को चारित्र के विकास की ओर ध्यान देना चाहिए। सम्यक् और शुभमार्ग पर प्रवृत्ति करना और असम्यक् एवं अशुभ क्रियाओं से निवृत्त होना सच्चा चारित्र है। यह समझ कर अशुभ और अशुद्ध क्रियाओं से बचना चाहिए। यही चारित्र है और यही लोक-सार है।

छठे अध्ययन में कर्म-मैल को धो डालने के उपायों का दिग्दर्शन कराया गया है। इसमें यह भी बताया गया है कि दीक्षा लेने के बाद भी पूर्वसंस्कार जागृत होकर साधक को विचलित करने का प्रयास करते हैं अतः साधक को इस विषय में सावधान रहना चाहिए। उपयोगपूर्वक देह-दमन, अनन्य भक्ति, समभाव आदि कर्म-विनाश के उपाय हैं। सप्तम अध्ययन विच्छिन्न हो गया अतः उसके विषय में किसी प्रकार की कल्पना नहीं की जा सकती।

आठवें अध्ययन में कुसंग-परित्याग, प्रलोभनविजय, संकल्पबल की सिद्धि, प्रतिज्ञापालन, स्वाद-निग्रह तथा समाधिमरण का वर्णन किया गया है।

नौवें अध्ययन में साधना-जीवन के आदर्श के रूप में स्वयं भगवान् की साधक अवस्था का वर्णन किया गया है। साधना के मार्ग में आने वाले परीषह-उपसर्गों में कैसी सहनशीलता रखते हुए संयम की साधना करनी चाहिए यह बताना ही इस अध्ययन का अभिधेय है।

तात्पर्य यह है कि आचाराङ्ग में अहिंसा, सत्य, त्याग, संयम, तप, अनासक्ति इत्यादि का तल-स्पर्शी विवेचन है और इसमें वे सब तत्त्व विद्यमान हैं जो आध्यात्मिक जीवन की सर्वतोमुखी प्रगति के लिए अनिवार्य हैं।

अनुवाद की प्रेरणा—

इस विशिष्ट आगम-ग्रन्थ के लिए आरम्भ से आकर्षण था ही। इस बीच शारीरिक कारण से रतलाम में कुछ अधिक समय तक रुक जाने का प्रसंग उपस्थित हुआ। शहर से बाहर दीवान बहादुर सेठ केशरीसिंहजी सा. कोटा वाले के विशाल उद्यान में बने हुए भवन में स्वास्थ्य के हेतु ठहरना पड़ा। यहाँ कतिपय स्वाध्यायप्रेमी और वाचनरसिक बन्धुओं के साथ प्रातःकाल के समय दैनिक वाचन का कार्यक्रम रक्खा था। उन बन्धुओं के साथ वाचन और शास्त्रीय विषयों पर विचारों का आदान-प्रदान करते हुए आचारांग सूत्र के पुनर्वाचन का अवसर प्राप्त हुआ। उस समय पूज्य श्री अमोलकऋषिजी म. कृत हिन्दी अनुवाद के अतिरिक्त हिन्दी भाषा में आचारांग के गम्भीर पदों के अर्थ को स्पष्ट रूप से व्यक्त

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

करने वाला कोई दूसरा संस्करण नहीं था। यह अभाव उस समय खटका। मेरे सद्भाग्य से उस समय अन्तःकरण में यह शुभ प्रेरणा हुई कि अपनी शक्ति के अनुसार इस दिशा में यत्किञ्चित् प्रयास किया जाय। किसी शुभ घड़ी में यह अन्तर-प्रेरणा हुई कि उसने शीघ्र ही मूर्तरूप ले लिया और वीतराग-वाणी की यथाशक्ति यत्किञ्चित् सेवा बजाने का प्रयास करने जितना साहस बटोर कर मैंने लिखना आरम्भ किया। उस समय रतलाम में चलने वाली सिद्धान्तशाला के सुयोग्य अध्यापक पं. बसन्तीलालजी नलवाया के सन्मुख मैंने अपना उक्त विचार प्रकट किया। उन्होंने यह सुनकर हार्दिक प्रसन्नता प्रकट की और मुझे इस पवित्र कार्य के लिए प्रोत्साहन देते हुए आवश्यकतानुसार पूरा २ सहयोग देने की अपनी भावना व्यक्त की। सहयोग और साधन-सामग्री के आधार पर अनुवाद के कार्य का मंगलमय आरंभ किया गया। यही प्रस्तुत संस्करण के निर्माण की आद्य भूमिका है।

प्रस्तुत संस्करण—

आरम्भ में मूल, शब्दार्थ और भावार्थ लिखने का ही विचार था और इसी विचार के अनुसार पूरा प्रथम अध्ययन लिखा भी जा चुका परन्तु उससे चाहिए जैसा सन्तोष नहीं हुआ। साधारण कोटि के जनसमुदाय के लिए भी आचारांग का मर्म ग्राह्य हो सके इसके लिए और भी अधिक भावोद्घाटन करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। इस आशय से प्रेरित होकर भावों को अधिक स्पष्ट करने के लिए सरल विवेचन भी लिखना आवश्यक और उचित प्रतीत हुआ अतः प्रारम्भ से विवेचन लिखा गया। विवेचन में प्रायः टीका का उपयोगी २ बहुत सारा विषय ले लिया गया है। साथ ही यह सब दृष्टियों से परिपूर्ण संस्करण तैयार हो इस अभिप्राय से इसमें संस्कृतच्छाया और टिप्पण भी दे देना उचित समझा। इस तरह प्रस्तुत संस्करण में संशोधित मूलपाठ, संस्कृतच्छाया, अन्वययुक्त शब्दार्थ, भावार्थ, विवेचन और आवश्यक टिप्पणियाँ दी गई हैं।

मूलपाठ की अधिक से अधिक शुद्धता और प्रामाणिकता की ओर पर्याप्त लक्ष्य दिया है। श्री धर्मदास जैन मित्र मण्डल रतलाम के पुस्तकालय में विद्यमान हस्तलिखित प्राचीन प्रतियों और आगमोदय समिति की ओर से प्रकाशित सटीक संस्करण को सामने रखकर पाठ का निर्णय किया गया है। इसमें टीकाकार द्वारा सम्मत पाठ को मुख्य मान्यता दी गई है। अनुवाद और विवेचन करते हुए भी प्रायः टीकाकार के आशय को लक्ष्य में रक्खा गया है। विशिष्ट पाठ भेदों का संकलन करके परिशिष्ट में पाठान्तरों की अलग सूची दी गई है। साथ ही पारिभाषिक शब्दकोष भी परिशिष्ट में दिया गया है ताकि जैनेतर जनता को भी उन शब्दों के अर्थ के सम्बन्ध में किसी तरह का भ्रम न हो और वे उसके ठीक-ठीक अभिप्राय को समझ सकें। इस प्रकार प्रस्तुत संस्करण को अधिक से अधिक उपयोगी बनाने का प्रयास तो किया गया है परन्तु इसमें कहाँ तक सफलता मिली है इसका निर्णय तो पाठक ही कर सकते हैं।

सहायक और सहायक ग्रन्थ—

प्रस्तुत अनुवाद और विवेचन करते हुए मेरे सामने आचारांग सूत्र की शीलाङ्काचार्य विरचित संस्कृत टीका (जिसमें भद्रबाहुस्वामी-विरचित निर्युक्ति भी है और जो आगमोदय समिति की ओर से प्रकाशित हुई है), पूज्य अमोलकऋषिजी म. कृत हिन्दी अनुवाद और संतबालजी कृत गुजराती अनुवाद मुख्यरूप से थे। विवेचन में संतबालजी द्वारा लिखित गुजराती नोंधों का अवलम्बन लिया गया है। और भी कतिपय ग्रन्थों का प्रस्तुत संस्करण के लिए उपयोग किया गया है। अतः उन सब लेखकों और अनुवादकों का मैं आभार मानता हूँ।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

मेरे पूज्यपाद गुरुदेव श्री किशनलालजी म. की असीम अनुकम्पा के कारण ही मैं कुछ सेवा बजाने लायक बन सका हूँ। उन्होंने ही मुझे अबोध बाल्य अवस्था में अपने चरणों में आश्रय देकर आज इस स्थिति में पहुँचाया है अतः सबसे प्रथम उनका आभार मानते हुए उनके चरणों में श्रद्धा समेत मस्तक झुकाता हूँ। मेरे सहयोगी मुनिराजों के सहयोग का उल्लेख करना भी मैं नहीं भूल सकता जिन्होंने मेरी हर तरह सेवा करके मुझे इस काम में सहयोग प्रदान किया।

मेरे इस साहित्यिक कार्य में आदि से अन्त तक सहयोग देने वाले और प्रस्तुत अनुवाद और विवेचन के संशोधक और सम्पादक पं. बसन्तीलालजी नलवाया, न्यायतीर्थ के सहयोग का यहाँ उल्लेख करना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ। उनके विद्वत्तापूर्ण सहयोग और परिश्रम के कारण प्रस्तुत संस्करण इस रूप में पाठकों के सन्मुख प्रस्तुत हो सका है।

इस अनुवाद और विवेचन में यथाशक्य सावधानी रखते हुए भी अज्ञान से, प्रमाद से या किसी कारण से जिनदेव की आज्ञा से विपरीत प्ररूपण करने में आया हो—लिखने में आया हो तो "मिथ्या मे दुष्कृतं भूयात्"। विद्वद्वर्ग इसकी अच्छाई को ग्रहण कर, त्रुटियों के लिए सहृदयभाव से सूचना करेंगे तो उनका आभारी रहूँगा।

यदि मेरे इस प्रयास से एक भी पाठक शुद्ध वीतराग-धर्म की ओर अभिमुख हो सका तो मैं अपने प्रयत्न को सार्थक समझूंगा। मेरा यह प्रयास ज्ञान, दर्शन और चारित्र का विकास करने वाला, धार्मिक एवं आध्यात्मिक जागृति को प्रेरणा देने वाला और नवचेतना का प्रसार व प्रचार करने वाला हो। यही मंगल कामना है।

चैत्र कृष्णा १ सं.२००६
कुन्दन भवन, ब्यावर

—सौभाग्य मुनि

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

भूमिका

अतीत काल में, विश्व के विविध प्रदेशों में और विभिन्न समयों में, जो महान् मनीषी महर्षि हो गये हैं, उन्होंने अपने जीवनव्यवहार से मानव-जाति के समक्ष स्पृहणीय आदर्श उपस्थित किये हैं। उनके जीवन की चर्या तत्कालीन प्रजा के लिए कितनी प्रेरणा और कैसी स्फूर्तिदायक रही होगी, यह हमारे लिए कल्पना का ही विषय है किन्तु उनकी चर्या का और उनके उपदेशों का जो विवरण आज हमें उपलब्ध है, वह भी कम प्रभावशाली और प्रेरणाप्रद नहीं है। जिन दूरदृष्टा महापुरुषों ने उनके चरित और उपदेश हम तक पहुँचाए हैं और हमें उनसे परिचय प्राप्त करने योग्य बनाया है, उनका हमारे ऊपर असीम ऋण है। हम उन महान् उपदेष्टाओं के साथ उनके संदेशवाहकों के समक्ष भी अपना मस्तक झुकाते हैं। साहित्य के उन निर्माताओं ने यदि उन चरितों और उपदेशों को अक्षर रूप में निबद्ध न किया होता तो हम कितने भाग्यहीन होते ? हम मानव-जाति की अनमोल विभूतियों से अपरिचित ही न रह गये होते, बल्कि निविड़ अन्धकार में भटकते हुए, टटोलने पर भी रास्ता न खोज पाते। आज हमारे सामने जीवन के चरम लक्ष्य तक पहुँचने के लिए जो विस्तृत राजपथ है, उस पथ के निर्माता अगर उपदेष्टा पुरुष हैं, तो उसके प्रदर्शक साहित्यकार मनीषी हैं। लोकोत्तर पुरुषों की पीयूषवर्षिणी वाणी को शाश्वत स्वरूप प्रदान करने वाले साहित्यकार ! हम तुम्हारे प्रति कृतज्ञतापूर्वक श्रद्धा और भक्ति प्रकट करते हैं। मलयज-सौरभ को जिस प्रकार पवन विश्वव्यापी बनाता है, उसी प्रकार तुमने महापुरुषों के पावन वचनों को जगद्व्यापी बनाया है।

आज संसार में सैकड़ों भाषाएँ प्रचलित हैं और उन सब में न्यूनाधिक साहित्य उपलब्ध है। उस साहित्य के ग्रन्थों की गणना करना सरल काम नहीं है। किन्तु उस असीम साहित्य का अगर मौलिक विचारधाराओं के आधार पर वर्गीकरण किया जाय तो वह विचारधाराएँ भी अनेक प्रकार की होंगी। किन्तु यहाँ हमें विश्वसाहित्य की विभिन्न विचारधाराओं पर विचार नहीं करना है। वह एक पृथक् और स्वतंत्र विषय है, जो काफी विस्तार की अपेक्षा रखता है। अतएव यहाँ विश्वसाहित्य के एक अंगभूत जैनसाहित्य के विषय में ही संक्षेप से विचार करना है।

जैनसाहित्य बहुत व्यापक है। अध्यात्म, धर्म, दर्शन, नीति, राजनीति, ज्योतिष, आयुर्वेद, व्याकरण, काव्य, कोष, छंद, अलंकार, अर्थशास्त्र आदि कोई भी विषय ऐसा नहीं जिस पर जैनाचार्यों ने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ न लिखे हों। यही नहीं कि उन्होंने प्रत्येक विषय पर ग्रन्थ लिखे हैं, वरन उन विषयों संबंधी विचार के विकास में भी सराहनीय योग दिया है। उन्होंने प्रत्येक विषय में अपनी मौलिकता की छाप लगाई है। पर साधारण विषयों पर जैनाचार्यों द्वारा लिखे हुए समग्र-साहित्य की बात छोड़ दीजिए। उसे हम सामान्य-साहित्य में ही परिगणित कर सकते हैं। सिर्फ जैनदर्शन और जैनधर्म के प्रतिपादक साहित्य को ही जैनसाहित्य मान लें, क्योंकि उसी में जैनपरम्परा के विशिष्ट दृष्टिकोण का तथा जैनाचार-विचार का असाधारण स्वरूप हमें उपलब्ध होता है। ऐसा साहित्य भी विपुल परिमाण में मौजूद है। यह साहित्य एक अनूठी विचारधारा का मूल स्रोत है। जैनविचारधारा से मिलती-जुलती अनेक विचारधाराएँ समय-समय पर प्रवाहित हुई हैं, मगर उनमें से कोई भी इतनी प्राचीन नहीं,

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

जितनी जैनविचारधारा प्राचीन है। अतएव उन सब विचारधाराओं का मूल स्रोत जैनविचारधारा ही प्रतीत होती है। यद्यपि यह तथ्य इतिहास से सिद्ध किया जा सकता है, पर यहाँ हमें उस पर विचार नहीं करना है। हमारा आशय इतना ही है कि जैनसाहित्य एक मौलिक विचारधारा का वाहक है और उसका आदि-स्रोत है।

विचारधारा की मौलिकता क्या है? यह प्रश्न गंभीर है और इसका उत्तर संक्षेप में पूरी तरह नहीं दिया जा सकता। जैन-विचारधारा विचार-जगत् में और व्यवहार-जगत् में एक अपूर्व प्रकाश डालने वाली है। क्षेत्र और काल की परिधियों से पर जो परम और चरम सत्य है, जो शाश्वत और सम्पूर्ण है, उसी सत्य की ओर वह संकेत करती है। वह हमें विकल से सकल की ओर ले चलती है और खण्डित सत्यांशों को अखण्डित सत्य समझ लेने के भ्रम का निर्मूलन करती हुई परिपूर्ण सत्य की ओर बढ़ने को प्रेरित करती है।

असीम के संबंध में हम बहुधा भ्रम में रहते हैं। साधारण प्राणी अपनी अनादिकाल से अनन्त काल तक निरन्तर बहने वाली जीवनधारा को न समझ कर वर्त्तमान जीवन तक ही उसे सीमित मान लेता है। इसी प्रकार दार्शनिक अकसर वस्तु के कुछ अंशों को ही समग्र वस्तु मान लेता है। विचारजगत् में जैनविचारधारा ने ही इस भ्रम का निराकरण करने का प्रयत्न किया है।

व्यवहारजगत् को भी उसकी देन अनुपम है। संयम, तप, त्याग, अहिंसा आदि की दिव्य भावनाएँ जैनविचारधारा का अनुपम उपहार हैं, जो उसने जगत् को प्रदान किया है। यद्यपि आज यह भावनाएँ सर्वमान्य-सी हो गई हैं तथापि इससे जैनविचारधारा की मौलिकता में कोई अन्तर नहीं आता। इससे तो उसकी असाधारण विजय का ही अनुमान किया जा सकता है।

पहले-पहल यह विचारधारा 'श्रुति' या 'श्रुत' के रूप में ही प्रवाहित होती रही। उस समय के मनीषी बड़े मेधावी और स्मरणशक्ति-सम्पन्न थे और संभवतः लिखने की पद्धति चालू नहीं हुई थी। मगर जब लोगों की स्मरणशक्ति और मेधाशक्ति का ह्रास हुआ तो आवश्यकता के अनुसार उस विचार-धारा ने साहित्य का रूप ग्रहण किया। आज हमारे सामने जो जैनसाहित्य है, उसमें श्रमण भगवान् महावीर के उपदेशों का ही सार है।

भगवान् महावीर अपने युग के असाधारण महापुरुष थे। महापुरुषों की वाणी की विशेषता यह है कि वह साधनाप्रसूत होती है। पहले-पहल वे अपने जीवन को साधना में लगा देते हैं। साधना के इस काल में वे अपनी इन्द्रियों और अन्तःकरण पर विजय प्राप्त करने का अभ्यास करते हैं और फल-स्वरूप जितेन्द्रिय तथा निर्विकार हो जाते हैं। पूर्ण जितेन्द्रिय और निर्विकार अवस्था को हम 'वीतराग-दशा' कहते हैं। वीतरागदशा प्राप्त होने पर ज्ञान भी निर्विकार और परिपूर्ण हो जाता है। इसके अनन्तर ही महापुरुष अपने धर्मचक्र का प्रवर्त्तन करते हैं—अपनी वाणी द्वारा जगत् का अज्ञान दूर करते हैं। भगवान् महावीर ने भी इसी क्रम का अवलम्बन किया था। उनकी साधना बड़ी उग्र और कठोर थी। इतिहास में ढूँढ़ने पर भी उसकी समता कहीं दिखाई नहीं देती। इस उग्र साधना के परिणाम-स्वरूप उन्होंने सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया और उसके बाद ही धर्म-वाणी का उच्चारण किया। दीर्घ कालीन प्रयोगों, अनु-भवों और अनुपम साधना के पश्चात् जो वाणी प्रस्फुटित हुई है, वह जगत् के लिए कितनी उपादेय, हितावह और आवश्यक होगी, यह कहने की आवश्यकता नहीं। लम्बी-लम्बी पचीस शताब्दियाँ व्यतीत हो जाने पर भी महावीर की वाणी आज भी नूतन है और चिरनूतन ही बनी रहेगी। दुनिया आड़े-टेढ़े

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

रास्तों पर चली और ठोकरें खाकर आखिर उसी मार्ग की ओर आ रही है, जिसका निर्देश भगवान् महावीर ने किया था। व्यक्ति और समाज की सुख-शान्ति एवं समृद्धि का दूसरा कोई मार्ग ही नहीं है! अतएव जब तक मनुष्यजाति है और उसमें सुख-शान्ति की चाह है, तब तक भगवान् महावीर की वाणी की उपादेयता अक्षुण्ण रहेगी।

भगवान् महावीर ने जो उपदेश दिया, उसका अधिकांश भाग श्रुत के रूप में निबद्ध नहीं हो सका। जो थोड़ा भाग श्रुतनिबद्ध हुआ, वह सब भी लिपिबद्ध नहीं हो सका। उसका अधिकांश भाग विच्छिन्न हो चुका है और थोड़ा-सा अंश ही हमें उपलब्ध है। आज जितना भी अंश हमें उपलब्ध है, उसकी रक्षा अनेक प्रकार के कष्ट सहन करके, अपने प्राणों को भी संकट में डालकर प्राचीन काल के आचार्यों ने की है। यही नहीं, बल्कि उस मूल-आगम का आधार लेकर उसे पल्लवित भी किया है। देश और काल के अनुसार उसे नाना रूपों में और नाना भाषाओं में परिणत भी किया है। हम उनके अत्यन्त ऋणी हैं।

भगवान् महावीर का उपदेश मूलतः द्वादशांगी अर्थात् बारह अंगों में विभक्त किया गया था। वह अङ्ग इस प्रकार हैं—

(१) आचाराङ्ग (२) सूत्रकृतांग (३) स्थानांग (४) समवायांग (५) व्याख्याप्रज्ञप्ति (६) ज्ञातृ-धर्मकथांग (७) उपासकदशांग (८) अन्तकृद्दशांग (९) अनुत्तरौपपातिक (१०) प्रश्नव्याकरण (११) विपाकअध्ययन और (१२) दृष्टिवाद।

यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि इन बारह अंगों के अतिरिक्त भी उपांग आदि २ नामों से आगमसाहित्य है, जिसका यहाँ नामोल्लेख नहीं किया जा रहा है। मगर उस समस्त-साहित्य का मूल यही बारह अंग हैं। द्वादशांगी या बारह अङ्गों का दूसरा नाम 'गणिपिटक' भी है।

इस्लामधर्म के अनुयायियों का कथन है कि उनका आगम—कुरान—ईश्वर का भेजा हुआ है। ईश्वर ने मुहम्मद साहब के पास भेजा और फिर मुहम्मद साहब ने उसे दुनिया में फैलाया। कुछ वैदिक धर्म के अनुयायियों की मान्यता है कि वेद कभी किसी ने बनाया ही नहीं है। वह अपौरुषेय है। अनादिकाल से चला आ रहा है और अनन्तकाल तक चला जायगा। इस प्रकार वे अपने मान्य आगम की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए लोकोत्तर चमत्कार उसके साथ जोड़ते हैं। मगर जैनों ने अपने आगम के साथ ऐसे किसी चमत्कार को नहीं जोड़ा है। उनका मन्तव्य सीधा-सादा और स्वाभाविक है। जो पुरुष परिपूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेता है और मोह आदि आत्मिक विकारों पर विजय प्राप्त कर लेता है, वह 'अरिहन्त' कहलाता है। अरिहन्त आप्त हैं और आप्त पुरुष के वचन सदा समीचीन और अभ्रान्त ही होंगे। मोह और अज्ञान ही असत्यभाषण के कारण हैं। जिस पुरुष में यह दो कारण न होंगे, उसकी वाणी सत्य ही होगी। अतः अरिहन्त भगवान् के वचन आगम हैं। स्वामी समन्तभद्र ने कहा है:—

आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्टविरोधकम्।
तत्त्वोपदेशकृत् सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम्॥

अर्थात्—शास्त्र वही है जो आप्त का कथन हो, तर्क या युक्ति से जिसका उल्लंघन न हो सकता हो, जो प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाण से विरुद्ध न हो, तत्त्व का उपदेशक हो, प्राणीमात्र का हित करने वाला हो और कुमार्ग का नाशक हो।

शास्त्र की यह परिभाषा कितनी व्यापक, स्वाभाविक और सत्य है! इसमें न किसी अविश्वसनीय चमत्कार को स्थान दिया गया है और न किसी प्रकार के मताग्रह को ही। वास्तव में किसी भी आगम

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

की परीक्षा उसके गुण-अवगुण की कसौटी पर होनी चाहिए, किसी अलौकिक कल्पना के आधार पर नहीं। गुण-अवगुण को गौण करके अन्यान्य बातों को कसौटी बनाना एक प्रकार की दुर्बलता ही कही जा सकती है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि अगर जैनागम ईश्वर द्वारा भेजे हुए नहीं हैं और अनादिकाल से ज्यों के त्यों नहीं चले आये हैं तो फिर उन्हें नित्य और शाश्वत क्यों कहा गया है ? पूर्वोक्त द्वादशांगी के संबंध में कहा गया है:—

दुवालसंगे णं गणिपिडगे ण कयावि णत्थि, ण कयावि णासी, ण कयावि ण भविस्सइ, भुविं य, भवति य, भविस्सति य। धुवे, णितिए, सासए, अक्खए, अव्वए, अवट्ठिए, णिच्चे।

अर्थात्—द्वादशाङ्ग गणिपिटक कभी नहीं है ऐसा नहीं है, कभी नहीं था ऐसा भी नहीं है, कभी नहीं होगा ऐसा भी नहीं है। यह पहले था, अभी है और भविष्य में होगा। यह ध्रुव, नित्य, शाश्वत, अक्षय, अव्यय, अवस्थित और नित्य है।

इस प्रश्न पर विचार करने की आवश्यकता है। जगत् अनादि है और जगत् में जो तत्त्व हैं वे अपने मूल स्वरूप में अनादि हैं। सभी तत्त्व अपने-अपने मूल स्वभाव में स्थिर रहते हैं। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि सत्य त्रिकाल-अबाधित है। देश और काल की परिधि से पर है। किसी भी देश में और किसी भी काल में सत्य का रूपान्तर नहीं होता। आत्मा है और उपयोग उसका स्वभाव है, आकाश है और अवकाश देना उसका गुण है, काल है और वर्त्तना तथा परिणाम आदि उसके उपग्रह हैं, यह सत्य भूतकाल में भी था, वर्त्तमान में भी है और भविष्य में भी होगा। इस प्रकार जब वस्तुस्वरूप त्रिकाल में एक-सा है तो उसका निरूपण भी सदैव एक-सा ही हो सकता है। अतएव सत्य वस्तुस्वरूप का प्ररूपक आगम भी नहीं बदल सकता।

इसी प्रकार आचारधर्म के मूल सिद्धान्त भी शाश्वत हैं। अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, और अपरिग्रह आदि आज धर्म हैं, भूतकाल में भी धर्म थे और भविष्य में भी धर्म ही रहेंगे। किसी भी काल में, किसी भी देश में और किसी भी परिस्थिति में हिंसा धर्म नहीं हो सकता, असत्यभाषण धर्म नहीं हो सकता और ब्रह्मचर्य पाप नहीं हो सकता। संभव है, कभी किसी परिस्थिति में, किसी व्यक्ति या समुदाय को हिंसा का आचरण करने के लिए विवश होना पड़े और यह भी संभव हो सकता है कि वह अकर्त्तव्य न मानी जाय, फिर भी उसे धर्म तो नहीं ही कहा जा सकता। 'हिंसा नाम भवेद् धर्मो न भूतो न भविष्यति।' हिंसा न धर्म है, न हुआ है और न कभी होगा।

तात्पर्य यह है कि दर्शनशास्त्र के मूलतत्त्व और धर्मशास्त्र का मूल आचार सदैव एकरूप रहता है और इस कारण उसका निरूपण भी सदा एक ही रूप हो सकता है। ऐसी स्थिति में तत्त्व और आचार का निरूपण करने वाला आगम भी अपरिवर्तित ही रहेगा। इसी दृष्टिकोण से द्वादशांगी को नित्य, ध्रुव और शाश्वत कहा है। शाब्दिक रूप में कोई भी आगम या शास्त्र नित्य नहीं हो सकता। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, जैनागम को भ० महावीर के उपदेशानुसार उनके प्रमुख शिष्यों ने (गणधरों ने) ग्रन्थ का रूप प्रदान किया है।

जैनागमों का विषय-निरूपण सर्वांगपूर्ण है। जड़-चेतन, आत्मा-परमात्मा आदि समस्त विषयों का जितना सूक्ष्म, गंभीर और विशद विवेचन जैनागमों में है, अन्यत्र मिलना कठिन है। दार्शनिक दृष्टि

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

से जहाँ छह द्रव्यों का वर्णन किया गया है वहीं आध्यात्मिक दृष्टि से नौ तत्त्वों का वर्णन भी है। यह वर्णन बहुत अंशों में एकदम मौलिक और असाधारण है। आस्रव और संवर जैसे तत्त्वों का, नय-निक्षेपों का, लेश्याओं का और कर्मवर्गणाओं आदि का विवेचन तो जैनागमों को छोड़कर विश्व के किसी भी आगम में नहीं मिलता। इस प्रकार समस्त विषयों के निरूपण से समृद्ध और अनेक अपूर्व तत्त्वों का प्ररूपक होने पर भी जैनागम आचार की शुद्धि पर बहुत भार देता है। आचार-शुद्धि ज्ञान का मुख्य फल है। जिस ज्ञान के फलस्वरूप आचरण में उज्ज्वलता नहीं आती, वह ज्ञान निरर्थक है। 'नाणस्स फलं विरई' और 'ज्ञानं भारः क्रियां विना' यह जैनागम का विधान है। जैसे औषध का ज्ञान होने पर भी जब तक उसका सेवन न किया जाय, रोग नहीं मिट सकता, उसी प्रकार सम्यक्चारित्र को अङ्गीकार किये बिना आध्यात्मिक व्याधियों–रागद्वेष आदि विकार दूर नहीं हो सकते। अतएव आत्मशुद्धि के लिए आत्मानुगामी प्रवृत्तियों की अनिवार्य आवश्यकता है।

तेरहवें गुणस्थान में ज्ञान परिपूर्ण हो जाता है, फिर भी मुक्ति प्राप्त नहीं होती, क्योंकि वहाँ चारित्र की पूर्णता नहीं है। चारित्र की पूर्णता होते ही आत्मा समस्त बन्धनों को दूर करके सिद्ध, अवस्था प्राप्त कर लेता है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि आचरण के बिना सिद्धि प्राप्त होना संभव नहीं है।

जैनागम चार अनुयोगों में विभक्त हैं और उनमें चरणानुयोग सबसे प्रधान है। शास्त्रकारों का अभिमत है कि चरणानुयोग की रक्षा के लिए ही शेष तीन अनुयोगों की सार्थकता है। शास्त्रों में बड़े प्रभावशाली शब्दों में चारित्र की महिमा प्रकट की गई है। साथ ही जो लोग इस भ्रम में रहते हैं कि ज्ञान प्राप्त कर लेने से ही हमारा विस्तार हो जाएगा, उन्हें चेतावनी भी दी गई है। उत्तराध्ययन में कहा है:—

न चित्ता तायए भासा, कुओ विज्जाणुसासणं ?
वायावीरियमित्तेणं, समासासेन्ति अप्पयं ॥

अर्थात्—संसार की नाना भाषाओं का ज्ञान आपका त्राण नहीं कर सकता। व्याकरण आदि शास्त्रों का ज्ञान भी क्या काम आ सकता है ? जो लोग समझते हैं कि हम अकेले ज्ञान से ही तर जाएँगे, वे अपने वाचनिक वीर्य से अपने अन्तःकरण को सान्त्वना भले ही दे लें, पर उनका निस्तार नहीं होगा।

ऊपर चारित्र के संबंध में जो कुछ कहा गया है, उससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि जैनधर्म में ज्ञान को कोई स्थान ही प्राप्त नहीं है। जैनशास्त्रों का तो विधान ही यह है कि मुक्ति के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र–यह तीनों अपेक्षित हैं। सम्यग्दर्शन के अभाव में ज्ञान मिथ्या रहता है—सम्यग्ज्ञान नहीं हो सकता और सम्यग्ज्ञान के अभाव में चारित्र, सम्यक्चारित्र नहीं हो सकता। सम्यग्ज्ञान के अभाव में की जाने वाली समस्त क्रियाएँ मिथ्या हैं और उनसे भवभ्रमण की वृद्धि होती है। इस प्रकार सम्यग्ज्ञान भी मोक्ष का मार्ग है, मगर वह अकेला मोक्ष-साधक नहीं होता। ज्ञान चारित्र को उत्पन्न करके सार्थक हो जाता है और चारित्र से साक्षात् मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसी कारण चारित्र की महिमा है। पूर्वोक्त बारह अंगों में पहला नाम आचारांग सूत्र का ही आता है। इससे भी आचार की प्रधानता झलकती है।

अब प्रश्न यह है कि जिस चारित्र को जैनधर्म में इतना अधिक महत्त्व दिया गया है, उसका स्वरूप क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर बहुत विस्तार की अपेक्षा रखता है, पर यहाँ थोड़े ही शब्दों में लिखा जाएगा। जैनागमों में चारित्र के मुख्य दो भेद किये गये हैं:—(१) निश्चयचारित्र और (२) व्यवहार-

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

चारित्र। अशुभ क्रियाओं से निवृत्त होना और शुभ क्रियाओं में प्रवृत्त होना व्यवहारचारित्र कहलाता है। कहा भी है—

असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।

जिन क्रियाओं से पाप-कर्म का बंध होता है, वे अशुभक्रियाएँ कहलाती हैं। ऐसी क्रियाओं को त्याग कर शुभक्रियाओं में प्रवृत्त होने से या तो पुण्यप्रकृतियों का बंध होता है अथवा संवर या निर्जरा होती है। पाँच महाव्रतों का पालन, समितियों का पालन, अनशन आदि तप वगैरह-वगैरह जो भी पर-सापेक्ष चारित्र है वह सब व्यवहारचारित्र है। निश्चयचारित्र में किसी भी पर-पदार्थ की अपेक्षा नहीं रहती। वह पूर्णरूप से स्वात्मावलंबी है। जब आत्मा, अपने आप से, अपने आप में रमण करता है तब निश्चयचारित्र की प्राप्ति होती है। यही निश्चयचारित्र साक्षात् मोक्ष का कारण है।

व्यवहारचारित्र साधन है और निश्चयचारित्र साध्य है। व्यवहारचारित्र की सफलता निश्चय-चारित्र की प्राप्ति में है। इससे यह फलित होता है कि आत्मा के शुद्ध स्वरूप में रमण करने की योग्यता प्राप्त करने के लिए ही व्यवहारचारित्र अपेक्षित है। जो व्यवहारचारित्र केवल कायिक या वाचनिक क्रियाकाण्ड मात्र तक ही सीमित रह जाता है, वह आध्यात्मिक दृष्टि से निरर्थक है और यदि वह मानसिक न हुआ अथवा मन उसके विरुद्ध हुआ तो वह केवल लोक-दिखावा ही रह जाता है।

प्रस्तुत आचाराङ्गसूत्र में व्यवहारचारित्र और निश्चयचारित्र दोनों का प्रतिपादन किया गया है। साथ ही अन्तरंग-आचार को उचित प्रधानता दी गई है। आचारांगसूत्र का स्वाध्याय करने पर मन पर एक निराली ही छाप पड़ती है। सूत्र की भाषा ही उसकी प्राचीनता को प्रकट करती है। भावों की गंभीरता कहीं-कहीं तो अगाध-सी प्रतीत होती है। उसकी रचनाशैली कुछ अंशों में अन्य सूत्रों के सदृश होती हुई भी कुछ अंशों में विसदृश भी है और उसे देखकर लगता है मानों जैनसाहित्य का आद्य स्वरूप आचारांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध में ही सुरक्षित है।

आचारांग के ही समान दशवैकालिकसूत्र में भी निर्ग्रन्थ मुनियों के आचार का वर्णन है। दोनों का विषय एक होते हुए भी दोनों की भाषा, प्रतिपादनशैली, विषय-निरूपण आदि अनेक बातों में अन्तर है। आचारांग आन्तरिकआचार को प्रधानता देता है। आचारांग में साधु की जिस कठोर चर्या का दिग्दर्शन होता है, वह दशवैकालिक में नहीं दिखाई देती।

आचाराङ्गसूत्र में दो श्रुतस्कन्ध हैं, मगर दोनों में एकरूपता नहीं है। दोनों श्रुतस्कंधों को सरसरी निगाह से पढ़ने पर भी दोनों की भाषा और शैली का स्पष्ट भेद समझ में आ जाता है। अनेक विद्वानों का अभिमत है कि दूसरा श्रुतस्कंध प्रक्षिप्त है और इस अभिमत की वास्तविकता प्रमाणित करने के लिए अनेक तर्क उपस्थित किये जा सकते हैं।

प्रथमश्रुतस्कंध का सातवाँ अध्ययन आज उपलब्ध नहीं है और यह कहना कठिन है कि उसमें किस विषय का वर्णन था। बीच का यह अध्ययन कैसे और कब विच्छिन्न हो गया, यह पता नहीं चलता। यों तो आचारांगसूत्र के, शास्त्रीय पद-प्रमाण के अनुसार अठारह हजार पद थे। अतएव आचारांगसूत्र काफी विस्तृत होना चाहिए था, मगर आज उसका बहुत संक्षिप्त रूप ही हमारे सामने है। इस प्रकार प्रस्तुत अंग का बहुत-सा भाग उपलब्ध नहीं है और द्वितीयश्रुतस्कंध रूप भाग, जो उपलब्ध है, वह मौलिक नहीं है। पिछले पचीस सौ वर्षों में, जैनसाहित्य और जैनसंघ को जिन संकटपूर्ण परिस्थितियों में

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

होकर गुजरना पड़ा है, उन्हें यदि दृष्टि के सामने रक्खा जाय तो इस गड़-बड़ का कारण भी समझ में आ सकता है। उन परिस्थितियों में जो भी प्राचीन साहित्य सुरक्षित रह सका है, उसके लिए हम तत्कालीन श्रुतधरों के आभारी हैं और वही हमारी जिज्ञासा को तृप्त करने और स्व-पर कल्याणभावना को चरितार्थ करने के लिए पर्याप्त है।

आचारांगसूत्र के अब तक कई संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। पश्चिम में डॉ० हर्मन जैकोबी ने और श्रीयुत शुब्रिंग ने दो संस्करण निकाले हैं।

आचार्य जिनविजयजी द्वारा सम्पादित होकर जैनसाहित्यसंशोधक समिति की ओर से भी प्रथमश्रुतस्कंध प्रकाशित हुआ है। यह सब संस्करण मूलमात्र हैं। मुर्शिदाबाद और आगमोदय-समिति भावनगर का संस्करण सटीक है। आचार्य श्री अमोलकऋषिजी म. द्वारा हिन्दी में अनूदित होकर हैदराबाद से एक संस्करण निकला है। राजकोट से भी एक संस्करण निकला है, पर वह हमारे देखने में नहीं आया। मुनि श्री संतबालजी कृत गुजराती अनुवाद भी प्रकाशित हुआ है। आचारांग पर श्री शीलाङ्काचार्य की टीका पहले से विद्यमान है। अभी-अभी स्थानकवासी सम्प्रदाय के विद्वान् मुनि श्री घासीलालजी म० ने भी एक संस्कृत टीका लिखी है, पर अब तक वह प्रकाशित नहीं हुई।

प्रस्तुत संस्करण प्र. व. मुनि श्री सौभाग्यमलजी महाराज की देखरेख में पण्डित बसन्तीलालजी नलवाया न्यायतीर्थ ने तैयार किया है। इसमें मूल, संस्कृतच्छाया, शब्दार्थ, भावार्थ और टीकानुसारी विस्तृत विवेचन दिया गया है। इतना सब एक साथ देने से ग्रन्थ का कलेवर बढ़ गया है, किन्तु साथ ही उसकी उपयोगिता भी बढ़ गई है। पिछले अनेक संस्करणों की अपेक्षा इस संस्करण की यह विशेषता है कि यह संस्करण सर्वभोग्य बन सका है। इस संस्करण ने आचारांग की दुरूहता को कुछ अंशों में कम कर दिया है। आशा है, साधारण योग्यता के जिज्ञासु पाठक भी इससे लाभ उठा सकेंगे। इस संस्करण को प्रस्तुत करने के लिए मुनि श्री सौभाग्यमलजी और पं. नलवाया धन्यवाद के पात्र हैं।

आज के अशान्त विश्व में जिनवाणी के अधिक से अधिक प्रचार की आवश्यकता है। इसीसे संसार में शान्ति का संचार होना संभव है। जो महानुभाव इस पवित्रतर कार्य में अपनी शक्ति का व्यय कर रहे हैं, वे जगत् का महान् उपकार कर रहे हैं।

संक्षेप का ध्यान रखते-रखते भी भूमिका लम्बी-सी हो गई है। कई आवश्यक विषयों पर पूरी तरह प्रकाश नहीं डाला जा सका। पाठक क्षमा करें।

महावीर जयन्ती
वीर सं० २४७७

शोभाचन्द्र भारिल्ल,
श्री जैन गुरुकुल, ब्यावर

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

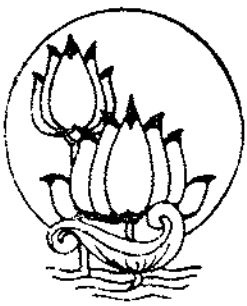

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

प्रकाशक की ओर से

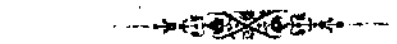

साहित्य, संस्कृति का प्रतीक होता है। वह किसी भी देश, समाज, जाति और धर्म के अभ्युत्थान अथवा पतन को बताने वाला दर्पण होता है। इस साहित्य-दर्पण में किसी भी देश या समाज की संस्कृति, सभ्यता, आचार-विचार, रहन-सहन आदि का प्रतिबिम्ब होता है। इसलिए किसी भी राष्ट्र या समाज के लिए उसके साहित्य का अत्यधिक महत्त्व होता है। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि साहित्य किसी भी राष्ट्र या समाज की अनमोल निधि-बहुमूल्य सम्पत्ति-हुआ करता है। जीवित जातियों और प्रगतिशील राष्ट्रों का साहित्य समृद्ध और समुन्नत होता है। वे अपने साहित्य के प्रति उदासीन नहीं रह सकते। जैनधर्म का विपुल साहित्य उसके प्राचीन गौरव का, उसके स्वर्णमय अतीत का और उसके महान् अभ्युदय का सूचक है। इसके तत्त्वदर्शी, महामनीषी महर्षियों ने, समर्थ आचार्यों ने, प्रौढ़ विद्वानों ने और प्रखर साहित्यकारों ने अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा के द्वारा विश्व को विपुल साहित्य का अनमोल दान दिया। जैनधर्म और जैनसमाज के लिए यह महान् गौरव की वस्तु है।

जहाँ हम अपनी प्राचीन साहित्य-सम्पत्ति पर गौरव का अनुभव करते हैं वहीं हमें आधुनिक जैनसमाज की साहित्य के प्रति की जाने वाली उपेक्षा के लिए खेद भी होता है। नवनिर्माण, नूतन-साहित्यसृजन और नवीन रचनाएँ तो दूर रहीं, प्राचीन साहित्य-सम्पत्ति की सुरक्षा और सुव्यवस्था भी नहीं हो पा रही है। ज्ञानपूजक समाज के लिए यह उपेक्षा शोचनीय है। ज्ञान का शास्त्र-वर्णित महत्त्व सुनते और जानते हुए भी उसके प्रति और उसके साधनों के प्रति हमारी इतनी अधिक उपेक्षा हमारे लिए शर्म की चीज है। यूरोपीय विद्वान् हमारे साहित्य के सम्बन्ध में अन्वेषण करें, परिश्रम करें, उसे अपनी अपनी भाषा में अनूदित कर अपने देशवासियों को उसका रसास्वादन करावें तथा विश्व को उसकी सामग्री से चमत्कृत करें और हम हमारे ही साहित्य के प्रति बेदरकार बने रहें, क्या यह हमारे लिए लज्जास्पद नहीं है? साहित्य के प्रति की जाने वाली उपेक्षा को छोड़कर, युग की दिशा का अवलोकन कर हमें हमारे प्राचीन साहित्य के प्रचार व प्रसार की ओर ध्यान देना चाहिए तथा तदनुकूल नवीन साहित्य की भी रचना की जानी चाहिए। ऐसा करने से हमारी संस्कृति का, वीतराग-वाणी का और हमारे मान-नीय-सिद्धान्तों का व्यापक प्रचार हो सकेगा।

वीतराग-वाणी का व्यापक प्रचार हो, जैनसिद्धान्तों के सम्बन्ध में फैले हुए भ्रम का निवारण हो, जनता जैनधर्म के मौलिक सिद्धान्तों से परिचित हो और समाज में ज्ञान की ज्योति का प्रसार हो इस उद्देश्य से साहित्य की दिशा में हमने एक छोटा-सा प्रयत्न किया है। शास्त्रविशारद पं. श्री किशनलालजी म. तथा प्रसिद्धवक्ता पं. मुनि श्री सौभाग्यमलजी म. के उज्जैन चातुर्मास में "श्री जैन साहित्य समिति" की स्थापना की गई। इस समिति की ओर से सर्वप्रथम आचाराङ्ग-सूत्र जैसे महान आगम-ग्रन्थ का अनुवादित और सम्पादित प्रस्तुत संस्करण प्रकाशित करते हुए हमें अपार हर्ष हो रहा है। हम हमारा अहोभाग्य समझते हैं कि इस संस्था के आरम्भ में ही हमें मंगलमय आगम-ग्रंथ के प्रकाशन का सु-अवसर प्राप्त हुआ है। इस ग्रन्थ की महत्ता और श्रेष्ठता, उपयोगिता और हितकारिता के सम्बन्ध में क्या लिखा जाय! विद्वान् अनुवादक मुनि श्री ने तथा सम्पादक महोदय ने अपने वक्तव्य में इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। ऐसे उत्तम ग्रन्थ को सर्वसाधारण के लिए उपयोगी बनाने के लिए मुनि श्री ने जो परि-

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

श्रम किया है उसके लिए हम उनके अत्यन्त आभारी हैं। प्रस्तुत संस्करण को प्रकाशित करने के लिए जिन सद्गृहस्थों ने समिति को आर्थिक सहायता प्रदान की है उनका यहाँ साभार उल्लेख करना हम अपना कर्त्तव्य समझते हैं। इन उदार सज्जनों की उदारता से ही इस विशाल ग्रन्थ को प्रकाशित करने में हम समर्थ हुए हैं। उनका अत्यन्त संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जाना अनुचित नहीं होगा:—

श्रीमान् सेठ घासीलालजी पांचूलालजी उज्जैन:—आपने इस ग्रन्थ को प्रकाशित करने के लिए ५००० पाँच हजार रुपये जितनी बड़ी रकम समिति को दान कर अपनी उदार-भावना का परिचय दिया है। आप उज्जैन के प्रतिष्ठित और सर्वमान्य श्रीमन्त हैं। आपने अपने बुद्धि-कौशल और पुरुषार्थ से ही लाखों की सम्पत्ति उपार्जित की है। आप न केवल लक्ष्मी का उपार्जन करना ही जानते हैं अपितु उसका शुभ-कार्यों में सदुपयोग भी करते रहते हैं। लक्ष्मीसम्पन्न होते हुए भी आप निरभिमानी हैं। आपका हृदय अत्यन्त सरल, उदार, गम्भीर और कोमल है। राज्य, पंचायत और प्रजा में आपको अच्छा सन्मान प्राप्त है। धर्मकार्यों में आपकी अत्यन्त रुचि है। नयापुरा संघ के तो आप स्तम्भ हैं। कुँवर पांचूलालजी अपने सुयोग्य पिता के सुयोग्य पुत्र हैं। आप अच्छे विचारों के समाजसेवी युवक हैं। आपमें सादगी, नम्रता और विवेक की जो मात्रा दृष्टिगोचर होती है वह प्रायः बहुत कम श्रीमन्त-पुत्रों में पाई जाती है। पारिवारिक दृष्टि से भी यह सम्पन्न कुटुम्ब है। समस्त कुटुम्ब संस्कारी और धर्मभावना वाला है। सेठ सा. के शर्राफी और कपड़े का बड़ा व्यवसाय है। सेठ सा. की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि आप दान देकर बदले में कीर्ति की चाह नहीं करते। प्रसिद्धि और कीर्त्ति-लोलुपता से आप सदा बचते रहते हैं। बड़ी-बड़ी रकम दान करने पर भी समाचार पत्रों में प्रसिद्धि के लिए नहीं छपवाते।

(२) श्रीमान् सेठ रतनलालजी सा., बदनावर:—आपने इस कार्य में २५००) पचीस सौ रुपयों की महती उदारता बताई है। आप स्व. सेठ भग्गाजी के सुपुत्र हैं। आप मूलतः मध्यभारत के बिड-वाल ग्राम के निवासी हैं। अब बदनावर रहते हैं। आपका मुख्य व्यवसाय इस समय धार में है। आपके कमीशन और अनाज का व्यवसाय है। आप व्यापार कला में बड़े कुशल हैं। आप लक्ष्मी का उपार्जन करने में जैसे कुशल हैं वैसे दानवीर भी हैं। आपको लक्ष्मी का तनिक भी मोह न हो ऐसा लगता है। लक्ष्मी आते ही आप उसे सत्कार्य में खर्च करना ही अपना धर्म समझते हैं। आप जिस स्थिति में हैं उस स्थिति में हृदय की इतनी अधिक उदारता विरल ही दृष्टिगोचर होती है। आपके छोटे भाई मगनलालजी ने दीक्षा धारण करने की तीव्र भावना व्यक्त की तो आपने हजारों रुपयों लगाकर अपनी ओर से दीक्षा महोत्सव किया। स्वर्गीय पूज्यपाद प्रवर्त्तक श्री ताराचन्द्रजी म. जब धार पधारे तो आपने अन्तिम समय तक तन-मन-धन से सेवा बजाई। हजारों रुपये व्यय किये। उदारता आपका विशेष और मुख्य सद्गुण है। आप में ही यह उदार-भावना हो ऐसा नहीं अपितु आपकी धर्मपत्नी भी आपसे अधिक नहीं तो कम तो किसी भी तरह नहीं है। वह सुशीला, पतिपरायणा और सुयोग्य गृहिणी हैं। इस उदार दम्पति के गुण इनकी सन्तान में भी इसी तरह अंकुरित और विकसित हुए हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ जब तय्यार हो रहा था उसी समय से आपकी भावना और आकर्षण इस ओर हो गया था। इस कार्य में सर्वप्रथम आपने ही अपनी उदारता व्यक्त की थी। अतः इस प्रकाशन का श्रेय बहुत अंशों में आपको है।

(३) सेठ जुगराजजी सा. श्रीश्रीमाल, येवला:—आप येवला की प्रसिद्ध फर्म नवलमल पुनमचन्द के मालिक हैं। आप वहाँ के प्रतिष्ठित और अग्रगण्य श्रावक हैं। स्वधर्मीबन्धुओं की सेवा और सहायता करने की ओर आपका विशेष ध्यान रहता है। आप उदारचेता गृहस्थ हैं। धर्म की ओर आपका पूरा २ लक्ष है। आप विवेकशील हैं। चारित्रसम्पन्न मुनिराजों और महासतियों की आप खूब सेवा

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

बजाते हैं। आप अन्धश्रद्धालु नहीं है। आपने अनेक संस्थाओं में दान दिया है और समय-समय पर देते रहते हैं। आपके यहाँ गया हुआ व्यक्ति खाली नहीं लौटता। आपने इस कार्य में ७५०) साढे सातसौ रुपये प्रदान किये हैं।

(४) **राव साहेब किशनलालजी नन्दरामजी पारख, येवला:**—आप येवला के प्रतिष्ठित एवं राजमान्य सद्गृहस्थ हैं। उच्च पदाधिकारी होते हुए भी निरभिमानी हैं। धर्म के प्रति आपको बड़ा अनुराग है। साधु-सन्तों की सेवा और सत्संग की ओर आपकी अभिरुचि है। आपकी धर्मपत्नी भी सुशीला और उदारचेता है। आपके सुपुत्र भी आज्ञाकारी और सेवाप्रेमी हैं। राव साहब प्रकृति से सरल और हँसमुख हैं। आपने इस कार्य में ७५०) साढे सातसौ रुपये प्रदान किये हैं।

(५) **सेठ हरखचन्दजी माणकलालजी रांका, उज्जैन:**—आप उज्जैन के प्रतिष्ठित और धर्मपरायण श्रावक हैं। आपका जन्म वि० सं० १९४२ में हुआ। साधारणस्थिति के परिवार में जन्म लेकर भी आपने अपने व्यावहारिक कौशल से अपना गौरवमय स्थान बना लिया। आपने अपने परिश्रम और कौशल से द्रव्योपार्जन किया। धार्मिकभावनाएँ आपमें बाल्यकाल से ही भरी हुई हैं। गरीबों की सहायता करने में आप पीछे नहीं रहते। आपके सुपुत्र श्री माणकलालजी सा. धर्मप्रेमी और उत्साही युवक हैं। समाजसेवा के कार्यों में उनका मुख्य हाथ रहता है। आपको धार्मिक थोकड़ों का अच्छा अभ्यास है। शिक्षण और शिक्षा-संस्थाओं के प्रति आपका प्रेम प्रशंसनीय है। आपको आयुर्वेद के प्रति रुचि है इसलिए आपने अपने यहाँ हजारों की कीमत की औषधियाँ रख रक्खी हैं और गरीबों को बिना किसी मूल्य के प्रदान करते हैं। साधु-साध्वियों की सेवा करना अपना कर्त्तव्य समझते हैं। आप इस समिति के मंत्री हैं। आपने रु० ५००) प्रदान किये हैं।

(६) **श्रीमान् पुनमचंदजी सा. रांका, नासिक:**—आप नासिक के अग्रगण्य और धर्मप्रेमी सज्जन हैं। आपके पिता श्री हंसराजजी सा. बड़े धर्मश्रद्धालु, सेवाभावी और सरलप्रकृति के हैं। आप चार भाई हैं। एक भाई वकालात करते हैं, एक डाक्टर हैं, एक प्रख्यात व्यापारी हैं। आपका सारा परिवार संस्कारी और धर्मप्रेमी है। आप बड़े निर्भीक और सुधारक हैं। अनेक सभा-सोसाइटियों के संचालक और अग्रसर हैं। आपने इस कार्य में ५००) प्रदान किये हैं।

(७) **सेठ भीखमचन्दजी केवलचन्दजी ललवानी, मनमाड:**—आप मनमाड़ के प्रतिष्ठित श्रीमान् हैं। आपका धर्मप्रेम और सेवाभाव प्रशंसनीय हैं। आपने अपने स्वर्गीय सुपुत्र की स्मृति में इस ग्रन्थ-प्रकाशन के लिए तीनसौ रुपयों की सहायता समिति को प्रदान की है।

उक्त सज्जनों की उदारता के कारण यह विशाल ग्रन्थ-प्रकाशित हो सका है इसलिए समिति की ओर से हम इन सबका आभार मानते हैं और धन्यवाद देते हैं।

यद्यपि इन दान-दाताओं की सहायता से हम इस ग्रन्थ को अमूल्य भी वितरित कर सकते थे परन्तु ऐसा करने से ग्रन्थ-गौरव कम होता है और उसका दुरुपयोग होता है इसलिए इसका मूल्य ११)रु० रखा गया है। आज के युग की मँहगाई, प्रकाशन-साधनों की महर्घता, कागज की दुर्लभता और ग्रन्थ की विशालता के कारण इतना मूल्य रखना पड़ा है। ग्रन्थविक्रय से प्राप्त द्रव्य के द्वारा अन्य साहित्य-प्रकाशन-प्रवृत्ति समिति की ओर से होती रहेगी।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

इस ग्रन्थ का मुद्रण कार्य श्री गुरुकुल प्रिन्टिंग प्रेस, ब्यावर में हुआ है। प्रेस के व्यवस्थापक पं. शान्तिलाल व. शेठ ने इतने बड़े ग्रन्थ को जल्दी ही मुद्रित कर देने की व्यवस्था कर दी और इसे यथाशक्ति सुन्दर और आकर्षक बनाने का प्रयत्न किया इसके लिए हम उनको व प्रेस के कार्यकर्त्ताओं को धन्यवाद देते हैं। प्रूफ संशोधन में सावधानी रखते हुए भी दृष्टि-दोष से, शीघ्रता से और अन्य कारणों से जो भूलें रह गई हैं उसके लिए हम पाठकों से क्षमा चाहते हैं।

कागज की दुर्लभता के समय प्रस्तुत ग्रन्थ के लिए कागज की व्यवस्था कर देने के लिए हम श्री गिरधरलालभाई दामोदरभाई दफ्तरी, मंत्री श्री सकलसंघ बम्बई को धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकते। इसी तरह श्री धर्मदास जैन मित्र मण्डल, रतलाम के कार्यकर्त्ता श्रीमान् सेठ चांदमलजी सा. गांधी, श्रीमान् जडावचंदजी सा. गांधी, श्रीमान् लक्ष्मीचंदजी सा. मुणोत और उन सब सज्जनों को जिन्होंने इस कार्य में हमें किसी भी तरह का सहयोग प्रदान किया है, धन्यवाद देते हैं।

पाठक गण इस प्रकाशन से कुछ लाभ उठाएगें तो हम हमारे इस प्रयत्न को कृतार्थ समझेंगे।

माणकलाल रांका
बसन्तीलाल नलवाया
मंत्री,
श्री जैन साहित्य समिति, उज्जैन,

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

विषयानुक्रमणिका

१ शस्त्रपरिज्ञा अध्ययन १ ८५

१ प्रथम उद्देशकः— १ ४०

विशिष्टसंज्ञा का अभाव, पूर्वापर-सर्वज्ञान, आत्मसिद्धि, आत्म-लोक-कर्म-क्रियावादित्व, मतिज्ञान से आत्म-सद्भाव-ज्ञान, क्रियापरिणाम, अपरिज्ञातकर्मा का अपाय-प्रदर्शन, योनिभ्रमण, परिज्ञावर्णन, जीवनादि के लिए आरम्भ, कर्मारम्भपरिज्ञाता मुनि।

२ द्वितीय उद्देशकः— ४१ ४८

पृथ्वीकाय की हिंसा, पृथ्वीकाय की सजीवता, पृथ्वीसमारम्भ-प्रवृत्ति और अहितादि फल-प्राप्ति, पृथ्वीदण्डविरत मुनि।

३ तृतीय उद्देशकः— ४९ ५९

अनगारस्वरूप, निष्क्रमण श्रद्धा की रक्षा, महापुरुषाचीर्ण मार्ग, अप्काय संयम; अभ्याख्यान व्याप्ति, समारम्भ में दोषप्रदर्शन, उदकजीवोपदेश, अप्काय-शस्त्र, अप्काय-परिभोग में अदत्तादान, अन्यमत, अन्यागमों की असारता, अप्कायवध-विरत मुनि।

४ चतुर्थ उद्देशकः— ६० ६६

अग्निकाय-अभ्याख्यान व्याप्ति, अग्निकाय की अहिंसा और संयम की व्याप्ति, दृष्टपूर्वता, रन्धनादि के लिए हिंसा, अग्नि का असमारम्भ, अन्यतीर्थिकों का अयथावादित्व, नानाप्राणियों की हिंसा, अग्निसमारम्भ ज्ञाता मुनि।

५ पञ्चम उद्देशकः— ६७ ७३

वनस्पति का आरम्भ न करने वाला मुनि, गुण और आवर्त्त की एकता, शब्दादि विषयों की सार्वत्रिकता, शब्दादि विषयों में आसक्ति से अनाज्ञाकारित्व, असंयतत्व और गृहस्थत्व, अन्यतीर्थिकदशा, वनस्पति में जीवसिद्धि, आरम्भज्ञाता मुनि।

६ षष्ठ उद्देशकः— ७४ ७९

अण्डजादि त्रसभेद, अज्ञानी का भवभ्रमण, संसार की दुःखमयता, वध्यमान को होने वाला दुःख, अन्यतीर्थिकस्वरूप, त्रसवध के कारण, आरम्भपरिज्ञाता मुनि।

७ सप्तम उद्देशकः— ८० ८५

वायुसमारम्भनिवृत्ति, अन्तर्बहिर्ज्ञान-व्याप्ति, वायुजीवरक्षण में मुनित्व,

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

अन्यतीर्थिकस्वरूप, वायुसमारम्भज्ञाता मुनि, समारम्भ में कर्मबन्धन, आरम्भनिवृत्ति में मुनित्व।

२ लोक-विजय अध्ययन ८६ से २०१

१ प्रथम उद्देशकः— ८६ १०१

गुण और मूलस्थान की एकता, इन्द्रियों की शिथिलता, वृद्धत्व में अवगणना, अप्रमाद, संसारासक्ति, धन की अशरणता, स्वकृत कर्म-फल, यौवन में धर्मोद्यम।

२ द्वितीय उद्देशकः— १०२ ११२

अरतिनिवारण, अनाज्ञावर्त्ती की उभयभ्रष्टता, संसार-विमुक्त-स्वरूप अनगारस्वरूप, अज्ञानी का स्वरूप, ज्ञाता का कर्त्तव्य।

३ तृतीय उद्देशकः— ११३ १२६

गोत्राभिमान परिहार, कर्म-फल का द्रष्टा, मोक्षचारी का स्वरूप, मृत्यु की अनियमितता, जीवन-प्रियता, धनसंग्रह का परिणाम, विज्ञ को अनुपदेश, अज्ञानी का संसार-भ्रमण।

४ चतुर्थ उद्देशकः— १३० १४६

भोग में रोग, धन का विभाग, आशाओं का त्याग, स्त्री के प्रति आसक्ति का परिणाम, भोगों की प्राप्ति और अप्राप्ति में दुःख, अनासक्त-प्रशंसा।

५ पञ्चम उद्देशकः— १४७ १७५

भिक्षा की गवेषणा, आम-गन्ध परिज्ञान, क्रयादिनिषेध, कालादिज्ञान, निर्ममत्व, आहारविधि, धर्मोपकरण का अपरिग्रहत्व, काम और कामियों का स्वरूप, शरीर की अशुचि, वान्ताशननिषेध, संकल्पों का त्याग, बाल-संग का निषेध।

६ षष्ठ उद्देशकः— १७६ २०१

पापकर्म का निषेध, कर्मोपशान्ति, ममत्वबुद्धि का त्याग, वीरलक्षण, विषयों में अनासक्ति, रूक्षसेवी सम्यक्त्वदर्शी, लोकसंयोग का त्याग, दुःख-परिज्ञा, पुण्य-तुच्छ को समभावपूर्वक उपदेश, उपदेश-प्रणाली, कुशलानुकरण, बाल का संसार भ्रमण।

३ शीतोष्णीय अध्ययन २०२ से २८०

१ प्रथम उद्देशकः— २०२ २१५

जागरण, शब्दादि विषयों का ज्ञाता-परिहर्त्ता ही संयमी है, विरक्त मुनि का स्वरूप, रति-अरति को सहन करने वाला निर्ग्रन्थ, भावजागरण, उपाधि ही कर्म है, राग-द्वेषविजेता मुनि।

२ द्वितीय उद्देशकः— २१६ २३६

सम्यक्त्वदर्शी का लक्षण, कामसंग संसार का मूल है, हास्य-क्रीड़ा का

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

परिहार, अग्रकर्म-मूलकर्म का छेद, निष्कर्मदर्शी का स्वरूप, सत्य में धृति, पाप-क्षपण, अनेकचित्तता, निस्सारता दर्शन आदि उपदेश, क्रोधादि त्याग से आने वाली लघुभूतता, धीर का लक्षण।

३ तृतीय उद्देशकः— २३७ २६०

अन्योन्य शंका से पापकर्म न करने मात्र से मुनि नहीं कहला सकता, नैश्चयिक मुनित्व, पूर्वापरविचारशून्यता, योगीश्वर-स्वरूप, आत्ममित्रता, कर्मविनाश और मोक्ष, प्रमत्त-अप्रमत्त लक्षण।

४ चतुर्थ उद्देशकः— २६१ २८०

कषायत्याग, कर्म-भेदन, एक और सर्वज्ञान की व्याप्ति, प्रमत्त को भय, एकबहु-क्षपण-व्याप्ति, लोकसंयोग के त्याग से होने वाला निर्वाण और परम-पद-प्राप्ति, संयम (अशस्त्र) की श्रेष्ठता, क्रोधादि की परम्परा, परमार्थदृष्टा का निरुपाधित्व।

४ सम्यक्त्व अध्ययन २८१ से ३३७

१ प्रथम उद्देशकः— २८१ २९३

तीर्थङ्कर भाषित शुद्धधर्म-अहिंसा, लोकैषणा का त्याग, आसक्ति से भव-भ्रमण, धीर का अप्रमाद।

२ द्वितीय उद्देशकः— २९४ ३१२

आस्रव-निर्जरा की व्याप्ति, इच्छाओं के दास का भवभ्रमण, क्रूरता-अक्रूरता के फल, केवलि-श्रुतकेवलि की एकवाक्यता, हिंसा से अनार्यत्व, अहिंसा से आर्यत्व।

३ तृतीय उद्देशकः— ३१३ ३२३

पाखण्डियों की धर्मबाह्यता, आरम्भ से कर्मबन्ध और दुःख, देह-दमन और आत्मदमन, अग्नि और जीर्णकाष्ठ का दृष्टान्त, क्रोध का त्याग!

४ चतुर्थ उद्देशकः— ३२४ ३३७

संयम की कठिन साधना, क्रमिक तपश्चर्या, आदान-स्रोत गृद्ध की अनाराधकता, बुद्धिमान् की बुद्धिमत्ता, वीरों की सत्य-प्रवृत्ति, परमार्थदृष्टा का निरुपाधित्व।

५ लोकसार अध्ययन ३३८ से ५३३

१ प्रथम उद्देशकः— ३३८ ३५५

अविरतों की आसक्ति-मृत्यु और संसार, आयुःकी चञ्चलता, क्रूरकर्मों की परम्परा, जिज्ञासा से परिज्ञान, कुशील त्याग, बाल की द्वितीय-बालता, गृद्ध और आरम्भी का भवभ्रमण।

२ द्वितीय उद्देशकः— ३५६ ३६९

अवसर का ज्ञान, अप्रमत्तता, सुख-दुःख की पृथक्ता, विरति, शरीर...

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

की भिदुरता, विरत की मुक्ति, परिग्रह ही भय का कारण है, संयम में पराक्रम, बन्ध-मोक्ष की आत्मस्थता, प्रमत्त का बाह्यत्व।

३ तृतीय उद्देशकः— ३७० ३८७

कर्मसन्धि-क्षपण के लिए पराक्रम, पूर्वोत्थायी पश्चान्निपाती आदि भंग, आत्म-युद्ध का उपदेश, औदारिक-मानव देह की दुर्लभता, निश्चयसम्यक्त्व और चारित्र की व्याप्ति, अप्रमत्तता से चारित्र की सिद्धि।

४ चतुर्थ उद्देशकः— ३८६ ४०४

अव्यक्त मुनि की दुर्विहारता, अज्ञ को होने वाले क्रोधादि, गुरु-सेवा, उपयोगपूर्वक क्रिया करते हुए भी होने वाली प्राणी-हिंसा से होने वाला अल्प-बंध, आकुट्टीकृत कर्मविवेक, ऊनोदरी आदि तप।

५ पञ्चम उद्देशकः— ४०५ ४२१

सरोवर के समान आचार्य, विचिकित्सा से असमाधि, अज्ञान से होने वाला निर्वेद, जिनप्रवेदित की सत्यता-निश्शंकता, सम्यक्त्व के षड्भंग, हन्तव्य-घातक की एकता, आत्मा और ज्ञान की अभिन्नता।

६ षष्ठ उद्देशकः— ४२२ ४३३

सत्पुरुषों की आज्ञा का फल, प्रवादस्वरूप, आज्ञा का अनुल्लंघन, आसक्ति ही आस्रव है, मुक्तात्मा का स्वरूप।

६ धूत अध्ययन ४३४ से ४६०

१ प्रथम उद्देशकः— ४३४ ४५१

उत्थितों का मुक्तिमार्ग में पराक्रम, आसक्तों के दोष, कूर्म-ह्रद का दृष्टान्त, सोलहरोग, नरक के दुःख, प्राणि-हिंसा महाभय है, कामासक्ति का दुरुद्द परिणाम, भङ्गुरशरीर, कर्म-धूनन का उपाय, कुटुम्ब-मोह पर विजय।

२ द्वितीय उद्देशकः— ४५२ ४६५

प्रव्रजित हो जाने पर भी पूर्वग्रहों के उदय से संयम का त्याग करने वाले की दशा, कुशीलस्वरूप, प्रवर्धमान अध्यवसाय, आज्ञा ही धर्म है, शुद्ध एषणा, परीषह-सहन।

३ तृतीय उद्देशकः— ४६६ ४७७

अचेलक को वस्त्रविचारणा का अभाव, साधु-शरीर का कृशत्व, आर्य-धर्म में रति, गुरु-द्वारा शिष्यों का योग्य बनाया जाना।

४ चतुर्थ उद्देशकः— ४७८ ४६०

प्रमादियों की गुरु के प्रति अश्रद्धा, दूसरों की निन्दा द्वितीय बालता है, शिथिल होने पर भी सत्यप्ररूपक, बाह्यक्रियोपेत होने पर भी आत्मविराधक, धर्म की घोरता, समुत्थित होने पर भी बाद में आने वाली दीनता, उद्यतविहारियों के साथ रहने पर भी एक-एक का शिथिलाचार।

५ पञ्चम उद्देशकः— (क) से (ट) तक

परीषह-सहनता, धर्मोपदेश, धर्मकथनप्रकार, मृत्युकालीन दृढ़ता।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

७ महापरिज्ञा अध्ययन ४६० से ४६१

८ विमोक्ष अध्ययन ४६२ से ५८

१ प्रथम उद्देशकः— ४६२ ५१२
पार्श्वस्थ और अन्यतीर्थिक को अशनादि दान का निषेध, पार्श्वस्थों से दिये जाते हुए अशनादि का अस्वीकार, अन्यतीर्थियों के वाद, सुप्रज्ञापितधर्म, दण्डनिषेध।

२ द्वितीय उद्देशकः— ५१३ ५२२
आधाकर्मादि आहार की अप्रतिज्ञा और अग्रहण, घातादिसहन और धर्माख्यान, अमनोज्ञ को आहारादि देने का निषेध, समनोज्ञ को देने का विधान।

३ तृतीय उद्देशकः— ५२३ ५३१
यौवन में त्यागधर्म का स्वीकार, परीषह-भग्नता, परीषहों में कर्त्तव्य, परकृत अग्नि का असेवन।

४ चतुर्थ उद्देशकः— ५३२ ५३६
तीन वस्त्रधारी का आचार, शीत दूर होने पर वस्त्रत्याग, वस्त्रत्याग में तप, भगवद्भाषित ज्ञान-क्रियातत्त्व, प्रतिज्ञाभंग की अपेक्षा प्राणत्याग की श्रेयस्करता।

५ पञ्चम उद्देशकः— ५४० ५४७
दो वस्त्रधारी का आचार, अभ्याहृत आहार का निषेध, वैयावृत्य करने और न करने के अभिग्रह।

६ षष्ठ उद्देशकः— ५४८ ५५७
एक वस्त्रधारी का आचार, एकत्वभावना, स्वादनिग्रह, संलेखना का विचार, संलेखना विधि।

७ सप्तम उद्देशकः— ५५८ ५६४
अचेलक का आचार, अचेलक का दुःखसहन, आहार-ग्रहण की चतुर्भङ्गी, उद्यतमरण।

८ अष्टम उद्देशकः— ५६५ ५८३
समाधिमरण, कषाय-आहार का त्याग, जीवन-मरण में समभाव, संलेखना अनशन, अनाहार-उपसर्गसहन, इङ्गितमरण, पादपोपगमन, सहिष्णुता।

९ उपधानश्रुत— ५८४ ६२१

१ प्रथम उद्देशक—वीर की चर्या ५८४ ५९९

२ द्वितीय उद्देशक—वीर की शय्या ६०० ६०६

३ तृतीय उद्देशक—वीर की सहिष्णुता ६०७ ६१२

४ चतुर्थ उद्देशक—वीरप्रभु की तपश्चर्या ६१३ ६२१

१० परिशिष्ट—

(अ) विशिष्ट-पाठभेद। (ब) पारिभाषिक-शब्दकोष।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

卐 णमोऽत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स 卐

आचाराङ्ग-सूत्रम्

शस्त्रपरिज्ञा नाम प्रथमाध्ययनम्

—प्रथम उद्देशक—

विश्ववन्द्य, चरमतीर्थङ्कर, श्रमण भगवान् महावीर ने आधि, व्याधि और उपाधि के संताप से संतप्त बने हुए विश्व को शाश्वत शान्ति प्रदान करने के लिए, करुणा से प्रेरित होकर दिव्य-देशना की निर्मल मन्दाकिनी बहायी। इसकी पतित-पावनी शीतल धारा में अवगाहन करके अनन्त जीवों ने त्रिविध सन्ताप से मुक्ति प्राप्त की है, वर्तमान में अनन्त जीव मुक्ति प्राप्त करते हैं और भविष्य में भी मुक्ति प्राप्त करते रहेंगे। भगवान् की दिव्य-देशना का उद्देश्य बताते हुए प्रश्नव्याकरण सूत्र में कहा गया है:—

सव्वजगजीवरक्खणदयट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं।

अर्थात्—संसार के समस्त जीवों की रक्षा रूप दया के लिए भगवान् ने धर्मदेशना का दिव्य-दान दिया है।

भगवान् की यह दिव्य-देशना द्वादशाङ्गी के रूप में गणधरों के द्वारा संकलित हुई है। इस द्वादशाङ्गी में आचाराङ्ग को सर्वप्रथम स्थान दिया गया है। यही आचार के महत्त्व को प्रदर्शित करता है। इस सम्बन्ध में निर्युक्तिकार कहते हैं:—

सव्वेसिं आयारो तित्थस्स पवत्तणे पढमयाए।
सेसाइं अंगाइं एक्कारस आणुपुव्वीए॥

सब तीर्थङ्कर तीर्थप्रवर्त्तन के प्रारम्भ में सर्वप्रथम आचार का ही निरूपण करते हैं; इसके पश्चात् शेष ग्यारह अङ्गों का प्ररूपण किया जाता है। गणधर भी इसी क्रम से तीर्थङ्कर-भाषित अर्थ को

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

सूत्ररूप में संकलित करते हैं। यही अनादिकाल की परिपाटी है और रहेगी। इसका कारण बताते हुए निर्युक्तिकार श्री भद्रबाहु स्वामी कहते हैं कि—आचार ही प्रवचन का सार है। यही मोक्ष का प्रधान हेतु है। इसके अध्ययन के बाद ही शेष अंगों के अध्यपन की योग्यता प्राप्त होती है अतएव आचार को सर्वप्रथम स्थान दिया गया है।

आचार ही परम और चरम कल्याण का परम साधक है, यह बताने के लिए निर्युक्तिकार कहते हैं—

अंगाणं किं सारो ? आयारो, तस्स हवइ किं सारो ?
अणुओगत्थो सारो, तस्स वि परूवणा सारो ॥
सारो परूवणाए चरणं तस्स वि य होइ निव्वाणं ।
निव्वाणस्स उ सारो अव्वाबाहं जिणा विंति ॥

अर्थात्—अंगों का सार आचार है। आचार का सार उसका व्याख्यान है। व्याख्यान का सार प्ररूपणा है। प्ररूपणा का सार चारित्र है। चारित्र का सार निर्वाण है और निर्वाण का सार अव्याबाध सुख है।

तात्पर्य यह है कि आचार, परम्परा से अव्याबाध सुख का देने वाला है। यही कारण है कि आचार-शास्त्र का इतना अधिक महत्त्व और प्रचलन है। निर्वाण-सुख में प्रमुख कारणभूत होने से आचार का अत्यधिक महत्त्व है। इस महत्त्वपूर्ण रत्न का दान सर्व-साधारण को नहीं दिया जाता। इस दान को प्राप्त करने वाले में भी विशेष योग्यता होनी चाहिए। आचार-दान की विधि को समझाने के लिए टीकाकार ने दृष्टान्त दिया है कि:—

किसी राजा ने नवीन नगर बसाने के आशय से अपनी प्रजा को समान रूप से भूमि प्रदान की और उन्हें कंकर-पत्थर, कांटे, कूड़ा-कचरा आदि दूर कर सम-भू-भाग करने, उस पर पक्की ईंटों की पीठिका और उस पर भव्य महल खड़ा करने की आज्ञा प्रदान की। महल खड़ा हो जाने के बाद उसमें रत्न आदि विविध मूल्यवान् सामग्री रखने का आदेश दिया। प्रजाजनों ने भी राजा की आज्ञानुसार भूमि की शुद्धि की और उस पर महल खड़ा कर लिया। बाद में विविध सुखों का उपभोग करते हुए वे सुखपूर्वक रहने लगे। इसी प्रकार राजा के समान आचार्य का यह कर्त्तव्य है कि वह पहले अपने शिष्य रूपी प्रजाजनों का मिथ्यात्वरूपी कूड़ाकचरा दूर कर उनमें संयम का आरोपण करे। सामायिक-चारित्र में स्थिर करने के पश्चात् पक्की ईंटों की पीठिका के समान व्रतों का आरोपण करे; उसके पश्चात् आचार रूपी महल खड़ा करे। आचार रूपी महल के खड़े हो जाने पर उसमें शेष शास्त्र रूपी रत्न सुरक्षित रह सकते हैं और वह निर्वाण सुख का अधिकारी हो सकता है। यही आचार-दान की महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

आचाराङ्ग के प्रथम अध्ययन का 'शस्त्रपरिज्ञा' नाम देकर ज्ञान और क्रिया का अनुपम समन्वय सूचित किया गया है। जैनधर्म ज्ञान और क्रिया के समन्वय से ही मोक्ष होना मानता है। "ज्ञान-क्रियाभ्याम् मोक्षः" यह उसका प्रधान सूत्र है। ज्ञान और क्रिया यदि परस्पर निरपेक्ष हों तो वे इष्ट के साधक नहीं हो सकते। क्रिया-रहित ज्ञान पङ्गु है और ज्ञान-रहित क्रिया अन्धी है।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

यदि अन्धे और पङ्गु का परस्पर सहयोग हो तो वे वन में लगे हुए दावानल से बचकर पार हो सकते हैं। यदि वे परस्पर निरपेक्ष हों तो दोनों जल कर नष्ट हो जावेंगे। अन्धे और पङ्गु के सहयोग के समान ज्ञान और क्रिया परस्पर सापेक्ष होने से इष्ट फल प्रदान करने वाले हो सकते हैं।

एकान्त ज्ञाननयवादी कहते हैं कि ज्ञान ही प्रधान है, क्रिया नहीं; क्योंकि उपादेय का उपादान और हेय का त्याग ज्ञानाधीन ही है। ज्ञानरहित की जाने वाली क्रिया अनर्थकारिणी होती है। ज्ञान होने पर सब क्रियाएँ व्यवस्थित हो सकती हैं। ज्ञान के अभाव में क्रिया करने में प्रवृत्त व्यक्ति पतङ्ग की तरह अनर्थ का भागी होता है। इसलिए ज्ञान ही मोक्ष का मुख्य साधक है। कहा भी है-

ज्ञप्तिः फलदा पुंसां न क्रिया फलदा मता।
मिथ्याज्ञानात्प्रवृत्तस्य फलासंवाददर्शनात्॥

अर्थात्—ज्ञान ही इष्ट फल का साधक होता है, क्रिया नहीं। ज्ञान के बिना की जाने वाली क्रिया अभीष्ट फल वाली नहीं होती है। इसलिए ज्ञान की प्रधानता है।

इसी तरह क्रिया-प्रधानवादी कहते हैं—क्रिया ही प्रधान है क्योंकि ज्ञान के द्वारा जान लेने पर भी यदि क्रिया न की जाय तो वह ज्ञान निष्फल ही होता है। औषधि का ज्ञान कर लेने मात्र से बीमारी दूर नहीं होती; औषधि का सेवन ही बीमारी को दूर कर सकता है। मोदक का ज्ञान हो जाने से ही संतोष नहीं होता। उसका आस्वादन करने से ही आनन्द आता है। कहा भी है—

क्रियैव फलदा पुंसां न ज्ञानं फलदं मतम्।
यतः स्त्रीभक्ष्यभोगज्ञो न ज्ञानात्सुखितो भवेत्॥

अर्थात्—क्रिया ही फल देने वाली है, ज्ञान नहीं। क्योंकि स्त्री, भक्ष्य और भोग को जानने मात्र से कोई सुखी नहीं होता।

वस्तुतः उक्त दोनों ही एकान्त पक्ष युक्तियुक्त नहीं हैं। एक पक्ष की युक्तियों से दूसरे पक्ष का खण्डन स्वयं हो जाता है। अतः ये दोनों पक्ष प्रमाण-रहित हैं। इन दोनों का समन्वय ही इष्ट फल का साधक है। यही बात इस सूत्र के प्रथम अध्ययन के नाम से प्रकट होती है।

इस अध्ययन का नाम 'शस्त्र-परिज्ञा' अध्ययन है। सामान्यतया 'परिज्ञा' शब्द का अर्थ विवेक कहा जा सकता है। विवेक से केवल ज्ञेय पदार्थ का ज्ञान ही अपेक्षित नहीं है परन्तु हेय-उपादेय का भी उसमें समावेश हो जाता है। इसीलिए जैनशास्त्र में परिज्ञा के दो भेद बताये गये हैं:—(१) ज्ञ परिज्ञा और (२) प्रत्याख्यान परिज्ञा। ज्ञ-परिज्ञा में ज्ञान को अवकाश है और प्रत्याख्यान परिज्ञा में त्यागमय क्रिया को। शास्त्रकार ने "णाणस्स फलं विरई" कहकर उसी ज्ञान को यथार्थ ज्ञान माना है जो क्रिया रूप से जीवन-व्यवहार में उतारा गया हो। इस प्रकार 'परिज्ञा' शब्द ज्ञान और क्रिया का समन्वय करने वाला है। साथ ही साथ इससे यह भी ध्वनित होता है कि अनन्त धर्मात्मक वस्तु को अनेक दृष्टि-बिन्दुओं से देखने और समझने में ही ज्ञान की यथार्थता है।

'शस्त्रपरिज्ञा' नाम में 'शस्त्र' शब्द हिंसक भावना या हिंसा के साधनों का द्योतक है। शस्त्र

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

के दो भेद बताये गये हैं—(१) द्रव्यशस्त्र—तलवार, अग्नि आदि और (२) भावशस्त्र—पापकर्म में प्रवृत्ति करते हुए मन, वचन और काया। यहाँ भावशस्त्र से अभिप्राय है। इससे 'शस्त्र-परिज्ञा' का अर्थ हुआ—हिंसा या हिंसा के साधनों के दुष्परिणामों को ज्ञ-परिज्ञा के द्वारा भलीभाँति जानकर प्रत्याख्यान-परिज्ञा द्वारा उनका त्याग कर देना।

आचार-महाशास्त्र के प्रारम्भ में ही हिंसा के त्याग का उपदेश देकर सूत्रकार यह बताना चाहते हैं कि विकास की ओर बढ़ने की भावना रखने वाले साधक के लिए अहिंसक-वृत्ति का विकास सर्वप्रथम आवश्यक है। अहिंसा या अहिंसक-भावना ही उत्थान है और हिंसा या हिंसा की भावना ही पतन है। अहिंसा ही सुख का राजमार्ग है और हिंसा ही दुख और अशान्ति की वीथिका है।

सारा संसार सुख का अभिलाषी होता हुआ भी दुख की आग में झुलस रहा है। चारों ओर हाहाकार, अशान्ति, करुण-क्रन्दन और व्याकुलता का साम्राज्य है। रक्तक्रान्तियां, महायुद्ध की विभीषिका, पूँजीवाद, साम्यवाद आदि वर्गों का संघर्ष, परमाणु बम जैसी संहारक शस्त्र-शक्तियों का अन्वेषण और प्रयोग—ये सब हिंसा के फल हैं। यही संसार को नरक के समान बना रहे हैं। दुनियां में इन्हीं की बदौलत शान्ति का नामोनिशान कहीं दृष्टिगत नहीं होता। यही अशान्ति और दुख का मूल कारण है।

इस अशान्ति से बचने के लिए सूत्रकार अहिंसा की ओर निर्देश करते हैं। अहिंसा ही वह संजीवनी है जो दुख से बेभान बने हुए प्राणियों को नवजीवन प्रदान कर सकती है; अहिंसा ही वह राम-बाण औषधि है जिसके सेवन करने से अशान्तिरूपी व्याधि नष्ट हो सकती है। अहिंसा ही अमृत है और हिंसा ही विष है। हिंसा के विष से दूर रहकर अहिंसा का अमृत-पान करने के लिए सूत्रकार शास्त्र के आदि में ही विधान कर रहे हैं। 'अहिंसा परमो धर्मः' यही सब शास्त्रों के मन्थन का मक्खन-सार है।

अहिंसा का व्यवहार जीवनव्यापी बने इसके लिए विवेक की आवश्यकता होती है। विवेक-रहित क्रिया कर्मबन्धन का कारण हो सकती है। इसलिए विवेक अथवा सद्विचार का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं:—

सुयं मे [1]आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं–[2]इहमेगेसिं णो सण्णा भवइ (सू.१) तंजहा पुरत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, दाहिणाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, पच्चत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, उत्तराओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, उड्ढाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, अहोदिसाओ वा आगओ अहमंसि, अण्णयरीओ वा दिसाओ

[1]आमुसंतेणं, आवसंतेणं। [2]चूर्ण्यभिप्रायेण द्वितीयसूत्रावतरणमेतत्।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

अणुदिसाओ वा आगओ अहमंसि (सू.२) [1]एवमेगेसिं णो णायं भवइ—अत्थि मे आया उववाइए, णत्थि मे आया उववाइए, के अहमंसि ? के वा इओ चुओ इह पेच्चा भविस्सामि (सू.३) ?

संस्कृतच्छाया—*श्रुतं मया, आयुष्मन् ! तेन भगवता एवमाख्यातम्—इहैकेषां नो संज्ञा भवति-तद्यथा पूर्वस्या वा दिशः आगतोऽहमस्मि, दक्षिणस्या वा दिशः आगतोऽहमस्मि, पश्चिमाया वा दिशः आगतोऽहमस्मि, उत्तरस्या वा दिशः आगतोऽहमस्मि, ऊर्ध्वदिशः वा आगतोऽहमस्मि, अधोदिशः वा आगतोऽहमस्मि, अन्यतरस्या वा दिशोऽनुदिशो वा आगतोऽहमस्मि, एवमेकेषां न ज्ञातं भवति, अस्ति मम आत्मा औपपातिकः, नास्ति ममात्मौपपातिकः, कोऽहमासम् ? को वा इतश्च्युतः इह प्रेत्य भविष्यामि ?*

शब्दार्थ—सुयं मे आ सं=हे आयुष्मन् ! मैंने सुना है। तेणं भगवया=उन भगवान् ने। एवमक्खायं=ऐसा कहा है। इहमेगेसिं=इस संसार में एक-एक जीवों को। सण्णा णो भवइ=ज्ञान नहीं होता। तंजहा=जैसा कि। पुरत्थिमाओ दिसाओ=पूर्व दिशासे। आगओ अहमंसि=आया हूँ। दाहिणाओ वा दिसाओ आ०=दक्षिण दिशा से आया हूँ। पच्चत्थिमाओ०=पश्चिम दिशा से आया हूँ। उत्तराओ वा०=उत्तरदिशा से आया हूँ। उड्ढाओ० ऊर्ध्व दिशा से आया हूँ। अहो०=नीची दिशा से आया हूँ। अण्णयरीओ वा दिसाओ=किसी भी एक दिशा से। अणुदिसाओ वा०=किसी भी विदिशा से आया हूँ। एवं=इस प्रकार। एगेसिं=कितने ही जीवों को। णो णायं भवइ=ज्ञान नहीं होता है। अत्थि मे आया उववाइए=मेरी आत्मा पुनर्जन्म करने वाली है। णत्थि मे आया उववाइए=मेरी आत्मा पुनर्जन्म करने वाली नहीं है। के अहमंसि=मैं कौन था। के वा इओ चुओ इह पेच्चा भविस्सामि=यहाँ से चलकर परलोक में क्या होऊँगा।

भावार्थ—श्रीसुधर्मस्वामी अपने प्रिय शिष्य जम्बूस्वामी से कहते हैं कि हे आयुष्मन् जम्बू! मैंने सुना है उन भगवान् महावीर ने इस प्रकार प्रतिपादन किया है कि इस संसार में कई जीवों को यह ज्ञान नहीं होता कि—मैं पूर्व दिशा से आया हूँ या दक्षिण दिशा से आया हूँ अथवा पश्चिम दिशा से आया हूँ या उत्तर दिशा से आया हूँ। मैं ऊर्ध्व दिशा से आया हूँ या अधोदिशा से आया हूँ अथवा किसी एक दिशा या विदिशा (चार कोण और अन्तराल) से आया हूँ। कई जीवों को यह भी ज्ञान नहीं होता कि मेरी आत्मा जन्मान्तर में संचरण करने वाली है या नहीं ? मैं पूर्वजन्म में कौन था ? यहां से मरकर दूसरे जन्म में क्या होऊँगा ?

१टीकानुसारेण 'भवइ' पर्यन्तं द्वितीयसूत्रावतरणम्। चूर्ण्यभिप्रायेण तु 'भविस्सामि' पर्यन्तम् द्वितीयसूत्रोपसंहारः।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

विवेचन—यह आगम की पवित्र वाणी है। इन पवित्र आगमों के प्रणेता आप्त-मुख्य सर्वज्ञ और सर्वदर्शी श्री महावीर भगवान् हैं। 'अत्थं भासइ अरहा सुत्तं गंथंति गणहरा निउणम्' अर्थात्-अर्हन् -तीर्थंकर अर्थरूप से आगमों का प्रवचन करते हैं और चतुर्दशपूर्वधारी गणधर उस पवित्र वाणी को सूत्ररूप में गुम्फित करते हैं। इस कथन से अर्थरूप आगम के प्रणेता श्री तीर्थंकर देव और सूत्ररूप आगम के प्रणेता श्री गणधर देव सिद्ध होते हैं।

अनुयोगद्वार सूत्र में आगम के तीन भेद बताये हैं—आत्मागम, अनन्तरागम और परम्परागम। अर्थ की अपेक्षा से श्री तीर्थंकर देव का आगम आत्मागम है। सूत्र की अपेक्षा से गणधरों का आगम आत्मागम है क्योंकि सूत्र उनके द्वारा रचे हुए हैं। अर्थ की अपेक्षा से गणधरों का आगम अनन्तरागम है क्योंकि उन्होंने यह अर्थ श्री तीर्थंकर देव से ग्रहण किया है। गणधर के आदि शिष्य के लिए सूत्ररूप आगम अनन्तरागम है और अर्थरूप आगम परम्परागम है क्योंकि सूत्ररूप आगम तो उन्होंने स्वयं गणधर देव से प्राप्त किया है और अर्थरूप आगम तो तीर्थंकर-गणधर की परम्परा से प्राप्त किया है। इसके बाद की शिष्य-परम्परा के लिए और हमारे लिए यह आगम सूत्र और अर्थ-उभय रूप से परम्परागम है।

सर्वज्ञ और सर्वदर्शी तीर्थंकर जिनके प्रणेता हैं और चतुर्दश पूर्वधारी गणधर श्री सुधर्मस्वामी जिनके संकलनकर्त्ता हैं उनकी सत्यता और प्रामाणिकता में भला क्या सन्देह हो सकता है?

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि श्री महावीर स्वामी के इन्द्रभूति गौतम प्रमुख ग्यारह गणधर थे उनमें से सुधर्मस्वामी ही संकलनकर्त्ता हैं यह कैसे निश्चय किया जा सकता है? इस प्रश्न का समाधान करते हुए श्री भद्रबाहु स्वामी आवश्यकनिर्युक्ति के गणधर-प्रकरण में कहते हैं-

तित्थं च सुहम्माओ निरवच्चा गणहरा सेसा।

अर्थात्—सुधर्मस्वामी से ही तीर्थ प्रवर्तित हुआ है, शेष गणधर निरपत्य—शिष्यरहित थे। इससे स्पष्ट हो जाता है कि श्री सुधर्मस्वामी ने अपने शिष्य श्री जम्बूस्वामी को यह सम्बन्ध ग्रन्थ कहा है।

श्री सुधर्मस्वामी ने "सुयं मे" इस पद के द्वारा आगम की आप्त-प्रणीतता, अपना विनयभाव और आत्मा का कथञ्चिद् नित्यानित्यत्व सूचित किया है। "हे आयुष्मन् जम्बू! मैंने यह भगवान् के मुखारविन्द से सुना है" इसका अभिप्राय यह है कि मैं जो कुछ कह रहा हूँ वह मेरा नहीं अपितु भगवान् का ही कथन है। भगवान् ही इस अर्थरूप आगम के प्ररूपक हैं। वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी तथा वीतराग हैं अतएव उनके वचन विश्वसनीय और प्रामाणिक हैं। उनमें पूरी पूरी श्रद्धा रखनी चाहिए। भगवान् के अर्थरूप आगम का ही यह सूत्रमय अनुवाद है अतएव यह सब कथन भगवान् का समझकर उस पर हार्दिक श्रद्धा और अखण्ड विश्वास रखना चाहिए। इस कथन से आगमों की आप्त-प्रणीतता सिद्ध होती है। अर्थात् सर्वज्ञ-पुरुष के द्वारा कहे हुए यह आगम प्रमाण हैं, यह सिद्ध होता है।

मीमांसक दर्शन अपने वेद रूप आगम को अपौरुषेय मानता है। उनके मत से कोई पुरुष सर्वज्ञ नहीं हो सकता है इसलिए वह वेद को पुरुष-कृत न मानकर अपौरुषेय मानता है। वह

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

कहता है कि पुरुष के द्वारा रचे गये शास्त्र प्रमाण नहीं हैं, क्योंकि वह सर्वज्ञ नहीं है, जैसे रथ्या-पुरुष के वाक्य। मीमांसकों का यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि पुरुष भी अपने पुरुषार्थ से राग-द्वेषादि दोषों को नष्ट करके सर्वज्ञता प्राप्त कर सकता है। वस्तुतः जीवात्मा और परमात्मा में कोई मौलिक भेद नहीं है। जीवात्मा कर्मपुद्गलों से बँधा हुआ है जबकि परमात्मा उनसे मुक्त है। जीवात्मा अपने स्वाभाविक गुणों के विकास के द्वारा—प्रबल पुरुषार्थ के द्वारा कर्मपुद्गलों के बन्धन तोड़ कर मुक्त हो सकता है। यही परमात्मा का स्वरूप है। अतएव पुरुष भी सर्वज्ञ हो सकता है। ऐसे सर्वज्ञ पुरुष के रचे हुए शास्त्र भी प्रमाणरूप होते हैं।

दूसरी बात पुरुष की असर्वज्ञता के कारण वेदों को अपौरुषेय बताने की बात भी युक्तियुक्त नहीं है। वेद वर्णात्मक हैं और वर्ण तालवादि स्थानों से बोले जाते हैं। पुरुष-शरीर के बिना तालु आदि स्थान से बोले जाने वाले वर्णों का उच्चारण ही सम्भव नहीं है अतः वेद का अपौरुषेयत्व सिद्ध नहीं होता। "सुयं मे" (मैंने सुना) यह कहकर सुधर्मस्वामी पौरुषेय आगम की प्रमाणता सिद्ध करते हैं।

साथ ही साथ इस पद से सुधर्मस्वामी अपना विनय-भाव प्रकट करते हैं। "मैं जो कुछ कह रहा हूँ उसमें मेरा कुछ नहीं है, यह सब भगवान् का ही है" यों स्वमनीषिका का परिहार करते हुए वे तीर्थङ्कर देव के प्रति अपना विनय प्रदर्शित करते हैं।

तीसरी बात जो इस पद से प्रकट होती है—वह है आत्मा का कथञ्चित् नित्यानित्यत्व। "जिसने भगवान् के मुखारविन्द से यह सब साक्षात् सुना है वही मैं, तुम्हें यह कहता हूँ" यह बात आत्मा को एकान्त नित्य अथवा एकान्त अनित्य मानने पर घटित नहीं हो सकती। एकान्त कूटस्थ नित्य आत्मा में "पहले सुनने वाला और बाद में सुनाने वाला" यह विभिन्न अवस्था घटित नहीं हो सकती। विभिन्न अवस्था होने पर कूटस्थ नित्यता नहीं रह सकती है। इसी तरह आत्मा को क्षणविध्वंसी मानने पर भी यह बात घटित नहीं होती, क्योंकि क्षणभङ्गवाद के अनुसार तो सुनने वाला आत्मा उसी क्षण नष्ट हो जाता है। वह सुनाने के लिए रुक नहीं सकता। जो सुनाने वाला आत्मा है उसने सुना नहीं है। इसलिए एकान्त अनित्यवाद में भी यह बात घटित नहीं होती। इससे यह सिद्ध होता है 'सुनने वाला आत्मा' और 'सुनाने वाला आत्मा' दोनों एक ही आत्म-द्रव्य की विभिन्न अवस्थाएँ हैं। उन विभिन्न अवस्थाओं में भी एक अखण्ड आत्म-द्रव्य समानरूप से रहा हुआ है। उसीसे इस तरह की प्रतीति हो सकती है। इससे आत्म-द्रव्य का स्याद्नित्यानित्यत्व सूत्रकार ने सूचित किया है।

'आउसं' इस पद से सूत्रकार ने अपने शिष्य को कोमल सम्बोधन किया है। हे आयुष्मन्!, यह संबोधन कितना प्रिय है! इसके सुनने मात्र से हृदय में प्रसन्नता होती है। आयु सबको प्रिय है। इसलिए लोक में भी 'चिरायु हो' 'दीर्घजीवी हो' आदि आशीर्वाद प्रचलित हैं। एक दृष्टि से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप पुरुषार्थ का आधार आयु ही है। दीर्घायु वाला व्यक्ति ही इनकी आराधना कर सकता है। अतः 'आयुष्मन्!' यह संबोधन बड़ा ही सुन्दर और संगत है। इससे यह भी स्पष्ट मालूम होता है कि गुरु के हृदय में शिष्य के प्रति कितना वात्सल्य है और होना चाहिए।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

'तेणं' (तेन) पद से सूत्रकार भगवान् के विशेषणों का सूचन करते हैं। अर्थात् "मैंने उन भगवान् से यह सुना है जिन्होंने राग-द्वेष आदि दोषों का समूल उन्मूलन कर दिया है, जो वीतराग हैं, जिन्होंने लोकालोक को हस्तामलक की तरह देख सकने वाला केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन प्राप्त किया है। इन सब गुणों के कारण जो यथार्थवक्ता और आप्तमुख्य हैं उन भगवान् से मैंने यह सुना" यह ध्वनित होता है।

'भगवया' पद से भगवान् के अष्ट महाप्रातिहार्य का सूचन किया गया है। 'भग' शब्द के निम्न अर्थ अभिप्रेत हैं:—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य रूपस्य यशसः श्रियः।
धर्मस्याथ प्रयत्नस्य षण्णां 'भग' इतीङ्गना॥

अर्थात्—ऐश्वर्य, रूप, यश, श्री, धर्म और प्रयत्न—ये छः भग के अर्थ हैं। इन से युक्त को भगवान् कहते हैं।

भगवान् वर्द्धमान स्वामी ६४ इन्द्रों के द्वारा पूजनीय थे आठ महा प्रातिहार्य के द्वारा इन्द्र उनकी भक्ति करते थे; उनके ऐश्वर्य का क्या कहना ? देवताओं का रूप भी जिनके रूप के सामने पानी भरता था उन भगवान् के अलौकिक रूप की कैसी अनुपमता ? राग, द्वेष, परीषह और उपसर्गों को अपने अतुल पराक्रम से पराजित कर देने के कारण त्रैलोक्य में व्याप्त होने वाली भगवान् की दिव्य यशोराशि की कैसी उज्ज्वलता ! घातिकर्मों का क्षय कर देने से प्राप्त होने वाली केवल-ज्ञान रूपी श्री की कैसी सुषमा ! दान, शील, तप और भावनामय कैसा अद्वितीय उनका धर्म ! समुद्घात अथवा शैलेशी अवस्था में प्रकट होने वाला कैसा प्रबल प्रयत्न ! इन सब गुणों के कारण वर्द्धमान स्वामी को भगवान् कहा है।

सूत्रकार ने उक्त विशेषण युक्त भगवान् का वर्णन करके उनके प्रति अपार भक्ति का प्रदर्शन किया है। भक्तिपूर्वक ग्रहण किया हुआ ज्ञान ही सफल होता है, यह भी इससे स्पष्ट हो जाता है।

कहीं कहीं 'आउसंतेणं' को एक पद मान कर इसका अर्थ 'आयुष्मता' अर्थात् 'आयुष्मान् भगवान् ने ऐसा कहा है' यह भी किया है। कहीं इस पद का अर्थ 'आमृशता भगवत्पादारविन्दं अर्थात् भगवान् के चरण-कमलों को भक्तिपूर्वक स्पर्श करते हुए' करके इस पद को 'मे' का विशेषण माना है। इससे गुरु-भक्ति का कितना सुन्दर बोध मिलता है। श्री सुधर्मस्वामी स्वयं चतुर्दश पूर्वों के धारक थे तदपि वे अपने गुरु की कैसी भक्ति करते थे। इससे प्रकट होता है कि चाहे जितना ज्ञान प्राप्त हो जाने पर भी गुरु की भक्ति कदापि नहीं छोड़नी चाहिए। कहीं इस पद के स्थान पर 'आवसंतेणं' पाठ मिलता है। इसका अर्थ है कि गुरु के समीप रहते हुए मैंने यह सुना है। इससे 'वसे गुरुकुले णिच्चं' (नित्य गुरु के समीप—उनकी सेवा में रहना चाहिए।) की शिक्षा मिलती है। वही साधक सच्चा ज्ञान प्राप्त कर सकता है जो गुरु की हृदय से सेवा करता हो।

'अक्खायं' (कहा) इस पद से अर्थरूप से आगमों की नित्यता का कथन किया गया है। अर्थात् यह आगम भगवान् वर्द्धमान स्वामी द्वारा कहे गये हैं, न कि रचे गये हैं। इस प्रकार कृतकत्व का निषेध करके आगमों की अर्थापेक्षया नित्यता प्रतिपादित की है। अतीतकाल में हुए

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

तीर्थङ्कर, वर्तमान काल के तीर्थङ्कर और अनागतकाल के तीर्थङ्कर-सब समान अर्थ का ही प्रतिपादन करते हैं। सबके वचनों में अर्थ की एकरूपता है अतएव आगम अर्थ की अपेक्षा अनादि अनन्त हैं।

इस प्रकार सम्बन्ध-वाक्य का कथन करने के पश्चात् अब सूत्रकार, भगवान् से सुने हुए अर्थ का प्रतिपादन करते हैं कि 'इहमेगेसिं नो सण्णा भवति'—इस संसार में कई जीवों को आत्म-ज्ञान नहीं होता।

आत्मा स्फटिक मणि की तरह निर्मल और प्रकाश स्वभाव वाली है। उसका शुद्ध स्वरूप निरञ्जन और निराकार है। वह ज्ञान का पिण्ड है। वह सर्वज्ञ और सर्वदर्शी है किन्तु अनादिकाल से राग, द्वेष, मोह आदि के कारण उसका शुद्ध-स्वरूप ज्ञानावरणीयादि कर्म से आवृत्त होकर विभाव दशा को प्राप्त हो गया है। अतः ज्ञानावरणीय कर्म के आवरण के कारण कई जीवों को आत्मा का ज्ञान नहीं होता है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि प्रकाश स्वभावी आत्मा का आवरण कैसे हो सकता है? यदि आवरण हो तो भी वह सतत रहना चाहिए। इस प्रश्न का समाधान यह है कि जैसे सूर्य और चन्द्र प्रकाशमय होने पर भी घने बादलों से आवृत्त होते हैं वैसे ही आत्मा प्रकाश-पिण्ड होते हुए भी ज्ञानावरणीय आदि कर्मों से आवृत्त होती है। जिस प्रकार प्रबल पवन के कारण बादल दूर हट जाते हैं और सूर्य-चन्द्र का प्रकाशमय स्वरूप प्रकट हो जाता है उसी तरह ध्यान, भावना आदि के कारण कर्म-आवरण दूर हो जाने पर आत्मा का शुद्ध-स्वरूप प्रकट हो जाता है।

पुनः शंका हो सकती है कि आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादिकाल से है, अनादि सम्बन्ध का प्रयत्न से विलय किस प्रकार हो सकता है? जिस वस्तु की आदि है उसीका अन्त हो सकता है। जिसकी आदि नहीं उसका अन्त कैसे हो सकता है? इसका उत्तर यह है कि मिट्टी और स्वर्ण का सम्बन्ध अनादि है तदपि खार और अग्नि के संयोग से सोना और मिट्टी अलग २ हो सकते हैं इसी तरह कर्म भी आत्मा से अलग हो सकते हैं। इससे यह फलित होता है कि वस्तु अनादि होते हुए भी सान्त हो सकती है। आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादि-सान्त है अतः वह पुरुषार्थ के द्वारा नष्ट किया जा सकता है।

एक शंका और खड़ी होती है कि आत्मा अमूर्त्त है और कर्म मूर्त्त हैं। अमूर्त्त आत्मा का आवरण कैसे हो सकता है? इसका समाधान यह है कि जैसे अमूर्त्त चेतना-शक्ति का मदिरा आदि मूर्त्त मादक द्रव्य के कारण आवरण होता है वैसे ही अमूर्त्त आत्मा का भी मूर्त्त कर्मों से आवरण हो सकता है।

ज्ञानावरणीय कर्म के तीव्र उदय से कई प्राणियों को आत्म-ज्ञान नहीं होता। सूत्रकार ने संज्ञा का निषेध करने के लिए "णो सण्णा भवइ" कहा है। यहाँ शङ्काकार प्रश्न करता है कि यहां संज्ञा का निषेध-मात्र अभिप्रेत है तो निषेधवाची अकार आदि लघु शब्द के होते हुए 'नो' शब्द से निषेध क्यों किया है। सूत्र में तो कम से कम अक्षर होने चाहिए। अक्षर-लाघव सूत्र की मुख्य विशेषता है।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

इस शंका का समाधान करते हुए टीकाकार कहते हैं कि 'नो' शब्द के द्वारा निषेध करने का विशेष प्रयोजन है। वह यह है कि यदि अकार आदि से संज्ञा का निषेध करते तो सर्वथा निषेध हो जाता। जैसे 'न घटः अघटः' ऐसा कहने से घट का सर्वथा निषेध हो जाता है उसी तरह 'न सण्णा असण्णा' कहने से संज्ञा का सर्वथा निषेध हो जाता। यह इष्ट नहीं है। किसी भी जीव में संज्ञा का सर्वथा अभाव कभी नहीं हो सकता। चाहे जितने घने बादलों का आवरण होने पर भी सूर्य का प्रकाश इतना तो बना रहता ही है जिससे दिन और रात्रि का भेद मालूम किया जा सके। इसी तरह चाहे जितना घना ज्ञानावरणीय कर्म का आवरण हो तो भी थोड़ा बहुत ज्ञान तो जीव में अवश्य बना रहता है। यदि ऐसा न हो तो जीव-अजीव का भेद ही न रहे। इसलिए किसी भी जीव में सर्वथा संज्ञा का अभाव नहीं होता। यदि 'नो' शब्द से निषेध न करते तो सर्वथा निषेध हो जाता। इस अनिष्ट का परिहार करने के लिए देश-निषेध वाची 'नो' शब्द के द्वारा संज्ञा का निषेध किया गया है। इसका अर्थ यह है कि उक्त प्रकार के जीवों में सर्वथा संज्ञा का अभाव नहीं अपितु विशिष्ट संज्ञा का अभाव होता है। अर्थात् आत्मादि पदार्थों का स्वरूप, जीव का भवान्तर में जाना-आना आदि का उन्हें ज्ञान नहीं होता। सामान्य संज्ञाएँ तो उनमें होती ही हैं। प्रज्ञापना सूत्र में बताया है कि—आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा, परिग्रहसंज्ञा, क्रोधसंज्ञा, मानसंज्ञा, मायासंज्ञा, लोभसंज्ञा, ओघसंज्ञा और लोकसंज्ञा—ये दस संज्ञाएँ प्राणीमात्र को होती हैं। इनका निषेध न हो जाय इसलिए 'नो' शब्द द्वारा संज्ञा का देशनिषेध किया गया है।

संज्ञा का सामान्य अर्थ ज्ञान होता है। संज्ञा के दो भेद किये गये हैं—ज्ञानसंज्ञा और अनुभवन संज्ञा। निर्युक्तिकार कहते हैं—

मति होइ जाणणा पुण अणुभवणा कम्मसंजुत्ता

अर्थात्—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदि पाँच ज्ञान-रूप संज्ञा, ज्ञानसंज्ञा है और अपने कर्मोदय से होने वाली आहारादि की अभिलाषा रूप संज्ञा अनुभवन संज्ञा है। अनुभवन संज्ञा के १६ भेद हैं आहार, भय, परिग्रह, मैथुन, सुख, दुःख, मोह, विचिकित्सा (शंका), क्रोध, मान, माया, लोभ, शोक, लोक, धर्म और ओघ संज्ञा।

प्रस्तुत सूत्र में अनुभवन संज्ञा से प्रयोजन न होकर ज्ञानसंज्ञा का ही प्रयोजन है। इसका अभिप्राय यह है कि किन्हीं २ प्राणियों को यह विशिष्ट ज्ञान नहीं होता कि वे पूर्व दिशा से आये हैं या पश्चिम दिशा से; उत्तर से आये हैं या दक्षिण से, ऊर्ध्वदिशा से आये हैं या अधोदिशा से।

इस सूत्र में सूत्रकार ने दिशाओं का निर्देश किया है। दिशा शब्द का निक्षेप करते हुए निर्युक्तिकार कहते हैं:—

नामं ठवणा दविए खित्ते तावे य पण्णवगभावे।
एस दिसानिक्खेवो सत्तविहो होइ णायव्वो॥

अर्थात्—नामदिशा, स्थापनादिशा, द्रव्यदिशा, क्षेत्रदिशा, तापदिशा, प्रज्ञापकदिशा और भावदिशा यह सात तरह का दिग्निक्षेप है।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

किसी भी वस्तु का नाम, दिशा हो तो वह नाम दिशा है। जम्बूद्वीप आदि के मानचित्र (नक्शे) में दिशाओं के विभाग की स्थापना करना स्थापना दिशा है। जघन्यतः तेरह प्रदेशात्मक द्रव्य में दस दिशाओं के विभाग की कल्पना करना द्रव्यदिशा है। मेरुपर्वत पर रहे हुए आठ आकाश-प्रदेशात्मक रूचक ही दिशा और विदिशा का उत्पत्तिस्थान है। उसी से चार महादिशा और चार विदिशा तथा ऊर्ध्व एवं अधोदिशा का प्रारम्भ माना गया है। यह क्षेत्रदिशा है। जिसके लिए सूर्य जिस दिशा में उदय होता है उसके लिए वह पूर्व दिशा है और जिधर अस्त होता है वह पश्चिमदिशा है; दाहिनी ओर दक्षिणदिशा है और बायीं ओर उत्तरदिशा है। यह ताप-दिशा कहलाती है। व्याख्याता जिस तरफ मुख करके बैठता है वह पूर्वदिशा है, उसकी पीठ की ओर पश्चिमदिशा है, दाहिनी ओर दक्षिणदिशा है और बाईं ओर उत्तरदिशा है। इन चार दिशाओं के अन्तराल में चार विदिशाएँ हैं। इन आठ के अन्तराल में आठ और अन्तर हैं। ये सोलह दिशाएँ हुईं इनमें ऊर्ध्व और अधोदिशा मिलाने से १८ प्रज्ञापक दिशाएँ होती हैं।

भावदिशा का निरूपण करते हुए निर्युक्तिकार कहते हैं:—

मणुया तिरिया काया तहग्गबीया चउक्कगा चउरो।
देवा नेरइया वा अट्ठारस होंति भावदिसा॥

अर्थात्—मनुष्य के चार भेद—सम्मूर्छिम मनुष्य, कर्मभूमि म०, अकर्मभूमि म० और अन्तरद्वीपज म०।
तिर्यञ्च के चार भेद—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय।
काय के चार भेद—पृथ्वीकाय, अपकाय, तेउकाय और वायुकाय।
वनस्पति के चार भेद—अग्रबीज, मूलबीज, स्कन्धबीज और पर्वबीज।

उक्त १६, देव और नारकी ये अठारह भाव-दिशाएँ हैं। संसारी जीव इन अठारह अवस्थाओं में से किसी न किसी अवस्था में बना रहता है अतः ये भाव दिशाएँ कहलाती हैं।

यद्यपि सूत्र में पूर्व, पश्चिम आदि प्रज्ञापक दिशाओं का साक्षात् कथन किया गया है, इस-लिए प्रज्ञापकदिशा का ही यहाँ अधिकार समझा जाना चाहिए तदपि सामर्थ्य से भावदिशाओं का भी अधिकार समझना चाहिए। जीवों का गमनागमन जिन दिशाओं में स्पष्ट रूप से सम्भव है उन्हीं का यहां अधिकार समझना चाहिए। भावदिशा के बिना प्रज्ञापकदिशा में जीव का गमना-गमन नहीं होता अतः सामर्थ्य से भावदिशा का भी यहां अधिकार समझना चाहिए।

तात्पर्य यह हुआ कि इस संसार में कतिपय ऐसे प्राणी हैं जिन्हें यह ज्ञान और भान नहीं होता कि उनकी आत्मा किस दिशा से आई है और कहाँ जावेगी? उन पर ज्ञानावरणीय कर्म का ऐसा आवरण पड़ा होता है, जिसके कारण वे यह नहीं जान पाते कि हम पूर्वभव में कौन थे और आगे के जन्म में क्या बनेंगे?

जिस प्रकार कोई शराबी शराब पीकर बेभान बना हुआ इधर-उधर सड़क पर गिर जाता है और शराब की गंध के कारण कुत्ते उसका मुँह चाटने लगते हैं तो भी वह संज्ञा-शून्य होकर पड़ा रहता है। ऐसे शराबी को कोई व्यक्ति उसके घर पहुँचा देता है और थोड़ी देर के बाद उसका

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

नशा उतर जाता है। नशा उतरने के बाद वह यह नहीं जानता कि मैं यहाँ कहाँ से और कैसे आगया। इसी तरह यह प्राणी मतिज्ञानावरण कर्म का आवरण होने से यह नहीं जान पाता कि मैं यहाँ कहाँ से आया ? उस प्राणी को अपने शरीर के अधिष्ठाता-आत्मा का भी भान नहीं होता। उसे यह विचार ही नहीं पैदा होता कि मेरी आत्मा भवान्तर में—देव, मनुष्य, तिर्यञ्च और नरकगति में गमनागमन करती है या नहीं ? मैं पहले भव में कौन था ? और यहाँ से आयुष्य पूर्णकर परलोक में क्या बनूँगा ?

इस सूत्र के पूर्वभाग में साक्षात् प्रज्ञापकदिशा का कथन किया इसलिए "के अहं आसी ? के वा इओ चुए इह पेच्चा भविस्सामि" इससे भावदिशा का साक्षात् निर्देश किया गया है।

—आत्मा के अस्तित्व में शंका—

शंका—शंकाकार शंका करता है कि आपने आत्मा के दिशा-विदिशा से आने और भवान्तर में संचरण करने के ज्ञान का किन्हीं २ प्राणियों में निषेध किया है। यह निषेध करना तब ठीक होता जब आत्मा की सिद्धि हो जाती। 'सति धर्मिणि धर्माश्चिन्त्यन्ते' अर्थात् धर्मी के होने पर ही धर्मों का विचार किया जाता है। आत्मा ही सिद्ध नहीं है तो उसके गुणों का विचार ही कैसे हो सकता है ? मूल के बिना शाखाओं का सद्भाव कैसे ?

आत्मा की सिद्धि किसी भी प्रमाण के द्वारा नहीं होती। प्रमाण के छः भेद हैं:—(१) प्रत्यक्ष (२) अनुमान (३) उपमान (४) आगम (५) अर्थापत्ति और (६) अभाव।

प्रत्यक्ष प्रमाण से आत्मा का ग्रहण नहीं होता क्योंकि चक्षु आदि इन्द्रियों से इसका ज्ञान नहीं होता। जैसे घट पटादि पदार्थ विद्यमान हैं तो उन्हें हम चक्षु आदि से देख सकते हैं वैसे आत्मा का चक्षु आदि के द्वारा प्रत्यक्ष नहीं होता अतः प्रत्यक्ष प्रमाण से आत्मा की सिद्धि नहीं हो सकती।

अनुमान प्रमाण से भी आत्मा सिद्ध नहीं होती। क्योंकि उसके अतीन्द्रिय होने से साध्य-साधक के सम्बन्ध रूप अविनाभाव का ग्रहण सम्भव नहीं है। जिस प्रकार अग्नि और धूम का अविनाभाव सम्बन्ध प्रत्यक्ष है उस तरह इसके अविनाभाव का निश्चय नहीं हो सकता क्योंकि यह अतीन्द्रिय है। ऐसा कोई अविनाभावी लिङ्ग नहीं है जिसे देखकर आत्मा का अनुमान किया जा सके।

आत्मा का प्रत्यक्ष न होने से उसके समान किसी दूसरी वस्तु का भी कथन नहीं हो सकता जिसके द्वारा आत्मा का ग्रहण हो। अतः उपमान प्रमाण द्वारा भी उसकी सिद्धि नहीं होती।

आगम भी परस्पर विरोधी हैं। कोई उसे नित्य कहता है, कोई उसे अनित्य कहता है, कोई उसे सर्वव्यापी कहता है और कोई उसे शरीर-प्रमाण कहता है। अतः परस्पर विरोधी होने से आगम भी आत्मा का साधक प्रमाण नहीं बन सकता।

जिस पदार्थ के बिना जो चीज़ नहीं बन सकती उसे देखकर उस पदार्थ का ग्रहण करना अर्थापत्ति प्रमाण है। जैसे पर्वत पर वर्षा हुए बिना पहाड़ी नदी में बाढ़ नहीं आ सकती तो पहाड़ी

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

नदी की बाढ़ को देखकर पर्वत पर वर्षा होने का ज्ञान करना अर्थापत्ति कहलाता है। आत्मा के बिना ही सब पदार्थ-व्यवस्था बराबर बनी हुई है अतः अर्थापत्ति के द्वारा आत्मा का अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता।

उक्त पांचों प्रमाणों के द्वारा आत्मा का ग्रहण नहीं होता अतः यह सिद्ध होता है कि आत्मा का अभाव है अतः वह अभावप्रमाण का विषय है। आत्मा नहीं है क्योंकि उक्त पांच प्रमाणों से उसका ग्रहण नहीं होता। जिसका इन पांच प्रमाणों से ग्रहण नहीं होता उसका अस्तित्व ही नहीं है जैसे खर-विषाण।

आत्मा के अभाव में उसका दिशा-विदिशा से आना और भवान्तर में संचरण करना असम्भव है अतः इस सूत्र की आवश्यकता ही नहीं है।

—आत्मा की सिद्धि—

समाधान—यह सब लम्बा-चौड़ा कथन बालुका की भींत पर खड़े किये गये महल के समान है। आत्मा को अप्रत्यक्ष मानकर ही यह सब व्यर्थ प्रगल्भता प्रदर्शित की गई है। आत्मा का प्रत्यक्षत्व सिद्ध होने पर शंकाकार का खड़ा किया हुआ रेत का महल क्षणभर में धराशायी हो जाता है। अतः आत्मा का प्रत्यक्षत्व सिद्ध किया जाता है:—

आत्मा प्रत्यक्ष है क्योंकि उसका ज्ञानगुण स्वसंवेदन-सिद्ध है। घट-पटादि भी उनके गुण-रूप आदि का प्रत्यक्ष होने से ही प्रत्यक्ष कहे जाते हैं। इसी तरह आत्मा के ज्ञान-गुण का प्रत्यक्ष होने से वह भी प्रत्यक्ष सिद्ध होती है।

शंका—ज्ञान, आत्मा का गुण नहीं है। वह तो पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश रूप पञ्च महाभूतों के कायाकार-परिणत होने पर उनसे प्रकट होता है, जिस प्रकार मद्य के अंगों के मिलने पर उनमें मद-शक्ति प्रकट होती है, इसी तरह भूतों के कायाकार-परिणत होने पर चैतन्य प्रकट हो जाता है। जिस प्रकार जल से बुद्बुद् प्रकट होता है उसी तरह भूतों से चैतन्य प्रकट होता है। इसलिए चैतन्य गुण के कारण आत्मा का पृथक् अस्तित्व सिद्ध नहीं होता अपितु चैतन्य भूतों का धर्म होकर आत्मा का अभाव ही सिद्ध करता है।

समाधान—चैतन्य भूतों का धर्म नहीं हो सकता। क्योंकि भूतों में—पृथ्वी का आधार और काठिन्य गुण है, पानी का द्रवत्व गुण है, तेज का गुण पाचन है, वायु का गुण चलन है और आकाश का गुण स्थान देना है। ये गुण चैतन्य से भिन्न हैं। चैतन्य से भिन्नगुण वाले पदार्थों के समुदाय से चैतन्य की अभिव्यक्ति कैसे हो सकती है? अन्यगुण वाले पदार्थों के सम्मेलन से अन्य नवीन गुण की उत्पत्ति नहीं हो सकती। जैसे बालुका के समुदाय से तेल की उत्पत्ति नहीं हो सकती। बालुका में स्निग्धत्व का अभाव होने से जैसे उससे स्निग्ध गुणवाला तेल नहीं निकल सकता है उसी तरह पांच महाभूतों में चैतन्य न होने के कारण उनके संयोग से चैतन्य की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती है। जैसे घट-पट के समुदाय से स्तम्भ का आविर्भाव नहीं हो सकता उसी तरह भूतों से चैतन्य का आविर्भाव नहीं हो सकता। शरीर में चैतन्य-गुण की उपलब्धि होती है, अतः यह बताता है कि चैतन्य आत्मा का धर्म है।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

शंका—जैसे किण्व, उदक आदि मद्य के अंगों में अलग २ मादक-शक्ति नहीं होते हुए भी जब उनका संयोग होता है तो उनमें मादक-शक्ति प्रकट हो जाती है उसी तरह भूतों में अलग चैतन्य गुण न होने पर भी जब वे कायाकार होकर एकत्र मिलते हैं तब उनमें चैतन्य प्रकट होता है।

समाधान—मद्य के प्रत्येक अंग में मादक शक्ति नहीं है यह कथन असत्य है। प्रत्येक अंग में यदि आंशिक मादक शक्ति न हो तो वह समुदाय में भी नहीं आसकती है। किण्व में भूख दूर करने और सिर में चक्कर पैदा करने की शक्ति होती है इसी तरह जल में भी तृषा दूर करने की शक्ति है। ये सब आंशिक मादक शक्तियाँ मिलती हैं तभी सम्मिलित मादक शक्ति बन सकती हैं, अन्यथा नहीं। पृथक् पृथक् भूत में चैतन्य माने बिना समुदित भूतों में चैतन्य आ नहीं सकता। यदि भूतों से चैतन्य की उत्पत्ति मानी जाय तो किसी का मरण नहीं होना चाहिए। क्योंकि मृत-शरीर में भी पञ्च भूतों की सत्ता रहती है। उसमें भी चैतन्य की अभिव्यक्ति होनी चाहिए।

शंका—मृतशरीर में वायु और तेज नहीं होते अतः चैतन्य का अभाव होता है और यही मरण है।

समाधान—यह कहना ठीक नहीं है। मृत-शरीर में सूजन देखी जाती है जो वायु का सद्-भाव सिद्ध करती है। तथा मृत-शरीर में सड़ाद का उत्पन्न होना देखा जाता है, यह अग्नि का कार्य है अतः तेज भी वहाँ मौजूद है। पञ्चभूतों के रहते हुए भी मृत-शरीर में चैतन्य नहीं पाया जाता यही सिद्ध करता है कि चैतन्य भूतों का गुण नहीं। यदि चैतन्य को भूतों का गुण माना जायगा तो मरण के अभाव का प्रसंग उपस्थित होगा।

यदि चैतन्य भूतों का ही धर्म होता तो जहाँ पांचों भूतों की सत्ता हो वहाँ अवश्य चैतन्य देखा जाना चाहिए। लेकिन लेप्यमय प्रतिमा में सब भूतों के होते हुए भी जड़ता ही पाई जाती है। इससे यह भलीभांति सिद्ध हो जाता है कि चैतन्य भूतों का धर्म नहीं अपितु आत्मा का धर्म है। आत्मा के चैतन्य गुण का प्रत्यक्ष होने से आत्मा का प्रत्यक्ष स्वयंसिद्ध है क्योंकि गुण और गुणी अभिन्न हैं। अतः आत्मा का प्रत्यक्ष-प्रमाण से ग्रहण होना सिद्ध होता है।

स्वसंवेदन प्रमाण से भी आत्मा का प्रत्यक्ष होता है। प्राणिमात्र को "मैं हूँ" ऐसा स्व-संवेदन होता है। किसी भी व्यक्ति को अपने अस्तित्व में शंका नहीं होती। "मैं सुखी हूँ" अथवा "मैं दुःखी हूँ" इत्यादि में जो "मैं" है वही आत्मा की प्रत्यक्षता का प्रमाण है। यह 'अहंप्रत्यय' ही आत्मा की प्रत्यक्षता का सूचन करता है।

शंका—"मैं सुखी हूँ, मैं दुखी हूँ" इस प्रत्यय में "मैं" शब्द आत्मा का निर्देश नहीं करता अपितु शरीर का निर्देश करता है। उक्त प्रत्ययों में सुख दुख का अनुभव करने वाला शरीर ही है।

समाधान—यह कल्पना मिथ्या है। यदि उक्त प्रत्ययों (ज्ञानों) में 'अहं' से शरीर का निर्देश होता तो "मेरा शरीर" इस प्रकार की प्रतीति नहीं होनी चाहिए। किसी भी व्यक्ति को "मैं शरीर हूँ" ऐसी प्रतीति नहीं होती। सबको "मेरा शरीर" यही प्रतीति होती है। इससे यह मालूम होता है कि शरीर का अधिष्ठाता कोई है। जैसे "मेरा धन" कहने से धन और धनवाला अलग २ मालूम

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

होता है इसी तरह "मेरा शरीर" कहने से शरीर और उसका स्वामी अलग २ प्रतीत होता है। जो शरीर का स्वामी है वही आत्मा है और वही 'अहं' प्रत्यय से निर्दिष्ट है।

अतः प्राणिमात्र को होने वाला यह "अहं" ज्ञान आत्मा की प्रत्यक्षता का उल्लेख करने वाला प्रबल प्रमाण है।

अनुमान आदि प्रमाणों से भी आत्मा की सिद्धि होती है। चार्वाक दर्शन प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अनुमान आदि को प्रमाण-रूप नहीं मानता है। उसकी यह मान्यता असत्य और असंगत है। जो अर्थ को ठीक-ठीक बतलाता है उसे प्रमाण कहते हैं। प्रत्यक्ष भी तभी प्रमाण होता है जब वह अर्थ को ठीक-ठीक बतलाता है। तिमिर आदि दोष के कारण प्रत्यक्ष भी अप्रमाण होता है। तात्पर्य यह है कि चाहे प्रत्यक्ष हो या अनुमान, जो कोई अर्थ को ठीक-ठीक बतलाता है वही प्रमाण है। अनुमान भी पदार्थ को ठीक-ठीक बताने वाला होता है अतः वह भी प्रमाण है।

अनुमान को प्रमाण माने बिना प्रत्यक्षज्ञान की प्रमाणता भी सिद्ध नहीं की जा सकती है। अपना प्रत्यक्ष अपने ही अनुभव में आता है, उसके द्वारा दूसरे को ज्ञान नहीं हो सकता है। दूसरे को अपने प्रत्यक्ष का ज्ञान कराने के लिए वाणी का आश्रय लिया जाता है। उस वाणी के द्वारा श्रोता को जो ज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष न होकर शाब्द-बोध—अनुमान कहलाता है। प्रत्यक्ष ज्ञान इसलिए मूक कहलाता है कि वह अपने ही अनुभव में आता है। अतः अपने प्रत्यक्ष की प्रमाणता सिद्ध करने के लिए अनुमान का आश्रय लेना ही पड़ता है। इसके बिना अपने पक्ष का प्रतिपादन असम्भव होता है।

दूसरी बात यह है कि अनुमान को प्रमाण माने बिना दूसरे के अभिप्राय का ज्ञान नहीं हो सकता। दूसरे के अभिप्राय को समझे बिना भाषण करना उन्मत्त प्रलापवत् ही होता है। अतः चेष्टा आदि के द्वारा दूसरे की चित्तवृत्ति को समझने के लिए अनुमान-प्रमाण की आवश्यकता होती है।

तीसरी बात यह है कि प्रत्यक्ष के द्वारा किसी चीज़ का निषेध नहीं होता। प्रत्यक्ष का काम तो इन्द्रिय-सम्बद्ध पदार्थ को बता देना मात्र होता है। जैसा कि कहा गया है—

आहुर्विधातृ प्रत्यक्षं न निषेधृ विपश्चितः

अर्थात्—प्रत्यक्ष का काम विधान करना मात्र है। निषेध करना उसका काम नहीं है। चार्वाक लोग स्वर्ग आदि का निषेध किये बिना चैन नहीं पाते और इधर प्रत्यक्ष के सिवा अन्य अनुमान आदि को प्रमाण भी नहीं मानते यह उनका कैसा बाल-हठ है!

अनुमान से आत्मा की सिद्धि

आत्मा का अस्तित्व है क्योंकि उसका असाधारण गुण-चैतन्य देखा जाता है। जिसका असाधारण गुण देखा जाता है उसका अस्तित्व अवश्य होता है जैसे चक्षुरिन्द्रिय। चक्षु सूक्ष्म होने से साक्षात् दिखाई नहीं देती लेकिन अन्य इन्द्रियों से न होने वाले रूप-विज्ञान को उत्पन्न

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

करने की शक्ति से उसका अनुमान होता है। इसी तरह आत्मा का भी भूतों में न पाये जाने वाले चैतन्य गुण को देख कर अनुमान किया जाता है।

आत्मा है, क्योंकि समस्त इन्द्रियों के द्वारा जाने हुए अर्थों का संकलनात्मक (जोड़रूप) ज्ञान देखा जाता है। जैसे पाँच खिड़कियों के द्वारा जाने हुए अर्थों का मिलाने वाला एक जिनदत्त। "मैंने शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श को जाना" यह संकलनात्मक ज्ञान सब विषयों को जानने वाले एक आत्मा को माने बिना नहीं हो सकता है। इन्द्रियों के द्वारा यह ज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि प्रत्येक इन्द्रिय एक एक विषय को ही ग्रहण करती है। आँख रूप को ही जान सकती है, स्पर्श को नहीं। स्पर्शनेन्द्रिय स्पर्श का ही प्रत्यक्ष कर सकती है, रूप आदि का नहीं। अतः इन्द्रियों के द्वारा सब अर्थों को प्रत्यक्ष करने वाला एक आत्मा अवश्य मानना चाहिए। जिस प्रकार पाँच खिड़कियों वाले मकान में बैठकर पाँचों खिड़कियों के द्वारा दिखाई देने वाले पदार्थों का ज्ञाता एक जिनदत्त है उसी तरह पाँच इन्द्रियाँ रूपी खिड़कियों वाले शरीर रूपी मकान में बैठकर आत्मा भिन्न २ विषयों को जानता है।

शंका—पदार्थों को ग्रहण करने वाली तो इन्द्रियाँ हैं अतः उन्हें ही जानने वाली समझना चाहिए। इनसे भिन्न आत्मा को ज्ञाता मानने की क्या आवश्यकता है?

समाधान—इन्द्रियाँ स्वयं पदार्थों का ग्रहण करने वाली नहीं हैं, वे तो साधन-मात्र हैं। जैसे मकान की खिड़कियाँ स्वयं पदार्थों को देखने वाली नहीं हैं परन्तु उनके ज्ञान में साधन मात्र हैं। इन्द्रिय के नष्ट हो जाने पर भी पूर्वदृष्ट-पदार्थ का स्मरण होता है। यह स्मरण आत्मा को ज्ञाता माने बिना कैसे हो सकता है? जो पुरुष पदार्थ को देखता है वही दूसरे समय में उस पदार्थ का स्मरण कर सकता है। जिसने पदार्थ देखा नहीं है वह उसका स्मरण नहीं कर सकता। देवदत्त के देखे हुए पदार्थ का यज्ञदत्त स्मरण नहीं कर सकता। यदि नेत्र के द्वारा पदार्थ को देखने वाला आत्मा नेत्र से भिन्न नहीं है तो नेत्र के नष्ट होने पर पहले नेत्र के द्वारा देखे हुए पदार्थ का देवदत्त स्मरण कैसे कर सकता है? इससे स्पष्ट होता है कि इन्द्रियों के द्वारा वस्तु का साक्षात्कार करने वाला आत्मा अवश्य विद्यमान है।

आगम प्रमाण तो आत्मा का प्रतिपादक है ही। यह प्रकृत सूत्र ही आत्मा का विधायक है। अर्थापत्ति-प्रमाण से भी आत्मा की सिद्धि होती है। यदि आत्मा न हो तो सुख, दुख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न आदि क्रियाएँ न होनी चाहिए। ये क्रियाएँ होती हैं अतः इनका समवायी कारण भूतों से भिन्न आत्मा नामक दूसरा पदार्थ होना चाहिए। उपमान प्रमाण का अनुमान में समावेश हो जाता है। अनुमान से आत्मा की सिद्धि पहले की जा चुकी है। इस प्रकार सब प्रमाणों के द्वारा आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है।

शंकाकार—चैतन्य गुण के कारण आत्मा का अस्तित्व तो सिद्ध हुआ। लेकिन वह आत्मा परलोक में जाती है और परलोक से आती है, यह प्रतीत नहीं होता। जब तक शरीर रहता है तब तक चैतन्य गुण की उपलब्धि होती है। इससे मालूम होता है कि जब तक शरीर रहता है तब तक आत्मा भी रहता और शरीर अभाव होने पर आत्मा का भी अभाव हो जाता है। शरीर से निकल कर अन्यत्र जाता हुआ चैतन्य नहीं देखा जाता है।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

जिस प्रकार दिवाल पर अंकित किया हुआ चित्र दिवाल के बिना टिक नहीं सकता, न वह दूसरी दिवाल पर जाता है, न वह दूसरी दिवाल से आया है, किन्तु दिवाल पर ही उत्पन्न हुआ है और दिवाल में ही लीन हो जाता है इसी प्रकार ज्ञान (चैतन्य) गुणरूप आत्मा शरीर में ही उत्पन्न होता है और शरीर में ही लीन हो जाता है। न तो वह कहीं दूसरे लोक से आया है और न कहीं दूसरे लोक में जाता है। जब तक शरीर है तब तक संवेदन है, उसके बाद उसका अभाव हो जाता है। अतः परलोक में जाने-आने वाली आत्मा नामक कोई चीज़ नहीं है। (यह मान्यता तज्जीवतच्छरीरवादियों की है।)

समाधान—उक्त शंका करना ठीक नहीं है। आत्मा स्वरूप से अमूर्त्त है। तदपि कर्मों के कारण वह शरीर-संयुक्त है। तैजस् और कार्मण शरीर हर संसारी जीवात्मा के होते ही हैं। ये शरीर भी अत्यन्त सूक्ष्म होने से दिखाई नहीं देते हैं। इसलिए शरीर में प्रविष्ट होती हुई और निकलती हुई आत्मा दिखाई नहीं देती। दिखाई नहीं देने मात्र से उसका अभाव सिद्ध नहीं किया जा सकता है। सूक्ष्म शरीर युक्त होते हुए भी आत्मा आता-जाता हुआ दृष्टिगोचर नहीं होता तदपि निम्न चिन्हों के द्वारा उसका आवागमन सिद्ध होता है।

प्रत्येक प्राणी को अपने शरीर का बड़ा आग्रह (अनुराग) हुआ करता है। अभी-अभी उत्पन्न सूक्ष्म से सूक्ष्म कीड़ा भी अपने शरीर की हिफाजत-सुरक्षा चाहता है। घातक या बाधक कारणों के उपस्थित होते ही वह भागने लगता है। यह उसके शरीर के प्रति अनुराग को सूचित करता है। जिसे जिस विषय का अनुराग होता है वह उससे चिरपरिचित और अभ्यस्त होता है। जो व्यक्ति जिस वस्तु के गुण-दोष नहीं जानता उसको उसके प्रति आग्रह कदापि नहीं होता। जन्म लेते ही शरीर के प्रति प्राणिमात्र को जो अनुराग देखा जाता है वह इस बात को सूचित करता है कि यह प्राणी शरीर-धारण करने का अभ्यस्त है। इससे इस जन्म के पहले भी शरीर धारण किये थे तभी तो शरीर के प्रति इसका इतना अनुराग है। इससे सिद्ध होता है कि प्राणी ने कई शरीर धारण किये हैं। इससे जन्मान्तर से आना सिद्ध होता है।

आज के ही उत्पन्न हुए बालक में स्तन-पान की इच्छा देखी जाती है। वह इच्छा पहली इच्छा नहीं है। क्योंकि जो इच्छा होती है वह अन्य इच्छापूर्वक होती है। जैसे पाँच-सात वर्ष के बालक की इच्छा। स्तन-पान की इच्छा भी, इच्छा है इसलिए वह पहले पहल नहीं हुई किन्तु उसके पूर्व की इच्छा से उत्पन्न हुई है। जिसने जिस पदार्थ का कभी उपयोग न किया हो उसे उस विषय की इच्छा नहीं हो सकती। उसी दिन का पैदा हुआ बालक माता के स्तन का पान करने की इच्छा करता है। यदि उसने पहले कभी स्तन-पान न किया होता तो उसे यह अभिलाषा कभी पैदा न होती। बालक को स्तन-पान की अभिलाषा होती है इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उसने पहले भी माता के स्तन का पान किया है। इससे जीव का परलोक में गमनागमन करना सिद्ध होता है।

ऊपर दिया हुआ चित्र का दृष्टान्त भी संगत नहीं है क्योंकि वह वैषम्य दोष से दुष्ट है। चित्र अचेतन है अतः वह गमनागमन नहीं कर सकता है। आत्मा तो सचेतन है अतः वह गमनागमन कर सकता है। जिस प्रकार एक व्यक्ति एक गांव में कुछ दिन रहने के बाद दूसरे गाँव में

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

जाकर रह सकता है इसी तरह यह आत्मा भी एक शरीर में थोड़े काल तक रह कर फिर दूसरे शरीर में आ-जा सकती है।

विश्व में पाया जाने वाला वैषम्य भी पूर्वजन्म और पुनर्जन्म को सिद्ध करता है। इस जगत् में कोई प्रकाण्ड पण्डित है तो कोई मूर्ख-शिरोमणि; कोई अपार ऐश्वर्य का स्वामी है तो कोई दर-दर का भिखारी, कोई राजा है और कोई रंक, कोई रूप का भण्डार है तो कोई कुरूप है, कोई सुन्दर स्वास्थ्य का आनन्द उठाता है तो कोई रोगों का घर बना हुआ है। कोई ऊँचे ऊँचे प्रासादों में विलासमय अठखेलियों में मशगूल है और किसी को फूस की टपरिया भी मयस्सर नहीं, किसी के यहाँ धन-धान्य के अखूट भण्डार भरे हैं और किसी को खाने के लिए दाना भी नहीं मिलता। दुनिया का यह वैषम्य क्यों है? इसका कारण क्या है? बिना कारण के कोई कार्य नहीं होता अतः इसका कारण अवश्य होना चाहिए। इसका कारण है पूर्वकृत पुण्य और पाप।

संसार में ऐसा भी देखा जाता है कि एक व्यक्ति बहुत धर्मात्मा और पुण्यात्मा होते हुए भी दुखी है और दूसरी ओर एक व्यक्ति पापकर्म करता हुआ भी सुखी है। धर्म और पुण्य का फल दुख नहीं हो सकता और पाप का फल सुख नहीं हो सकता। अतः यह सहज सिद्ध होता है कि वह धर्मात्मा प्राणी इस जन्म में धर्म करते हुए भी पहले के जन्म में किये हुए पापकर्म के कारण इस समय दुखी है और वह पापात्मा इस जन्म में पाप करते हुए भी पहले के जन्म में किये हुए धर्म और पुण्य के कारण सुखी है। यह भी पूर्व जन्म और पुनर्जन्म का प्रमाण है।

गर्भस्थ प्राणी को सुख-दुख होना भी पूर्व जन्म को सिद्ध करता है। क्योंकि गर्भ में तो इसने कोई पापकर्म या पुण्यकर्म नहीं किया तो उसके सुख-दुख का कारण क्या हो सकता है? माता-पिता उसके सुख-दुख के कारण नहीं हो सकते क्योंकि माता-पिता के किये हुए कार्यों का फल उसको भोगना पड़े यह तो हो नहीं सकता। अन्य के किये हुए कर्मों का फल अन्य किसी को मिले यह हो नहीं सकता। ऐसा होने पर तो सब व्यवस्था छिन्न भिन्न हो जावेगी। अतः उसके सुख-दुख का कारण उसके पूर्व जन्मकृत पुण्य-पाप है यह सिद्ध होता है।

कई कई छोटे बालकों में असाधारण प्रतिभा और विलक्षणता पाई जाती है। डाक्टर यंग दो वर्ष की अवस्था में अस्खलित रूप से पुस्तक पढ़ लेते थे। इससे यह सिद्ध होता है कि यह असाधारणता उनके पूर्वजन्म के संस्कारों का परिणाम है।

उक्त प्रमाणों से यह सिद्ध हो जाता है कि आत्मा भवान्तर में गमनागमन करने वाली है। यह एक शरीर को छोड़कर दूसरा शरीर धारण करती है। कभी वह देव बनती है, कभी मनुष्य बन जाती है, कभी तिर्यञ्च में चली जाती है और कभी नरक के दुखों का अनुभव करती है।

"अत्थि मे आया उववाइए" इसके द्वारा सूत्रकार ने क्रियावादियों का सूचन किया है और "नत्थि मे आया उववाइए" के द्वारा अक्रियावादियों का निर्देश किया है। अज्ञानिक और वैनयिकों का भी इनमें ही समावेश हो जाता है। क्रियावादी आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं परन्तु उनमें से कोई आत्मा को सर्वव्यापी, कोई नित्य, कोई अनित्य, कोई मूर्त, कोई अमूर्त, कोई श्यामक

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

तण्डुल प्रमाण, कोई अंगुष्ठ पर्व प्रमाण, कोई दीप की शिखा के समान, कोई हृदयाधिष्ठित मानते हैं; परन्तु सब उसे औपपातिक मानते हैं।

अक्रियावादियों के मत से आत्मा ही नहीं है तो उसका औपपातिकत्व कहाँ से हो सकता है? अज्ञानिक आत्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध में विवाद नहीं करते किन्तु वे यह मानते हैं कि आत्मा के ज्ञान से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता है। वे ज्ञान की अपेक्षा अज्ञान को ही अच्छा समझते हैं। वैनयिक भी आत्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध में आपत्ति नहीं करते किन्तु वे विनय को ही मोक्ष का साधन मानते हैं, अन्य किसी को नहीं।

उक्त चारों वादियों के मिलकर ३६३ भेद बताये गये हैं। वे इस प्रकार हैं:—

असियसयं किरियाणं अकिरियवाईण होइ चुलसीई।
अन्नाणिय सत्तट्ठी वेणइयाण च बत्तीसा॥

क्रियावादियों के १८०, अक्रियावादियों के ८४, अज्ञानिकों के ६७ और वैनयिकों के ३२ भेद हैं। ये सब मिलकर ३६३ होते हैं। ये भेद इस प्रकार बनते हैं:—

जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष इन नव पदार्थों में से प्रत्येक पदार्थ स्व और पर, नित्य और अनित्य, काल, नियति, स्वभाव, ईश्वर और आत्मा की अपेक्षा से है। इसका अभिप्राय यह है कि:—

(१) जीव स्वतः नित्य है, काल से।
(२) जीव स्वतः अनित्य है, काल से।
(३) जीव परतः नित्य है, काल से।
(४) जीव परतः अनित्य है, काल से।

इस तरह जीव के काल की अपेक्षा से ४ भेद हुए। इसी तरह नियति की अपेक्षा से चार भेद, स्वभाव की अपेक्षा से ४ भेद, ईश्वर की अपेक्षा से चार भेद और आत्मा की अपेक्षा से चार भेद। यों सब मिलकर जीव के २० भेद हुए। इस तरह अजीव के २०, पुण्य के २०, पाप के २०, आश्रव के २०, संवर के २०, निर्जरा के २०, बन्ध के २० और मोक्ष के २० कुल १८० भेद अस्तित्व प्रतिपादक क्रियावादियों के हैं।

कालवादियों के उपर्युक्त जीव के चार विकल्पों का स्पष्टीकरण इस प्रकार है। जीव स्वरूप की अपेक्षा से है, पर पदार्थ की अपेक्षा से नहीं। अर्थात् जीव जीवत्व रूप से है। घट पटादि रूप से नहीं। वह नित्य है, क्षणिक नहीं क्योंकि वह पूर्व और उत्तर काल में भी बना रहता है। 'काल की अपेक्षा से' इसका आशय यह है कि काल ही संसार के सब कार्यों का कारण है। वही संसार की स्थिति, उत्पत्ति और प्रलय का कारण है। समय से ही सब कार्य होते हैं। लाख प्रयत्न करने पर भी समय पकने के पहले कोई कार्य नहीं हो सकता। लता, वृक्ष आदि के फूल-फल भी नियत समय पर ही आते हैं अतः काल ही संसार के समस्त कार्यों का एक मात्र कारण है। इसके आधार से ही शीत, उष्ण, वर्षा, नवीन, प्राचीन आदि की व्यवस्था होती है। कहा भी है:—

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

कालः पचति भूतानि, कालः संहरते प्रजाः ।
कालः सुप्तेषु जागर्त्ति, कालो हि दुरतिक्रमः ॥

काल ही भूतों को पकाता है, वही संहार करता है, वही सोते हुए को जगाता है। सब कार्य काल से ही होते हैं। काल का उल्लंघन नहीं हो सकता।

द्वितीय विकल्प में जीव को अनित्य माना गया है। शेष सब बातें प्रथम विकल्प की तरह ही समझनी चाहिए। तीसरे विकल्प में जीव का अस्तित्व परतः समझना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि आत्मा से भिन्न जो स्तम्भ, कुम्भ आदि पदार्थ हैं, उन्हें देखकर उनसे भिन्न वस्तु में आत्मा का ज्ञान होना परतः कहलाता है। घट को जानने के लिए घट से भिन्न पट आदि पदार्थों की व्यावृत्ति का ज्ञान आवश्यक है। इस तरह अन्य पदार्थों की व्यावृत्ति का ज्ञान होने के पश्चात् उस पदार्थ का निश्चय करना परतः कहलाता है। अनात्म (जड़) वस्तुओं की व्यावृत्ति के पश्चात् होने वाला आत्मा के अस्तित्व का ज्ञान 'परतः' है : जैसे ह्रस्वत्व और दीर्घत्व परस्पर सापेक्ष हैं इसी तरह स्वरूप ज्ञान और पररूप का ज्ञान भी सापेक्ष हैं। चतुर्थ विकल्प भी इसी तरह समझना चाहिए। यह कालवादियों के जीव की अपेक्षा ४ भेद और नवपदार्थों की अपेक्षा से ३६ भेद हुए।

नियतिवादी नियति से ही आत्मस्वरूप का निश्चय करते हैं। उनके मत से संसार के सब कार्यों का कारण एक मात्र नियति ही है। "पदार्थानामवश्यंतया यद्यथाभवने प्रयोजककर्त्री नियतिः" अर्थात् जो होने वाला होता है वह होकर ही रहता है और जो नहीं होने वाला होता है वह कभी नहीं हो सकता। यह होनहारता ही नियति है। कहा है:—

प्राप्तव्यो नियतिबलाश्रयेण योऽर्थः सोऽवश्यं भवति नृणां शभोऽशुभो वा ।
भूतानां महति कृतेऽपि हि प्रयत्ने नाभव्यं भवति न भाविनोऽस्ति नाशः ॥

अर्थात्—होनहारता के कारण जो शुभ या अशुभ पदार्थ प्राप्त होने वाला होता है वह मनुष्यों को अवश्य प्राप्त होकर ही रहता है। प्राणियों के महान् प्रयास करने पर भी जो नहीं होने वाला होता है वह कदापि नहीं होता और जो होने वाला होता है उसका कभी नाश नहीं होता है। समान परिश्रम होने पर भी फल की विचित्रता होना नियति की प्रमुखता सिद्ध करता है।

यह मस्करि परिव्राजक के मतानुसारियों की मान्यता है। जीव है, वह नित्य है, स्वतः है नियति की अपेक्षा इत्यादि ३६ भेद पूर्ववत् समझने चाहिए।

इसी तरह स्वभाववादियों के भी ३६ भेद समझने चाहिए। वे स्वभाव से ही आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। वे स्वभाव को ही सब कार्यों का कारण मानते हैं। वे कहते हैं:—

कः कण्टकानां प्रकरोति तैक्ष्ण्यं, विचित्रभावं मृगपक्षिणाञ्च ।
स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तं न कामचारोऽस्ति कुतः प्रयत्नः ॥

केनाञ्जितानि नयनानि मृगाङ्गनानां ? कोऽलंकरोति रुचिराङ्गरुहान् मयूरान् ?
कश्चोत्पलेषु दलसन्निचयं करोति ? को वा दधाति विनयं कुलजेषु पुंसु ? ॥

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

अर्थात्—कांटों को तीक्ष्ण कौन बनाता है ? मृग और पक्षियों में विचित्रता कहाँ से आती है ? सब पदार्थ स्वभाव से ही काम करते रहते हैं। अपनी इच्छानुसार कुछ नहीं हो सकता तो प्रयत्न करने से क्या लाभ ?

मृगियों के नेत्रों को किसने काले बनाये ? मयूरों के पंखों को किसने चित्रित किये ? कमलों में पराग कौन रख देता है ? और कुलीन पुरुषों में कौन विनय स्थापित करता है ? अर्थात् सब स्वभाव से ही होते हैं। यह संसार-व्यवस्था स्वभाव से ही है। यह स्वभाववादियों की मान्यता है।

इसी तरह ईश्वरवादियों के भी ३६ भेद समझने चाहिए। इनकी मान्यता है जीव, अजीव आदि सब पदार्थों का कर्त्ता ईश्वर है। उसकी ही प्रेरणा से संसार के सब व्यवहार होते हैं। ईश्वर की प्रेरणा से ही यह जीव स्वर्ग या नरक में जाता है, यह जीव अपने सुख-दुःख में स्वतंत्र नहीं है। कहा भी है:—

अज्ञो जन्तुरनीशः स्यादात्मनः सुखदुःखयोः।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेच्छ्वभ्रं वा स्वर्गमेव वा॥

इसी प्रकार आत्माद्वैतवादियों के भी ३६ विकल्प समझने चाहिए। उनकी मान्यता है कि संसार में जो भी जड़ और चेतन दृष्टिगोचर होते हैं वे सब एक ही आत्मा की पर्याय हैं। जैसे एक ही चन्द्रमा जलतरंगों की विविधता के कारण अनेक रूप में दिखाई देता है उसी तरह एक ही आत्मा सब जड़ और चेतन में व्याप्त है। उनका कथन है:—

एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्॥

और भी कहा है:—

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।

अर्थात्—जो भूतकाल में हो चुका और जो भविष्य में होने वाला है और जो वर्तमान में है वह सब पुरुष—आत्मा ही है।

इस तरह सब मिलाकर क्रियावादियों के १८० भेद हुए। ये सब वादी एकान्तवादी हैं अतएव इनका कथन अपूर्ण है। वस्तुतः अकेला काल, नियति, स्वभाव, ईश्वर और आत्मा कार्य का कारण नहीं माना जा सकता है। यदि काल ही को सब कार्यों का कारण मान लिया जाय तो जगत् की विचित्रता सम्भव नहीं हो सकती क्योंकि काल एक और व्यापक होने से सब की समानता होनी चाहिए। जगत् में विषमता और विचित्रता दृष्टिगत होती है अतः काल के अतिरिक्त अन्य कारण भी मानने चाहिए। केवल नियति को ही सब कार्यों का कारण मान लेने से सब पुरुषार्थ व्यर्थ सिद्ध हो जाते हैं। पुरुषार्थ के बिना नियति भी फलदायक नहीं देखी जाती। कहा भी है- 'अनुद्यमेन कस्तैलं तिलेभ्यः प्राप्तुमर्हति।' अर्थात् तिलों में तेल होता है लेकिन मेहनत के बिना उसे कौन प्राप्त कर सकता है ? काल, स्वभाव आदि भी कारण हैं इसलिए केवल नियति को ही कारण मानना मिथ्या है।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

अकेला स्वभाव भी कार्य का कारण नहीं हो सकता। क्योंकि काल नियति आदि भी कारण देखे जाते हैं। बीज में अंकुर उत्पन्न करने का स्वभाव होने पर भी अन्य पृथ्वी जल आदि सामग्रियों के बिना वह उग नहीं सकता इससे मालूम होता है कि स्वभाव के अतिरिक्त भी और कारण हैं।

इसी तरह ईश्वर भी कार्य का कर्ता नहीं हो सकता क्योंकि वह अमूर्त होने के कारण क्रिया रहित है जैसे आकाश। ईश्वर, वीतराग और कृतकृत्य होता है अतएव वह इस विषम संसार की रचना के प्रपञ्च में नहीं पड़ सकता। यदि ईश्वर रागी और अकृतकृत्य है तो वह हम लोगों के समान ही होने से ईश्वर नहीं कहा जा सकता है। इसलिए ईश्वर को कर्त्ता मानना असंगत है।

इसी तरह आत्माद्वैतवाद भी युक्तिसंगत नहीं है। हमें जड़ और चेतन का विभाग प्रत्यक्ष दृष्टिगत होता है जो घट-पटादि पदार्थ हमें दिखाई देते हैं वे काल्पनिक नहीं है क्योंकि उनसे उस प्रकार की अर्थक्रिया होती है। तब उन पदार्थों का अपलाप कैसे किया जा सकता है? आत्माद्वैत मानने पर सुख, दुख, पुण्य, पाप, धर्म, कर्म आदि की व्यवस्था नहीं बन सकती है।

तात्पर्य यह है कि उपर्युक्त वाद एकान्त वाद होने से मिथ्या हैं। यही वाद परस्पर मिलकर सम्यग्वाद बन जाते हैं। उक्त पाँचों वादों का समन्वय ही सच्चा कार्यों का कारण है। यह क्रिया वादियों का अधिकार हुआ।

अक्रियावादियों के ८४ भेद इस प्रकार होते हैं। उनके मत से जीव, अजीव, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात पदार्थ स्व-पर के भेद से और काल, यदृच्छा, नियति, स्वभाव ईश्वर और आत्मा इन छः अपेक्षाओं से विचारे जाने पर ८४ विकल्प होते हैं जैसेः—

(१) जीव स्वतः नहीं है काल से।
(२) जीव परतः नहीं है काल से।

ये काल की अपेक्षा दो भेद हुए। इसी तरह यदृच्छा आदि की अपेक्षा से दो भेदः यों जीव पदार्थ सम्बन्धी १२ विकल्प हुए। इसी तरह अजीव के भी बारह विकल्प हुए। यों सात पदार्थों के ८४ विकल्प हुए। अक्रियावादी 'नास्तिक' है। ये जीव आदि के अभाव के प्रतिपादक हैं।

नियति आदि का स्वरूप पहले बताया जा चुका है। यदृच्छा का अर्थ है अकस्मात् अतर्कित वस्तु की प्राप्ति। जैसे कौए पर ताल के फल का गिरना। न तो कौआ जानता है कि मुझ पर ताल-फल गिरेगा और न तालफल का यह अभिप्राय है कि मैं कौए पर गिरूँ। इस प्रकार बिना अभिप्राय पूर्वक अकस्मात् जो घटना घटती है वह यदृच्छा है। इसका अभिप्राय यह है कि संसार के सब कार्य आकस्मिक हैं, बुद्धिपूर्वक नहीं।

अक्रियावादी आत्मा के अभाव के प्ररूपक हैं। इनका निराकरण आत्मा की सिद्धि की जा चुकने से स्वयं हो ही जाता है।

अज्ञानवादियों के ६७ भेद इस प्रकार होते हैं। जीव आदि नव पदार्थ सत्, असत्, सदसत्, अवक्तव्य, सदवक्तव्य, असदवक्तव्य, सदसदवक्तव्य इन सात भङ्गों के द्वारा जाने नहीं जा सकते अथवा जान लेने पर भी इनके जानने का कोई प्रयोजन नहीं है। अर्थात् जीव सत् है यह कौन

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

जानता है या इसके जानने से क्या लाभ ? जीव असत् है, यह कौन जानता है अथवा इसके जानने से क्या लाभ ? यों सातों भङ्ग घटा लेने चाहिए। नव पदार्थों का इन सात भंगों द्वारा विचार करने से ६३ भेद हुए। अज्ञानवादी उत्पत्ति को दसवाँ पदार्थ मानते हैं। उसके ये चार भंग हैं:— (१) पदार्थों की उत्पत्ति सत् है (२) या असत् है (३) या सदसद् है (४) या अवक्तव्य है। पूर्वोक्त ६३ में ये चार मिलाने से ६७ भेद हो जाते हैं।

अज्ञानवादियों की मान्यता यह है कि जीव आदि पदार्थ अतीन्द्रिय हैं इसलिए हम उन्हें नहीं जान सकते हैं। अथवा जान भी लें तो उससे कोई लाभ नहीं होता। हमने जान लिया कि आत्मा नित्य है, व्यापक है, अमूर्त्त है या अनित्य है, अव्यापक है, मूर्त्त है तो इससे कौन से पुरुषार्थ की सिद्धि हो जाती है ? अर्थात् यह जान लेने पर भी कोई लाभ नहीं होता अतः अज्ञान ही ठीक है। अपराध करने में भी जो अपराध ज्ञानपूर्वक किया जाता है वह अधिक अपराध समझा जाता है और अनजान में जो अपराध हो जाता है वह कम समझा जाता है। जानकर अपराध करने से गुरुतर प्रायश्चित्त आता है और अनजान में अपराध हो जाने से कम प्रायश्चित्त आता है अतः अज्ञान ही श्रेयस्कर है।

जिस प्रकार कोई म्लेच्छ आर्यभाषा को न जानने के कारण आर्यपुरुष के भाषण की नकल मात्र करता है परन्तु आर्य के अभिप्राय और विवक्षा को नहीं जान सकता है इसी तरह अर्वाग्दर्शी (असर्वज्ञ) व्यक्ति सर्वज्ञ के अभिप्राय और विवक्षा को नहीं जान सकता है। इस कारण श्रमण और ब्राह्मण अपने अपने ज्ञान को प्रमाणरूप कहते हुए भी परस्पर विरुद्ध अर्थ-भाषण करने से निश्चय अर्थ को नहीं जानते हैं। दूसरे की चित्तवृत्ति का ज्ञान करना बहुत कठिन है। उपदेशक किस अभिप्राय से क्या कहता है यह भलीभाँति जानना कठिन है इसलिए निश्चित अर्थ को न जानने वाले ज्ञानवादी उस म्लेच्छ पुरुष की तरह सर्वज्ञ की उक्ति का अनुवाद मात्र करते हैं, वस्तुतः वे बोध रहित हैं। बोध होना दुष्कर है अतः अज्ञान ही श्रेष्ठ है। यह अज्ञानवादियों का पक्ष है।

अज्ञानवादियों का यह कथन युक्ति-शून्य है। उनसे पूछना चाहिए कि तुमने जो अज्ञान की श्रेष्ठता सिद्ध करने का प्रयास किया यह ज्ञानपूर्वक है या अज्ञानपूर्वक। यदि ज्ञानपूर्वक है तो तुम्हारा कथन मान्य कैसे हो सकता है ? क्योंकि वह तो अज्ञानपूर्वक कहा गया है। अज्ञान से कही हुई बात प्रमाण कैसे हो सकती है ? यदि कहो कि ज्ञानपूर्वक है, तो यह कहना तुम्हारे लिए योग्य नहीं है क्योंकि तुम्हारे मत से हम-तुम को ज्ञान हो ही नहीं सकता। एकान्त अज्ञानवाद स्वीकार करने पर "अज्ञान ही श्रेष्ठ है" यह प्रतिपादन भी नहीं हो सकता क्योंकि यह प्रतिपादन भी ज्ञान-रूप है। अज्ञानवादी भी अपने पक्ष का उपदेश अपने शिष्यों को प्रदान करते हैं इससे उन्होंने दूसरे के अभिप्राय का ग्रहण हो सकना स्वीकार कर लिया है अन्यथा वे उपदेश ही क्यों दें ?

अज्ञानवादी अपने और दूसरों को शिक्षा देने में समर्थ नहीं हो सकते। क्योंकि वे स्वयं अज्ञान का पक्ष लेने से अज्ञानी हैं। जो स्वयं अज्ञानी है वह दूसरे को क्या मार्ग बता सकेगा ? जैसे अन्धा व्यक्ति स्वयं अन्धा होने से दूसरे को मार्ग नहीं बता सकता इसी तरह अज्ञानवादी स्वयं अज्ञानी होने से दूसरे को सच्चा ज्ञान नहीं दे सकते हैं।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

विनयवादियों के ३२ भेद इस प्रकार हैं:—देव, राजा, यति, ज्ञाति, स्थविर, अधम, माता, पिता इन आठ का मन, वचन, काया और दान से (चार प्रकार का) विनय करने से विनय के ३२ विकल्प हो जाते हैं। विनयवादी केवल विनय से ही मोक्ष मानते हैं।

यह मान्यता एकान्तवाद के कारण मिथ्या है। यद्यपि विनय परम्परा से मोक्ष का कारण है और विनय ही धर्म का मूल है तदपि विनय के अतिरिक्त ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप भी मोक्ष के कारण होते हैं। केवल विनय को ही मोक्ष का कारण मानना युक्ति-संगत नहीं है क्योंकि अन्य कारण भी उपलब्ध होते हैं।

इस प्रकार क्रिया, अक्रिया, अज्ञान और विनयवाद का प्रासंगिक दिग्दर्शन कराया गया है।

'एवमेगेसिं णो णायं भवइ' ऐसा कहकर सूत्रकार यह बता रहे हैं कि किन्हीं जीवों को तो संज्ञा (आत्मज्ञान) नहीं होती और किन्हीं को होती है। इसका अर्थ यह है कि जो प्राणी अभी मोहावृत्त हैं, और जो विकासोन्मुख नहीं हैं उन्हें अपने सम्बन्ध में विचार तक नहीं होता कि "मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ और कहाँ जाऊँगा ? मेरी आत्मा पुनर्जन्म करती है या शरीर के साथ नष्ट हो जाती है ?" विकासोन्मुख प्राणी को सहज ही प्रश्न होते हैं कि विश्व का और आत्मा का क्या सम्बन्ध है ? आत्मा के जन्म-मरण का कारण क्या है ? यह जिज्ञासा उत्पन्न होने पर पूर्वजन्म की स्थिति जानने की सहज प्रेरणा मिलती है और भविष्य का विचार आता है। भविष्य का विचार आते ही वर्तमान जीवन की शुद्धि पर लक्ष्य जाता है। यही विकासमार्ग में स्थिरता का कारण बनता है।

सामान्यतः कर्मावृत्त प्राणियों को आत्म-ज्ञान नहीं होता, यह कहने के पश्चात् जिन जीवों को यह विशिष्ट संज्ञा (आत्म-ज्ञान) होती है उनका वर्णन करने के लिए सूत्रकार कहते हैं कि:—

से जं पुण जाणेज्जा सहसम्मइयाए, परवागरणेणं, अण्णेसिं अंतिए वा सोच्चा तंजहा—पुरत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि जाव अण्णयरीओ दिसाओ अणुदिसाओ वा आगओ अहमंसि। एवमेगेसिं [1]णायं भवइ-अत्थि मे आया उववाइए, जो इमाओ दिसाओ अणुदिसाओ वा [2]अणुसंचरइ, सव्वाओ दिसाओ [3]अणुदिसाओ (जो आगओ अणुसंचरइ) सोऽहं ॥४॥

संस्कृतच्छाया—स यः पुनर्जानीयात् सह सन्मत्या (स्वमत्या) परव्याकरणेन, अन्येषामन्तिके वा श्रुत्वा तद्यथा—पूर्वस्या वा दिश आगतोऽहमस्मि यावदन्यतरस्या दिशोऽनुदिशो वाऽऽगतोऽहमस्मि। एवमेकेषां ज्ञातं भवति—अस्ति ममात्मा औपपातिकः यः अस्या दिशोऽनुदिशो वा अनुसञ्चरति, सर्वस्या दिशोऽनुदिशः (य आगतोऽनुसञ्चरति) सोऽहं ॥ ४ ॥

१ जं णायं। २ अणुसंसरइ। ३ सव्वाओ अणुदिसाओ, सोऽहं।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

शब्दार्थ—से जं पुण जाणेज्जा=वह व्यक्ति जान लेता है। सहसम्मइयाए=जातिस्मरण आदि विशिष्ट बुद्धि से या अपनी बुद्धि से। परवागरणेणं=तीर्थंकर के द्वारा कहे जाने से। अण्णेसिं अन्तिए वा सोच्चा=अथवा किसी अन्य उपदेशक आदि से सुनकर। तंजहा=इस प्रकार कि। पुरत्थिमाओ वा०=पूर्वदिशा से आया हूँ। जाव अण्णयरीओ०=यावत् किसी भी दिशा-अनुदिशा से आया हूँ। एवमेगेसिं णायं भवइ=कई जीवों को इस प्रकार ज्ञान होता है कि। अत्थि मे आया उववाइए=मेरी आत्मा पुनर्जन्म करने वाली है। जो इमाओ दिसाओ अणुदिसाओ वा=जो इस दिशा-विदिशा से। अणुसंचरइ=गमनागमन करता है। सव्वाओ दिसाओ अणुदिसाओ=सब दिशा विदिशा से जो आया हुआ है और जो सर्वत्र गमनागमन करता है। सोऽहं=वह मैं हूँ।

भावार्थ—कोई कोई जीव अपनी विशिष्ट-जाति-स्मरणादि ज्ञान युक्त बुद्धि से, अथवा तीर्थंकर के कहने से या अन्य उपदेशकों से सुनकर यह जान लेता है कि मैं पूर्वदिशा से यावत् किसी भी दिशा-विदिशा से आया हुआ हूँ। वह यह भी जान लेता है कि मेरी आत्मा भवान्तर में संचरण करने वाली है अतः वह एक दिशा-विदिशा से दूसरी दिशा-विदिशा में गमनागमन करती है। जो सब दिशा-विदिश से आने वाला और सर्वत्र गमनागमन करने वाला है, वही मैं हूँ।

विवेचन—इसके पूर्ववर्त्ती सूत्र में यह बताया गया है कि विकास की ओर अभिमुख बने हुए प्राणियों को आत्मा का चिन्तन होता है और जो कर्म के आवरण से आवृत्त होते हैं उन्हें आत्मा सम्बन्धी विचारणा कभी नहीं होती। इससे मालूम होता है कि आत्म-विकास के लिए आत्म-चिन्तन की सतत आवश्यकता होती है। सतत आत्म-चिन्तन के द्वारा जीवों में वह शक्ति स्फुरित हो जाती है जिसके द्वारा उन्हें आत्म-ज्ञान विशद रूप से होने लगता है। वे आत्मा की भूत और भावी पर्यायों को भी जानने में समर्थ हो जाते हैं।

प्रस्तुत सूत्र में आत्मा की भूत पर्यायों को जानने के साधनों का वर्णन किया गया है। यहाँ निम्न लिखित तीन साधन बताये गये हैं:—

(१) सह सन्मति या स्वमति।
(२) पर-व्याकरण।
(३) अन्य अतिशय-ज्ञानियों के वचन।

आत्मा के साथ हमेशा रहने वाली सद्बुद्धि के द्वारा कोई कोई जीव आत्म-ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं और अपने विशिष्ट-दिशा-विदिशा के आगमन को जान लेते हैं। यद्यपि सामान्यतया मति सब प्राणियों को होती है तदपि जिस सन्मति या स्वमति का यहाँ उल्लेख किया गया है वह सब जीवों को नहीं होती। यहाँ सन्मति या स्वमति शब्द से अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान, केवल-ज्ञान और जातिस्मरण ज्ञान का अभिप्राय है।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

इन्द्रिय और मन की सहायता की अपेक्षा रखे बिना ही रूपी द्रव्यों को जानने वाला ज्ञान अवधि-ज्ञान कहलाता है। अवधिज्ञानी संख्यात या असंख्यात भवों को जान सकता है।

मन वाले प्राणियों के मन की पर्यायों को जानने वाला ज्ञान मनःपर्याय ज्ञान कहलाता है। यह ज्ञान संयम की शुद्धि से उत्पन्न होता है। इस ज्ञान के द्वारा भी संख्यात या असंख्यात भवों को जाना जा सकता है।

लोक के रूपी-अरूपी सकल द्रव्यों की सकल पर्यायों को जानने वाला ज्ञान केवलज्ञान कहलाता है। इसके द्वारा अनन्त भवों का ज्ञान हो सकता है।

मतिज्ञानावरण के विशिष्ट क्षयोपशम के कारण आत्मा में ऐसे संस्कार जागृत हो जाते हैं जिनके कारण पूर्वभव का स्मरण हो आता है। यह स्मरण जातिस्मरण ज्ञान कहलाता है। इस ज्ञान के द्वारा नियमतः संख्यात भव जाने जा सकते हैं।

यहाँ सन्मति या स्वमति शब्द के पूर्व 'सह' शब्द दिया गया है। वह सम्बन्ध-वाची है। वह यह सूचित करता है कि आत्मा और मति का तादात्म्य सम्बन्ध है। अर्थात् आत्मा का स्वभाव ज्ञानरूप है। ज्ञान आत्मा का गुण है और ज्ञान-गुण का गुणी आत्मा है। गुण और गुणी में तादात्म्य सम्बन्ध होता है। वैशेषिक दर्शन गुण और गुणी को भिन्न २ मानकर समवाय सम्बन्ध के द्वारा उनका सम्बद्ध होना मानता है। इसका निराकरण करने के लिए 'सह' शब्द दिया गया है जो यह सूचित करता है कि मति (ज्ञान) सदा आत्मा के साथ रहती ही है। आत्मा के साथ हमेशा ज्ञान के रहने पर भी ज्ञानावरण कर्म के प्रबल आवरण के कारण विशिष्ट ज्ञान नहीं हो पाता।

स्वमति का अर्थ है अपनी बुद्धि। इसके साथ 'सह' शब्द लगाने का अभिप्राय यह है कि जैसे 'अपना घोड़ा' इस प्रयोग में अपने से भिन्न घोड़े के लिए भी 'अपना' शब्द लगाया जाता है इस तरह 'स्व' शब्द से पूरा तादात्म्य नहीं मालूम होता। तादात्म्य सूचित करने के लिए 'सह' विशेषण दिया गया है।

'सहसम्मति' पद को सुखपूर्वक समझाने के लिए टीकाकार ने इस विषय का दृष्टान्त दिया है। वसन्तपुर नगर में जितशत्रु नाम का राजा था। धारिणी नामकी उसकी पत्नी थी। उनके धर्म-रुचि नामक पुत्र था। किसी समय राजा का चित्त वैराग्य से रँग गया और वह तापसी दीक्षा ग्रहण करने के लिए उद्यत हुआ। उसने अपने पुत्र को सिंहासन पर आरूढ करने का निश्चय किया। राजकुमार ने अपनी माता से पूछा कि पिताजी ! राज्यश्री का त्याग क्यों कर रहे हैं ? इसके उत्तर में माता ने कहा कि—राज्य लक्ष्मी चञ्चल है। इसमें अनेक कूट-कपट की चालें चलनी पड़ती हैं। यह स्वर्ग और अपवर्ग के साधन में अर्गलाभूत है। राज्य के लिए घोरतम पाप भी किये जाते हैं। इससे आत्मा का कल्याण नहीं हो सकता। इससे शाश्वत सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिए उस सुख को प्राप्त करने लिए वे राज्य का परित्याग कर रहे हैं।

माता का यह कथन सुनकर धर्मरुचि बोला—माता ! क्या मैं पिता को अनिष्ट हूँ जो यह पापमय राज्यलक्ष्मी मुझे दे रहे हैं ? जिस राज्य को अहित कर और दुखवर्धक जानकर वे छोड़ रहे हैं उसे मैं क्यों ग्रहण करूँ ? मैं भी सुख का अभिलाषी हूँ अतः मैं भी पिता के साथ ही आश्रम में जाऊँगा।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

माता-पिता के बहुत समझाने-बुझाने पर भी राजकुमार ने राज्य-सिंहासन पर बैठना स्वीकार नहीं किया और वह अपने पिता के साथ ही तापसों के आश्रम में चला गया। वहाँ वे पिता-पुत्र तापसों की क्रियाओं का पालन करने लगे।

किसी समय अमावस्या के एक दिन पहले किसी बड़े तापस ने सूचना की कि कल अमावस्या है इसलिए अनाकुट्टि (कन्दमूल लता आदि का छेदन नहीं करना) होगी। अतः आज ही फूल, कुश, कन्दमूल, फल, इन्धन वगैरह ले आना चाहिए। यह सुनकर धर्मरुचि ने अपने पिता से पूछा कि 'अनाकुट्टि' क्या चीज़ है? पिताने समझाया कि—कल पर्व दिन है। पर्व के दिनों में कन्दमूल आदि का छेदन नहीं किया जाता क्योंकि इनका छेदन करना सावद्य है।

यह सुनकर धर्मरुचि ने विचार किया कि यदि हमेशा ही अनाकुट्टि रहे तो कैसा अच्छा हो! दूसरे दिन तपोवन के मार्ग से विहार करते हुए जैन साधुओं के दर्शन का उसे अवसर मिला। उसने उन साधुओं से पूछा कि क्या आज अमावस्या के दिन भी आपके अनाकुट्टि नहीं है जो आप जंगल में जा रहे हैं? उन साधुओं ने कहा कि हमारे लिए तो सदा ही अनाकुट्टि है। हमने सदा के लिए हिंसा का त्याग कर दिया है। यह कह कर वे साधु चले गये।

उन साधुओं के वचनों को सुनकर और उन पर ऊहापोह करते हुए उसे जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न होगया कि मैंने जन्मान्तर में दीक्षा लेकर देवलोक के सुख का अनुभव किया और वहाँ से चव कर यहाँ उत्पन्न हुआ हूँ।

राजकुमार को यह विशिष्ट दिशा से आगमन का ज्ञान उत्पन्न हुआ सो जाति-स्मरण ज्ञान के द्वारा होने वाले आत्म-ज्ञान का उदाहरण है।

(२) पर-व्याकरण का अर्थ है-तीर्थंकर के कहने से किसी जीव को अपने विशिष्ट दिशा विदिशा से होने वाले आगमन का ज्ञान होता है। 'पर' शब्द का अर्थ उत्कृष्ट है। तीर्थंकरों के अतिरिक्त अन्य कौन उत्कृष्ट हो सकता है।? अतः 'पर' से तीर्थंकर का ग्रहण करना चाहिए। तीर्थंकर देव के उपदेश से कई जीवों को अपनी आत्मा की पूर्वस्थिति का और अन्य अतीन्द्रिय बातों का ज्ञान होता है। इसका उदाहरण यह है—

श्री गौतमस्वामी ने भगवान् महावीर से पूछा कि-हे भगवन्! मेरे हाथों से दीक्षित किये गये शिष्यों को केवलज्ञान हो गया और मुझे अब तक नहीं हुआ इसका क्या कारण है? भगवान् ने कहा-हे गौतम! मुझ पर तुम्हारा अतीव राग है अतः तुम्हें कैवल्य उत्पन्न नहीं होता है। गौतमस्वामी ने पुनः प्रश्न किया कि हे भगवन्! आप पर मुझे इतना राग क्यों है? तब भगवान् ने उनके पहले के कई भवों का वृत्तान्त सुनाकर कहा कि—"चिरसंसिट्ठोसि मे गोयमा! चिर परिचिओसि मे गोयमा।" हे गौतम! तू मेरा चिर परिचित है! तेरा और मेरा बहुत पुराना सम्बन्ध है!

भगवान् के इस कथन के द्वारा गौतम स्वामी को अपने कई भवों का ज्ञान हुआ। यह ज्ञान पर-व्याकरण-ज्ञान है।

(३) तीर्थंकर के अतिरिक्त अन्य अतिशय ज्ञानी—अवधिज्ञानी, मनःपर्यायज्ञानी अथवा केवलज्ञानी उपदेशकों के द्वारा जो अपने पूर्वभव का ज्ञान होता है वह अन्य-व्याकरण-ज्ञान है।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

जैसे-मल्लिनाथ भगवान् ने विवाह के लिए आये हुए छः राजकुमारों को अपने अवधिज्ञान के द्वारा उनके पूर्वभवों को जानकर उन्हें प्रतिबोध देने के लिए कहा कि "हमने जन्मान्तर में एक साथ ही संयम-मार्ग अंगीकार किया था। उसके फलस्वरूप देवलोक के जयन्त विमान में हमने जन्म लिया था, क्या वह सब भूल गये ?" इस प्रकार मल्लिस्वामी के पूर्वभव का कथन करने से उन राजपुत्रों को अपने विशिष्ट दिगागमन का ज्ञान हो गया।

इस प्रकार तीन साधनों के द्वारा आत्म-ज्ञान होने पर जीव को यह स्पष्ट प्रतीति हो जाती है कि "मैं अमुक दिशा-विदिशा से आया हूँ। मेरी आत्मा औपपातिक है। यह आत्मा एक दिशा से दूसरी दिशा में संचरण करती है। यह आत्मा सब द्रव्य और भावदिशाओं में गमनागमन करती है। जो सर्वत्र गमनागमन करता है और जो सब दिशा-विदिशा से आया हुआ है, वही मैं हूँ।"

कहीं २ 'अणुसंचरइ' के स्थान पर अणुसंसरइ पाठ मिलता है। इसका अर्थ यह है कि—'जो दिशा-विदिशा के गमनागमन का स्मरण करने वाला है, वही मैं हूँ।'

सूत्रकार ने 'सोऽहं' शब्द से यह सूचित किया है कि यह जीव विविध योनियों में जन्म लेकर विविध अवस्थाओं का अनुभव करता है तदपि वह एक है। वह सब विभिन्न रूप उस अखण्ड अविनाशी द्रव्य की पर्यायमात्र हैं। इससे आत्मा की द्रव्यार्थिक नय से नित्यता और पर्यायार्थिक नय से अनित्यता का कथन किया गया है।

यद्यपि शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा आत्मा जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त अखण्ड, ज्योतिर्मय और निरञ्जन-निराकार है तदपि व्यवहार नय की अपेक्षा कर्मों के संयोग से इसे शरीर के साथ सम्बद्ध होना पड़ता है और इसी से उसके जन्म-मरण का व्यपदेश होता है। कर्म-सम्बद्ध आत्मा पर कर्मों का असर हुए बिना नहीं रह सकता अतएव आत्मा भवान्तर में गमनागमन करने वाली, अखण्डगत, अमूर्त्त, अविनाशी, शरीरमात्र व्यापी और कर्म-फल का उपभोग करने वाली कही जाती है।

जो इस प्रकार के आत्मस्वरूप को समझ लेता है वही सच्चा आत्मवादी है यह बताने के लिए सूत्रकार कहते हैं:—

से आयावादी लोयावादी कम्मावादी किरियावादी (सू. ५)

संस्कृतच्छाया—*स आत्मवादी, लोकवादी, कर्मवादी, क्रियावादी।*

शब्दार्थ—से=वह। आयावादी=आत्मवादी। लोयावादी=लोक को मानने वाला। कम्मावादी=कर्म को मानने वाला। किरियावादी=क्रिया को मानने वाला है।

भावार्थ—जो आत्मा के उक्त स्वरूप को जानता है वही सच्चा आत्मवादी है। जो आत्मवादी है वही सच्चा लोकवादी है। जो आत्मा और लोक के स्वरूप को जानता है वही कर्मवादी है और जो कर्मवादी है वही सच्चा क्रियावादी है।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

विवेचन—जो व्यक्ति आत्मा को नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव आदि भाव दिशाओं में और पूर्व, पश्चिम आदि प्रज्ञापक-दिशाओं में गमनागमन करने वाली, अक्षणिक, अमूर्त्त आदि लक्षणों से युक्त मानता है वही परमार्थतया आत्मवादी है। जो आत्मा के इन लक्षणों को स्वीकार नहीं करता वह आत्मा के सम्यक् स्वरूप को नहीं जानने के कारण अनात्मवादी ही है।

जो आत्मा को सर्वव्यापी, नित्य, क्षणिक और अकर्त्ता मानते हैं उनके मतमें आत्मा का भवान्तर में संक्रमण होना नहीं बन सकता। इसलिए वे आत्मा को मानते हुए भी अनात्मवादी-से हैं। वैशेषिकदर्शन आत्मा को सर्वव्यापी मानता है। उनका यह मानना युक्ति-संगत नहीं है। क्योंकि आत्मा का चैतन्य गुण शरीरव्यापी ही है। जिसका गुण जहां देखा जाता है वह वहीं रहता है, अन्यत्र नहीं। जैसे घट के रूपादिगुण जहां पाये जाते हैं वहीं घट होता है, सर्वत्र नहीं। वैसे ही आत्मा का चैतन्य-गुण शरीर में ही पाया जाता है अतः आत्मा को शरीर-व्यापी ही मानना चाहिए; सर्वव्यापी नहीं।

आत्मा को सर्वव्यापी मानने से सब आत्माओं का परस्पर एकीकरण हो जाने से प्रति व्यक्ति को होने वाला सुख-दुख का पृथक् पृथक् अनुभव न हो सकेगा। आत्मा को सर्वव्यापी मानने पर एक व्यक्ति को सुख का अनुभव होने से सबको सुख का अनुभव होना चाहिए। एक आत्मा को दुख का अनुभव होने पर सब आत्माओं को दुख का अनुभव होना चाहिए क्योंकि आत्मा सर्व-व्यापक है। ऐसा होने पर धर्म, अधर्म, पुण्य, पाप, स्वर्ग-नरक आदि की संगति नहीं बन सकती है। अतः आत्मा को सर्वव्यापी न मानकर देह-प्रमाण ही मानना चाहिए।

आत्मा को आकाश की तरह सर्वव्यापी मानने पर उसका भवान्तर में संक्रमण नहीं हो सकता। तथा उसमें विशिष्ट क्रिया घटित नहीं हो सकती। क्रिया के अभाव में इह-लोक और पर-लोक की व्यवस्था नहीं हो सकती और शुभाशुभ कर्मों का फलानुभव नहीं हो सकता। अतः जो आत्मा को शरीर-प्रमाण मानता है वही आत्मवादी है, वही लोकवादी है, वही कर्मवादी है और वही क्रियावादी है।

इसी तरह जो आत्मा को कूटस्थ नित्य मानता है उस सांख्य दर्शन में भी भवान्तर-संक्रान्ति, लोक व्यवस्था, कर्म-विभाग और क्रिया की संगति नहीं होती है। "अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावं नित्यम्" जो कभी नष्ट न हो, जो कभी उत्पन्न न हो और जो स्थिर रहे वह नित्य है। इस व्याख्या के अनुसार आत्मा की नित्यता मानने पर उसका नवीन शरीर धारण करना और पूर्व शरीर का त्याग करना नहीं बन सकता। इसके बिना जन्म और मरण नहीं घटता। जन्म-मरण के बिना इहलोक-परलोक की व्यवस्था नहीं बनती, कर्म की और क्रिया की व्यवस्था नहीं बनती। अतः आत्मा को कूटस्थ नित्य नहीं मानना चाहिए।

इसी तरह आत्मा को सर्वथा क्षणिक मानने पर भी उक्त व्यवस्थाएँ नहीं बन सकतीं। बौद्ध दर्शन पदार्थमात्र को क्षणिक मानता है। उसके मत से प्रत्येक पदार्थ क्षणमात्र ठहर कर दूसरे क्षण में निरन्वय नष्ट हो जाता है। आत्मा को यदि क्षणमात्र स्थायी मानकर दूसरे क्षण में निरन्वय नष्ट होने वाली माना जाय तो 'सोऽहं' (मैं वही हूँ) रूप अनुसन्धानात्मक ज्ञान नहीं हो सकता।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

पूर्व और उत्तर काल में स्थिर रहे बिना यह प्रतीति नहीं होती कि "मैं वही हूँ।" यह प्रतीति होती अवश्य है अतः सिद्ध होता है कि आत्मा पूर्व और उत्तरकाल में स्थिर रहती है।

एकान्त क्षणिकवाद में आत्मा का भवान्तर में जाना नहीं बन सकता। आत्मा को कालान्तर स्थायी माने बिना यह ज्ञान कैसे हो सकता है कि "मैं वही हूँ जो देव नारक आदि भावदिशाओं में भ्रमण करता है।" इस क्षणिकवाद में स्वर्ग-नरक-धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप आदि की व्यवस्था नहीं बनती। क्योंकि प्रथम क्षण में तो आत्मा अपनी उत्पत्ति में मग्न रहता है उस समय दूसरी क्रिया नहीं कर सकता और दूसरे क्षण तो वह निरन्वय नष्ट हो जाता है, तो क्रियाओं का अवकाश ही कहाँ रहा? यदि क्रिया कर भी ले तो उसके फल का भोग कैसे हो सकेगा? क्योंकि प्रथम क्षण में तो वह क्रिया करता है उसका फल तो अवान्तर क्षणों में होना सम्भव है; दूसरे क्षण में तो वह नष्ट हो जाता है तो उसका फल कौन भोगेगा? यदि यह कहा जाय कि नष्ट होने वाला पदार्थ अपने समान ही दूसरे पदार्थ को पैदा करने के बाद नष्ट होता है तो कृत-नाश और अकृत-फल-भोग का प्रसंग आता है। क्योंकि जिस आत्मा ने शुभाशुभ कर्म किया है वह तो उसका फल भोगे बिना ही नष्ट हो गया और जिसको फल भोगना पड़ा उसने वह कार्य किया ही नहीं। अतः कृत-प्रणाश और अकृत-कर्म भोग का दोष आता है। तात्पर्य यह है कि एकान्त क्षणिक पक्ष में शुभाशुभ क्रियाओं की संघटना नहीं हो सकती। इसके बिना कर्म-व्यवस्था और लोक व्यवस्था नहीं हो सकती। अतः आत्मा को सर्वथा क्षणिक न मानकर परिणामी नित्य मानना चाहिए।

सांख्य-दर्शन के मत से आत्मा अकर्त्ता है। यह युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता। जो जिस क्रिया का कर्त्ता नहीं होता वह उसके फल का भोक्ता कैसे हो सकता है? सांख्यदर्शन आत्मा को कर्त्ता न मानकर भी, भोक्ता मानता है, यह योग्य नहीं प्रतीत होता। आत्मा को अकर्त्ता मानने पर वह फल का भोक्ता नहीं रहता है; इससे स्वर्ग-नरक आदि लोक नहीं बनते हैं और भवान्तर-संक्रमण घटित नहीं होता।

तात्पर्य यह है कि जो आत्मा को भवान्तर में गमनागमन करने वाला, परिणामी नित्य, कर्त्ता और स्वदेह प्रमाण आदि लक्षणों से युक्त मानता है यही सच्चा आत्मवादी है। जो आत्मवादी है वही लोकवादी है। अर्थात् जो आत्मा को उक्त लक्षणों से युक्त मानता है उसके मत में ही लोक बन सकता है। लोक का अर्थ है—चतुर्दश राजु-प्रमाण आकाश-खण्ड, जिसमें जीवों का गमनागमन होता रहता है। इससे जीवों की बहुलता का प्रतिपादन होता है और आत्माद्वैतवाद का निरसन होता है। जो आत्मवादी है वह लोकवादी है क्योंकि वह संसार के कार्य-कारण भाव को जानता है। वह इहलोक और परलोक को मानता है।

जो प्राणी आत्मवादी और लोकवादी है वही सच्चा कर्म-स्वरूप को जानने वाला कर्मवादी है। क्योंकि ऐसा व्यक्ति ही कर्म-बन्धन का कारण तथा आत्मा का कर्तृत्व और भोक्तृत्व भलीभांति अनुभव करता है। ऐसा व्यक्ति यह जान लेता है कि मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, और योग के कारण जीव गति आदि योग्य कर्मों को ग्रहण करता है और बाद में विविध योनियों में उत्पन्न होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि कर्म के कारण ही यह विविध और विचित्र संसार अनादिकाल से चल रहा है और अनन्तकाल तक चलता रहेगा। इस कथन से काल, यदृच्छा, नियति, ईश्वर और आत्माद्वैतवादियों के कारण-वाद का खण्डन होता है।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

जो कर्मवादी है वही क्रियावादी है। अर्थात् जो कर्म के स्वरूप को जानता है वही शुभ क्रियाओं की ओर अग्रसर होता है और अशुभक्रियाओं से निवृत्त होता है। वही कर्म-बन्धन से मुक्त होने के लिए प्रयत्न करता है। जो कर्म में विश्वास रखता है वही सच्चा क्रियावादी होता है। कर्मबन्धन का कारण क्रिया ही है। जो कार्यरूप कर्म को मानता है वह उसके कारणरूप क्रिया को अवश्य मानेगा ही। तात्पर्य यह हुआ कि जो सच्चा आत्मवादी है, वही सच्चा लोकवादी है, वही सच्चा कर्मवादी है और वही सच्चा क्रियावादी है। इसका फलित अर्थ यह हुआ कि जो सच्चा आत्मवादी है वह आत्मवाद के साथ लोकवाद, कर्मवाद और क्रियावाद को तथा स्वभाव, नियति आदि कारणों के समन्वय को मानता है। एकान्त पक्ष मिथ्या है और अनेकान्त ही सच्चा वस्तु-स्वरूप है। सब वादों का समन्वय करके सूत्रकार ने यह बताया कि कर्म के आवरण को दूर करने के लिए जैसे आत्मज्ञान की आवश्यकता है उसी तरह तद्रूप क्रिया की भी आवश्यकता है। केवल तत्त्वज्ञान की बातें करने से वह आवरण दूर नहीं हो सकता और केवल अन्धक्रियाओं से भी उस आवरण से मुक्ति नहीं मिल सकती है। आत्मज्ञान और तदनुकूल क्रिया ही मुक्ति का अनुपम मार्ग है।

अकरिस्सं चऽहं, कारवेसुं चऽहं, करओ आवि समणुन्ने भविस्सामि। एयावंति सव्वावंति लोगंसि कम्मसमारम्भा परिजाणियव्वा भवंति (सू. ६)

संस्कृतच्छाया—अकार्षञ्चाहम्, अचीकरम् चाहं, कुर्वन्तञ्चापि अनुज्ञास्यामि। एतावन्तः सर्वे लोके कर्मसमारम्भाः परिज्ञातव्या भवति।

शब्दार्थ—अकरिस्सं चऽहं=मैंने किया। कारवेसुं चऽहं=मैंने करवाया। करओ आवि समणुन्ने भविस्सामि=करते हुए अन्य को अनुमोदन दूंगा। एयावंति सव्वावंति=सब इतने ही। लोगंसि=लोक में। कम्मसमारम्भा=कर्मबन्धन की हेतुरूप क्रियाएँ। परिजाणियव्वा भवंति= समझनी चाहिए।

भावार्थ—(१) मैंने किया (२) मैंने कराया (३) मैंने करते हुए को अनुमोदन दिया (४) मैं करता हूँ (५) मैं करवाता हूँ (६) मैं करते हुए को अनुमोदन देता हूँ (७) मैं करूँगा (८) मैं कराऊँगा (९) मैं करते हुए को अनुमोदन दूँगा (इन नव भेदों को मन, वचन और कायारूप तीन योगों से गुणित करने पर सत्तावीस विकल्प होते हैं) लोक में यही सब कर्मबन्धन के कारण रूप भेद हैं ऐसा समझकर इनका त्याग करना चाहिए।

विवेचन—पूर्ववर्ती सूत्रों में आत्म-ज्ञान का निरूपण करते हुए यह कहा गया है कि जो आत्मवादी है वही सच्चा कर्मवादी और क्रियावादी है। आत्मा और कर्म का अनादिकाल से सम्बन्ध है। इसी सम्बन्ध के कारण शुद्ध, बुद्ध, निरञ्जन-निराकार होते हुए भी आत्मा दिशा-विदिशा में

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

परिभ्रमण करता है। कर्मबन्धन का कारण क्रिया है। जब तक क्रिया है तब तक कर्मबन्धन है। अतएव यहाँ क्रिया का स्वरूप बताया गया है।

योग के निमित्त से कर्मबन्धन होता है। मन, वचन और काया की प्रवृत्ति—क्रिया को योग कहते हैं। भूतकाल, वर्तमानकाल और भविष्यत्काल की अपेक्षा से मन, वचन और काया की क्रियाओं के विकल्पों का कथन इस सूत्र में किया गया है।

१-३ मैंने किया, मैंने करवाया, मैंने करते हुए को अनुमोदन दिया।
४-६ मैं करता हूँ, मैं करवाता हूँ, मैं करते हुए को अनुमोदन देता हूँ।
७-९ मैं करूँगा, मैं करवाऊँगा, मैं करते हुए को अनुमोदन दूँगा।

उक्त नव विकल्पों को मन, वचन और काया से गुणा करने से २७ विकल्प होते हैं। नौ भेद मनोयोग के, नौ भेद वचनयोग के और नौ भेद काययोग के; ये २७ कर्मसमारम्भ हैं।

यद्यपि सूत्रकार ने मूल सूत्र में इन २७ प्रभेदों का उल्लेख नहीं किया है, केवल प्रथम, द्वितीय और अन्तिम भेद का उल्लेख किया है तदपि इससे यह समझ लेना चाहिए कि प्रथम और अन्त के मध्यवर्ती भेदों का ग्रहण भी इष्ट है। यही बात स्पष्ट करने के लिए द्वितीय भेद का भी सूत्र में साक्षात् ग्रहण किया गया है। सूत्र में आये हुए दो चकार और अपि शब्द से मन, वचन और काया का ग्रहण कर लेना चाहिए।

उक्त २७ विकल्पों में सब प्रकार के कर्मसमारम्भों का समावेश हो जाता है। इसीलिए सूत्रकार कहते हैं कि लोक में इतने ही कर्म-समारम्भ जानने चाहिए, न्यूनाधिक नहीं। समस्त शुभाशुभ कर्मों का ग्रहण मन, वचन और काया रूप तीन योग से तथा कृत, कारित और अनुमति रूप तीन करण से होता है। अतः इनके ग्रहण से समस्त क्रियाओं का ग्रहण स्वयमेव हो जाता है।

इन कर्मसमारम्भों के कारण ही जीवात्मा संसार में परिभ्रमण करता है अतः मोक्ष प्राप्त करने के लिए इन कर्म-समारम्भों का परिज्ञान करना चाहिए। शास्त्रकारों ने दो प्रकार की परिज्ञा बताई है-ज्ञ परिज्ञा और प्रत्याख्यान परिज्ञा। ज्ञ-परिज्ञा के द्वारा इन क्रियाओं के बन्ध-स्वरूप का ज्ञान करना चाहिए और प्रत्याख्यान परिज्ञा के द्वारा पाप कर्मों का परित्याग करना चाहिए। हेय का त्याग और उपादेय का उपादान करने में ही ज्ञान की सार्थकता है। वही ज्ञान सच्चा ज्ञान है जिसके द्वारा हेय कर्मों का परित्याग किया जाय। यही बात सूत्रकार ने "परिजाणियव्वा" शब्द से स्पष्ट की है।

यहाँ मन, वचन और काया की क्रिया-मात्र को कर्मसमारम्भ कहा गया है। मन, वचन और काया की क्रिया शुभ भी होती है और अशुभ भी होती है। इनके शुभत्व और अशुभत्व का आधार भावना की शुभाशुभता है। शुभ उद्देश्य से की जाने वाली क्रिया शुभ क्रिया है और अशुभ उद्देश्य से की जाने वाली क्रिया अशुभ क्रिया है। शुभ क्रिया के द्वारा प्रधानतया शुभ कर्म प्रकृतियों का बंध होता है और अशुभ क्रिया के द्वारा प्रधानतया अशुभ कर्म-प्रकृतियों का बंध होता है। जब तक योग की प्रवृत्ति है तब तक शुभाशुभ कर्मों का बन्धन होता है। योग का निरुन्धन होते ही कर्म-बंध का भी अभाव हो जाता है।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

यद्यपि क्रिया-मात्र से कर्म का बन्ध होता है तदपि कषाय-युक्त आत्मा को होने वाला कर्म-बन्ध कषाय की तरतमता के कारण न्यूनाधिक स्थिति वाला तथा यथासंभव शुभाशुभ फल देने वाला होता है और कषाय-रहित आत्मा को होने वाला कर्म-बन्ध, कषाय के अभाव से केवल दो समय की स्थिति वाला ही होता है और वह विपाक का जनक भी नहीं होता। कषाय-युक्त आत्मा का कर्म-बन्ध 'साम्परायिक' कहलाता है और कषाय-रहित आत्मा का कर्मबन्ध 'ईर्यापथिक' कहलाता है।

जिस प्रकार गीले चमड़े पर लगी हुई धूल उसके साथ चोंट जाती है इसी तरह योग के द्वारा आकृष्ट कर्म कषायोदय के कारण से आत्मा के साथ सम्बद्ध होकर दीर्घ काल तक बने रहते हैं वह साम्परायिक कर्म कहलाते हैं। जिस प्रकार सूखी भींत पर लगा हुआ रेत का गोला लगते ही छूट जाता है इस तरह जो कर्म योग के द्वारा आकृष्ट होकर आत्मा के साथ लगते ही छूट जाते हैं वह ईर्यापथिक कर्म कहलाते हैं। सारांश यह है कि तीनों प्रकार के योग की समानता होने पर भी कषाय न हो तो कर्म की स्थिति और रस का बंध नहीं होता है। स्थिति और रस के बंध का कारण कषाय ही है। इससे कषाय ही संसार का मूल है। यह जानकर कषायों को छोड़ने की ओर पर्याप्त ध्यान देना चाहिए।

आत्मा के परिभ्रमण को रोकने के लिए कषायों का परित्याग और उसके बाद योगों की क्रियाओं का निरोध करना चाहिए। इससे कर्मबन्ध का अभाव होगा और आत्मा का भवभ्रमण रुक जावेगा।

सूत्रकार ने इस सूत्र में तीनों काल का निर्देश किया है। इससे भी आत्मतत्त्व की सिद्धि होती है। पहले अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान, केवलज्ञान तथा जातिस्मरणज्ञान से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध किया था। यहाँ इसी भव में होने वाली विभिन्न-कालीन क्रियाओं के द्वारा आत्मा की सिद्धि की है। "मैंने किया, मैं करता हूँ और मैं करूँगा" यह कहकर सूत्रकार यह बताना चाहते हैं कि इस देह से व्यतिरिक्त त्रिकाल संस्पर्शी आत्म द्रव्य है जो तीनों काल की क्रियाओं के रूप में परिणत होता है। यह परिणामी स्वभाव आत्मा को एकान्त नित्य या एकान्त अनित्य मानने वालों के मत में सम्भव नहीं। यह परिणमन तो अनेकान्त पक्ष में ही सम्भव है।

इस प्रकार इस सूत्र के द्वारा आत्मा का अस्तित्व और कर्मबन्धन का विचार किया गया है। आगे सूत्रकार यह बताते हैं कि जो इन कर्म समारम्भों को भलीभांति जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा के द्वारा छोड़ देता है वह इन दिशा-विदिशाओं में भ्रमण करता हुआ अनेक अनिष्ट संयोगों से कष्ट का अनुभव करता है:—

अपरिणायकम्मा[1] खलु अयं पुरिसे जो इमाओ दिसाओ अणुदिसाओ अणुसंचरइ, सव्वाओ दिसाओ सव्वाओ अणुदिसाओ साहेति। अणेग-रूवाओ जोणीओ संधेइ[2], विरूवरूवे फासे पडिसंवेदेइ (सू. ७)

१—कम्मे। २—संधावइ।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

संस्कृतच्छाया—*अपरिज्ञातकर्मा खल्वयं पुरुषो य अमूः दिशोऽनुदिशोऽनुसञ्चरति, सर्वाः दिशः सर्वाःअनुदिशः साधयति । अनेकरूपा योनीः सन्धयति, विरूपरूपान् स्पर्शान् प्रतिसंवेदयति ।*

शब्दार्थ—अपरिण्णायकम्मा=कर्मबन्धन के स्वरूप को नहीं जानने वाला । खलु= निश्चय ही । अयं पुरिसे=यह पुरुष है । जो=जो । इमाओ दिसाओ अणुदिसाओ=अमुक दिशा-विदिशा में । अणुसञ्चरइ=गमनागमन करता है । सव्वाओ दिसाओ अणुदिसाओ=सब दिशा-विदिशा में । साहेइ=अपने कर्मों के साथ गमनागमन करता है । अणेगरूवाओ जोणीओ= अनेक तरह की योनियों के साथ । संधेइ=अपना सम्बन्ध करता है । विरूवरूवे=विविध प्रकार के । फासे=दुखों को । पडिसंवेदेइ=वेदता है ।

भावार्थ—जिसने कर्मबन्धन की क्रियाओं के स्वरूप को नहीं समझा है वही पुरुष अमुक दिशा-विदिशा में तथा सब दिशा अनुदिशाओं में परिभ्रमण करता है और विविध (चौरासी लाख) योनियों में अनेक प्रकार के दुखों का अनुभव करता है ।

विवेचन—इस सूत्र में संसार में परिभ्रमण करने का कारण बताया गया है। जिन प्राणियों ने कर्मबन्धन के कारणों का परिज्ञान नहीं किया है वे ही प्राणी इस दिशा-विदिशा से अन्य दिशा-विदिशा में गमनागमन करते हैं। जिस प्रकार घटीयन्त्र घूमता ही रहता है उसके पात्र भरते और खाली होते रहते हैं इसी तरह यह जीव भी संसार में भ्रमण करता ही रहता है। यह भी नये २ शरीरों को धारण करता है और पूर्व शरीर को छोड़ता रहता है। यह जन्म-मरण की परम्परा अनन्तकाल तक चलती ही रहती है।

न सा जाई न सा जोणी जत्थ जीवो न जायइ ।

अर्थात्—ऐसी कोई भी जाति और योनि नहीं है जहां जीव ने जन्म न लिया हो। एकेन्द्रिय आदि जातियों में इस जीव ने असंख्य बार जन्म लिया है। लोक में चौरासी लाख जीव-योनियां कही गई हैं। वे इस प्रकार हैं:—

पुढवी-जल-जलण-मारुय एक्केके सत्त सत्त लक्खाओ ।
वण-पत्तेय-अणंते दस चोद्दस जोणिलक्खाओ ॥
विगिलिंदिएसु दो दो चउरो य णारयसुरेसुं ।
तिरिएसु हुंति चउरो चोद्दस लक्खा य मणुएसु ॥

अर्थात्—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय और वायुकाय की सात-सात लाख, प्रत्येक वनस्पति की दस लाख, साधारण (अनन्तकाय) वनस्पति की चौदह लाख, द्वीन्द्रिय की दो लाख, त्रीन्द्रिय की दो लाख, चतुरिन्द्रिय की दो लाख, नारक की चार लाख, देव की चार लाख, तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

की चार लाख और मनुष्य की चौदह लाख—ये कुल ८४ लाख जीवयोनियाँ हैं। इन शुभाशुभ योनियों में इस जीव ने अनन्त बार जन्म-मरण किया है। कहा है:—

देविंदचक्कवट्टित्तणाइं मोत्तुं च तित्थगरभावं।
अणगारभाविता वि य ससाउ अणंतसो पत्ता॥

अर्थात्—इन्द्रत्व, चक्रवर्त्तित्व, तीर्थङ्करनाम और भावित अनगारत्व को छोड़कर शेष योनियों में इस जीव ने अनन्त बार जन्म-धारण किया है। तात्पर्य यह है कि जब तक कर्मबन्धन के स्वरूप का ज्ञान न हो और उसके कारणों का परिहार न किया जाय वहां तक यह भव-परम्परा चलती ही रहेगी। विषय और कषाय रूपी जल से सिंची जाती हुई यह भव-वल्लरी उत्तरोत्तर बढ़ती ही चली जाती है।

कर्मसमारम्भों से विवश बना हुआ प्राणी संसार-कान्तार में अन्धे की तरह इधर-उधर भटकता रहता है। वह नरक गति के भीषण दुखों का वेदन करता है, तिर्यञ्च गति में क्षुधा, पिपासा, भय आदि का त्रास पाता है, मनुष्य गति में नानाविध आधि, व्याधि और उपाधिजन्य कष्टों का अनुभव करता है और देवगति में भी मान-भङ्ग, अल्प ऋद्धि आदि के द्वारा दुख का अनुभव करता है। दुखों से घबरा कर यह प्राणी उनके प्रतीकार के लिए पुनः प्राणिवध आदि अकार्यों में प्रवृत्ति करता है और फलस्वरूप नवीन कर्मों का बन्धन कर लेता है और फिर उनका कटुक विपाक वेदन करता है। इस तरह यह दुख-परम्परा अविच्छिन्न रूप से चलती रहती है।

इस प्रकार दुखों को सहते सहते, अकाम-निर्जरा के द्वारा तथा उपार्जित पुण्य-पुञ्ज के प्रभाव से जीव को मनुष्य-भव की प्राप्ति, समग्र इन्द्रियों की उपलब्धि, दीर्घ आयु, स्वास्थ्य आदि सामग्रियों का संयोग मिलता है तदपि वह अपने अज्ञान के कारण इनका दुरुपयोग करता है और पुनः उसी भीषण अवस्था में आजाता है जहाँ अनन्त काल तक उसे विकास का साधन उपलब्ध नहीं होता।

यह मनुष्य-भव और यह विचार-शक्ति प्राप्त होने पर तो अवश्य ही आत्मा और कर्म-समारम्भों का परिज्ञान करना चाहिए। यदि यहाँ भी यह न हो सका तो पुनः अनन्त काल तक एक दिशा से दूसरी दिशा में वायु से प्रेरित तिनके की तरह भटकना पड़ेगा। मनुष्य-भव में कर्मसमारम्भों का परिज्ञान करने की विशेष सुविधा है अतः इसका अवश्य ही लाभ लेना चाहिए। ऐसा अवसर पुनः पुनः नहीं आता। अवसर चूके तो पुनः वहीं के वहीं पड़ा रहना होगा। मनुष्य मननशील प्राणी है। वह अपना भूत और भविष्य विचार सकता है इसलिए ही सूत्रकार ने उसे प्रधान मानकर, 'अयं पुरिसे' ऐसा कहा है। वैसे उपलक्षण से यह चतुर्गति में वर्तमान सर्व साधारण प्राणी के लिए कहा गया है। अतः मनुष्य को विशेष रूप से अपनी आत्मा और कर्मसमारम्भों का विचार करना चाहिए। कर्मसमारम्भों का भलीभाँति ज्ञान न होने से ही जीव, जीव-हिंसा आदि सावद्य कार्यों में प्रवृत्ति करता है और आठ प्रकार के कर्मों का बंध कर लेता है। तदनन्तर कर्मों का उदय होने पर नाना प्रकार के दुखों का अनुभव करता है।

दुख के अनुभव के अर्थ को प्रकट करने के लिए सूत्रकार ने 'फासे' शब्द दिया है। इसका अभिप्राय यह है कि स्पर्शनेन्द्रिय तो प्राणी मात्र को होती है। इससे संसारवर्त्ती सब जीवों का

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

ग्रहण हो जाता है। प्रायः शारीरिक वेदनाएँ स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द के आश्रित होती हैं। स्पर्श-ग्रहण से सब शारीरिक वेदनाओं का ग्रहण हो जाता है। यह उपलक्षण है, इससे मानसिक वेदनाएँ भी समझ लेनी चाहिए। तात्पर्य यह है कि जो इन कर्मसमारम्भों को नहीं जानता और नहीं त्यागता वही संसार में भटकता हुआ विविध योनियों में विविध शारीरिक और मानसिक वेदनाओं का अनुभव करता है। कहीं २ 'संधेइ' के स्थान पर 'संधावइ' पाठान्तर मिलता है। इसका अर्थ है कि वह जीव उन योनियों में पुनः पुनः जाता है और वहाँ बीभत्स अनुभवों का वेदन करता है।

समस्त सूत्र का तात्पर्य यह हुआ कि जो कर्मसमारम्भों को नहीं जानता है वही संसार में भ्रमण करता है और यातनाएँ उठाता है अथवा जो संसार में परिभ्रमण करता हुआ अनेक योनियों में यातनाएँ झेलता है वह कर्मसमारम्भों को नहीं जानता है। अतः कर्मसमारम्भों का विवेक करने के लिए सूत्रकार कहते है कि:—

तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइआ (सू. ८)

संस्कृतच्छाया—*तत्र खलु भगवता परिज्ञा प्रवेदिता।*

शब्दार्थ—तत्थ=इन कर्मसमारम्भों में। खलु=निश्चय ही। भगवया=भगवान ने। परिण्णा=परिज्ञा (विवेक)। पवेइआ=समझायी है।

भावार्थ—हे जम्बू! ऊपर बताई हुई कर्मबन्धन-रूप क्रियाओं में पूरा-पूरा विवेक रखने के लिए भगवान् वर्द्धमानस्वामी ने उपदेश प्रदान किया है।

विवेचन—कर्मबन्धन की क्रियाओं का प्रतिपादन करने के पश्चात् उन क्रियाओं से अपनी आत्मा को बचाने के लिए सूत्रकार सावधान कर रहे हैं। बन्धन का स्वरूप इसीलिए बताया जाता है कि प्राणी-गण उसे जानकर उससे निवृत्ति करें। रोग के कारणों को जान लेने पर स्वास्थ्य और आरोग्य का अभिलाषी व्यक्ति अवश्य ही उन कारणों को दूर करने की चेष्टा करता है। इसलिए ही वैद्यकशास्त्र में रोग के निदान का बड़ा महत्व है। निदान के ठीक-ठीक हो जाने पर ही रोग की चिकित्सा सफल हो सकती है। इसी तरह यहाँ बन्धन के निदानों का स्वरूप बता दिया गया है ताकि प्राणी बन्धन के कारणों को दूर कर दें।

सूत्रकार ने कर्म-समारम्भों में परिज्ञा करने का उपदेश दिया है। 'परिज्ञा' का अर्थ है विवेक। वस्तु के स्वरूप को ठीक-ठीक जानना और जानने के पश्चात् उपादेय को ग्रहण करना, हेय का परित्याग करना और उपेक्षणीय की उपेक्षा करना ही परिज्ञा है—विवेक है। इसीलिए शास्त्रकार ने परिज्ञा के दो भेद बतलाये हैं—ज्ञ-परिज्ञा और प्रत्याख्यान-परिज्ञा। ज्ञ-परिज्ञा के द्वारा वस्तु का स्वरूप जाना जाता है और प्रत्याख्यान परिज्ञा के द्वारा हेय का त्याग किया जाता है। कर्मबन्धनों में विवेक करने का अर्थ यह है कि—ये कर्म-समारम्भ आत्मा के स्वरूप को मलिन

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

करने वाले हैं और ये आत्मा की स्वतंत्रता को छीनकर उसे बन्धन में जकड़ देने वाले हैं। यह जानकर उन क्रियाओं से बचना—उनका परित्याग कर देना यही कर्मसमारम्भों की परिज्ञा है।

मुमुक्षु आत्माओं के लिए परिज्ञा करना सर्वप्रथम आवश्यक है। इसके बिना आगे प्रगति नहीं हो सकती है। जैसे वर्णमाला में 'अ' और अंकगणित में 'एक' को जाने बिना आगे नहीं बढ़ा जा सकता है इसी तरह 'परिज्ञा' को समझे बिना मोक्ष-मार्ग में प्रगति नहीं की जा सकती है। हित-अहित, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य और जड़-चेतन के सम्यग् विवेक के बिना निश्चित एवं सही दिशा में गति नहीं हो सकती। विवेक के अभाव में लक्ष्य का भान नहीं रहता, दिशा नहीं सूझती, अतः प्राणी इधर-उधर ठोकरें खाता रहता है। अतएव मुमुक्षु आत्मा को सर्वप्रथम सच्चा विवेक कर सकने का अभ्यास करना चाहिए। विवेक के प्रकाश में उसे अपना गन्तव्य मार्ग सदा दिखता रहेगा और वह अपने लक्ष्य की ओर बढ़ता ही चला जावेगा। विवेक का दीपक प्रज्ज्वलित रहता है तो सर्वत्र प्रकाश ही प्रकाश है और विवेक के दीपक के बुझने पर चारों तरफ अंधेरा ही अंधेरा है।

इसीलिए सूत्रकार ने बन्धन का स्वरूप बताकर उसमें पूरा २ विवेक रखने का सर्वप्रथम उपदेश दिया है। आत्मा के बन्धन को जानना और जानकर उसे तोड़ना ही मुक्ति है। इस मुक्ति का सर्वप्रथम उपाय सम्यक् परिज्ञा ही है। अतः बुद्धिमान साधक को 'परिज्ञा' करनी चाहिए।

इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण-माणण-पूयणाए, जाइमरणमोयणाए[१] दुक्खपडिग्घायहेउं (सू. ६)

संस्कृतच्छाया—*अस्य चैव जीवितस्य परिवन्दनमाननपूजनाय, जातिमरणमोचनाय दुःखप्रतिघातार्थम् (क्रियासु प्रवर्तते)*

शब्दार्थ—इमस्स चेव जीवियस्स=इस जीवन के लिए। परिवंदण=प्रशंसा। माणण=मान-आदर। पूयणाए=पूजा के लिए। जाइ-मरण-मोयणाए=जन्म, मरण और मुक्ति के लिए। अथवा जन्म-मरण से छूटने के लिए। दुक्खपडिग्घायहेउं=दुखों का प्रतिकार करने के लिए।

भावार्थ—अपने जीवन के लिए (इसे चिरकाल तक टिकाने के लिए) यश की प्राप्ति के लिए, मान, पूजा-सत्कार प्राप्त करने के लिए, जन्म-प्रसंग और मरण-प्रसंग के लिए, मुक्ति के लिए अथवा जन्म-मरण से छूटने के लिए तथा दुखों को दूर करने के लिए प्राणी पापमय क्रियाओं में प्रवृत्ति करता है।

विवेचन—जीव जिन-जिन कारणों से कर्मस्वरूप क्रियाओं में प्रवृत्ति करता है उनका प्रतिपादन करते हुए सूत्रकार फरमाते हैं कि नश्वर, चञ्चला बिजली की चमक से भी अधिक चञ्चल और निस्सार जीवन को लम्बे काल तक टिका रखने की भावना से जीव पापमय क्रियाओं में प्रवृत्ति

१—जाइमरणमोयणाए।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

करता है। 'मैं नीरोग होकर चिरकाल तक जीऊँगा तो सांसारिक सुख भोगूँगा' इस अभिलाषा से वह शरीर को पुष्ट बनाने के लिए प्राणियों का मांस-भक्षण करना आदि क्रियाओं में प्रवृत्ति करता है। अल्प सुख के लिए तथा मिथ्या मान-प्रतिष्ठा के लोभ से तथा अहंकार से महारम्भ और महापरिग्रह के द्वारा वह अशुभ कर्मों का ग्रहण करता है। यह जीव कमल-पत्र पर रहे हुए जल-बिन्दु के समान चञ्चल जीवन को टिका रखने की असम्भव एवं निर्मूल भावना से प्राणी-पीड़नादि हिंसक क्रियाओं में प्रवृत्त होता है।

परिवन्दन के लिए भी सावद्य-प्रवृत्ति की जाती है। जैसे-"मैं मयूर आदि के मांस का भक्षण करूँगा तो हृष्ट-पुष्ट और तेजस्वी देवकुमार के समान बन जाऊँगा। इससे दुनिया मेरी प्रशंसा करेगी।" इस प्रशंसा के प्रलोभन में पड़ कर भी प्राणी आरम्भ में प्रवृत्ति करते हैं।

मान-सत्कार प्राप्त करने के लिए भी प्राणी हिंसा में प्रवृत्ति करता है। जैसे —" मेरे आने पर मनुष्य खड़े होकर मेरा सत्कार करें, मुझे ऊँचा आसन प्रदान करें, मेरे सामने हाथ जोड़ कर खड़े रहें" इस प्रकार की मान की अभिलाषा से प्रेरित होकर भी प्राणी विविध पापकर्मों में प्रवृत्ति करता है।

द्रव्य, वस्त्र, खान-पान, सत्कार, प्रणाम और सेवा आदि के द्वारा जनता मेरी पूजा करे इस हेतु से भी प्राणी सावद्य प्रवृत्ति अंगीकार करता है।

जन्म-मरण से मुक्त होने के लिए भी प्राणी, विवेक को भूलकर पञ्चाग्नितप तपना, तीर्थ-स्नान वगैरह करना आदि २ सावद्य प्रवृत्ति करता है। अपने मति-विभ्रम के कारण वास्तविक धर्म के रहस्य को नहीं समझता हुआ प्राणी धर्म के नाम पर भी हिंसा करता है और उस हिंसा को कल्याणकारी समझता है। परन्तु सूत्रकार स्पष्ट फरमाते हैं कि धर्म के नाम पर की गई हिंसा भी हिंसा ही है वह कदापि क्षम्य नहीं हो सकती। हिंसा—चाहे वह धर्म के, गुरु के या और किसी भी निमित्त से होती हो-हिंसा ही है। हिंसा अधर्म है अतः कोई भी धर्मक्रिया अधर्म से नहीं हो सकती। धर्मक्रिया में अधर्म को स्थान नहीं हो सकता। तदपि विवेक को भूलकर, धर्म के सम्यक् स्वरूप को नहीं समझने के कारण प्राणी धर्म के नाम से भी अधर्म में प्रवृत्ति करता है।

'जाइ-मरण-मोयणाए' इस पद का यह भी अर्थ है कि प्राणी जन्म-प्रसंग, मरण-प्रसंग, वैर-मोचन आदि के निमित्त भी हिंसा करता है। पुत्र आदि का जन्म होने पर खुशी मनाने के लिए मित्र, स्वजन जाति आदि को निमंत्रितकर विविध भोजन आदि तय्यार किये जाते हैं और नाना प्रकार के आरम्भ-समारम्भ किये जाते हैं। इसी प्रकार मरण के निमित्त भी पितरों को पिण्ड-दान देने के बहाने भी जीव सावद्य क्रियाएँ करता है। वैर लेने के लिए भी प्राणी हिंसा में प्रवृत्त होता है। जैसे-"अमुक व्यक्ति ने मेरा या मेरे सम्बन्धी का अनिष्ट किया है इसलिए उसका बदला लेना चाहिए" यों सोचकर प्राणी उसका अहित करने के लिए तत्पर हो जाता है।

इस पद के स्थान पर किन्हीं प्रतियों में 'जाइ-मरण-भोयणाए' ऐसा पाठान्तर मिलता है। वहाँ 'भोयणाए' का अर्थ यह समझना चाहिए कि भोजन के निमित्त अर्थात् पेट की ज्वाला शान्त करने के लिए या स्वादिष्ट भोजन के लिए भी हिंसा की जाती है।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

दुखों का प्रतिकार करने के लिए भी सावद्य क्रिया की जाती है। बीमारी से छूटने के लिए अभक्ष्य मांस-मदिरा आदि का सेवन किया जाता है। अन्य अभक्ष्य वस्तुओं का भक्षण किया जाता है। सांसारिक-सुख प्राप्त करने के लिए द्रव्य कमाना, कुटुंब को पालने और पोसने के लिए विविध प्रवृत्तियाँ करना इत्यादि कई सावद्य कार्य करने के लिए प्राणी तयार हो जाता है।

सूत्रकार ने इन क्रियाओं के कारणों का बड़ी कुशलता के साथ संकलन किया है। प्राणियों में पाई जाने वाली सहज मनोवृत्ति का मनोवैज्ञानिक ढंग से अध्ययन करने पर भी यही प्रमाणित होता है कि प्रायः ऊपर बताये हुए कारणों में से किसी भी कारणवश प्राणी सावद्य क्रियाओं में प्रवृत्त होता है। इन कारणों में सब आस्रव के कारणों का समावेश हो जाता है।

एयावंति सव्वावंति लोगंसि कम्मसमारम्भा परिजाणियव्वा भवन्ति। जस्सेते लोगंसि कम्मसमारम्भा परिण्णाया भवंति से हु मुणी परिण्णायकम्मे त्ति बेमि (सू १०)

संस्कृतच्छाया—एतावन्तः सर्वे लोके कर्मसमारम्भाः परिज्ञातव्या भवन्ति। यस्येते लोके कर्मसमारम्भा परिज्ञाताः भवन्ति स खलु मुनिः परिज्ञातकर्मा, इति ब्रवीमि।

शब्दार्थ—एयावंति सव्वावंति=यही सब। लोगंसि=लोक में। कम्मसमारम्भा=कर्मसमारम्भ। परिजाणियव्वा भवन्ति=जानने चाहिए। जस्स=जिसको। एते=ये। लोगंसि=लोक में। कम्मसमारम्भा=कर्मसमारम्भ। परिण्णाया भवंति=ज्ञात हो जाते हैं। से=वही। हु=निश्चय से। मुणी परिण्णायकम्मे=परिज्ञातकर्मा मुनि है। त्ति बेमि=ऐसा मैं कहता हूँ।

भावार्थ—लोक में यही सब कर्मसमारम्भ जानने चाहिए। जो पुरुष संसार में इन कर्मसमारम्भों को जानता है, वह निश्चय ही परिज्ञातकर्मा (विवेकी) मुनि है। यह सब भगवान् के समीप जैसा मैंने सुना है, वैसा कहता हूँ।

विवेचन—कर्मसमारम्भ और उनके कारणों का प्रतिपादन पूर्ववर्त्ती सूत्रों में किया गया है। यहाँ यह बताया गया है कि लोक की समस्त क्रियाओं और उनके कारणों का पूर्व सूत्रों में उल्लिखित क्रियाओं और उनके कारणों में समावेश हो जाता है। यही क्रियाएँ और यही कर्मबन्धन के हेतु हैं जिनके द्वारा यह जीव नानाविध दिशा-विदिशाओं में—नानाविध योनियों में भ्रमण करता हुआ दुख का अनुभव करता है।

जो व्यक्ति इन क्रियाओं और कर्मबन्धन के हेतुओं के स्वरूप को भलीभांति जान लेता है—हृदयंगम कर लेता है और उनका परित्याग कर देता है वह कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है। वह भव-भ्रमण से छूट जाता है। वह फिर दिशा-विदिशाओं में चक्कर नहीं खाता है। वह योनियों में जन्म लेने और मरने के दुख से मुक्त हो जाता है।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

सूत्रकार सच्चे मुनि का स्वरूप बताते हुए कहते हैं कि जिसने इन क्रियाओं और इनके कारणों का परिहार किया है वही मुनि है। इससे यह ध्वनित होता है कि मुनि का वेश धारण कर लेने से ही कोई मुनि नहीं कहा जा सकता है। सच्चा मुनित्व कर्मसमारम्भोंका त्याग करने से आता है। बाह्य वेश, बाह्य क्रिया-कलाप, और बाह्य आडम्बर साधुता की कसौटी नहीं है। साधुता की सच्ची कसौटी है—कर्मास्रवों का परित्याग और सम्पूर्ण अहिंसा-वृत्ति। इस कसौटी पर कसे जाने पर जो खरे उतरते हैं वही सच्चे साधु हैं—वही विवेकवान् मुनि हैं।

मोक्षार्थी आत्मा कर्म के कारणों को जानता है और जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा के द्वारा उनका त्याग करता है। ऐसा करता हुआ वह मोक्ष के निकट पहुँच जाता है और वह अपने सच्चिदानन्द स्वरूप को प्राप्त कर लेता है।

सूत्रकार ने 'परिज्ञा' के कथन के द्वारा ज्ञान और क्रिया का सुन्दरतम समन्वय किया है। यही मोक्ष का मार्ग है।

सारांश यह है कि जिस आत्मा को आत्म-विचार होता है, जो कर्मबन्धन की क्रियाओं और उनके हेतुओं को विवेक पूर्वक समझता है वही आत्मा अपना परम और चरम कल्याण सिद्ध कर सकता है। अतः समस्त क्रियाओं में विवेक का दीपक सदा प्रज्ज्वलित रखना चाहिए।

श्री सुधर्मास्वामी अपने अन्तेवासी जम्बू से कहते हैं कि यह सब सर्वज्ञ भगवान् महावीर से साक्षात् श्रवण कर तुझे कहता हूँ, अपनी बुद्धि से नहीं। अतः इस पर अविचल श्रद्धा करनी चाहिए। इस कथन के द्वारा चार ज्ञान के निधान होते हुए भी सुधर्मास्वामी अपना विनय प्रकट करते हैं।

यह भगवद्भाषित श्रुत पूर्ण रूप से विश्वास करने योग्य है।

इति प्रथमोद्देशकः

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

शस्त्रपरिज्ञा नाम प्रथम अध्ययन

का

—द्वितीय उद्देशकः—

प्रथम उद्देशक में सामान्य जीव का अस्तित्व प्रतिपादित कर अब इस द्वितीय उद्देशक में यह बताते हैं कि पृथ्वीकायादि में भी जीव हैं और अहिंसक साधक को इन सूक्ष्म जीवों की भी वैसे ही रक्षा करनी चाहिये जैसे स्थूल प्राणियों की। केवल मनुष्य या पशुओं तक ही अहिंसा देवी की आराधना समाप्त नहीं हो जाती परन्तु पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, और वनस्पति के अव्यक्त चेतना वाले जीवों की भी अहिंसा का पूर्ण लक्ष्य रखना चाहिये। इस आशय से इस उद्देशक में पृथ्वीकाय में जीवास्तित्व सिद्ध करते हुए उनकी यतना करने का उपदेश दिया गया है—

'अट्टे लोए परिजुण्णे दुस्संबोहे अविजाणए अस्सिं लोए पव्वहिए तत्थ तत्थ पुढो पास, आतुरा परितावेंति' (११)

संस्कृतच्छाया—*आर्तः लोकः परिद्यूनः दुस्संबोधः अविज्ञायकः अस्मिन्लोके प्रव्यथिते तत्र तत्र पृथक् पश्य आतुराः परितापयन्ति।*

शब्दार्थ—अट्टे=विषय कषाय से पीड़ित। लोए=लोक। परिजुण्णे=प्रशस्तज्ञानादि भाव से हीन बने हुए। दुस्संबोहे=कठिनता से समझने वाले। अविजाणए=अज्ञानी। अस्सिं लोए पव्वहिए=इस पीडित पृथ्वीकाय को। तत्थतत्थ=खोदना, गृह बनाना आदि। पुढो=भिन्नभिन्न कार्य करते हुए। आतुरा=विषयादि से अधीर होकर। परितावेंति=दुःख देते हैं। पास=देख।

भावार्थः—विषय कषाय से पीड़ित होते हुए, (औदयिक भाव के उदय होने से) ज्ञानादि प्रशस्त भावों से हीन बने हुए, कठिनाई से बोध प्राप्त कर सकने वाले, अज्ञानी जीव—विषयादि सुखों के लिये अत्यन्त अधीर होकर खोदने, घर एवं भवनादि बनाने आदि भिन्न भिन्न कार्यों के लिये पृथ्वीकायके जीवों को अत्यन्त संताप देते हैं। हे शिष्य! इन अशुभ प्रवृत्ति करने वालों को तू देख।

विवेचनः—पृथ्वीकाय में जीवास्तित्व का प्रतिपादन करते हुए निर्युक्तिकार ने कहा है कि उपयोग, योग, अध्यवसाय, मतिश्रुतज्ञान, अचक्षुदर्शन, अष्टप्रकार के कर्मों का उदय और बंध, लेश्या, संज्ञा, श्वासोच्छ्वास और कषाय, ये जीव में पाये जाने वाले गुण पृथ्वीकाय में भी पाये जाते हैं अतः मनुष्यादि की तरह पृथ्वीकाय को भी सचित्त समझना चाहिये।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

यहां यह शंका की जा सकती है कि पृथ्वीकाय में ऊपर बतलाये हुए उपयोगादि लक्षण नहीं पाये जाते हैं क्योंकि वे व्यक्त नहीं हैं। परन्तु इसका समाधान यह है कि यद्यपि पृथ्वीकाय में उपर्युक्त लक्षण अव्यक्त जरूर हैं तदपि अव्यक्त होने से उनका निषेध नहीं किया जासकता है। जैसे किसी पुरुष ने अत्यन्त मादक मदिरा का पान अत्यधिक मात्रा में किया हो और ऐसा करने से पित्तोदय के कारण वह बेभान और मूर्छित हो जाता है तथा उसकी चेतना शक्ति अव्यक्त हो जाती है लेकिन इतने से ही उसे अचित्त नहीं कहा जा सकता। ठीक इसी तरह पृथ्वीकायादि में चेतना शक्ति अव्यक्त है परन्तु उसका निषेध नहीं किया जा सकता है।

दूसरी शंका यह हो सकती है कि पत्थर आदि अत्यन्त कठिन पुद्गलरूप हैं उनमें चेतना का संभव कैसे है ? परन्तु यह शंका भी योग्य नहीं है क्योंकि हम देखते हैं कि मानव-शरीर-गत हड्डी अत्यन्त कठोर है तदपि शरीरस्थ हड्डी सचित्त कही जाती है इसी प्रकार कठोर पृथ्वी का शरीर भी जीवात्मक समझना चाहिये।

पृथ्वीकाय की सचेतनता सिद्ध करके सूत्रकार यह बता रहे हैं कि विषय-कषाय के वश बने हुए प्राणी अपने नश्वर एवं अस्थायी सुख के लिये अज्ञानता से पृथ्वीकाय के जीवों को परिताप पहुंचाते हैं। विषयादि से आतुर होकर वे अज्ञानी प्राणी स्वयं संसार की जलती हुई भीषण भट्टी में पड़कर दुःख का अनुभव करते हैं और साथ ही दूसरों को परिताप पहुंचाते हैं। क्योंकि व्यक्ति की प्रत्येक क्रिया का परोक्ष या प्रत्यक्ष रूप में दूसरों पर (समष्टि पर) जरूर असर पड़ता है।

संति पाणा पुढो सिया लज्जमाणा पुढो पास (१२)

संस्कृतच्छाया—*सन्ति प्राणिनः पृथक् सिताः लज्जमानान् पृथक् पश्य*

शब्दार्थः—पाणा=प्राणी । पुढो=पृथक्पृथक् रूप से । सिता=रहे हुए । संति=हैं । लज्जमाणा=हिंसा से शरमाते हुए को। पुढो=पृथक् । पास=देख ।

भावार्थः—हे शिष्य ! इस पृथ्वीकाय में पृथक् पृथक् जीव रहे हुए हैं अतः संयम का अनुष्ठान करने वाले, उन जीवों की हिंसा से शरमाते हुए अर्थात् उनको पीड़ा नहीं पहुंचाते हुए जीवन का निर्वाह करते हैं, उनको भी तू देख।

विवेचन—कई वादियों का ऐसा मत है कि सारी पृथ्वी एक देवतारूप है जैसा कि उनका कथन है कि "एकदेवतावस्थिता पृथ्वी"। परन्तु सूत्रकार इस सूत्र से उनका खंडन करते हुए कहते हैं कि पृथ्वी एक देवतारूप नहीं है परन्तु अनेक जीव इसमें पृथक् २ रहे हुए हैं अर्थात् पृथ्वीकाय प्रत्येक शरीर वाली है। अनेक जीवात्मक पृथ्वी को जानकर संयमी पुरुष उसकी विराधना से बचते हैं। "हे शिष्य तू यह देख" ऐसा कहकर गुरु, शिष्य को यह बताना चाहते हैं कि यह प्रवृत्ति कुशलानुष्ठान रूप है अर्थात् पृथ्वी की विराधना से बचने में आत्म-कल्याण और संयम की साधना है।

अणगारा मो त्ति एगे पवयमाणा जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं पुढविकम्मसमारंभेणं पुढविसत्थं समारंभमाणा अणेगे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ (१३)

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

संस्कृतच्छाया—*अनगाराः स्मः इत्येके प्रवदन्तः यदिमं पृथिवीकायं विरूपरूपैः शस्त्रैः पृथिवीकर्म-समारम्भेण पृथिवीशस्त्रं समारभमाणो ऽन्यानप्यनेकरूपान् प्राणान् हिनस्ति ।*

शब्दार्थ—अणगारा मो=हम घरबार रहित भिक्षुक हैं। त्ति=ऐसा। एगे=कितनेक साधु। पवयमाणा=अभिमान पूर्वक कहते हैं। जमिणं=इस पृथ्वीकाय को। विरूवरूवेहिं=अनेक प्रकार के। सत्थेहिं=शस्त्रों द्वारा। पुढविकम्मसमारंभेणं=पृथ्वी सम्बन्धी क्रिया का आरम्भ करने से। पुढविसत्थं=पृथ्वीकाय के शस्त्र का। समारंभेमाणा=प्रयोग करते हुए। अण्णे=अन्य। अणेगरूवे=नाना प्रकार के। पाणे=वनस्पति आदि प्राणियों की। विहिंसइ=हिंसा करते हैं।

भावार्थ—कितनेक यति एवं त्यागी नाम धराने वाले ऐसा अभिमानपूर्वक कहते हैं कि हम घरबार छोड़कर जीवों की रक्षा के लिए साधु बने हैं। परन्तु वे ही अनगार कहलाने वाले अनेक प्रकार के शस्त्रों द्वारा, पृथ्वीकाय सम्बन्धी पापकर्म करते हुए पृथ्वीकाय के जीवों की विराधना करते हैं और साथ ही पृथ्वी के आश्रित रहे हुए वनस्पति एवं त्रस आदि जीवों की भी हिंसा करते हैं। अतः उनका ऐसा कहना मात्र बकवाद है।

विवेचन—इस सूत्र से यह फलित होता है कि सूत्रकार उसे ही सच्चा अनगार समझते हैं जो स्वेच्छा पूर्वक सूक्ष्म से सूक्ष्म प्राणी को भी मनसा, वाचा, कर्मणा किसी प्रकार का दुख नहीं पहुँचाता हो। जैन शास्त्रकारों का यह फरमान है कि अनगार का जीवन एकदम शुद्ध एवं निरासक्त होना चाहिये। अतः अनगारों एवं यथासम्भव गृहस्थों के लिए भी यह आवश्यक है कि पृथ्वीकाय की विराधना न करें। इस प्रकार शाक्यादि अन्य दर्शनावलम्बी यति एवं भिक्षुक पृथ्वीकाय आदि जीवों की यतना नहीं करते हैं यह बताकर शास्त्रकार आगे यह प्रतिपादन करते हैं कि यह हिंसा अहित करने वाली एवं अबोध (मिथ्यात्व) का कारण है:—

तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइआ। इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदणमाणणपूयणाए, जाइमरणमोयणाए, दुक्खपडिघायहेउं, से सयमेव पुढविसत्थं समारम्भइ, अण्णेहिं पुढविसत्थं समारम्भावेइ, अण्णे वा पुढविसत्थं समारंभंते समणुजाणइ; तं से अहियाए, तं से अबोहिए (१४)

संस्कृतच्छाया—*तत्र खलु भगवता परिज्ञा प्रवेदिता। अस्य चेव जीवितस्य परिवन्दनमाननपूजनार्थं जातिमरणमोचनार्थं दुःखप्रतिघातहेतुं स स्वयमेव पृथिवीशस्त्रं समारभते अन्यैश्च पृथिवीशस्त्रं समारम्भयति, अन्यान्वा पृथिवीशस्त्रं समारभमाणान्समनुजानीते तत्तस्य अहिताय तत्तस्य अबोधिलाभाय।*

शब्दार्थ—तत्थ=इस पृथ्वीकाय समारम्भ में। खलु=वाक्यालंकारार्थ। भगवया=भगवान् महावीर ने। परिण्णा=परिज्ञा (विवेक)। पवेइआ=बतलायी है। इमस्स चेव=इसी।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

जीवियस्स=जीवन के लिए। परिवंदण-माणण-पूयणाए=प्रशंसा, मान और पूजा प्राप्त करने के लिए। जाइमरण मोयणाए=जन्म-मरण से छूटने के लिए। दुक्खपडिघायहेऊं=दुःख निवारण के लिए। से=वह जीव। सयमेव=स्वयं ही। पुढविसत्थं=पृथ्वीकाय शस्त्र का। समारम्भइ=आरम्भ करता है। अण्णेहिं=दूसरों के द्वारा। पुढविसत्थं=पृथ्वीकाय शस्त्र का। समारंभावेइ=आरम्भ करवाता है। अण्णे वा पुढविसत्थं समारंभंते=पृथ्वीकाय शस्त्र का समारंभ करते हुए अन्य को। समणुजाणइ=अच्छा समझता है। तं से=यह पृथ्वीकाय की हिंसा उसके लिये। अहियाए=अहित करने वाली। तं से=यह हिंसा उसके लिए। अबोहियाए=अज्ञान बढ़ाने वाली होती है।

भावार्थ—इस पृथ्वीकाय के समारम्भ के विषय में भगवान् महावीर विवेक कराते हुए फरमाते हैं कि प्राणी जीवन-निर्वाह के लिए, कीर्ति प्राप्त करने के लिए, मानपूजा प्राप्त करने के लिए, अपनी अज्ञानात्मक बुद्धि से माने हुए जन्म-मरण से छूटने के उपाय के लिए तथा दुःख निवारण करने के लिए स्वयं पृथ्वीकाय के जीवों की हिंसा करते हैं, दूसरों से करवाते हैं और हिंसा करते हुए अन्य को अच्छा समझते हैं परन्तु यह हिंसा उनके अकल्याण के लिए, तथा अबोध (मिथ्यात्व) के लिए है अर्थात् यह हिंसा अश्रेय और मिथ्यात्व की जननी बना जाती है।

विवेचन—भगवान महावीर के समय में तथा वर्तमान समय में भी ऐसे कितने ही साधु थे और हैं जो अपने आपको साधु कहते हुए भी सावद्य कार्यों में स्वयं प्रवृत्ति करते, करवाते और उन प्रवृत्तियों में रसपूर्वक भाग लेते तथा धर्मनिमित्त हिंसा, हिंसा ही नहीं है (वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति) इस प्रकार प्रजा को उपदेश देते थे परन्तु भगवान् महावीर ने इसका प्रचण्ड विरोध किया था। इस सूत्र में भगवान् यह स्पष्ट फरमाते हैं कि 'जाइमरणमोयण' के लिये की गई हिंसा भी अकल्याण करने वाली एवं मिथ्यात्व को बढ़ाने वाली है। हिंसामात्र हिंसा और पापरूप है। जो अपने आपको ज्यादा धर्मिष्ट कहते हैं उनपर उतना ही अधिक अहिंसक होने का उत्तरदायित्व है अतएव उनका जीवन अत्यन्त संयमी और छोटे से छोटे जीव के प्रति भी प्रतिक्षण यतनाशील होना चाहिये।

से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाय, सोच्चा खलु भगवओ अणगाराणं इहमेगेसिं णायं भवति—एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णरए इच्चत्थं गढिए लोए जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं पुढविकम्मसमारंभेणं पुढविसत्थं समारंभमाणे अणे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ (१५)

संस्कृतच्छाया—*स तं सम्बुध्यमानः आदानीयं समुत्थाय श्रुत्वा खलु भगवतोऽनगाराणामिहैकेषां ज्ञातं भवति, एष खलु ग्रन्थः, एष खलु मोहः, एष खलु मारः, एस खलु नरकः। इत्येवमर्थं गृद्धो लोकः यदिमं विरूपरूपैः शस्त्रैः पृथिवीकर्मसमारम्भेण पृथिवीशस्त्रं समारभमाणाः अन्यानने करूपान् प्राणान् हिनस्ति।*

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

शब्दार्थ—से=वह पृथ्वीकाय को सचित्त मानने वाला। तं=पृथ्वीकाय समारम्भ को अहितरूप। संबुज्झमाणे=भली प्रकार जानता हुआ। आयाणीयं=ग्राह्य, सम्यग्दर्शनादि को। समुट्ठाय=स्वीकार करके। भगवओ=साक्षात् भगवान् के पास से। अणगाराणं=निर्ग्रन्थ साधुओं के पास से। सोच्चा=सुन करके। इह=इस मनुष्य जन्म में। एगेसिं=कितनेक व्यक्तियों को। णायं भवति=यह ज्ञात होता है कि। एस=पृथ्वीकाय का समारम्भ। खलु=निश्चय से। गंथे=आठ कर्मों की गांठ रूप है। एस खलु मोहे=यही मोह रूप है। एस खलु मारे=यही मरण का कारण है। एस खलु णरए=यही नरक का कारण है। इच्चत्थं=आहार, भूषण, कीर्ति आदि में। गढिए=मूर्छित, आसक्त होकर। लोए=प्राणी। जमिणं=इस पृथ्वीकाय को। विरूवरूवेहिं=अनेक प्रकार के। सत्थेहिं=शस्त्रों द्वारा। पुढविकम्मसमारंभेण=पृथ्वीकाय का आरंभ करने से। पुढवि-सत्थं समारभमाणे=पृथ्वीकाय के लिये शस्त्रों का उपयोग कर हिंसा करते हुए। अण्णे=अन्य। अणेगरूवे=अनेक प्रकार के। पाणे=प्राणियों की। विहिंसइ=हिंसा करते हैं।

भावार्थ—सर्वज्ञदेव अथवा श्रमणजनों से आत्मविकास के लिये आदरणीय ज्ञानादि प्राप्त करके कितने ही प्राणी यह समझ सकते हैं कि हिंसा कर्मबन्धन का कारण है, मोह का कारण है, मरण का कारण है और नरक गति में ले जाने में कारण भूत है। तदपि जो अत्यन्त आसक्त प्राणी हैं वे भिन्न २ प्रकार के शस्त्रों द्वारा पृथ्वीकर्मसमारंभ से पृथ्वीकाय के जीवों की हिंसा करते हैं और अविवेक से साथ ही साथ वनस्पति त्रस आदि जीवों की भी हिंसा करते हैं।

विवेचन—हिंसा को कर्मबन्धन का कारण, मोह, मरण और नरक का कारण कहा है। यहाँ यह प्रश्न होता है कि एक प्राणी की हिंसा से आठ प्रकार के कर्म कैसे बंध सकते हैं? इसका यों समाधान करना चाहिये कि हिंसक मारे जाने वाले प्राणी के ज्ञान का अवरोधक होने से ज्ञानावरणीय कर्म बांध लेता है—इसी तरह चक्षु अचक्षु आदि दर्शन में रुकावट डालने से दर्शनावरणीय कर्म बांधता है। मारे जाने वाले जीव को पीड़ा देने से असातावेदनीय बांधता है। प्राणि-हिंसा के समय विषय और कषाय प्रबल होते हैं इससे मोहकर्म बांधता है। मोहकर्म का फल पाने के लिये चार प्रकार के आयुष्य में से कोई आयु अवश्य बाँधता है। आयु के बन्ध के साथ शरीरादि की रचना करने वाला नामकर्म बँध ही जाता है। इसी तरह नाम कर्म के साथ उच्चनीचता दर्शक गोत्र कर्म भी बांध ही लेता है। मारे जाने वाले जीव की शक्ति में विघ्न करने से अन्तराय कर्म बाँध लेता है। तात्पर्य यह है कि एक भी प्राणी की हिंसा का पाप इतना महान् है कि उससे आठों प्रकार के कर्मों का बन्धन हो जाता है अतः प्राणि-हिंसा आठ कर्मों की गांठ रूप और नरकादि दुर्गति में ले जाने वाली कही गई हैं। साधक प्राणी को खानपान एवं कीर्ति और प्रतिष्ठा के आकर्षक प्रलोभन से बचकर सदा निरासक्त एवं सतत उपयोगी होना चाहिये।

दूसरा यह प्रश्न होता है कि पृथ्वीकायादिक सूक्ष्म जन्तुओं के नेत्र, कान, नाक, जीभ, वाणी और मन नहीं होते हैं तो वे दुःख का वेदन किस प्रकार करते हैं इसका समाधान स्वयं सूत्रकार निम्न सूत्र द्वारा करते हैं:—

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

से बेमि–अप्पेगे अन्धमब्भे, अप्पेगे अन्धमच्छे, अप्पेगे पायमब्भे, अप्पेगे पायमच्छे, अप्पेगे गुप्फमब्भे २ अप्पेगे जंघमब्भे २ अप्पेगे जाणुमब्भे २ अप्पेगे ऊरुमब्भे २, अप्पेगे कडिमब्भे २ अप्पेगे णाभिमब्भे २ अप्पेगे उदरमब्भे २ अप्पेगे पासमब्भे २ अप्पेगे पिट्ठिमब्भे २ अप्पेगे उरमब्भे २ अप्पेगे हिययमब्भे २ अप्पेगे थणमब्भे २ अप्पेगे खंधमब्भे २ अप्पेगे बाहुमब्भे २ अप्पेगे हत्थमब्भे २ अप्पेगे अंगुलिमब्भे २ अप्पेगे णहमब्भे २, अप्पेगे गीवमब्भे २ अप्पेगे हणुमब्भे २ अप्पेगे होट्ठमब्भे २, अप्पेगे दंतमब्भे २, अप्पेगे जिब्भमब्भे २, अप्पेगे तालुमब्भे २, अप्पेगे गलमब्भे २, अप्पेगे गंडमब्भे २ अप्पेगे कण्णमब्भे २ अप्पेगे णासमब्भे २ अप्पगे अच्छिमब्भे २ अप्पेगे भमुहमब्भे २ अप्पेगे णिडालमब्भे २ अप्पेगे सीसमब्भे २ अप्पेगे संपमारए, अप्पेगे उद्दवए (१६)

संस्कृतच्छाया—तद् ब्रवीमि अप्येकः अन्धमाभिन्द्यात्, अप्येकोऽन्धमाच्छिन्द्यात्, अप्येकः पादमाभिन्द्यात् अप्येकः पादमाच्छिन्द्यात्, अप्येको गुल्फमाभिन्द्यात् २, अप्येको जंघामाभिन्द्यात् २, अप्येको जानुमाभिन्द्यात् २, अप्येकः ऊरुमाभिन्द्यात् २ अप्येकः कटिम्०[१] अप्येकः नाभिम्, अप्येकः उदरम्, अप्येकः पार्श्वम्, अप्येकः पृष्ठम्, अप्येकः उरम्, अप्येकः हृदयम्, अप्येकः स्तनम्, अप्येकः स्कन्धम्, अप्येकः बाहुम्, अप्येकः हस्तम्, अप्येकः अंगुलिम्, अप्येकः नखम्, अप्येकः ग्रीवाम्, अप्येकः हनुकम्, अप्येकः ओष्ठम्, अप्येकः दन्तम्, अप्येकः जिह्वाम्, अप्येकः तालुम्, अप्यकः गलम्, अप्येकः गण्डम्, अप्येकः कर्णम्, अप्येकः नासिकाम्, अप्येकः अक्षि, अप्येकः भ्रुवम्, अप्येकः ललाटम्, अप्येकः शीर्षमाभिन्द्यात्, अप्येकः शीर्षमाच्छिन्द्यात्, अप्येकः संप्रमारयेत्, अप्येकः अपद्रापयेत् ।

शब्दार्थ—से=वह । बेमि=कहता हूँ । अपि=जैसे । एगे=कोई प्राणी । अन्धं=जन्मान्ध को । अब्भे=भाले से भेदे । अप्पेगे=कोई । अंधं=अंधे को । अच्छे=छेदे । पायमब्भे २=पांव को छेदे भेदे । गुप्फं=टकने को । जंघं=पिंडली को । जाणुं=घुटने को । उरुं=जंघा को । कडिं=कमर को । णाभिं=नाभि को । उयरं=पेट को । पासं=पसली को । पिट्ठिं=पीठ को । उरं=छाती को । हिययं=हृदय को । थणं=स्तन को । खंधं=कंधे को । बाहुं=भुजा को । हत्थं=हाथ को । अंगुलिं=अंगुली को । णहं=नख को । गीवं=गर्दन को । हणुयं=ठुड्ढी को । होट्ठं=ओष्ठ को । दंतं=दांत को । जीहं=जीभ को । तालुं=तालु को । गलं=गले को । गंडं=गाल को । कण्णं=कान को । णासं=नाक को ।

१–'आभिन्द्यात्' आच्छिन्द्यात्, इति पदद्वयं सर्वत्र योजनीयम्

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

अच्छि=आँख को। भमुहं=भौंह को। णिडालं=ललाट को। सीसं=शीष को। अब्भे २=भेदे छेदे। अप्पेगे संपमारए=जैसे कोई मूर्च्छित कर दे। अप्पेगे उद्दवए=कोई प्राण रहित कर दे।

भावार्थः—कर्ण, नासिकादि रहित पृथ्वीकाय के जीव वेदना कैसे अनुभव करते हैं ऐसा पूछने पर भगवान् फरमाते हैं कि जैसे जन्म से अंधे, बहिरे, लूले लंगड़े तथा अवयवहीन किसी व्यक्ति के कोई भालादि द्वारा पांव, टकने, पिण्डी, घुटने, जंघा, कमर, नाभि, पेट, पांसली,पीठ, छाती, हृदय, स्तन, कंधा, भुजा, हाथ, अंगुलि, नख, गर्दन, दाढी, होठ, दांत, जीभ, तालु, गाल, कान, नाक, आंख, भौंह, ललाट, मस्तक इत्यादि अवयव छेदे भेदे तो उस अंधबधिर को वेदना होती है किन्तु वह व्यक्त नहीं कर सकता है। इसी प्रकार एकेन्द्रिय पृथ्वीकाय के जीवों को अव्यक्त वेदना होती है। जैसे कोई किसी मनुष्य पर सहसा प्रहार कर उसे मूर्छित करके फिर मार डाले तो मूर्छावस्था में उसे पीड़ा होती है वैसे ही पृथ्वीकाय की वेदना समझनी चाहिये।

विवेचन—हिंसा से मार्यमाण जन्तुओं को जो वेदना होती है वह प्रायः करके कई बार अव्यक्त हुआ करती है तो भी हिंसक भावना आजाने से हिंसक का पतन तो अवश्यंभावी है। तात्पर्य यह है कि चाहे वेदना व्यक्त हो या अव्यक्त किन्तु हिंसक परिणामों के कारण हिंसा करने वाले का पतन तो होता ही है।

एत्थ सत्थं समारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा अपरिण्णाया भवंति, एत्थ सत्थं असमारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाता भवंति ॥१७॥

संस्कृतच्छाया—*अत्र शस्त्रं समारभमाणस्य, इत्येते आरम्भाः अपरिज्ञाताः भवन्ति, अत्र शस्त्रमसमारभमाणस्य इत्येते आरम्भाः परिज्ञाताः भवन्ति।*

शब्दार्थ—**एत्थ=पृथ्वीकाय में। सत्थं समारंभमाणस्य=शस्त्र का समारंभ करने वाले के लिए। इच्चेते=ये उपरोक्त। आरम्भा=आरम्भ के भेद। अपरिण्णाया=अज्ञात। भवंति=होते हैं। एत्थ=यहाँ, पृथ्वीकाय में। सत्थं असमारंभमाणस्स=शस्त्र का आरंभ नहीं करने वाले के लिए। इच्चेते=ये उपरोक्त। आरम्भा=हिंसक कार्य। परिण्णाया=ज्ञात। भवंति=होते हैं।**

भावार्थ—जो जीव हिंसा की प्रवृत्ति करते हैं उन्हें अपनी हिंसक वृत्ति का भान भी नहीं होता। अतः वे उसका त्याग भी नहीं करते हैं इसलिए हिंसाजन्य पाप उन्हें लगता रहता है। जो जीव अहिंसक वृत्तिवाले हैं वे सूक्ष्म या स्थूल शस्त्रों का प्रयोग नहीं करते हैं अतः वे हिंसा के भेदों को समझ कर विवेक-युक्त उनका त्याग करते हैं।

विवेचन—जिस वृत्ति का मन पर सतत असर होता है वह वृत्ति बाद में आदतरूप हो जाती है। ऐसा होने पर प्राणी को उसके अच्छे बुरे का विवेक और भान ही नहीं होता है इसलिये वह चिरकाल तक उसी वृत्ति में रहता हुआ अनर्थ की परम्परा को निमन्त्रण देता रहता है अतएव इससे बचने के लिये हमेशा अपनी वृत्तियाँ शुद्ध रखनी चाहिये।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

तं परिण्णाय मेहावी नेव सयं पुढविसत्थं समारंभेज्जा, नेवण्णे पुढविसत्थं समारंभावेज्जा, नेवण्णे पुढविसत्थं समारंभन्ते समणुजाणेज्जा। जस्सेते पुढविकम्मसमारंभा परिण्णाया भवंति से हु मुणी परिण्णायकम्मे त्ति वेमि (१८)

संस्कृतच्छाया—*तत् परिज्ञाय मेधावी नैव स्वयं पृथिवीशस्त्रं समारभेत नैवान्यः पृथिवीशस्त्रं समारम्भयेत्, नैवान्यान्पृथिवीशस्त्रं समारभमाणान् समनुजानीयात्। यस्येते पृथिवीकर्मसमारम्भाः परिज्ञाताः भवन्ति स एव मुनिः परिज्ञातकर्मेति ब्रवीमि।*

शब्दार्थ—तं=यह। परिण्णाय=जानकर। मेहावी=कुशल व्यक्ति। सयं=स्वयं। पुढविसत्थं=पृथ्वीकाय के शस्त्र का। न समारंभेज्जा=आरम्भ न करे। नेवण्णेहिं=न दूसरों से। पुढविसत्थं समारंभावेज्जा=पृथ्वीकाय की हिंसा करावे। नेवण्णे पुढविसत्थं समारंभंते=न पृथ्वीकाय की हिंसा करते हुए दूसरों को। समणुजाणेज्जा=अच्छा समझे। जस्स=जिसको। एते=ये। पुढविकम्मसमारंभा=पृथ्वीकाय के हिंसादि कार्य। परिण्णाया भवंति=ज्ञात होते हैं। से हु=वही। मुणी=मुनि। परिण्णायकम्मे=परिज्ञा (विवेक) वान् है। त्ति बेमि=ऐसा मैं कहता हूँ।

भावार्थ—इस प्रकार हिंसा के परिणाम को जानकर कुशल व्यक्ति स्वयं पृथ्वीकाय की हिंसा न करे, न दूसरों से करावे, न करते हुए अन्य को अच्छा समझे। जिसको ये आरम्भ के भेद ज्ञात और प्रत्याख्यात हैं वही सच्चा परिज्ञावान् (विवेकवान्) मुनि है, ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—उपसंहार करते हुए सूत्रकार फरमाते हैं कि पृथ्वीकाय का आरम्भ तीन करण तीन योग से और तीन काल की अपेक्षा से नहीं करता है तथा हिंसा को ज्ञ परिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा से सर्वथा छोड़ता है वही वस्तुतः सच्चा विवेकी मुनि कहा जाता है। यद्यपि यह कथन अनगारों की अपेक्षा से है तदपि गृहस्थों के लिए भी देशतः है ही। यद्यपि जीवन-निर्वाह के लिये थोड़ी बहुत हिंसा अनिवार्य है तो भी बन सके वहाँ तक आसक्तभावना कम से कम रखनी चाहिये। कर्मबन्धन का दारमदार प्रायः आसक्ति पर है इसलिये गृहस्थों को भी पृथ्वीकाय समारंभ में यथाशक्य विवेक रखना आवश्यक है।

इति द्वितीयोद्देशकः

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

शस्त्रपरिज्ञा नाम प्रथम अध्ययन

का

—तृतीय उद्देशकः—

द्वितीयोद्देशक में पृथ्वीकाय की समीक्षा करने के बाद इस उद्देशक में क्रमप्राप्त अप्काय का वर्णन करते हैं। अप्काय की समीक्षा के पहिले पूर्वभूमिका रूप में अनगार की योग्यता स्पष्ट करते हैं। द्वितीयोद्देशक के अन्तिम सूत्र में पृथ्वीकाय-समारम्भ से निवृत्त होने वाले को अनगार कहा है किन्तु एतावता अनगार नहीं हो जाता है परन्तु उसमें अन्य गुण भी होने चाहिये। उन गुणों का वर्णन इस उद्देशक के आदि सूत्र में करते हैं। इसी प्रकार 'अणगारा मो' हम अणगार हैं, ऐसा मात्र कथन करने से वास्तविक अनगार-वृत्ति नहीं आ जाती है परन्तु अनगार को तो छोटी छोटी बातों में भी पूर्ण विवेक की आवश्यकता है साथ ही साथ सदा अप्रमत्त (जागृत) रह कर अपनी वृत्तियों के प्रति उसकी सूक्ष्म निरीक्षण-बुद्धि होनी चाहिये ताकि छोटी सी भूल भी न हो सके। क्योंकि जरासी भूल के प्रति की गयी उपेक्षा भूल-परंपरा को निमंत्रित कर लेती है अतः अनगार वृत्ति के लक्षण सूत्रकार सूत्रद्वारा प्रकट करते हैं:—

से बेमि, से जहावि अणगारे उज्जुकडे, नियायपडिवण्णे, अमायं कुव्वमाणे, वियाहिए, जाए सद्धाए णिक्खंते तमेव अणुपालेज्जा विजहित्तु विसोत्तियं ॥१६॥

संस्कृतच्छाया—*तद् ब्रवीमि यथाप्यनगारः ऋजुकृतिकायप्रतिपन्नः अमायं कुर्वाणः, व्याख्यातः यया श्रद्धया निष्क्रान्तस्तामेवानुपालयेद् विहाय विस्रोतसिकाम्।*

शब्दार्थ—से बेमि=मैं कहता हूं। से जहावि=वह जिस प्रकार। उज्जुकडे=कुटिलता रहित। णियायपडिवण्णे=मोक्षमार्ग अंगीकार करता हुआ। अमायं कुव्वमाणे=कपट का निवारण करते हुए। अणगारे=गृह रहित साधु। वियाहिए=कहा गया है। जाए सद्धाए=जिस श्रद्धा के साथ। णिक्खंते=प्रव्रज्या अंगीकार की है। तमेव=उसी श्रद्धा का। विसोतियं=शंका को। विजहित्ता=छोडकर। अणुपालेज्जा=यावत् जीवन पालन करे।

भावार्थ—हे जम्बू! मैं भगवान् से श्रवण कर यह तुझे कहता हूँ कि—जो जीवन-प्रपंचों को त्याग कर गृहत्यागी अनगार हुआ है, जिसका अन्तःकरण सरल है, जिसने ज्ञान, दर्शन चारित्र रूप मोक्ष-मार्ग स्वीकार किया है तथा जिसने छल, दम्भ, कपट का सर्वथा त्याग किया है वही सच्चा अनगार कहा

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

जाता है। तथारूप अनगार को चाहिये कि जिस श्रद्धा के साथ प्रव्रज्या-मार्ग अंगीकार किया है उसमें किसी प्रकार की शंका नहीं लाता हुआ यावज्जीवन उसी श्रद्धा का पालन करता रहे।

विवेचन—अनगार के लक्षण बताते हुए सूत्रकार ने प्रथम लक्षण "उज्जुकडे" बताया है इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि साधु को सर्व प्रथम अपना अन्तःकरण सरल बनाना चाहिये क्योंकि हृदय की सरलता के बिना संयम की पात्रता ही नहीं आती है। यही बात अन्यत्र भी कही है कि "सोही य उज्जुभूयस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ"। अर्थात् सरल हृदय वाले की ही शुद्धि होती है और शुद्धस्थान पर ही धर्म रह सकता है अतः साधु वही है जो जैसा विचारता है वैसा ही बोलता है, जैसा बोलता है वैसा ही आचरण करता है अर्थात् मनसा, वाचा, कर्मणा जो एक होता है वही अनगार है। अन्तःकरण सरल होने पर अन्य गुणों को टिकने के लिये भूमिका मिल जाती है अतः सरल स्वभावी क्रमशः सर्वगुणसम्पन्न बन सकता है। इसी तरह इस बात को विशेष पुष्ट करने के लिए 'अमायं कुव्वमाणे' यह विशेषण भी दिया गया है। अर्थात् माया द्वारा अपनी शक्ति का गोपन नहीं करते हुए संयमानुष्ठान करना चाहिये। यहाँ माया शब्द से संयम में शक्ति का गोपन करने का अर्थ लिया गया है। इस माया-वल्ली को सर्व कषायों की तथा भवभ्रमण की जड़ जानकर समूल नष्ट करना चाहिये।

'जाए सद्धाए' इस सूत्र से सूत्रकार सदा जागृत रहने का उपदेश फरमाते हैं। इसका आशय यह है कि प्रव्रज्या अङ्गीकार करते समय प्रायः करके वर्धमान परिणाम ही होते हैं बाद में संयमश्रेणी को अङ्गीकार करने पर वर्धमान-परिणाम, हीयमान परिणाम और अवस्थित परिणाम तीनों हो सकते हैं। वृद्धिकाल और हानिकाल एक समय से लेकर उत्कृष्ट से उत्कृष्ट एक अन्तर्मुहूर्त है। परिणामों की शृंखला अन्तर्मुहूर्त तक ही एकरूप रह सकती है पश्चात् उसमें परिवर्तन अवश्य होता है। अवस्थित परिणाम की स्थिति आठ समय की है। यह परिणामों की धारा निश्चय दृष्टि से केवलिगम्य है। यद्यपि प्रव्रज्या अङ्गीकार करने के बाद कोई महाभाग्यवान् प्राणी प्रवर्धमान परिणाम वाला भी होता है क्योंकि जैसे २ श्रुत-ज्ञान रूपी सागर में अवगाहन करता है त्यों त्यों उसकी संवेगभावना बढ़ती जाती है तो भी प्रायः ऐसे प्राणी विरले हैं-प्रायः करके परिणामों में आंशिक एवं अपेक्षाकृत हीनता आती है इसलिए सूत्रकार वैसी ही प्रबल वर्धमान श्रद्धा रखने के लिये फरमाते हैं कि यावज्जीवन शंकाहीन होकर उसी श्रद्धा का पालन करे। अर्थात् त्याग ग्रहण करने के बाद सदा जागृत रहना चाहिये क्योंकि पहिले के संस्कारों द्वारा संयम में निर्बलता आजाने की संभावना रहती है। क्योंकि पूर्व संस्कार जब प्रबल होते हैं तब त्याग भाव, दृढ-वैराग्य और प्रबल सामर्थ्य क्षण भर में नष्ट हो जाते हैं। ऐसे कई उदाहरण बन चुके हैं जिनमें पूर्व संस्कारों की प्रबलता से आत्मा का पतन हुआ है। विचारों की जरासी मलिनता चारित्र की सुगंध को दूषित कर देती है। अतः वीरता पूर्वक अन्तर्द्वन्द्वों पर विजय पाने के लिये आत्मिक गुणों का विकास करते रहना चाहिये। सच्ची वीरता इसी का नाम है कि आभ्यन्तर शत्रुओं को जीतने के लिये आन्तरिक शस्त्रों का उपयोग करते हुए अपनी प्रबल श्रद्धा द्वारा अन्तर्द्वन्द्वों पर विजय प्राप्त की जाय।

कहीं कहीं "विजहित्ता पुव्वसंजोगं" ऐसा पाठान्तर मिलता है-इसका अर्थ यह है कि माता-पिता श्वसुर धन वैभव आदि पूर्व के संस्कारों को छोड़कर प्रबल श्रद्धा के साथ संयम-पालन करे। इसी आधार पर उपर्युक्त विवेचन समझना चाहिये।

आगे के सूत्र में यह बताते हैं कि भूतकाल में अनेक महापुरुषों ने इस मार्ग का अवलम्बन लेकर आत्म-कल्याण किया है:—

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

पणया वीरा महावीहिं। लोगं च आणाए अभिसमेच्चा अकुओभयं (२०)

संस्कृतच्छाया—प्रणताः वीरा महावीथिम्। लोकञ्चाज्ञयाभिसमेत्याकुतोभयम्।

शब्दार्थ—वीरा=वीर पुरुष। महावीहिं=महान् मोक्ष मार्ग में। पणया=पराक्रम कर चुके हैं। लोगं च=और अप्काय लोक को। आणाए=भगवान् की आज्ञा से। अभिसमेच्चा=जान करके। अकुओभयं=अभयरूप संयम का पालन करे।

भावार्थ—इस महान् मोक्षमार्ग में अनेक महापुरुष पराक्रम कर चुके हैं। यह मार्ग भूतकाल में अनेक धीरों द्वारा सेवित होने से शंकादि-रहित है। भगवान् की आज्ञा से अप्काय जीवों को जानकर उनकी यतना करें। उनके विषय में पूरा संयम रखें।

विवेचन—भूतकाल में इस मोक्षमार्ग पर अनेक वीर पुरुष चले हैं और इष्टस्थान को पाया है यह कहकर शिष्य को इस मार्ग पर चलने में किसी प्रकार शंका न करनी चाहिये, इस प्रकार का विश्वास दिलाया गया है। यह अनुभूत एवं परीक्षित है अतः इसमें शंकारहित होकर प्रवृत्ति करनी चाहिये। अकुओभयं का अर्थ संयम किया गया है। इसका कारण यह है कि संयम से जन्तुओं को किसी प्रकार का भय नहीं रहता है। अतः संयम ही ऐसा है जो दूसरों को निर्भय बना सकता है। संयम द्वारा प्राणी स्वयं निर्भय होता है और अन्य को निर्भय बनाता है। प्राणी के अन्तर में जब प्रेम का अखंड स्रोत प्रवाहित होता है तब सारा संसार (छोटा सा प्राणी भी) उससे निर्भय रहता है। यही सच्ची निर्भयता है। अकुओभयं को जब लोक का विशेषण मानते हैं तो यह अर्थ भी संगत ही है कि लोक (अप्काय के जीव) किसी से डरना नहीं चाहता है। वह सदा निर्भय रहना चाहता है अतएव यह कर्त्तव्य है कि हम उसे निर्भय बनादें। अर्थात् उसे मरण-भीरु होने से बचावें। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक प्राणी मृत्यु से डरता है अतएव हमें हमारी तरफ से संयमद्वारा उसे निर्भय बना देना चाहिये।

से बेमि णेव सयं लोगं अब्भाइक्खेज्जा, णेव अत्ताणं अब्भाइक्खेज्जा, जे लोयं अब्भाइक्खति, से अत्ताणं अब्भाइक्खति, जे अत्ताणं अब्भाइक्खति, से लोयं अब्भाइक्खति (२१)

संस्कृतच्छाया—तद् ब्रवीमि नैव स्वयं लोकं प्रत्याचक्षीत नैवात्मानं प्रत्याचक्षीत यः लोकमभ्याख्याति स आत्मानमभ्याख्याति, य आत्मानमभ्याख्याति स लोकमभ्याख्याति।

शब्दार्थ—से बेमि=मैं कहता हूं। सयं=स्वयं लोगं=लोक का (अप्काय जीवों का) णेव अब्भाइक्खेज्जा=अपलाप (निषेध) न करे। अत्ताणं=आत्मा का। णेव अब्भाइक्खेज्जा=अपलाप न करे। जे=जो। लोयं अब्भाइक्खति=अप्काय के जीवों का अपलाप करता है। से अत्ताणं

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

अब्भाइक्खति=वह अपने आपका अपलाप करता है। जे अत्ताणं अब्भाइक्खति=जो आत्मा का अपलाप करता है। से लोयं अब्भाइक्खति=वही अप्काय लोक का अपलाप करता है।

भावार्थ—हे जम्बू ! मैं कहता हूं कि प्राणियों के (प्रसंग से अप्काय के जीवों के) चैतन्य का अपलाप नहीं करना चाहिये। इसी तरह आत्मा के अस्तित्व का भी निषेध नहीं करना चाहिये। जो अप्-कायादि प्राणियों के चैतन्य का अपलाप करता है वह अपने चैतन्य का अपलाप करता है। जो अपने चैतन्य का अपलाप करता है वही अन्य (जलादि) प्राणियों के चैतन्य का निषेध करता है।

विवेचन—इस सूत्र द्वारा सूत्रकार आत्मा के अस्तित्व के साथ ही जलकाय में भी जीव है यह सिद्ध करते हैं। संसार में अनेक प्रकार के प्राणी हैं और सभी चैतन्य वाले हैं। जिस प्रकार मनुष्यों की आत्मा भी नानाविध कर्मोदय से छोटी-बड़ी काया धारण करती है उसी प्रकार जलादि सूक्ष्म जीवों की भी विविध प्रकार की आकृति होती है अतः उन्हें भी अपने समान चैतन्यसम्पन्न समझना चाहिये

कई वादी अप्काय की चेतनता का अपलाप करते हुए कहते हैं कि पानी उपयोग की वस्तु होने से केवल घी तेल की तरह उपकरण मात्र है इसमें चेतन नहीं है परन्तु उनका यह कथन मिथ्या है क्योंकि उपकरण (काम में आने वाला) मात्र से अगर अजीव हो जाते हैं तो हाथी इत्यादि भी सवारी के उप-करण हैं इसलिये वे भी अचित्त होने चाहिये किन्तु वे सचेतन हैं। उसी तरह जलकाय भी उपकरण होने पर भी सचेतन है।

जिस प्रकार नवीन गर्भ में उत्पन्न हाथी का शरीर कलल अवस्था में द्रव रूप होता है किन्तु वह सचेतन है उसी प्रकार द्रवरूप जल भी सचेतन है। सात दिन तक हाथी का शरीर गर्भ में कलल (पानीरूप) रूप रहता है बाद में उसमें कठोरता आती है तो सात दिन तक कलल जिस प्रकार सचित्त समझा जाता है उसी तरह द्रवात्मक जलकाय को भी सचित्त समझना चाहिये। तथा जिस प्रकार अण्डे में रहा हुआ पानी सचित्त है उसी तरह जल भी सचित्त है।

अनुमान द्वारा जलकी सचेतनता सिद्ध करते हैं—जल सचेतन है क्योंकि शस्त्र द्वारा अनुपहत होते हुए द्रवरूप है, जैसे हाथी के शरीर का कारणरूप कलल। 'शस्त्रद्वारा अनुपहत' इस विशेषण से प्रस्रवण (पेशाब) का निषेध हो जाता है। इसी तरह जल सचेतन है—अनुपहत द्रवरूप होने से—जैसे अण्डे में रहा हुआ पानी। जल सचित्त है क्योंकि भूमि को खोदने पर स्वाभाविक रूप से यह प्रकट होता है जैसे मेंढक। भूमि खोदने पर क्वचित् निकला हुआ मेंढक सचेतन है वैसे ही भूमि खोदने पर स्वाभाविक निकला हुआ जल भी सचित्त है। इत्यादि अनेक अनुमानों द्वारा जल की सचेतनता सिद्ध होती है। इस तरह सचेतन जलकाय का जो अपलाप करते हैं वे मानों अपनी आत्मा का अपलाप करते हैं। एक एक चार्वाक आदि नास्तिक आत्मा का निषेध करते हैं; वे कहते हैं कि पंचभूतात्मक शरीर में ही चैतन्य गुण है उससे व्यतिरिक्त आत्म-तत्त्व पृथक् नहीं है परन्तु उनका यह कथन युक्तिरहित है क्योंकि पंचभूत स्वयं जड़ हैं तो उनसे चैतन्य कैसे प्रकट हो सकता है ? जिस प्रकार बालुका से तेल नहीं निकल सकता है उसी प्रकार जड़ से चैतन्य कभी प्रकट नहीं हो सकता। दूसरा दोष यह आता है कि उनके मत में पंचभूत व्यापक और नित्य माने गये हैं तो मृतशरीर में भी उनका सद्भाव है तो वहाँ भी चैतन्य प्रकट होना चाहिये

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

परन्तु वहां चैतन्य नहीं है इसलिये स्पष्ट प्रतीत होता है कि पंचभूतात्मक देह से पृथक् आत्मा नामक द्रव्य है और चेतना उसीका गुण है।

आत्मा का अस्तित्व अनेक प्रमाणों से सिद्ध है। प्रत्येक प्राणी को यह स्वसंवेदन (ज्ञान) होता है कि "मैं हूं"। यही संवेदन आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करता है। क्योंकि 'मैं हूं' इसमें 'मैं' शब्द आत्मा के लिये ही प्रयुक्त होता है। कदाचित् यह कहा जा सकता है कि यहां "मैं" शब्द आत्मा को नहीं लेकिन शरीर को बताता है किन्तु यह कथन युक्ति-संगत नहीं है। क्योंकि "मैं शरीर हूं" ऐसा प्रयोग नहीं होता है बल्कि ऐसा होता है कि मेरा शरीर है। जिस प्रकार "मेरा धन" ऐसा कहने से धन उसके मालिक से जुदा प्रतीत होता है ठीक इसी करह "मेरा शरीर" यह प्रयोग बतलाता है कि शरीर का अधिष्ठाता कोई न कोई है, जो शरीर का अधिष्ठाता है वही आत्मा है।

अब अनुमानों द्वारा आत्मा की सिद्धि की जाती है—"इस शरीर को ग्रहण करने वाला कोई न कोई द्रव्य है क्योंकि यह शरीर कफ, रुधिर अंगोपांग आदि का परिणाम मात्र है। अन्नादि की तरह। जैसे अन्न को ग्रहण करने वाला कोई न कोई है वैसे ही शरीर को ग्रहण करने वाला भी कोई द्रव्य है वही द्रव्य आत्मद्रव्य है।

(२) इन्द्रियों को प्रवृत्ति कराने वाला कोई द्रव्य है क्योंकि इन्द्रियाँ करण (साधन रूप) हैं कुठार आदि की तरह। जिस प्रकार कुठार स्वयं कोई क्रिया नहीं कर सकता है किन्तु जब कर्त्ता उसका उपयोग करता है तभी वह क्रिया करता है। उसी प्रकार इन्द्रियाँ स्वयं पदार्थों को नहीं जान सकती हैं क्योंकि वे साधन मात्र हैं। उन इन्द्रियों का उपयोग करने वाला कर्त्ता होना चाहिये वही आत्मा है। इसतरह अनेक प्रमाणसिद्ध आत्मद्रव्य अवश्य है। वर्तमान समाचारपत्रों में पुनर्जन्म को सिद्ध करने वाली अनेक घटनाएं पढ़ने में आती हैं। पुनर्जन्म आत्मसिद्धि का अकाट्य एवं प्रबल प्रमाण है। अनेक महार्षियों और तपस्वी जनोंने अपने दीर्घकालीन अनुभव के पश्चात् अपनी साधना के फलस्वरूप यह बताया है कि आत्मद्रव्य है। उन निस्पृह एवं आप्त पुरुषों के वचन कदापि उपेक्षणीय नहीं हो सकते।

आधुनिक वैज्ञानिकों ने तो वनस्पति में हास्य, क्रोध, अहंकार, राग आदि भावों का स्पष्ट अनुभव करा दिया है। वैज्ञानिकों ने यह सिद्ध कर दिया है कि जल की एक बिन्दु में असंख्य जीव हैं। जब जल वनस्पति आदि सूक्ष्म चेतना वालों की चेतनता व्यक्त हो रही है ऐसी अवस्था में आत्मामात्र का अपलाप करना मात्र बकवाद ही है। अतः अप्काय को सचेतन समझ कर उनका संयम करना चाहिये।

लज्जमाणा पुढो पास, अणगारा मो त्ति एगे पवयमाणा, जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं उदयकम्मसमारंभेणं, उदयसत्थं समारंभमाणा अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसति (२२)

संस्कृतच्छाया—*लज्जमानान्पृथक् पश्य, अनगारा स्म इत्येके प्रवदन्तः यदिदं विरूपरूपैः शस्त्रैः उदककर्मसमारम्भेण उदकशस्त्रं समारभमानाः अन्यानप्यनेकरूपान् प्राणान् हिनस्ति।*

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

शब्दार्थ—लज्जमाणा=सावद्यअनुष्ठान से शरमाने वालों को। पुढो=पृथक्। पास=देख। अणगारा मो त्ति=हम अणगार हैं ऐसा। एगे=एकएक शाक्यादि साधु। पवयमाणा=अभिमान से बोलते हुए भी। जमिणं=इस अप्काय को। विरूवरूवेहिं=विविध प्रकार के। सत्थेहिं=शस्त्रों द्वारा। उदयकम्मसमारंभेण=जलकाय सम्बन्धी क्रिया का आरम्भ करने से। उदयसत्थं=अप्काय के शस्त्र का। समारंभमाणा=प्रयोग करते हुए। अणेगे=अन्य। अणेगरूवे=अनेक प्रकार के। पाणे=प्राणियों की। विहिंसति=हिंसा करते हैं।

भावार्थ—हे जम्बू! कितने ही सुसाधु अप्काय की हिंसा से शरमाते हुए प्राणियों को पीड़ा नहीं पहुँचाते हैं, यह तू देख। कितने ही नामधारी शाक्यादि साधु हम अनगार हैं ऐसा अभिमान पूर्वक कहते हैं परन्तु वे अप्काय के जीवों को, तत्सम्बन्धी क्रिया का आरम्भ करते हुए अनेक प्रकार के शस्त्रों द्वारा, पीड़ा पहुंचाते हुए अन्य भी अनेक जीवों की हिंसा करते हैं।

तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइया। इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदणमाणणपूयणाए, जाइमरणमोयणाए, दुक्खपडिघायहेउं, से सयमेव उदयसत्थं समारंभति, अण्णेहिं वा उदयसत्थं समारंभावेति, अण्णे वा उदयसत्थं समारंभंते समणुजाणइ, तं से अहियाए, तं से अबोहिए (२३)

संस्कृतच्छाया—*तत्र खलु भगवता परिज्ञा प्रवेदिता। अस्य चेव जीवितस्य परिवन्दनमाननपूजनाय जातिमरणमोचनाय दुःखप्रतिघातहेतुं स स्वयमेवोदकशस्त्रं समारभते, अन्यैर्वा उदकशस्त्रं समारम्भयति, अन्यान्वा उदकशस्त्रं समारभमाणान्समनुजानीते तत् तस्याहिताय तत्तस्य अबोधिलाभाय।*

शब्दार्थ—तत्थ=अप्काय के विषय में। भगवया=भगवान् महावीर ने। परिण्णा=परिज्ञा। पवेइया=कही है। इमस्स चेव=इसी। जीवियस्स=जीवननिर्वाह के लिए। परिवंदण=प्रशंसा। माणणपूयणाए=मान और पूजा के लिए। जाइमरणमोयणाए=जन्म-मरण से छूटने के लिए। दुक्खपडिघायहेउं=दुःखों का निवारण करने के लिए। से=वह असंयमी पुरुष। सयमेव=स्वयं। उदयसत्थं समारभति=अप्काय का आरंभ करता है। अण्णेहिं वा=अथवा अन्य से। उदयसत्थं समारंभावेति=अप्काय का आरम्भ करवाता है। उदयसत्थं समारंभंते अण्णे वा=अप्काय का आरंभ करते हुए दूसरों को। समणुजाणइ=अच्छा समझता है। तं=यह। से=उसके। अहियाए=अहित के लिए है। तं से=यह उसके लिए। अबोहिए=मिथ्यात्व बढाने वाला है।

भावार्थ—हे जम्बू! भगवान् ने इस विषय में परिज्ञा समझाते हुए फरमाया है कि असंयमी अज्ञानी, इस चञ्चल जीवन को चिरकाल तक टिकाने के लिए, प्रशंसा, मान और पूजा के लिए जन्म-

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

मरण से छूटने के लिए और दुख से छुटकारा पाने के लिए स्वयं अप्काय की हिंसा करता है, अन्य से करवाता है, करते हुए अन्य को अनुमोदन देता है। यह हिंसा उसके अहित और अज्ञान को बढ़ाने वाली होती है।

से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाए सोच्चा भगवओ, अणगाराणं वा अन्तिए, इहमेगेसिं णायं भवति, एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णरए इच्चत्थं गढिए लोए जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं उदयकम्मसमारंभेणं, उदयसत्थं समारंभमाणा अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ (२४)

संस्कृतच्छाया—*स तत् सम्बुध्यमानः आदानीयं समुत्थाय श्रुत्वा भगवतोऽनगाराणां वान्तिके इहैकेषां ज्ञातं भवति एष खलु ग्रन्थः, एष खलु मोहः, एष खलु मारः एष खलु नरकः इत्येवमर्थं गृद्धो लोकः यदिमं विरूपरूपैः शस्त्रैः उदककर्मसमारम्भेणोदकशस्त्रं समारभमाणोऽन्याननेकरूपान् प्राणिनो हिनस्ति।*

शब्दार्थ—से=वह अप्काय को सचित्त मानने वाला। तं=अप्काय के आरम्भ को अहित रूप। संबुज्झमाणे=जानता हुआ। आयाणीयं=ग्राह्य मोक्षमार्ग को। समुट्ठाए=अंगीकार करके। सोच्चा भगवओ=साक्षात् भगवान् का उपदेश सुनकर। अणगाराणं वा अंतिए=निर्ग्रन्थ-साधुओं से सुनकर। इह=इस मनुष्य जन्म में। एगेसिं=कितनेक व्यक्तियों को। णायं भवति=यह ज्ञात हो जाता है कि। एस=अप्काय का यह समारंभ। खलु=निश्चय से। गंथे=आठ कर्मों की गांठ है। एस खलु मोहे=यही मोहरूप है। एस खलु मारे=यही मरण का कारण है। एस खलु णरए=यही नरक का कारण है। इच्चत्थं=संसार के खानपान और कीर्ति में। गढिए=मूर्छित होकर। लोए=प्राणी। जमिणं=इस पृथ्वीकाय को। विरूवरूवेहिं सत्थेहिं=विविध शस्त्रों से। उदयकम्मसमारंभेण=अप्काय का आरंभ करने से। उदयसत्थं समारंभमाणा=अप्काय के शस्त्रों का प्रयोग करके हिंसा करते हुए। अण्णे अणेगरूवे=अन्य अनेक प्रकार के। पाणे=प्राणियों की। विहिंसइ=हिंसा करते हैं।

भावार्थ—सर्वज्ञ देव अथवा श्रमण जनों से आत्मविकास के लिये आदरणीय ज्ञान दर्शन एवं चारित्र को प्राप्त करके कितनेक जीव यह समझते हैं कि यह हिंसा आठ प्रकार के कर्मों के बन्धन का कारण है, मोह का कारण है, जन्म-मरण का हेतु है और नरक में ले जाने का कारण है। किन्तु जो प्राणी खानपान कीर्ति लालसा आदि में अति गृद्ध हैं वे भिन्न २ प्रकार के शस्त्रों द्वारा अप्काय के समारम्भ से अप्काय के जीवों की हिंसा करते हुए अन्य जीवों की भी हिंसा करते हैं।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

से बेमि, संति पाणा उदयनिस्सिआ, जीवा अणेगे। इह खलु भो! अणगाराणं उदयजीवा वियाहिया। सत्थं चेत्थ अणुवीइ, पास। पुढो सत्थं पवेइयं (२५)

संस्कृतच्छाया—*सोऽहं ब्रवीमि सन्ति प्राणिनः उदकनिश्रिताः जीवाः अनेके। इह च खलु भो! अनगाराणामुदकजीवाः व्याख्याताः, शस्त्रञ्चात्रानुविचिन्त्य पश्य। पृथक् शस्त्रं प्रवेदितम्।*

शब्दार्थ—**से बेमि=मैं कहता हूँ। संति पाणा=प्राणी रहे हुए हैं। उदयनिस्सिया=जल के आश्रित। जीवा अणेगे=अनेकों जीव हैं। इह च खलु=इस जैन शासन में। अणगाराणं=साधुओं को। उदयजीवा=पानी स्वयं सजीव। वियाहिया=कहा गया है। सत्थं चेत्थं=अप्काय के शस्त्र। अणुवीइ=विचार कर। पास=देख। पुढो=भिन्न भिन्न। सत्थं=शस्त्र। पवेइयं=कहे गये हैं।**

भावार्थ—हे जम्बू! पानी के अन्दर और भी अनेकों मत्स्यादि प्राणी रहे हुए हैं। परन्तु जैन शासन में तो पानी स्वयं सजीव कहा गया है (इसलिए साधुओं के लिए शस्त्रपरिणत जल ही कल्पनीय कहा गया है) अप्काय के अनेक भिन्न-भिन्न शस्त्र कहे गये हैं उनका पूरा विचार करना चाहिए।

विवेचन—कई वादियों के मत में जलवर्त्ती बेइन्द्रियादि जीव ही जीवरूप माने गये हैं। वे पानी को जीवरूप नहीं मानते किन्तु जैनागमों में पानी स्वयं भी सजीव कहा गया है। यहाँ यह प्रश्न होता है कि अगर जलमात्र सजीव है तो जलपान करने से साधु भी प्राणातिपात के भागी होने चाहिये। इसका यों समाधान किया जाता है कि जैनागमों में तीन तरह के अप्काय कहे गये हैं १-सचित्त २-मिश्र और अचित्त। इनमें जो अचित अप्काय है वही साधुओं के लिये कल्पनीय है, सचित्त और मिश्र नहीं। फिर प्रश्न होता है कि यह अचित्त कैसे होता है? स्वाभाविक अचित्त होता है या शस्त्र के संबन्ध से? तो कहा जाता है कि दोनों तरह से अचित्त होता है। जो स्वभावतः अचित्त होता है तथा जिसमें बाह्य शस्त्र का सम्पर्क नहीं हुआ है वह जल केवली, मनःपर्यवज्ञानी एवं अवधिज्ञानी अचित्त जानते हुए भी ग्रहण नहीं करते क्योंकि उनके ऐसा करने से मर्यादाभङ्ग होने का डर रहता है। जैसा कि गुरुपरम्परा से सुना जाता है कि भगवान महावीर ने पूर्ण निर्मल जल से उल्लसित तरंगों वाला, काई तथा त्रसादि जीव रहित और जिसमें पानी के सभी जीव अचित्त हो गये थे ऐसा एक अचित्त जल से भरा हुआ बड़ा भारी कुण्ड देखकर भी, प्यास से पीड़ित अपने शिष्यों को वह पानी पीने की आज्ञा न दी। कारण यह है कि अचित्त पानी का निश्चय विशिष्टज्ञान द्वारा ही हो सकता है श्रुतज्ञान द्वारा नहीं। साधुओं को श्रुतज्ञान के आधार से ही चलने का होता है इसलिए श्रुतज्ञान की प्रमाणता के लिये और मर्यादा रक्षण के लिए प्रभु ने वह अचित्त जल पीने की आज्ञा न दी। सामान्य श्रुतज्ञानी तो ईन्धनादि बाह्य शस्त्रों के सम्पर्क से ही जल को अचित्त हुआ जानता है इसलिए बाह्यशस्त्र से जिसके वर्ण, गंध, रस और स्पर्श बदल गये हों वही जल मुनियों के लिये कल्पनीय है। अप्कायशस्त्र ईन्धन, उत्सिंचन, उपकरण धोना आदि अनेक प्रकार के कहे गये हैं। सो स्वयं विचारने योग्य हैं। 'पुढोऽपासं पवेदितं' ऐसा पाठांतर भी मिलता है

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

इसका अर्थ यह है कि विभिन्न शस्त्रों द्वारा परिणत अचित्त जल का ग्रहण करना कर्मबन्धन का कारण नहीं है।

जो अप्काय आदि की हिंसा करते हैं उन्हें केवल प्राणातिपात का ही दोष नहीं लगता लेकिन अदत्तादान का भी दोष लगता है। यह सूत्रकार आगे बताते हैं:—

अदुवा अदिन्नादाणं (२६)

संस्कृतच्छाया—*अथवा अदत्तादानम्।*

शब्दार्थ—अदुवा=अथवा। अदिन्नादाणं=अदत्तादान भी होता है।

भावार्थ—अप्काय की हिंसा करने वालों को अदत्तादान (चोरी) का दोष भी लगता है (क्योंकि वे हिंसक अप्काय के जीवों के शरीर को उनकी आज्ञा लिये बिना ही ग्रहण करते हैं)।

विवेचन—अप्काय के जन्तुओं ने जो शरीर धारण कर रखे हैं उन शरीरों को, उनकी आज्ञा के बिना ले लेना चोरी नहीं तो क्या है? जैसे कोई मनुष्य दूसरों की वस्तुओं को उनके स्वामी की आज्ञा के बिना ग्रहण करता है तो वह चोर कहा जाता है, ठीक उसी तरह अप्काय के जीवों के शरीरों को बिना उनकी आज्ञा के हरण करना चोरी करना ही है। कोई यों कहे कि कूप, तालाब सरोवर इत्यादि जिसके अधिकार में हैं उसकी आज्ञा लेकर उनका जलपान किया जाय तब तो अदत्तादान नहीं है क्योंकि स्वामी की आज्ञा लेली गई है, तो उनका यह कथन योग्य नहीं है। क्योंकि अप्काय के जीवों के शरीर का मालिक अप्काय के जीव के अतिरिक्त अन्य नहीं हो सकता। परमार्थ दृष्टि से कोई किसी दूसरे जीव का स्वामी नहीं हो सकता है। यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि गौदान आदि का सर्वलोकप्रसिद्ध व्यवहार इससे टूट जायगा क्योंकि गाय का स्वामी गाय के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं तो देने वाला कैसे गौदान कर सकेगा? आचार्य फरमाते हैं कि भले ही यह व्यवहार टूटे। वस्तुतः ऐसी ही वस्तु देने योग्य है जिससे स्वयं को दुःख न हो, जो अन्य के लिये दुःख का कारण न हो और देने वाले और लेने वाले दोनों के लिये एकान्त उपकारक हो। कहा है—यत्स्वयमदुःखित स्यान्न च परदुःखे निमित्तभूतमपि। केवलमुपग्रहकरं धर्मकृते तद् भवेद्देयम्। अतः सिद्ध हुआ कि अप्काय की हिंसा करने वालों को अदत्तादान का पाप भी लगता है।

कप्पति णे, कप्पति णे पाउं, अदुवा विभूसाए, पुढो सत्थेहिं विउट्टन्ति एत्थ वि तेसिं नो निकरणाए (२७)

संस्कृतच्छाया—*कल्पते नः, कल्पते नः पातुमथवा विभूषार्थम्, पृथक्शस्त्रैः व्यावर्त्तयन्ति एतस्मिन्नपि तेषां नो निकरणाय।*

शब्दार्थ—कप्पति णे=हमको कल्पता है। पाउं=पीने के लिए। अदुवा=अथवा। विभूसाए=प्रक्षालनादि विभूषा के लिये। पुढो सत्थेहिं=विविध प्रकार से शस्त्रों से। विउट्टन्ति=

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

अप्काय की हिंसा करते हैं। एत्थ वि तेसिं=उनका यह कथन भी। नो-निकरणाए=निश्चय करने में समर्थ नहीं है।

भावार्थ—अन्य मतावलम्बी कहते हैं कि हमारे आगमों में जल को अचेतन मानकर उसको ग्रहण करने का निषेध नहीं है इसलिए पीने के लिये अथवा स्नानादि शोभा के लिये जल का उपयोग करना हमें कल्पता है। ऐसा कहकर वे अप्काय का विविध शस्त्रों से छेदन भेदन करते हैं परन्तु उनका यह कथन और उनके आगम निश्चय करने में समर्थ नहीं हैं।

विवेचन—जल का आरम्भ करने वालों को जब पूछा जाता है कि तुम यह आरम्भ क्यों करते हो? तो वे कहते हैं कि हमारे आगमों में ऐसा प्रतिपादन किया गया है कि पीने और विभूषा के लिए यतियों को जल कल्पता है। जैसे—आजीविक पन्थी और भस्मस्नायी कहते हैं कि जल पीना कल्पता है, विभूषा करना नहीं। शाक्य और परिव्राजक वगैरह स्नान के लिये, पीने के लिए जल ग्रहण करना कल्पनीय मानते हैं परन्तु आचार्य फरमाते हैं कि उनका कथन और उनके माने हुए आगम दोनों ही युक्तियों द्वारा खंडित होते हैं अतः वे निश्चय करने में समर्थ नहीं हैं। पहिले अप्काय में जीव है यह युक्तियों द्वारा सिद्ध किया जा चुका है अतः अप्काय को सचित्त नहीं मानना अज्ञानता का द्योतक है। उनका आगम ऐसा विधान करता है तो वह आगम अप्रमाण है क्योंकि उनका कर्त्ता आप्त नहीं है। अगर आप्त कर्त्ता हो तो अप्काय की चेतनता का निषेध नहीं कर सकता। अनाप्त प्रणीत आगम अप्रमाण ही है। विभूषा के लिये समारम्भ करना त्यागियों के लिये अनुपयुक्त है। क्योंकि स्नानादि विभूषा त्यागियों के लिए सर्वथा वर्जनीय है। कहा भी है:—

स्नानं मददर्पकरं कामाङ्गं प्रथमं स्मृतम्। तस्मात्कामं परित्यज्य नैव स्नान्ति दमे रताः ॥१॥

अर्थात्—स्नान करना यह मद और अहंकार का कारण है। कामभोग का प्रथम अंग है इसलिये काम का त्याग करने वाले जितेन्द्रिय संयमी स्नान का सर्वथा त्याग करते हैं। शौच के लिये भी जल अनिवार्य नहीं है। क्योंकि आभ्यन्तर शुद्धि जल से नहीं हो सकती है। बाह्य शुद्धि से त्यागियों को क्या प्रयोजन? उपरोक्त कारणों से यह सिद्ध होता है कि जल सचेतन है अतएव त्यागियों को सर्वथा उसका संयम करना चाहिये और अचित्त शस्त्रपरिणत जल का उपयोग जीवननिर्वाह के लिये, करना चाहिये।

एत्थ सत्थं समारभमाणस्स इच्चेते आरंभा अपरिण्णाया भवन्ति। एत्थ सत्थं असमारभमाणस्स इच्चेते आरम्भा परिण्णाया भवंति। तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं उदयसत्थं समारंभेज्जा, णेवऽण्णेहिं उदयसत्थं समारंभावेज्जा, उदयसत्थं समारंभंतेवि अण्णे न समणुजाणेज्जा, जस्सेते उदयसत्थसमारंभा परिण्णाया भवंति से हु मुणी परिण्णायकम्मे त्ति बेमि (२८)

संस्कृतच्छाया—*अत्र शस्त्रं समारभमाणस्य इत्येते आरम्भाः अपरिज्ञाताः भवन्ति। अत्र शस्त्रम-समारभमाणस्य इत्येते आरम्भा परिज्ञाता भवन्ति। तत्परिज्ञाय मेधावी नैव स्वयमुदकशस्त्रं समारभेत*

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

नैवान्यैरुदकशस्त्रं समारम्भयेत्, उदकशस्त्रं समारभमाणान् अन्यान् न समनुजानीयात् । यस्यैते उदकशस्त्र-समारम्भाः परिज्ञाता भवन्ति स एव मुनिः परिज्ञातकर्मेति ब्रवीमि ।

शब्दार्थ—एत्थ=अप्काय में । सत्थं समारभमाणस्स=शस्त्र का प्रयोग करने वाले को इच्चेए=ये पूर्वोक्त । आरम्भा=हिंसादि क्रियाएँ । अपरिण्णाया=कर्मबन्धन की कारण रूप ज्ञात नहीं । भवन्ति=होती हैं । एत्थ=अप्काय में, सत्थं असमारभमाणस्स=शस्त्र का प्रयोग नहीं करने वाले को । इच्चेते=ये पूर्वोक्त । आरंभा=हिंसादि क्रियाएँ । परिण्णाया भवंति=कर्म बन्धन की कारण रूप ज्ञात होती हैं । तं परिण्णाय=यह जानकर । मेहावी=बुद्धिमान् पुरुष । णेव सयं उदय-सत्थं समारंभेज्जा=स्वयं अप्काय शस्त्र का प्रयोग न करे । णेवण्णेहिं उदयसत्थं समारंभावेज्जा=न दूसरों से अप्काय शस्त्र का प्रयोग करावे । उदयसत्थं समारंभंते वि अण्णे ण समणुजाणेज्जा= अप्काय शस्त्र का प्रयोग करते हुए अन्य को अच्छा न समझे । जस्सेते=जिसको ये । उदयसत्थ-समारम्भा=अप्काय की हिंसा । परिण्णाया भवंति=कर्मबन्धन रूप से ज्ञात होती है । से हु=वही निश्चय से । पुण्णी परिण्णायकम्मे=विवेक-सम्पन्न मुनि है । त्ति बेमि=ऐसा मैं कहता हूँ ।

भावार्थ—जो अज्ञानी एवं हिंसकवृत्ति वाले हैं वे हिंसा करते हुए भी हिंसक क्रिया के भान से रहित होते हैं और जो अहिंसकवृत्ति वाले हैं वे आरम्भ के फल को जानकर हिंसादि आरम्भ नहीं करते हैं । यह जानकर बुद्धिमान् पुरुष स्वयं अप्काय की हिंसा न करे, अन्य से न करावे और करते हुए को अनुमोदन न दे । इस प्रकार अप्काय के आरंभ को अहितकर जानकर जो श्रमण उसका त्याग करते हैं वे ही परिज्ञासम्पन्न (विवेकी) मुनि कहे जाते हैं । ऐसा श्रमण भगवान् महावीर ने कहा है सो हे जम्बू! मैं तुझे कहता हूँ ।

इति तृतीयोद्देशकः

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

शस्त्रपरिज्ञा नाम प्रथम अध्ययन

का

—चतुर्थोद्देशकः—

तृतीयोद्देशक में अप्काय का वर्णन कर तद्विषयक विरति का प्रतिपादन किया गया है। अब क्रम-प्राप्त तेउकाय का वर्णन करते हुए, उसकी सजीवता का जो निषेध करते हैं उनको शिक्षा देते हैं:—

से बेमि णेव सयं लोगं अब्भाइक्खेज्जा, णेव अत्ताणं अब्भाइक्खेज्जा, जे लोगं अब्भाइक्खति से अत्ताणं अब्भाइक्खति, जे अत्ताणं अब्भाइक्खति से लोगं अब्भाइक्खति (२६)

संस्कृतच्छाया—*सोऽहं ब्रवीमि नैव स्वयं लोकं प्रत्याचक्षीत, नैवात्मानं प्रत्याचक्षीत। यो लोकमभ्याख्याति स आत्मानमभ्याख्याति, य आत्मानमभ्याख्याति स लोकमभ्याख्याति।*

शब्दार्थ—से बेमि=मैं कहता हूँ। सयं=स्वयं। लोगं=तेउकाय लोक का। णेव अब्भाइक्खेज्जा=अपलाप नहीं करना चाहिये। णेव अत्ताणं=न अपनी आत्मा का। अब्भाइक्खेज्जा=अपलाप करना चाहिये। जे लोगं अब्भाइक्खति=जो तेउकाय लोक का अपलाप करता है। से अत्ताणं अब्भाइक्खति=वह अपनी आत्मा का भी अपलाप करता है। जे अत्ताणं अब्भाइक्खति=जो आत्मा का अपलाप करता है। से लोगं अब्भाइक्खति=वही तेउकाय का अपलाप करता है।

भावार्थ—हे सुशिष्य जम्बू! मैं कहता हूं कि अग्निकाय की सचेतनता का अपलाप नहीं करना चाहिये तथैव आत्मा का भी अपलाप नहीं करना चाहिये। जो तेउकाय की सजीवता में शंकाशील हो अपलाप करता है वह आत्मा के अस्तित्व का अपलाप करता है। जो आत्मा के अस्तित्व का निषेध करता है वही अग्निकाय की सचेतनता का अपलाप करता है।

विवेचन—जो तेउकाय की सचेतनता का अपलाप करता है वह अति साहसिक आत्मसामान्य का भी अपलाप करने वाला हो जाता है। प्रत्यक्ष और अनुमानादि प्रमाणों से आत्मद्रव्य की सिद्धि अप्काय के प्रकरण में कर चुके हैं अतः पुनः पिष्टपेषण योग्य नहीं है। प्रमाणसिद्ध होने पर भी जो आत्मा का अपलाप करता है केवल वही महासाहसी अग्निकाय की सचेतनता का निषेध कर सकता है क्योंकि

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

जिन प्रमाणों से आत्म सामान्य की सिद्धि होती है वे ही प्रमाण अग्नि को भी सचेतन सिद्ध करते हैं अतः आत्मसामान्य की तरह अग्नि को भी आत्म विशेष मानना चाहिये। अग्नि को सचेतन सिद्ध करने वाले अनेकों प्रमाण हैं। जैसे--प्रकाश करने वाले जुगनू (खद्योत) का शरीर सचेतन है इसी तरह प्रकाश करने वाले अग्निकाय का शरीर भी सचेतन है। ज्वर की उष्णता भी जीवसंयुक्त शरीर में ही होती है मृतशरीर में कभी ज्वर की उष्णता नहीं पायी जाती है अतः अग्नि की स्वाभाविक उष्णता उसके सचेतन को प्रकट करती है। अब अनुमान द्वारा अग्नि की सजीवता सिद्ध करते हैं—अंगार आदि का प्रकाश आत्मसंयोग पूर्वक हैं क्योंकि वह शरीरस्थ है, जैसे जुगनू का देह परिणाम-अर्थात् जैसे जुगनू का शरीर विशिष्ट प्रकाश युत है तो उसमें आत्म द्रव्य का संयोग है इसी तरह अग्नि का शरीर भी विशिष्ट प्रकाश वाला है अतः यह प्रकाश आत्मसंयोग के बिना नहीं हो सकता। इसी तरह अंगारादि की गर्मी आत्मप्रयोग पूर्वक है क्योंकि वह शरीरस्थ है-जो जो शरीरस्थ गर्मी है वह आत्मा बिना नहीं हो सकती जैसे ज्वर की गर्मी। यह उष्णत्व ही अग्नि को सचेतन सिद्ध करता है। अग्नि सचेतन है, क्योंकि यह यथायोग्य आहार देने से बढ़ती है और नहीं देने से घटती है-जैसे पुरुष यथायोग्य आहार करने से पुष्ट होता है और आहार नहीं करने से कमजोर होता है और वह अचेतन है। अग्नि भी घृत ईन्धनादि देने से बढ़ती है और यथायोग्य ईन्धनादि आहार नहीं देने से कम होती है अतः वह भी सचेतन है।

यह शंका भी नहीं करनी चाहिये कि उष्णता में जीव कैसे रह सकते हैं। क्योंकि यह बात तथा रूप शरीर प्रकृति पर निर्भर करती है। प्रत्येक प्राणी के शरीर की विशेष प्रकृति होती है। अग्निकाय के जीवों की शारीरिक प्रकृति ऐसी ही है कि वे अग्नि में ही रहते हैं। जैसे मारवाड़ के रेगिस्थान में, ज्येष्ठ मास की भयंकर गर्मी और सूर्य के मध्याह्न समय के प्रचण्ड ताप से आग के समान गरम बनी हुई रेत में वहां उत्पन्न होने वाले चूहे आदि प्राणी आनन्द से रहते हैं। अर्थात् उनकी शारीरिक प्रकृति उसी वातावरण के अनुकूल होती है यही बात अग्नि के जीवों के सम्बन्ध में भी समझलेनी चाहिये। इन सभी लक्षणों द्वारा अग्नि में चेतनता के चिह्न पाये जाते हैं अतः तेउकाय भी सचित्त है। इसमें किसी प्रकार शंका को स्थान ही नहीं है। उस पर भी जो शंकाशील हैं वे अपने अस्तित्व में भी शंकाशील हैं। जब आत्मा का ही अपलाप किया जाता है तो धर्म, पुण्य, पाप, कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य रहते ही कहाँ हैं। 'छिन्ने मूले कुतः शाखा'। धर्माधर्म, पुण्य, पाप में अश्रद्धा होने से प्राणी भयंकर से भयंकर पाप करने से भी नहीं चूकता। वह मानव से दानव बन जाता है। अतः आत्मा धर्म, अधर्म, पुण्य, पाप आदि के अस्तित्व को समझकर विकास मार्ग पर बढ़ते रहना चाहिये।

जे दीहलोगसत्थस्स खेयन्ने, से असत्थस्स खेयन्ने, जे असत्थस्स खेयन्ने, से दीहलोगसत्थस्स खेयन्ने (३०)

संस्कृतच्छाया—यो दीर्घलोकशस्त्रस्य क्षेत्रज्ञः (खेदज्ञः) सोऽशस्त्रस्य क्षेत्रज्ञः, योऽशस्त्रस्य क्षेत्रज्ञः स दीर्घलोकशस्त्रस्य खेदज्ञः।

शब्दार्थ—जे=जो। दीहलोग सत्थस्स=अग्निकाय के स्वरूप को। खेयन्ने=जानने वाला है। से=वह। असत्थस्स=संयम का। खेयन्ने=जानने वाला है। जे असत्थस्स खेयन्ने=जो संयम को जानने वाला है। से=वह। दीहलोगसत्थस्स खेयन्ने=अग्निकाय के स्वरूप को जानता है।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

भावार्थ—जो दीर्घकाय (वनस्पति) के शस्त्ररूप अग्नि के स्वरूप को जानता है वही संयम को जानता है। जो संयम के रहस्य का वेत्ता है वही अग्निकाय के रहस्य का ज्ञाता है।

विवेचन—उपर के सूत्र में आये हुए "दीहलोग" शब्द से वनस्पति अर्थ लिया जाता है क्योंकि यह वनस्पति काया की स्थिति, शरीर की अवगाहना आदि की अपेक्षा शेष एकेन्द्रिय जीवों से दीर्घ है इसलिये इसे दीर्घलोक कहा गया है। वनस्पति का शस्त्र अग्नि है क्योंकि अग्नि की ज्वालाएँ जब बढ़ती हैं तो क्षण में ही बड़े बड़े वृक्षों को जला देती हैं। इसलिए अग्नि वनस्पति का शस्त्र है। यह प्रश्न होता है कि सूत्रकार ने सर्वलोक प्रसिद्ध अग्नि शब्द न देकर दीर्घलोकसत्थ शब्द क्यों दिया ? आचार्य फरमाते हैं कि यहां दीर्घलोकसत्थ शब्द देकर सूत्रकार कुछ विशेषता प्रकट करना चाहते हैं। वह यह है कि अग्नि जाज्वल्यमान होने पर सभी प्राणियों का विनाश करने वाली हो जाती है। बड़े २ वृक्षों को जलाती हुई तदाश्रित कीड़े, पिपीलिका, भ्रमर, पक्षी के बच्चे आदि आदि त्रस जीवों को, साथ ही वृक्ष के कोटर में रही पृथ्वीकाय को, ओसरूप अप्काय को, वृक्ष के अल्प हिलने से प्रकट हुई वायु को इत्यादि सर्व प्राणी समूह को नष्ट करने वाली है। यह भाव प्रकट करने के लिये 'दीर्घलोकसत्थ' शब्द का सूत्रकार ने प्रयोग किया है।

अग्नि के आरम्भ को अत्यन्त भयंकर, दश दिशाओं में जलाने वाला, सर्वत्र धार वाला और अत्यन्त सर्वभूत पीड़ाकारी जानकर अहिंसक को सर्वथा त्याग करना चाहिये। जो अग्निकाय के इस भयंकर रहस्य को जानता है वही संयम के रहस्य को जान सकता है। जो संयम के स्वरूप को जानता है वही अग्नि के आरम्भ की भयंकरता जान सकता है। यह बताने का सूत्रकार का आशय यह है कि अहिंसा और संयम परस्पर पोष्यपोषक सम्बन्ध वाले हैं। असंयमी कभी अहिंसक नहीं रह सकता है और हिंसक कभी संयमी नहीं बन सकता है। जो अहिंसक है वही संयम के रहस्य को जानता है और जो इन्द्रियसंयम, मनःसंयम और वाणीसंयम कर सकता है वही अहिंसा का आराधक हो सकता है।

वीरेहिं एयं अभिभूय दिट्ठं संजतेहिं सया अप्पमत्तेहिं (३१)

संस्कृतच्छाया—*वीरैरेतदभिभूय दृष्टं संयतैः सदाऽप्रमत्तैः*

शब्दार्थ—संजतेहिं=जितेन्द्रिय। सया अप्पमत्तेहिं=हमेशा जागृत रहने वाले। वीरेहिं=वीर महापुरुषों ने। एयं=यह तत्त्व। अभिभूय=कर्म एवं परिषहों को जीतकर। दिट्ठं=केवलज्ञान द्वारा देखा है।

भावार्थ—सदा जितेन्द्रिय, सदा अप्रमत्त और संयमी वीर महापुरुषों ने, कर्मशत्रु और परिषहों पर आत्मबल द्वारा विजय प्राप्त करके केवलज्ञान द्वारा, यह अनन्त मोक्ष सुख का साक्षात्कार कराने वाला उपरोक्त अहिंसा और संयम का अनुपमतत्व प्राप्त करके मुमुक्षुओं के हितार्थ प्ररूपित किया है।

विवेचन—इस सूत्र में यह बताया गया है कि जो सदा जागृत रहता है और जागृत होकर संयम का पालन करता है वह शीघ्रातिशीघ्र परमतत्त्वों को पा जाता है। प्रत्येक कार्य की सिद्धि के लिये अप्रमत्तावस्था (जागृति) प्रथम आवश्यक है। जागृति के अनन्तर संयमपालन अत्यधिक सरल और

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

यथार्थ फलदायी हो जाता है। महापुरुषों ने अपने दीर्घ तपश्चरण के फलस्वरूप प्रकट होने वाले अपने अनुभवरूपी रसायनों का दान मुमुक्षुओं को किया है। इन अमृतोपम रसायनों को क्रमशः सेवन करने से अनन्त जीवों ने निरावाध आरोग्य प्राप्त किया है। ये रसायन स्वयं अमर हैं और अपने सेवन करने वालों को भी अमृत के समान अमर बना देते हैं।

जे पमत्ते गुणट्ठिए से हु दंडे पवुच्चति। तं परिण्णाय मेहावी, इयाणिं णो जमहं पुव्वमकासी पमाएणं (३२)

संस्कृतछाया—यः प्रमत्तः गुणार्थी स दण्डः प्रोच्यते। तत् परिज्ञाय मेधावी, इदानीं नो यदहं पूर्वमकार्षं प्रमादेन।

शब्दार्थ—जे=जो। पमत्ते=पांच प्रमादों से असंयत है। गुणट्ठिए=इन्द्रिय सुखों का अभिलाषी है। से हु=वह निश्चय से। दंडे=प्राणियों को दण्ड देने के कारण जुल्मकार। पवुच्चति=कहा जाता है। तं परिण्णाय=यह जानकर। मेहावी=बुद्धिमान्। इयाणिं=अब। णो=नहीं करूंगा। जमहं=जो मैंने। पुव्वमकासी=पहिले किया। पमाएणं=प्रमाद से।

भावार्थ—जो पांच प्रमादों से प्रमत्त है, जो इन्द्रियसुखों का अभिलाषी है वह प्राणी-हिंसा करके उन्हें दण्ड देता है इसलिए वह जुल्मी और अन्यायी कहा जाता है। यह जानकर बुद्धिमान् आत्म-चिन्तन करता है कि मैंने प्रमाद से जो हिंसादि कार्य किये हैं उन्हें पुनः भविष्य में नहीं करूँगा।

विवेचन—जो मद, विषय, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग से प्रमत्त है, जो इन्द्रिय जन्य सुखों का अभिलाषी है वह निरपराधी प्राणियों को दण्ड देता है इसलिये शास्त्रकार ने उसे दंडहेतु होने से जुल्मी कहा है। जो अपने स्वार्थ के लिये दूसरों को कष्ट पहुंचाते हैं वह इसी संज्ञा के योग्य हैं अर्थात् वह जुल्म करने वाला नहीं तो क्या है? गहरी दृष्टि से विचारने पर यह प्रतीत होता है कि जो प्राणियों को दण्ड देता है वह स्वयं दण्डाता है। जो दूसरों को पीड़ा देता है वह स्वयं पीड़ाता है, जो दूसरों को मारता है वह स्वयं मरता है। अर्थात् मदादि प्रमाद आत्मा के लिए हलाहल जहर रूप हैं। उनसे शांति की आशा करना सर्पमुख से अमृत झरने की आशा के समान है अतः इनसे सदा बचना चाहिये।

लज्जमाणा पुढो पास, अणगारा मो त्ति एगे पवयमाणा, जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं अग्गिकम्मसमारंभेणं अग्गिसत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसति (३३)

संस्कृतछाया—लज्जमानान्पृथक् पश्य, अनगाराः स्म इत्येके प्रवदन्तः यदिदं विरूपरूपैः शस्त्रैः अग्निकर्मसमारम्भेण अग्निशस्त्रं समारभमाणोऽन्यानप्यनेकरूपान् प्राणिनः हिनस्ति।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

[शब्दार्थ—सदृशपाठ पहिले आजाने से यहां पुनः शब्दार्थ की आवश्यकता नहीं रहती है आवश्यकता होने पर पृथ्वीकाय के प्रकरण में देखें; विशेषता-पृथ्वी की जगह अग्नि समझें]।

भावार्थ—हे जम्बू ! असंयम अनुष्ठान से लज्जित हुए इन शाक्यादि भिक्षुओं को तू देख। ये नामधारी अणगार कहते हैं कि हम अणगार हैं तो भी अग्निकाय का विविध प्रकार के शस्त्रों द्वारा आरम्भ (हिंसा) करते हैं और साथ ही कीड़ी आदि अनेकों त्रस जीवों की भी हिंसा करते हैं।

तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेदिया। इमस्स चेव जीवियस्स, परिवंदणमाणणपूयणाए, जाइमरणमोयणाए दुक्खपडिघायहेउं, से सयमेव अगणिसत्थं समारंभति, अण्णेहिं वा अगणिसत्थं समारंभावेइ, अण्णे वा अगणिसत्थं समारभमाणे समणुजाणाति तं से अहियाए तं से अबोहिए (३४)

संस्कृतच्छाया—*तत्र खलु भगवता परिज्ञा प्रवेदिता। अस्य चैव जीवितस्य परिवन्दनमाननपूजनार्थं जातिमरणमोचनार्थं दुःखप्रतिघातहेतुं स स्वयमेवाग्निशस्त्रं समारभते, अन्यैर्वा अग्निशस्त्रं समारभयति, अन्यान्वा अग्निशस्त्रं समारभमाणान्समनुजानीते, तत्तस्याहिताय, तत्तस्याबोधिलाभाय।*

भावार्थ—अग्निकाय के समारंभ के विषय में भगवान् ने परिज्ञा (विवेक) समझायी है। तदपि प्राणी—जीवन के निर्वाह के लिए, प्रशंसा, मान और पूजा के लिए, जन्म-मरण से छूटने (धर्म) के लिए और दुःख का निवारण करने के लिए स्वयं अग्निकाय की हिंसा करते हैं, दूसरों से करवाते हैं और करते हुए को अच्छा समझते हैं परन्तु यह हिंसा उनके अकल्याण के लिए तथा अबोध (मिथ्यात्व) के लिए होती है।

विवेचन—भगवान् महावीर के समय में जल से शुद्धि मानने वाले, और पंचाग्नि जलाकर तप करने से धर्म होता है यह मानने वाले बहुसंख्या में थे। भगवान् महावीर ने जल और अग्नि की सचेतनता सिद्ध करके इनकी हिंसा से धर्म हो ही नहीं सकता यह सिद्धान्त प्रचलित किया।

से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाय, सोच्चा भगवओ, अणगाराणं वा अंतिए इहमेगेसिं णायं भवति, एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णिरए। इच्चत्थं गढिए लोए जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं अगणिकम्मसमारंभेणं, अगणिसत्थं समारंभमाणे अणेगे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ (३५)

संस्कृतच्छाया—*स तत् सम्बुध्यमानः आदानीयं समुत्थाय, श्रुत्वा भगवतोऽनगाराणां वा अन्तिके इहैकेषां ज्ञातं भवति, एष खलु ग्रन्थः, एष खलु मोहः, एष खलु मारः, एष खलु नरकः। इत्येवमर्थं गृद्धो लोकः यदिमं विरूपरूपैः शस्त्रैः अग्निकर्मसमारम्भेण अग्निशस्त्रं समारभमाणोऽन्यानप्यनेकरूपान् प्राणिनः हिनस्ति।*

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

भावार्थ—सर्वज्ञ देव अथवा श्रमणजनों से आत्मविकास के लिये आदरणीय ज्ञानादि प्राप्त करके कितने ही प्राणी यह समझ लेते हैं कि यह हिंसा आठ कर्मों के बंधन का कारण रूप है, मोह का कारण है, मरण का कारण है और नरकादि दुर्गति का कारण है। तदपि जो खानपान एवं प्रशंसा तथा विषयों में गृद्ध हैं वे प्राणी भिन्न २ प्रकार के शस्त्रों द्वारा अग्निकाय कर्मसमारंभ से अग्निकाय के जीवों की हिंसा करते हैं और साथ अन्य अनेक त्रस प्राणियों का भी वध करते हैं।

से बेमि संति पाणा पुढविणिस्सिया, तणणिस्सिया, पत्तणिस्सिया, कट्ठणिस्सिया, गोमयणिस्सिया, कयवरणिस्सिया। संति संपातिमा पाणा आहच्च संपयंति य। अगणिं च खलु पुट्ठा एगे संघायमावज्जंति। जे तत्थ संघायमावज्जंति ते तत्थ परियाविज्जंति, जे तत्थ परियाविज्जंति ते तत्थ उद्दायंति (३६)

संस्कृतच्छाया—*सोऽहं ब्रवीमि सन्ति प्राणाः पृथिवीनिश्रिताः, तृणनिश्रिताः, पत्रनिश्रिताः, काष्ठनिश्रिताः, गोमयनिश्रिताः, कचवरनिश्रिताः। सन्ति सम्पातिनः प्राणिनः आहत्य संपतन्ति च। अग्निञ्च खलु स्पृष्टाः एके संघातमापद्यन्ते, ये तत्र संघातमापद्यन्ते ते तत्र पर्यापद्यन्ते ये तत्र पर्यापद्यन्ते ते तत्रापद्रावन्ति।*

शब्दार्थ—**से बेमि=मैं कहता हूं। संति पाणा=प्राणी हैं। पुढविनिस्सिया=पृथ्वी के आश्रित। तणनिस्सिया=तृण के आश्रित। पत्तणिस्सिया=वृक्ष के पत्तों के आश्रित। कट्ठनिस्सिआ=लकडी के आश्रित। गोमयणिस्सिया-छाणों के आश्रित। कयवरणिस्सिआ=कचरे के आश्रित। संति संपातिमा पाणा=अचानक ऊपर आकर गिरने वाले प्राणी भी हैं। आहच्च=आकर। संपयंति=अन्दर गिरते हैं। अगणिं च खलु पुट्ठा=अग्नि में पड़कर। एगे=एकेक जीव। संघायं=अत्यधिक शरीर संकोचन को। आवज्जंति=प्राप्त होते हैं। जे तत्थ संघायमावज्जंति=जो वहाँ गात्र संकोच करते हैं। ते तत्थ परियाविज्जन्ति=वे वहां मूर्छित होते हैं। जे तत्थ परियाविज्जन्ति=जो वहां मूर्छित होते हैं। ते तत्थ उद्दायंति=वे वहां मरण पाते हैं।**

भावार्थ—हे जम्बू! मैं कहता हूँ कि जमीन, तृण, पत्र, काष्ठ, गोबर (छाना) और कचरे के आश्रित अनेकों त्रस जीव रहे हैं। ये छोटे २ त्रस जीव और पतंगिये के समान उड़ने वाले संपातिम प्राणी आकर अग्नि का आरम्भ करने पर अग्नि में गिर पड़ते हैं। अग्नि में गिरने पर उनके शरीर अत्यन्त संकुचाने लगते हैं। पश्चात् वे मूर्छित होकर मृत्यु को प्राप्त करते हैं। इस तरह अग्नि का आरम्भ करने से केवल अग्निकाय की ही हिंसा नहीं होती किन्तु अनेक त्रसादि प्राणियों की भी हिंसा होती है।

विवेचन—अग्निकाय की हिंसा-अग्नि को जलाने से और जलती हुई को बुझाने से दोनों तरह की होती है। इसमें अग्नि को प्रज्वलित करने वाले को अधिक हिंसा होती है क्योंकि अग्नि शस्त्र अनेक

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

प्राणियों को भस्मी भूत कर देता है। यही बात भगवती सूत्र में कही गई है-गौतम स्वामी के यह प्रश्न करने पर कि अग्नि को जलाने वाला ज्यादा कर्म बांधता है या बुझाने वाला ? भगवान् फरमाते हैं कि-

"गोयमा ! जे उज्जालेति से महाकम्मयराए, जे विज्झवेति से अप्पकम्मयराए।"

अर्थात्—हे गौतम ! जो अग्नि प्रज्वलित करता है वह महान् कर्म बांधता है, जो अग्नि बुझाता है वह अल्पकर्म बाँधता है। अतएव अग्नि के आरम्भ को सर्वभूतोपमर्दनकारी जानकर त्यागना चाहिए।

एत्थ सत्थं समारंभमाणस्स इच्चेते आरम्भा अपरिण्णाया भवंति। एत्थ सत्थं असमारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाया भवंति (३७)

तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं अगणिसत्थं समारंभेज्जा नेवऽण्णेहिं अगणिसत्थं समारंभावेज्जा, अगणिसत्थं समारंभाणे अण्णे न समणुजाणेज्जा, जस्सेते अगणिकम्मसमारंभा परिण्णाया भवंति से हु मुणी परिण्णायकम्मे त्ति बेमि (३८)

संस्कृतच्छाया—*अत्र शस्त्रं समारममाणस्य इत्येते आरम्भा अपरिज्ञाता भवन्ति। अत्र शस्त्रं असमारभमाणस्य इत्येते आरम्भाः परिज्ञाताः भवन्ति। तत् परिज्ञाय मेधावी नैव स्वयं अग्निशस्त्रं समारभेत, नैवान्यैरग्निशस्त्रं समारम्भयेत, अग्निशस्त्रं समारभमाणानन्यान् न समनुजानीयात्। यस्यैते अग्निकर्मसमारम्भाः परिज्ञाताः भवन्ति स एव मुनिः परिज्ञातकर्मेति ब्रवीमि।*

भावार्थ—इस अग्निकाय की हिंसा करने वाले को इस हिंसा का भान तक नहीं होता है इसलिये उसे कर्मबन्धन का विवेक नहीं होता है। जो अग्निकाय का आरम्भ नहीं करता है उसे कर्मबन्धन की क्रियाओं का विवेक होता है अतः उसे कर्मबन्धन नहीं होता। यह जानकर बुद्धिमान् पुरुष स्वयं अग्निकाय का आरम्भ न करें, न दूसरों से करावे और न करते हुए को अच्छा समझें। जो इस अग्निकाय के समारंभ के अशुभ परिणाम को जानता है वही परिज्ञासम्पन्न (विवेकी) मुनि है। यह मैं भगवान् से सुनकर तुझे कहता हूँ।

इति चतुर्थोद्देशकः

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

शस्त्रपरिज्ञा नाम प्रथम अध्ययन

का

—पंचमोद्देशकः—

चतुर्थोद्देशक में अग्निकाय का वर्णन कर चुकने पर इस उद्देशक में क्रम प्राप्त वायुकाय का वर्णन करना चाहिये था परन्तु ऐसा न करके वनस्पतिकाय का अधिकार इस उद्देशक में किया गया है। इसका कारण यह है कि वायु चक्षुगोचर नहीं होने से उसके स्वरूप को समझने में शिष्यों को कठिनाई हो सकती है। अतः पहिले सरलता से समझ में आने वाले एकेन्द्रिय पृथ्वी वनस्पति आदि का स्वरूप बताकर अन्त में वायु का स्वरूप कहा जायगा। दूसरी बात यह है कि हलनचलनादि क्रियाओं की अनिवार्यता से संयमी साधक के लिए भी इसका (वायुकाय का) सम्पूर्ण परिहार शक्य नहीं है अतः यह अन्त में रखा गया है:—

सूत्रकार अनगार श्रमण की व्याख्या बताते हुए फरमाते हैं:—

तं णो करिस्सामि समुट्ठाए, मत्ता मइमं, अभयं, विदित्ता, तं जे णो करए, एसोवरए; एत्थोवरए, एस अणगारेति पवुच्चइ (३६)

संस्कृतच्छाया—*तत्र करिष्ये, समुत्थाय मत्वा मतिमन् ! अभयं विदित्वा, तद् यो नो कुर्यात्, एष उपरतः, अत्रोपरतः एष अनगार इति प्रोच्यते ।*

शब्दार्थ—तं णो करिस्सामि=हिंसा नहीं करूंगा। समुट्ठाए=दीक्षा (प्रव्रज्या) लेकर। मत्ता=जीवादितत्वों को जानकर। मइमं=हे बुद्धिमान् शिष्य। अभयं=संयम को। विदित्ता=जानकर। तं जे णो करए=जो हिंसा नहीं करता है। एसोवरए=हिंसा से निवृत्त हुआ। एत्थोवरए=जैन शासन में अनुरक्त हो। एस अणगारोत्ति=वह अणगार है ऐसा। पवुच्चइ=कहा जाता है।

भावार्थ—हे बुद्धिमान् शिष्य ! तत्त्वों को जानकर, प्रव्रज्या अंगीकार करके और अभयरूप संयम के स्वरूप को यथार्थरूप से समझकर जो यह संकल्प करता है कि मैं किसी भी प्राणी को पीड़ा न दूँगा और इसी संकल्प के अनुसार किसी को भी पीड़ा नहीं देता है, तथा हिंसा, विषय, कषाय और सांसारिक बन्धनों से विरक्त है और जनशासन में अनुरक्त है वही सच्चा अणगार कहा जाता है।

विवेचन—यद्यपि उपरोक्त सूत्र में आरम्भ सामान्य के त्याग का कहा गया है तदपि वनस्पतिकाय के अधिकार में यह कहा गया है अतः जो वनस्पतिकाय आदि के आरम्भ का त्याग करता है वह अण-

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

गार है ऐसा प्रसंग से समझना चाहिये। इस सूत्र में "तं णो करिस्सामि" इस पद से संयम क्रिया की प्रतीति होती है। इसके बाद "मत्ता" यह पद देकर आचार्य यह सूचित करते हैं कि अकेली क्रिया से ही मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है किन्तु जीवादि तत्त्वों का ज्ञान भी आवश्यक है। सम्यग्ज्ञान पूर्वक की गयी क्रिया ही साध्य सिद्धि का कारण होती है। इसी तरह आगे 'तं जे णो करए' यह पद देकर यह सूचित करते हैं कि केवल ज्ञान मात्र से ही मोक्ष नहीं है परन्तु आरम्भ निवृत्ति रूप क्रिया भी आवश्यक है। जैसा कि कहा है—"नाणं किरियारहियं, किरियामेत्तं च दोवि एगन्ता। न समत्था दाउं जे जम्ममरणदुक्खदाहाइं।" अर्थात् अकेला ज्ञान और अकेली क्रिया जन्ममरण से मुक्त करने में समर्थ नहीं है। ज्ञान विना की क्रिया अंधी है और क्रिया के विना ज्ञान पङ्गु है।

अगले सूत्र में कर्मबन्धन का और संसार का परस्पर कार्यकारण भाव बताते हैं:—

जे गुणे से आवट्टे, जे आवट्टे से गुणे (४०)

संस्कृतच्छाया—*यो गुणः स आवर्त्तः, य आवर्त्तः स गुणः।*

शब्दार्थ—जे=जो। गुणे=इन्द्रियों के विषय हैं। से=वे। आवट्टे=संसार के कारण हैं। जे आवट्टे=जो संसार हैं। से गुणे=वह विषयों का कारण है।

भावार्थ—शब्दादिक इन्द्रियों के विषय संसार के कारण है, और संसार विषयों का कारण है।

विवेचन—इन्द्रियों के विषय और संसार में परस्पर कार्य कारणभाव है। जो शब्दादि गुणों में आसक्त है वह संसार में आसक्त है और जो संसार में आसक्त है वह शब्दादि गुणों में आसक्त है। वस्तुतः इन्द्रियों के विषय संसार के मूल कारण नहीं हैं किन्तु विषयों में आसक्ति (रागद्वेष) ही संसार का मूल कारण है। विषय तो निमित्त कारण हैं। क्योंकि इन्द्रियाँ अपने २ विषय में प्रवृत्त होती है तदपि रागद्वेष के अभाव से संयती साधुओं के लिये वे विषय संसार के कारण नहीं होते। साधु के कान भी शब्द श्रवण करते हैं, आँख भी रूप देखती है, नाक भी सूँघता है, रसना स्वाद लेती है और स्पर्शेन्द्रिय स्पर्श को ग्रहण करती है तो भी उनमें रागद्वेष की प्रवृति न होने से वे संसार के कारण नहीं बनते हैं। आगम में अन्यत्र कहा है कि "कण्णसोक्खेहिं सद्देहिं पेमं नाभिनिवेसए" अर्थात्—कान को सुख देने वाले मनोज्ञ शब्दों में प्रेम स्थापन न करे। इसमें भी रागभाव का ही निषेध है। और भी कहा है। "न शक्यं रूपमद्रष्टुम् चक्षुर्गोचरमागतम्। रागद्वेषौ तु यौ तत्र तौ बुधः परिवर्जयेत्" अर्थात् ऐसा तो सम्भव नहीं है कि आँख अपने विषय रूप को न देखे। केवल उस रूप में रागभाव और द्वेषभाव करना बुद्धिमान् के लिये वर्जनीय है। इससे यह सिद्ध होता है कि रागद्वेष अर्थात् आसक्ति यह संसार का मूल कारण है। यह बात भी है कि मनोज्ञ और अमनोज्ञ विषय राग और द्वेष को उत्पन्न करने वाले प्रबल साधन हो जाते हैं अतएव विषयों को संसार का कारण कहा है और जो संसार में आसक्त है वह रागद्वेषात्मक होने से विषयों का कारण हो जाता है। अर्थात् रागद्वेषमय संसारी प्राणी विषयों की ओर शीघ्र प्रवृत्त हो जाते हैं अतः सिद्ध हुआ कि जो विषयों में वर्तमान है वह संसार में वर्तमान है और जो संसार में वर्तमान है वह विषयों में वर्तमान है। दूसरे शब्दों में जो गुणों (विषयों) में आसक्त है वह संसार में आसक्त है, जो संसार में आसक्त है वह विषयों में आसक्त है।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

यह बात वनस्पति के प्रकरण में कही गयी है अतः यह बताना आवश्यक है कि वनस्पति किस प्रकार इन्द्रियविषयों का विषय बनती है—सुन्दर स्वर के साधन बांसुरी, वीणा, पटह आदि की उत्पत्ति प्रायः वनस्पति से ही है। रूप में-लकड़ी की सुन्दर नयनाभिराम पुतलियाँ, तोरण, वेदिका, स्तम्भ इत्यादि आँखों को सुन्दर लगते हैं इनकी उत्पत्ति भी वनस्पति से है। गन्ध में-कपूर, लविंग, केतकी, चन्दन, अगर, केशर आदि की सुगन्धि घ्राणेन्द्रिय को प्रसन्न करती है। रस में-मृणाल, मुलायम, सुकोमल वस्त्र, मुलायम गादी-तकिये ये सभी स्पर्शनेन्द्रिय को सुख देते हैं। इन सभी की उत्पत्ति वनस्पति से है। तात्पर्य यह कि वनस्पति से उत्पन्न शब्दादि गुणों में जो आसक्त है वह संसार में वर्तमान है, जो संसार में वर्तमान है वह रागद्वेष से युक्त होने से इन्द्रिय विषयों में वर्तमान है। आगे के सूत्र में स्वयं सूत्रकार मूर्छा को संसार कहते हैं:—

उड्ढं अहं तिरियं पाइणं पासमाणे रूवाइं पासइ, सुणमाणे सद्दाइं सुणइ, उड्ढं अहं तिरियं पाइणं मुच्छमाणे रूवेसु मुच्छति, सद्देसु यावि। एस लोए वियाहिए। एत्थ अगुत्ते अणाणाए पुणो पुणो गुणासाते वंकसमायारे पमत्ते अगारमावसे (४१)

संस्कृतच्छाया—*ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् प्राचीनम् पश्यन् रूपाणि पश्यति, शृण्वन् शब्दान् शृणोति। ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् प्राचीनम् मूर्च्छन् रूपेषु मूर्च्छति, शब्देषु चापि। एष लोको व्याख्यातः। अत्रागुप्तः अनाज्ञायां, पुनः पुनः गुणास्वादो वक्रसमाचारः प्रमत्तोऽगारमावसति।*

शब्दार्थ—उड्ढं=ऊर्ध्वदिशा में। अहं=अधोदिशा में। तिरियं=तिर्छीदिशा में। पाइणं=पूर्वादिदिशा में। पासमाणे=देखता हुआ जीव। रूवाइं=रूप। पासइ=देखता है। सुणमाणे=सुनता हुआ। सद्दाइं सुणइ=शब्द सुनता है। उड्ढं=ऊर्ध्वदिशा में। अहं=अधोदिशा में। तिरियं=तिरछी दिशा में। पाइणं=पूर्व दिशा में। मुच्छमाणे=आसक्त होता हुआ। रूवेसु मुच्छति=रूप में आसक्त होता है। सद्देसु यावि=शब्दों में भी आसक्त होता है। एस=यह आसक्ति। लोए वियाहिए=संसार कही जाती है। एत्थ=इन शब्दादि विषयों में। अगुत्ते=अगुप्त (राग-द्वेष करने वाला) अणाणाए=भगवान् की आज्ञा में नहीं है। पुणो पुणो=बार बार। गुणासाए=विषयों की इच्छा करता है। वंकसमायारे=कुटिलता का आचरण करता है। पमत्ते=विषय मूर्छित। अगारमावसे=गृहस्थवास में रहता है।

भावार्थ—हे जम्बू! यह जीव, ऊर्ध्व, अधो, तिरछी और पूर्वादि दिशाओं में अनेक पदार्थों के सम्पर्क में आता हुआ विविध रूप देखता है, सुनता हुआ विविध शब्द सुनता है और ऊर्ध्वादि दिशाओं में देखी हुई रूपवाली वस्तुओं में और मनोज्ञ शब्दों में मूर्छित बनता है—आसक्त होता है। यह आसक्ति

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

ही संसार है। जो विषयों में संयम नहीं रखता है वह वीतराग की आज्ञा से बाहर है। विषयों में तृप्ति तो है ही नहीं अतः वह बार-बार विषयों में इच्छा रखता हुआ कुटिलता का आचरण करता है और प्रमादी बनकर संयम से दूर होता हुआ गृहस्थाश्रमी बन जाता है। (साधु का द्रव्यलिंग होते हुए भी असंयमानुष्ठान से वह गृहस्थ ही है।)

विवेचन—विषयों से विरक्त होना यही वीतरागता की साधना का प्रथम अंग है। जहाँ आसक्ति है वहाँ जड़ता है और चैतन्य का ह्रास है—यही संसार की वृद्धि का कारण है। सूत्रकार ने बताया है कि इन्द्रियों के विषय आसक्ति उत्पन्न करते हैं और आसक्ति से जड़ता और जड़ता से संसार होता है। यों विषय संसार के कारण हैं यह सिद्ध हुआ।

लज्जमाणा पुढो पास, अणगारा मो त्ति एगे पवयमाणा, जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं वणस्सइकम्मसमारंभेणं वणस्सइसत्थं समारंभमाणे अणेगरूवे पाणे विहिंसति (४२)

संस्कृतच्छाया—*लज्जमानान्पृथक् पश्य, अनगाराः स्म इत्येके प्रवदन्तः यदिदं विरूपरूपैः शस्त्रैः वनस्पतिकर्मसमारम्भेण वनस्पतिशस्त्रं समारभमाणोऽन्याननेकरूपान् प्राणिनः हिनस्ति।*

भावार्थ—हे शिष्य! सावद्य अनुष्ठान से शरमाते हुए कितने ही अन्यतीर्थी साधु कहते हैं कि हम अनगार हैं, परन्तु उनका यह अभिमान वृथा है क्योंकि वे अनेक प्रकार के शस्त्रों द्वारा वनस्पति कर्म का समारम्भ करके वनस्पति के जीवों की हिंसा करते हैं और उसके आश्रित रहे हुए अन्य अनेक प्रकार के प्राणियों की हिंसा भी करते हैं।

तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेदिया, इमस्स चेव जीवियस्स, परिवंदणमाणणपूयणाए, जाइमरणमोयणाए, दुक्खपडिघायहेउं, से सयमेव वणस्सतिसत्थं समारंभइ अण्णेहिं वा वणस्सइसत्थं समारंभावेति, अण्णे वा वणस्सइसत्थं समारभमाणे समणुजाणाति, तं से अहियाए, तं से अबोहिए (४३)

संस्कृतच्छाया—*तत्र खलु भगवता परिज्ञा प्रवेदिता। अस्य चैव जीवितस्य परिवन्दनमाननपूजनार्थं जातिमरणमोचनार्थं दुःखप्रतिघातहेतुं स स्वयमेव वनस्पतिशस्त्रं समारभते, अन्यैर्वा वनस्पतिशस्त्रं समारम्भयति, अन्यान्वा वनस्पतिशस्त्रं समारभमाणान्समनुजानीते, तत्तस्याहिताय, तत्तस्याबोधिलाभाय।*

भावार्थ—इस वनस्पतिकाय के लिए भगवान् ने परिज्ञा समझायी है। इस जीवन के लिए प्रशंसा, मान और पूजा के लिए, जन्म-मरण से छूटने के लिए (धर्मनिमित्त), दुःखों के निवारण के लिए

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

प्राणी स्वयं वनस्पति शस्त्र का आरम्भ करता है, अन्य से करवाता है और करते हुए अन्य को अनुमोदन देता है। यह हिंसा उसके अकल्याण के लिए और अज्ञान (मिथ्यात्व) के लिए होती है अर्थात् यह हिंसा अकल्याण और मिथ्यात्व का कारण होती है।

से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाय, सोच्चा भगवओ, अणगाराणं वा अंतिए इहमेगेसिं णायं भवति– एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णिरए। इच्चत्थं गढिए लोए जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं वणस्सइकम्मसमारंभेणं, वणस्सइसत्थं समारंभमाणे अणे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ (४४)

संस्कृतच्छाया—*स तत् सम्बुध्यमानः आदानीयं समुत्थाय, श्रुत्वा भगवतोऽनगाराणां वाऽऽन्तिके इहैकेषां ज्ञातं भवति। एष खलु ग्रन्थः, एष खलु मोहः, एष खलु मारः, एष खलु नरकः। इत्येवमर्थं गृद्धो लोकः यदिदं विरूपरूपैः शस्त्रैः वनस्पतिकर्मसमारम्भेण वनस्पतिशस्त्रं समारभमाणोऽन्यानप्यनेकरूपान् प्राणिनः हिनस्ति।*

भावार्थ—हिंसा को अकल्याणकारी जानकर, सर्वज्ञ और श्रमणों के पास से श्रवण करने पर किन्हीं को यह ज्ञात हो जाता है कि यह हिंसा आठकर्मों की गांठ रूप है, यह मोह और मृत्यु का कारण है और दुर्गति में ले जाने वाली है। तो भी खान-पान और कीर्ति के लोभ में मूर्छित हुआ यह प्राणी विविध प्रकार के शस्त्रों द्वारा वनस्पतिकर्म का आरम्भ करता हुआ वनस्पति की हिंसा करता है और साथ ही अन्य दूसरे त्रसादि प्राणियों की भी विराधना करता है।

से बेमि इमंपि जाइधम्मयं, एयंपि जाइधम्मयं, इमंपि वुड्ढिधम्मयं, एयंपि वुड्ढिधम्मयं, इमंपि चित्तमंतयं, एयंपि चित्तमंतयं, इमंपि छिन्नं मिलाति, एयंपि छिन्नं मिलाति, इमंपि आहारगं, एयंपि आहारगं, इमंपि अणिच्चयं, एयंपि अणिच्चयं, इमंपि असासयं, एयंपि असासयं, इमंपि चओवचइयं, एयंपि चओवचइयं, इमंपि विपरिणामधम्मयं, एयंपि विपरिणामधम्मयं (४५)

संस्कृतछाया—*तद् ब्रवीमि इदमपि जातिधर्मकम्, एतदपि जातिधर्मकम्, इदमपि वृद्धिधर्मकम्, एतदपि वृद्धिधर्मकम्, इदमपि चित्तवत् एतदपि चित्तवत्, इदमपि छिन्नं म्लायति, एतदपि छिन्नं म्लायति, इदमप्याहारकमेतदप्याहारकं, इदमप्यनित्यमेतदप्यनित्यम्, इदमप्यशाश्वतमेतदप्यशाश्वतम्, इदमपि चयापचयिकमेतदपि चयापचयिकं इदमपि विपरिणामधर्मकमेतदपि विपरिणामधर्मकम्।*

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

शब्दार्थ—से बेमि=मैं कहता हूँ। इमंपि=अपना शरीर भी। जाइधम्मयं=उत्पन्न होता है। एयंपि=यह वनस्पति भी। जाइधम्मयं=उत्पन्न होती है। इमंपि वुड्ढिधम्मयं=अपना शरीर बढ़ता है। एयंपि वुड्ढिधम्मयं=वनस्पति भी बढ़ती है। इमंपि चित्तमंतयं=अपने शरीर में चैतन्य है। एयंपि चित्तमंतयं=वनस्पति में भी चैतन्य है। इमंपि छिन्नं मिलाति=अपना शरीर छेदने से कुम्हलाता है। एयंपि छिन्नं मिलाति=वनस्पति भी छेदने से कुम्हलाती है। इमंपि आहारगं=अपने शरीर को आहार चाहिये। एयंपि आहारगं=वनस्पति को भी आहार चाहिये। इमंपि अणिच्चियं=अपना शरीर अनित्य है। एयंपि अणिच्चियं=यह वनस्पति भी अनित्य है। इमंपि असासयं=अपना शरीर अशाश्वत है। एयंपि असासयं=यह भी अशाश्वत है। इमंपि चओवचइयं=अपना शरीर घटता बढ़ता है। एयंपि चओवचइयं=यह भी घटती बढ़ती है। इमंपि विपरिणामधम्मयं=यह शरीर अनेक विकारों को प्राप्त करता है। एयंपि विपरिणामधम्मयं=यह वनस्पति भी विकार प्राप्त करती है।

भावार्थ—वनस्पति की सचेतनता बताने के लिए मनुष्य शरीर के साथ उसकी तुलना करते हैं-जैसे मानव शरीर उत्पन्न होने का स्वभाव वाला है, वैसे ही वनस्पति भी उत्पन्न होने का स्वभाव वाली है, अपना शरीर बढ़ता है वैसे ही यह भी बढ़ती है, जैसे अपने शरीर में चेतन है वैसे ही इसमें भी चेतन है जैसे यह शरीर काटने छेदने से कुम्हलाता है वैसे वनस्पति भी काटने छेदने से म्लान होती है, जैसे शरीर को आहार की आवश्यकता पड़ती है वैसे ही वनस्पति को भी आहार आवश्यक है। जैसे यह शरीर अनित्य है वैसे यह भी अनित्य है, अपना शरीर अशाश्वत है यह भी अशाश्वत है जैसे अपना शरीर घटता बढ़ता है वैसे ही इसमें भी हानि वृद्धि होती है। वैसे अपने शरीर में विकार होते हैं वैसे इसमें भी विकार होते हैं। अतः अपने शरीर के समान वनस्पति भी सचेतन है।

विवेचन—वनस्पति की सचेतनता बताने के लिए मनुष्य शरीर के साथ उसकी तुलना करते हुए आचार्य फरमाते हैं कि जैसे यह मनुष्य शरीर बाल, कुमार, युवा, वृद्धता आदि परिणामों वाला होता हुआ चेतन वाला देखा जाता है वैसे ही यह वनस्पति भी सचेतन है क्योंकि उत्पन्न हुआ केतकी का वृक्ष बालक, युवा और वृद्ध परिणाम वाला है अतः उभयत्र जातिधर्म समान होने से दोनों की सचेतनता सिद्ध होती है। यह शंका की जा सकती है कि नख केश आदि भी उत्पन्न होते हैं परन्तु वे सचेतन नहीं हैं अतः जातिधर्मत्व हेतु सदोष (व्यभिचारी) है—यह कथन योग्य नहीं है क्योंकि उसमें मनुष्य शरीर प्रसिद्ध बाल-कुमार-युवा-वृद्धादि परिणाम नहीं पाये जाते हैं। दूसरी बात केश-नखादि जो उत्पन्न हुए कहे जाते हैं वे चेतना वाले शरीर की अपेक्षा से कहे जाते हैं। स्वतन्त्र नखकेशादि उत्पत्ति धर्म वाले नहीं हैं अतः उक्त हेतु निर्दोष है। अथवा उक्त सूत्र में बताये हुए समुच्चय लक्षण एक हेतु रूप हैं। केशादि में ऊपर बताये सभी लक्षण नहीं पाये जाते हैं अतएव हेतु समग्र दोष रहित है। जैसे यह मनुष्य शरीर सचेतन है वैसे ही वनस्पति भी सचित्त है अर्थात् जैसे मनुष्य शरीर ज्ञान संयुक्त है वैसे वनस्पति का भी शरीर ज्ञान संयुक्त है क्योंकि, धात्री, प्रपुन्नाट (लजवन्ती) आदि वृक्षों में सोना और जागना पाया जाता है, अपने नीचे

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

जमीन में गाड़े हुए धन की रक्षा के लिए अपनी शाखाएं फैलाते हैं, वर्षा काल के मेघ के स्वर से तथा शिशिर ऋतु के वायु से अंकुर उत्पन्न होते हैं तथा अशोक वृक्ष के पल्लव और फूल तभी उत्पन्न होते हैं जब कामदेव के संसर्ग से स्खलित गति वाली, चपल नेत्र वाली, सोलह शृंगार सजी हुई युवती अपने नूपुर से शब्दायमान सुकोमल चरण से उसका स्पर्श करती है। वकुल वृक्ष सुगन्धित मद के कुल्ले से सिंचन करने से विकसित होता है। विकसित लजवन्ती हाथ के स्पर्श मात्र से संकुचित हो जाती है। ये सभी क्रियाएँ ज्ञान के बिना सम्भव नहीं हो सकती अतः वनस्पति में चेतना सिद्ध होती है।

सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक सर जगदीशचन्द्र बोस ने सारे वैज्ञानिक संसार को वनस्पति में चेतनता मानने के लिए बाध्य कर दिया है। उन्होंने अपने वैज्ञानिक साधनों द्वारा यह साक्षात् प्रत्यक्ष करा दिया है कि वनस्पति में क्रोध, प्रसन्नता, हास्य, राग, आदि भाव पाये जाते हैं। उनकी तारीफ करने से वे हास्य प्रकट करती, और गाली देने व निन्दा करने से क्रोध करती हुई दिखाई दी हैं। अतः इस वैज्ञानिक युग में वनस्पति की सचेतनता के लिए अधिक कहना व्यर्थ है।

एत्थ सत्थं समारभमाणस्स इच्चेते आरंभा अपरिण्णाया भवन्ति। एत्थ सत्थं असमारभमाणस्स इच्चेते आरम्भा परिण्णाया भवंति। तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं वणस्सइसत्थं समारंभेज्जा, णेवण्णेहिं वणस्सइसत्थं समारंभावेज्जा, णेवण्णे वणस्सइसत्थं समारंभंते समणुजाणेज्जा। जस्सेते वणस्सइसत्थसमारंभा परिण्णाया भवंति से हु मुणी परिण्णायकम्मे त्ति बेमि (४६)

संस्कृतच्छाया—अत्र शस्त्रं समारभमाणस्य इत्येते आरम्भाः अपरिज्ञाताः भवन्ति। अत्र शस्त्रमसमारभमाणस्य इत्येते आरम्भाः परिज्ञाता भवन्ति। तत्परिज्ञाय मेधावी नैव स्वयं वनस्पतिशस्त्रं समारभेत, नैवान्यैर्वनस्पतिशस्त्रं समारम्भयेत्, नैवान्यान् वनस्पतिशस्त्रं समारभमाणान् समनुजानीयात्। यस्यैते वनस्पतिशस्त्रसमारम्भाः परिज्ञाता भवन्ति स एव मुनिः परिज्ञातकर्मेति ब्रवीमि।

भावार्थ—इस वनस्पतिकाय का जो समारंभ करते हैं उन्हें आरम्भ का भान भी नहीं होता अतः उन्हें पाप लगता है। जो वनस्पतिकाय का आरंभ नहीं करते हैं उन्हें आरम्भ का विवेक होता है अतः पाप नहीं लगता है। यह जानकर बुद्धिमान् वनस्पति का स्वयं समारम्भ न करे, दूसरों से न करावे और करते हुए अन्य को अनुमोदन न दे। जिसने वनस्पतिकाय के समारंभ को जानकर त्याग दिया है वही परिज्ञा (विवेक) सम्पन्न मुनि है। ऐसा मैं भगवान् से श्रवण कर तुझे कहता हूँ।

इति पञ्चमोद्देशकः

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

शस्त्रपरिज्ञा नाम प्रथम अध्ययन

का

—षष्ठ उद्देशकः—

पंचम उद्देशक में वनस्पति का वर्णन किया गया है। अब इस उद्देशक में क्रमप्राप्त त्रसकाय का वर्णन किया जाता है:—

से बेमि संतिमे तसा पाणा, तं जहा-अंडया, पोयया, जराउआ, रसया, संसेयया, संमुच्छिमा, उब्भियया उववाइया एस संसारेत्ति पवुच्चइ मंदस्स अवियाणओ (४७)

संस्कृतच्छाया—*तद् ब्रवीमि संतीमे त्रसाः प्राणिनः तद्यथा—अण्डजाः पोतजाः जरायुजा रसजाः, संस्वेदजाः, सम्मूर्छनजाः उद्भिजाः, औपपातिका एष संसार इति प्रोच्यते मन्दस्य अविजानतः।*

शब्दार्थ—से बेमि=मैं कहता हूँ। संतिमे तसापाणा=ये त्रस प्राणी हैं। तं जहा=वे इस प्रकार हैं। अंडया=अंडे से उत्पन्न होने वाले पक्षी इत्यादि। पोयया=थैली से उत्पन्न होने वाले हाथी इत्यादि। जराउआ=जरायु से होने वाले गाय भैंस इत्यादि। रसया=रसों में होने वाले छोटे कीड़े। संसेयया=पसीने से उत्पन्न होने वाले जूं वगैरह। संमुच्छिमा=स्वतः उत्पन्न होने वाले पतंगिया इत्यादि। उब्भियया=जमीन खोदकर निकलने वाले खंजरीट इत्यादि। उववाइया=देवता और नारकी। एस=यह प्राणियों का समूह। संसारेत्ति=संसार। पवुच्चइ=कहा जाता है। मंदस्य=अज्ञानी का। अवियाणओ=हिताहित के विचार से शून्य का (इस संसार में जन्म होता है)।

भावार्थ—हे आयुष्मन् शिष्य! मैं त्रस जीवों का वर्णन करता हूँ सो श्रवण कर। त्रस प्राणियों के इस तरह भेद होते हैं (१) अंडे से उत्पन्न होने वाले पक्षी वगैरह (२) थैली से उत्पन्न होने वाले हाथी इत्यादि (३) जरायु से पैदा होने वाले गाय, भैंस, मनुष्यादि (४) रस में पैदा होने वाले छोटे २ कीड़े (५) संसेयया=पसीने से पैदा होने वाले जूं इत्यादि (६) संमुच्छिमा=स्वतः उत्पन्न होने वाले, पतंगिया, पक्खी वगैरह (७) जमीन से निकलने वाले तीड़ आदि (८) उपपात जन्म वाले देव और नारकी। इन आठ भेदों में संसार के सभी त्रस जीवों का समावेश हो जाता है। यह प्राणी—समुदाय ही संसार है। जो हिताहित के विचार से शून्य हैं ऐसे अज्ञानी प्राणी पुनः पुनः इसमें परिभ्रमण करते हैं।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

विवेचन—यहाँ त्रस जीवों के आठ प्रकार के जन्म कहे गये हैं। अन्यत्र तीन जन्म भी कहे गये हैं। तत्वार्थसूत्र में "सम्मूर्छनगर्भोपपाता जन्म" इस सूत्र से तीन प्रकार के जन्म कहे गये हैं। इसका कारण यह है कि आठ प्रकार के जन्म उत्तर भेद की अपेक्षा से हैं। मूल भेद की अपेक्षा तीन जन्म हैं। रसया, संसेयमा, उब्भिया इन तीन का समावेश संमूर्छन जन्म में हो जाता है। अण्डज, पोतज, और जरायुज का समावेश, गर्भज जन्म में हो जाता है। देव और नारकी उपपात जन्म वाले होने से उपपात जन्म में गर्भित हो जाते हैं। अतः तीन जन्म मूल भेद की अपेक्षा से हैं और आठ जन्म उत्तर भेद की विवक्षा से हैं। यहां उत्तर भेदों का ग्रहण किया गया है।

निज्झाइत्ता, पडिलेहित्ता, पत्तेयं परिनिव्वाणं सव्वेसिं पाणाणं, सव्वेसिं भूयाणं, सव्वेसिं जीवाणं, सव्वेसिं सत्ताणं, अस्सायं अपरिनिव्वाणं महब्भयं दुक्खं त्ति बेमि (४८)

संस्कृतच्छाया—*निर्ध्याय प्रत्युपेक्ष्य प्रत्येकं परिनिर्वाणं सर्वेषां प्राणिनां सर्वेषां भूतानां सर्वेषां जीवानां सर्वेषां सत्वानाम्, असातम् अपरिनिर्वाणम् महाभयं दुःखमिति ब्रवीमि।*

शब्दार्थ—**निज्झाइत्ता=विचार करके। पडिलेहित्ता=देखकर। पत्तेयं=प्रत्येक प्राणी को। परिनिव्वाणं=सुख प्रिय है। सव्वेसिं पाणाणं=सभी विकलेन्द्रियों को। सव्वेसिं भूयाणं=सभी वनस्पति को। सव्वेसिं जीवाणं=सभी पंचेन्द्रिय जीवों को। सव्वेसिं सत्ताणं=सभी एकेंद्रिय प्राणियों को। दुक्खम्=दुख। अस्सायं=असातारूप। अपरिनिव्वाणं=दुख देने वाला। महब्भयं=परम भय रूप है। त्ति बेमि=ऐसा कहता हूं।**

भावार्थ—हे जम्बू! अत्यन्त मनोमन्थन (विचार) करने के बाद तथा सारी वस्तुस्थिति का अवलोकन करने के पश्चात् तुझे यह कहता हूँ कि सभी, बेइन्द्रियादि प्राणी, वनस्पति आदि सभी भूत, पंचेन्द्रियादि जीव तथा एकेन्द्रियादि सत्व सुख के ही अभिलाषी हैं। असाता किसी को प्रिय नहीं है। दुःख सदा शरीर और मन को पीड़ा करता है अतः सभी प्राणी दुख को महा भयरूप मानते हैं।

विवेचन—संसार के समस्त प्राणियों की भिन्न भिन्न विवक्षा से ४ प्रकार की संज्ञा है। जैसे कहा है:—"प्राणाः द्वित्रिचतुः प्रोक्ताः भूतास्तु तरवः स्मृताः। जीवा पंचेन्द्रियाः प्रोक्ताः शेषाः सत्वा उदीरिताः" प्राण, भूत, जीव और सत्व ये चारों यद्यपि समानार्थक हैं तदपि व्युत्पत्ति के भेद को मानने वाले समभिरूढ नय की अपेक्षा चारों का भेद प्रकट किया गया है। तात्पर्य यह है कि संसार के छोटे से छोटे प्राणी से लेकर महान् से महान प्राणी भी सुख प्राप्ति के लिए ही प्रयत्न करता है। सब सुख की आशा से ही प्रवृति करते हैं परन्तु अज्ञानादि हेतु से सुख की जगह दुख प्राप्त हो जाय तो बात ही दूसरी है। इससे फलित होता है कि सुख सभी को प्रिय है और दुख सभी को भयरूप है। अतः "आत्मवत् सर्वभूतेषु" का व्यवहार करना ही कल्याण रूप है।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

तसंति पाणा पदिसो दिसासु य । तत्थ तत्थ पुढो पास, आउरा परितावेंति, संति पाणा पुढो सिया (४६)

संस्कृतच्छाया—त्रस्यन्ति प्राणिनः प्रदिशः दिक्षु च, तत्र तत्र पृथक् पश्य आतुराः परितापयन्ति, सन्ति प्राणिनः पृथक् श्रिताः ।

शब्दार्थ—पाणा=प्राणी । पदिसो=विदिशाओं में । दिसासु य=दिशाओं में । तसंति=उद्वेग पाते हैं । तत्थ तत्थ पुढो=भिन्न भिन्न कारणों से । पास=हे शिष्य ! देख । आउरा=आसक्त प्राणी । परितावेंति=पीड़ा देते हैं । पाणा=प्राणी । पुढो=भिन्न भिन्न । सिया=पृथ्वी आदि के आश्रित । संति=हैं ।

भावार्थ—प्राणी दिशा और विदिशा में रहे हुए सर्वत्र त्रास पाते हैं, क्योंकि हे शिष्य ! तू देख कि विषय-कषायादि से आतुर बने हुए प्राणी अपने भिन्न २ स्वार्थों के कारण उन त्रसादि जीवों को विविध प्रकार से पीड़ा पहुंचाते हैं । ये त्रसादि प्राणी पृथ्वी आदि के आश्रित सर्वत्र रहे हुए हैं अतः प्रत्येक आरम्भ से उन्हें पीड़ा पहुंचती है ।

विवेचन—इस सूत्र में यह बताया गया है कि दिशा विदिशा और संसार के प्रत्येक कोने में त्रसादि जीव रहे हुए हैं । उनमें से प्रत्येक प्राणी अपने रक्षण के लिए भरसक प्रयत्न करता है । कोशिकार कीड़ा सभी दिशा और विदिशाओं से डर कर आत्म-रक्षण के लिए अपने शरीर को चारों तरफ से तन्तुओं से लपेटा हुआ रखता है तदपि बेचारा त्रास पाता है और मारा जाता है क्योंकि विषय कषायों से आतुर हुआ प्राणी स्वार्थ के कुटिल माया जाल में फंसकर एक दूसरे प्राणी की हिंसा के लिये प्रयत्न करता हुआ अपने लिये सर्वत्र भय का भूत खड़ा कर लेता है और अपने ही खड़े किये हुए भय के भूत से स्वयं डरता है । स्वार्थ के झंझावात में फंसा हुआ प्राणी दिशा-विदिशा और संसार के कोने कोने को भय रूप बना देता है और इसी कारण सर्वत्र रहे हुए त्रसादि प्राणियों को उद्वेग पहुंचाता है । इसी लिए कहा है कि संसार के सुरक्षित से सुरक्षित स्थान पर रहे हुए, दिशा-विदिशा और भावदिशा में रहे हुए प्राणी सदा एक दूसरे से सशंकित होते हुए उद्वेग और मरण भय का अनुभव करते हैं । यहाँ अभय की महिमा प्रतीत होती है । जो दूसरों को अभय कर देता है वस्तुतः वही स्वयं निर्भय हो जाता है ।

लज्जमाणा पुढो पास, अणगारा मो त्ति एगे पवयमाणा, जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं त्रसकायसमारंभेणं त्रसकायसत्थं समारंभमाणा अणेगरूवे पाणे विहिंसति (५०)

संस्कृतच्छाया—लज्जमानान्पृथक् पश्य, अनगाराः स्म इत्येके प्रवदन्तः यदिदं विरूपरूपैः शस्त्रैः त्रसकायसमारम्भेण त्रसकायशस्त्रं समारभमाणोऽन्यानेकरूपान् प्राणिनः हिनस्ति ।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

भावार्थ—अन्यथा बोलने वाले और अन्यथा करने वाले शाक्यादि भिक्षु सावद्य अनुष्ठान से शरमाते हुए कहते तो हैं कि हम अनगार हैं परन्तु ऐसा कहते हुए इस त्रसकाय के विविध प्रकार के शस्त्रों से त्रसकाय का आरम्भ करते हुए अन्य अनेक प्राणियों की भी साथ ही साथ हिंसा करते हैं।

तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइया। इमस्स चेव जीवियस्स, परिवंदणमाणणपूयणाए, जाइमरणमोयणाए, दुक्खपडिघायहेउं, से सयमेव तसकायसत्थं समारंभति, अण्णेहिं वा तसकायसत्थं समारंभावेइ, अण्णे वा तसकायसत्थं समारभमाणे समणुजाणइ तं से अहियाए, तं से अबोहिए (५१)

संस्कृतच्छाया—*तत्र खलु भगवता परिज्ञा प्रवेदिता। अस्य चैव जीवितस्य परिवन्दनमाननपूजनार्थं जातिमरणमोचनार्थं दुःखप्रतिघातहेतुं सः स्वयमेव त्रसकायशस्त्रं समारभते, अन्यैर्वा त्रसकायशस्त्रं समारम्भयति, अन्यान्वा त्रसकायशस्त्रं समारभमाणान्समनुजानीते तत्तस्याहिताय, तत्तस्याबोधिलाभाय।*

भावार्थ—यहां त्रसकाय के विषय में भगवान् ने अच्छी तरह विवेक समझाया है कि इस जीवन को टिकाने के लिए, प्रशंसा, मान और पूजा के लिए, जन्म मरण से छूटने के लिए (धर्म निमित्त) और दुःखों से छुटकारा पाने के लिए यह प्राणी त्रसकाय का आरम्भ करता है, अन्य से कराता है और करते हुए को अच्छा समझता है किन्तु उसका यह आरम्भ उसके लिए अहित और अज्ञान रूप होता है। विवेचन पूर्ववत्।

से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाय, सोच्चा भगवओ, अणगाराणं वा अंतिए इहमेगेसिं णायं भवति—एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णिरए। इच्चत्थं गढिए लोए जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं तसकायसमारंभेणं, तसकायसत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ (५४)

संस्कृतच्छाया—*स तत् सम्बुध्यमानः आदानीयं समुत्थाय, श्रुत्वा भगवतोऽनगाराणां वाऽऽन्तिके इहैकेषां ज्ञातं भवति। एष खलु ग्रन्थः, एष खलु मोहः, एष खलु मारः, एष खलु नरकः। इत्येवमर्थं गृद्धो लोकः यदिदं विरूपरूपैः शस्त्रैः त्रसकायसमारम्भेण त्रसकायशस्त्रं समारभमाणोऽन्यानप्यनेकरूपान् प्राणिनः हिनस्ति।*

भावार्थ—हिंसा को अहित और अज्ञानकर्त्री समझकर, सर्वज्ञ और श्रमणजनों से ग्राह्य ज्ञानादि ग्रहण करने पर एक २ को ज्ञात हो जाता है कि वह हिंसा आठ कर्मों की गांठ है, यह मोह का कारण है, यह मृत्यु का हेतु है और नरक में ले जाने वाली है। तदपि खान-पान और विषयादि में मूर्छित हुए प्राणी इस त्रसकाय का अनेक प्रकार के शस्त्रों से समारम्भ करते हुए अन्य अनेक प्राणियों की हिंसा करते हैं।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

से बेमि अप्पेगे अच्चाए हणंति, अप्पेगे अजिणाए वहंति, अप्पेगे मंसाए वहंति, अप्पेगे सोणियाए वहंति, एवं हिययाए, पित्ताए, वसाए, पिच्छाए, पुच्छाए, बालाए, सिंगाए; विसाणाए, दंताए, दाढाए, णहाए, ण्हारूणीए, अट्ठीए, अट्ठिमिंजाए, अट्ठाए, अणट्ठाए, अप्पेगे हिंसिंसु मेत्ति वा वहंति. अप्पेगे हिसंति मे त्ति वा वहंति अप्पेगे हिंसिस्संति मे त्ति वा वहंति (५३)

संस्कृतच्छाया—*तद् ब्रवीमि, अप्येके अर्चार्थं घ्नन्ति, अप्येके अजिनार्थं घ्नन्ति, अप्येके मांसार्थं घ्नन्ति, अप्येके शोणितार्थं घ्नन्ति, एवं हृदयाय, पित्तार्थं, वसार्थं, पिच्छार्थं, पुच्छार्थं, बालार्थं, शृङ्गार्थं, विषाणार्थं, दन्तार्थं, दंष्ट्रार्थं, नखार्थं, स्नाय्वर्थं, अस्थ्यर्थं, अस्थिमिञ्जार्थं, अर्थायानर्थाय, अप्येके हिंसितवान् मे इति घ्नन्ति, अप्येके हिंसन्ति मे इति वा घ्नन्ति अप्येके हिंसिष्यन्ति मे इति वा घ्नन्ति ।*

शब्दार्थ—से बेमि=मैं कहता हूं । अप्पेगे=एक एक प्राणी । अच्चाए=देवी देवताओं की पूजा के लिए । हणंति=त्रस जीवों को मारते हैं । अप्पेगे=कोई । अजिणाए वहंति=चमड़े के लिये मारते हैं । अप्पेगे मंसाए वहंति=कोई मांस के लिए मारते हैं । अप्पेगे सोणियाए वहंति= कोई खून के लिए मारते हैं । एवं=इसी तरह । हिययाए=हृदय के लिए । पित्ताए=पित्त के लिए । वसाए=चर्बी के लिए । पिच्छाए=मोरपिच्छी के लिए । पुच्छाए=पूँछ के लिए । बालाए=बाल के लिए । सिंगाए=सींग के लिए । विसाणाए=विषाण के लिए । दंताए=दांत के लिए । दाढाए= दाढ़ के लिए । णहाए=नख के लिये । ण्हारूणीए=नसों के लिए । अट्ठीए=हड्डी के लिए । अट्ठिमिंजाए=हड्डी के अन्दर के भाग के लिए । अट्ठाए=प्रयोजन से । अणट्ठाए=बिना प्रयोजन से । अप्पेगे=कोई । हिंसिंसु मेत्ति वा वहंति=इसने मुझे मारा यह जानकर हिंसा करते हैं । अप्पेगे हिंसंति मे=कोई यह मुझे मारता है इसलिए हिंसा करता है । अप्पेगे=कोई । हिंसिस्संति मे त्ति वहंति=यह मुझे मारेगा इसलिए हिंसा करते हैं ।

भावार्थ—कोई कोई अज्ञानी और अन्धश्रद्धालु लोग देवी-देवताओं को भोग देने के लिये त्रसादि जीवों को मारते हैं, कोई चमड़े के लिये—व्याघ्र आदि को, मांस के लिए सूअर आदि को, खून के लिए, मंत्रसाधक पशु के हृदय को निकालकर मथते हैं अतः हृदय के लिए, पित्त के लिए मोर आदि को, चर्बी के लिए बाघ, मगर वराह आदि को, पिच्छी के लिए मयूर आदि को, पूंछ के लिए रोझ आदि को, बाल के लिए चमरी गाय को, सींग के लिए मृग और गडा को (याज्ञिक इनके शृंग को पवित्र मानते हैं,) विषाण (शूकर दन्त) के लिए सूअर को, दन्त के लिये हाथी आदि को, दाढ के लिए वराह आदि को, नख के लिए व्याघ्र को नसों के लिए गाय बैल को, हड्डी के लिए शंख-सीप को, हड्डी की

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

मिंजी के लिए भैंसा, वराह को, प्रयोजन से, कोई बिना प्रयोजन केवल मनोविनोद के लिए त्रस प्राणियों को मारते हैं। इसने मेरे स्वजनों को मारा था इसलिये भी कोई मारते हैं, यह मुझे मारता है इस संकल्प से अथवा यह मुझे मारेगा इस भाव से भी जीवों की हिंसा की जाती है।

विवेचन—'अच्चाए' पद का विशेष स्पष्टीकरण आवश्यक होने से यहाँ किया जाता है–'अच्चाए' का एक अर्थ तो उपर किया गया है कि देवी-देवताओं को भोग देने के निमित्त भी वध किया जाता है। दूसरा अर्थ अच्चा अर्थात्–देह। इस देह के लिए भी हिंसा की जाती है जैसे लक्षण सम्पन्न, सकल अंग सम्पूर्ण व्यक्ति को मारकर उसके शरीर से विद्या और मंत्र का साधन करते हैं अथवा अन्धविश्वासी दुर्गादि देवी के मांगने पर बलि देते हैं। अथवा जिसने विष खा लिया हो उसका विष निवारण करने के लिए हाथी को मारकर उसके शरीर में विष खाने वाले को रखा जाता है जिससे विष हजम हो जाता है, इसके लिए भी हाथी की हिंसा की जाती है।

अन्ध श्रद्धा और अज्ञान क्या २ भीषण पाप नहीं कराते है! वस्तुतः अपने अन्ध विश्वास के लिए या क्षुद्र स्वार्थों के लिए पंचेन्द्रिय समान प्राणियों के मूल्यवान जीवन की कीमत नहीं समझकर उन्हें मार देना कितनी निष्ठुरता और अज्ञान की पराकाष्ठा है।

एत्थ सत्थं समारभमाणस्स इच्चेते आरम्भा अपरिण्णाया भवंति। एत्थ सत्थं असमारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाया भवंति (५४)

संस्कृतच्छाया—*अत्र शस्त्रं समारभमाणस्य इत्येते आरम्भा अपरिज्ञाताः भवन्ति, अत्र शस्त्रमसमारभमाणस्य इत्येते आरम्भाः परिज्ञाताः भवन्ति।*

भावार्थ—जो त्रसकाय की हिंसा में प्रवृत्त होता है वह हिंसा के अशुभ फलों को नहीं जानता है जो त्रसकाय की हिंसा में प्रवृत्ति नहीं करता है वह आरम्भ के फल को जानता है।

तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं तसकायसत्थं समारंभेज्जा णेवण्णेहिं तसकायसत्थं समारंभावेज्जा, णेवण्णे तसकायसत्थं समारंभंते समणुजाणेज्जा, जस्सेते तसकायसत्थसमारंभा परिण्णाया भवंति से हु मुणी परिण्णायकम्मे त्ति बेमि (५५)

संस्कृतच्छाया—*तत् परिज्ञाय मेधावी नैव स्वयं त्रसकायशस्त्रं समारभेत, नैवान्यैः त्रसकायशस्त्रं समारम्भयेत्, नैवान्यान् त्रसकायशस्त्रं समारभमाणान् समनुजानीयात्। यस्यैते त्रसकायशस्त्रसमारम्भाः परिज्ञाताः भवन्ति स एव मुनिः परिज्ञातकर्मेति ब्रवीमि।*

भावार्थ—उपसंहार करते हुए आचार्य कहते हैं कि बुद्धिमान् उपर्युक्त अहिंसातत्व को समझकर स्वयं त्रसकाय की हिंसा न करे, अन्य से न करावे, करते हुए अन्य को अच्छा न समझे। जिसने त्रसकाय के आरम्भ के अशुभ फल को जानकर उसका त्याग कर दिया है वही परिज्ञा (विवेक) सम्पन्न मुनि है। हे जम्बू! भगवान् से श्रवण कर मैंने तुझे यह कहा है।

इति षष्ठ उद्देशकः

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

शस्त्रपरिज्ञा नाम प्रथम अध्ययन

का

—सप्तमोद्देशक—

गत छ उद्देशकों में पृथ्वी, अप्, तेज, अग्नि, वनस्पति, और त्रसकाय का वर्णन किया जा चुका है। अब इस उद्देशक में वायुकाय का उल्लेख है। सामान्य क्रम तो पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, वनस्पति और त्रस इस प्रकार है किन्तु वायु का स्वरूप चक्षुर्गोचर नहीं होने से दुःश्रद्धानरूप है अतः बाद में वर्णन किया ताकि सरलता से समझ में आ सके। दूसरी बात संयमी साधक के लिये भी इसका सर्वथा परिहार अशक्य है क्योंकि हलनचलनादि क्रियाएँ उनको भी करनी ही पड़ती हैं अतः सबसे अन्त में उसका उल्लेख करते हैं:—

पहू एजस्स दुगंछणाए आयंकदंसी अहियं ति णचा, जे अज्झत्थं जाणइ से बहिया जाणइ, जे बहिया जाणइ से अज्झत्थं जाणइ एयं तुलमन्नेसि, इह संतिगया दविया णावकंखंति जीविउं (५६)

संस्कृतच्छाया—*प्रभुः एजस्य जुगुप्सायाम्, आतङ्कदर्शी अहितमिति ज्ञात्वा, योऽध्यात्मं जानाति स बहिर्जानाति, यो बहिर्जानाति सोऽध्यात्मं जानाति, एतां तुलामन्वेषयेत्, इह शान्तिगताः द्रविकाः नावकाङ्क्षन्ति जीवितुम्।*

शब्दार्थ—**पहू=समर्थ होता है। एजस्य=वायुकाय की। दुगंछणाए=हिंसा से निवृत्ति करने में। आयंकदंसी=शारीरिक मानसिक दुःखों को जानने वाला। अहियं ति णचा=आरम्भ को अहित करने वाला जानकर। जे अज्झत्थं जाणइ=जो आभ्यन्तर आत्मा को जानता है। से बहिया जाणइ=वही बाहर की वस्तु का सम्यग् जानने वाला है। जे बहिया जाणइ=जो बाहर की वस्तुओं को भलीभांति जानता है। से अज्झत्थं जाणइ=वही आभ्यन्तर तत्व को जानता है। एयं तुलमन्नेसि=दोनों को एक तुला पर रखे। इह=जैनशासन में। संतिगया=शान्ति में मग्न। दविया=संयमी पुरुष। नावकंखंति जीविउं=असंयमी जीवन की इच्छा नहीं करते हैं।**

भावार्थ—जो शारीरिक और मानसिक पीड़ाओं को भलीभांति जानता है और जो आरम्भ (हिंसा) को अहित करने वाला समझता है वही वायुकाय के समारम्भ से निवृत्त होने में समर्थ होता है क्योंकि जो स्वतः अपनी आत्मा को होने वाले सुख-दुखों को बराबर समझता है वही दूसरे जीवों को होने

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

वाले सुख-दुःखों का बराबर निदान कर सकता है। जो बाहर के जीवों को होने वाले सुख-दुःखों को बराबर समझ सकता है वही अपने सुख दुःखों को बराबर समझ सकता है अतः अपने को और दूसरों को एक ही तुला पर तोलो। अर्थात् जैसे स्वयं सुखाभिलाषी होकर अपनी रक्षा करते हो वैसे ही दूसरों की भी करो। अपने को दुःख का वेदन होता है वैसे ही दूसरों को भी होता है यह समझो। ऐसा समझ कर ही जैनशासन में प्रव्रजित शान्ति के रस में निमग्न संयमी पुरुष, असंयमी जीवन की इच्छा तक नहीं करते हैं।

विवेचन—"आत्मवत् सर्वभूतेषु" का कितना सत्य, शिव और सुन्दर स्वरूप प्रतिपादन किया है! जो प्राणी अन्तःकरण पूर्वक यह समझ लेता है कि मेरा चैतन्य और दूसरे जीवों का चैतन्य एक समान है वह कदापि अपने कल्पित सुखों के लिए दूसरे जीवों को कष्ट नहीं पहुंचाता है। दूसरों को दुखी करके पाया हुआ सुख, सुख नहीं किन्तु सुखाभास-सुख की झूठी विडम्बना-है। दूसरों को लूट कर एकत्रित किया हुआ धन सुख का साधन नहीं किन्तु भयंकर नरक का द्वार है। अतएव शान्ति एवं अनन्त सुख के अभिलाषी पुरुष, जीव हिंसा करके, दूसरों को पीड़ा पहुंचा कर कभी जीना पसन्द नहीं करते हैं।

लज्जमाणा पुढो पास, अणगारा मो त्ति एगे पवयमाणा, जमिणं विरूव-रूवेहिं सत्थेहिं वाउकम्मसमारंभेणं वाउसत्थं समारभमाणे अणणे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ (५७)

संस्कृतच्छाया—*लज्जमानान्पृथक् पश्य। अनगाराः स्म इत्येके प्रवदन्तः यदिदं विरूपरूपैः शस्त्रैः वायुकर्मसमारम्भेण वायुशस्त्रं समारभमाणा अन्यानप्यनेकरूपान् प्राणिनः हिनस्ति।*

भावार्थ—सावद्य अनुष्ठान से शरमाते हुए कितने ही शाक्यादि भिक्षु कहते हैं कि हम अनगार हैं परन्तु फिर भी वे अनेक प्रकार के शस्त्रों द्वारा इस वायुकाय का समारम्भ करते हुए वायुकाय की हिंसा करते हैं और साथ ही मच्छर आदि अनेक जीवों की घात करते हैं।

विवेचन—वायुकाय की आकृति चक्षुःगोचर नहीं होने से उसकी सचेतनता सामान्य दृष्टि से श्रद्धेय नहीं होती अतः उसकी सचेतनता के प्रमाण देना आवश्यक है। निम्न प्रमाणों के द्वारा उसकी सजीवता सिद्ध होती है—जैसे देवता का शरीर चक्षु द्वारा नहीं दिखने पर भी चेतना वाला समझा जाता है अर्थात् देवता अपनी वैक्रिय शक्तिद्वारा ऐसा रूप बनावे जो आँख से नहीं देखा जा सकता है तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि यह (देव शरीर) नही है और अचेतन है। इसी तरह वायु भी चक्षु का विषय नहीं है तो भी चैतन्य रूप है। तथा जिस प्रकार अंजनादि विद्या और मंत्रों से मनुष्य अन्तर्धान हो जाते हैं इससे वे अचेतन नहीं हो जाते हैं इसी तरह चक्षु से नहीं दिखने से वायु अचेतन नहीं हो जाती। वायु में चर्मचक्षुग्राह्य रूप नहीं है तदपि वायु वर्ण, गंध, रस और स्पर्शरूप है। कई नैयायिकादि वायु को रूप-रहित मानते हैं (रूपरहितः स्पर्शवान् वायुः इति वचनात्) परन्तु उसमें सूक्ष्म वर्णादि चतुष्क पाये जाते हैं। अनुमान से भी सिद्धि की जाती है-वायु चेतना वाली है, क्योंकि दूसरों के द्वारा प्रेरित किये बिना भी

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

तिर्यग् और अनियमित गति वाली है जैसे–गाय, अश्व आदि। अनियमित विशेषण देने से परमाणु में होने वाली अनैकान्तिकता का असंभव है क्योंकि परमाणु और जीव की गति सरल ही है "अनुश्रेणि गतिः" इति वचनात्। उपर के प्रमाण से वायु सचेतन है अतः उसकी यतना में उपयुक्त होना चाहिए।

तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइया। इमस्स चेव जीवियस्स, परिवंदणमाणणपूयणाए, जाइमरणमोयणाए, दुक्खपडिघायहेउं, से सयमेव वाउसत्थं समारंभति, अण्णेहिं वाउसत्थं समारंभावेइ, अण्णे वा वाउसत्थं समारंभंते समणुजाणइ तं से अहियाए, तं से अबोहिए (५८)

संस्कृतच्छाया—*तत्र खलु भगवता परिज्ञा प्रवेदिता। अस्य चैव जीवितस्य परिवन्दनमाननपूजनार्थं जातिमरणमोचनार्थं दुःखप्रतिघातहेतुं सः स्वयमेव वायुशस्त्रं समारभते, अन्यैर्वा वायुशस्त्रं समारभयति, अन्यान्वा वायुशस्त्रं समारभमाणान्समनुजानीते तत्तस्याहिताय, तत्तस्याबोधिलाभाय।*

भावार्थ—भगवान् ने वायुकाय के विषय में परिज्ञा फरमायी है कि इस जीवन के निर्वाह के लिए, प्रशंसा, मान और पूजा के लिए, जन्म और मरण से छूटने के लिए, दुःखों का निवारण करने के लिए प्राणी स्वयं वायुकाय की हिंसा करता है, अन्य से कराता है और करते हुए अन्य को अच्छा समझता है परन्तु इस हिंसा से उसका अहित और अज्ञान ही बढ़ने वाला है।

से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाय, सोच्चा भगवओ अणगाराणं वा अंतिए इहमेगेसिं णायं भवति–एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णिरए। इच्चत्थं गढिए लोए जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं वाउकम्मसमारंभेणं, वाउसत्थं समारभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ (५९)

संस्कृतच्छाया—*स तद् सम्बुध्यमानः आदानीयं समुत्थाय, श्रुत्वा भगवतोऽनगाराणां वान्तिके इहैकेषां ज्ञातं भवति। एष खलु ग्रन्थः, एष खलु मोहः, एष खलु मारः, एष खलु नरकः। इत्येवमर्थं गृद्धो लोकः यदिदं विरूपरूपैः शस्त्रैः वायुकर्मसमारम्भेण वायुशस्त्रं समारभमाणोऽन्यानप्यनेकरूपान् प्राणिनः हिनस्ति।*

भावार्थ—हिंसा को अहितकर्त्री समझकर, सर्वज्ञ अथवा श्रमणों से सुनकर और ग्राह्य सम्यग्–ज्ञानादि ग्रहण करने से किसी-किसी प्राणी को यह ज्ञान होता है कि यह हिंसा आठ कर्मों की गांठ है, मोह का कारण है, मरण का हेतु है और नरक में ले जाने वाली है। तो भी खानपान और कीर्ति के लोभ से लुब्ध होकर प्राणी वायुकाय के विविध शस्त्रों द्वारा वायुकाय की हिंसा करते हैं और अन्य प्राणियों की भी घात करते हैं।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

से बेमि संति संपाइमा पाणा आहच्च संपयंति य। फरिसं च खलु पुट्ठा एगे संघायमावज्जन्ति, जे तत्थ संघायमावज्जन्ति ते तत्थ परियाविज्जंति, जे तत्थ परियाविज्जंति से तत्थ उद्दायंति (६०)

संस्कृतच्छाया—*तद् ब्रवीमि सन्ति संपातिनः प्राणिनः आहत्य संपतन्ति च स्पर्शं च खलु स्पृष्टाः एके संघातमापद्यन्ते, ये तत्र संघातमापद्यन्ते ते तत्र पर्यापद्यन्ते, ये तत्र पर्यापद्यन्ते ते तत्रापद्रावन्ति।*

भावार्थ—मैं कहता हूँ कि वायुकाय के साथ कई उड़ते हुए प्राणी भी हैं जो वायु के साथ एकत्रित होकर अंदर गिरते हैं और वायु की हिंसा के साथ वे भी पीड़ा पाते हैं, मूर्छित होते हैं और मृत्यु को प्राप्त करते हैं।

एत्थ सत्थं समारभमाणस्स इच्चेते आरम्भा अपरिण्णाया भवंति। एत्थ सत्थं असमारभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाया भवंति (६१)

संस्कृतच्छाया—*अत्र शस्त्रं समारभमाणस्य इत्येते आरम्भा अपरिज्ञाताः भवन्ति, अत्र शस्त्रमसमारभमाणस्य इत्येते आरम्भाः परिज्ञाताः भवन्ति।*

भावार्थ—जो वायुकाय के शस्त्र का समारंभ करता है उसे इन आरम्भ की क्रियाओं का विवेक नहीं होता है अतः उसे कर्मबन्धन होता है। जो वायुकाय के शस्त्र का समारंभ नहीं करता है उसे आरंभ के भेदों का (विवेक) ज्ञान होता है अतः उसे बन्धन नहीं होता।

तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं वाउसत्थं समारंभेज्जा णेवण्णेहिं वाउसत्थं समारंभावेज्जा, णेवण्णे वाउसत्थं समारंभंते समणुजाणेज्जा, जस्सेते वाउसत्थ-समारंभा परिण्णाया भवंति से हु मुणी परिण्णायकम्मे त्ति बेमि (६२)

संस्कृतच्छाया—*तत् परिज्ञाय मेधावी नैव स्वयं वायुशस्त्रं समारभेत, नैवान्यैः वायुशस्त्रं समारम्भयेत्, नैवान्यान् वायुशस्त्रं समारभमाणान् समनुजानीयात्। यस्यैते वायुशस्त्रसमारम्भाः परिज्ञाताः भवन्ति स एव मुनिः परिज्ञातकर्मेति ब्रवीमि।*

भावार्थ—हिंसा के परिणाम को जानकर बुद्धिमान् स्वयं वायुकाय की हिंसा न करे, न अन्य से करावे और करते हुए अन्य को अच्छा न समझे। जिसको वायुकाय के समारम्भ का दुष्परिणाम ज्ञात होता है और जिसने प्रत्याख्यान परिज्ञा से वायुकाय समारंभ का त्याग कर दिया है वही परिज्ञा (विवेक) सम्पन्न मुनि है।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

एत्थ वि जाणे उवादीयमाणा जे आयारे न रमंति, आरंभमाणा विणयं वयंति छंदोवणीया, अज्झोववण्णा, आरंभसत्ता पकरेंति संगं (६३)

संस्कृतच्छाया—*अत्रापि जानीहि उपादीयमानान् ये आचारे न रमन्ते, आरम्भमाणा विनयं वदन्ति, छन्दोपनीताः अध्युपपन्नाः आरम्भसक्ताः प्रकुर्वन्ति संगम् ।*

शब्दार्थ—एत्थ वि=इस वायुकाय और शेषकाय में जो आरम्भ करते हैं, (उनको)। उवादीयमाणा=कर्म से बंधे हुए। जाणे=हे शिष्य ! जान्। जे आयारे न रमंति=जो संयम में रमण नहीं करते हैं। आरंभमाणा=आरंभ करते हुए भी। विणयं वयन्ति=अपने आपको संयमी कहते हैं। छंदोवणीया=स्वच्छंदाचारी। अज्झोववण्णा=विषय में गृद्ध। आरंभसत्ता=हिंसादि में आसक्त होते हुए। पकरेंति संगं=पुनः पुनः कर्म बन्धन करते हैं।

भावार्थ—हे शिष्य ! जो इन छह कायों में से एक भी काय का आरम्भ करता है वह छह कायों का आरम्भ करने वाला है ऐसा समझ। 'वह आरम्भ करता हुआ आठों प्रकार के कर्म-बन्धन से लिप्त होता है' यह जानकर जो पांच प्रकार के आचारों में रमण नहीं करते हैं, आरम्भ करते हुए भी अपने आपको संयमी कहते हैं, जो स्वच्छंदाचारी हैं, विषयादि में आसक्त हैं और आरम्भ में लीन हैं ऐसे प्राणी बारबार कर्म बन्धन करते हैं और संसार-परम्परा बढ़ाते हैं।

से वसुमं सव्वसमण्णागयपण्णाणेणं, अप्पाणेणं अकरणिज्जं पावं कम्मं णो अण्णेसि (६४)

संस्कृतच्छाया—*स वसुमान् सर्वसमन्वागतप्रज्ञानेनात्मना अकरणीयं पापं कर्म नान्वेषयेत् ।*

शब्दार्थ—से वसुमं=वह संयमधनी साधक। सव्वसमण्णागयपण्णाणेणं=सर्व प्रकार से सावधान और समझ युक्त। अप्पाणेणं=आत्मा। अकरणिज्जं=नहीं करने योग्य। पावं कम्मं=पापकर्मों को। णो अण्णेसि=न करे।

भावार्थ—संयमधनी साधक सर्वथा सावधान और सर्वप्रकार से समझ युक्त होकर नहीं करने योग्य पापकर्मों में यत्न न करे।

भावार्थ—हिंसा के दुष्परिणामों को जानकर बुद्धिमान् पुरुष स्वयं छः जीव-निकाय की हिंसा करे नहीं, करावे नहीं और करते हुए दूसरों को अच्छा समझे नहीं। इस आरम्भ के सभी भेदों में जिसको विवेक होता है जिसने ज्ञ परिज्ञा से आरम्भ को जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा से उसका त्याग किया है वही

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

परिज्ञासम्पन्न (विवेकी) साधु हैं। सुधर्मा स्वामी फरमाते हैं कि हे जम्बू ! सर्वज्ञानी और सर्वदर्शनी भगवान् से यह कथन मैंने स्वयं सुनकर तुझे कहा है !

विवेचन—व्याख्यान परिपाटी का यह क्रम है कि व्याख्यान के अन्त में नयों का विचार किया जाता है। वैसे तो नय अनन्त हैं तदपि संक्षेप से नय के दो भेद लिये जाते हैं—ज्ञाननय और चरणनय। ज्ञाननय ज्ञान की प्रधानता कहते हैं और चरणनय, चारित्र की प्रधानता बतलाते हैं परन्तु बात यह है कि नय एक अंश को ही ग्रहण करते हैं अतएव जब वे अपने गृहीत अंश को ही वस्तु मानते हैं और शेष अंशों का तिरस्कार करते हैं तो वे दुर्नय (नयाभास) हैं। अतः मिथ्यादर्शन में आजाते हैं। वस्तुतः ज्ञान और क्रिया परस्पर सापेक्ष हैं और उभय प्रधान हैं। न ज्ञानहीन क्रिया मोक्ष दे सकती है और न क्रिया-हीन ज्ञान मोक्ष दे सकता है। पूर्व टिप्पणियों में यह विषय आ चुका है अतः अलम् विस्तरेण।

—उपसंहार—

इस प्रथम अध्ययन में जीव का अस्तित्व, कर्मबन्धन का कारण और मोक्ष इन तत्त्वों का निरूपण किया गया है और आत्मविकास के लिये, विचार, विवेक और संयम इनका तीन अंगों का वर्णन करके द्रव्य और भाव हिंसा छूटने के उपाय बताये गये हैं। वस्तुतः अहिंसा ही संयम है और संयम से ही अहिंसा साध्य होती है। अतः अहिंसा के तत्त्व को हृदयंगम करने में ही आत्मकल्याण है। राग, द्वेष, वैरभाव, ईर्षा, अविवेक, मानसिक दुष्टता ये सभी भाव हिंसा के अंग हैं और भावहिंसा, द्रव्यहिंसा भी कराती है जिससे आत्मा का पतन है, चैतन्य को चैतन्य समान समझ कर किसी को पीड़ा न पहुंचा कर अगर प्रत्येक प्राणी के साथ शुद्ध प्रेम का आचरण किया जाय तो इसी में सिद्धि है। "आत्मवत् सर्व-भूतेषु" का सत्य, शिव और सुन्दर सिद्धान्त और प्रभु का यह अमर संदेश संसार के प्राणियों का कल्याण करे और सदा विजयी रहे। जैनं जयति शासनम्।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

लोक-विजय नाम द्वितीय अध्ययन

—प्रथम उद्देशक—

प्रथम अध्ययन में सामान्यतः जीव का अस्तित्व सिद्ध करके, पृथ्वी, अप् आदि अव्यक्त चेतना वालों में भी सयुक्तिक चेतना का प्रतिपादन करके, षट्काय के जीवों के वध में कर्मबन्धन और वध से निवृत्ति करने से मोक्ष होता है यह विषय प्रतिपादित किया गया है। प्रथम अध्ययन में सूक्ष्म अहिंसा का प्रतिपादन करके सूत्रकार ने यह सूचित किया है कि मुमुक्षु के लिये कल्याण करने का सर्वप्रथम सोपान अहिंसा ही है। अहिंसा ही संयम है और संयम ही मोक्ष का साधन है। अतएव प्रथम अध्ययन का उपसंहार करते हुए सूत्रकार ने फरमाया है कि जो षट्काय के जीवों के वध से निवृत्त हो चुका है वही परिज्ञा (विवेक) सम्पन्न मुनि है। मुनि के गुणों में अहिंसा को प्रथम स्थान देने के बाद अन्य जिन २ गुणों की आवश्यकता होती है वे इस अध्ययन में प्ररूपित करते हैं।

इस द्वितीय अध्ययन का नाम "लोक विजय" है। "लोक" शब्द का अर्थ "संसार" है। पति-पत्नी का सम्बन्ध, माता-पिता और सन्तान का सम्बन्ध, धन धान्य, वैभव आदि का संसर्ग, यह बाह्य संसार है। और बाह्य संसार के संसर्ग से उत्पन्न होने वाले आसक्ति, ममता, स्नेह, वैर, अहंकार आदि भाव जो आत्मा पर असर करते हैं—वह आभ्यन्तर संसार हैं। यह आन्तरिक संसार (भाव संसार) बाह्य संसार का कारण रूप है। वस्तुतः भाव संसार पर विजय प्राप्त करना ही सच्ची लोक विजय है। लोकविजय का अर्थ दशों-दिशाओं को जीतकर अपना भौतिक साम्राज्य स्थापित करना नहीं है परन्तु इसका आशय है:—

जो सहस्सं सहस्साणं संगामे दुज्जए जिणे। एगं जिणेज्ज अप्पाणं एस सो परमो जओ।

अर्थात्—आत्मविजय करना ही परमविजय है। यद्यपि भाव संसार पर विजय प्राप्त करना सच्ची विजय है तो भी भावविजय के लिए द्रव्य संसार की निवृत्ति आवश्यक साधन है। इसी आशय से इस अध्ययन के प्रथम उद्देशक में स्वजन, माता-पिता पुत्र, पति-पत्नी आदि सम्बन्धों का विवेक समझाया गया है।

कर्मवाद के सिद्धान्तानुसार समानतत्त्व के कारण या ऋणानुबन्ध के कारण माता, पिता, पति-पत्नी आदि सम्बन्ध बनते हैं। कर्मों की आंशिक समानता या ऋणानुबन्ध के कारण भिन्न भिन्न स्थानों से आकर प्राणी सम्बन्ध के बन्धन में जुड़ जाते हैं। इस प्रकार के सम्बन्धों में अगर कर्त्तव्यों का बोध हो तो विकास को स्थान है परन्तु कर्त्तव्य सम्बन्ध न होकर जब मोह सम्बन्ध ही रह जाता है तो यह गहन अवनति का कारण हो जाता है। मायाजाल में फँसा हुआ प्राणी सम्बन्ध के नाम से मोह का पोषण करता हुआ विविध पाप कर्म करता है। जब कर्त्तव्य सम्बन्ध है और मोह सम्बन्ध नहीं है तो सम्बन्धी के मरण हो जाने पर भी शोक, या खेद होता ही नहीं है। इसी तरह सम्बंध जुड़ने पर हर्ष का कोई कारण ही नहीं है। यह हर्ष या शोक तो केवल मोह सम्बंध में ही होता है। यह मोह संबंध ही बंधन है अतः इसे त्यागने का उपदेश करते हुए सूत्रकार फरमाते हैं:—

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

जे गुणे से मूलट्ठाणे, जे मूलट्ठाणे से गुणे। इति से गुणट्ठी महता परियावेणं वसे पमत्ते, तंजहा—माया मे, पिया मे, भाया मे, भइणी मे, भज्जा मे, पुत्ता मे, धूया मे, सुण्हा मे, सहिसयणसंगंथसंथुया मे, विवित्तोवगरण परियट्टण-भोयणच्छायणं मे इच्चत्थं गढिए लोए वसे पमत्ते।

संस्कृतच्छाया—*यो गुणः स मूलस्थानम्, यन्मूलस्थानम् स गुणः। इति स गुणार्थी महता परितापेन वसेत् प्रमत्तः; तद्यथा माता मे, पिता मे, भ्राता मे, भगिनी मे, भार्या मे, दुहिता मे, स्नुषा मे सखिस्वजनसंबन्धसंस्तुताः मे, विविक्तोपकरणपरिवर्त्तनभोजनाच्छादनं मे इत्येवमर्थं गृद्धो लोकः वसेत् प्रमत्तः।*

शब्दार्थ—जे=जो। गुणे=शब्दादिक विषय हैं। से=वे। मूलट्ठाणे=संसार के मूल कारण हैं। जे=जो। मूलट्ठाणे=संसार के मूल हेतु हैं। से=सो। गुणे=शब्दादिक विषय हैं। इति=इसीलिए। गुणट्ठी=विषयों का अभिलाषी व्यक्ति। महया परियावेणं=बड़े बड़े दुःखों का अनुभव कर। वसे पमत्ते=प्रमादी बनकर रहता है। तंजहा=इस प्रकार कि। माया मे=मेरी माता। पिया मे=मेरा पिता। भाया मे=मेरे भाई। भइणी मे=मेरी बहिन। भज्जा मे=मेरी पत्नी। पुत्ता मे=मेरे पुत्र। धूया मे=मेरी लड़की। सुण्हा मे=मेरी बहू। सहिसयणसंगंथसंथुया मे=मेरे मित्र, मेरे स्वजन, मेरे स्वजन के स्वजन, मेरे परिचित। विवित्तोपगरण=अच्छे २ हाथी घोड़े आदि साधन सामग्री। परियट्टण=दुगुनी, तिगुनी सम्पत्ति। भोयण=खानपान। आच्छायणं=वस्त्र। मे=मेरा। इच्चत्थं=इस प्रकार। गढिए लोए=आसक्त बने हुए प्राणी। वसे पमत्ते=प्रमादी होकर जीवन बिताते हैं।

भावार्थ—जो शब्दादि विषय हैं वे संसार के मूल भूत कारण हैं और जो संसार के मूल भूत कारण हैं वे विषय हैं इसीलिए विषयाभिलाषी प्राणी प्रमादी बनकर शारीरिक और मानसिक अत्यन्त दुःखों द्वारा सदा परितप्त रहा करता है। हे जम्बू! मेरी माता, मेरे पिता, मेरे भाई, मेरी बहिन, मेरी पत्नी, मेरी पुत्री, मेरी पुत्रवधू, मेरे मित्र, मेरे स्वजन, मेरे कुटुम्बी, मेरे परिचित, मेरे हाथी घोड़े मकान आदि साधन, मेरी धनसम्पत्ति, मेरा खानपान, मेरे वस्त्र इस प्रकार के अनेक प्रपञ्चों में फंसा हुआ यह प्राणी आमरण प्रमादी बनकर कर्मबन्धन करता रहता है।

विवेचन—सूत्रकार ने इस सूत्र में विषयकषाय और संसार का अन्योन्य कार्य-कारण सम्बन्ध प्रकट किया है। ये शब्दादिक विषय (कामगुण) संसाररूपी वृक्ष के मूल हैं। जिस क्रम से विषय संसार के मूल कहे गये हैं वह क्रम इस प्रकार है:—विषयों से कामवासना जागृत होती है। कामवासना से चित्त में विकार पैदा होता है और विकृतचित्तवाला व्यक्ति विषय भोग में वास्तविक आनन्द नहीं होते हुए भी,

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

विषय भोगों में आसक्त बनकर उनमें सुख का अनुभव करने के लिए आतुर बनता है। यह आतुरता, यह आसक्ति, यह मुग्धता और यह भ्रान्ति ही संसार है। विषय सुख का पिपासु प्राणी राग-द्वेष के कारण अपनी विवेक बुद्धि को खो देता है इसलिए मनोज्ञ विषयों में रागभाव और अमनोज्ञ विषयों पर द्वेष भाव आ ही जाता है। आशय यह है कि शब्दादि विषयों से कषाय की उत्पत्ति है और कषायों से संसार होता है। जैसा कि कहा है।

कोहो अ माणो अ अणिग्गहीओ, माया अ लोहो अ पवड्ढमाणा।
चत्तारि एए कसिणा कसाया सिञ्चन्ति मूलाइं पुणब्भवस्स ॥

तात्पर्य यह है कि क्रोध और मानरूपी द्वेष से और माया और लोभरूपी राग से अष्ट कर्मों का बन्धन होता है और ये कर्म ही संसार के मूल भूत कारण हैं। भगवद्गीता में भी इसी तत्व की पुष्टि करते हुए कहा गया है कि—

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगः तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥ **अ. २ श्लोक ६२ ॥**

अर्थात्—विषय चिन्तन से आसक्ति उत्पन्न होती है, आसक्ति से कामविचार का उद्भव होता है और काम से क्रोध पैदा होता है। क्रोध कषाय रूप होने से संसार का मूल कारण है। अतः यह सिद्ध हुआ कि परम्परा से विषय ही संसार के मूलकारण हैं। इस संसार प्रवाह का उद्गमस्थान विषय ही है। विषयान्ध प्राणी का विवेकदीप सदा बुझा हुआ रहता है इसलिए वह अन्धों का भी राजा कहा जाता है। विषयान्ध प्राणी की अन्धता भी विचित्र प्रकार की है। अन्धा तो वस्तु के होने पर भी उसे नहीं देख सकता है परन्तु विषयान्ध तो जो चीज है उसे तो नहीं देखता है परन्तु जो नहीं है उसे देखता है। कैसी विचित्रता है ? तथाहि—

दिवा पश्यति नो घूकः, काको नक्तं न पश्यति।
अपूर्वः कोपि कामान्धः दिवा नक्तं न पश्यति ॥

विषयी प्राणी विवेक भ्रष्ट होने से विपरीत रूप से पदार्थों को ग्रहण करता है-जो सुखरूप नहीं है ऐसे विषयों में भी सुखों का आरोप करता है-यही निम्न श्लोक में कहा गया है—

दुःखात्मकेषु विषयेषु सुखाभिमानः।
सौख्यात्मकेषु नियमादिषु दुःखबुद्धिः ॥
उत्कीर्णवर्णपदपंक्तिरिवान्यरूपा।
सारूप्यमेति विपरीतगतिप्रयोगात् ॥

अर्थात्—विषयानुरागी प्राणी दुःखरूप विषयों में सुख, और सुखरूप व्रतनियमादि में दुःख मानता है। यही संसार प्रवाह का कारण है। अब बीजाङ्कुर न्याय से यह दिखाते हैं कि जो जो मूल-स्थान-अर्थात् संसार के मूल कारण कषायादि हैं वे ही विषयादि गुणरूप भी हैं। अर्थात् क्रोध मान रूप

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

द्वेष और माया लोभ रूप राग ये दोनों संसार के मूल कारण-विषयों के भी कारण हैं। राग-द्वेष के कारण ही विषय विषतुल्य है। तो यह सिद्ध हुआ कि विषय संसार के कारण हैं और संसार के कारण राग-द्वेष विषयों के कारण हैं। विषय ग्रहण करने से विषयी का भी ग्रहण होता है इसलिये यह भी अर्थ होता है कि जो गुणों में (विषयों में) वर्तमान है वह मूलस्थान कषायादि में वर्तमान है और जो कषायादि में वर्तमान है वह विषयों में वर्तमान है। यह शब्दादिक विषय और कषायमूलक संसार का कार्य कारण सम्बन्ध दिखलाया गया है। अब यह बताते हैं कि विषयानुरागी प्राणी विषयों को प्राप्त करने की आकांक्षा से अथवा प्राप्त विषयों के नष्ट हो जाने के दुःख से शारीरिक और मानसिक वेदनाओं से सदा संतप्त रहा करता है। वह रागद्वेष रूप प्रमाद से सदा कर्मबन्धन करता रहता है। राग के बन्धन में पड़कर यह समझता है कि माता-पिता, पत्नी, पुत्र, पुत्री, बहिन, चाचा, मामा, श्वसुर साला इत्यादि मेरे हैं और मैं उनका हूँ। मेरे हाथी घोड़े, मेरे ऊंचे २ मकान, मेरे कुबेर के समान सोने चांदी के पहाड़, मेरी दौलत, मेरा खान-पान, मेरे वस्त्र; इस प्रकार यह प्राणी सभी में ममत्व बुद्धि करता हुआ अनेकों पापकारी कर्म करता है और मरणपर्यंत उसका यही क्रम चालू रहता है। कुटुम्बियों में तथा धनदौलत में मरणपर्यन्त आसक्त होता हुआ यह प्राणी भयंकर कर्मों का बन्धन कर लेता है। प्राणी बकरी के समान मे मे (मेरा मेरा) करता है और कालसिंह (मृत्यु) आकर उसे धर दबाता है "पुत्रा मे, भ्राता मे, स्वजना मे गृहकलत्रवर्गो मे। इति कृतममे शब्दं पशोरिव मृत्युर्जनं हरति"।

परशुराम ने अपने पिता के अनुराग से और पिता के नाशक वैरी पर द्वेष के कारण सात बार क्षत्रियों का नाश किया। सुभूम ने इसका बदला लेने के लिए इक्कीसबार ब्राह्मणों का विनाश किया। अपनी स्त्री के कहने से चाणक्य ने नंद वंश का नाश किया। कंस के मारे जाने पर उसका श्वसुर जरासंध अपने बल का अभिमान करके कृष्ण से लड़ा और मारा गया। उपरोक्त दृष्टान्तों से यह स्पष्ट होता है कि मोहासक्त प्राणी कुटुम्बी और धन दौलत के मोहक मायाजाल में पड़कर उनके निमित्त भयंकर से भयंकर कर्म करता हुआ भी नहीं हिचकता है। और मरणपर्यन्त उसी आसक्ति के बीच में पड़ा हुआ कर्म-बन्धन करता रहता है।

स्वजनों के रागबन्धन में पड़ा हुआ प्राणी क्या २ अकृत्य करता है सो बताते हैं:—

अहो य राओ य परियप्पमाणे, कालाकालसमुट्ठाई, संजोगट्ठी, अट्ठालोभी, आलुंपे सहसाकारे विणिविट्ठचित्ते एत्थ सत्थे पुणो पुणो

संस्कृतच्छाया—*अहश्च रात्रिञ्च परितप्यमानः, कालाकालसमुत्थायी, संयोगार्थी, अर्थालोभी, आलुम्पः सहसाकारः, विनिविष्टचित्तः, अत्र शस्त्रम् पुनः पुनः।*

शब्दार्थ—अहो य राओ य=रातदिन। परियप्पमाणे=परिताप पाता हुआ। कालाकालसमुट्ठाई=काल अकाल का विचार नहीं करता हुआ। संजोगट्ठी=कुटुम्ब और धन में लुब्ध बना हुआ। अट्ठालोभी=धन का लालची। आलुंपे=लूट खसोट मचाने वाला। सहसाकारे=बिना विचारे (निर्भयरूप से) विणिविट्ठचित्ते=विषयों में चित्त लगाकर। एत्थ सत्थे=पृथ्वीकाय आदि जन्तुओं में शस्त्र का प्रयोग करता है। पुणो पुणो=बार-बार।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

भावार्थ—स्वजन एवं धनादि की आसक्ति के कारण यह प्राणी स्वजनों के लिए धन कमाने और उनकी रक्षा करने के लिए रात और दिन चिन्ता करता हुआ, काल और अकाल की परवाह नहीं करता हुआ, कुटुम्ब और धनादि में लुब्ध बनकर, विषयों में चित्त लगाकर, कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का विचार किए बिना निर्भयता से संसार में लूट-खसोट मचाता है और बार-बार अनेक प्राणियों की हिंसा करता है।

विवेचन—रागानुबन्ध के कारण प्राणी निरन्तर अपने कुटुम्ब के भरण-पोषण और द्रव्योपार्जन करने के लिए चिन्ता करता रहता है। किन उपायों द्वारा अधिक से अधिक द्रव्य संग्रह किया जाय इन्हीं विचारों में वह डूबा रहता है। धन प्राप्त करने के लिए वह अपने शरीर की भी परवाह नहीं करता, काल और अकाल का विचार तक नहीं आता। धनोपार्जन की तमन्ना में ठंड, धूप, वर्षा, विषममार्ग और भूख-प्यास का दुःख भी वह सहन करता है, धन प्राप्त होता हो तो चाहे मध्याह्न की भीषण गर्मी हो, चाहे माघ मास की भयंकर सर्दी हो, चाहे मूसलधार वर्षा हो रही हो, प्रभात हो या सायंकाल, मध्याह्न हो या अर्द्ध-रात्रि का भयंकर अंधकार हो, प्राणी किसी की भी पर्वाह नहीं करता है। धन के पीछे वह खाना और पीना, सोना और अन्य शारीरिक धर्मों को भी भूल जाता है। मम्मण सेठ के पास करोड़ों का धन था, समुद्रों से पार द्वीपों में तथा देश-विदेश में उसका खूब व्यापार चलता था। उसकी यौवनावस्था भी व्यतीत हो चुकी थी, तो भी अर्थोपार्जन में उसका इतना अधिक ममत्व था कि सात दिन रात्रिपर्यंत मूसलधार वर्षा होने के कारण प्राणियों का इधर उधर संचरण भी रुक गया ऐसी भीषण अवस्था में भी वह मम्मण सेठ नदी में बहकर आते हुए काष्ठ को लेने की प्रवृत्ति में प्रवृत्त हुआ। हाय! इस लोभ का भी क्या पार है!

आसक्ति परिग्रह का मूल कारण है। ज्यों ज्यों परिग्रह बढ़ता है त्यों त्यों प्रेम, प्रमोद, मैत्री और माध्यस्थवृत्ति आदि उच्च सात्विक गुणों का विनाश होता है और माया, प्रपंच, छल-कपट, स्वार्थ, ठगाई इत्यादि दुर्गुणों की वृद्धि होती है, इसीसे यह संसार नरक के समान भयंकर बन जाता है। परिग्रह बढ़ाने के लिए भयंकर से भयंकर पापकर्म करता हुआ प्राणी नहीं संकुचाता है। लोभ के वशीभूत बना हुआ प्राणी कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य, हित तथा अहित का भान भूल कर गला काटना, चोरी करना, अमर्यादित लूट-खसोट मचाना, अपने तनिक से स्वार्थ के कारण दूसरों को धोखे में उतारना आदि २ भीषण पापकर्म निस्संकोच होकर कर डालता है। इसीलिए भगवान् ने फरमाया है कि 'लोहो सव्वविणासणो' लोभ सर्वस्व नाश करने वाला है। लौकिक कहावत है कि 'लोभ पाप का बाप है।' परिग्रही कदापि सच्चा अहिंसक नहीं हो सकता है क्योंकि अमर्यादित परिग्रह रखना भी हिंसा है। अतः आत्मार्थी पुरुषों को आसक्ति का और उसके फलस्वरूप परिग्रह का क्रमशः निरोध करना सीखना चाहिए।

इस तरह विविध प्रपंचों में पड़े हुए प्राणी की आसक्ति और रागानुभाव क्रमशः मन्द पड़े और प्राणी असीम पुण्योपार्जित मानव शरीर को व्यर्थ ही ऐशोआराम और संसार के मोहक भूलभुलैये में ही पूरा न करके इस दुर्लभ मानवजन्म का यथोचित लाभ उठावे इस हेतु से मानवजन्म की अल्पस्थिति का वर्णन करते हुए उसकी बहुमूल्य उपयोगिता समझ कर क्षण के लिए भी प्रमाद न करने का उपदेश फरमाते हैं—

अप्पं च खलु आउयं इहमेगेसिं माणवाणं, तंजहा—सोयपरिण्णाणेहिं परिहीयमाणेहिं, चक्खुपरिण्णाणेहिं परिहीयमाणेहिं, घाणपरिण्णाणेहिं परि-

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

हीयमाणेहिं, रसणपरिण्णाणेहिं परिहीयमाणेहिं, फासपरिण्णाणेहिं परिहीयमाणेहिं, अभिक्कंतं च खलु वयं संपेहाए तओ से एगया मूढभावं जणयति ।

संस्कृतच्छाया—अल्पञ्च खल्वायुरिहैकेषां मानवानाम्, तद्यथा—श्रोत्रपरिज्ञानैः परिहीयमानैः, चक्षुःपरिज्ञानैः परिहीयमानैः, घ्राणपरिज्ञानैः परिहीयमानैः, रसनपरिज्ञानैः परिहीयमानैः, स्पर्शनपरिज्ञानैः परिहीयमानैः, अभिक्रान्तञ्च खलु वयः संप्रेक्ष्य, ततः स एकदा मूढभावं जनयति ।

शब्दार्थ—अप्पं=अल्प । च=अधिकार्थ । खलु=निश्चयार्थ । आउयं=आयुष्य । इह=मनुष्य भव में । एगेसिं माणवाणं=किन्हीं मनुष्यों का । तंजहा=इस प्रकार । सोयपरिण्णाणेहिं=श्रोत्रेन्द्रिय का ज्ञान । परिहीयमाणेहिं=कम हो जाने से । चक्खुपरिण्णाणेहिं परिहीयमाणेहिं=चक्षु का ज्ञान कम हो जाने से । घाणपरि०=नाक का ज्ञान घट जाने से । रसणपरि०=जिव्हा का ज्ञान कम पड़ जाने से । फासपरि०=स्पर्श ज्ञान घट जाने से । अभिक्कंतं=जरा और मृत्यु से घिरी हुई । वयं=अवस्था को । संपेहाए=देखकर । तओ=तब । से=वह प्राणी । एगया=वृद्ध अवस्था में । मूढभावं=दिग्मूढता को । जनयति=पैदा करता है ।

भावार्थ—इस संसार में मनुष्यों का आयुष्य बहुत थोड़ा है इसमें भी वृद्धावस्था के कारण कान, आंख, नाक, जीभ और स्पर्शनेन्द्रिय का ज्ञान दिन-प्रतिदिन कम होता जाता है । तब ऐसी आयी हुई वृद्धावस्था को देखकर प्राणी किंकर्त्तव्यविमूढ (दिग्मूढ) हो जाता है ।

विवेचन—मनुष्यों की आयुस्थिति अत्यल्प होने से उसके एक-एक क्षण की अनमोलता और उपयोगिता है । जो वस्तु अल्प होती है तो उसका मूल्य भी अधिक होता है जैसे रत्नादि । इसी तरह आयुस्थिति कम होने से मानव-जीवन का क्षण क्षण अनमोल है परन्तु विषयासक्त प्राणी इस दुर्लभ तत्त्व के महत्त्व को नहीं जानता हुआ उसका विषयोपभोग में दुरुपयोग करता है। वह चिंतामणि रत्न को कौए को उड़ाने के लिए फेंक देता है । आगम में मनुष्य की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण और उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्योपम की कही है । यह स्थिति वैसे ही अत्यल्प है । उसमें भी सामान्य मनुष्यों का आयुष्य सोपक्रम (कारणों से बीच में टूटने वाला) होता है । आयुष्य बन्ध के समय का अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल निरुपक्रम आयु का होता है। शेष समस्त आयु निमित्त कारणों के कारण मध्य में टूट जाती है । आयु के उपक्रमों की सामान्य गणना निम्न दो गाथाओं में की गई है—

दंड-कस-सत्थ-रज्जू-अग्गी-उदग-पडणं विसं वाला ।
सीउण्हं अरइ भयं खुहा पिवासा य वाही य ॥ १ ॥
मुत्तपुरीसनिरोहे जिण्णाजिण्णे य भोयणे बहुसो ।
घंसण-धोलण-पीलण आउस्स उवक्कमा एते ॥ २ ॥

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

अर्थात्—दण्ड, चाबुक, शस्त्र, रस्सी, अग्नि, पानी में डूबना, विष, सर्प, शीत, उष्ण, अरति, भय, भूख, प्यास, व्याधि, टट्टी-पेशाब का निरोध, भोजन की विषमता, पीसना, घोटना, पीड़ा देना, (दबाना) आदि आयु को बीच में तोड़ने वाले उपक्रम हैं। वैसे तो इधर उधर, ऊपर, नीचे, चारों तरफ पद पद पर आपत्तियाँ खड़ी हैं न जाने कब इस दुर्बल मानव-जीवन का अन्त हो जाय। यह आयु वायु के समान चंचल है। यह जानकर इसके एक क्षण का भी दुरुपयोग नहीं करना चाहिए। परन्तु भोले प्राणी अपने आपको अजर-अमर मानकर मरणपर्यन्त प्रपंचों में फँसे रहकर ही इस अमूल्य जीवन से हाथ धो बैठते हैं। इस पंचमकाल में तो प्रायः मनुष्यों की आयु सौ वर्ष के लगभग समझी जाती है। इस आयु का लगभग आधा भाग तो निद्रा में व्यतीत होता है। बहुत-सा बचपन का भाग खेलकूद में व्यतीत हो जाता है। जवानी यौवन की उन्मत्तता तथा विषयोपभोग में पूरी हो जाती है। वृद्धावस्था में इन्द्रियों की शक्ति कम पड़ जाती है। शरीर लाचार हो जाता है अतः यह सारा अनमोल मानव जन्म अकारथ ही पूरा हो जाता है। हन्त ! कितना अफसोस !! दुर्लभ चिन्तामणि का यह दुरुपयोग !!!

बहुत से लोगों का ऐसा अभिप्राय देखा जाता है कि धर्माराधन का समय वृद्धावस्था है। परन्तु यह बात तो तब मानी जा सकती जब कि आयु का बराबर निश्चय हो जाता। हम प्रतिपल मृत्यु के वश में पड़े हुए प्राणी कैसे अपने आयुष्य का भरोसा कर धर्म को बुढ़ापे के लिए ताक में रख दें ? वस्तुतः धर्माराधन का समय यौवनावस्था है। वृद्धावस्था आने पर यौवन का जोश और उमंग नष्ट हो जाते हैं, शरीर का हाल बेहाल हो जाता है, शरीर परतंत्र हो जाता है, इन्द्रियों की शक्ति क्षीण हो जाती है, तब क्या धर्म का आराधन हो सकेगा ? धर्माराधन करने के लिए जो उमंग और शक्ति चाहिये वह तो यौवन वय में ही है अतः उसी अवस्था में आत्मकल्याण के लिए कटिबद्ध होना चाहिये। जिसने यौवनावस्था उन्माद, मस्ती एवं विषयोपभोग में व्यतीत कर दी है उसने अपना सारा जीवन नष्ट कर डाला है। वह यौवनोन्मत्त प्राणी जब वयःपरिणाम से वृद्ध बनता है तब वह अपने हीन और क्षीण बने हुए शरीर को मृत्यु द्वारा घिरा हुआ देखकर किं कर्त्तव्य विमूढ़ हो जाता है, वह भान भूल जाता है, उसे कुछ नहीं सूझता है और पश्चात्ताप करता है कि हाय मैंने यौवन वय में धर्माराधन नहीं किया ! मैं प्रपंचों में फंसा रहा ! इस पश्चात्ताप के सिवाय और कोई उसे आश्वासन देने वाला नहीं होता है। अतः साधक का कर्त्तव्य है कि वह इस मानव जन्म के एक एक क्षण को बहुमूल्य समझ कर उसका सदुपयोग करे ताकि पीछे पछताना न पड़े।

जिन कुटुम्बीजनों के राग में फँसकर, और जिस द्रव्य के लोभ से प्राणी अकृत्यों में प्रवृत्ति करता है, वे कुटुम्बी और वह प्यारा धन मृत्यु के समय में शरणरूप नहीं हैं सो बताते हैं:—

जेहिं वा सद्धिं संवसति ते वि णं एगया णियगा पुव्वं परिवयंति। सो वा ते णियगे पच्छा परिवएज्जा। नालं ते तव ताणाए वा, सरणाए वा। तुमंपि तेसिं नालं ताणाए वा सरणाए वा। से ण हासाए, ण कीडाए, ण रतीए, ण विभूसाए ॥

संस्कृतच्छाया—*यैर्वा सार्द्धं संवसति तेऽपि एकदा निजकाः पूर्वं परिवदन्ति। स वा तान्निजकान्*

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

पश्चात् परिवदेत् । नालं ते तव त्राणाय वा शरणाय वा । त्वमपि तेषां नालं त्राणाय वा शरणाय वा स न हास्याय, न क्रीडायै, न रत्यै, न विभूषायै ।

शब्दार्थ—एगया=किसी समय (वृद्धावस्था में)। जेहिं वा=जिनके साथ। संवसति=वह रहता है। ते वि णं=वे भी। णियगा=कुटुम्बीजन। पुव्वं=पहिले पाले-पोषे हुए। परिव्वयन्ति=निंदा करते हैं। सो वा=वह वृद्ध भी। ते णियगे=उन कुटम्बियों की। पच्छा=बाद में। परिवएज्जा=निंदा करता है। ते=वे कुटम्बी। तव=तेरे। ताणाए वा=रक्षा करने के लिए। सरणाए वा=अथवा शरण देने के लिए। नालं=समर्थ नहीं हैं। तुमं पि=तुम भी। तेसिं=उन कुटुम्बियों के लिए। नालं ताणाए वा सरणाए वा=रक्षा और शरण रूप नहीं हो। से=वह वृद्ध पुरुष। ण हासाए=न तो हास्य के योग्य है। ण रतीए=न आनन्द के योग्य है। ण विभूसाए=न शृङ्गार के योग्य रहता है।

भावार्थ—वह वृद्धावस्था-प्राप्त व्यक्ति जिनके साथ रहता है, उसके वे कुटुम्बी--जिनको उसने पहिले पाल-पोस कर बड़े किये हैं-उसकी निंदा और अवगणना करते हैं। अथवा वह वृद्ध उन कुटुंबियों की निन्दा करने लग जाता है। सारांश कह है कि हे जीव ! वह कुटुम्ब तुझे दुःख से बचाने और शरण देने में समर्थ नहीं है और इसी प्रकार तू भी उनको बचाने और आश्रय देने में समथ नहीं है। वृद्धावस्था में यह जीव हास्य, क्रीडा, मौज़शौक और शृंगार के लायक भी नहीं रहता है।

विवेचन—इस सूत्र में सूत्रकार वृद्धावस्था में होने वाले पराभव (तिरस्कार) का वर्णन करते हैं। प्राणी जिन स्वजनों में आसक्त होकर उनके खानपान, अलंकार, वस्त्र और मकान आदि की व्यवस्था करने के लिए, अपने पुत्रादि के लिये सम्पत्ति छोड़ जाने के लिये अनेक प्रकार के छलप्रपंच करता है और सभी प्रकार के पापकर्म करते हुए नहीं शरमाता है वे ही उसके स्वजन उसके वृद्ध होने पर उसका तिरस्कार करते हैं, उसकी उपेक्षा करते हैं और घृणा करते हैं तथा यहाँ तक कहते हुए सुने जाते हैं कि यह मरता भी नहीं है। वृद्ध भी जब देखता है कि जिनके लिए मैंने इतना कष्ट उठाया वे भी मेरी सेवा नहीं करते हैं तब वह उन कुटुम्बियों के अनेकों दोष प्रकट करता हुआ उनकी निन्दा करता है। वह बुढ़ापा ऐसा अभिशाप रूप है कि जो पहिले अपनी आज्ञा में चलते थे वे ही उसके पुत्र-भार्यादि अब उसके वचनों की अवहेलना करने लग जाते हैं। वृद्धावस्था का वर्णन करते हुए कहा गया है कि—

गात्रं संकुचितं गतिर्विगलिता दन्ताश्च नाशं गताः ।
दृष्टिर्भ्रश्यति रूपमेव हसते वक्त्रं च लालायते ॥
वाक्यं नैव करोति बान्धवजनः पत्नी न शुश्रूषते ।
धिक्कष्टं जरयाभिभूतपुरुषं पुत्रोप्यवज्ञायते ॥

बुढापे में शरीर में झुर्रियां पड़ जाती हैं, चाल लथड़ाती हैं, दांत गिर जाते हैं, दृष्टि नष्ट हो जाती है, रूप कुरूप हो जाता है, मुख से लार टपकने लगती है, स्वजन भी आज्ञा नहीं मानते हैं, पत्नी भी सेवा

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

नहीं करती है, पुत्र भी अवज्ञा करता है। आह! इस बुढ़ापे के कष्ट का भी क्या पार है। धिक्कार है इस जराग्रसित शरीर को। ऐसी दुर्दशा होने पर भी आशा के जाल में पड़ा हुआ प्राणी कष्टमय जीवन जीता है-लेकिन तृष्णा का त्याग नहीं करता है। श्री शंकराचार्य ने कहा है—

अंगं गलितं पलितं मुण्डं, दशनविहीनं जातं तुण्डं।
वृद्धो याति गृहीत्वा दण्डं, तदपि न मुञ्चत्याशापिण्डं॥

अर्थात्—अंग शिथिल हो जाते हैं, काले बाल सफेद हो जाते हैं, मुँह पोपला हो जाता है, चलने की शक्ति न रहने से लकड़ी पकड़नी पड़ती है तो भी तृष्णा कैसी बलवती है कि सर्वथा असमर्थ वृद्ध भी उसका त्याग नहीं कर सकता है।

सारांश यह है कि यह प्राणी रागभाव में पड़कर कुटुम्बियों के लिये पापकर्म करता है परन्तु वे कुटुम्बी उसकी रक्षा करने में और उसको शरण देने में समर्थ नहीं हैं। इसी तरह प्राणी भी कुटुम्बियों की रक्षा करने और उन्हें शरण देने में समर्थ नहीं है। यही प्राणियों की अनाथता है। रोग उत्पन्न होने पर, बुढ़ापा आने पर और मृत्यु आने पर कोई कुटुम्बी बचाने में या शरण देने में समर्थ नहीं हो सकता। अपने किये हुए शुभाशुभ कर्म ही शरण और त्राण रूप हैं। जन्म, जरा और मरण के दुख से बचाने के लिये जिनप्ररूपित धर्म के सिवाय अन्य कोई त्राण और शरण भूत नहीं है।

वृद्धावस्था में प्राणी का शरीर ऐसा जर्जरित हो जाता है कि उस अवस्था में हँसना भी उसके लिये हास्यास्पद हो जाता है। वह स्वयं हँसी का साधन बन जाता है। इस अवस्था में न क्रीडा करने की शक्ति रहती है, न आनन्द का उपभोग हो सकता है, न इस अवस्था में विभूषण शोभा देते हैं। तात्पर्य यह है कि—

जं जं करेइ तं तं न सोहए जोव्वणे अतिक्कंते।
पुरिसस्स महिलियाइ व एक्कं धम्मं पमुत्ताणं॥

वृद्ध प्राणी धर्म के सिवाय जो जो क्रियाएँ करता है वे उसे शोभा नहीं देती हैं। अर्थात् वृद्ध पुरुष और स्त्री की कोई भी क्रिया-यौवन चले जाने से-शोभा नहीं देती है। अतः यह दुखद अवस्था न आवे उसके पहिले ही धर्माचरण के प्रति सावधान होना चाहिये।

इच्चेवं समुट्ठिए अहोविहाराए अन्तरं च खलु इमं संपेहाए धीरे मुहुत्तमवि णो पमायए। वओ अचेति जोव्वणं च।

संस्कृतच्छाया—*इत्येवं समुत्थितः अहो विहाराय, अन्तरं च खलु इदं संप्रेक्ष्य धीरो मुहूर्त्तमपि नो प्रमाद्येत्, वयः अत्येति यौवनञ्च।*

शब्दार्थ—इच्चेवं=इस प्रकार। अहोविहाराए=संयम के लिए। समुट्ठिए=उद्यत होकर। इमं अन्तरं=इस अवसर को। संपेहाए=विचार कर। धीरे=धीर पुरुष। मुहुत्तमवि=मुहूर्तमात्र का भी। णो पमायए=प्रमाद न करे। वओ=अवस्था। अचेति=बीतती है। जोव्वणं च=यौवन भी।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

भावार्थ—स्वतः के शुभाशुभ कर्म ही शरण मरण रूप हैं यह जानकर वीर और बुद्धिमान् प्राणी संयमानुष्ठान में क्षण मात्र का भी प्रमाद नहीं करता है। वह आर्य क्षेत्र, सुकुलोत्पत्ति और धर्म-श्रवण आदि सुदुर्लभ अवसर को पहचानता है और यह जानता है कि यह यौवन और यह वय एकदम सपाटे से कूच करते चले जा रहे हैं।

विवेचन—अत्यन्त सुदुर्लभ अंगों की प्राप्ति असीम पूर्वसंचित पुण्यों का फल है। अतः मनुष्य-भव, इन्द्रियों की निरोगता, आर्यक्षेत्र, आर्यकुल, और आर्यधर्म इन दुर्लभ अंगों की प्राप्ति के सुन्दर अवसर को पहिचान कर और उसकी बहुमूल्यता का अंकन करके उसका सदुपयोग करना चाहिये। यह मिला हुआ अवसर चिरस्थायी नहीं हैं। बारबार ऐसे अवसर प्राप्त नहीं होते हैं। अतः उसे हाथ से खो देने की महती अज्ञानता नहीं करनी चाहिये। प्राणी प्रमाद में गाफ़िल रहता है तो यह अवसर हाथ से निकल जाता है, क्योंकि वय, यौवन और समय बिना प्रतीक्षा किये सपाटे से चले जाते हैं। ये इस बात की परवाह नहीं करते कि इस प्राणी ने हम से लाभ उठाया या नहीं। लाख प्रयत्न करने पर भी गया हुआ समय, गई हुई जवानी और गया हुआ अवसर वापिस लौट कर नहीं आ सकते हैं। यौवन और जीवन की चंचलता बताते हुए कहा गया है कि:—

अर्थाः पादरजोपमाः गिरिनदीवेगोपमं यौवनम्।
आयुष्यं जललोलबिन्दुचपलं फेनोपमं जीवितम्॥
धर्मं यो न करोति निन्दितमतिः स्वर्गापवर्गार्गलोद्घाटनम्।
पश्चात्तापयुतो जरापरिगतः शोकाग्निना दह्यते॥

अर्थात्—धन पांव पर उड़ी हुई धूल के समान अस्थिर है, यौवन पर्वतीय नदी के वेग के समान चंचल है। आयु तृण पर लटकते हुए जल के बिन्दु के समान चपल है, जीवन नदी में उठे हुए बुदबुद के समान अनित्य है। ऐसा जानकर भी जो अज्ञानी विषयासक्त प्राणी स्वर्ग और अपवर्ग के द्वार को खोलने वाले धर्म का आराधन नहीं करता है वह वृद्धावस्था प्राप्त होने पर शोक रूपी अग्नि में जला करता है। अतः विचक्षण धीर व्यक्ति को चाहिए कि अवसर पहिचान कर यथावसर उसका लाभ उठावे।

सूत्रकार ने वय और यौवन दोनों का सूत्र में ग्रहण किया है जो कि मात्र वय शब्द से ही यौवन का अर्थ समझा जा सकता है। दोनों शब्द देने का प्रयोजन यह है कि सभी अवस्थाओं में यह यौवन अवस्था ही मुख्य और प्रधान है। यह बताना सूत्रकार को इष्ट है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में यह अवस्था परम साधन है। यह विशेषतः बताने के लिए दो पदों का ग्रहण किया गया है। अतः जब तक चिड़ियाँ खेत न चुग लें उसके पहिले ही सावधान होने की आवश्यकता है।

जीविए इह जे पमत्ता, से हंता, छेत्ता, भेत्ता, लुंपित्ता, विलुंपित्ता, उद्दवेत्ता, उत्तासइत्ता अकडं करिस्सामित्ति मण्णमाणे।

संस्कृतच्छाया—*जीविते इह ये प्रमत्ताः, स हन्ता, छेत्ता, भेत्ता, लुम्पयित्ता, विलुम्पायिता, अपद्रावयिता, उत्त्रासकः, अकृतं करिष्यामि इति मन्यमानः।*

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

शब्दार्थ—जे=जो। इह जीविए=इस असंयमित जीवन में। पमत्ता=प्रमादी बने हैं। अकडं करिष्यामि=जो किसी ने नहीं किया वह करूंगा। त्ति मण्णमाणे=ऐसा मानकर। से= वह हंता=प्राणियों को मारने वाला। छेत्ता=अवयव छेदने वाला। भेत्ता=फोड़ने वाला। लुम्पित्ता= गांठ काटकर लूटने वाला। विलुम्पित्ता=लूट-खसोट करने वाला। उद्धवेत्ता=मार डालने वाला। उत्तासइत्ता=त्रास पहुंचाने वाला होता है।

भावार्थ—जो यौवन और वय की चंचलता नहीं जानते हैं वे प्राणी असंयमित जीवन गाफिल बने रहते हैं और "किसी ने नहीं किया वह मैं करूँगा" इस प्रकार सब से ऊँचे कहलाने के लिए कई त्रस और स्थावर प्राणियों की हिंसा करते हैं, कईयों के अवयवों का छेदन-भेदन करते हैं, कईयों की लक्ष्मी लूटते हैं, कहीं पर लूट-खसोट मचाते हैं, कईयों को प्राण रहित करते हैं और अनेक प्राणियों को त्रास पहुँचाते हैं।

विवेचन—यहाँ सूत्रकार ने पापारम्भ करने वाले के मन में रही हुई गहरी से गहरी मनोभावना का चित्र खींचा है। प्राणी मोहसम्बन्ध में अन्धा होकर हमेशा नाना प्रकार की कल्पनाओं के संसार में सैर करता है, हवाई किले बाँधता है, आसमान में फूल देखता है, कल्पनाओं के घोड़े दौड़ाता है, आज यह करूँगा, कल वह करूँगा, अरे! जो काम अब तक संसार में किसी ने नहीं किया वह मैं करूँगा, इस प्रकार आकांक्षाओं के मोहक भ्रम जाल में पड़ा असंयमित जीवन व्यतीत करता है। वह अपने मनोरथों-अरमानों को पूरा करने के लिए हिंसा करता है, झूठ बोलता है, कमजोरों को लूटता है, उनकी लक्ष्मी को लेता है, दूसरे प्राणियों के प्राणों की कोई कीमत नहीं समझता है। वह अपने स्वार्थ के लिए दूसरों के अधिकारों और हितों को नष्ट नाबूद करता है और संसार में लूट-खसोट करता है। "मैं सबसे बड़ा धनवान बनूँ, सबसे अधिक शक्तिशाली बनूँ, मैं सबसे बड़ा सम्राट् बनूँ, सारी दुनियां मेरी आज्ञा माने, मैं सब पर हुकूमत करूं" ऐसी ऐसी महत्त्वाकांक्षाएँ प्राणियों को भयंकर पापाचार में प्रवृत्त करती हैं। इन आकांक्षाओं में अन्धा बना हुआ प्राणी मानव से दानव बन जाता है, राक्षसीय साधनों द्वारा दुनियां पर सितम गुजारता है, दुःखों की वर्षा करता है, मानव को मानव नहीं समझता है और भयंकर नर-संहार करता है। ऐसे प्राणी के मन की गहराई में छिपी हुई आकांक्षा ही सर्व पापों की जननी बनती है। अतः आकांक्षा का, कीर्तिलालसा का और आसक्ति का त्याग करने का भगवान् ने उपदेश फरमाया है।

जेहिं वा सद्धिं संवसइ ते वा णं एगया नियगा तं पुव्विं पोसेन्ति, सो वा ते णियगे पच्छा पोसिज्जा, नालं ते तव ताणाए वा सरणाए वा तुमंपि तेसिं नालं ताणाए वा, सरणाए वा।

संस्कृतच्छाया—*यैर्वा सार्द्धं संवसति ते वैकदा निजकाः तं पूर्वं पोषयन्ति, स वा तान्निजकान् पश्चात् पोषयेत्। नालं ते तव त्राणाय वा शरणाय वा त्वमपि तेषां नालं त्राणाय वा शरणाय वा।*

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

शब्दार्थ—जेहिं वा सद्धिं=जिनके साथ। संवसइ=वह रहता है। ते=वे=वा=अथवा। णं=वाक्यालंकार। एगया=कभी। णियगा=कुटुम्बीजन। तं=उसको। पुव्विं=पहिले। पोसेंति=पालते हैं। सो वा=अथवा वह। ते णियगे=अपने कुटुम्बियों को। पच्छा=बाद में। पोसेज्जा=पालन करता है। ते=वे कुटुम्बी। तव ताणाए वा=तेरी रक्षा करने में। सरणाए वा=तुझे शरण देने में। नालं=समर्थ नहीं है। तुमंपि=तू भी। तेसिं=उन स्वजनों के। नालं ताणाए वा सरणाए वा=रक्षण और शरण में समर्थ नहीं हैं।

भावार्थ—वह बड़ी २ आकांक्षा वाला पुरुष अपने मनोरथों को पूर्ण करने के लिए बड़ी २ हिंसक प्रवृत्तियां और बड़े २ धन्धे करता है परन्तु सतत प्रयत्न करने पर भी लाभान्तराय के कारण अर्थ की प्राप्ति नहीं होने से दूसरों को पालन करने के बजाय वह जिन के साथ रहता है उन कुटुम्बियों को उसका पालन-पोषण करना पड़ता है और कदाचित् अर्थ प्राप्ति हो जाय और वह उससे बाद में अपने स्वजनों का पालन-पोषण करे तो भी इससे क्या ? क्योंकि वे कुटुम्बी उसकी रक्षा करने और उसे शरण देने में समर्थ नहीं हैं और वह भी उस कुटुम्ब के लिये त्राण और शरण भूत नहीं हो सकता है।

विवेचन—कुटुम्ब के ऋण के बहाने, बाल-बच्चों के भरण पोषण के बहाने यह जीव अपने मोह का कैसा पोषण करता है यह उपरोक्त सूत्र में बता गया है। "बाल बच्चों का पालन करना, अपने कुटुम्बियों का भरण पोषण करना यह हमारा कर्त्तव्य है" ऐसा कहकर कितने ही प्राणी कर्त्तव्य के नाम पर अपने मोह का और स्वार्थ का पोषण करते हैं। अगर वस्तुतः सम्बन्ध, कर्त्तव्य सम्बन्ध है तो उसमें अनीति, छल, दम्भ, ठगाई, बेभान नफाखोरी हिंसा, झूठ आदि दुर्गुणों की कोई आवश्यकता नहीं रहती है और न्याय पूर्वक संयमी जीवन निर्वाह हो सकता है परन्तु प्राणियों का कर्त्तव्य सम्बन्ध तो नाम मात्र का है, है वास्तव में वह मोह सम्बन्ध। इसी मोह सम्बन्ध के खातिर प्राणी को अनीति, छल, चोरी आदि पापाचार करने पड़ते हैं। "मैं अपने कुटुम्बियों को अधिक से अधिक आराम पहुंचाऊंगा, मैं उनका पालन पोषण करूंगा" इस प्रकार वह प्राणी अभिमान पूर्वक विविध सावद्य प्रवृत्तियों में प्रवृत्त होता है परन्तु सतत प्रयत्न के बावजूद भी अन्तराय कर्म के उदय से उसे अर्थ प्राप्ति नहीं होती है और वह जो दूसरों को पालने का अभिमान रखता था वह स्वयं लाचार होकर अपने सम्बन्धियों द्वारा पाला-पोसा जाता है अथवा उसने कदाचित् अर्थ प्राप्त भी कर लिया और उसके द्वारा वह कुटुम्बियों का पालन-पोषण भी करता रहे तो भी इससे क्या ? क्योंकि आखिर तो न वे कुटुम्बी उसकी दुःखों से रक्षा कर सकते हैं और न उसे निर्भय कर शरण दे सकते हैं। इसी प्रकार वह प्राणी भी न तो कुटुम्ब की रक्षा करने में समर्थ होता है, न उन्हें शरण देने योग्य होता है।

सम्बन्धियों की अशरणता बताकर आगे यह प्रतिपादन करते हैं कि अनेकों कष्टों द्वारा उपार्जित धन-वैभव भी त्राण और शरणरूप नहीं है।

उवाइयसेसेण वा संनिहिसंनिचयो किज्जइ, इहमेगेसिं असंजयाणं भोयणाए, तओ से एगया रोगसमुप्पाया समुप्पज्जंति।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

संस्कृतच्छाया—*इहैकेषाम् असंयतानाम् भोजनाय उपादितशेषेण वा सन्निधिसन्निचयः क्रियते ततस्तस्यैकदा रोगसमुत्पादा समुत्पद्यन्ते ।*

शब्दार्थ—इह=इस संसार में । एगेसिं=एक एक । असंजयाण=असंयतियों के । भोयणाए=उपभोग के लिए । उवाइयसेसेण=उपभोग करने के बाद बचे हुए । वा=अथवा । संनिहि-संनिचयो=द्रव्य का संग्रह । किज्जइ=किया जाता है । तओ=कालान्तर में । से=उसको । एगया=कदाचित् । रोगसमुप्पाया=रोगादि के उपद्रव । समुप्पज्जंति=पैदा हो जाते हैं ।

भावार्थ—इस संसार में एक एक प्राणी परिग्रह की भावना से अपने पुत्र अथवा कुटुंबियों को आगे काम देगा इस आशा से उपभोग के बाद बचा हुआ या बिना स्वयं उपभोग किये हुए सारा का सारा धन संग्रह करते जाते हैं । परन्तु संयोगवश कालान्तर में उनके शरीर में रोग के उपद्रव खड़े हो जाते हैं और वह स्वयं उस अपार धनराशि का भोग नहीं कर सकते हैं तो भविष्य की तो बात ही क्या?

विवेचन—धन की अशरणता सूर्य के समान स्पष्ट है। इसके विवेचन की कोई आवश्यकता नहीं है। धन सभी तरह दुःख देने वाला है । अत्यन्त कठिनाइओं से धन कमाया जाता है । अतः धन की प्राप्ति में भी दुख । धन व्यय किया जाता है तो भी दुख, देता है, धन का उपभोग करते हैं तो भी दुख, धन जाता है तो भी दुख, धन संग्रह करते हैं तो भी दुख उसकी रक्षा करने की सदा चिन्ता रखनी पड़ती है सो दुख । आते हुए, जाते हुए, व्यय करते हुए, संग्रह करते हुए सभी तरह से यह धन दुखदाई है; तदपि परिग्रह की भावना वाला व्यक्ति अत्यन्त कठिनाइयों का सामना करके, भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी, वर्षा और शरीर की पर्वाह नहीं करके धन उपार्जन करता है । उपार्जित धन की कठिनाइओं का स्मरण करके वह प्राणी उसके उपभोग करने में भी दुःख का अनुभव करता है । भोगान्तराय कर्म के कारण वह प्राणी उसका उपभोग नहीं कर सकता है और केवल संग्रह करता जाता है और मनमें यह आशा रखता है कि मेरे पुत्रादि इसका उपभोग करें । अतः पुत्रादि के निमित्त द्रव्यसंग्रह करके स्वयं उसका उपभोग किये बिना ही रोगोत्पत्ति के कारण परलोक का रास्ता ले लेता है । इसके लिए मम्मण सेठ का दृष्टान्त सर्वथा उपयुक्त है । करोड़ों की सम्पत्ति होते हुए भी मम्मण सेठ उसका उपभोग न कर सका । जो प्राणी उपार्जित धन का उपभोग करते हैं उनकी भी हृदय में यह भावना रहती है कि "मैं कम से कम उपभोग में खर्च करके शेष अपने पुत्रादि के निमित्त छोड़ जाऊँ ? क्योंकि वे अपनी परम्परा के लिये अधिक से अधिक धन छोड़ जाने की अभिलाषा रखते हैं इसीलिए अधिक से अधिक धन सम्पादन करने के लिए भी वे विशेष विशेष पापाचारों में प्रवृत्त होते हैं । परन्तु वे मूढ़ और मोहान्ध प्राणी यह नहीं सोचते कि उनका पुत्रादि को वारसे में दिया हुआ धन भी पुत्रादिकों के पुण्य शेष होने पर ही टिक सकेगा, अन्यथा नहीं ? अरे ! जो धन आँखों के सामने ही नष्ट होता हुआ देखा जाता है वह भविष्य में परम्परा तक टिक सकेगा, यह कैसे निश्चय माना जा सकता है ! और यदि पुत्रादिकों के पास पुण्यबल है तो वे अपने पुण्यबल के द्वारा ही सब साधन प्राप्त कर लेंगे, तेरे दिये हुए धन की उन्हें क्या आवश्यकता ? इतना होते हुए भी प्राणी अपनी भ्रममूलक मान्यता के कारण परिग्रह बढ़ाता ही जाता है। आखिर धन का संग्रह करते करते वेदनीय के उदय से उसके शरीर में भयंकर रोग उत्पन्न होते हैं और सारा धन यहीं छोड़कर खाली हाथ जाना पड़ता है ।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

कहते हैं कि महान् विजयी सिकन्दर ने मरते समय अपने सामने अपनी विपुल सम्पत्ति का ढेर लगवाया और उसको देखकर आसूँ बहाते हुए बोला कि, जिस सम्पत्ति के लिए मैंने सैकड़ों लड़ाइयाँ लड़ीं, हजारों सैनिकों के प्राण खोये, असंख्य प्राणियों को मारा, सेना लेकर दूर दूर विदेशों में फिरता रहा, क्या इस अपरिमित सम्पत्ति में से एक तार भी मेरे साथ नहीं आयेगा ? आखिर यह हुआ:—

"सिकन्दर जब चला दुनियां से दोनों हाथ खाली थे" । हाय धन की अशरणता ! अतः बुद्धिमान् प्राणी का यह कर्त्तव्य है कि वह आसक्ति का त्याग करे । धन का ममत्व त्यागे । धन की अशरणता का विचार करे ।

जेहिं वा सद्धिं संवसइ ते वा णं एगया नियगा तं पुव्विं परिहरंति, सो वा ते नियगे पच्छा परिहरेज्जा, नालं ते तव ताणाए वा, सरणाए वा, तुमंपि तेसिं नालं ताणाए वा सरणाए वा ।

संस्कृतच्छाया—*यैर्वा सार्द्धं संवसति ते वा एकदा निजकाः तं पूर्वं परिहरन्ति स वा तान्निजकान् पश्चात् परिहरेत् नालं ते तव त्राणाय वा, शरणाय वा, त्वमपि तेषां नालं त्राणाय वा शरणाय वा ।*

शब्दार्थ—परिहरंति=छोड़ देते हैं-शेष पूर्ववत् ।

भावार्थ—रोगादि उत्पन्न होने पर जिन कुटुम्बियों के साथ वह रहता है, जिनके लिए वह धन एकत्रित करता है वे ही कुटुम्बी कुष्ट क्षयादि रोगों से पीड़ित होने पर पहिले या बाद में उसे छोड़ देते हैं अथवा वह रोगी स्वयं घबराकर उन्हें छोड़ देता है । ऐसे समय यह धन और स्वजन कोई भी रक्षा करने और शरण देने में समर्थ नहीं है, इसका पुनः पुनः चिन्तन करना चाहिए ।

जाणित्तु दुक्खं पत्तेयं सायं, अणभिक्कंतं च खलु वयं संपेहाए खणं जाणाहि पंडिए ।

संस्कृतच्छाया—*ज्ञात्वा दुःखं प्रत्येकं सातं, अनभिक्रान्तञ्च खलु वयः संप्रेक्ष्य क्षणं जानाहि पण्डित !*

शब्दार्थ—पत्तेयं=प्रत्येक प्राणी को । दुक्खं=दुख । सायं=सुख । जाणित्तु=जान करके । अणभिक्कंतं=शेष रही हुई । वयं=आयु को । संपेहाए=देखकर । पंडिए=हे पंडित । खणं=अवसर को । जाणाहि=पहचानो ।

भावार्थ—प्रत्येक प्राणी स्वयं अपने सुख और दुःख का निर्माता है और स्वयं ही सुख दुःख का भोक्ता है यह जानकर, तथा अब भी कर्त्तव्य और धर्म अनुष्ठान करने की आयु को शेष रही हुई जानकर हे पंडित पुरुष ! अवसर को पहिचानो ।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

विवेचन—ऊपर यह वर्णन किया गया है कि रागासक्त प्राणी अपने मन में यह समझता है कि मैं ही कुटुम्ब का पालन करने वाला हूं "मैं हूं तो इनका काम चलता है, नहीं तो इनके क्या हाल हो ?" ऐसा समझने में केवल मिथ्याभिमान रहा हुआ है। झूठे अभिमान के कारण वह ऐसा मान लेता है कि इन सभी को सुखी करने वाला मैं ही हूँ परन्तु वास्तविक दृष्टि से कोई किसी को सुखी और दुखी बनाने में समर्थ नहीं है। प्रत्येक प्राणी की आत्मा स्वयं सुख और दुःख को पैदा करने वाली है। क्या दूसरे की ताकत है जो किसी को सुखी और दुखी कर सके ? फिर यह अभिमान कैसा ! अभिमानी के इस अभिमान को अज्ञानता बताते हुए कहा गया है कि:—

हुं करूं, हुं करूं, एज अज्ञानता, शकटनो भार जेम श्वान ताणे।
सृष्टिमंडाण छे सर्व एणी परे, जोगी जोगीश्वरा कोइक जाणे।

स्वाभाविक रीति से प्राणी स्वयं स्वकृत कर्मानुसार सुख दुख प्राप्त करते हैं। दूसरे व्यक्ति तो मात्र निमित्त कारण बनते हैं। अतः प्राणी का यह अभिमान करना कि मैं बड़ा परोपकारी हूँ, मैं बड़ा दानी हूँ, संसार में कर्त्ता-हर्त्ता मैं ही हूँ यह मात्र उसकी अज्ञानता है। जैसे कुत्ता यह समझता है कि सारी गाड़ी का भार मुझ पर ही है परन्तु वास्तव में उस पर क्या भार है ? कोई नहीं। उसी तरह प्राणी समझता है कि सबके पालन-पोषण का भार मुझ पर है और मैं पालन-पोषण करता हूँ तो यह उसका मिथ्याभिमान है। अतः कुटुम्बी जनों के लिए चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। उनके मोह के पीछे अपने आपको पाप के पंक में डूबाना अज्ञान मात्र है।

ऊपर यह भी कहा गया है कि शरीर में रोगादि उत्पन्न होने पर और कुटुम्बी जनों द्वारा तिरस्कृत होने पर प्राणी को कोई त्राण और शरणरूप नहीं होता है। तब उस प्राणी को अपने मन में विचार करना चाहिए कि ये सब मेरे किए कर्मों का फल है। किए हुए कर्मों के फल को भोगे बिना छुटकारा नहीं है अतः कायरता नहीं लाते हुए मुझे शान्ति से सब कष्ट सहन करने चाहिए। अगर मैं ऐसा न करूं तो भी परवश होकर मुझे कर्म-फल भोगने के लिए कष्ट सहने ही पड़ेंगे तो मैं स्ववश होकर ही उनको क्यों न सह लूं ? स्ववश होकर सहन करने में विशेषता है अन्यथा परवश होकर तो तुझे सहन करने ही पड़ेंगे। कहा भी है:—

सह कलेवर ! दुःखमचिन्तयत्, स्ववशता हि पुनस्तव दुर्लभा।
बहुतरं च सहिष्यसि जीव हे, परवशो न च तत्र गुणोऽस्ति ते॥

इस शरीर के रोगग्रस्त और मृत्यु-कवलित होने पर प्राणी दिग्मूढ़ बन जाता है अतः सूत्रकार उपदेश फरमाते हैं कि जब तक शरीर रोग और मृत्यु से आक्रान्त नहीं हुआ है, जरा और मरण ने हमला नहीं किया है उसके पहिले ही यौवनावस्था में ही-सावधान होकर आत्महित करने की प्रवृत्ति अंगीकार करनी चाहिए। यही सच्चा पुरुषार्थ है।

सच्चे आत्म-स्वरूप को प्रकट करने के लिए जो साधन, जो योग्यता और जो अवसर इस मनुष्य भव में प्राप्त हुए हैं वे पुनः पुनः प्राप्त होने वाले नहीं है। अतः हे आत्मन् ! इस अमूल्य दुर्लभ अवसर को पहिचान। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव चारों तरफ से सुन्दर सुअवसर प्राप्त हुआ है। द्रव्य से जंगमत्व, पंचेन्द्रियत्व, विशिष्ट जाति, कुल, बल, आरोग्य, आयुष्य आदि सम्पन्न मनुष्य-भव-जहाँ से संसार

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

समुद्र पार कर लिया जा सकता है, तुझे प्राप्त हुआ है। मनुष्य-भव के सिवाय और कोई ऐसा भव नहीं है जहाँ से मोक्ष हो सकता हो। देवता और नारकी मात्र सम्यक्त्व और श्रुत सामायिक चारित्र वाले हो सकते हैं, तिर्यंच में देशविरति ही हो सकती है। क्षेत्र से भी सुन्दर आर्य क्षेत्र प्राप्त हुआ है, काय से धर्माचरण करने योग्य अवसर प्राप्त हुआ है और भाव से क्षयोपशमादि करने का सुयोग हस्तगत हुआ है इसलिए इस अवसर को पहिचान कर आत्म-कल्याण के लिए यत्न करना श्रेयस्कर है। बार बार ऐसे अवसर नहीं आते हैं, हे आत्मन्! बार बार इसका विचार कर। समय चूक जाने के बाद कुछ हाथ आने वाला नहीं है। 'जब चिड़ियन ने चुग खेत लिया तब पछताये क्या होता है।' समय रहते ही सावधान होने के लिए सूत्रकार फरमाते हैं:—

जाव सोयपरिण्णाणा अपरिहीणा, नेत्तपरिण्णाणा अपरिहीणा, घाणपरिण्णाणा अपरिहीणा, जीहपरिण्णाणा अपरिहीणा, फरिसपरिण्णाणा अपरिहीणा इच्चेएहिं विरूवरूवेहिं पण्णाणेहिं अपरिहीणेहिं आयट्ठं संमं समणुवासिज्जासि त्ति बेमि।

संस्कृतच्छाया—यावत् श्रोत्रपरिज्ञानानि अपरिहीनानि, नेत्रपरिज्ञानानि अपरिहीनानि, घ्राणपरिज्ञानानि अपरिहीनानि, जिव्हापरिज्ञानानि अपरिहीनानि, स्पर्शपरिज्ञानानि अपरिहीनानि, इत्येतैः विरूपरूपैः प्रज्ञानैः अपरिहीनैः आत्मार्थं सम्यक् समनुवासयेः।

शब्दार्थ—जाव=जब तक। सोयपरि०=श्रोत्रेन्द्रिय का विषय ग्रहण करना। अपरिहीणा=मन्द न पड़ जाय। नेत्तपरि० अपरि०=आंख का विषय ग्रहण मन्द न हो जाय। घाण०=नाक की शक्ति मन्द न हो। जीह०=जीभ की शक्ति मन्द न पड़े। फरिस०=स्पर्श की शक्ति मन्द न पड़े। इच्चेएहिं=इस प्रकार के। विरूवरूवेहिं=अनेक प्रकार के। पण्णाणेहिं अपरिहीणेहिं=ज्ञानों की मन्दता न होने के पूर्व ही। आयट्ठं=आत्मा, या मोक्ष के लिए। सम्मं=सम्यग् रीति से। समणुवासिज्जासि=प्रयत्न करना चाहिए। त्ति बेमि=ऐसा मैं कहता हूँ।

भावार्थ—हे शिष्य! जब तक कान, आंख, नाक, जीभ और स्पर्श आदि विज्ञानों की मंदता न आवे उसके पहिले ही आत्मकल्याण के लिए प्रयत्न करना योग्य और हितकारी है।

--उपसंहार--

स्वजन और धन अनित्य और अशाश्वत है। इनसे शाश्वत सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती है। शाश्वत सुख की प्राप्ति करना सबका ध्येय है। परन्तु अशाश्वत से प्राणी शाश्वत की आशा करता है इसीलिए वह संतुष्ट नहीं हो सकता है। स्वजनों की आसक्ति से ममत्व और ममत्व से अहंकार और अहंकार से सर्वनाश होता है अतः धन और स्वजन की आसक्ति को मिटाकर अनासक्त भाव से आत्म साक्षात्कार के लिये पुरुषार्थ करना चाहिये।

इति प्रथमोद्देशकः

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

लोक-विजय नाम द्वितीय अध्ययन

—द्वितीय उद्देशक—

लोकविजय अध्ययन के प्रथम उद्देशक में माता-पिता आदि सम्बन्धों की मीमांसा करते हुए स्वजनों के मोह सम्बन्ध का त्याग करने का निर्देश किया गया है। संयम अंगीकार करने के लिये माता-पिता, पति-पत्नी आदि सम्बन्धों की आसक्ति मिट जानी चाहिये। इस प्रकार मोह सम्बन्ध त्यागने पर संयम के प्रति प्रवृत्ति हो सकती है, ऐसा करने पर ही संयम के प्रति भावना और अभिरुचि हो सकती है। यही बात प्रथम उद्देशक के अन्त में "आयट्ठं समणुवासेज्जासि" (आत्म कल्याण के लिए सम्यक् यत्न करना चाहिये) इन शब्दों से संयम अंगीकार करने का उपदेश देते हुए कही गई है। तदनुसार किसी मोक्ष-अभिलाषी प्राणी ने मातापितादि लोक पर विजय प्राप्त करके चारित्रमार्ग ग्रहण कर लिया हो तो उस चारित्र की दृढ़ता के लिये, क्या क्या प्रयत्न करने चाहिये, और कदाचित् चारित्रमार्ग की कठिनता के कारण, परिषहों और उपसर्गों से पीड़ित होने पर संयम के प्रति अरुचि उत्पन्न हो जाय तो उस अरुचि का निवारण करने का क्या मार्ग है सो इस द्वितीय उद्देशक में बताया जाता है। तथा संयम की पूर्ण दृढ़ता होने पर मोक्ष अविलम्ब प्राप्त होता है यह भी इस उद्देश में बताते हुए सूत्रकार फरमाते हैं—

अरइं आउट्टे से मेहावी, खणंसि मुक्के।

संस्कृतच्छाया—*अरतिमावर्तेत स मेधावी क्षणे मुक्तः।*

शब्दार्थ—अरइं=संयम के प्रति अरुचि को। आउट्टे=दूर करे। से मेहावी=वह बुद्धिमान्। खणंसि=अल्पकाल में। मुक्के=मोक्ष प्राप्त करता है।

भावार्थ—हे शिष्य! बुद्धिमान् साधक को अगर अच्छे बुरे निमित्तों के कारण संयम के मार्ग में अरुचि उत्पन्न हो जाय तो उसे दूर कर देनी चाहिये। ऐसा करने से अल्पकाल में ही कर्मबन्धन से छुटकारा हो सकता है।

विवेचन—साधना का मार्ग अति कठिन है। त्यागमार्ग पर चलना असि-धारा पर चलने के समान कठिन है। इस मार्ग पर चलने का अधिकारी शूरवीर ही है। कायर प्राणी तो इसकी विषमता और कठिनता से इसपर चलने का साहस ही नहीं कर सकता है। कदाचित साहस कर लेता है तो मध्य में ही पथभ्रष्ट होकर न इधर का रहता है और न उधर का रहता है, बीच में ही दुःख पाता है। इस वीरों द्वारा आचीर्ण मार्ग पर चलना वीरों का ही काम है। इस साधना के मार्ग में कभी प्रलोभन, कभी विपत्ति, कभी निन्दा, कभी स्तुति इत्यादि अनेकों पतन के कारण सन्मुख उपस्थित होते हैं। इन विघ्न-बाधाओं के आने

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

पर भी जिसको अपने लक्ष्य का बारबार ध्यान रहता है वह तो उन विघ्नबाधाओं को पार कर लेता है और लक्ष्य प्राप्त करता ही है परन्तु जो इन विघ्न-बाधाओं के आने पर अपना मूल लक्ष्य ही खो देता है वह इन बाह्य निमित्तों के जाल में फँस जाता है और उभयतो भ्रष्ट बनता है।

संयम में अरति होने का कारण इन्द्रियजन्य सुखों में रति होना है। इन्द्रिय सुखों की अभिलाषा के बिना संयम में अरति हो ही नहीं सकती है। कण्डरीक को इन्द्रियसुखों की अभिलाषा हुई तो संयम में अरति उत्पन्न हुई। सांसारिक विषयों में, माता, पिता, स्त्री आदि संयोगोंमें जब अरति उत्पन्न होती है तो संयम में रति होती है। जैसे पुण्डरीक को संयम के प्रति रति हुई। तात्पर्य यह है कि जब साधक को पूर्व संयोगों की प्रबलता से माता-पितादि संयोगरूप, विषयकषायादि से पैदा होने वाली संयम में अरति हो तो उसे दूर कर देना चाहिए। विषय कषाय आदि चिरपरिचित होने से शीघ्र ही आत्मा पर प्रभाव डालकर संयम में अरति उत्पन्न कर देते हैं इसीलिए प्रथम उद्देशक में विषय कषाय रूप लोक पर विजय प्राप्त करने का कहा गया है। प्राणी मोह-सम्बन्ध का त्याग करने पर ही संयम का अधिकारी होता है। संयम अंगीकार करने पर मनसा, वाचा, कर्मणा जब संयम में अनुरक्ति हो जाती है तो संयम की दुष्कर क्रियाएँ भी सुखरूप प्रतीत होने लगती हैं। जब अन्तःकरण पूर्वक सांसारिक विषयों और इन्द्रियसुखों से विरक्ति हो जाती है और संयम में पूरी रति हो जाती है तो उस वीतरागी मुनि के सामने तीन लोक का वैभव और इन्द्र का प्रभुत्व भी तुच्छ है। कहा है कि:—

तणसंथारणिसण्णोऽवि मुणिवरो भट्टरागमयमोहो।
जं पावइ मुत्तिसुहं तं कत्तो चक्कवट्टीवि ॥

अर्थात्—आसक्ति, मद और मोह पर विजय प्राप्त करने वाला मुनि तृण के आसन पर बैठा हुआ भी जिस अनुपम शाश्वत सुख का अनुभव करता है उसके सामने चक्रवर्त्ती और इन्द्र का सुख किस गणना में है?

संयम में रति हो जाने पर दुःख का नामोनिशान भी बाकी नहीं रहता है। संयम की बाह्याभ्यन्तर क्रियाएँ उसको सुख रूप प्रतीत होती हैं। तभी कहा गया है कि:—

क्षितितलशयनं वा प्रान्तभैक्षाशनं वा,
सहजपरिभवो वा नीचदुर्भाषितं वा।
महति फलविशेषे नित्यमभ्युद्यतानां,
न मनसि न शरीरे दुःखमुत्पादयन्ति ॥

अर्थात्—पृथ्वी पर शयन करना, भिक्षा से प्राप्त लूखा-सूखा भोजन, मनुष्यों का तिरस्कार, नीचों के कठिन दुर्वचनरूपी प्रहार इत्यादि दुःख मोक्ष के लिए समुत्थित हुए मुनियों को न शारीरिक और न मानसिक व्यथा उत्पन्न कर सकते हैं। संयतात्मा को संयम से जो अनुपम शान्ति, जो अतुल सुखराशि उपलब्ध होती है वह देवताधिपति इन्द्र को भी नहीं है। ऐसा समझकर सांसारिक सुखों से वैराग्यमयी विरक्ति करके, संयम में अनुरक्ति करनी चाहिए। जब तक मोहादि का त्याग वैराग्यपूर्वक नहीं हुआ रहता है वहाँ तक वे मोहादि आध्यात्मिक दोष, साधक को संयम में अरति पैदा कर सदा संतप्त करते रहते हैं। क्योंकि कहा भी है कि—

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

त्याग न टके रे वैराग विना करिए कोटि उपायजी ।

इसलिए साधक का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह अनासक्त होकर संयम में रति का अनुभव करे और मोहोदय से होने वाली अरति को दूर करे।

शंका होती है कि सूत्रकार ने सूत्र में मेधावी (बुद्धिमान्) को अरति दूर करने के लिए कहा है परन्तु मेधावी तो संसार के स्वरूप को जानता है अतः उसे संयम में अरति हो ही नहीं सकती है। अगर संयम में अरति उत्पन्न होती है तो वह मेधावी ही नहीं है। मेधावी और अरति में छाया और आतप के समान सहानवस्थान (एक साथ न रहने का) रूप विरोध है कहा है कि:—

तज्ज्ञानमेव न भवति यस्मिन्नुदिते विभाति रागगणः।
तमसः कुतोऽस्ति शक्तिर्दिनकरकिरणाग्रतः स्थातुम् ?

अर्थात्—जहाँ रागादि पाये जाते हैं वहाँ ज्ञान हो नहीं सकता है। जैसे सूर्य की किरणों के सामने अन्धकार टिक ही नहीं सकता। जो अज्ञानी और मोहान्ध होता है उसे ही विषयानुराग के कारण संयम में अरति हो सकती है, विद्वान को नहीं। विद्वान् तो मोक्षमार्ग में ही प्रवृत्ति करेंगे, वे तुच्छ विषयों में कभी रति कर ही नहीं सकते। हाथी कभी छोटे छोटे वृक्षों से अपने गण्डस्थल को नहीं टकराता है, वह तो उसका उपरोक्त बड़े बड़े स्कन्ध वाले वृक्षों और दुर्ग के कपाटों पर तथा रणसंग्राम में ही करता है। उसी तरह विद्वान् अपनी शक्ति का उपयोग संयम में ही करेगा। ऐसा करने से ही वह मेधावी कहला सकता है अन्यथा नहीं। तो सूत्रकार ने मेधावी को अरति दूर करने का उपदेश दिया इसका क्या आशय है ?

उपरोक्त शंका योग्य नहीं है क्योंकि यहाँ पर प्रकृत सूत्र में जिसने चारित्र ग्रहण किया है उसे उपदेश करना सूत्रकार का ध्येय है और चारित्र का ग्रहण ज्ञान के बिना नहीं हो सकता है क्योंकि ज्ञान का फल विरति कहा गया है इस अपेक्षा से चारित्रग्रहण करने वाले को बुद्धिमान् कहा गया है। ऐसे बुद्धिमान को भी संयम में अरति हो सकती है क्योंकि विरोध रति और अरति का है, ज्ञान और अरति में विरोध नहीं है इसलिए ज्ञानी को भी चारित्र-मोहनीय के उदय से संयम में अरति उत्पन्न हो सकती है। चूंकि ज्ञान भी अज्ञान का ही बाधक है, संयम में उत्पन्न अरति का बाधक नहीं है जैसा कि कहा है—

ज्ञानं भूरि यथार्थ वस्तु-विषयं स्वस्य द्विषो बाधकं,
रागारातिशमाय हेतुमपरं युङ्क्ते न कर्तृ स्वयं ।
दीपो यत्तमसि व्यनक्ति किमु नो रूपं स एवेक्षतां,
सर्वः स्व-विषयं प्रसाधयति हि प्रासङ्गिकोऽन्यो विधिः ॥

अर्थात्—ज्ञान अपने ज्ञेय पदार्थ को ही ग्रहण करता है और तद्विषयक अज्ञान का बाधक होता है। रागादि दोषों की शान्ति का कारण ज्ञान नहीं किन्तु अन्य चारित्रादि गुण है। जिस वस्तु का जो गुण होता है, जिसका जो विषय होता है उसकी उसी में प्रवृत्ति होती है जैसे दीपक अन्धकार को नष्ट ही कर सकता है किन्तु स्वयं पदार्थों को नहीं देखता है। पदार्थ के ज्ञान में मात्र निमित्त बनता है उसी प्रकार ज्ञान भी अज्ञान का ही बाधक होता है उसकी प्रवृत्ति संयम में रति अरति के विषय में नहीं हो सकती।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

हों, ज्ञान का परम्परा फल संयमविषयक रति हो सकता है परन्तु साक्षात् फल तो मात्र अज्ञान की निवृत्ति होना ही है। अतः बुद्धिमान् को भी मोहोदय के कारण संयम में अरति उत्पन्न हो जाती है जैसा कि—

बलवानिन्द्रियग्रामः पण्डितोऽप्यत्र मुह्यति ।

अतः उपरोक्त शंका को स्थान नहीं है। दूसरी बात केवल अरति-प्राप्त को ही उपदेश नहीं है परन्तु सामान्यतः उपदेश है कि बुद्धिमान् को संयम में अरति नहीं करनी चाहिये।

जो संयम में अरति नहीं करता है वह अल्पकाल में ही आठ कर्मों से मुक्त हो जाता है अथवा संसार के बन्धनों से, अनासक्ति के कारण मुक्त हो जाता है, जैसे भरत चक्रवर्ती।

जो भगवान् की आज्ञा में विचरण नहीं करते हैं वे कण्डरीक की भाँति चारगति रूप संसाररूपी समुद्र में डूबे रहते हैं, यह बताते हुए सूत्रकार फरमाते हैं:—

अणाणाय पुट्ठावि एगे नियट्टंति मंदा मोहेण पाउडा ।

संस्कृतच्छाया—*अनाज्ञया स्पृष्टाः अपि एके निवर्त्तन्ते मंदा मोहेन प्रावृताः ।*

शब्दार्थ—मंदा=अज्ञानी। मोहेण पाउडा=मोह से घिरे हुए। एगे=एक एक प्राणी। पुट्ठावि=परीषह उपसर्ग आने पर। अणाणाय=वीतराग की आज्ञा से विपरीत चलकर। नियट्टंति= संयम से पतित होते हैं।

भावार्थ—कितने ही कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य के विवेक से नहीं, अज्ञानी, मोह के उदय से मूढ़ बने हुए, कण्डरीक के समान प्राणी, परीषह और उपसर्ग के आने पर परम हितकारी वीतराग देव की आज्ञा से विपरीत आचरण करके संयम से भ्रष्ट बनते हैं।

विवेचन—परीषह और उपसर्ग साधक के जीवन की कसौटी और संयम के मापयंत्र हैं। जो संयमी परीषह और उपसर्ग की कसौटी पर कसने पर खरा उतरता है, सही प्रमाणित होता है वही सच्चा संयमी है। जो संयम-सा दिखावा करता है परन्तु उपरोक्त कसौटी पर कसने पर नकली सिद्ध होता है तो वह नाम धारी है। सोना जैसे कसौटी पर कसने पर सोना प्रमाणित होता है और आदरणीय होता है परन्तु सोने के समान पीला दिखने वाला पीतल कसौटी पर कसे जाने के बाद तिरस्कृत होता है उसी तरह परिषह और उपसर्ग रूप कसौटी पर भी जो सही साबित होते हैं वे ही भगवान् की आज्ञा के आराधक हैं। सच्चा संयमी परीषह और उपसर्ग आने पर और भी अधिक संयम में दृढ़ होता है—जैसे सोना आग में जलने से और भी अधिक चमकता है और निखर जाता है ठीक वैसे ही सच्चे संयमी में अगर कोई दुर्गुण भी हों तो परीषह और उपसर्ग की आंच में सब भस्म हो जाते हैं और वह शुद्ध स्वर्ण के समान शुद्ध चारित्र सम्पन्न बन जाता है। इसके विपरीत संयम का ढोंग करने वाले कायर जीव परीषह उपसर्ग आने पर अधीर और व्याकुल होकर वीतराग की आज्ञा से अन्यथा आचरण करके संयम भ्रष्ट हो जाते हैं। ऊपर का बाह्य प्रदर्शन रूप कपट का आवरण हट जाने से उनकी कलई खुल जाती है। आखिर

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

कागज के फूलों में सुगन्ध कहाँ से आ सकती है ? नकली घोड़े कब तक दौड़ सकते हैं ? गधा सिंह की खाल कब तक ओढ़कर छिप सकता है ? परीषह और उपसर्ग नकली और सच्चे संयमी की कसौटी करने वाले मापयन्त्र हैं। फूल जितना मसला जाता है उतनी ही सुगन्ध देता है, इक्षु पीले जाने पर ज्यादा रस देता है, इसी प्रकार परीषह उपसर्गों में सच्चे संयमी का चरित्र और भी अधिक दृढ़ होता है—जैसे उपसर्ग के समय अरणक की दृढ़ वृत्ति। जो अज्ञानी मोहान्ध होकर संयम से पतित हो जाते हैं वे कण्डरीक के समान अनन्त काल तक संसार में परिभ्रमण करते हैं।

अपरिग्गहा भविस्सामो समुट्ठाय लद्धे कामे अभिगाहइ, अणाणाए मुणिणो पडिलेहन्ति इत्थ मोहे पुणो पुणो सन्ना नो हव्वाए नो पाराए।

संस्कृतच्छाया—*अपरिग्रहाः भविष्यामः समुत्थाय लब्धान् कामानभिगाहन्ते। अनाज्ञया मुनयः प्रत्युपेक्षन्ते, अत्र मोहे पुनः पुनः सन्नाः नोऽर्वाचे नो पाराय।*

शब्दार्थ—**अपरिग्गहा=परिग्रहरहित। भविस्सामो=हम बनेंगे। समुट्ठाय=दीक्षा लेकर। लद्धे कामे=प्राप्त हुए विषय भोगों को। अभिगाहइ=ग्रहण करता है। अणाणाए=वीतराग की आज्ञा से विपरीत आचरण करके। मुणिणो=मुनि वेश को लजाने वाले। पडिलेहन्ति काम भोगों के उपायों की शोध करते हैं। इत्थ मोहे=इस मोह में। पुणो पुणो=बारबार। सन्ना=आसक्त होकर। नो हव्वाए=न इसपार रहते हैं। नो पाराए=न उसपार जा सकते हैं।**

भावार्थ—हम अपरिग्रही बनेंगे ऐसे वचन बोलकर दीक्षित होने पर भी जो प्राप्त हुए कामभोगों का सेवन करते हैं और भगवान् की आज्ञा से विपरीत आचरण कर मुनिवेश को लजाते हैं और विषयसेवन के उपायों की शोध में लगे रहते हैं और विषयों में अत्यन्त गृद्ध बने रहते हैं वे न तो इसपार रहते हैं और न उसपार पहुँच सकते हैं (न तो गृहस्थ रहते हैं और न मुनि ही रहते हैं)।

प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार उस व्यक्ति की दयनीय स्थिति का वर्णन करते हैं जो पहिले तो संयम अंगीकार कर लेता है और बाद में विषयों पर नजर रखता है। पहिले तो प्राणी अभिमान पूर्वक यह प्रतिज्ञा कर लेता है कि मैं अपरिग्रही रहूँगा। अन्तिम व्रत के ग्रहण करने से पूर्व के अहिंसादि चारों व्रतों का भी ग्रहण समझना चाहिये अर्थात् मैं अहिंसक, सत्यवादी, अस्तेय व्रती, ब्रह्मचारी बनूंगा। यों प्रतिज्ञा करके संयम अङ्गीकार करने पर भी जो प्राप्त हुए भोगों को ग्रहण करते हैं वे नट के समान अन्यथा बोलने वाले और अन्यथा करने वाले हैं। वे अपनी रुचि के अनुसार स्वेच्छापूर्वक शास्त्र बना लेते हैं और अनेक उपायों द्वारा संसार को धोखा देने की चेष्टा करते हैं। दुनिया को यह दिखलाते हैं कि हम साधु हैं, मुनि हैं परन्तु वे विदूषक और बहुरूपिये की भांति केवल स्वांग बनाने वाले हैं, मात्र वेषधारी हैं। इस प्रकार भगवान् की आज्ञा से विपरीत आचरण करने वाले, मुनिवेश को कलंकित करने वाले वे काम विषयों के उपायों को ढूंढते रहते हैं और विषयों में अतिशय आसक्त रहते हैं। जिस प्रकार महान् गहन कीचड़ में फँसा हुआ हाथी अपने आपको उस कीचड़ से नहीं निकाल सकता है, वैसे ये प्राणी विषयों में ही खूब

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

आसक्त हैं इसलिए न तो इस पार रहते हैं और न उस पार ही पहुँच सकते हैं। जैसे महानदी के पूर में पड़ा हुआ प्राणी न तो इस पार तीर पर आ सकता है न उस पार पहुँच सकता है उसी प्रकार किसी निमित्त से स्त्री पुत्र, गृह, धन-धान्यादि वैभव को त्याग कर, अकिंचनता की प्रतिज्ञा लेकर इस पार से-गृहस्थ दशा से निकल जाता है, तो न इस पार का रहता है अर्थात् न गृहस्थ रहता है क्योंकि मुनि का वेश है और न पार पाता है अर्थात् न मुनि ही होता है। क्योंकि यथोक्त मुनि की क्रियाएँ नहीं करता है अतः सफल मुनि नहीं हो सकता है। तात्पर्य यह है कि दोनों तरफ से भ्रष्ट होकर त्रिशंकु की तरह मध्य में ही लटकता है और दुःख में डूबा रहता है। न तो गृहस्थ रहता है और न प्रव्रजित ही रहता है। कहा भी है—

इन्द्रियाणि न गुप्तानि, लालितानि न चेच्छया।
मानुष्यं दुर्लभं प्राप्य न भुक्तं नापि शोषितं ॥

अर्थात्—ऐसी उभय भ्रष्टदशा में न तो इन्द्रिय दमन होता है और न इन्द्रिय का पोषण होता है। न इस शरीर का भोग ही होता है और न तप के द्वारा शोषित होता है। कितनी दयनीय स्थिति! जो अप्रशस्त रति से निवृत्ति होते हैं और प्रशस्त रति में लीन होते हैं, वे कैसे होते हैं सो बताते हैं:—

विमुत्ता हु ते जणा जे जणा पारगामिणो, लोभमलोभेण दुगुंछमाणे लद्धे कामे नाभिगाहइ। [1]विणावि लोभं निक्खम्म एस अकम्मे जाणति पासति। पडिलेहाए णावकंखति एस अणगारे त्ति वुच्चइ।

संस्कृतच्छाया—*विमुक्तास्ते जना ये जनाः पारगामिनः। लोभमलोभेन जुगुप्समानो लब्धान् कामान् नाभिगाहते। विनापि लोभं निष्क्रम्य एष अकर्मा जानाति पश्यति। प्रत्युपेक्षणया नावकाङ्क्षति एष अनगार इत्युच्यते।*

शब्दार्थ—विमुत्ता=वे ही मुक्त हैं। हु=अवधारण में। ते जणा=वे मनुष्य। जे जणा=जो व्यक्ति। पारगामिणो=ज्ञान दर्शन चारित्र के पारंगत हैं। लोभमलोभेण=लोभ को निर्लोभ से। दुगुंछमाणे=त्यागते हुए। लद्धे कामे=प्राप्त कामभोगों को। नाभिगाहइ=नहीं चाहता है। विणावि-लोभं=लोभ के बिना। निक्खम्म=जो प्रव्रज्या लेता है। एस=वह। अकम्मे=कर्म रहित होकर। जाणति=सर्वज्ञ बनता है। पासति=सर्वदर्शी होता है। पडिलेहाए=यह विचार कर। नावकंखति=जो लोभ को नहीं चाहता है। एस=वह। अणगारोत्ति=साधु अनगार। वुच्चइ=कहा गया है।

भावार्थ—वास्तव में वे मुक्त ही पुरुष हैं जो ज्ञान, दर्शन और चारित्र के पारगामी हैं, जो सतत संयम का पालन करते हैं। तथा जो निर्लोभवृत्ति से लोभ को जीतकर प्राप्त कामभोगों की इच्छा नहीं करते हैं और प्रथम ही लोभ का त्याग कर जो त्यागी बनते हैं वे पुरुष कर्म से रहित होकर सर्वज्ञ और सर्वदर्शी बनते हैं। ऐसा विचार कर जो लोभ की इच्छा नहीं करते हैं वे ही सच्चे अनगार कहलाते हैं।

१ विणइत्तु।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

विवेचन—सच्चे विमुक्त पुरुष की व्याख्या करते हुए सूत्रकार फरमाते हैं कि वह पारगामी होता है। पार शब्द का अर्थ मोक्ष है, क्योंकि मोक्ष संसार रूपी समुद्र का किनारा है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र ये मोक्ष के कारण हैं अतः कारण में कार्य का उपचार करने से ज्ञान, दर्शन और चारित्र ही मोक्ष हैं। इससे यह अर्थ फलित होता है कि जो ज्ञान, दर्शन और चारित्र के पालन करने वाले हैं, इन प्रशस्त भावों में रमण करने वाले हैं वे ही सच्चे द्रव्य से धन-धान्य और स्वजन तथा भाव की अपेक्षा विषय-कषाय मुक्त हुए कहे जाते हैं। सच्ची मुक्ति प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि लोभ को निर्लोभवृत्ति से जीता जाय। लोभ सर्वस्व नाश करने वाला है और कषायों में मुख्य है यह बताने के लिए उसका ग्रहण किया है। क्षपकश्रेणी आरम्भ कर चुकने पर भी और बाकी के कषायों से निवृत्त हो जाने पर भी संज्वलन लोभ कषाय शेष रह जाता है। लोभ सभी गुणों का घातक है। इसलिए लोभ के ग्रहण करने से शेष कषायों का भी ग्रहण समझ लेना चाहिए। जैसे क्रोध को शान्ति से दूर करे, मान को मृदुता से निवारे और माया का सरलता से निवारण करना चाहिए। लोभी मनुष्य कार्याकार्य के विवेक से शून्य, साध्य और असाध्य के विचार से रहित होता है और केवल अर्थ सम्बन्धी दृष्टि होने से सभी पाप क्रियाएँ करता है। कहा है—

धावेइ रोहणं, तरइ सायरं, भमइ गिरिणिकुंजेषु।
मारेइ बंधवंपि पुरिसो जो होइ धणलुद्धो॥
अडइ बहुं वहइ भरं सहइ छुहं पावमायरइ धिट्ठो।
कुलसीलजाइपच्चयाधिइं च लोभदुओ चयइ॥

जो मनुष्य धन का लोभी होता है वह बड़े बड़े विषम स्थानों में दौड़ता है, समुद्रों का उल्लंघन करता है, पहाड़ों और वनों में भटकता है, और अपने भाई को भी मार डालता है। बहुत परिभ्रमण करता है, देश-विदेशों में घूमता रहता है, भार लादता है, क्षुधा पिपासा सहन करता है और पाप का आचरण निर्भयता से करता है। लोभी मनुष्य अपने कुल, जाति और अपने शील तक की मर्यादा को भंग कर देता है।

जो इस भयंकर लोभ को अलोभ द्वारा जीत लेते हैं वे प्राप्त हुए कामों का और विषयों का सेवन नहीं करते हैं। जो शरीर के लोभ से भी परे हो जाते हैं भला फिर कामादि विषयों में उनका लोभ कैसे हो सकता है? जिस प्रकार ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती ने विविध प्रकार के सांसारिक विषयवासना रूप प्रलोभनों द्वारा चित्तमुनि को आमंत्रित किया, परन्तु चित्तमुनि तो अन्तःकरण से लोभ और विषयों का त्याग कर चुके थे उन्हें अपने शरीर तक का लोभ और मोह न था तो भला क्या वे इन तुच्छ प्रलोभनों के चक्कर में फँसेंगे? उन्होंने ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती के आमंत्रणों को ठुकराते हुए उसे भी त्यागमार्ग के लिए उपदेश दिया था।

साधक अवस्था के लिए प्रथम यह आवश्यक है कि लोभ का त्याग किया जाय। जहाँ तक यह लोभ बना रहता है वहाँ तक साधक को अपनी साधना में बड़ी कठिनता होती है। लोभ का त्याग करने पर ही साधुता आती है और ऐसी साधुता ही आत्मा का साक्षात्कार करा सकती है और इस तरह ऐसी साधुता से आत्मा सर्वज्ञ और सर्वदर्शी बन जाती है। इसलिए सूत्रकार ने लोभ पर विजय प्राप्त कर अनगार वृत्ति ग्रहण करने पर शीघ्र कर्मरहित होकर यह जीवात्मा सर्वज्ञानी और सर्वदर्शी बन जाता है यह प्रतिपादन किया है। इस प्रकार विचार कर जो प्राणी लोभ की अभिलाषा तक नहीं करता है वही अनगार कहलाता है, लोभ के नष्ट होने पर "अकर्मा" हो जाता है यह कहने का मतलब यह है कि संज्वलन

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

लोभ के चले जाने पर मोहनीय क्षीण हो जाता है। मोहनीय कर्म के क्षय होने पर घाति कर्मों का क्षय हो जाता है इससे केवलज्ञान और केवलदर्शन प्रकट हो जाते हैं तथा भवोपग्राहिक कर्मों का क्षय हो जाता है। इसलिये लोभ पर विजय प्राप्त करने वाले को अकर्मा कहा गया है।

अहो य राओ परितप्पमाणे, कालाकालसमुट्ठाई, संजोगट्ठी, अट्ठालोभी, आलुंपे, सहसाकारे विणिविट्ठचित्ते एत्थ सत्थं पुणो पुणो।

संस्कृतच्छाया—*अहश्च रात्रिञ्च परितप्यमानः कालाकालसमुत्थायी संयोगार्थी अर्थालोभी आलंपः सहसाकारः विनिविष्टचित्तः अत्र शस्त्रं पुनः पुनः।*

[शब्दार्थ प्रथम उद्देशवत्]

भावार्थ—अज्ञानी जीव काल और अकाल की परवाह किये बिना, माता-पिता और पत्नी आदि में तथा धन में गाढ़ आसक्ति रखकर रातदिन चिन्ता की भट्ठी में जलता रहता है, विश्व में निर्भय होकर लूट मचाता है और विषयों में दत्तचित्त होकर बिना विचारे हिंसक वृत्ति से अनेकों दुष्कर्म कर डालता है।

विवेचन—पूर्ववत् (प्रथम उद्देशक के अनुसार)

से आयबले, से नाइबले, से मित्तबले, से पिच्चबले, से देवबले, से रायबले, से चोरबले, से अतिहिबले, से किविणबले, से समणबले इच्चेहिं विरूवरूवेहिं कज्जेहिं दंडसमायाणं संपेहाए भया कज्जइ, पावमुक्खुत्ति मन्नमाणे, अदुवा आसंसाए।

संस्कृतच्छाया—*तद् आत्मबलं, तद् ज्ञातिबलं, तद् मित्रबलं, तत्प्रेत्यबलं, तद्देवबलं, तद् राजबलं, तच्चौरबलं, तदातिथिबलं तत्कृपणबलं तच्छ्रमणबलं (मे भविष्यतीति कृत्वा) इत्यादिभिः विरूपरूपैः कार्यैः दण्डसमादानं संप्रेक्ष्य भयात् क्रियते, पापमोक्षः इति मन्यमानोऽथवा आशंसायै।*

शब्दार्थ—से आयबले=उस शरीर को पुष्ट बनाने के लिए। से नायबले=जाति स्वजन का बल पाने के लिए। से मित्तबले=मित्रों का बल पाने के लिए। से पिच्चबले=परलोक में बल के लिए। देवबले=देवताओं का बल पाने के लिए। से रायबले=राजा का बल पाने के लिए। से चोरबले=चौरों की चुराई वस्तु में भाग पाने के लिए। से अतिथिबले=अतिथियों का बल पाने के लिए। से किविणबले=कृपणों (भिक्षुक) का बल पाने के लिए। से समणबले=श्रमण साधुओं का बल पाने के लिए। इच्चेहिं=इन। विरूवरूवेहिं=अनेक प्रकार के। कज्जेहिं=कामों द्वारा। दंडसमायाणं=हिंसा करते हैं। संपेहाए=विचार कर। भया=डरसे। कज्जइ=ये हिंसक कार्य किये

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

जाते हैं। पावमुक्खुत्ति=पाप से छुटकारा होगा यों। मन्नमाणे=मानता हुआ। अदुवा=अथवा। आसंसाए=किसी प्रकार की आशा से।

भावार्थ—शरीरबल, जातिबल, मित्रबल, परलोकबल, देवबल, राजबल, चोरबल, अतिथिबल, भिक्षुकबल, श्रमणबल आदि विविध बलों की प्राप्ति के लिए यह अज्ञानी प्राणी विविध प्रकार की हिंसक प्रवृत्ति में पड़कर जीवों की हिंसा करता है। कई बार इन कार्यों से पापों का क्षय होगा अथवा इस लोक और परलोक में सुख मिलेगा इस प्रकार की वासना से भी अज्ञानी प्राणी सावद्य कर्म करता है।

विवेचन—कितना सत्य, शिव और सुन्दर तत्त्व है कि जो सदा दूसरों को अभय देता है वही सदा निर्भय रहता है। औरों को सताने वाला कभी निर्भय नहीं हो सकता है। वह हमेशा अपने कर्मों के फल स्वरूप सशंकित रहता है और डरता रहता है। इस डर से अपनी रक्षा करने के विचार से वह शक्ति संग्रहीत करता है, विविध प्रकार के बलों को प्राप्त करने की इच्छा करता है और उन बलों को प्राप्त करने की अभिलाषा से पुनः पुनः जीवों की हिंसा करता है। (१) मैं शक्तिशाली बनूँ, मेरा शरीर दृढ़ बने इसके लिए भी प्राणी मांसभक्षणादि क्रिया करते हैं और अनेक प्रकार के उपायों द्वारा शरीर को पुष्ट बनाने के लिए अनेक प्रकार की हिंसक प्रवृत्ति करते हैं। (२) स्वजनों और जाति वालों की सहायता पाने के लिए उनको जिमाने में या उनको प्रसन्न करने के लिए हिंसा करता है। (३) मित्रों का बल प्राप्त करने के लिए-अर्थात् मित्रों की सहायता से मैं आपत्ति को शीघ्र पार कर लूँगा इस अभिलाषा से मित्रों को खुश करने के लिए हिंसादि आरम्भ किये जाते हैं। (४) परलोक में यह मेरी सहायता करेगा इसलिए बकरे आदि को बलि चढ़ाते हैं। (५) देवता का बल प्राप्त करने के लिए पचन-पाचनादिक क्रियाओं द्वारा हिंसा की जाती है। (६) रायबले-राजा की सहायता पाने के लिए राजा की स्तुति और सेवा करने के लिए आरम्भ किया जाता है। (७) चोरों के चुराये हुए माल का भाग मुझे मिले इसके लिए चोरों की सेवा-भक्ति और उनका सन्मान करता हुआ हिंसा करता है। (८) अतिथि मुझ पर प्रसन्न होकर मेरी सहायता करेंगे इस अभिलाषा से अतिथि का सत्कार करता है। (९) इसी प्रकार भिक्षुक और (१०) श्रमणों की कृपा प्राप्त करने के लिए उनकी सेवा-भक्ति करता है और उनके लिए हिंसादिक कार्य करता है। तात्पर्य यह है कि विविध प्रकार के बलों की प्राप्ति के लिए यह प्राणी विविध रीति से प्राणियों की हिंसा करता है। "अगर मैं यह नहीं करूँगा तो मुझे शरीरबल, जातिबल आदि बल प्राप्त नहीं होवेंगे।" इस विचार से और डर से प्राणी इन बलों को प्राप्त करने लिए प्राणियों में दंडसमारंभ करता है। उपरोक्त बात तो इहलौकिक कारणों से हिंसा करने के सम्बन्ध में कही गई हैं परन्तु कई अज्ञानी प्राणी परमार्थ को नहीं जानते हुए, पापों से छुटकारा पाने लिए भी हिंसा करते हैं। वे देवी-देवताओं के आगे बलिदान करते हैं, यज्ञयागादि में पशुओं की बलि देते हैं और ऐसा करके यह मानते हैं कि इससे हमारे पाप छूट जावेंगे परन्तु वे मूर्ख प्राणी यह नहीं समझते कि पाप, पाप से कैसे मिट सकता है? खून का दाग खून से कैसे मिटाया जा सकता है? इस प्रकार जाते तो हैं पाप से छूटने और अज्ञान से अधिक पापों से बन्ध जाते हैं। इसी प्रकार आशा और लालसा के वशीभूत होकर प्राणी हिंसक कार्यों को करता है। ऐसा करने से मुझे परलोक में सुख मिलेगा, अथवा धन आदि की आशा से राजालोगों और धनिकों की चाटुकारिता करता है और उनको प्रसन्न रखने के लिए हिंसादि कार्यों में प्रवृत्ति करता है। आशा के जाल में पड़े हुए प्राणीरूपी बन्दर को राजा या धनिकादि मदारी के समान नाच नचाते हैं। अर्थाभिलाषा से प्राणी जैसा वे राजा या श्रीमन्त कहते हैं वैसा ही करता है। कहा भी है—

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

एहि; गच्छ पतोत्तिष्ठ, वद, मौनं समाचर ।
इत्याद्याशाग्रहग्रस्तैः क्रीडन्ति धनिनोऽर्थिभिः ॥

अर्थात्—धनवान् मदारी के समान बनकर आशा रखने वाले बन्दरों को इच्छानुसार नाच नचाते हैं। आ, जा, गिर, उठ, बोल, चुप रह आदि आदि उनके कहने के अनुसार वह किया करता है।

उपरोक्त बलों की प्राप्ति के लिए प्राणी विविध प्रकार के कर्मों का समारंभ करता है। परन्तु यह उसके अहित के लिए है अतः बुद्धिमान् प्राणी का क्या कर्त्तव्य है सो कहते हैं—

तं परिण्णाय मेहावी नेव सयं एएहिं कज्जेहिं दंडं समारंभिज्जा, नेव अन्नं एएहिं कज्जेहिं दंडं समारंभाविज्जा, एएहिं कज्जेहिं दंडं समारंभंतंवि अन्नं न समणुजाणिज्जा, एस मग्गे आरिएहि पवेइए, जहेत्थ कुसले नोवलिंपिज्जासि त्ति बेमि ।

संस्कृतच्छाया—*तत्परिज्ञाय मेधावी नैव स्वयमेतैः कार्यैर्दण्डं समारभेत, नैवान्यमेतैः कार्यैर्दण्डं समारम्भयेत्, एतैः कार्यैः दण्डम् समारभमाणमन्यं न समनुजानीयात्। एष मार्गः आर्यैः प्रवेदितः यथात्र कुशलः (त्वम्) नोपलिम्पयेः इति ब्रवीमि ।*

शब्दार्थ—तं परिण्णाय=यह जानकर । मेहावी=बुद्धिमान् । नेव सयं एएहिं कज्जेहिं दंड समारंभिज्जा=इन कार्यों के लिये स्वयं हिंसा न करे । नेव अन्नं एएहिं कज्जेहिं दंडं समारंभाविज्जा=इन कामों के लिए दूसरों से हिंसा न करावे । एएहिं कज्जेहिं=इन कामों के लिये । दंडसमारंभंतंपि अन्नं=हिंसा करते हुए किसी दूसरे को । न समणुजाणिज्जा=अच्छा न समझे । एस मग्गे=यह हिंसा-परिहारादि रूप मार्ग । आरिएहिं=तीर्थंकरों द्वारा । पवेइए=प्रतिपादित किया गया है । जहेत्थ=इन विविध बलादि कामों में हिंसा का त्याग करके । कुसले=बुद्धिमान् । नोवलिंपिज्जासि=हिंसादि के लेप से स्वयं को लिप्त न करे ।

भावार्थ—पूर्वोक्त बलादि प्राप्ति के निमित्त की जाने वाली हिंसा अहितरूप है यह जानकर बुद्धिमान् साधक उपरोक्त कार्यों के लिए स्वयं हिंसा न करे, अन्य द्वारा न करावे और हिंसा करते हुए दूसरे को अनुमोदन न दें। यह अहिंसा का राजमार्ग तीर्थंकर देवों ने प्ररूपित किया है इसलिए चतुर व्यक्ति को चाहिये कि अपनी आत्मा हिंसकादि वृत्तिद्वारा हिंसा के लेप से लिप्त न बने ऐसा व्यवहार करे।

विवेचन—पूर्व प्रतिपादत बलादि प्राप्ति के निमित्त, अथवा माता-पिता आदि स्वजनों के निमित्त, अथवा विषय-कषायादि के निमित्त प्राणी अन्य प्राणियों में दंड का समारम्भ करता है परन्तु यह समारम्भ उसके लिए अहित करने वाला और अज्ञान का बढ़ाने वाला है। यह जानकर विवेकी बुद्धिमान् प्राणी

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

को चाहिये कि ज्ञपरिज्ञा द्वारा हिंसा और उसके कटुक परिणामों को जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा द्वारा उसका त्याग करे। स्वयं हिंसा न करे, अन्य से न करावे और हिंसा करते हुए अन्य को अनुमोदन न दे- इस प्रकार तीन करण से और मनसा, वाचा, कर्मणा रूप तीन योग से हिंसा का त्याग करना चाहिए।

श्री सुधर्मा स्वामी अपने प्रिय शिष्य जम्बू स्वामी से कहते हैं कि हे आयुष्मन जम्बू! यह उपदेश मैं नहीं दे रहा हूँ लेकिन यह उपदेश सर्वज्ञानी और सर्वदर्शी तीर्थङ्करों ने देव-मनुजादि बारह प्रकार की पर्षदा में अतिशय के प्रभाव से सभी प्राणियों के हितार्थ अपनी २ भाषा में परिणत हो जाने वाली अमोघ वाणी द्वारा फरमाया है। यह अहिंसा का राजमार्ग तीर्थंकर देवों ने भव्य प्राणियों के हितार्थ प्ररूपित किया है। जिस मार्ग का अनुभव स्वयं ने प्राप्त किया है और जिस मार्ग पर चलकर उन वीतरागदेवों ने परमानन्द का अनुभव किया है उसी मार्ग पर चलने के लिये वे भव्य प्राणियों को उपदेश देते हैं। अतः चतुर एवं निपुण प्राणी का यह कर्त्तव्य है कि हिंसा के लेप से अपनी आत्मा को अलिप्त रखे और परमानन्द का अनुभव करे।

—उपसंहार—

जब तक आत्मसाक्षात्कार नहीं हो जाता है तब तक पूर्वाभ्यासों के कारण साधक को अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं और वह अपनी साधना में अस्थिर हो जाता है। ऐसे प्रसंगों में दृढ़ता से काम लेना चाहिये और जिन वीर पुरुषों ने इस मार्ग पर चलकर परमानन्द प्राप्त किया है उनके वचनों में सम्पूर्ण श्रद्धा और विश्वास रखना चाहिये। यही ऐसी अवस्था में श्रेष्ठ अवलम्बन है।

इति प्रथमोद्देशकः

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

लोक-विजय नाम द्वितीय अध्ययन

—तृतीयोद्देशक—

(मानत्याग और भोगविरति)

द्वितीय उद्देशक में संयम में दृढ़ता रखने का उपदेश दिया गया है। संयम में अरति उत्पन्न होने के खास कारण अज्ञान लोभ, और काम हैं। पूर्व उद्देशक में लोभ कषाय का फल और उससे विरत होने का उपदेश प्रतिपादित किया है। लोभ कषाय के समान मान (अहंकार) कषाय भी अरति का कारण है। कषायों का अभाव अथवा अतिमन्दता संयम में रति और असंयम में अरति कराने में कारण भूत है। अतः इस उद्देशक में मान का त्याग करने का उपदेश दिया जाता है। प्रायः करके उच्चकुलादि के निमित्त से अहंकार की उत्पत्ति होती है अतः तन्निवारणार्थ सिद्धान्तकार फरमाते हैं:—

से असइं उच्चागोए, असइं नीआगोए, नो हीणे, नो अइरित्ते, नोऽपीहए, इय संखाय को गोयावाई ? को माणावादी ? कंसि वा एगे गिज्झा ?

संस्कृतच्छाया—*सोऽसकृदुच्चैर्गोत्रे, असकृद् नीचैर्गोत्रे, नो हीनः नातिरिक्तः नो ईहेतापि (नो स्पृहयेत्) इति संस्थाय को गोत्रवादी ? को मानवादी ? कस्मिन्वैकस्मिन् गृध्येत् ?*

शब्दार्थ—से=यह जीवात्मा। असइं=अनेक बार। उच्चागोए=उच्चगोत्र में उत्पन्न हुआ है। असइं=अनेक बार। नीआगोए=नीचगोत्र में उत्पन्न हुआ है। नो हीणे=इसमें हीनता नहीं है। नो अइरित्ते=विशेषता भी नहीं है। नोऽपीहए=मदस्थानों में से एक की भी इच्छा न करे। इय संखाय=ऐसा जानकर। को गोयावादी=कौन गोत्र का अभिमान करेगा ? को माणावादी=कौन गर्व करेगा ? कंसि वा=किस में। एगे=एक में। गिज्झा=आसक्ति करेगा ?

भावार्थ—हे जम्बू ! यह जीवात्मा अनेक बार उच्चगोत्र में उत्पन्न हुआ है और अनेक बार नीच गोत्र में पैदा हुआ है। इसमें किसी प्रकार की विशेषता और हीनता नहीं है (क्योंकि भव-भ्रमण और कर्म-वर्गणा दोनों में समान हैं) ऐसा जानकर उच्चगोत्र का अभिमान और नीचगोत्र के कारण दीनता न लानी चाहिये। और किसी प्रकार के मद के स्थानों की अभिलाषा नहीं करनी चाहिये। ऐसा जानकर कौन अपने गोत्र का गर्व करेगा, कौन अभिमान करेगा अथवा किस बात में आसक्ति करेगा ?

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

विवेचन—अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण करते हुए जीवात्मा ने अनेकों वार उच्चगोत्र में जन्म लिया है और अनेकों ही वार नीचगोत्र में जन्म लिया है। यह संसार एक प्रकार का झूला है। जैसे झूले का जो भाग इस क्षण में ऊँचा है वही भाग दूसरे क्षण में सबसे नीचा हो जाता है तथा जो इस क्षण में सबसे नीचा है वह दूसरे ही क्षण में सबसे ऊँचा हो जाता है। जिस प्रकार झूले में उच्च-नीच अवस्थाएँ होती रहती हैं ठीक उसी तरह संसार रूपी झूले में झूलता हुआ यह प्राणी अनेकों वार उच्च-गोत्र में उत्पन्न हुआ है और अनेकों ही बार नीचगोत्र में भी उत्पन्न हुआ है।

बन्ध, उदय और सत्ता की अपेक्षा से उच्च-नीच गोत्र के सात भंग बनते हैं। वे इस प्रकार:-

(१) नीचगोत्र का बन्ध—नीचगोत्र का उदय और नीचगोत्र की सत्ता।
(२) नीचगोत्र का बन्ध—नीचगोत्र का उदय और उभय की सत्ता।
(३) नीचगोत्र का बन्ध—उच्चगोत्र का उदय और उभय की सत्ता।
(४) उच्चगोत्र का बन्ध—नीचगोत्र का उदय और उभय की सत्ता।
(५) उच्चगोत्र का बन्ध—उच्चगोत्र का उदय और उभय की सत्ता।
(६) बन्धाभाव—उच्चगोत्र का उदय और उभय की सत्ता।
(७) बन्धाभाव—उच्चगोत्र का उदय और उच्च की सत्ता।

नीच गोत्र का उदय अनन्तकाल तक तिर्यंचावस्था में रहता है। नामकर्म की ६२ प्रकृतियों में से जब आहारक शरीर, आहारक संघात, आहारक बन्धन, आहारक अंगोपांग, देवगति, देवानुपूर्वी, नरक-गति, नरकानुपूर्वी, वैक्रिय शरीर, वैक्रिय संघात, वैक्रिय बन्धन, वैक्रिय अंगोपांग इन बारह कर्म-प्रकृतियों को तथाविध अध्यवसायों से निर्लेप करता है तब तेज और वायुकाय में उत्पन्न होता है अतः तेज और वायु में प्रथम भंग ही पाया जाता है अर्थात् नीचगोत्र का उदय, नीचगोत्र का बन्ध और नीचगोत्र की ही सत्ता रहती है। शेष एकेन्द्रियों में भी प्रथम भंग ही पाया जाता है। त्रस में भी अपर्याप्त अवस्था में प्रथम भंग ही होता है। जब तक उच्चगोत्र का निर्लेप नहीं होता है वहाँ तक दूसरा और चतुर्थ भंग रहता है, अन्य नहीं। क्योंकि तिर्यंच अवस्था में उच्चगोत्र का उदय नहीं है। तात्पर्य यह है कि यह जीव उच्चगोत्र के अभि-मान के कारण एकेन्द्रिय में और तिर्यंच अवस्था में क्रमशः अनन्तकाल और अनन्त उत्सर्पिणी अवसर्पिणी तक रहता है। मनुष्यगति और मनुष्यानुपूर्वी का जब निर्लेप होता है तब उच्चगोत्र का उदय होता है। इस प्रकार नीचगोत्र से कलंकित जीव तिर्यंच में अनन्तकाल तक रहता है और मनुष्य भव में भी नीच स्थानों में उत्पन्न होता है। जब द्वीन्द्रियादि में उत्पन्न होकर प्रथम समय में अथवा पर्याप्ति के बाद में उच्च-गोत्र बांधकर मनुष्यभव में अनेक वार उच्चगोत्र प्राप्त करता है तब तीसरे और पंचम भंग में वर्तमान होता है। (अर्थात् नीचगोत्र का बन्ध, उच्चगोत्र का उदय और उभय की सत्ता यह तृतीय भंग—और उच्चगोत्र का बन्ध, उच्चगोत्र का उदय और उभय की सत्ता यह पंचम भंग है।) जब बन्ध का अभाव हो जाता है तब छठा और सातवां भंग बनता है। सातवां भंग शैलेशी अवस्था में द्विचरम समय में नीचगोत्र के क्षय हो जाने से उच्चगोत्र का उदय और सत्ता रहती है। इस प्रकार उच्च-नीच गोत्र में यह प्राणी अनेक वार उत्पन्न हुआ है और होता है अतः उच्चगोत्र का अभिमान नहीं करना चाहिए और नीचगोत्र से दीनता न लानी चाहिए। क्योंकि उच्चगोत्र के अनुभाव बन्ध के अध्यवसाय स्थान के जितने अंश हैं उतने ही अंश नीचगोत्र के भी हैं। तात्पर्य यह है कि उच्चगोत्रकार्माणवर्गणा के जितने अंश हैं उतने ही नीचगोत्र के भी हैं। प्रत्येक प्राणी ने बराबर उन अंशों का संस्पर्श किया है। इसलिए उच्चगोत्र से किसी प्रकार की विशेषता और नीचगोत्र से किसी प्रकार की हीनता नहीं होनी चाहिए। भवभ्रमण की दृष्टि से दोनों समान हैं।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

कार्माणवर्गणा की दृष्टि से दोनों कर्म पुद्गल रूप हैं अतः विशेषता और हीनता के लिए स्थान ही नहीं है। इस पर भी जो कुलादि का अभिमान करता है उसकी आत्मा का पतन होता है। उसे एकेन्द्रिय और तिर्यंच में जन्म लेकर नीचगोत्र का वेदन करना पड़ता है और जो नीचगोत्र प्राप्त करने पर दीनता लाता है वह स्वयं ही दुखी बनता है। ऐसा समझ कर गोत्र का कौन अभिमान करेगा ?

यहाँ पर जाति का जो ग्रहण किया गया है वह उपलक्षण है। इससे बल, रूप, लाभ, ऐश्वर्य आदि मदस्थानों का भी ग्रहण कर लेना चाहिए। आठों प्रकार के मदों में से किसी प्रकार का मद नहीं करना चाहिए। संसार में किसी की भी अवस्था एक समान नहीं रहती है। यह विचार कर मद और दीनता का त्याग करना चाहिए।

प्रत्येक प्राणी ने अनेक बार उच्च-नीच स्थानों में जन्म ग्रहण किया है अतः उन स्थानों में से किसका तो गर्व करे और किसका विषाद करे ? उच्चस्थान भी अनेक बार ग्रहण किये हैं अतः कोई विशिष्ट महत्व नहीं है। इसी तरह नीचगोत्र का भी अनेक स्थानों पर वेदन किया है अतः कोई विशेष शोक करने जैसी बात नहीं है। ये उच्च-नीच अवस्थाएँ नवीन नहीं हैं, पूर्व में अनेकशः उपयुक्त हैं अतः अभिमान, आसक्ति तथा विषाद का कोई कारण नहीं है। यही सूत्रकार फरमाते हैं:—

तम्हा पंडिए नो हरिसे, नो कुप्पे, भूएहिं जाण पडिलेहि सातं, समिते एयाणुपस्सी तंजहा-अंधत्तं, बहिरत्तं, मूयत्तं, काणत्तं, कुंटत्तं, खुज्जत्तं, वडहत्तं, सामत्तं, सबलत्तं सहपमाएणं अणेगरूवाओ जोणीओ संधाति, विरूवरूवे फासे पडिसंवेदेइ।

संस्कृतच्छाया—*तस्मात्पण्डितः न हृष्येत, न कुप्येत्, भूतेषु जानीहि प्रत्युपेक्ष्य सातं, समितः एतदनुदर्शी तद्यथा--अन्धत्वं, बधिरत्वं, मूकत्वं, काणत्वं, कुण्टत्वं, कुब्जत्वं, वडभत्वं, श्यामत्वं, शबलत्वं। सह प्रमादेन अनेकरूपाः योनीः संदधाति विरूपरूपान्स्पर्शान् प्रतिसंवेदयति।*

शब्दार्थ—तम्हा=इसलिए। पंडिए=बुद्धिमान्। नो हरिसे=हर्ष न करे। नो कुप्पे=क्रोध न करे। भूएहिं=जीवों को। पडिलेह=विचार कर। सातं जाण=सुख चाहने वाले जानो। समिते=समिति युक्त होकर। एयाणुपस्सी=यह देखने वाला हो। तंजहा=कि। अन्धत्तं=अन्धा होना। बहिरत्तं=बधिर होना। मूयत्तं=गूङ्गा होना। काणत्तं=काणा होना। कुंटत्तं=ठूंठा होना। खुज्जत्तं=वामन होना। वडहत्तं=कुबडा होना। सामत्तं=काला होना। सबलत्तं=चितकबरापन। सहपमाएणं=प्रमाद से होता है। अणेगरूवाओ=अनेक प्रकार की। जोणीओ संधाति=योनियों में जन्म धारण करता है। विरूवरूवे फासे=अनेक प्रकार की यातनाएँ। पडिसंवेदेइ=सहन करनी पड़ती हैं।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

भावार्थ—इसलिए बुद्धिमान् प्राणी उच्चगोत्र-प्राप्ति का हर्ष न करे और नीचगोत्र प्राप्ति के प्रति क्रोध न करे। और यह याद रक्खे कि प्रत्येक प्राणी को सुख प्रिय है और दुःख अप्रिय है। यह जानकर पांच प्रकार की समिति से युक्त बने और सभी के साथ विवेक पूर्ण व्यवहार करे। यह स्मरण में रखना चाहिये कि जीव अपने ही किये हुए प्रमाद के कारण अंधा, बहिरा, गूंगा, टूंटा, काणा, बौना, कुबड़ा, काला, चितकबरा होता है और अनेक योनियों में जन्म धारण करता है और विविध प्रकार की यातनाएँ सहन करने के लिए विवश होता है।

विवेचन—संसार में परिभ्रमण करते हुए प्राणी की अवस्थाएँ कदापि एक-सी नहीं हो सकतीं। सूर्य और चन्द्रमा का भी उदय होता है और अस्त भी होता है। गाड़ी के घूमते हुए चक्र के समान मनुष्यों की अवस्थाएँ बदला करती हैं। जो एक बार छत्र-चंवर धारी सम्राट् के रूप में दिखाई देता है वही अनाथ बनकर दर-दर भीख माँगता नजर आता है। कहा भी है:—

होऊण चक्कवट्टी पुहइपइ विमलपंडरच्छत्तो।
सो चेव नाम भुज्जो अणाहसालालओ होइ॥

दूसरे जन्मों की बात छोड़ दें और केवल एक ही जन्म का विचार करते हैं तो भी प्राणी एक ही जन्म में तथाविध कर्मोदय से अनेक प्रकार की अवस्थाएँ देखता है। एक प्राणी आज करोड़ों की सम्पत्ति का मालिक है वही कल दैविक-प्रकोप या कर्मों के प्रकोप से दरिद्र बन जाता है। रुस का ज़ार एकदिन सर्वेसर्वा था और एक दिन पदच्युत कर दिया गया, एक दिन नैपोलियन से सारा संसार धूजता था और उसे युरोप का सम्राट्-सा समझता था वह बन्दी के रूप में अपना जीवन बिताता है। एक दिन जो दरिद्रों का सरताज था वह एक दिन सम्राटों का सरताज होता हुआ दिखाई देता है।

इन सभी बातों का विचार करके बुद्धिमान् व्यक्ति अपनी उच्चावस्था का अभिमान न करे क्योंकि यह तो चलती छाया है। जो आज है वह कल नहीं है। इसलिए धनसम्पत्ति, शारीरिक बल, ज्ञानबल, आदि किसी का भी अभिमान न करे। और यह विचारे कि मुझ से बढ़कर अनेक व्यक्ति संसार में हैं, मैं उनके सामने किस गिनती में हूँ-इस प्रकार अपने अभिमान को दूर करे। जब अपनी हीनावस्था पर विषाद होने लगता है तब प्राणी को यह विचारना चाहिये कि दुनियां में अनेकों प्राणी मुझ से भी ज्यादा दुखी हैं अथवा मैंने पूर्वभवों में अनेकों दुःख सहन किये हैं उनके सामने यह दुःख किस गिनती में हैं। इस प्रकार अपने विषाद को शान्त करना चाहिये।

सारांश यह है कि प्राणी अपनी उच्च अवस्था का हर्ष न करे और निम्न अवस्था पर विषाद न करे।

प्रायः मानग्रसित व्यक्ति अपने अभिमान के कारण दूसरों का तिरस्कार करने लग जाता है। जात्यादि की उच्चता के कारण वह अन्य जनों को अछूत समझ कर उनका तिरस्कार करने लगता है परन्तु यह प्रत्येक बुद्धिमान् को ध्यान में रखना चाहिये कि जैसा सुख और मान उसे स्वयं को प्यारा है वैसा ही दूसरों को भी सुख और मान प्यारा है। प्रत्येक प्राणी को सुख प्रिय है और दुःख अप्रिय है। छोटे से छोटे कीड़े से लगाकर इन्द्र तक सभी को एक-सा सुख प्रिय लगता है अतः यह ध्यान में रखना

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

चाहिये कि "आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्"। जो व्यवहार हमारे प्रतिकूल है वह व्यवहार हमें दूसरों के साथ भी नहीं करना चाहिये। अतः किसी का तिरस्कार करना, किसी को दुख पहुँचाना अपने पैरों पर कुल्हाडी मारना है। विवेकी साधक का यह कर्त्तव्य है कि वह पूर्ण संयमी रहे। गति करते हुए संयम का ध्यान रखे, वचनसंयम पर लक्ष्य दे, वस्तु की प्राप्ति करने में संयम के प्रति सावधान रहे, वस्तुओं के लेने और रखने में उपयोग रक्खे, और त्यागने योग्य पदार्थों को त्यागते हुए यतना करे। इस प्रकार पांच समितियों से संयत होकर यह भी ध्यान में रखे कि यह प्राणी अपने ही प्रमाद के कारण अंधा, बहिरा, गूंगा, काना, टूंटा, बौना, कुब्जा, काला, काबरचित्रा होता है और अनेक योनियों में जन्म धारण करता हुआ विविध वेदनाओं को सहन करता है। प्राणी ही अपने सुख और दुःख का कर्त्ता एवं भोक्ता है।

ईश्वर या प्रकृति सुख-दुःख देने वाले हैं ऐसा नहीं माना जा सकता। क्योंकि जो प्राणी कर्म करने में स्वतंत्र हैं वे उसका फल पाने में भी स्वतंत्र ही होने चाहिए। वे अपने किये हुए कर्मों के अनुसार स्वयं शुभाशुभ फल प्राप्त कर लेते हैं। कर्माधीन ही फल है। शंका की जा सकती है कि प्राणी अच्छे बुरे कर्म तो कर लेता है परन्तु उसका फल भोगने के लिए स्वयं तैयार नहीं होता है अतः उसके कर्मों का फल देने वाला अन्य कोई (ईश्वर) होना चाहिए। यह शंका युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि प्राणी जब कर्म करता है तब तो वह स्वतंत्र है परन्तु जब वह कर चुकता है तब उन कृतकर्मों के अधीन हो जाता है। वे उसकी अनिच्छा होते हुए भी उसे फल देते हैं। जैसे किसी व्यक्ति ने मिरची खा ली है तो वह भले ही चाहे कि मुझे चरपरी न लगे परन्तु ऐसा नहीं हो सकता है। मिरची खाने के पहिले वह स्वतंत्र था पर जब वह खा चुका तो उस पदार्थ के गुण के आधीन होना पड़ता है अर्थात् वह मिरची उसके नहीं चाहने पर भी उसे चरपराहट लगावेगी। इसी प्रकार जिस प्राणी ने कर्म किये हैं वे कर्म उसे फल देंगे ही चाहे प्राणी फल भोगना चाहे अथवा न चाहे। अतः यह सिद्धान्त सच्चा है कि प्राणी स्वयं सुख और दुःख का कर्त्ता है और भोक्ता है। ईश्वर को फल का देने वाला मानने पर उसकी ईश्वरता में अनेक दोष उत्पन्न होते हैं। जो कृतार्थ एवं कृतकृत्य है वह ऐसे प्रपंचों में क्यों पड़े? यह प्रश्न सहज ही खड़ा होता है। अतः यह मानना और समझना चाहिए कि मनुष्य अपने ही बनाये हुए भूलभूलैया में फँस जाता है। मकड़ी जैसे अपने ही बनाये हुए जाल में फँस कर दुःख पाती है ठीक इसी तरह जीवात्मा अपनी ही भूल के कारण दुःखी होता है। अतः भविष्य के लिए विवेक रखना चाहिए कि पुनः भूल न हो। स्वयं का किया हुआ प्रमाद दुःखों का मूलभूत कारण है अतः सुखाभिलाषी प्राणियों को प्रमाद का त्याग करना चाहिए। पाँच प्रकार के प्रमादों में (मद, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा) मद को प्रथम स्थान दिया गया है। अतः जाति ऐश्वर्य प्रमुख मद के स्थानों का त्याग करना चाहिए।

ऐसा होते हुए भी अभिमानी व्यक्ति कर्मविपाक को नहीं समझता है, हिताहित का विवेक नहीं करता है, संसार की असारता का विचार नहीं करता है और अपनी मूढ़ता के कारण हित को अहित और अहित को हित समझता हुआ विपरीत प्रवृत्ति करता है:—

से अबुज्झमाणे हओवहए जाईमरणं अणुपरियट्टमाणे।

संस्कृतच्छाया—*स अबुध्यमानो हतोपहतः जातिमरणमनुपरिवर्त्तमानः।*

शब्दार्थ—**से अबुज्झमाणे**=वह अज्ञानी प्राणी। **हओ**=रोगादि से पीड़ित होकर।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

उवहए=अपयश से कलंकित होकर। जाइमरणं=जन्म-मरण के चक्र में। अणुपरियट्टमाणे=परिभ्रमण करता रहता है।

भावार्थ—कर्मरचना के स्वरूप को नहीं समझने वाला अभिमानी प्राणी अनेक प्रकार की शारीरिक मानसिक व्याधियों से पीड़ित होकर और अपकीर्ति प्राप्त करके जन्म-मरण के चक्र में भ्रमण करता रहता है।

विवेचन—वह उच्चगोत्रादि का अभिमानी, अन्धत्व बधिरत्वादि अशुभ कर्मों के फलों को भोगता हुआ भी कर्मरचना के स्वरूप को नहीं जानता है और हतोपहत होता है। अनेक प्रकार की शारीरिक मानसिक व्यथाओं से पीड़ित होने से हत होता है और सभी जनों की निन्दा का पात्र बनने से व अपयश से कलंकित होने से उपहत होता है। अथवा उच्चगोत्रादि के अभिमान के कारण कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का भान भूल जाने से विद्वानों द्वारा उसके अपयश का पटह (ढोल) पीटा जाता है अतः वह हत है और अभिमान के द्वारा अशुभ कर्मों का बन्धन कर अनेकों भवों में नीचगोत्र के उदय का अनुभव करता हुआ उपहत होता है और उस दुःख से मूढ़ बनता है। फल यह होता है कि जन्म और मरण रूपी दुःखों को अरहट्ट-घटीयन्त्र के न्याय से सहन करता है। जिस प्रकार अरहट्ट (रेंट) में रहे हुए घड़े खाली होते हैं और भरते हैं-यही क्रम उनका चालू रहता है-उसी प्रकार ऐसे प्राणी जन्म लेते हैं और मरते हैं। उनके जीवन मरण की परम्परा चालू रहती है। "आवीची मरण" न्याय से क्षण क्षण में प्राणी मरण का और नवीन जन्म का अनुभव करता है और दुःख सागर में डूबता है तदपि अनित्य और क्षणविध्वंसी तथा नश्वर पदार्थों को नित्य समझता है और अहित में हित बुद्धि करता है और हित को अहित समझता है। कितना विपर्यय! कितनी मूढ़ता!! कितना अज्ञान!!!

जीवियं पुढो पियं इहमेगेसिं माणवाणं खित्तवत्थुममायमाणाणं।

संस्कृतच्छाया—*जीवितम् पृथक् प्रियमिहैकेषां मानवानाम् क्षेत्रवास्तुममायमानानाम्।*

शब्दार्थ—**खित्तवत्थुममायमाणाणं=खेत और मकान आदि में ममत्व रखने वाले। एगेसिं माणवाणं=किन्हीं मनुष्यों को। इह=इस संसार में। जीवियं=असंयमित जीवन। पुढो=पृथक् २ प्रत्येक को। पियं=प्रिय है।**

भावार्थ—क्षेत्र तथा वस्तुओं में ममत्व रखने वाले प्रत्येक प्राणी को अपना जीवन बड़ा ही प्रिय मालूम होता है (तथापि प्राणी को मरना पड़ता है)।

विवेचन—इस संसार में अविद्यारूपी अन्धकार से घिरे हुए चित्त वाले मनुष्यों को यह असंयमित जीवन बड़ा ही प्रिय मालूम होता है। वे सदा जीवित रहना चाहते हैं। इसी अभिलाषा से वे जीवन को चिरकाल तक टिकाये रखने के लिए विविध प्रकार के रसायनों का सेवन करते हैं तथा अन्य प्राणियों का खून अपने शरीर में डलवाते हैं। इस प्रकार नश्वर शरीर को अमर बनाये रखने की मिथ्याभिलाषा से अनेक प्रकार के प्राणियों की हिंसा करते हैं। ये मेरे धान्यादिक के खेत हैं, ये ऊंची ऊंची अट्टालिकाएँ

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

मेरी हैं, इस प्रकार आत्मभिन्न पौद्गलिक वस्तुओं में ममत्व करता हुआ प्राणी हमेशा जीवन जीना चाहता है परन्तु कर्मविपाक से उसे उस भव की आयु के क्षय होने पर क्षेत्र, वास्तु आदि प्रिय पदार्थ यहीं छोड़कर मरना पड़ता है। अगर उसका वश चलता हो तो कभी इन प्रिय पदार्थों का त्याग न करे और सदा जीवित रहे परन्तु कर्मबन्धनों से पराधीन बने हुए प्राणी को सभी प्रिय से प्रिय पदार्थों को छोड़कर मरना पड़ता है। यह लाचारी है परन्तु इस लाचारी को प्राणी पहिले से ही नहीं समझता है। इसलिए पौद्गलिक वस्तुओं में मोह और आसक्ति रखता है और इसी आसक्ति के कारण दुःख का अनुभव करता है।

आरत्तं, विरत्तं, मणिकुण्डलं, सहहिरण्णेण इत्थियाओ परिगिज्झ तत्थेव रत्ता 'ण इत्थ तवो वा, दमो वा, नियमो वा दिस्सइ' संपुण्णं बाले जीविउकामे लालप्पमाणे मूढे विप्परियासमुवेइ।

संस्कृतच्छाया—*आरक्तं, विरक्तं, मणिकुण्डलं, हिरण्येन सह स्त्रीः परिगृह्य तत्रैव रक्ताः 'नात्र तपो वा, दमो वा, नियमो वा दृश्यते सम्पूर्णम् बाले जीवितुकामे लालप्यमानो मूढो विपर्यासमुपैति।*

शब्दार्थ—आरत्तं=रंगा हुआ वस्त्रादि। विरत्तं=विविध रंग के वस्त्रादि। मणिकुण्डलं=रत्न, आभूषण। सहहिरण्णेण इत्थियाओ=स्वर्ण और स्त्री आदि। परिगिज्झ=प्राप्त करके। तत्थेव=उनमें। रत्ता=आसक्त हो जाते हैं। ण इत्थ तवो वा=यहाँ न तप। दमो वा=अथवा इंद्रियदमन। नियमो वा=अहिंसादि व्रत। दिस्सइ=फलवान् देखे जाते हैं, इस प्रकार। संपुण्णं बाले=निरे अज्ञानी। जीविउकामे=असंयमित जीवन की कामना वाला। लालप्पमाणे=भोगों के लिए बक-बक करता हुआ। मूढे=मूढ़ बना हुआ। विपरियासमुवेइ=विपरीत प्रवृत्ति करता है।

भावार्थ—वे अज्ञानी प्राणी कदाचित् कर्मोदय से रंगविरंगे वस्त्र, मणिरत्न, कुण्डल, सोना-चांदी और स्त्रियां प्राप्त करके उन्हीं में आसक्त बने रहते हैं। तथा वे निरे अज्ञानी और मूढ प्राणी असंयमित जीवन की कामना वाले बनकर भोगों की लालसा से विपरीत प्रवृत्ति करते हुए इस प्रकार बकवाद करते हैं कि इस संसार में अनशनादि तप, इन्द्रियदमन और अहिंसादि नियम किसी काम के नहीं हैं।

विवेचन—मोह और आसक्ति का वर्णन उपर किया जा चुका है। क्षेत्र, वास्तु, रंगविरंगे वस्त्र, मणि, रत्न, आभूषण, स्वर्ण और स्त्रियाँ आदि भोगोपभोग के साधन प्राप्त होने पर यह मोहासक्त प्राणी उन्हीं को सर्वस्व समझ लेता है और पर वस्तु को अपनी मान लेता है। आत्म वस्तु का भान भुलाकर परवस्तुओं में आसक्ति करता है यही विपरीत प्रवृत्ति है। समग्र साधनों की उपस्थिति होने पर भी जहाँ आसक्ति है वहाँ मानसिक दुःख नियमतः होता ही है। क्योंकि कहीं ये साधन चले न जाय, ये मुझे न छोड़ दें, इस प्रकार भय और शंका बनी रहती है।

इस प्रकार आसक्त बने हुए निरे अज्ञानी, असंयमित जीवन की लालसा वाले मूढ़ प्राणी यों बक-वाद करते हैं कि तप, दम नियमादि से कोई लाभ नहीं है। ये किसी काम के नहीं हैं। इनका सेवन करने से

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

क्या लाभ ? शरीर को कष्ट देने से क्या प्रयोजन है ? परन्तु यह उनका बकवाद उनकी पामरता बताता है। वे भोगों में आसक्त बने हुए इन व्रत-नियम और तपादि का पालन नहीं कर सकते हैं अतः अपनी कमजोरी को छिपाने के लिए वे ऐसी मिथ्या प्ररूपणा करते हैं। वे कहते हैं कि व्रततप नियमादि का फल शरीर को कष्ट देने के सिवाय और कुछ भी नहीं देखा जाता है। अगर जन्मान्तर में उनका फल मिलता है तो प्रत्यक्ष सुखों को छोड़कर अप्रत्यक्ष सुखों की कल्पना करना मूर्खता है। भोगादि विषय तो प्रत्यक्ष सुख देने वाले हैं। उनको छोड़कर अप्रत्यक्ष सुख की आशा क्यों करनी चाहिए ? परन्तु उनका यह कथन प्रलापमात्र है। यह उनकी इन्द्रियों की गुलामी को प्रकट करता है। वे इन्द्रियों के दास आत्मा के सच्चे सुख की कल्पना भी नहीं कर सकते हैं। इन्द्रियदमन, मनोनिग्रह और संयम आत्मविकास के मुख्य अंग हैं। इनका पालन करने से शारीरिक और मानसिक तन्दुरुस्ती रहती है जो आत्मसाधना में अत्यन्त आवश्यक और परमोपयोगी है। प्रत्येक साधक के लिए अपनी साधना में दृढ़ रहने के लिए ये खूब आवश्यक तत्त्व हैं। आत्मस्वरूप को समझने वाले प्राणियों को ये व्रतनियमादि सुखरूप प्रतीत होते हैं और ये शुद्ध सच्चे आनन्द का अनुभव करते हैं। परन्तु विषयादि में सुख लेशमात्र नहीं होते हुए भी प्राणी उनमें सुख का अनुभव करते हैं यह उनकी विपरीतता है। अनेक प्रमाणों द्वारा यह सिद्ध है कि आत्मा, स्वर्ग नरक, परलोक आदि विद्यमान हैं। जब इनकी सत्ता स्वीकार की जाती है तो भवान्तर में ये व्रतनियमादि सुख देने वाले हैं इसमें किसी प्रकार की शंका नहीं हो सकती। तदपि थोड़ी देर के लिए शंका-शील के संतोष के लिए यह मान भी लिया जाय कि परलोक नहीं है तो भी जो प्राणी शुभ कर्म करते हैं-जो सांसारिक सभी द्वन्द्वों से विरत होने से सदा सुख का अनुभव करते हैं उनका क्या बिगड़ सकता है ? परन्तु जो नास्तिक होकर अशुभ कर्म करता है, और शुभ कर्मों का निषेध करता है वह तो परलोक के होने पर मारा जावेगा, ठगा जावेगा, क्योंकि अगर परलोक है तो दुःख उठाना ही पड़ेगा। इसके विपरीत जो आस्तिक है वह तो दोनों अवस्थाओं में सुखी ही होता है। यदि परलोक हुआ तो सुख मिलेगा ही और नहीं हुआ तो प्रशम आदि भाव होने से यहाँ भी सुख है ही। इस प्रकार आस्तिक के दोनों हाथों में लड्डू हैं।

संदिग्धेऽपि परे लोके त्याज्यमेवाशुभं बुधैः।
यदि नास्ति ततः किं स्यादस्ति चेन्नास्तिको हतः॥

वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो नास्तिकों की ऐसी मान्यता और उसके प्रचार का कारण उनकी स्वच्छन्दता और पामरता है। अपनी भोग-लालसा और पौद्गलिक आसक्ति के कारण वे इस प्रकार का प्रलाप करते हैं। इसका स्थायी असर नहीं हो सकता है। उस प्रकार जो व्रतनियमादि का अपलाप करता है और जीवन, धन, स्त्री आदि में आसक्त है वह प्राणी विपरीत प्रवृत्ति करता है। वह अतत्त्व में तत्त्वबुद्धि और तत्त्व में अतत्त्वबुद्धि करता है और प्रत्येक वस्तु को विपरीत रूप से देखता है। कहा भी है:—

दारा परिभवकारा, बन्धुजनो बन्धनं विषं विषयाः।
कोऽयं जनस्य मोहो ये रिपवस्तेषु सुहृदाशा॥

स्त्रियाँ अपमान करने वाली हैं, बन्धु जन बन्धन के तुल्य हैं, विषय-कामभोग विष के समान हैं तो भी प्राणी का कैसा मोह है कि वह शत्रुओं से मित्रता की आशा करता है। यह कैसा विपर्यय है ?

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

शुभ कर्मों का उपार्जन करके जो मोक्ष के अभिलाषी हैं उनका स्वरूप बताते हैं:—

इणमेव नावकंखंति जे जणा धुवचारिणो, जाइमरणं परिन्नाय चरे संकमणे दढे ।

संस्कृतच्छाया—*इदमेव नावकाङ्क्षन्ति ये जनाः ध्रुवचारिणः जातिमरणं परिज्ञाय चरेत् संक्रमणे दृढः ।*

शब्दार्थ—जे जणा धुवचारिणो=जो प्राणी शाश्वत सुख के इच्छुक हैं । इणमेव= इस असंयमी जीवन को । नावकंखंति=अभिलाषा नहीं करते हैं । जाइमरणं=जन्म-मरण के स्वरूप को। परिन्नाय=भलीभाँति जानकर । संकमणे=चारित्र में । दढे=दृढ़ होकर । चरे=विचरें ।

भावार्थ—जो प्राणी सच्चे और शाश्वत सुख के अभिलाषी हैं वे इस प्रकार के स्वच्छंदी और असंयमित जीवन की इच्छा नहीं करते हैं । वे तो जन्म मरण के मूल को भलीभांति समझ कर उससे मुक्त होने के लिए संयम पालन में शंका नहीं करते हुए दृढ़ता से उसका पालन करते हैं ।

विवेचन—सूत्रकार ने यह फरमाया है कि जो प्राणी ध्रुवचारी होते हैं—अर्थात् ध्रुवरूप मोक्ष, और उसके कारण ज्ञान दर्शन और चारित्र में जो रमण करने वाले हैं—वे प्राणी स्वच्छंद और असंयमित जीवन की अभिलाषा नहीं करते हैं । वे पर वस्तुओं में ममत्व नहीं करते हैं और आत्मरूप में सच्चे सुख का साक्षात्कार करते हैं । वे जन्म और मरण का मूल ढूंढ कर उसे समूल नष्ट करने के लिए दृढ़ता से संयम का पालन करते हैं । वे इस नश्वर और अनित्य शरीर में भी मोह नहीं रखते हुए इसके द्वारा अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होते हैं । आत्मिक सुखों के अन्वेषण के लिए वे शारीरिक कष्टों को सुख रूप मान कर सहन करते हैं और परलोक आदि की शंका नहीं करते हुए दृढ़ता से संयम का पालन करते हैं । परिषह और उपसर्गों से उनका संयम चल-विचल नहीं हो सकता । वे तपस्वी संयम की साधना करते हुए उपशम प्रशम आदि के द्वारा जिस सुख का, जिस चिर शान्ति का और द्वन्द्वरहितता से जो अनाबाध अवस्था का अनुभव करते हैं उन्हें परलोक के सुखों की क्या अभिलाषा हो सकती है ? उन तपस्वी महापुरुषों के प्रभाव से इस लोक में भी बड़े बड़े सम्राट् भक्ति भाव से नम्र बने हुए उन मुनियों के चरणों में नतमस्तक हो जाते हैं । अतः सर्वथा हितकारी इस संयम के पालन में कदापि शिथिलता न लानी चाहिए । यह कदापि विचार नहीं करना चाहिए कि थोड़े दिनों बाद अथवा वृद्धावस्था में धर्म का आचरण करूँगा क्योंकि मृत्यु का निश्चय नहीं है कि वह कब आवेगी मृत्यु के आने के लिए कोई अकाल नहीं है—यह सूत्रकार सूत्र द्वारा फरमाते हैं :—

नत्थि कालस्स णागमो । सव्वे पाणा पियाउया, सुहसाया, दुक्खपडिकूला अप्पियवहा, पियजीविणो जीविउकामा । सव्वेसिं जीवियं पियं ।

संस्कृतच्छाया—*नास्ति कालस्यानागमः । सर्वे प्राणिनः प्रियायुषः सुखास्वादाः दुःखप्रतिकूलाः अप्रियवधाः प्रियजीविनः जीवितुकामाः । सर्वेषाम् जीवितम् प्रियम् ।*

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

शब्दार्थ—कालस्य=मृत्यु का। णागमो=अनागम। नत्थि=नहीं है। सव्वे पाणा=सभी प्राणियों को। पियाउया=अपनी आयु प्रिय है। सुहसाया=सभी सुख के इच्छुक हैं। दुक्ख पडिकूला=दुःख सभी को प्रतिकूल-अनिष्ट है। अप्पियवहा=मरण सभी को अप्रिय है। पिय-जीविणो=जीना सभी को प्रिय है। जीविउकामा=प्रत्येक प्राणी जीवन की अभिलाषा रखता है। सव्वेसिं=सभी को। जीवियं पियं=जिन्दा रहना प्रिय लगता है।

भावार्थ—मृत्यु के लिए कोई अकाल नहीं है। सभी प्राणी दीर्घ आयुष्य और सुख चाहते हैं, दुःख और मरण सभी को प्रतिकूल लगता है। जीवन सभी को प्रिय लगता है। सभी जीना चाहते हैं।

विवेचन—मृत्यु का कोई भरोसा नहीं है। न जाने वह कब आ खड़ी हो? सोपक्रम आयुष्य-वाले प्राणियों की ऐसी कोई अवस्था नहीं है जिसमें मृत्यु न आवे। जिस प्रकार लाख-गोला अग्नि में पड़ने पर विलीन हो जाता है उसी तरह कर्म रूपी अग्नि में पड़ा हुआ यह जीव कब मृत्यु का ग्रास बन जाय! मृत्यु यह विचार नहीं करती है कि—यह बालक है या युवा है या वृद्ध है, यह कठिन है या कोमल है, पण्डित है या मूर्ख है, धीर है या अधीर है, मानी है या दीन है, गुणी है या दोषी है, यति है या अयति है, प्रकट प्रकाश में है या अन्धकार में, दिन है या रात्रि है, सन्ध्या है या प्रभात है? बिना किसी प्रकार के विचार के मृत्यु किसी भी अनिश्चित समय पर आ सकती है—जो जन्मा है सो अवश्य मरेगा यही समझकर सदा धर्म में दृढ़ होना चाहिए। कहा है:—

गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्।

प्रतिपल मरण को सम्भव मानकर धर्माचरण में सदा अप्रमत्त और उद्यत रहना चाहिए। अप्रमत्त होकर अहिंसादि धर्मों का पालन करना चाहिए, क्योंकि सभी प्राणी दीर्घ आयुष्य चाहते हैं। "पाणा" शब्द से प्राणवन्त अर्थ समझना चाहिए क्योंकि प्राण और प्राणी में अभेदोपचार से एकता है।

शंका—आपने सभी प्राणियों को प्रिय आयुष्य वाले कहे हैं परन्तु सिद्धों से इसमें दोष आता है अर्थात् सिद्ध प्राणी तो हैं परन्तु प्रिय आयुष्य वाले नहीं हैं?

समाधान—ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि यहाँ सामान्य जीव शब्द न देकर 'पाणा' शब्द दिया गया है। वह उपचरित है और वह संसारवर्ती प्राणियों के लिए प्रयुक्त किया गया है अतः सिद्धों में दोष नहीं आता है।

दीर्घायु के साथ ही सभी प्राणी सुखसाता के चाहने वाले हैं, दुःख किसी को प्रिय नहीं है, सभी को अप्रिय है। मरण अति अप्रिय है। मरण शय्या पर पड़ा हुआ प्राणी भी जीने की आशा रखता है। भयंकर से भयंकर दुःखों में भी प्राणी जीवित रहना चाहता है। यह जीवन सभी को अत्यन्त वल्लभ है इसीलिए पुनः पुनः सूत्रकार ने इसका प्रियत्व कहा है। अपने को अपना जीवन जैसा वल्लभ है वैसा ही दूसरों को उनका जीवन वल्लभ है, यह जानकर हिंसा से निवृत्त होना चाहिए।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः ।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥

अपने समान सभी जीवों को समझो। जो व्यवहार स्वयं को प्रतिकूल लगता है वह व्यवहार दूसरे के साथ मत करो। इन दो सूक्तियों को अपना जीवनसूत्र बना लेना चाहिए। इनके अनुकूल आचरण करने से समभाव की वृद्धि होती है और इससे वीतराग अवस्था प्राप्त हो जाती है—जो सभी का ध्येय है।

ऐसा होते हुए भी प्राणी अपने माने हुए मिथ्या सुख के लिए विपरीत प्रयत्न करते हुए देखे जाते हैं--जाते हैं सुख की शोध में और प्राप्त करते हैं अपरिमित दुःख, यही सूत्रकार निम्न सूत्र में प्रतिपादन करते हैं :--

तं परिगिज्झ दुपयं चउप्पयं अभिजुंजिया णं संसिंचियाणं तिविहेणं जावि से तत्थ मत्ता भवइ, अप्पा वा, बहुया वा से तत्थ गड्ढिए चिट्ठइ भोअणाए ।

संस्कृतच्छाया—*तत् परिगृह्य द्विपदं चतुष्पदमभियुज्य संसिच्य त्रिविधेन यापि तस्य तत्र मात्रा भवति—अल्पा वा बह्वी वा स तत्र गृद्धास्तिष्ठति भोजनाय ।*

शब्दार्थ—तं=असंयमित सुखी जीवन का। परिगिज्झ=आश्रय लेकर। दुपयं=दो पाँव वाले दास-दासी को। चउप्पयं=चार पाँव वाले बैल, घोड़े आदि को। अभिजुंजिया=काम में नियुक्त करके। संसिचियाणं=धन एकत्रित करके। तिविहेण=तीन करण तीन योग से। जावि=जो भी। से तत्थ मत्ता भवइ=धन की मात्रा एकत्रित होती है। अप्पा वा=वह अल्प हो। बहुया वा=अथवा बहुत हो। से तत्थ गड्ढिए चिट्ठइ भोअणाए=वह प्राणी उसके उपभोग में आसक्त रहता है।

भावार्थ—असंयमित जीवन प्रिय होने से प्राणी द्विपद (दास-दासी तथा कर्मकरों) और चौपद (पशुओं) का उपयोग करके उनके द्वारा द्रव्य संचय करता है। इस प्रकार भोगोपभोग के लिए जो भी अल्प या बहुत धन एकत्रित होता है उसमें यह प्राणी मन, वचन और काया से आसक्त रहता है।

विवेचन—ऊपर यहाँ बताया जा चुका है कि प्राणी अपने माने हुए मिथ्या सुख को प्राप्त करने के लिए विपरीत प्रयत्न करता है। अज्ञान के वशीभूत होकर सुखाभासों में सुख की झूठी कल्पना करके उसके *साधनों* को प्राप्त करने के लिए कठिन से कठिन दुःखों को सहन करता है। अर्थप्राप्ति के लिए वह कष्टों को कष्ट नहीं समझता है, उसकी रक्षा के लिए अनेक प्रकार के उपाय करने पड़ते हैं, वे सब करता हुआ भी उसके चले जाने के भय से सदा सशङ्कित रहता है, सदा चिन्तामग्न रहना पड़ता है। इसका

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

भी विचार नहीं होता है। वह प्राणी इस सौदामिनी (बिजली) की दमक से भी अति चंचल चपला लक्ष्मी की अनित्यता और असारता का ध्यान ही नहीं करता है। उसे इस बात की भी चिन्ता नहीं रहती है कि वह कैसे उपायों द्वारा धन संग्रह कर रहा है ? जिन उपायों और साधनों से द्रव्योपार्जन करता है वे साधन नीतियुक्त और धर्मविहित हैं या अन्याय से दूषित हैं, इसकी भी उसे चिन्ता नहीं रहती। जैसे-तैसे किन्हीं उपायों से द्रव्योपार्जन करना यही मात्र उद्देश्य रहता है और इस प्रकार से जो भी अल्प अथवा बहुत मात्रा में द्रव्य एकत्रित हो जाता है तो मनसा वाचा कर्मणा उसमें अत्यन्त आसक्त हो जाता है और इस अनित्य वस्तु को टिकाए रखने के लिए भरसक प्रयत्न करता है। तदपि सदा सशंकित रहता है।—कहा है—

कृमिकुलचित्तं लालाक्लिन्नं विगन्धि जुगुप्सितं ।
निरुपमरसप्रीत्या खादन्नरास्थि निरामिषं ॥
सुरपतिमपि श्वा पार्श्वस्थं सशंकितमीक्षते ।
न हि गणयति क्षुद्रो लोकः परिग्रह फल्गुताम् ॥

छोटे छोटे कीड़ों के समूह से व्याप्त, लार से भरा हुआ, दुर्गन्धवाला, घृणास्पद और मांस रहित हड्डी का टुकड़ा मुँह में चबाता हुआ कुत्ता अद्भुत आनन्द का अनुभव करता है और अपने पास में खड़े हुए इन्द्र को भी सशंकित दृष्टि से देखता है कि कहीं मेरा हाड़का यह इन्द्र न ले ले। इसी तरह श्वान के समान तुच्छ प्रकृति वाले मनुष्य अपने परिग्रह की असारता को नहीं समझते हैं और दूसरों को सदा शंकाशील दृष्टि से देखते हैं अतः स्वयं शंकित बने रहकर वास्तविक तृप्ति का अनुभव नहीं कर सकते हैं।

तओ से एगया विविहं परिसिट्ठं संभूयं महोवगरणं भवइ। तंपि से एगया दायादा विभयंति, अदत्तहारो वा से अवहरन्ति, रायाणो वा से विलुंपंति, णस्सति वा से, विणस्सति वा से, अगारदाहेण वा से डज्झइ।

संस्कृतच्छाया—*ततस्तस्यैकदा विविधं परिशिष्टं सम्भूतं महोपकरणं भवति। तदपि तस्यैकदा दायादा विभजन्ते, अदत्तहारो वा तस्य अपहरति राजानो वा तस्य विलुम्पन्ति, नश्यति वा तस्य विनश्यति वा तस्य अगारदाहेन वा दह्यते।*

शब्दार्थ—तओ=इसके बाद। से=उसके पास। एगया=किसी समय। विविहं=विविध प्रकार का। परिसिट्ठं=भोगने के बाद बचा हुआ। संभूयं=प्रचुर मात्रा में। महोवगरणं भवइ=द्रव्य एकत्रित हो जाता है। तंपि=उसको भी। एगया=किसी समय। दायादा=सम्बन्धी जन। विभजंति=बाँट लेते हैं। अदत्तहारो वा=अथवा चौर। से अवहरन्ति=उसे चुरा लेता है। रायाणो से विलुम्पंति=अथवा राजा छीन लेते हैं। णस्सति वा से=व्यापारादि में नष्ट हो जाता है। विणस्सति वा से=अन्य द्वारों से नष्ट हो जाता है। अगारदाहेण से डज्झइ=घर में आग लगने से वह नष्ट हो जाता है।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

भावार्थ—इस प्रकार प्रवृत्ति करते हुए कदाचित् लाभान्तराय कर्म के क्षयोपशम से उसके पास खर्च के उपरान्त बची हुई प्रचुर सम्पत्ति एकत्रित हो जाती । परन्तु उसको भी किसी समय उसके स्वजन परस्पर बांट लेते हैं, अथवा चोर चुरा ले जाते हैं अथवा राजा लूट लेते हैं, या व्यापारादि में हानि होने से नष्ट हो जाती है अथवा घर में आग लग जाने से जल जाती है। इस प्रकार अनेक मार्गों से वह सम्पत्ति नष्ट हो जाती है।

विवेचन—सम्पत्ति तथा अन्य बाह्य वस्तुओं का संसर्ग क्षणिक है। जो स्वभावतः चंचल है वह कहाँ तक रोकी जा सकती है। आखिर वह नष्ट होने की है। प्राणी बड़े २ भगीरथ प्रयत्नों द्वारा द्रव्योपार्जन करते हैं और उसकी रक्षा के लिए मजबूत से मजबूत तिजोरियों में उसको प्रयत्न पूर्वक रखते हैं। सैकड़ों दरवाजों, तालों और पहरेदारों से रक्षित होने पर भी न जाने यह लक्ष्मी कहाँ से निकल भागती है। सैकड़ों प्रयत्न करने पर भी जो अनित्य है उसे नित्य नहीं बनाया जा सकता। इसी तरह अनित्य और नश्वर सम्पत्ति को तिजोरियों में कैद रखने पर भी स्थायी और नित्य नहीं कर सकते हैं। जब लक्ष्मी जाने लगती है तब यह प्राणी अत्यन्त दग्ध (जले हुए) हृदय से पश्चात्ताप करता है कि जीवन भर कष्ट उठाकर मैंने इसका संग्रह किया और इसकी हिफाजत की और आज यह मेरे देखते-देखते जा रही है !! हा हन्त !!!

नश्वर पदार्थों में आसक्ति करके प्राणी अपने आप दुःखी बनता है। ये नश्वर पदार्थ तो अपनी कालमर्यादा और स्वभावानुसार नष्ट होवेंगे ही परन्तु आसक्त प्राणी उनमें ममत्व बुद्धि करके अपने साध्य को भूलता है। नतीजा यह होता है कि पदार्थ तो उस आसक्त प्राणी को विलाप करता हुआ छोड़कर अपने पंथ पर प्रयाण कर जाते हैं और वह प्राणी आध्यात्मिक और आर्थिक उभय दृष्टि से हीन बना हुआ दुःख सागर में डूबता है। अत्यन्त कष्टों से उपार्जित सम्पत्ति का, दृष्टि के सामने ही विविध मार्गों से विनाश होता है। स्वजन विभाग कर लेते हैं, चोर चुरा ले जाते हैं, राजा छीन लेते हैं, अग्नि जला देती है, व्यवसाय में हानि होने से नष्ट हो जाती है। यह अवस्था देखकर उस आसक्त प्राणी का हृदय विदीर्ण हो जाता है, उसकी आँखें आँसू की धारा बहाती हैं। परन्तु यह उस प्राणी की स्वयं की भूल का परिणाम है। नश्वर को नित्य समझ बैठने का दुष्परिणाम है। प्राणी की इसी विपरीत प्रवृत्ति का सूत्रकार निम्न सूत्र में वर्णन करते हैं:—

इति से परस्सट्ठाए कूराइं कम्माइं बाले पकुव्वमाणे तेण दुक्खेणं मूढे विपरियासमुवेइ ।

संस्कृतच्छाया—*इति स परस्मै अर्थाय क्रूराणि कर्माणि बालः प्रकुर्वाणः तेन दुःखेन मूढो विपर्यासमुपैति ।*

शब्दार्थ—इति=इस प्रकार। से=अर्थलुब्ध प्राणी। परस्सट्ठाए=दूसरों के लिए। कूराइं=हिंसक। कम्माइं=कर्मों को। बाले=अज्ञानी। पकुव्वमाणे=करता हुआ। तेण दुक्खेण=उस दुःख से। मूढे=मूढ़ प्राणी। विपरियासमुवेइ=विपरीत प्रवृत्ति करता है।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

भावार्थ—इस प्रकार अर्थलोभी वह अज्ञानी जीव दूसरों के लिए क्रूर कर्म करता हुआ उसके फलोदय से दुःख पाता हुआ और मूढ़ बना हुआ विपर्यास प्राप्त करता है। (एकत्रित धन के चले जाने के कारण जागृत होने के स्थान पर विशेष मूढ़ता प्राप्त करता है अर्थात् सुख की आशा से काम करता है परन्तु नतीजा दुःख रूप होता है।)

विवेचन—इस सूत्र में आसक्ति के कारण अधर्म और परिताप ही होता है और परिताप से विवेक भूला हुआ प्राणी विपरीत प्रवृत्ति करता है यह बताया गया है। जिस प्रकार कुत्ता मांस-रहित हड्डी को चूसता है और चबाता है इसके कारण उसके जबड़ों से खून निकलता है। वह खून उसे स्वादिष्ट मालूम होता है और वह समझता है कि यह हड्डी बड़ी स्वादिष्ट है परन्तु उस मूर्ख कुत्ते को यह भान नहीं होता कि उस परवस्तु में (हड्डी में) स्वाद नहीं है परन्तु यह तो मेरा स्वयं का खून है जो स्वादिष्ट लगता है। अपनी ही वस्तु सुखरूप होते हुए भी प्राणी उसको भूलकर परवस्तु में आनन्द का मिथ्या आरोप करते हैं। यही प्राणी का विपरीत अध्यवसाय है और विपरीत प्रवृत्ति है। आत्मतत्त्व और उसके गुण ये आत्मा की स्वतः की पूँजी है और यही आध्यात्मिक तत्त्व सच्चे सुख का देने वाला है परन्तु उसकी ओर लक्ष्य नहीं देकर पर वस्तुओं में, पौद्गलिक कारणों में और बाह्य संसर्ग में यह प्राणी सुख का मिथ्या आरोप करता है और उन्हें प्राप्त करने के लिए समस्त शक्ति व्यय कर देता है। परन्तु जो वस्तु जहाँ नहीं है वहाँ ढूँढने से कैसे प्राप्त हो सकती है ? प्राणी पौद्गलिक पदार्थों से सुख पाने के लिए व्यर्थ फांका मारता है। यह कदापि सम्भव नहीं है। जैसे भयंकर विषधर सर्प के मुख से अमृत झरने की आशा वृथा है उसी तरह बाह्य वस्तुओं से सुख पाने की तमन्ना निरर्थक है।

नश्वर पदार्थ अपने स्वभावानुसार नष्ट होते हैं परन्तु यह आसक्त प्राणी उन पदार्थों को नष्ट होते देखकर रोता है, विलाप करता है और संताप प्राप्त करता है। कैसा अनोखा आश्चर्य है ? नश्वर पदार्थों को नष्ट होते देखकर आगे या पीछे उस मोहान्ध प्राणी को यह ज्ञात हो जाता है कि न इन पदार्थों की प्राप्ति में सुख है और न इनके भोग में ही। तदपि आश्चर्य है कि प्राणी की आसक्ति छूटती नहीं है। वह इन नश्वर चीजों को नष्ट होते देखकर सावधान नहीं होता है किन्तु रोता है और विशेष मूढ़ता पाता है यही तो विपर्यय है। चेतने का अवसर प्राप्त होता है तदपि प्राणी उस अवस्था में दिग्मूढ बन जाता है, कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य, हित और अहित, धर्म और अधर्म तथा ज्ञान और अज्ञान का विवेक नहीं कर सकता है और हित को अहित तथा अहित को हित समझता है। शास्त्रकारों ने मूढ़ का लक्षण इस प्रकार बताया है:—

रागद्वेषाभिभूतत्वात्कार्याकार्यपराङ्मुखः ।
एष मूढ इति ज्ञेयो विपरीतविधायकः ॥

जो राग और द्वेष से युक्त होकर, कार्य और अकार्य के विवेक से विमुख है और विपरीत प्रवृत्ति करता है उसे मूढ़ समझना चाहिये। ऐसे मूढ़ प्राणी सुख के अभिलाषी होते हुए भी अपनी मूढ़ता के अन्धकार से दुःखों को प्राप्त करते हैं।

अतएव सुखाभिलाषी प्राणियों को पौद्गलिक पदार्थों से आसक्ति मिटाकर आत्म-भाव में रमण करना चाहिए। यही मोक्ष और सुख की कुँजी है।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

मुणिणा हु एयं पवेइयं । अणोहंतरा एए, णो य ओहं तरित्तए, अतीरंगमा एते, णो य तीरं गमित्तए । अपारंगमा एए, णो य पारं गमित्तए ।

संस्कृतच्छाया—*मुनिना खलु एतत् प्रवेदितम् । अनोघन्तरा एते न च ओघं तरितुं (समर्थाः) अतीरंगमा एते न च तीरं गमनाय, अपारङ्गमा एते न च पारं गमनाय ।*

शब्दार्थ—मुणिणा=तीर्थंकर देव ने । हु=निश्चय से । एयं पवेइयं=यह प्ररूपित किया है । अणोहंतरा एते=ये स्वच्छन्दी असंयमी संसार के प्रवाह को पार नहीं कर सकते हैं । णो य ओहं तरित्तए=संसार के प्रवाह को तैरने में समर्थ नहीं होते हैं । अतीरंगमा एए=ये तीर पर नहीं पहुँचते हैं । णो य तीरं गमित्तए=और न तीर पर पहुँचने में समर्थ हैं । अपारंगमा एए=ये पार नहीं पाते हैं । णो य पारं गमित्तए=और न पार पाने में समर्थ होते हैं ।

भावार्थ—सर्वज्ञानी तीर्थंकर श्री महावीर स्वामी ने अपने अनुभव से यह फरमाया है । (तथापि कई स्वच्छंदाचारी और असंयमी जीव इसे स्वीकार नहीं करते हैं) ये असंयमी और स्वच्छंदाचारी संसार प्रवाह को नहीं तैरते हैं और नहीं तैर सकते हैं, तथा विषयवृत्ति और लालसा से संसार-समुद्र में गोते खाते हैं परन्तु पार और तीर पर नहीं पहुँचते हैं और न पहुँच सकते हैं ।

विवेचन—श्री सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामी से कहते हैं कि ऊपर जो मान-त्याग और भोग निवृत्ति के लिये कहा गया है वह मैंने अपनी बुद्धि से नहीं कहा है परन्तु तीन लोक की त्रिकाल अवस्था को हस्तामलकवत् स्पष्ट जानने वाले सर्वज्ञ तीर्थङ्कर देव श्री महावीर स्वामी ने यह प्ररूपित किया है । उनसे मैंने साक्षात् श्रवण किया है सो तुम्हें कहा है । ऐसा कहकर श्री सुधर्मा स्वामी अपना विनय गुण प्रकट करते हुए स्वमनीषिका का परिहार करते हैं । उन सर्वज्ञानी और सर्वदर्शी प्रभु ने यह भी फरमाया है कि जो स्वच्छंदाचारी और असंयमी हैं वे संसार के प्रवाह को नहीं तैरते हैं और न तैर सकते हैं । चूंकि उन द्रव्य नदी प्रवाह को तैरने के लिए भी यान या नाव वगैरह साधनों की आवश्यकता होती है । इन उचित साधनों के बिना पार नहीं जाया जा सकता है । तब भाव रूप संसार समुद्र को तैरने के लिए ज्ञान दर्शन और चारित्र रूपी जहाज की आवश्यकता हो तो क्या बड़ी बात है ? वे असंयमी इन साधनों से विकल हैं अतः वे पार नहीं पा सकते और संसार रूपी समुद्र का किनारा नहीं प्राप्त कर सकते । इसका कारण यह है कि वे विषय-वासना और इन्द्रिय सुखों के लालची होते हैं अतः संसार-सागर में गोते खाते रहते हैं । वे अपनी वृत्तियों को पोषण देने के लिए अपनी २ बुद्धि द्वारा शास्त्र और सिद्धान्त बना लेते हैं और स्वयं भी डूबते हैं और अन्य को भी डूबाते हैं । जो व्यक्ति संसार समुद्र को तैरना तो चाहते हैं परन्तु ज्ञान, दर्शन और चारित्र का यथायोग्य आराधन नहीं करते हैं वे दोनों किनारों से दूर रहते हैं और मध्य में गोते खाते रहते हैं । वे न इस पार के होते हैं और न उस पार के । अतः संसार समुद्र का पार पाने की भावना वाले मुमुक्षुओं को यह चाहिए कि ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूपी पोत (जहाज) का शरण लें । सर्वज्ञोपदिष्ट वचनों में पूर्ण श्रद्धा रखते हुए उनका यथायोग्य पालन करने से मुक्ति अवश्यंभावी है ।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

शंका—सूत्रकार ने सूत्र में तीर और पार दो शब्दों का प्रयोग किया है तो इनमें क्या भेद है ?

उत्तर—यहाँ तीर शब्द से मोहनीय कर्म का क्षय और पार शब्द से शेष तीन घातिकर्मों का अर्थ लेना चाहिए। अथवा तीर शब्द से चारों घनघाति कर्मों का क्षय ग्रहण करना और पार शब्द से अघाति कर्मों का भी नाश समझना चाहिए।

असंयमी और स्वच्छन्दाचारी क्यों संसार समुद्र का पार नहीं पाते हैं सो बताते हैं:—

आयाणिज्जं च आयाय, तंमि ठाणे ण चिट्ठइ, वितथं पप्प ऽखेयन्ने तंमि ठाणम्मि चिट्ठइ।

संस्कृतच्छाया—*आदानीयमादाय तस्मिन्स्थाने न तिष्ठति, वितथं प्राप्याखेदज्ञः तस्मिन्स्थाने तिष्ठति।*

शब्दार्थ—आयाणिज्जं=संयम को, आयाय=ग्रहण करके। तंमि ठाणे=उसके स्थान में। ण चिट्ठइ=नहीं रहता है। वितथं=विपरीत उपदेश को। पप्प=प्राप्त करके। अखेयन्ने=अज्ञानी जीव। तंमि ठाणम्मि=असंयम में। चिट्ठइ=रहता है।

भावार्थ—कितने ही अज्ञानी जीव संयम ग्रहण करके भी संयम के स्थान में स्थिर नहीं रहते हैं और मिथ्या उपदेश प्राप्त करके असंयम में ही रक्त रहते हैं।

विवेचन—जो संयम ग्रहण करके भी, संयम में स्थिर नहीं रह सकते हैं ऐसे प्राणी संसार समुद्र से पार नहीं हो सकते हैं। क्योंकि वे वेश तो संयमी का रखते हैं और संयम में स्थिर नहीं होते हैं अतः वे दम्भ और कपट का सेवन करते हैं। जहाँ दम्भ और कपट शेष है वहाँ संसार समुद्र से पार पाने की अभिलाषा का क्या अर्थ-(प्रयोजन) है ? जहाँ स्वच्छंदता है वहाँ असंयम है और जहाँ असंयम है वहाँ संसार-परम्परा विद्यमान है। अज्ञानी प्राणी साक्षात् सर्वज्ञ द्वारा उपदिष्ट सम्यक् श्रुत और उसमें प्रतिपादित संयम की अवहेलना करते हैं और मनमाने अनाप्त पुरुषों के रचित शास्त्रों का मिथ्या उपदेश प्राप्त कर असंयम में लीन रहते हैं। अनादिकाल के कर्मपंक से कलंकित यह जीवात्मा असंयम को अधिक पसन्द करता है और संयम में कठिनता का अनुभव करता है किन्तु यह सब उन कर्मों के विष का फल है जिससे विपरीत ही भान होता है।

यह सर्व का सर्व उपदेश किसके लिए है सो फरमाते हैं:—

उद्देसो पासगस्स नत्थि, बाले पुण निहे कामसमणुन्ने, असमितदुक्खे दुक्खी दुक्खाणमेव आवट्टं अणुपरियट्टइ त्ति बेमि।

संस्कृतच्छाया—*उपदेशः पश्यकस्य नास्ति। बालः पुनः निहः कामसमनोज्ञः, असमितदुःखः दुःखानामेवावर्त्तमनुपरिवर्त्तते इति ब्रवीमि।*

शब्दार्थ—उद्देशो=उपदेश। पासगस्स=तत्त्व जानने वाले के लिए। नत्थि=नहीं है।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

बाले=अज्ञानी। पुण=पुनः। निहे=राग बन्धन में पड़ा हुआ। कामसमणुन्ने=विषयों में आसक्त बना हुआ। असमितदुक्खे=तृप्ति के अभाव से दुःख के शान्त न होने से। दुक्खी=दुःख प्राप्त करता हुआ। दुक्खाणमेव=दुःखों के। आवट्टं=चक्र में। अणुपरियट्टइ=परिभ्रमण करता रहता है।

भावार्थ—जो तत्वदृष्टा—तत्वों को समझने वाला है उसके लिए यह उपदेश नहीं है (क्योंकि वह तो तत्वज्ञ होने से सम्यग्मार्ग पर ही चलता है) परन्तु जो रागादिमोहित व अज्ञानी होता है वह विषयों में रक्त होकर विषयों का सेवन करता है परन्तु भोगेच्छा शान्त नहीं होने से दुखी होकर दुखों के चक्र में ही भ्रमण करता है। (उसे सन्मार्ग पर लाने के लिए इस उपदेश की आवश्यकता है।) ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—उपर्युक्त सूत्र में सूत्रकार ने यह बताया है कि उपदेश का पात्र कौन है? जो व्यक्ति तत्त्वों को जानने वाला है और जिसे सत्-असत् कर्त्तव्य का विवेक है उसके लिए उपदेश की आवश्यकता नहीं रहती है क्योंकि वह स्वयं समझदार होने से सन्मार्ग पर ही प्रवृत्ति करेगा। उपदेश उनके लिए है जो अज्ञानी हैं, जिन्हें विवेक का भान नहीं है, जो राह भूले हुए हैं और जो उन्मार्ग पर भटक कर दुख से संतप्त हो रहे हैं। इसके साथ ही साथ यह आवश्यक है कि उपदेश श्रवण करने वाला जिज्ञासु हो। जो गलत राह पर चढ़कर भटक रहे हों और इससे वे अनुभव करते हैं कि हम राह भूले हैं, कोई पथ-प्रदर्शक बनकर हमें इस भ्रमण से मुक्त करें ऐसे जिज्ञासुओं के लिए यह उपदेश पथ-प्रदर्शक है—आकाशदीप है—जिसका अवलम्बन लेने से साध्य की प्राप्ति हो जाती है।

दूसरी बात सूत्रकार ने "असमितदुक्खे" शब्द देकर यह उपदेश दिया है कि भोगों की तृप्ति भोगों से नहीं हो सकती। जिस प्रकार शराब पीने से शराबी को तृप्ति नहीं आती है परन्तु विशेष शराब पीने की इच्छा होती है, जैसे खुजलाने से खाज नहीं मिटती परन्तु ज्यों ज्यों खुजलाया जाता है त्यों त्यों खाज बढ़ती है इसी प्रकार विषयेच्छा को शान्त करने के लिए प्राणी विषयभोगों का सेवन करते हैं परन्तु फल यह होता है कि ज्यों ज्यों प्राणी विषयों का सेवन करते हैं त्यों त्यों विषयों की भावना बढ़ती जाती है। विषयभोगों से विषयवासना को शान्त करना मानों अपनी छाया को पकड़ना है। ज्यों ज्यों छाया को पकड़ने के लिए प्राणी वेग से भागता है त्यों त्यों छाया भी आगे बढ़ती जाती है अतः छाया को पकड़ना जैसे असंभव है वैसे ही विषयभोगों के सेवन से इच्छा तृप्त होना असंभव है। प्राणी भूल से यह समझ लेता है कि भोग भोगने से मुझे तृप्तिजन्य सुख मिलेगा परन्तु वह अन्त में निराश होता है। उसे सुख के स्थान में दुख ही मिलता है अतः वह असंतुष्ट और संतप्त होता है और पुनः पुनः दुखों के चक्र में पड़कर परिभ्रमण करता है। अगर इस प्रकार परिभ्रमण करना इष्ट न हो तो मानत्याग और भोगों से विरक्ति करनी चाहिए। जहाँ भोग है वहाँ रोग है, जहाँ विरक्ति है वहाँ मुक्ति है।

इस तृतीय उद्देशक में मानत्याग और भोगों से विरक्त होने का उपदेश दिया गया है। धन-प्राप्ति या अनुकूल संयोगों का अभिमान करना पाप है वैसे ही धन-हानि और प्रतिकूल संयोगों में दीनता लाना पामरता है। अतएव उच्च-नीच अवस्थाओं का मूल कारण और उसके फल का विवेक समझ कर भ्रान्त मार्ग को त्याग कर सत्य मार्ग पर चलने का प्रयत्न करना चाहिए।

इति तृतीयोद्देशकः

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

लोक-विजय नाम द्वितीय अध्ययन

—चतुर्थोद्देशक—

तृतीयोद्देशक में भोगों से विरति करने का उपदेश दिया गया है। प्रस्तुत उद्देशक में भोगों से होने वाली हानियाँ बतलाते हैं। ये भोग दुखों के कारण हैं। कामभोगों से आसक्ति, आसक्ति से कर्मबन्धन, कर्मबन्धन से आध्यात्मिक मृत्यु, आध्यात्मिक मृत्यु से दुर्गति और दुर्गति से दुःख; इस प्रकार ये भोग दुखों के मूल हैं। भोगों के दुष्परिणामों को प्रकट करते हुए सूत्रकार फरमाते हैं:—

तओ से एगया रोगसमुप्पाया समुप्पज्जंति ।

संस्कृतच्छाया—*ततस्तस्यैकदा रोगसमुत्पादाः समुत्पद्यन्ते ।*

शब्दार्थ—**तओ=कामभोग से। से=भोगी के। एगया=असाता वेदनीय के उदय से। रोगसमुप्पाया=रोगों का प्रादुर्भाव। समुप्पज्जंति=होता है।**

भावार्थ—हे आयुष्मन् जम्बू! कामभोगों की आसक्ति से रोग उत्पन्न होते हैं।

विवेचन—कामभोगों के प्रति गाढ आसक्ति होने के कारण चित्त में हमेशा संताप रहता है। चित्तसंताप के निमित्त से ग्लानि पैदा होती है और उससे विवेकबुद्धि पर आवरण पड़ जाता है जिसकी वजह से प्राणी नीति और अनीति, हित तथा अहित का भान गँवा देता है और विषय के साधनों को जुटाने के लिए तनतोड़ परिश्रम करता है। चित्तग्लानि और मानसिक संताप का असर शरीर पर अवश्यमेव पड़ता है फलतः शरीर में विविध रोगों की उत्पत्ति होती है। इसीलिए कहा गया है कि "भोगे रोग भयं"। भोगों से रोगों की उत्पत्ति होने की सदा सम्भावना रहती है। प्रायः करके सभी बीमारियों का मूल कारण (असाता वेदनीय के अतिरिक्त) आहार-विहारादि की विषमता ही है। शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श रूप भोगों में आसक्ति के कारण रोगों की उत्पत्ति होती है। श्रोत्रेन्द्रिय के विषय में आसक्त होकर मनोज्ञ गीतों को सुनने के लिए प्राणी रात भर जागा करते हैं जिससे रोगोत्पत्ति होती है। इसी तरह स्वादेन्द्रिय के वश में पड़ा हुआ प्राणी अनेक प्रकार की अपथ्यकारी वस्तुओं का सेवन अतिमात्रा में करता है जो मुख्य रोगों का घर है। स्पर्शनेन्द्रिय के विषय में पड़ा हुआ तथा रूप की ज्वाला में भस्म हुआ प्राणी वीर्यक्षय करता है और रोगों को निमंत्रण देता है। कहने का तात्पर्य यह है कि इन्द्रियों के विषय (कामभोग) रोगोत्पत्ति के कारण होते हैं। अर्थात् भोगी रोगी बनते हैं। भोगी इस भव में भी रोगी देखे जाते हैं और पर भव में भी रोगी बनने की परम्परा प्राप्त करते हैं। वह इस प्रकार है—भोगों से कर्मबन्धन, कर्मबन्धन से मरण, मरण से नरक, नरक से गर्भादि में उत्पन्न होते हैं और गर्भादि से रोग होते हैं। इस तरह भव-परम्परा में भी भोग रोग के कारण बन जाते हैं।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

भोगों के कारण जब रोग उत्पन्न हो जाते हैं तो रोगी की क्या दशा होती है सो सूत्रकार दर्शाते हैं:-

जेहिं वा सद्धिं संवसइ ते एव णं एगया नियया पुव्विं परिवयंति, सो वा ते नियगे पच्छा परिवइज्जा; नालं ते तव ताणाए वा सरणाए वा, तुमंपि तेसिं नालं ताणाए वा सरणाए वा, जाणित्तु दुक्खं पत्तेयं सायं ।

संस्कृतच्छाया—*यैर्वा सार्द्धं संवसति ते एवैकदा निजकाः पूर्वं परिवदन्ति, स वा तान्निजकान् पश्चात्परिवदेत्, नालं ते तव त्राणाय वा शरणाय वा त्वमपि तेषां नालं त्राणाय वा शरणाय वा ज्ञात्वा दुःखं प्रत्येकं सातम् ।*

शब्दार्थ—प्रथम उद्देशकवत् ।

भावार्थ—ऐसा रोगी जिन स्नेहियों के साथ रहता है--वे स्नेही--सतत रोग के कारण स्नेह-तरु के सूख जाने से उस रोगी की अवगणना और निंदा करते हैं अथवा वह रोगी सेवा शुश्रषा के अभाव में उन स्नेहियों की अवगणना करता है । (कदाचित् स्नेहीजन स्नेहाधीन रहें तो भी) वे स्नेही उसकी रक्षा करने और उसे शरण देने में समर्थ नहीं हो सकते हैं और वह भी उनकी रक्षा करने और शरण देने में समर्थ नहीं हो सकता है क्योंकि प्रत्येक प्राणी को स्वकृत शुभाशुभ कर्मानुसार अच्छे या बुरे फल (सुख और दुःख) स्वयं भोगने पड़ते हैं ।

तदपि अज्ञानी जीव अन्तिम समय तक भोगासक्त रहते हैं यह वर्णन करते हैं:—

भोगामेव अणुसोयंति इह मेगेसिं माणवाणं तिविहेण, जावि से तत्थ मत्ता भवइ, अप्पा वा बहुगा वा से तत्थ गढिए चिट्ठइ भोयणाए ।

संस्कृतच्छाया—*भोगानेवानुशोचयन्ति, इहैकेषां मानवानाम्, त्रिविधेन यापि तस्य तत्र मात्रा भवति अल्पा वा बह्वी वा स तत्र गृद्धः तिष्ठति भोजनाय ।*

शब्दार्थ—भोगामेव=भोगों की ही । अणुसोयंति=अभिलाषा करते हैं । इह=संसार में । एगेसिं माणवाणं=कितने ही मनुष्यों को यह विचार होता है । तिविहेण=तीन करण तीन योग से । जावि से तत्थ मत्ता भवइ=जो भी धन एकत्रित हो जाता है । अप्पा वा बहुगा वा= चाहे अल्प या अधिक । से तत्थ गढिए चिट्ठइ भोयणाए=उपयोग के लिए वह उसमें आसक्त रहता है ।

भावार्थ—इस संसार में कितने ही प्राणी ऐसे हैं जो (अन्तिम समय तक) कामभोगों की अभिलाषा रखते हैं । उनको थोड़ी या ज्यादा जो भी धन या भोग की प्राप्ति हुई है उसका उपभोग करने के लिए वे उसमें मन, वाणी और काया से अत्यन्त आसक्त हो जाते हैं ।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

विवेचन—भोगों के कटुक विपाकों को नहीं जानने वाला प्राणी अपने जीवन के अन्तिम पल तक भोगों की ही अभिलाषा करता रहता है, भोगों में ही अपनी वृत्तियाँ रोके रखता है और भोगों को ही अपना सर्वस्व मानता है। यद्यपि अवस्था-परिणाम और जरा-परिणाम की वजह से शरीर में शक्ति नहीं रहती, इन्द्रियों की विषय ग्रहण करने की शक्ति क्षीण हो जाती है और सुन्दर शरीर भी जर्जरित हो जाता है तदपि भोगों की लालसाएँ घटने के स्थान पर उत्तरोत्तर बढ़ती जाती हैं। भोग भोगने की तीव्र अभिलाषा रहती है किन्तु शरीर की लाचारी से उनका उपभोग नहीं हो सकने के कारण वह सदा संतप्त रहता है। वह न भोगों को ही भोग सकता है और न त्याग ही सकता है। वह दया का पात्र व्यक्ति संताप के अनल में जलता रहता है। वह अपने शरीर की विवशता का शोक करता है और कहता है कि "मैंने बड़ी-बड़ी कठिनाइयों को झेलकर ये भोग के साधन जुटाए हैं और आज मेरी यह दशा हो गई है कि मैं इनका उपभोग करने योग्य नहीं रहा हूँ। इस लाचार अवस्था में मैं अपने प्रिय भोगों को कैसे भोग सकूँगा ?" इस प्रकार विषान्ध और भोगासक्त प्राणी अपनी विषय भोगने की विवशता को समझता हुआ भी उसका त्याग नहीं कर सकता है और शोक और पश्चात्ताप के आँसू बहाता हुआ विशेषरूप से भोगों में आसक्त बनता है। ब्रह्मदत्त चक्रवर्त्ती का दृष्टान्त इसी बात को पुष्ट करता है।

भोगों में अत्यन्त आसक्त बना हुआ ब्रह्मदत्त चक्रवर्त्ती, मारणान्तिक रोग-वेदना से पीड़ित होता हुआ, अत्यधिक संताप के कारण मूर्छा का अवलम्बन लेता हुआ, व्याकुलता से विह्वल होता हुआ, विषम दुःख से दुखी बना हुआ, ग्लानि से ग्रसित हुआ दुखरूपी तलवार से आहत हुआ, मृत्यु के मुख में पड़ा हुआ, अन्तिम श्वासोच्छ्वास लेता हुआ, कर्मविपाक से दुर्दशा को प्राप्त करता हुआ, परलोक के लिए महाप्रयाण करता हुआ, वचन में गद्गद होता हुआ, शरीर में विह्वल बना हुआ, दारुण प्रलाप करता हुआ, आँसू-धारा बरसाता हुआ, (ऐसी विषम अवस्था का अनुभव करते हुए भी) महामोह के उदय से अपने पास में बैठी हुई, पति के दुखों की वेदना से अश्रु बहाती हुई अपनी स्त्री कुरुमती को सम्बोधन करता हुआ प्रलाप करता है-हे कुरुमति ! हे कुरुमति !! इस प्रकार आसक्त नयनों से देखता हुआ बारम्बार पुकारता हुआ उसके देखते ही देखते सातवीं नरक के लिए वह प्रयाण कर गया। वह सातवीं नारकी की तीव्र वेदनाओं की भी अवगणना करके और असह्य वेदनाओं का भान भूलकर भी कहाँ कुरुमति ! कुरुमति ! पुकारता है। इस प्रकार भोगों में की हुई अत्यन्त आसक्ति किन्हीं २ प्राणियों के लिए इतर भव में भी दुस्त्याज्य बनती है। हाय मोह की विडम्बना ! हन्त उसका दारुण विपाक !

ऊपर बताई हुई तीव्र कामाभिसक्ति सभी प्राणियों को नहीं होती है परन्तु कितनेक प्राणियों को होती है। इसके विपरीत सनत्कुमार चक्रवर्त्ती के समान अनेक ऐसे महापुरुष भी हैं जो अपने शरीर को याह्य और परवस्तु समझकर वेदनादि के उपस्थित होने पर भी उसे शान्तचित्त से सहन करते हैं और मन में किसी प्रकार से भी ग्लानि को स्थान नहीं देते हैं। उनका यह दृढ़ विश्वास होता है कि "अपने किये हुए कर्मों का फल हँसते-हँसते चाहे रोते-रोते-प्रत्येक अवस्था में भोगना ही पड़ता है तो फिर रोते २ क्यों सहन करना चाहिए क्यों न हंसते-हंसते ही उसे भोगा जाय ? अपने बोये हुए बीज का परिणाम भोगने के लिए सदा क्यों न सहर्ष तत्पर रहा जाय ? कहा है—

उप्तो यः स्वत एव मोहसलिलो जन्मालवालोऽशुभो,
राग-द्वेष-कषायसन्ततिमहावित्तिर्विघ्नबीजस्त्वया ।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

रोगैरङ्कुरितो विपत्कुसुमितः कर्म्मद्रुमः साम्प्रतं ।
सोढा नो यदि सम्यगेष फलितो दुःखैरघोगामिभिः ॥

अर्थात्—रोगादि वेदना प्रकट होने पर उत्तम पुरुष अपनी आत्मा को समझाता है कि हे आत्मन्! तुने स्वयं मोहरूपी पानी से अशुभ जन्म रूपी क्यारी में, राग-द्वेष-कषायादि से शक्ति सम्पन्न, बड़ा बीज बोया है। वह अब रोगरूपी अंकुरों से अङ्कुरित हुआ है, विपत्ति रूपी उसमें फूल खिले हैं। यह कर्मरूपी बड़ा वृक्ष तुने तैयार किया है अब यदि तू उसके फूलों को शान्ति के साथ सहन नहीं करेगा तो ये फूल (विपत्ति) दुर्गति में ले जायेंगे और दुर्गति के दुखों से यह वृक्ष फल वाला होगा अर्थात् व्याकुल होकर अगर कष्ट सहेगा तो व्याकुलता और भी दुखों का कारण बनेगी। क्योंकि तुझे दुख तो हर हालत में भोगना ही पड़ेगा तो प्रसन्न होकर ही उसे क्यों न भोगा जाय। व्याकुलता दूसरी व्याकुलता की जननी है। कहा है:—

पुनरपि सहनीयो दुःखपाकस्त्वयाऽयं ।
न खलु भवति नाशः कर्मणां संचितानाम् ॥
इति सह गणयित्वा यद्यदायाति सम्यग् ।
सदसदिति विवेकोऽन्यत्र भूयः कुतस्त्यः ॥

अगर तू व्याकुल होकर दुखों का फल भोगेगा तुझे पुनः पुनः उनका फल भोगना पड़ेगा। हे प्राणी! दुख भोगने में तू इतना विकल क्यों होता है? आखिर अपने संचित किये हुए कर्मों का फल तो तुझे भोगना ही पड़ेगा। भोगे बिना उन कर्मों का नाश नहीं हो सकता है यह विचार कर जो जो दुख आवें उन्हें शान्ति के साथ सहन कर ले। इसी में सत् और असत् का विवेक है। इससे बढ़कर और विवेक क्या है? शान्ति के साथ हर्ष और दुख को सहन करना ही बड़ा भारी विवेक है।

विवेक भूला हुआ प्राणी भोगों को ही अपना सर्वस्व मानता है। वह परवस्तु में अपनत्व का भान करके दुखी होता है। जब प्राणी स्वपर का विवेक समझ लेता है तो वह कभी इन भोगों में आसक्त नहीं होता है। तीव्र आसक्ति का यह भी परिणाम होता है कि वह प्राप्त साधनों का संतोषपूर्वक उपयोग नहीं करता है और मात्र उनका संग्रह करता जाता है। आसक्ति संग्रह की वृत्ति को पोषण देती है। इस प्रकार आसक्त प्राणी अपनी संग्रहित सम्पत्ति में अधिक और अधिक अनुरक्त रहता है जिससे न वह सम्पत्ति का उपभोग ही कर सकता है और न त्याग ही कर सकता है। मात्र उसे एकत्रित करता है।

भविष्य में उस एकत्रित सम्पत्ति का क्या हाल होता है सो सूत्रकार बताते हैं:—

ततो से एगया विप्परिसिट्ठं संभूयं महोवगरणं भवति तंपि से एगया दायाया विभयन्ति, अदत्ताहारे वा से हरति, रायाणो वा से विलुंपंति, णस्सइ वा से विणस्सइ वा से, अगारदाहेण वा से डज्झति ।

संस्कृतच्छाया—*ततस्तस्यैकदा विपरीशिष्टं सम्भूतं महोपकरणं भवति तदपि तस्यैकदा दायादा विभजन्ते अदत्तहारो वा तस्य हरति, राजानो वा तस्य विलुम्पन्ति नश्यति वा तस्य विनश्यति वा तस्य, अगारदाहेन वा तस्य दह्यते ।*

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

शब्दार्थ—तृतीयोद्देशकवत् ।

भावार्थ—इस प्रकार "भविष्यकाल में उपयोगी होगा" इस आशा से उपार्जित धन को खर्च नहीं करने से उस प्राणी के पास किसी समय प्रचुरमात्रा में धन-सम्पत्ति एकत्रित हो जाती है परन्तु उस सम्पत्ति को स्वजन बांट लेते हैं अथवा चोर चुरा ले जाते हैं, अथवा राजा लूट लेते हैं, अथवा व्यापारादि नष्ट हो जाती या अग्नि से जलकर विनष्ट हो जाती है ।

विवेचन—इस सूत्र द्वारा सिद्धान्तकार संग्रहवृत्ति का घोर विरोध करते हुए संग्रह का दुष्परिणाम प्रकट करते हैं । संग्रहवृत्ति आध्यात्मिक पतन तो करती ही है परन्तु साथ ही साथ सामाजिक विषमता को जन्म देती है जिसके कारण समाज की व्यवस्था छिन्नभिन्न होती है । समाज की सुव्यवस्था के लिए यह आवश्यक है कि कोई व्यक्ति उचित आवश्यकताओं की पूर्ति से अधिक द्रव्य संग्रहित कर न रखे क्योंकि इसका परिणाम यह होता है कि समाज का दूसरा जन-समूह अपनी अनिवार्य आवश्यकताओं को पूर्ण करने के उसके न्यायसंगत अधिकार से भी वंचित रह जाता है । एक अङ्ग आवश्यकता से अधिक पुष्ट है तथा दूसरा अङ्ग अत्यन्त क्षीण है इससे समाजरूपी शरीर सुख शान्ति रूप आरोग्य से हीन है । शरीर के आरोग्य के लिए आवश्यक है कि शरीर के प्रत्येक अङ्ग को अनिवार्य पोषक तत्त्व मिले और इसी अवस्था में शरीर तन्दुरुस्त रह सकता है । ठीक इसी तरह समाज में तभी सुख-शान्ति रह सकती है जब समाज का प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यक सामग्री प्राप्त करता हो । यह संग्रहवृत्ति समाज के एक बड़े भाग को आवश्यक सामग्री से वंचित करती है जिससे समाज सुव्यवस्थित नहीं हो सकता । फल यह होता है कि मनुष्य, मनुष्य से भी डरने लगता है । अतः इस विषमता को मिटाने के लिए संग्रहवृत्ति पर अंकुश रखना अनिवार्य है ।

आध्यात्मिक दृष्टि से तो संग्रह करना भयंकर पाप है । इससे आत्मा का गहरा पतन है यह बात दीपक के समान स्पष्ट है । संग्रह की वृत्ति रखने वाला प्राणी कैसे कर्म करता है, किन किन साधनों से संग्रह करता है, वे संग्रह के साधन न्याययुक्त हैं या अन्यायरंजित ? इन बातों का उत्तर सर्वविदित ही है । एक समय ऐसा आता है कि जब संग्रह करने वाले को ठोकर लगती है और उसे चेतने का अवसर प्राप्त होता है । जब प्राणी यह देखता है कि जिसके लिए जीवनभर पचता रहा और जिसके लिए इतना पसीना बहाया वह लक्ष्मी उसे लात मारकर दूसरी ओर खड़ी हो जाती है । वह अपने ही सामने, अपनी ही आँखों से कष्टों द्वारा उपार्जित और प्रयत्न पूर्वक रक्षित लक्ष्मी का नाश होता हुआ देखता है और पश्चात्ताप करता है । उस लक्ष्मी का या तो संबन्धी जन विभाग कर लेते हैं, चोर चुरा ले जाते हैं, राजा लूट लेते हैं, व्यापारादि में हानि हो जाती है या आग में जल जाती है । ऐसे अवसर पर भी उसको इस दृश्य से सीख लेकर आसक्ति का त्याग करना चाहिए परन्तु वह मूढ़ प्राणी पश्चात्ताप की भट्टी में जलकर और अधिक आसक्त होता है और विपर्यास (विपरीतता) को प्राप्त करता है ।

इति से परस्स अट्ठाए कूराणि कम्माणि बाले पकुव्वमाणे तेण दुक्खेण मूढे विप्परियासमुवेति ।

संस्कृतच्छाया—*इति स परस्मै अर्थाय क्रूराणि कर्माणि बालः प्रकुर्वाणः तेन दुःखेन मूढो विपर्यासमुपैति ।*

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

शब्दार्थ—तृतीयोद्देशकवत्।

भावार्थ—इस प्रकार वह अज्ञानी जीव दूसरों के लिए क्रूर कर्म करता हुआ उसके दुख से मद होकर विपरीत-प्रवृत्ति का आचरण करता है।

विवेचन—इसका पहिले विवेचन किया जा चुका है। मोहान्ध होकर प्राणी दूसरों के लिए स्वयं क्रूर कर्म करता है। वह यह नहीं समझता है कि इन क्रूर कर्मों का फल मुझे ही भोगना पड़ेगा। वे-जिनके लिए मैं करता हूँ—इसके फलोदय के समय भागीदार न होंगे और वे मुझे उस कर्मजन्य दुख से बचाने में और शरण देने में समर्थ नहीं हो सकेंगे। मोह के कारण विवेकरूपी दीपक के बुझ जाने से बेभान होकर वह क्रूर कर्म करता जाता है परन्तु जब ठोकर लगती है तब भी वह सावधान और जागृत नहीं होता है और खेद तथा पश्चात्ताप से जलकर विवेकबुद्धि पर और भी पर्दा डालता है और भान भूलकर विपरीत प्रवृत्ति करता जाता है। अर्थात् सुखों की प्राप्ति के लिए दुखों का जाल बिछाता है। अमर होने के लिए जहर पीता है।

आसं च छंदं च विगिंच धीरे। तुमं चेव तं सल्लमाहट्टु।

संस्कृतच्छाया—*आशाञ्च छन्दञ्च विविञ्च धीर! त्वमेव तच्छल्यमाहृत्य (अशुभमादत्से)*

शब्दार्थ—आसं=आशा को। छंदं च=संकल्पों को। विगिंच=त्यागो। धीरे=हे धीर पुरुष!। तुमं चेव=तुम स्वयं। तं सल्लम्=इस कांटे को। आहट्टु=अन्तःकरण में रखकर दुखी होते हो।

भावार्थ—हे धीर पुरुष! तुम्हें विषयों की आशा और संकल्पों से दूर रहना चाहिए। तुम स्वयं इस कांटे को अपने अन्तःकरण में स्थान देकर अपने ही हाथों दुखी बन रहे हो।

विवेचन—आशा और संकल्पों की दुनियाँ बड़ी लुभाविनी और मोहक है। इस भूलभुलैया में बड़े-बड़े व्यक्ति भटकते रहते हैं और उसका अन्त नहीं पाते।

आशा और संकल्पों के जाल में फंसा हुआ प्राणी अपनी वास्तविकता को भूल जाता है। "आज अमुक काम करूँगा, कल अमुक काम करूँगा, इसका ऐसा कर दूँगा उसका वैसा कर दूँगा" इस प्रकार के संकल्प विकल्पों में पड़ा रहता है और अपने वास्तविक कर्त्तव्यों से विमुख बना रहता है।

जिस प्रकार एक लहर दूसरी लहर को उत्पन्न करके विलीन होती है इससे लहरों का अन्त नहीं है इसी प्रकार आशाओं और संकल्पों का कहीं अन्त नहीं है। जिस प्रकार आकाश असीम और अनन्त है उसी तरह संकल्प भी असीम और अनन्त हैं। अगर पुण्य योग से कोई आशा या संकल्प पूरा हो जाता है तो वह पूर्ति के क्षण में नयी आशा और नये संकल्प को जन्म देता है। यह-संकल्प पूर्ण नहीं होने पाता कि सैकड़ों नये संकल्प पैदा हो जाते हैं। इससे जीवन में संकल्पों की अनवस्था बनी रहती है।

प्राणी अपने संकल्पों को पूर्ण करने के लिए प्रयत्न करता है और वह भूल जाता है कि "मुझे मरना पड़ेगा" परन्तु मृत्यु कब उसे भूलने वाली है? इधर प्राणी आशाओं की पूर्ति करने में लगा रहता

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

है उधर रात और दिन रूपी चोर उसके आयु-धन में से प्रतिदिन कुछ हरण कर लेते हैं। प्राणी का प्रयत्न चालू रहता है तो मृत्यु का प्रयत्न भी जारी रहता है। आखिर परिमित आयु का अन्त आ जाता है और अपरिमित संकल्प ज्यों के त्यों खड़े रह जाते हैं। मृत्यु यह चिन्ता नहीं करती कि अमुक के संकल्प पूरे हुए या नहीं ? वह तो सभी को स्थिति पकने पर अपने मुख में रख लेती है।

जो प्राणी आशा और लालसा के द्वारा ग्रसित हैं वे गुलाम और पराधीन हैं। वे अपनी आशाओं को तृप्त करने के लिए समस्त संसार की दासता भी प्रसन्न होकर करते हैं। परन्तु जिन धीर-वीर पुरुषों ने आशा को अपनी दासी या चेरी बना ली है उनका दासत्व करने के लिए सारा संसार तत्पर होता है। प्रस्तुत सूत्र में भोगों की आशा और भोगों के संकल्प निषिद्ध किये गये हैं क्योंकि प्रसंग भोगों की निवृत्ति का चल रहा है। उपलक्षण से संकल्प और आशा मात्र का त्याग समझना चाहिए। जिस प्रकार एक छोटा-सा कांटा शरीर में चुभ जाने से वेदना देता है और उसके कारण चित्त में अशान्ति और अस्थिरता पैदा हो जाती है उसी प्रकार ये आशाएँ और ये संकल्प शल्य के समान हैं और हृदय को पीड़ा पहुँचाने वाले हैं। जब तक ये शल्य हृदय में बने रहते हैं वहाँ तक जीवन में शान्ति का अंश भी उपलब्ध नहीं हो सकता, जीवन की धारा में सहजता नहीं आ सकती और जीवन निश्चिन्त नहीं बन सकता है। इसीलिए सिद्धान्तकार फरमाते हैं कि आशा और संकल्प के शल्यों को हृदय में स्थान देकर क्यों अपने हाथों दुखी बन रहे हो ? क्यों जीवन को अशान्त और कलुषित बनाते हो ? क्यों आशा के मोहक भुलावे में पड़कर आत्मा को अपने शाश्वत सुखों से वंचित रखते हो ? अगर जीवन में शान्ति-सुधा का आस्वादन करना चाहते हो तो आशा और संकल्पों का त्याग करो। यही संतोष और शान्ति की कुञ्जी है।

अपरिमित आशा और संकल्पों में से प्रत्येक की सिद्धि सर्वथा असंभव है अतः अतृप्ति बनी रहती है और वह अतृप्तिजन्य दुख हमेशा हृदय को जलाता रहता है यह निम्न सूत्र में प्रतिपादित करते हैं:-

जेण सिया, तेण णो सिया। इणमेव नावबुज्झंति जे जणा मोहपाउडा।

संस्कृतच्छाया—*येन स्यात् तेन नो स्यात्। इदमेव नावबुध्यन्ते ये जनाः मोहप्रावृताः।*

शब्दार्थ—जेण=जिस धनादि से। सिया=भोगोपभोग हो सकता है। तेण=उसी धन से। णो सिया=भोगोपभोग नहीं भी होता है। जे=जो। मोहपाउडा=अज्ञान से आवृत्त हैं। जणा=वे मनुष्य। इणमेव=इस तत्व को। नावबुज्झंति=नहीं समझते हैं।

भावार्थ—जिस धनादि सामग्री से भोगोपभोग हो सकता है उसी धनादि सामग्री के होने पर भी उसका भोगोपभोग नहीं भी हो सकता है (क्योंकि संग्रहवृत्ति के कारण कई व्यक्ति उपलब्ध सामग्री का भोगोपभोग नहीं करते हुए मात्र उसका संग्रह ही करते हैं) ये प्राणी मोह की आंधी से अंधे बने हुए हैं वे इस सीधी और सरल बात को भी नहीं समझते हैं यही विश्व का एक अद्भुत आश्चर्य है।

विवेचन—संकल्प-विकल्पों के जाल में पड़ा हुआ प्राणी अनेक प्रकार के मनोरथ करता है और उन्हें पूर्ण करने के लिए मिथ्या प्रयास करता है लेकिन उसके प्रयास निष्फल होते हैं यही प्रस्तुत सूत्र में

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

बताया गया है। जिस धनादि सामग्री को प्राणी भोगोपभोग का प्रधान कारण समझता है वह सामग्री भोगोपभोग-जन्य कल्पित सुख दे भी सकती है और नहीं भी दे सकती है। "भोगोपभोग का मुख्य साधन धन है" ऐसा मानकर ही प्राणी धन कमाने में रात-दिन एक करता है, खून का पसीना करता है और विषम संकटों को झेलता है लेकिन ऐसी प्रवृत्ति करने पर और लाभान्तराय के क्षयोपशम से जब द्रव्य की प्राप्ति हो जाती है तब वह यह बात भूल जाता है और उस धन से भोगोपभोग नहीं करता हुआ मात्र उसका संग्रह करता जाता है। भोगोपभोग का उद्देश्य चला जाता है और संग्रह का लोभ जागृत हो जाता है। जहाँ संग्रहवृत्ति आ जाती है वहाँ भोगोपभोग नहीं होता है। मात्र वही व्यक्ति प्राप्त सामग्री का उपभोग कर सकता है जिसमें संग्रह की भावना नहीं है। अन्य कोई नहीं। उदाहरण की तौर पर मम्मण सेठ को ही लीजिए। उसके पास करोड़ों की सम्पत्ति थी। जल और स्थल में उसका व्यापार था और उसको बहुत आय थी परन्तु वह सम्पत्ति का उपभोग नहीं कर सका। वह न खा-पी सका, न शुभकार्यों में उसे व्यय कर सका और न उससे कोई लाभ ही उठा सका। मात्र वह सम्पत्ति का रखवाला बना रहा, मालिक नहीं। जो रक्षक होता है वह उस सम्पत्ति का मालिक नहीं कहा जा सकता। जैसे सरकारी कोष के अथवा बैंकों के कोषाध्यक्ष उसके मालिक नहीं कहे जा सकते क्योंकि वे उसमें से पाई भी अपने लिए लेने के अधिकारी नहीं होते। उसी प्रकार जो द्रव्य का उपयोग नहीं करते वे भी मात्र उसके कोषाध्यक्ष कहे जा सकते हैं। सारांश यह है कि जहाँ संग्रहवृत्ति का प्राधान्य है वहाँ प्राप्त सम्पत्ति का भोगोपभोग नहीं हो सकता।

अगर यह मान भी लिया जावे कि प्राप्त सम्पत्ति का भोगोपभोग हो सकता है तो भी उस भोगोपभोग में सुख की कल्पना करना केवल भ्रान्ति है। भोगों के क्षणिक सुख के गर्भ में अनन्त दुख छिपा हुआ है। यह अनुभव करते हुए भी प्राणी मोह रूपी आँधी से अंध होकर इस सरल और सीधी बात को नहीं समझते हैं यही विश्व की विचित्रता है!!

"जेण सिया तेण णो सिया" इसका ऐसा अर्थ भी किया जा सकता है कि जिन किन्हीं हेतुओं से कर्मबन्धन होता हो वैसी प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिए। इस सूत्र के पूर्व-सूत्र में यह बताया गया है कि आशा और संकल्पों का त्याग करना चाहिए। ये संकल्प और आशाएँ कर्मबन्धन के हेतु हैं अतः इस सूत्र में यह उपदेश दिया गया है कि जिन २ हेतुओं से कर्मबन्धन हों उनमें प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिए। उक्त अर्थ भी उचित ही है।

थीभि लोए पव्वहिए, ते भो ! वयंति एयाइं आययणाइं, से दुक्खाए, मोहाए, माराए, नरगाए, नरगतिरिक्खाए।

संस्कृतच्छाया—*स्त्रीभिः लोकः प्रव्यथितः, ते भो ! वदन्ति एतानि आयतनानि, एतद् दुःखाय, मोहाय, माराय; नरकाय, नरकतिर्यक्योन्यर्थम्।*

शब्दार्थ—लोए=संसार। थीभि=स्त्रियों के हावभाव के द्वारा। पव्वहिए=दुखी होता है। ते=वे कामी। वयंति=कहते हैं कि। भो=हे मनुष्यों। एयाइं=ये स्त्रियाँ। आययणाइं=उपभोग के स्थान हैं। से=यह उनका कथन। दुक्खाए=दुख के लिए। मोहाए=अज्ञान के लिए।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

माराए=मरण के लिए। नरगाए=नरक के लिए। नरगतिरिक्खाए=नरक के पश्चात् तिर्यञ्च में उत्पत्ति के लिए होता है।

भावार्थ—यह मोहान्ध संसार, स्त्रियों के सहज हावभाव तथा चेष्टाओं के द्वारा अत्यन्त दुखी होता है और स्त्रियों के वशवर्ती होता है। वे कामी इस प्रकार बोलते हैं कि "ये स्त्रियां भोगोपभोग के साधन हैं" परन्तु उनका यह कथन भ्रमपूर्ण है। उनका इस प्रकार कहना दुख का, मोह का, जन्म-मरण का, नरक का और तिर्यञ्च गति का हेतुभूत होता है।

विवेचन—मोहोत्पत्ति का एक बड़ा भारी कारण स्त्रियों के प्रति आसक्ति का होना है। स्त्रियों की स्वाभाविक दृष्टि, सहज सौन्दर्य, और नैसर्गिक अंग संचालन आदि भी कामियों और भोगियों के लिए गाढ आसक्ति के कारण हो जाते हैं। कामियों को स्त्रियों की प्रत्येक चेष्टा में कामभोग के दर्शन होते हैं। जैसे आँखों पर हरा चश्मा चढा लेने से सब पदार्थ हरे मालूम होने लगते हैं उसी प्रकार जिसकी आँखों में काम का विष है उसे स्त्रियों के स्वाभाविक हास्य, विनोद, गीत तथा रुदन में भी आश्चर्य मालूम होता है! उसे स्त्रियों के हाड़ मांस से बने हुए बीभत्स शरीर मे अनुपम सौन्दर्य प्रतीत होता है। वह स्त्री के शरीरावयवों की चन्द्र, कमल, करि, स्वर्ण और रत्नादि श्रेष्ठ पदार्थों के साथ तुलना करता है। वह श्लेष्म से भरे हुए स्त्री के मुख को चन्द्रमा की उपमा देता है उनके बीभत्स स्तनों को स्वर्ण के घट पर नीलम रत्न का ढक्कन कहकर सराहता है तथा अशुचिमय देह को दिव्य स्वरूपी मानता है। कहा है—

स्तनौ मांसग्रन्थी कनककलशावित्युपमितौ,
मुखं श्लेष्मागारं तदपि च शशाङ्केन तुलितं।
स्रवन्मूत्रक्लिन्नं करिवरकरस्पर्शि जघन-
महोनिन्द्यं रूपं कविवरविशेषैर्गुरुकृतम्॥

इस श्लोक का भावार्थ ऊपर लिखा जा चुका है।

तात्पर्य यह है कि स्त्रियों में आसक्त हुआ प्राणी अपनी आसक्ति के कारण स्त्रियों का गुलाम हो जाता है और अत्यन्त दुख प्राप्त करता है। सूत्रकार ने "प्रव्यहिए" (प्रव्यथितः) पद में 'प्र' उपसर्ग लगाकर खास तौर से यह सूचित किया है कि वह कामी और भोगी अत्यन्त दुखी होता है। आशा और अभिलाषा के चक्र में फँसा हुआ प्राणी नरक के कटुफल देने वाले भोगों को सुख की अभिलाषा से भोगता है परन्तु कहीं सर्प अमृत उगल सकता है? वह अज्ञानी प्राणी स्वयं भोगों का दास बन जाता है और फिर स्त्रियाँ मनमाने रूप से उसे नाच नचाती हैं। इस प्रकार स्त्रियों के वश में पड़ा हुआ प्राणी अत्यन्त दुर्दशा को प्राप्त करता है।

कामी और भोगी इस प्रकार की प्रवृत्ति करते हुए स्वयं तो डूबते ही हैं और साथ ही साथ अपनी भ्रमपूर्ण मान्यता का अन्य को उपदेश देते हुए दूसरों को भी डुबाते हैं। वे अज्ञानी इस प्रकार कहते हैं कि "स्त्रियाँ तो भोग के साधन ही हैं।" इस प्रकार कहते हुए वे सारी स्त्री-जाति का भयंकर अपमान करते हैं और साथ ही साथ अपनी आत्मा को धोखा देते हैं। अन्यान्य जड़ पदार्थों की तरह स्त्री को भी जो भोगोपभोग का साधन ही समझते हैं वे स्त्री-जाति के महत्त्व को नहीं समझते। नारियों की पूजा करना

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

नहीं जानते। जिस देश और जिस जाति में स्त्रियों का सन्मान नहीं है, जहाँ स्त्रियाँ उपेक्षादृष्टि से देखी जाती हैं वह देश और जाति कभी उन्नत नहीं हो सकती। इसके विपरीत जहाँ स्त्री-जाति की प्रतिष्ठा है, जहाँ स्त्रियों के प्रति आदर है वह समाज, जाति और देश समुन्नत होता है। भारतीय प्राचीन ऋषि-मुनियों ने इसीलिए यह फरमाया है कि:—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता।

जहाँ स्त्रियों की प्रतिष्ठा है वहाँ देवों का वास है।

जैन धर्म ने, अन्यान्य धर्मों की तरह स्त्रियों को उनके अधिकारों से वंचित नहीं रक्खा है। "स्त्रीशूद्रौ नाधीयेताम्" का पक्षपात पूर्ण बन्धन जैनधर्म में नहीं है। जैनधर्म तो पुरुषों के समान ही स्त्रियों को मुक्ति का अधिकार देता है। जो लोग स्त्रियों को अपने विषभरे दृष्टिकोण से भोगोपभोग के साधन रूप में देखते हैं वे निरे स्वार्थी और अज्ञानी हैं। उनकी यह भ्रमपूर्ण मान्यता उनके लिए दुख का कारण बनती है। इस अज्ञान के द्वारा वे शारीरिक और मानसिक दुखों का वेदन करने के लिए लाचार होते हैं क्योंकि जहाँ आसक्ति है वहाँ दुख नियमतः होता ही है। उन अज्ञानियों का इस प्रकार कहना मोह का परिणाम है। मोह में पड़कर ही वे इस प्रकार की मिथ्या प्ररूपणा करते हैं। मोह से मोह होता है। अतएव उनके इस कथन का परिणाम यह होता है कि वे मोहनीय कर्म का बन्धन करते हैं और अज्ञान की वृद्धि करते हैं। शास्त्रकार फरमाते हैं कि जो ऐसा कहते हैं वे अपने लिए जन्म-मरण की परम्परा बढ़ाते हैं। वे पुनः पुनः मृत्यु को प्राप्त होते हैं अथवा जीवित होते हुए भी गाढ़ आसक्ति के कारण मृतकवत् होते हैं। ऐसी मिथ्या प्ररूपणा के फल स्वरूप नरक में जाना पड़ता है और नारकीय वेदनाएँ सहनी पड़ती हैं। इसके पश्चात् तिर्यंच योनि में जन्म लेकर विविध प्रकार के दुखों को सहन करने पड़ते हैं। तात्पर्य यह है कि "स्त्रियाँ भोग्य पदार्थ हैं" ऐसा कथन करना दुख, मोह, मरण, नरक और तिर्यंच का कारण है। इस कथन के मूल में मोह रहा हुआ है। यह स्त्री का मोह सभी दुखों का मूल है। अतः आसक्ति का त्याग करने से ही सुख प्राप्त हो सकता है अन्यथा कभी नहीं।

सयं मूढे धम्मं नाभिजाणइ। उदाहु वीरे, अप्पमाओ महामोहे, अलं कुसलस्स पमाएणं, संतिमरणं संपेहाए, भेउरधम्मं संपेहाए, नालं पास अलं ते एएहिं एवं पस्स मुणी! महब्भयं।

संस्कृतच्छाया—*सततं मूढो धर्मं नाभिजानाति। उदाह वीरोऽप्रमादः महामोहे। अलं कुशलस्य प्रमादेन। शान्तिमरणं सम्प्रेक्ष्य भिदुरधर्मं संप्रेक्ष्य नालं पश्य, अलं तव एभिः। एवं पश्य मुने! महद्भयं।*

शब्दार्थ—सयं=निरन्तर। मूढे=मूढ बना हुआ जीव। धम्मं=धर्म को। नाभिजाणइ=नहीं जानता है। वीरे=वीर प्रभु ने। उदाहु=दृढ़ता पूर्वक कहा है कि। महामोहे=मोह के प्रधान निमित्तों में। अप्पमाओ=प्रमाद नहीं करना चाहिए। संतिमरणं संपेहाए=अप्रमाद से शान्ति और प्रमाद से मरण ऐसा विचार कर। भेउरधम्मं संपेहाए=शरीर की क्षणभंगुरता

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

जानकर। कुसलस्स=बुद्धिमान् को। अलं पमाएण=प्रमाद नहीं करना चाहिए। पास=हे शिष्य! तू देख कि। नालं=ये भोग तृप्ति के लिए नहीं हैं। ते एएहिं अलं=तुझे इनमें आसक्ति नहीं करनी चाहिए। मुणी=हे मुने! एवं महब्भयं=भोगों को महाभयरूप। पस्स=समझो।

भावार्थ—भोगों में आसक्त हुआ प्राणी विविध योनियों में परिभ्रमण करता हुआ दुखों को सहन करता है तो भी वह मूढ बना हुआ धर्म के वास्तविक स्वरूप को नहीं जानता है। श्री वर्धमान स्वामी ने दृढता पूर्वक यह फरमाया है कि कञ्चन और कामिनी महामोह के निमित्त हैं इसलिए इनमें प्रमाद नहीं करना चाहिए। अप्रमाद से मोक्ष और प्रमाद से मरण होता है यह विचार कर तथा शरीर की क्षण-भंगुरता का ध्यान रखकर बुद्धिमान् को प्रमाद नहीं करना चाहिए। हे शिष्य! तू यह देख कि भोगों से कदापि तृप्ति नहीं हो सकती अतः तुझे इन भोगों में आसक्ति नहीं करनी चाहिए। हे मुने! तुम यह समझो कि ये भोग महाभयरूप हैं।

विवेचन—प्रकृत सूत्र में सूत्रकार यह निर्देश करते हैं कि प्राणी भोगों के फलस्वरूप नरक तिर्यंचादि गतियों में अनेक प्रकार के दुःख उठाता है तो भी वह धर्म के सच्चे स्वरूप को नहीं समझता है। नरक तिर्यंचादि गतियों में वह भोगों के अशुभ फलों का अनुभव करता है तदपि वह नहीं जानता कि मुझे इस दुर्दशा में गिराने वाले भोग ही हैं। वह इस बात को महसूस नहीं करता कि इन सभी प्राप्त दुखों का मूलकारण भोगों में रहा हुआ है। वह उस दुखी अवस्था में भी अपनी मूढ़ता के कारण इन्द्रियों के विषय-भोगों को पाने के लिए लालायित रहता है। यही मोह की विचित्रता है। मोह से मोह की परम्परा बढ़ती है अतएव मोह से मूढ बना हुआ प्राणी धर्म के स्वरूप को समझने में असमर्थ होता है। जब मूढ़ता दूर होती है तभी धर्म का स्वरूप जाना जा सकता है। अतः सूत्रकार ने यह फरमाया है कि विविध दुखों को सहन करने पर भी मूढ़ प्राणी धर्म को नहीं जान सकता है।

इसीलिए अनन्त ज्ञानी तीर्थङ्कर श्री वर्धमान स्वामी ने यह दृढ़ता पूर्वक फरमाया है कि कंचन और कामिनी (परिग्रह और अब्रह्म) महामोह के मूल निमित्तभूत हैं अतः बुद्धिमानों को चाहिए कि वे इन निमित्तों में असावधान होकर प्रमादी न बनें। कंचन और कामिनी महामोह के कारण हैं इसलिए कारण में कार्य का उपचार करके इन्हें ही "महामोह" कह दिया है। इस महामोह से अल्पमात्र भी असावधान नहीं रहना चाहिए। इनमें की हुई जरासी असावधानी बड़े-बड़े अनर्थों व दुखों की जननी बन जाती है। अतः इनमें अत्यन्त सावधानी रखनी चाहिए। दुखों से छूटने का एकमात्र उपाय अप्रमाद है और संसार में परिभ्रमण कराने का मूल कारण प्रमाद है।

जिससे जीव बेभान हो जाता है, हिताहित के विचार से शून्य बन जाता है तथा आत्म-स्वरूप-ज्ञान दर्शन और चारित्र में शिथिल हो जाता है उसे प्रमाद कहते हैं। प्रमाद के पाँच भेद बताये गये हैं:— (१) मद्य (२) विषय (३) कषाय (४) निद्रा और (५) विकथा। कहा भी है:—

मज्जं विसयकसाया निद्दा विगहा य पंचमी भणिया।
एए पंच पमाया जीवं पाडेंति संसारे॥

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

अर्थात्—जीव को संसार समुद्र में गिराने वाले मद्य, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा रूप पाँच प्रकार के प्रमाद हैं।

(१) मद्यप्रमाद—मदिरा आदि नशा लाने वाले पदार्थों का सेवन करना मद्यप्रमाद कहलाता है। मादक वस्तुओं के सेवन करने से हिताहित को विचारने की शक्ति जाती रहती है जिससे प्राणी बेभान हो जाता है। इससे अशुभ परिणामों की उत्पत्ति होती है और शुभ परिणामों का नाश होता है। इसके अतिरिक्त मदिरा में असंख्य जीवों की उत्पत्ति होने से मदिरा पान करने वाला घोर हिंसा का भागी होता है। मदिरा-पान का दोष इस लोक और परलोक में भयंकर अनर्थों को जन्म देता है। इस लोक में होने वाले दोष तो प्रत्यक्ष ही हैं। इससे तेजस्विता, लक्ष्मी, बुद्धि और स्मरण शक्ति का विनाश होता है। मदिरा, विवेकबुद्धि का हरण कर लेती है और पापों में प्रवृत्ति कराती है। अतएव विवेकी पुरुषों को मदिरा का सर्वथा त्याग करना चाहिए। इसी तरह नशा लाने वाले अन्य पदार्थों के सेवन से भी बचना चाहिए क्योंकि मादक वस्तुएँ अनेक दोषों का पोषण करती हैं।

(२) विषयप्रमाद—स्पर्श, रस, गंध, रूप और शब्द-रूप इन्द्रियों के विषय-सेवन को विषय प्रमाद कहते हैं। शास्त्रकारों ने विषयों को विष के समान भाव प्राणों के नाशक बताये हैं। ये विषय विषाद रूप होने से विषय कहलाते हैं। एक-एक इन्द्रिय के विषय में आसक्त हाथी, मृग आदि पशु-पक्षी भी अपने प्राणों से हाथ धोते हैं तो जो पांचों इन्द्रियों के विषयों के वशवर्त्ती हैं उनकी दुर्दशा का क्या पार है? विषयों में ऐसी विचित्रता है कि ज्यों-ज्यों इनका सेवन किया जाता है त्यों-त्यों भोग की लालसा घटने के बदले बढ़ती ही जाती है। विषयभोग अतृप्तिकारक हैं अतएव प्राणी के चित्त को सदा व्याकुल करते रहते हैं। अतः इन्द्रियों के विषय कदापि ग्राह्य नहीं हैं।

जो प्राणी विषयों की लालसा की जड़ को अपने मनरूपी मही से उखाड़ फेंकते है, वे ही निराकुल होकर सच्चे सुख का अनुभव करते हैं। वे ही तृप्ति का अपूर्व आस्वादन करते हैं। वे ही इस लोक में सुखी हैं और परलोक में परमानन्द के पात्र बनते हैं। अतएव विषय प्रमाद का परित्याग करना चाहिए।

(३) कषाय-प्रमाद—क्रोध, मान, माया और लोभ के वशीभूत होकर विवेक को भूल जाना कषाय प्रमाद है। कषाय-प्रमाद ही संसार रूपी वृक्ष की जड़ का सिंचन करता है। क्रोध की भयंकरता, मिथ्या गर्व, माया और लोभ का विस्तार कर्मबन्धन के प्रधान कारण हैं। कहा है कि—

सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते स बन्धः। (तत्त्वार्थ सूत्र)

कषायों की वजह से जीव कार्माण वर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करता है, वही बन्ध है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्मबन्धन में कषायों का मुख्य हाथ रहता है। क्रोध में उचित-अनुचित का विवेक नहीं रहता है और प्राणी पागल हो जाता है। पागल मनुष्य जैसे यद्वा तद्वा बका करता है उसी तरह क्रोधी भी अनुचित, अशोभनीय और मर्मभेदी वचन बोलता है और अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाता है। क्रोध में एक प्रकार का विष रहता है। क्रोध से अन्तःकरण सदा संतप्त रहता है। इसी क्रोध के आवेश में प्राणी घोर अनिष्ट कर बैठता है। कोई नदी में डूब मरता है, कोई तेल छिड़क कर आग लगा लेता है इस तरह विविध रीति से आत्महत्या कर डालता है। यह क्रोध शान्ति-सुख का बाधक और भवपरम्परा का वर्धक है अतः इसका त्याग करना चाहिए।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

इसी प्रकार मान कषाय विनय गुण को नष्ट कर देता है जिससे प्राणी अपने अणुमात्र गुण को पर्वत के समान बताकर प्रशंसा प्राप्त करना चाहता है और दूसरों को पर्वत के समान महान् गुणों का तिरस्कार करता है। अभिमानी आत्म-प्रशंसा के पुल बाँधता है जिससे शिष्ट पुरुषों में वह आदरणीय नहीं होता और विनय गुण की हानि से जन्म-मरण को बढ़ाता है। माया शल्य के समान संताप देने वाली है। हृदय की कुटिलता शान्ति का अपहरण करती है और लोक में अविश्वास उत्पन्न करती है। माया संसार को बढ़ाने वाली है। इसी प्रकार लोभ तो पाप का पिता ही है। लोभ का विस्तार आकाश के समान अनन्त है। इससे आत्मिक गुणों की अत्यन्त हानि होती है। इस प्रकार ये चारों कषाय संसार की जड़ का सिंचन करते हैं अतः संसार से मुक्त होने वाले मुमुक्षुओं को इस कषाय-प्रमाद का सर्वथा त्याग करना चाहिए।

(४) **निद्राप्रमाद**—सोने की वह क्रिया जिससे चेतना अव्यक्त हो जाती है, निद्रा कहलाती है। स्वास्थ्य के लिए आवश्यक नींद का परिहार न हो सके तो अनावश्यक निद्रा का तो अवश्यमेव त्याग करना चाहिए। अनिवार्य निद्रा से अधिक निद्रा लेना ज्ञान और चारित्र की आराधना में रुकावट डालना है। निद्राशील पुरुष न स्वाध्याय कर सकता है और न चारित्र का सम्यग् आराधन ही। अतएव मुमुक्षुओं को निद्रा-प्रमाद का त्याग करना परमावश्यक है।

(५) **विकथाप्रमाद**—अनावश्यक बातें करना विकथा-प्रमाद है। जो बातें संयम की आराधना में रुकावट करती हैं उनका त्याग करना चाहिए। जो बातें संयम की साधिका न होकर बाधिका होती हैं वे कदापि नहीं करनी चाहिए। विकथा के चार भेद हैं—(१) स्त्रीकथा (२) भक्तकथा (३) देशकथा और (४) राजकथा। संयमियों के लिए स्त्रियों की कथा करना मोहोत्पत्ति का कारण हो सकता है। इससे लोक में निन्दा भी होती है और संयम में विघ्न उपस्थित होता है अतः स्त्रीकथा का त्याग करना चाहिए। भोजन सम्बन्धी वार्तालाप करने से जिह्वा की लोलुपता बढ़ती है और तज्जन्य आरंभ आदि का भागी होना पड़ता है अतः भक्तकथा भी त्यागने योग्य है। विविध देशों में प्रचलित सांसारिक रीतियों का कथन करना देशकथा है। इस कथा के करने से स्वाध्यायादि में विघ्न पड़ता है और इससे संयम की तनिक भी वृद्धि नहीं होती वरन् सांसारिक रीति-रिवाजों के वर्णन करने से संयम में दोषोत्पत्ति हो सकती है। अतः यह भी त्याज्य है। राजा या राज्य सम्बन्धी बातें करने से अनेक अनर्थ हो सकते हैं। राजा वगैरह ऐसी कथा सुनकर साधु को गुप्तचर या दूत समझ सकते हैं और उनपर संदेह हो सकता है। इत्यादि दोषों को जानकर राजकथा का भी त्याग करना चाहिए। ये चारों प्रकार की कथाएँ संयम की साधना के प्रतिकूल हैं, संयम के लिए निरर्थक हैं और विघ्नकारिणी हैं। जो वार्त्तालाप संयम का विघातक है उसमें कदापि प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिए।

इन पाँचों प्रकार के प्रमादों में जो नहीं फँसता है वही बुद्धिमान् है। इन प्रमादों का त्याग ही मोक्ष का कारण है। वर्तमान और भविष्य के लिए प्रमाद का परित्याग ही सुख का पात्र बनाने वाला है अतः बुद्धिमान् प्रमाद में गाफिल नहीं होता है और अप्रमत्त जीवन व्यतीत करता है।

"संतिमरणसंपेहाए" इस पद में शान्ति और मरण को समाहार द्वन्द्व मानने पर यह तात्पर्य निकलता है कि शान्ति अर्थात् मोक्ष और मरण अर्थात् संसार। इन दोनों का विचार करके प्रमाद का त्याग करना चाहिए। प्रमाद से संसार और अप्रमाद से मोक्ष होता है यह जानकर बुद्धिमान् प्रमाद न करें। दूसरा अर्थ यह भी होता है कि शान्ति-मरण (समाधि मरण) का विचार करके प्रमाद का परित्याग

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

करना चाहिए। दूसरी बात यह है कि विषयकषायादि प्रमाद शरीरस्थ होते हैं और शारीरिक सुख के लिए इन प्रमादों का सेवन किया जाता है, जिस शरीर के निमित्त इनका सेवन किया जाता है वह शरीर भी विनश्वर और क्षणभङ्गुर है। यों शरीर की क्षणभङ्गुरता का विचार करके भी प्रमाद नहीं करना चाहिए।

"नालं पास" इत्यादि सूत्र से सूत्रकार ने भोगों से होने वाली अतृप्ति का निर्देश किया है। यथेष्ट मात्रा में भोग भोग लेने पर भी अभिलाषा कभी तृप्त नहीं होती है। विशेषता तो यह है कि ज्यों ज्यों भोग भोगे जाते हैं त्यों त्यों अभिलाषा बढ़ती है। जो उपभोग करके अभिलाषा को शान्त करना चाहता है वह मानों सायंकाल की आगे बढ़ती हुई छाया को पकड़ने के लिए प्रयत्न करता है। ज्यों ज्यों छाया को पकड़ने के लिए प्राणी दौड़ता है त्यों त्यों छाया आगे बढ़ती जाती है। इसी प्रकार प्राणी भोग भोगकर ज्यों ज्यों अभिलाषा की तृप्ति करने की इच्छा करता है त्यों त्यों भोग-लालसा बढ़ती जाती है। कहा है—

उपभोगोपायपरो वाञ्छति यः शमायितुं विषयतृष्णाम्।
धावत्याक्रमितुमसौ, पुरोऽपराह्णे निजच्छायाम्॥

संसार के समस्त भोगोपभोग के साधन यदि एक ही व्यक्ति को दे दिये जाँय तो भी उसकी अभिलाषा और तृष्णा की शान्ति नहीं हो सकती है। तीन लोक का वैभव और अप्सराओं के समान सभी सुन्दरियाँ किसी एक प्राणी को मिल भी जाँय तो भी शान्ति असंभव है। इससे यह अर्थ निकलता है कि भोगों में अभिलाषा और तृष्णा को शान्त करने की शक्ति नहीं है। अर्थात् दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि:—

भोगा न भुक्ताः वयमेव भुक्ताः।

अर्थात्—भोगी जीव भोगों को नहीं भोग सकता है अपितु भोग ही उसे भोगते हैं। गीता में भी कहा गया है कि—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥

अर्थात्—जैसे अग्नि में घृत की आहुति देने से वह बढ़ती ही है इसी प्रकार काम भोगों का सेवन करने से भोग लालसा बढ़ती ही है। उपभोग करने से काम कभी शान्त नहीं होता है। अतः विवेकशील प्राणियों को भोगों से निवृत्ति करनी चाहिए। इसी में सच्चा सुख रहा हुआ है। ये कामभोग महा भयंकर फल देने वाले हैं इसलिए महा भयरूप हैं। जैसे किंपाक फल अत्यन्त मनोहर, आकर्षक और सुन्दर मालूम होता है लेकिन उसका सेवन अत्यन्त दारुण फल देने वाला होता है—यहाँ तक कि प्राण हरण कर लेता है। ठीक इसी तरह ये कामभोग बड़े मनोहर, रम्य और चित्ताकर्षक लगते हैं परन्तु इनका सेवन दारुण और भयंकर फल देता है। यह विचार कर भोगों से विरक्त होना प्रत्येक विचारशील का कर्त्तव्य है।

णातिवाएज्ज कंचणं। एस वीरे पसंसिए जे ण णिविज्जति आदाणाए।

संस्कृतच्छाया—*नातिपातयेत् कञ्चन। एष वीरः प्रशंसितो यो न निर्विद्यते आदानाय।*

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

शब्दार्थ—कं च णं=किसी भी प्राणी को। णातिवाएज्ज=हिंसा न करे। जे=जो व्यक्ति। आदाणाए=संयम में। ण खिविजति=खेद नहीं प्राप्त करता है। एस वीरे=वही वीर। पसंसिए=प्रशंसित होता है।

भावार्थ—संयमी किसी भी प्राणी को पीड़ा न पहुँचावे। जो सयम के पालन में किसी प्रकार का खेद नहीं करते हैं वे पराक्रमी मुनि इन्द्रादि द्वारा भी प्रशसित होते हैं।

विवेचन—भोगों की निवृत्ति का उपदेश देते हुए सूत्रकार ने अन्त में यह फरमाया है कि किसी भी प्राणी को पीड़ा न पहुचावें। इसका कोई खास आशय होना चाहिए वह आशय यह है कि भोगों की निवृत्ति और अहिंसा ये दोनों अंग जब मिलते हैं तब संयम की साधना सफल होती है। यह बताने के लिए भोग-निवृत्ति के उपदेश में अहिंसा का उपदेश दिया गया है। दूसरी बात यह है कि जहाँ आसक्ति है वहाँ प्राणियों का अतिपात अत्यधिक होता है इसलिए आसक्ति के मिटने पर प्राणातिपात भी मिटना चाहिए यह इससे सूचित किया है। जहाँ तीव्र आसक्ति है वहाँ हिंसा है। अतएव आसक्ति और हिंसा का त्याग-इसीका नाम संयम है।

संयम की परिपूर्ण व्याख्या देने के पश्चात् सूत्रकार ने यह भी सूचित किया है संयम का पालन करना बच्चों का खेल नहीं है। संयम का पालन करना अलूनी शिला का चाटना है, बालू के कणों को चबाना है और तलवार की तीक्ष्ण धारा पर चलना है। कायरों द्वारा इसका पालन किया जाना अति दुष्कर है। जो वीर संयम के पालन में जरा भी खेद नहीं प्राप्त करते हैं उनकी देवाधिराज इन्द्र भी प्रशंसा करता है। वीरों के इस मार्ग पर वीर ही चल सकते हैं; कायर नहीं। संयमी अवस्था में ऐसे अनेकों प्रसंग आते हैं जब कि कायर व्यक्ति मनोबल हार जाता है और संयम में दुख का अनुभव करने लग जाता है परन्तु जो कर्मरिपुओं का विदारण करने में वीर है वह तो ऐसे प्रसंगों का हर्ष के साथ स्वागत करता है और संयम में विशेष दृढ़ता प्राप्त करता है। अतः संयम का पालन करना वीरों का ही काम है। ऐसे वीरों की ही कीर्ति गाथा गाई जाती है और युगयुगान्तर तक उनके गुणों की निर्मल यशरूपी पताका विश्व में फहराती रहती है।

'आदान' शब्द से यहाँ संयम का अर्थ ग्रहण किया गया है क्योंकि संयम के द्वारा ही आत्म-स्वरूप का ग्रहण होता है। समस्त कर्मों के आवरण के क्षय होने से प्रकट होने वाला केवलज्ञान और निराबाध सुख की प्राप्ति का प्रधान कारण संयम ही है अतः उक्त अर्थ ग्रहण किया गया है।

'ण मे देति' ण कुप्पेज्जा, थोवं लद्धुं ण खिंसए, [१]पडिसेहिओ परिणमिज्जा मोणं समणुवासिज्जासि त्ति बेमि।

संस्कृतच्छाया—*"न मे ददाति" न कुप्येत् स्तोकं लब्ध्वा न निन्देत्। प्रतिषिद्धः परिणमेत् एतन्मौनं समनुवासयेः इति ब्रवीमि।*

१ पडिसेहिओ।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

शब्दार्थ—ण मे देति=यह गृहस्थ मुझे नहीं देता है ऐसा विचार कर। ण कुप्पेज्जा=क्रोध न करे। थोवं=अल्प। लद्धुं=प्राप्ति होने पर। ण खिंसए=निन्दा न करे। पडिसेहिओ=मना कर देने पर। परिणमेज्जा=वहाँ से लौट जाना चाहिए। एयं मोणं=इस प्रकार संयम का। समणुवासिज्जासि=सम्यग् आराधन करना चाहिए।

भावार्थ—(संयमी अपने संयम के निर्वाह के लिए उपयोगी साधन गृहस्थों द्वारा निर्दोष रूप से प्राप्त करे) कदाचित् कोई नहीं दे तो उसपर संयमी साधु क्रोध न करे और कोई अल्प दे तो उसकी निन्दा भी न करे। गृहस्थ के द्वारा मना कर देने पर साधु का यह कर्त्तव्य है कि वह शीघ्र वहां से लौट जावे और कोई गृहस्थ देवे तो भी शीघ्र वहां से लौट जाना चाहिए। (नहीं देने पर निन्दा करना या देने पर प्रशंसा करना यह साधु का धर्म नहीं है) इस प्रकार परिपूर्ण संयम का आराधन करना संयमी का सच्चा कर्त्तव्य है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र से सूत्रकार ने भोग और उपयोग का भेद बताया है। संयमियों को भी संयम के निर्वाह के लिए साधनों की आवश्यकता होती है और संयमी भी उन साधनों का उपयोग करते हैं तदपि संयमी का साधनों का प्रयोग करना उपयोग कहा जाता है और भोगियों का साधनों का प्रयोग उपयोग न कहलाकर भोग कहलाता है। इसका कारण यह है कि त्यागी और संयमी अनासक्त होकर आवश्यक साधनों का उपयोग करते हैं अतः वह उपयोग कहा जाता है परन्तु भोगियों की साधनों में आसक्ति रहती है अतएव उनके साधनों के प्रयोग को भोग कहा जाता है। साधनों का प्रयोग उभयत्र होते हुए भी आसक्ति और अनासक्ति की विशेषता के कारण एक भोग कहा जाता है और एक उपयोग कहा जाता है। भोगी साधनों की आसक्ति के कारण उनका दास हो जाता है और उनकी प्राप्ति में हर्ष और अप्राप्ति में विषाद करता है परन्तु त्यागी साधनों का वशवर्ती नहीं होता। साधनों के मिलने या न मिलने पर उसे राग और द्वेष नहीं होता। यद्यपि प्रजा का यह कर्त्तव्य है कि संयमी को संयम के निर्वाह के लिए आवश्यक साधन प्रदान करे तदपि यदि प्रजा अपने कर्त्तव्य से च्युत होती है तो भी संयमी राग-द्वेष के वशीभूत न होकर अपने कर्त्तव्य में दृढ़ रहता है। कहने का तात्पर्य यह है कि जहाँ आसक्ति है वहाँ भोग है और जहाँ अनासक्ति है वहाँ उपयोग है। यही भोग और उपयोग का भेद है। भोग दुखों का कारण है और उपयोग सुखों का कारण है। भोग में स्वच्छंदता है और उपयोग में विवेक। भोग नरक है और उपयोग स्वर्ग। भोग अन्धकार है और उपयोग प्रकाश।

शास्त्रकार ने परिग्रह का लक्षण बताते हुए फरमाया है कि "मुच्छा परिग्गहो वुत्तो" मूर्छा ही परिग्रह है। संयमी संयम के लिए उपयोगी वस्त्र पात्रादि द्रव्योपधि रखते हैं परन्तु उसमें मूर्छा (आसक्ति) नहीं रखने के कारण वे अपरिग्रही कहे जाते हैं।

संयमी साधु को संयम के साधन भूत शरीर का निर्वाह करने के लिए अन्य-निश्रित होना पड़ता है। उसे गृहस्थों द्वारा बनाये हुए आहारादि में से कल्पनीय एषणादि दोषों से रहित निर्दोष रीति से भिक्षावृत्ति के द्वारा ग्रहण किए हुए आहारादि से अपनी देहपालना करनी होती है। भिक्षावृत्ति द्वारा आहार की गवैषणा करते हुए कई प्रकार के उच्च-नीच प्रसंग प्राप्त होते हैं। साधु भिक्षा के लिए गृहस्थ के

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

घर में प्रवेश करता है, वहाँ सभी प्रकार की सामग्री विद्यमान है, दान का सुअवसर है तदपि यह हो सकता है कि गृहस्थ साधु को आहारादि न दे ऐसे प्रसंग पर साधु का यह कर्त्तव्य है कि वह उस पर क्रोध न करे और यह विचार करे कि गृहस्थ की चीज है उसकी इच्छा हो तो दे, नहीं हो तो न दे। मुझे उस पर क्रोध क्यों करना चाहिए ? दूसरा विचार यह करना चाहिए कि मेरे लाभान्तराय का उदय है जिससे प्राप्ति नहीं होती है। चलो, सहज ही तपश्चर्या का प्रसंग प्राप्त हुआ। मुझे इससे क्या हानि हुई ? ऐसा विचार कर शान्त भाव से वहाँ से शीघ्र लौट जाना चाहिए। दाता अगर थोड़ी चीज दे तो भी उसकी निंदा नहीं करनी चाहिए अथवा साफ इन्कार कर दे तो भी मुनि का यह कर्त्तव्य है कि वह गृहस्थ को कठोर वचन न कहे। ऐसा न बोले कि "धिक्कार है तुम्हारा गृहस्थावास, तुम्हारी उदारता देखली, तुम्हारा अनुभव कर लिया, तुम्हारा नाममात्र ही अच्छा है, नाम बड़ा और दर्शन खोटा इत्यादि।" लाभ न होने पर भी शान्तभाव से शीघ्र घर से निकल जाना चाहिए। अगर दाता दे तो उसकी तारीफ करना यह भी मुनि-धर्म के विपरीत है। दीन-बुद्धि से भाट की तरह दाता की स्तुति करना अनुचित है। अतः लाभ होने पर भी शीघ्र वहाँ से लौट जाना चाहिए।

हे शिष्य ! अनन्त भवों के उपार्जित पुण्यों के प्रताप से यह संयमी-जीवन प्राप्त हुआ है अतः अस्खलित रूप से इस मौनीन्द्र-धर्म का पालन करके कल्याण की साधना करनी चाहिए।

—उपसंहार—

इस उद्देशक में यह प्ररूपित किया है कि भोग किंपाक फल के समान मनोहर और चित्ताकर्षक हैं परन्तु इनका परिणाम अत्यन्त दारूण है। अतः सुखाभिलाषी प्राणियों को भोगों से निवृत्ति करनी चाहिए। साथ ही इस उद्देशक में भोग और उपयोग का भेद बताया गया है। वस्तुओं का भोग भी किया जाता है और उपयोग भी। भोग करना पतन का कारण है और उपयोग करना विकास का हेतु है। अतः प्राणीमात्र का कर्त्तव्य है कि पदार्थों का भोग न करके उनका सम्यग् उपयोग करना सीखे। "पद्म-पत्रमिवाम्भसा" के न्याय से आसक्ति का त्याग कर अनासक्त जीवन व्यतीत करने में ही सुख रहा हुआ है।

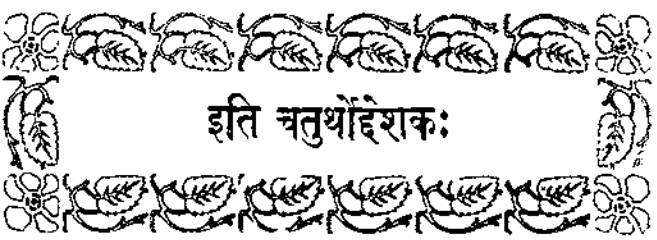

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

लोक-विजय नाम द्वितीय अध्ययन

—पञ्चमोद्देशक—

पूर्व उद्देशक में भोगों से निवृत्ति करने का उपदेश दिया गया है। उस उपदेश के अनुसार जो प्राणी संसार की असारता को जानकर तथा भोगों से पराङ्मुख होकर मोक्ष की अभिलाषा से पंचमहाव्रत रूप संयम अंगीकार करता है, उस अखण्ड अहिंसा के उपासक के सामने देह-परिपालन का प्रश्न उपस्थित होता है। आहार के बिना देह का यथावत् निर्वाह असंभव है और देह-निर्वाह के बिना संयम का पालन संभव नहीं है। आहार की निष्पत्ति में हिंसा अनिवार्य है। अग्नि, वायु, जल आदि की हिंसा के बिना आहार तैयार नहीं हो सकता है। ऐसी अवस्था में संयमियों का क्या कर्त्तव्य है? वे लेशमात्र भी हिंसा नहीं कर सकते और संयम की साधना का भी त्याग नहीं कर सकते। तब उन्हें क्या करना चाहिए? इस प्रश्न का समाधान करते हुए सूत्रकार आगामी सूत्र में फरमाते हैं कि ऐसे अहिंसक संयमी को संयमी-जीवन के निर्वाह के लिए लोक-निश्रा से (गृहस्थजन आश्रित होकर) विचरना चाहिए। क्योंकि "शरीर-माद्यं खलु धर्मसाधनम्" (शरीर धर्माराधन का प्रथम साधन है) इस न्याय के अनुसार देहसाधन के बिना धर्म-साधन नहीं हो सकता और देह-साधन आहार के बिना नहीं हो सकता-अतः लोकनिश्रा से विचरने के लिए कहा गया है। संयमियों के लिए निम्न श्लोक में निश्रापदों का वर्ण किया गया है—

धर्मं चरतः साधोर्लोके निश्रापदानि पञ्चापि ।
राजा गृहपतिरपरः षट्काया गणशरीरे च ॥

अर्थात्—धर्म का आचरण करने वाले मुनि के लिए संसार में, राजा, गृहस्थ, षट्काय, साधु-समूह और शरीर ये पाँच आश्रय-स्थान कहे गये हैं।

आत्म-साधक संयमी साधु जनसमाज का प्रत्यक्ष अथवा परोक्षरूप से कल्याण करते हैं। जन-समाज को अधिक से अधिक देकर वे केवल देहनिर्वाह के लिए जनता से आवश्यक साधन सामग्री भिक्षा वृत्ति द्वारा प्राप्त करते हैं। संयमी प्राणी की नस नस में, रोम रोम में और अणु अणु में अहिंसा और संयम इस प्रकार व्याप्त हो जाते हैं कि वह संयम के लिए आवश्यक आहारादि सामग्री प्राप्त करने में भी अहिंसा और संयम का सूक्ष्म से सूक्ष्म ध्यान रखता है। अहिंसा और संयम की मर्यादा को बराबर समझता हुआ विवेकी साधक आहार की शुद्धि और अशुद्धि पर पूरा पूरा लक्ष्य देता है। क्योंकि आहार की शुद्धि और अशुद्धि का असर वृत्तियों पर पड़ता है। लौकिक कहावत है कि-जैसा खावे अन्न, वैसा होवे मन्न। अतः आहार की शुद्धि और अशुद्धि का विवेक करना संयमी के लिए आवश्यक है।

जिनेश्वर प्रभु ने संयमियों के लिए वृत्ति का ऐसा सुन्दर उपाय बताया है जिसके अनुसरण से साधु के शरीर का पालन भी होता है और संयम की आराधना भी यथावत् होती है। गृहस्थ-वर्ग अनेक

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

उपायों द्वारा, अपने तथा अपने कुटुम्बियों के लिए आरम्भ में प्रवृत्ति करते हैं। उन गृहस्थों के घरों से मधुकर-वृत्ति से आहारादि प्राप्त करने का साधुओं के लिए निर्देश किया गया है। जिस प्रकार भ्रमर फूलों को कष्ट नहीं पहुँचाता हुआ अनेकों फूलों में से मर्यादा पूर्वक रस ग्रहण करता है इसी प्रकार साधु भी अनेक घरों में से थोड़ा थोड़ा आहार ग्रहण करते हैं जिससे किसी को कष्ट भी नहीं होता और सरलता से संयमी-जीवन का निर्वाह भी हो जाता है। यही बात सूत्र द्वारा फरमाते हैं:—

जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं लोगस्स कम्मसमारंभा कज्जंति, तंजहा—अप्पणो से पुत्ताणं, धूयाणं, सुण्हाणं, नाईणं, धाईणं, राईणं, दासाणं, दासीणं, कम्मकराणं, कम्मकरीणं आएसाए पुढो पहेणाए सामासाए, पायरासाए, संनिहिसंनिचओ कज्जइ, इहमेगेसिं माणवाणं भोयणाए।

संस्कृतच्छाया—*यैरिदं विरूपरूपैः शस्त्रैः लोकाय कर्मसमारम्भाः क्रियन्ते, तद्यथा—आत्मने तस्य पुत्रेभ्यो दुहितृभ्यः, स्नुषाभ्यो ज्ञातिभ्यो धात्रीभ्यो राजभ्यो दासेभ्यो दासीभ्यः, कर्मकरेभ्यः, कर्मकरीभ्यः आदेशाय पृथक् प्रहेणकाय श्यामाशाय प्रातराशाय सन्निधिसन्निचयः क्रियते इहैकेषां मानवानाम् भोजनाय।*

शब्दार्थ—जमिणं=जिन गृहस्थों द्वारा। विरूवरूवेहिं=अनेक प्रकार के। सत्थेहिं=शस्त्रों द्वारा। लोगस्स=अपने शरीरादि के लिए। कम्मसमारम्भा=पचन-पाचनादि कर्मों के समारम्भ। कज्जंति=किये जाते हैं। तंजहा=जैसे। से=वह। अप्पणो=अपने। पुत्ताणं=पुत्रों के लिए। धूयाणं=पुत्रियों के लिए। सुण्हाणं=पुत्र-वधुओं के लिए। नाईणं=ज्ञाति जन के लिए। धाईणं=धाइयों के लिए। दासाणं=दासों के लिए। दासीणं=दासियों के लिए। कम्मकराणं=नौकरों के लिए। कम्मकरीणं=नौकरानियों के लिए। आएसाए=महमानों के लिए। पुढो पहेणाए=पुत्रादिकों में अलग २ विभक्त करने के लिए। सामासाए=शाम के भोजन के लिए। पायरासाए=प्रातःकाल के भोजन के लिए। इहं=इस लोक में। एगेसिं माणवाणं=किन्हीं मनुष्यों को। भोयणाए=जिमाने के लिए। संनिहि संनिचयो=संग्रह। कज्जइ=किया जाता है।

भावार्थ—हे जम्बू! गृहस्थ जन अपने लिए तथा अपने पुत्र, पुत्री, बहू, कुटुम्बी, ज्ञातिजन, धाई, दास, दासी, नौकर-चाकर, महमान आदि के लिए तथा अपने कुटुम्बियों में विभक्त करने के लिए, प्रातःकाल और सायंकाल उपभोग करने के लिए विविध प्रकार के शस्त्रों द्वारा आहारादि बनाते हैं और उनका संग्रह करके रखते हैं।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार ने संयमियों के लिए वृत्ति-अन्वेषण का विधान किया है। अहिंसा के अखण्ड आराधक को अपनी देहपालना के लिए क्या करना चाहिए, यह इस सूत्र में बताया

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

गया है। गृहस्थ मनुष्य विविध प्रयोजनों से अपने तथा अपने कुटुम्बी और सम्बन्धियों के लिए आहार बनाते हैं। उस आहार में प्रायः थोड़ा बहुत उनके यहाँ बचा रहता है। उसी बचे हुए अन्न को भिक्षावृत्ति से प्राप्त कर उसीपर संयमियों को निर्वाह करना चाहिए। इससे साधु को आरम्भ-जन्य दोष भी नहीं लगता और जीवन का निर्वाह भी सुगमता से हो जाता है। संयमी पुरुष प्रथम ही इन्द्रियों को अपने वश में कर लेते हैं अतः वे स्वाद आदि इन्द्रियों के वशवर्ती नहीं होते हुए मात्र जीवन निर्वाह के लिए शेष बचा हुआ आहार ग्रहण करते हैं। जो प्राणी खाने के लिए जीते हैं उन्हीं के लिए स्वाद का प्रश्न उपस्थित होता है परन्तु संयमी पुरुष खाने के लिए नहीं जीते वरन् संयमी जीवन के लिए खाते हैं अतः उनके लिए स्वाद का प्रश्न ही नहीं रहता है। संयमी के लिए छह कारणों से आहार करने का विधान किया है। वे छह कारण इस प्रकार हैं—(१) क्षुधा वेदनीय की शान्ति के लिए (२) अपने से बड़े आचार्य आदि की सेवा के लिए (३) मार्ग में यतनापूर्वक चलने के लिए (४) संयम की रक्षा के लिए (५) प्राणों की रक्षा के लिए तथा (६) स्वाध्याय एवं धर्म-साधना के लिए। इससे यह सिद्ध होता है कि संयमी धर्म और संयम की आराधना के लिए ही आहार ग्रहण करते हैं।

अहिंसा और संयम के आराधक तथा धर्म के प्रतिनिधि रूप जैन साधुओं के लिए आहारादि की प्राप्ति के लिए जिस भिक्षावृत्ति का विधान किया गया है उसके कई नियमोपनियम बताये गये हैं। ४२ दोषों से रहित भिक्षा ही साधु के लिए कल्पनीय है। भोजन के ४७ दोष हैं उनका स्वरूप इस प्रकार है:—१६ उद्गम दोष, १६ उत्पादन दोष, १० एषणा दोष और ५ मण्डल दोष। उद्गम दोष गृहस्थ के द्वारा लगते हैं। उनके नाम ये हैं (१) आहाकम्म (२) उद्देसिय (३) पूइकम्मे (४) मीसजाए (५) ठवणे (६) पाहुडियाए (७) पाओअर (८) कीय (९) पामिच्चे (१०) परियट्टए (११) अभिहडे (१२) उब्भिन्ने (१३) मालाहडे (१४) अच्छिज्जे (१५) अणिसिट्ठे (१६) अज्झोयरए।

(१) आहाकम्म—सामान्य रूप से साधु के उद्देश्य से तैयार किया हुआ आहार लेना आहाकम्म दोष है।

(२) उद्देसिय—किसी विशेष साधु के निमित्त बनाया हुआ आहार लेना।

(३) पूइकम्मे-विशुद्ध आहार में आधाकर्मी आहार का थोड़ासा भाग मिल जाने पर भी उसे लेना।

(४) मीसजाए—गृहस्थ के लिए और साधु के लिए सम्मिलित बनाया हुआ आहार लेना।

(५) ठवणे—साधु के निमित्त रखा हुआ आहार लेना।

(६) पाहुडियाए—साधु को आहार देने के लिए महमानों की जीमनवार को आगे पीछे किये जाने पर आहार लेना।

(७) पाओअर—अँधेरे में प्रकाश करके दिया जाने वाला आहार लेना।

(८) कीए—साधु के लिए खरीदा हुआ आहार लेना।

(९) पामिच्चे—साधु के निमित्त किसी से उधार लिया हुआ आहार लेना।

(१०) परियट्टए—साधु के लिए सरस-नीरस वस्तु की अदला-बदली करके दिया जाने वाला आहार लेना।

(११) अभिहडे—सामने लाया हुआ आहार लेना।

(१२) उब्भिन्ने—भूगृह में रक्खे हुए, मिट्टी, चपड़ी आदि से छाबे हुए पदार्थ को उघाड़ कर दिया जाने वाला आहार लेना।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

(१३) मालाहड़े—जहाँ पर चढ़ने में कठिनाई हो वहाँ से उतार कर दिया जाने वाला आहार लेना या इसी प्रकार की नीची जगह से उठाकर दिया जाने वाला आहार लेना।

(१४) आच्छिज्जे—निर्बल पुरुष से छीना हुआ-अन्याय पूर्वक लिया हुआ आहार लेना।

(१५) अणिसिट्ठे—साझे की वस्तु साझेदार की सम्मति के बिना लेना।

(१६) अज्झोयरए—गृहस्थ के लिए राँधते हुए साधु के लिए अधिक राँधा हुआ आहार लेना।

साधु के द्वारा लगने वाले आहार सम्बन्धी दोष उत्पादना दोष कहलाते हैं। वे भी सोलह हैं। उनके नाम इस प्रकारहैं:—(१) धाई (२) दूई (३) निमित्त (४) आजीवे (५) वणीमगे (६) तिगिच्छे (७) कोहे (८) माणे (९) माया (१०) लोहे (११) पुव्वि पच्छा संथव (१२) विज्जा (१३) मंते (१४) चुन्ने (१५) जोगे (१६) मूलकम्मे।

(१) धाई—गृहस्थ के बाल-बच्चों को धाई की तरह खेलाकर आहार लेना।

(२) दूई—गृहस्थ का गुप्त या प्रकट संदेश उसके स्वजन से कह कर आहार लेना।

(३) निमित्ते—निमित्त द्वारा गृहस्थ को लाभ-हानि बताकर आहार लेना।

(४) आजीवे—गृहस्थ को अपना कुल अथवा जाति बताकर आहार लेना।

(५) वणीमगे—भिखारी की तरह दीनता पूर्ण वचन कह कर आहार लेना।

(६) तिगिच्छे—चिकित्सा बताकर आहार लेना।

(७) कोहे—गृहस्थ को डरा-धमका कर या शाप का भय दिखाकर आहार लेना।

(८) माणे—'मैं लब्धि वाला हूँ तुम्हें सरस आहार लाकर दूँगा' इस प्रकार साधुओं से कहकर आहार लाना।

(९) माया—छल-कपट करके आहार लेना।

(१०) लोहे—लोभ से अधिक आहार लेना।

(११) पुव्वि पच्छा संथव—आहार लेने से पूर्व या पश्चात् देने वाले की तारीफ करना।

(१२) विज्जा—विद्या बताकर आहार लेना।

(१३) मंते—मोहनमन्त्र आदि मन्त्र सिखाकर आहार लेना।

(१४) चुन्ने—अदृश्य हो जाने का या मोहित करने का अंजन बताकर आहार लेना।

(१५) जोगे—राज वशीकरण या जल-थल में समा जाने की सिद्धि बताकर आहार लेना।

(१६) मूलकम्मे—गर्भपात आदि औषधि बताकर या पुत्रादि जन्म के दूषण निवारण करने के लिए मघा, ज्येष्ठा आदि दुष्ट नक्षत्रों की शान्ति के लिए मूल स्नान बताकर आहार लेना।

एषणा सम्बन्धी दोष श्रावक और साधु दोनों के निमित्त से लगते हैं। उनके दस भेद इस तरह हैं-(१) संकिय (२) मक्खिय (३) निक्खित्त (४) पिहिय (५) साहरिय (६) दायग (७) अपरिणय (८) उम्मीसे (९) लित्त (१०) छड्डिय।

(१) संकिय—गृहस्थ को और साधु को आहार देते-लेते समय आहार की शुद्धि में शंका होने पर भी आहार देना-लेना।

(२) मक्खिय—हथेली की रेखा और बाल सचित्त जल से गीले होने पर भी आहार देना-लेना।

(३) निक्खित्त—सचित्त वस्तु पर रखा हुआ आहार देना-लेना।

(४) पिहिय—सचित्त वस्तु से ढँके हुए आहार को देना-लेना।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

(५) साहरिय—सचित्त में से अचित्त निकाल कर आहार देना-लेना।
(६) दायग—अंधे, लूले, लंगड़े के हाथ से आहार का देना-लेना।
(७) उम्मीसे—सचित्त और अचित्त मिश्रकर आहार का देना-लेना।
(८) अपरिणय—जिस पदार्थ में शस्त्रपरिणत न हुआ हो ऐसी वस्तु देना-लेना।
(९) लित्त—तुरन्त लिपी हुई भूमिका अतिक्रमण करके आहार देना-लेना।
(१०) छड्डिय—भूमि पर छींटे डालते हुए देना-लेना।

मण्डल दोष आहार करते समय सिर्फ साधु को लगते हैं। वे पाँच इस प्रकार हैं—(१) संजोयणा (२) अप्पमाणे (३) इङ्गाले (४) धूमे और (५) अकारणे।

(१) संजोयणा—जिह्वा की लोलुपता के वशीभूत होकर आहार सरस बनाने के लिए पदार्थों को मिला मिलाकर खाना जैसे दूध के साथ शक्कर मिलाना आदि।
(२) अप्पमाणे—प्रमाण से अधिक भोजन करना।
(३) इङ्गाले—सरस आहार करते समय वस्तु की या दाता की तारीफ करते हुए खाना।
(४) धूमे—सरस आहार करते समय वस्तु या दाता की निंदा करते हुए नाक, भौं सिकोड़ते हुए अरुचि पूर्वक खाना।
(५) अकारणे—क्षुधावेदनीय आदि पूर्वोक्त छह कारणों में से किसी भी कारण के बिना ही आहार करना।

आहार सम्बन्धी इन दोषों पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि साधु-जीवन में अहिंसा और संयम को जिनागम में कितना उच्च स्थान दिया गया है तथा पद-पद पर उसका कितना अधिक ध्यान रक्खा जाता है। संयमी अपने निमित्त कोई भी क्रिया गृहस्थों द्वारा नहीं करवाना चाहते हैं तदपि जो कोई श्रावक भक्ति के अतिरेक से प्रेरित होकर कोई ऐसा कार्य करता है तो साधु उस आहारादि को अकल्पनीय समझ कर त्याग देता है। साधु यद्यपि भिक्षु है तो भी वह धर्म का प्रतिनिधि है। इस कारण वह भिक्षा प्राप्त करने के लिए दीनता प्रदर्शित करके शासन की महत्ता नष्ट नहीं करता और न आहार के बदले के रूप में दाता गृहस्थ की स्तुति या तारीफ ही करता है। आहार संयमी के लिए अनुराग या आकर्षण की वस्तु नहीं है वरन् आध्यात्मिक उपयोगिता की वस्तु है इसलिए वह स्वाद की परवाह नहीं करता और जैसी भी वस्तु मिल जाय उसे वह अनासक्त भाव से ग्रहण करता है।

आहार जीवन में एक महत्त्व पूर्ण वस्तु है। आहार का वृत्तियों पर असर होता है। अतः भिक्षा द्वारा प्राप्त सात्विक आहार से संयम की परिपालना करना चाहिए।

मूलसूत्र में 'लोगस्स' शब्द दिया गया है उसका अर्थ 'अपने शरीर के लिए' ऐसा किया गया है। शंका होती है कि लोक शब्द का अर्थ शरीर तो नहीं होता है तो फिर यहाँ ऐसा क्यों ग्रहण किया गया? इसका समाधान यह है कि शरीर पौद्गलिक है और परमार्थ दृष्टाओं के लिए ज्ञान-दर्शन और चारित्र को छोड़कर शेष सब पौद्गलिक वस्तु पर (भिन्न) ही है अतः शरीर को स्वरूप से भिन्न होने के कारण पररूप लोक कहा गया है। अर्थात् गृहस्थ जन अपने लिए और पुत्रादिकों के लिए आरम्भ-प्रवृत्ति करते हैं। अथवा तृतीया के अर्थ में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग जानकर-लोगों द्वारा आरम्भ किया जाता है यह अर्थ भी संगत है।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

सूत्र में सन्निधि और सन्निचय दो पद दिये गये हैं। इसमें सन्निधि का अर्थ आहारादि शीघ्र विनाशी द्रव्यों के संग्रह से है और सन्निचय पद से धनादि के समान किंचित्काल स्थायी द्रव्यों के संग्रह से प्रयोजन समझना चाहिए। इससे आरम्भ और परिग्रह दोनों का ग्रहण समझना चाहिए। गृहस्थ वर्ग अपने और अपने स्वजनों के लिए आरम्भ-परिग्रह करते हैं उनमें से साधु को अपनी वृत्ति की अन्वेषणा करनी चाहिए।

समुट्ठिए अणगारे आरिए आरियपन्ने आरियदंसी अयं संधिति अदक्खु, से नाईए, नाइयावए, न समणुजाणइ, सव्वामगंधं परिन्नाय निरामगंधो परिव्वए।

संस्कृतच्छाया—*समुत्थितोऽनगार आर्य आर्यप्रज्ञः आर्यदर्शी, अयं सन्धिरित्यद्राक्षीत्, स नाददीत नादापयेत् न समनुजानीयात् सर्वामगन्धं परिज्ञाय निरामगंधः परिव्रजेत्।*

शब्दार्थ—समुट्ठिए=संयम में उद्यमी। आरिए=आर्य। आरियपन्ने=पवित्र बुद्धि वाला। आरियदंसी=न्याय दर्शी। अयंसंधि=यथावसर क्रिया करने वाला। इति=इसलिए। अदक्खु=परमार्थ को जानने वाला। अणगारे=साधु। से=वह। नाईए=अकल्पनीय आहार न ग्रहण करे। नाइयावए=ग्रहण न करावे। न समणुजाणइ=ग्रहण करते हुए को अनुमोदन न दे। सव्वामगंधं=सब प्रकार के अशुद्ध आधाकर्म्मादि दूषणों को। परिन्नाय=जानकर। निरामगंधो=निर्दोष रूप से। परिव्वए=संयम का पालन करे।

भावार्थ—संयम में उद्यमी, आर्य, पवित्र बुद्धिमान्, न्यायदर्शी और समयज्ञ तथा तत्वज्ञ अनगार दूषित आहार ग्रहण करे नहीं, करावे नहीं और दूसरे को अनुमोदन दे नहीं और सब प्रकार के दूषणों से रहित होकर निर्दोष रीति से संयम का पालन करे।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में अनगार साधु के विशेषणों का वर्णन करते हुए निर्दोष आहार ग्रहण करके संयमयात्रा का निर्वाह कहना चाहिए यह प्रतिपादन किया गया है। अनगार के लिए-समुत्थित, आर्य, आर्यप्रज्ञ, आर्यदर्शी, अयंसंधि और तत्त्वज्ञ ये विशेषण दिये गये हैं। ये समस्त विशेषण सार्थक हैं और साधु पद की जिम्मेदारी को सूचित करते हैं। जिसके घर और घर का ममत्व न हो वह अनगार। संयम में सदा सावधान, जागरूक और अप्रमत्त रहने वाला समुत्थित है। जिसका अन्तःकरण निर्मल हो वह आर्य। जिसकी बुद्धि परमार्थ की ओर प्रवृत्त होती है वह आर्यप्रज्ञ है। न्याय में सतत रमण करने वाला आर्यदर्शी है। समयानुसार योग्य क्रिया करने वाला समयज्ञ है। जो स्वाध्याय, प्रतिलेखनादि क्रिया जिस जिस काल में करनी चाहिए उसी नियत समय पर करने वाला, समय को पहचानकर यथाकाल अनुष्ठान करने वाला समयज्ञ है। जो यथाकाल (समय को पहचानकर) क्रिया करता है वही सचमुच परमार्थ को जानता है और वही तत्त्वज्ञ कहलाता है। इन विशेषणों से युक्त अनगार का कर्त्तव्य है कि दूषित आहार स्वयं ग्रहण न करे, दूसरों से ग्रहण न करावे और ग्रहण करते हुए अन्य को अनुमोदन न दे। आहार के दोषों का वर्णन पहिले किया जा चुका है।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

"णाईए" इस पद का अर्थ ग्रहण न करे ऐसा उपर किया गया है। साथ ही यह भी संगत अर्थ है कि दूषित आहार स्वयं खावे नहीं अन्य को खिलावे नहीं और खाते हुए अन्य को अनुमोदन नहीं दे।

शंका—"सव्वामगंधं" इस पद में "आम" शब्द का अर्थ-अशुद्ध आहार और गंध शब्द का अर्थ पूतिकर्म आधाकर्मादि दोष वाला किया गया है। आधाकर्मादि दोष वाला आहार भी अशुद्ध ही है अतः 'आम' शब्द से ही उसका ग्रहण हो जाता है तो 'गंध' पद अलग देने की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—यह बात ठीक है कि अशुद्ध सामान्य के कारण "गंध" का भी "आम" शब्द में ग्रहण हो सकता है तो भी गंध पद पृथक् देने का अभिप्राय आधाकर्मादि दोषों की विशेषता प्रकट करने का है। तात्पर्य यह है कि गंध शब्द से (१) आधाकर्म (२) औद्देशिक (३) पूतिकर्म (४) मिश्रजात (५) बादरप्राभृतिका (६) अध्यवपूरक इन छह उद्गम दोषों को अविशुद्ध कोटि में मानकर ग्रहण किये हैं और शेष दोषों को 'आम' शब्द से गृहीत समझने चाहिए।

इस प्रकार, सब प्रकार के दूषित आहार को ज्ञ परिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा से त्यागना चाहिए। तथा निरामगंध होकर शुद्ध रीति से संयम का पालन करना चाहिए।

अदिस्समाणे कयविक्कएसु, से ण किणे न किणावए, किणंतं न समणुजाणइ।

संस्कृतच्छाया—*अदृश्यमानः क्रयविक्रययोः, स न क्रीणीयात्, न क्रापयेत्, क्रीणन्तम् न समनुजानीयात्।*

शब्दार्थ—कयविक्कएसु=खरीदने और बेचने की क्रियाओं में। अदिस्समाणे=अदृश्य रहता हुआ। से=वह साधु। ण किणे=खरीदे नहीं। न किणावए=दूसरों से खरीदावे नहीं। किणंतं=खरीदते हुए को। न समणुजाणइ=अनुमोदन दे नहीं।

भावार्थ—मुनि क्रयविक्रय से अलिप्त रहे। वह (धर्मोपकरण भी) खरीदे नहीं, अन्य से स्व-निमित्त खरीदा हुआ ग्रहण करे नहीं और खरीदते हुए को अच्छा समझे नहीं।

विवेचन—पूर्व के सूत्र में 'आम' ग्रहण करने से क्रीतकृत आदि का निषेध हो जाता है तो भी अल्प बुद्धि वाले प्राणी क्रीत को विशुद्ध कोटि के अन्तर्गत जानकर उसमें प्रवृत्ति न कर लें इसलिए पुनः क्रीतदोष का निषेध करने के लिए यह सूत्र कहा गया है।

वैसे तो मुमुक्षु साधु अकिंचन होते हैं। उनके लिए क्रयविक्रय आदि सांसारिक क्रियाएँ संगत हो ही नहीं सकतीं क्योंकि क्रयविक्रय के प्रपंच में पड़ने पर ममत्व, बन्धन और परिग्रहादि महान् दोषों से बचना असंभव है। अतः अन्य वस्तुओं के क्रयविक्रय का कार्य मुनिधर्म से किसी भी अंश में संगत नहीं हो सकता है अतः यह बात तो स्वयं फलित हो जाती है तो सूत्रकार के निषेध करने का कोई खास आशय होना चाहिए। वह आशय यह है कि मुनि अन्य वस्तुओं का क्रयविक्रय नहीं करे सो तो नहीं करें परन्तु धर्मोपकरण भी स्वयं खरीदे नहीं, खरीदावे नहीं और खरीदते हुए अन्य को अच्छा समझे नहीं। साधु के

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

लिए खरीदे हुए धर्म के उपकरण भी अनगार के लिए अग्राह्य है। अकिंचन धर्म का उपासक अनगार धर्मोपकरण के भी क्रयविक्रय के प्रपंच में न पड़े यह सूत्रकार का आशय मालूम होता है। किसी भी प्रकार के क्रयविक्रय में बन्धन, परिग्रह और ममत्व आये बिना नहीं रह सकते हैं अतः इन दोषों से बचने के लिए अनगार क्रयविक्रय से सदा सर्वथा अलिप्त रहे। इसी में साधु और अनगार-धर्म की शोभा है।

से भिक्खू कालन्ने, [1]बालन्ने, मायन्ने, खेयन्ने, खणयन्ने, विणयन्ने ससमय-परसमयन्ने, भावन्ने परिग्गहं अममायमाणे, कालाणुट्ठाइ, अपडिण्णे दुहओ छेत्ता नियाइ।

संस्कृतच्छाया—*स भिक्षुः कालज्ञो बलज्ञो मात्रज्ञः क्षेत्रज्ञः क्षणकज्ञो विनयज्ञः स्वसमयपर-समयज्ञो भावज्ञः परिग्रहममीकुर्वाणः कालानुष्ठायी अप्रतिज्ञो द्विधा छित्वा नियाति।*

शब्दार्थ—से भिक्खू=वह साधु। कालन्ने=समय को पहिचानने वाला। बालन्ने=अपनी शक्ति को जानने वाला। मायन्ने=मात्रा-प्रमाण को जानने वाला। खेयन्ने=क्षेत्र को जानने वाला। खणयन्ने=अवसर को जानने वाला। विणयन्ने=ज्ञानादि विनय को जानने वाला। स-समयपरसमयन्ने=अपने शास्त्र और दूसरों के शास्त्रों को जानने वाला। भावन्ने=दूसरों के अभि-प्राय को जानने वाला। परिग्गहं अममायमाणे=परिग्रह की ममता को दूर करने वाला। काला-णुट्ठाई=यथाकाल अनुष्ठान करने वाला। अपडिण्णे=निरासक्त होकर। दुहओ छेत्ता=राग-द्वेष को छेद कर। नियाइ=मोक्ष मार्ग में आगे बढ़ता है।

भावार्थ—हे जम्बू! जो पूर्वोक्त गुण-विशिष्ट साधु होता है वह काल, बल, मात्रा, क्षेत्र, अव-सर, ज्ञानादि विनय, स्वशास्त्र, दूसरों के शास्त्र तथा अन्य के अभिप्रायों को जानने वाला, परिग्रह की ममता को दूर करने वाला, कालानुकाल क्रिया करने वाला और निरीह (कामनारहित) भाव से रहकर राग-द्वेष के बन्धनों को छेदने वाला होता है और वह मोक्ष के मार्ग पर अविरल गति से बढ़ता जाता है।

विवेचन—प्रकृत सूत्र में साधु के लिए किन किन बातों का ज्ञान आवश्यक है यह बताया गया है। गोचरी (भिक्षा-ग्रहण) के प्रसंग में इन गुणों का वर्णन करने का तात्पर्य यह है कि भिक्षावृत्ति के लिए गृहस्थ के घर में प्रवेश करने वाले साधु के लिए यह आवश्यक है कि वह काल, बल, प्रमाण, क्षेत्र, अवसर, ज्ञानादि विनय, स्वशास्त्र, परशास्त्र तथा अन्य के अभिप्राय को समझने वाला हो, परिग्रह से दूर रहता हो, कालानुकाल क्रिया करता हो और अनासक्त तथा निस्पृह हो।

कालज्ञः—साधु के लिए यह आवश्यक है कि वह समय-धर्म को पहिचाने। कर्त्तव्य करने का कौनसा उपयुक्त समय है? किस समय कैसा वर्ताव करना चाहिए? अभी किस प्रकार का वातावरण है? जमाने की रफ्तार किस प्रकार की है? इत्यादि बातें समझ कर समय-धर्म को पहचान कर क्रिया

१ छान्दसत्वाद्दीर्घत्वम्।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

करनी चाहिए। जो समय को पहचान कर तदनुसार प्रवृत्ति करता है वह सरलता से संयमयात्रा का निर्वाह कर लेता है।

बलज्ञः—अपनी शक्ति को देखकर तदनुसार प्रवृत्ति करने वाला बलज्ञ है। तात्पर्य यह है कि अपने में जितनी शक्ति है उसको बिना छिपाते हुए संयम में लगाना चाहिए। शक्ति होते हुए उसका गोपन करना माया कहलाती है अतः विवेकी साधु अपनी शक्ति को बिना छिपाये शक्ति अनुसार तपश्चर्या आदि क्रियाएँ करता है। सूत्र में "बालण्णे" ऐसा पाठ है। इस पाठ में दीर्घ कहा गया है सो छान्दसत्व की वजह से समझना चाहिए।

मात्रज्ञः—अनगार को यह भी जानना आवश्यक है कि कौनसी वस्तु कितने प्रमाण में अपने उपयोग में आ सकती है। अपने लिए आवश्यक तमाम वस्तुओं की मात्रा का ज्ञान अवश्य होना चाहिए। उदाहरण की तौर पर आहार को ही लीजिए। साधु को यह जान लेना चाहिए कि मुझे इतनी मात्रा का आहार पर्याप्त होगा। अगर साधु अपनी मात्रा न जाने तो कभी तो आवश्यकता से अधिक और कभी आवश्यकता से भी कम आहार आने से दोषों की सम्भावना रहती है। इसके विपरीत जो प्रमाण (मात्रा) जान लेता है वह ऐसे दोषों से बच जाता है अतः मात्रा का ज्ञान होना भी आवश्यक है।

खेयन्ने—इस शब्द के संस्कृत रूप दो तरह के बनते हैं—(१) खेदज्ञ और (२) क्षेत्रज्ञ। खेद शब्द के भी दो अर्थ होते हैं-(१) अभ्यास और (२) श्रम। प्रथम अर्थ से यह तात्पर्य है कि साधु सतत अभ्यास और अनुभव के द्वारा सब बातों को जानने वाला हो। श्रम अर्थ से वह मतलब है कि साधु संसार-चक्र में भटकने से जो श्रम पड़ता है उसको जानने वाला हो। जैसा कि:—

जरामरणदौर्गत्यव्याधयस्तावदासताम्।
मन्ये जन्मैव धीरस्य भूयो भूयस्त्रपाकरम्॥

अर्थात—बुढ़ापा, मृत्यु, दुर्गति और व्याधियों की बात तो दूर रही परन्तु बारबार जन्म धारण करना यह भी धीरों के लिए लज्जास्पद है। आशय यह है कि साधु संसार में परिभ्रमण के दुख को जानने वाला हो। क्षेत्रज्ञ ऐसा संस्कृत रूप बनाने पर यह अर्थ घटित होता है कि साधु को भिन्न २ क्षेत्रों का अनुभव होना चाहिए। यह क्षेत्र किस प्रकार का है? यहाँ जाने से राग-द्वेष तो नहीं पैदा होगा? इस क्षेत्र में कैसे द्रव्यों का उपयोग करना चाहिए? भिक्षावृत्ति के लिए कौनसा क्षेत्र या कुल योग्य है? इत्यादि रूप से भिन्न २ क्षेत्रों का अनुभव भी अनगार के लिए आवश्यक है।

क्षणज्ञः—साधु को अवसर का ज्ञाता होना चाहिए। इस समय अमुक काम करने का अवसर है कि नहीं यह जानना चाहिए। भिक्षा के लिए जाने का कौनसा उपयोगी अवसर है? इसका अवश्य ज्ञान होना चाहिए। क्योंकि अगर यह ज्ञान न हो तो समय के पूर्व या पश्चात् जाने से आहारादि की प्राप्ति न हो तो चित्त में ग्लानि और असमाधि उत्पन्न हो सकती है अतएव अवसर को पहचानकर कालानुसार क्रिया करनी चाहिए। "काले कालं समायरे" अर्थात् नियत समय पर और योग्य अवसर पर किया हुआ कार्य सुखावह होता है अतः अवसर को पहचानने की कला अवश्य होनी चाहिए।

विनयज्ञः—ज्ञान, दर्शन और चारित्र को विनय कहते हैं। इस प्रकार के विनय के स्वरूप को जानने वाला होना चाहिए। ज्ञान, दर्शन और चारित्र के स्वरूप को समझ कर उनकी सम्यग् आराधना करने वाला विनयज्ञ कहलाता है।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

स्वसमयपरसमयज्ञः—श्रमण के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने धर्म के सिद्धान्तों, शास्त्रों और ग्रन्थों का अध्ययन कर ज्ञान प्राप्त करे और दूसरों के धर्म के सिद्धान्तों का भी ज्ञान प्राप्त करे। स्वसमय और परसमय को जाने बिना सम्पूर्ण विवेक नहीं हो सकता है। अतः साधुओं को अपने और दूसरों के सिद्धान्तों का ज्ञान होना चाहिए। ताकि अवसर आने पर प्रश्न का योग्य समाधान करने की योग्यता प्राप्त हो। जैसे कि ग्रीष्मऋतु के मध्याह्न समय में घूमते हुए और पसीने से तरबतर और मलिन वस्त्र वाले साधु से कोई अनजान पूछता है कि क्या आपके मतमें सर्वजनाचीर्ण स्नान का विधान नहीं है? ऐसा पूछने पर स्वसमय परसमय को जानने वाला साधु झट उत्तर दे सकता है कि प्रायः करके सर्वत्र यतियों के लिए स्नान वर्जित है क्योंकि यह काम को पैदा करने वाला है। अतः शान्त-दान्त श्रमण स्नान नहीं करते हैं। इस प्रकार उभय दर्शनों का ज्ञान होने से योग्य उत्तर देने की योग्यता प्राप्त होती है इसलिए स्वदर्शन और परदर्शन के सिद्धान्तों का ज्ञान करना श्रमण साधु के लिए आवश्यक है।

भावज्ञः—साधु को इतना निपुण और व्यवहार कुशल होना चाहिए कि वह व्यक्ति की चेष्टा, हाव-भाव और अंग-संचालन द्वारा उसके चित्त में रहे हुए आशय को समझ सके। प्रायः करके शरीर की चेष्टाएँ मन के अन्तर्गत भावों को व्यक्त कर देती हैं उन्हें चतुर पुरुष समझ लेते हैं। साधु के लिए यह बात आवश्यक है कि वह दूसरों के अभिप्राय को बाह्य चेष्टाओं से जान सके कि इसके भाव किस तरह के हैं।

परिग्रहं अममायमाणेः—साधु किसी प्रकार के परिग्रह पर अपनी ममता नहीं रखता है। उसे अपने शरीर से भी ममता नहीं होती तो अन्य पदार्थों से क्या ममता होनी चाहिए? साधु संयम के निर्वाह के लिए वस्त्र-पात्रादि उपकरण रखते हैं परन्तु उन पर ममता नहीं रखते हैं इसलिए वह परिग्रह नहीं कहलाता क्योंकि आगम में मूर्छा को परिग्रह कहा गया है। अतः संयम के उपयोगी उपकरणों को रखते हुए भी साधु अपरिग्रही हैं। संयम के लिए आवश्यक उपकरणों के अतिरिक्त किसी भी प्रकार के परिग्रह को साधु स्वीकार नहीं करते हैं और मन से भी उसको स्वीकार करने की भावना नहीं रखते हैं।

कालानुष्ठायीः—श्रमण समय समय पर सभी क्रियाएँ करता है। जिस काल में जो क्रिया करनी होती है उसको उसी समय करना मुनि-धर्म है। यह शंका होती है कि 'कालज्ञे' इस विशेषण से ही 'कालानुष्ठायी' का अर्थ निकल जाता है तो यह विशेषण अलग क्यों दिया गया? इस शंका का समाधान यह है कि "कालज्ञे" में तो समय को जानने वाला ऐसा ज्ञपरिज्ञा रूप कथन किया गया है और 'कालानुष्ठायी' इस विशेषण से क्रिया करने वाला ऐसा आसेवन परिज्ञा का कथन किया है। अर्थात् योग्य समय पर योग्य क्रिया करना यह मुनि का कर्त्तव्य है।

अप्रतिज्ञः—साधु का यह धर्म है कि वह किसी प्रकार की प्रतिज्ञा (निदान) न करे क्योंकि प्रायः करके निदान कषायों के उदय से हुआ करता है। जैसे क्रोध के उदय से स्कन्दाचार्य ने अपने शिष्य को यन्त्र (घाणी) में पीलने के कारण सेना, वाहन, राजधानी सहित पुरोहित को नष्ट करने की प्रतिज्ञा की। मान के उदय से बाहुबलि ने प्रतिज्ञा की कि यद्यपि मेरे छोटे भाई केवलज्ञानी हैं और मैं छद्मस्थ हूँ तो भी मैं छोटे भाइयों को कैसे नमस्कार करूँ? अतः जब तक मुझे केवल-ज्ञान न हो जाय वहाँ तक मैं उनके पास नहीं जाऊँगा। इसी तरह माया का उदय होने से मल्लिनाथ स्वामी के जीव ने पूर्वभव में दूसरे साधुओं से कपट करके स्वयं उपवास आदि की प्रतिज्ञा की। लोभ के उदय से कितने ही प्राणी परमार्थ

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

को नहीं जानते हुए केवल स्वार्थ के लिए मासक्षपणादि करते हैं और उसके फल में निदान करते हैं परन्तु यह निदान समस्त क्रिया के फल को नष्ट कर देता है। इससे आत्मिक लाभ नहीं होता है अतः विवेक-सम्पन्न आत्महिताभिलाषी मुमुक्षु का कर्त्तव्य है कि वह किसी प्रकार का निदान न करे। निदान करना चिन्तामणि रत्न के समान धर्मक्रिया को कांच के टुकड़े के समान सांसारिक सुख के मोल बेच देना है। सच्चा साधु कदापि निदान नहीं करता है। अथवा आहारादि के लिए गृहस्थों के घरों में प्रविष्ट होने पर यह प्रतिज्ञा न करे कि यह चीज़ तो मैं ही लूँगा। मुझे ऐसा ही आहार मिलना चाहिए ऐसी प्रतिज्ञा न करें।

शंका होती है कि शास्त्रों में विविध अभिग्रहों का प्रतिपादन किया गया है। वे भी प्रतिज्ञा रूप ही हैं इससे पूर्वापर विरोध आता है? इसका समाधान यह है कि ऐसी प्रतिज्ञा नहीं करनी चाहिए जो राग या द्वेष मूलक हो। राग-द्वेष वाली प्रतिज्ञा करने का निषेध किया गया है। अभिग्रहों में राग-द्वेष नहीं है अतः इसमें कोई आपत्ति नहीं है।

अथवा अप्रतिज्ञ शब्द का ऐसा भी अर्थ होता है कि जिनेन्द्र प्रभु का प्रवचन स्याद्वादमय है अतः कदापि एक पक्षीय निश्चयात्मक प्रतिज्ञा नहीं करनी चाहिए। "यह ऐसा ही है" ऐसा कहना ठीक नहीं है। जैसा कि मैथुन विषय को छोड़कर किसी भी स्थान पर कोई भी नियम वाली एकान्त रूप प्रतिज्ञा नहीं करनी चाहिए क्योंकि कहा है कि:—

न य किंचि अणुण्णायं, पडिसिद्धं वावि जिणवरिंदेहिं।
मोत्तुं मेहुणभावं न तं विणा रागदोसेहिं॥

अर्थात्—जिनेश्वर देव ने साधुओं के लिए एकान्तरूप से न तो किसी कर्त्तव्य का विधान किया है और न किसी प्रकार का एकान्त निषेध ही किया है। केवल स्त्रीसंग (मैथुन) राग-भाव के बिना नहीं हो सकता अतएव स्त्रीसंग का एकान्त रूप से निषेध किया है। तीर्थङ्करों की यह आज्ञा निश्चय और व्यवहार उभयनयाश्रित होने से सम्यग् रूप से आराधन करने योग्य है। इसका आशय यह है कि जिन जिन कार्यों से ज्ञान-दर्शन और चारित्र की वृद्धि हो ऐसे कार्य करने चाहिए। सत्य और सद्भाव का अवलम्बन लेकर कार्याकार्य का विचार करना चाहिए। कपट का आश्रय लेकर कोई क्रिया नहीं करनी चाहिए। वस्तुतः ज्ञानदर्शनचारित्ररूप तात्त्विक ज्ञानके आलम्बन से ही मोक्ष प्राप्त होता है। बाह्य अनुष्ठान (क्रिया) अनैकान्तिक और अनात्यन्तिक हैं। अर्थात् बाह्य क्रियाएँ कदापि एकरूप और सदा हितकारी नहीं हो सकतीं। क्योंकि ऐसे प्रसंग उपस्थित होते हैं जिनमें कार्य, अकार्य हो जाते हैं और अकार्य, कार्य हो जाते हैं। इसलिए जिस जिस तरह से संयम-धर्म की वृद्धि हो वैसे वैसे कार्य करने चाहिए। कपट पूर्वक शक्ति का गोपन नहीं करना चाहिए। बृहद्भाष्यकार ने कहा है कि:—

कज्जं नाणादीयं सच्चं पुण होइ संजमो णियमा।
जह जह सोहेइ चरणं तह तह कायव्वं होइ॥

अर्थात्—ज्ञानादि कार्य सत्य हैं और जो सत्य है वह संयम है। अतएव जैसे जैसे चारित्र निर्मल रहे वैसे वैसे कार्य करने चाहिए। और भी कहा है—

दोसा जेण निरुज्झंति जेण जिज्झंति पुव्वकम्माइं।
सो सो मुक्खोवाओ रोगावत्थासु समणं व॥

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

जिन कार्यों के करने से रागादि दोषों का निरोध होता हैं और पूर्व संचित कर्मों का क्षय होता है वे सभी अनुष्ठान मोक्ष के उपाय हैं। जिस प्रकार ज्वरादि रोगों में उचित औषधि लेने और अपथ्य का त्याग करने से रोगों की शान्ति होती है इसी प्रकार उत्सर्ग में उत्सर्ग और अपवाद मार्ग में अपवाद का आचरण करने से रागादि दोषों का निरुन्धन और पूर्वसंचित कर्मों का क्षय होता है। अतः उत्सर्ग के स्थान में उत्सर्ग और अपवाद के स्थान में अपवाद का सेवन करना चाहिए।

दूसरी बात यह है कि एक औषधि किसी विशेष रोग में हितकर होती है तो ग्राह्य है और वही औषधि किसी रोग में हानिकर होने से अग्राह्य भी हो जाती है उसी प्रकार साधु के अनुष्ठानों (क्रियाओं) में भी समझना चाहिए। अर्थात् समर्थ साधु के लिए कोई बात कल्पनीय है तो वही बात असमर्थ के लिए अकल्पनीय है। वैद्यक शास्त्र का मन्तव्य है कि:—

उत्पद्यते हि साऽवस्था देशकालामयान् प्रति।
यस्यामकार्यं कार्यं स्यात् कर्मकार्यं च वर्जयेत्॥

अर्थात्—भिन्न-भिन्न काल, क्षेत्र और भिन्न २ रोगों के कारण ऐसी अवस्था प्राप्त होती है जिसमें अकार्य तो करने पड़ते हैं और कार्यों को छोड़ना पड़ता है। तात्पर्य यह है कि कुशलवैद्य काल, क्षेत्र और रोग के प्रकार को देखकर औषधि और पथ्य का विधान करता है उसी प्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को देखकर और विचार कर साधुओं को अनुष्ठान करना चाहिए।

आशय यह है कि राग-द्वेष रहित होकर ऐसे ऐसे अनुष्ठान करने चाहिए जिनसे ज्ञान, दर्शन और चारित्र की वृद्धि हो।

वत्थं, पडिग्गहं, कम्बलं, पायपुंछणं, उग्गहणं च कडासणं एएसु चेव जाणिज्जा।

संस्कृतच्छाया—*वस्त्रं, पतद्ग्रहं, कम्बलं, पादपुंछनकम्, अवग्रहं, कटासनमेतेषु चैव जानीयात्।*

शब्दार्थ—**वत्थं=वस्त्र। पडिग्गहं=पात्र। कम्बलं=कम्बल। पायपुञ्छणं=रजोहरण। उग्गहणं=स्थानक। कडासणं=शय्या और आसन की। एएसु=इन गृहस्थों के पास से। चेव=ही। जाणिज्जा=विवेक पूर्वक याचना करे।**

भावार्थ—अपने लिए सन्निधि और सन्निचय करने वाले गृहस्थों से ही साधु संयम के लिए उपयोगी वस्त्र, पात्र, कम्बल, स्थान, शय्या और आसन की विवेक-पूर्वक याचना करे।

विवेचन—सर्व प्रथम आवश्यक आहार का वर्णन कर चुकने पर सूत्रकार अब अन्य उपयोगी वस्तुओं के लिए फरमाते हैं कि वस्त्र, पात्र, कम्बल, रजोहरण, स्थानक, शय्या और आसन ये भी गृहस्थों से ही विवेकपूर्वक प्राप्त करने चाहिए। अवग्रह शब्द का अर्थ है—आज्ञा लेकर उस स्थान में रहना।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

अवग्रह पांच बताये गये हैं—(१) देवेन्द्र का अवग्रह (२) राजा का अवग्रह (३) गृहपति का अवग्रह (४) शय्यान्तर का अवग्रह और (५) साधर्मिक का अवग्रह ।

तात्पर्य इतना है कि संयम-पालन के समस्त आवश्यक साधन साधु गृहस्थों के पास से प्राप्त करे। परन्तु पूर्ण ध्यान रखे कि यह याचना अत्यन्त विवेकपूर्ण हो। सूत्रकार "जाणिज्जा" (परिच्छेद करे) पद देकर यह सूचित करते हैं कि सब प्रकार से शुद्ध हो तो ही वह पदार्थ ग्राह्य है अन्यथा उसका त्याग कर देना चाहिए। इस तरह साधु सभी दोषों से मुक्त रहकर निर्दोष रीति से संयम के साधनों को ग्रहण करे।

लद्धे आहारे अणगारो मायं जाणिज्जा, से जहेयं भगवया पवेइयं, लाभुत्ति न मज्जिज्जा, अलाभुत्ति न सोइज्जा, बहुंपि लद्धुं न निहे परिग्गहाओ अप्पाणं अवसक्किज्जा अण्णहा णं पासए परिहरिज्जा ।

संस्कृतच्छाया—*लब्धे आहारे, अनगारो मात्रां जानीयात्, तद् यथेदं भगवता प्रवेदितं लाभ इति न माद्येत, अलाभः इति न शोचयेत्, बहुपि लब्ध्वा न निदध्यात्, परिग्रहादात्मानमपष्वष्केद् अन्यथा पश्यकः परिहरेत् ।*

शब्दार्थ—लद्धे आहारे=आहार के प्राप्त होने पर । अणगारो=साधु । मायं=मात्रा-प्रमाण को । जाणिज्जा=जाने । से जहेयं=जैसा कि । भगवया=भगवान् ने । पवेइयं=कहा है। लाभुत्ति=प्राप्ति होने पर। न मज्जिज्जा=अभिमान न करे। अलाभुत्ति=नहीं मिलने पर। न सोइज्जा=शोक न करे। बहुंपि लद्धुं=अधिक प्राप्त होने पर । न निहे=संग्रह न करे । परिग्गहाओ=परिग्रह से । अप्पाणं=अपनी आत्मा को । अवसक्किज्जा=दूर रक्खे । अण्णहा=गृहस्थों से भिन्न रूप से। पासए=देखता हुआ । परिहरिज्जा=ममत्व का त्याग करे ।

भावार्थ—आहारादि की प्राप्ति के समय साधु को आवश्यक मात्रा (प्रमाण) का ज्ञान होना चाहिए अर्थात् मर्यादित आहार ही लेना चाहिए ऐसा भगवान् ने फरमाया है । तथा साधु का यह कर्त्तव्य है कि आहारादि की प्राप्ति होने पर इस प्रकार अभिमान न करे कि 'मैं कैसा लब्धि वाला हूँ' तथा आहारादि न मिलने पर ऐसा शोक न करे कि 'मैं कैसा अभागा हूँ' । अधिक पदार्थ मिलने पर संग्रह नहीं करे और अपने आपको परिग्रह से बचावे तथा धर्मोपकरणों को भी परिग्रह रूप नहीं देखकर मात्र साधन समझ कर उनपर भी ममत्व भाव नहीं रखना चाहिए ।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में मर्यादित आहारादि लेने का तथा अभिमान और परिग्रह से मुक्त रहने का उपदेश दिया गया है। सच्चे साधु का यह कर्त्तव्य है कि आहारादि ग्रहण करते समय यह सोचे कि मेरे आहारादि ग्रहण करने से गृहस्थ को किसी प्रकार की बाधा तो न होगी और उसे नया आरम्भ-समारम्भ तो न करना पड़ेगा। इस प्रकार विचार कर साधु को गृहस्थ के पास से परिमित आहार ग्रहण करना चाहिए

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

ताकि गृहस्थ को किसी प्रकार बाधा न हो और नया आरम्भ न करना पड़े। भिक्षुसाधक का जीवन इतना विशुद्ध और पवित्र होता है कि वह किसी को भाररूप नहीं होता और किसी को तकलीफ हो ऐसी प्रवृत्ति वह नहीं करता इसलिए ऐश्वर्यादि गुण-समन्वित श्रमण भगवान् ने अपने श्रीमुख से यह फरमाया है कि अनगार को मात्रा का ज्ञान होना चाहिए।

आहारादिक की प्राप्ति के समय दो महान् दोषों की उत्पत्ति की सम्भावना रहती है। वे दो महा-दोष हैं-अभिमान और परिग्रह। आहारादि पदार्थों के मिलने पर साधु को यह अभिमान हो सकता है कि "अहो! मैं कैसा लब्धि सम्पन्न हूँ कि मुझे ऐसा लाभ हुआ"। इस दोष का निराकरण करने के लिए सूत्रकार ने फरमाया है कि लाभ होने पर अभिमान न करे। इसी प्रकार लाभ न होने पर यों खेद भी नहीं करना चाहिए कि "मुझे धिक्कार है, मैं अभागा हूँ कि मुझे प्राप्ति नहीं होती है।" दोनों अवस्थाओं में मध्यस्थ वृत्ति रखते हुए विचारना चाहिए कि—

लभ्यते लभ्यते साधु, साधु एव न लभ्यते।
अलब्धे तपसो वृद्धिर्लब्धे तु प्राणधारणम्॥

अर्थात्—मिले तो भी अच्छा, नहीं मिले तो भी अच्छा। नहीं मिलने पर तपश्चर्या का प्रसंग प्राप्त होता है और मिलता है तो प्राणधारण होता है। उभय अवस्था में समभाव रखना साधु का कर्त्तव्य है। इसी में संयम की साधना है।

परिग्रहवृत्ति का निषेध करते हुए शास्त्रकार फरमाते हैं कि बहुत मिल सकने का अवसर आने पर भी साधु संग्रह न करे। अल्प और बहुत किसी भी तरह का संग्रह करना अनगार-धर्म के विरुद्ध है। जहाँ संग्रहवृत्ति है वहाँ अनगारत्व टिक नहीं सकता अतएव अणुमात्र भी संग्रह नहीं करना चाहिए। यहाँ आहार शब्द उपलक्षण है इससे यह अर्थ निकलता है कि अन्य भी वस्त्र, पात्रादि पदार्थों का भी संग्रह न करे और परिग्रह से अपनी आत्मा को दूर रक्खे। अन्य पदार्थों की बात तो दूर रही परन्तु धर्मोपकरणों पर भी यदि ममता है तो वह भी परिग्रह है क्योंकि शास्त्रों में मूर्छा को परिग्रह कहा गया है अतएव धर्मोप-करणों को भी मात्र उपकरण समझे और उन पर ममता न रक्खे।

शंका—शंका होती है उपकरण मात्र परिग्रह है तो धर्मोपकरण परिग्रह क्यों नहीं है? क्योंकि यह परिग्रह भी चित्त की मलिनता के बिना नहीं होता है। जैसे कि अपने पर उपकार करने वाले पर रागभाव होता है और उपघात करने वाले पर द्वेष भी होता है। इस तरह परिग्रह मात्र से राग-द्वेष नजदीक आते हैं और इससे कर्मबन्धन होता है। इससे धर्मोपकरण परिग्रह नहीं है यह कैसे माना जाय?

उत्तर—इस प्रकार की शंका योग्य नहीं है क्योंकि वस्तु के सद्भाव मात्र से उस पर राग-द्वेष नहीं हो सकता है। धर्मोपकरणों के रखने पर भी साधुओं का उन पर ममत्व नहीं होता है। जहाँ तक ममता नहीं है वहाँ तक परिग्रह नहीं है क्योंकि ममता ही परिग्रह है। अगर ऐसा न माना जाय तो शरीर को भी परिग्रह मानना पड़ेगा तो शरीर के रहने तक कोई अपरिग्रही नहीं हो सकेगा। अतः यह मानना चाहिए कि ममता ही परिग्रह है। वस्तुओं का सद्भाव परिग्रह नहीं है। साधुओं को धर्मोपकरणों पर "यह मेरा यह मेरा" इस प्रकार का आग्रह नहीं होता। यहाँ तक कहा है कि—

अवि अप्पणोऽवि देहम्मि नायरंति ममाइयं।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

साधु-जन अपने शरीर तक में ममत्व नहीं रखते हैं अतः ममत्वाभाव के कारण धर्मोपकरण परिग्रह रूप नहीं है। जो कर्मबन्धन का कारण है वही परिग्रह है और जो कर्म-निर्जरा के साधन हैं वह परिग्रह हो ही नहीं सकता। गृहस्थ लोग जिस प्रकार अपने साधनों में ममता रखते हैं उस प्रकार अनगार अपने धर्म-साधनों में ममता नहीं रखते हैं इसीलिए सूत्रकार ने कहा है कि साधु धर्म-साधनों को अन्यथा समझे अर्थात् उन्हें अपने नहीं मानकर आचार्य के मानें। राग-द्वेष मूलक परिग्रह का निषेध किया गया है, धर्मोपकरणों का नहीं। क्योंकि धर्मोपकरणों के बिना मोक्ष रूप महाकार्य सिद्ध नहीं हो सकता। बड़े कार्यों के लिए साधनों की आवश्यकता होती है। कहा भी है—

साध्यं यथा कथञ्चित् स्वल्पं कार्यं महच्च न तथेति।
प्लवनमते न हि शक्यं परिगन्तुं समुद्रस्य ॥

अर्थात्—छोटे कार्य तो जैसे तैसे साध्य हो जाते हैं परन्तु बड़े कार्य ऐसे ही सिद्ध नहीं होते हैं। जैसे छोटे-मोटे पल्वल (पानी का छोटा गर्त्त) को कूदकर पार कर सकते हैं परन्तु समुद्र को पार करने के लिए तो नाव की आवश्यकता होती है। नाव के बिना समुद्र नहीं तैरा जा सकता है उसी प्रकार मोक्ष-सिद्धि के लिए धर्मोपकरणों की आवश्यकता होती है। अतएव धर्मोपकरणों को रखते हुए भी ममत्व के अभाव से साधु परिग्रही नहीं कहे जाते हैं। जहाँ ममता आ जाती है वहीं परिग्रह भी आ जाता है अतः ममता के चक्र से सदा सावधान रहना चाहिए।

एस मग्गे आरिएहिं पवेइए जहित्थ कुसले नोवलिंपिज्जासि त्ति बेमि।

संस्कृतच्छाया—*एष मार्गः आर्यैः प्रवेदितः, यथात्र कुशलः नोपलिम्पयेत् इति ब्रवीमि।*

शब्दार्थ—एस=यह। मग्गे=मार्ग। आरिएहिं=तीर्थङ्करों द्वारा। पवेइए=प्ररूपित किया गया है। जहित्थ=इसमें प्रवृत्ति करने वाला। कुसले=कुशल व्यक्ति। नोवलिंपिज्जासि=कर्मबन्धन में नहीं बँधता है। त्ति बेमि=ऐसा कहता हूँ।

भावार्थ—यह मार्ग तीर्थंकरों ने बताया है। इसमें प्रवृत्ति करने वाला कुशल व्यक्ति कर्म बन्धनों में नहीं बँधता है।

विवेचन—उपर्युक्त अहंता और ममता कर्म-बन्धन के प्रधान कारण हैं। जिसने इनका त्याग कर दिया है वह बन्धनों में नहीं बँध सकता है। जिनेन्द्र प्रभु के शासन में अहंता और ममता का बहिष्कार किया जाता है। धर्मवर-चक्रवर्ती जिनेन्द्र देव की यह उद्घोषणा है कि मेरे शासन में चलने वालों को अहंकार और ममत्व का बहिष्कार करना पड़ेगा। जो उस घोषणा के अनुसार प्रवृत्ति करता है वह सुखशान्ति प्राप्ति करता है। जो आज्ञा का भंग करता है वह बेड़ियों से जकड़ा जाता है उसी तरह जो ममता और अहंता को आश्रय देते हैं वे कर्म-बन्धनों से जकड़े जाते हैं। अतः सुख-शान्ति के इच्छुक अनगार का यह कर्त्तव्य है कि तीर्थंकरों के द्वारा प्ररूपित इस मार्ग में प्रवृत्ति करे ताकि कर्म-बन्धनों से लिप्त न हो। कर्मभूमि, मोक्ष रूपी वृक्ष के लिए बीज के समान सम्यक्त्व और संवररूप चारित्र को प्राप्त करके ऐसी प्रवृत्ति करनी चाहिए ताकि कर्मबन्धन न हो। यथोक्त अनुष्ठान करने पर कदापि बन्धन नहीं होता है।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

बन्धन तभी होता है जब यथोक्त अनुष्ठान में त्रुटि रह जाती है। अतएव जिन व्रतों को अङ्गीकार किया है उन्हें उसी तरह आजीवन पालते रहना चाहिए। क्योंकि जो मनस्वी पुरुष होते हैं वे प्राण त्याग देते हैं परन्तु अङ्गीकृत व्रतों का भंग नहीं करते हैं। अतः अप्रमत्त भाव से जिनेन्द्र प्ररूपित मार्ग में प्रवृत्ति करते रहना चाहिए।

श्री सुधर्मा स्वामी अपने अन्तेवासी जम्बू स्वामी से कहते हैं कि हे प्रिय जम्बू ! मैंने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के पादारविन्द की सेवा करते हुए उनके श्रीमुख से जो सुना है सो तुझे कहता हूँ। अपनी बुद्धि से नहीं। यह कहकर श्री सुधर्मा स्वामी अपनी लघुता और उपर्युक्त कथन की गुरुता प्रकट करते हैं।

कामा दुरतिक्कमा, जीवियं दुप्पडिवूहगं, कामकामी खलु अयं पुरिसे, से सोयइ, जूरइ, तिप्पइ, परितप्पइ।

संस्कृतच्छाया—*कामा दुरतिक्रमाः, जीवितं दुष्प्रतिबृंहणीयं, कामकामी खल्वयं पुरुषः। स शोचते खिद्यते, तेपते, परितप्यते।*

शब्दार्थ—कामा=कामभोग। दुरतिक्कमा=छोड़ना अति विकट है। जीवियं=जीवन। दुप्पडिवूहगं=नहीं बढ़ाया जा सकता। कामकामी=विषयों का लोलुपी। अयं से पुरिसे=यह पुरुष। सोयइ=शोक करता है। जूरइ=विलाप करता है। तिप्पइ=लज्जा छोड़ देता है। परितप्पइ=पीड़ा पाता है।

भावार्थ—हे जम्बू ! विषयवासना का त्याग करना अति विकट काम है और जीवन का एक क्षण भी बढ़ नहीं सकता है (इसलिए सतत सावधान रहना चाहिए) जो पुरुष विषय भोगों का अभिलाषी होता है वह विषयों के चले जानेपर अत्यन्त शोक करता है, विलाप करता है, लज्जा और मर्यादा को छोड़ देता है और अत्यन्त पीड़ा का अनुभव करता है।

विवेचन—पूर्व सूत्र में परिग्रह का त्याग करने का उपदेश दिया गया है। जबतक कामभोगों की अभिलाषा बनी रहती है वहाँ तक परिग्रह का त्याग तो संभव ही नहीं है वरन् परिग्रह बढ़ता ही जाता है अतः इससूत्र में कामवासना को त्यागने का उपदेश दिया गया है और कामी पुरुष की दुखमय दशा का चित्र चित्रित किया गया है। वस्तुतः विषय भोगों का त्याग करना बच्चों का खेल नहीं है। यह अत्यन्त विकट काम है। त्यागमार्ग बड़ा विषम है। कहा है—

आगासे गंगसोउव्व पडिसोउव्व दुत्तरो।
बाहाहिं चेव गंभीरो तरिअव्वो महोअही॥
बालुगाकवलो चेव निरासाए हु संजमो।
जवा लोहमया चेव चावेयव्वा सुदुक्करं॥

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

जिस प्रकार आकाश-गंगा के प्रवाह के विरुद्ध तैरना कठिन है, समुद्र को अपनी भुजाओं से पार करना दुष्कर है, बालुका के निस्वाद ग्रासों को गले उतारना मुश्किल है और लोहे के जौ को चबाना कठिन है उसी प्रकार त्यागमार्ग भी अति दुसाध्य है।

काम दो प्रकार के हैं:—(१) इच्छाकाम और (२) मदनकाम। इच्छाकाम मोहनीय कर्म के हास्य रति आदि के कारण उत्पन्न होता है और मदनकाम भी मोहनीय के भेद-वेदों के उदय से प्रकट होता है। जबतक मोह का सद्भाव है तब तक दोनों प्रकार के कामों का उच्छेद अत्यन्त कठिन है। इसलिए मोह का त्याग करने के लिए जागृत होकर प्रयत्न करना चाहिए। ज्यों ज्यों मोह बढ़ता है त्यों त्यों भोगों और विषयों का त्याग दुष्कर होता जाता है। इसलिए मुमुक्षु प्राणी को मोह के त्याग में अल्पमात्र भी प्रमाद नहीं करना चाहिए क्योंकि काल अविरल गति से बीतता रहता है। आयुष्य अत्यन्त अल्प है। करोड़ों इन्द्रों की यह शक्ति नहीं कि आयुष्य के एक समय (क्षण) को भी बढ़ा सके। अतः हमेशा अपने आपको काल के मुख में पड़ा हुआ समझ कर धर्म का आचरण करना चाहिए। अल्पमात्र भी प्रमाद अत्यन्त भयङ्कर होता है।

कामी पुरुष कामभोगों में अत्यन्त आसक्त होता है। ये विषय-भोग अल्प काल तक ठहर कर अवश्य चले जाते हैं। जब विषयों का वियोग होता है तब वह विषयान्ध प्राणी अत्यन्त शोक करता है, विलाप करता है, अपनी मर्यादा और लज्जा को छोड़ देता है और पश्चात्ताप करता हुआ अत्यन्त पीड़ा प्राप्त करता है। अतः विवेकी प्राणियों को सोचना चाहिए कि चिरकाल तक ठहर कर भी आगे पीछे ये विषय भोग छोड़कर जाने वाले हैं, या वह स्वयं जरा और मृत्यु से गृहीत होकर इन विषयों को छोड़ने के लिए बाध्य होगा तो स्वेच्छा पूर्वक ही इनका त्याग क्यों न किया जाय ताकि मानसिक, शारीरिक और आत्मिक शान्ति का अनुभव हो सके। पराधीन होकर त्यागने से हृदयदाही संताप होता है अतः स्वेच्छा से इनका त्याग करना श्रेयस्कर है। प्राणी यौवन, धन और तन के मोह और मद से मतवाले होकर विषयों का सेवन करते हैं और जरा और मृत्यु के उपस्थित होने पर, भोगों का वियोग हो जाने से उनकी स्मृति से अत्यन्त पश्चात्ताप करते हैं परन्तु जब "चिड़ियों ने चुग खेत लिया तो पछताये क्या होता है?" अतः विवेकी पुरुषों का यह कर्त्तव्य है कि पानी के जाने के पहिले पाल बाँध लेवे। पानी के चले जाने पर पाल बांधने का कोई अर्थ नहीं होता अतः समय पर सावधान रहकर धर्म क्रिया करनी चाहिए। विषयान्ध होकर बिना विचारे किये हुए कामों का परिणाम बड़ा भयंकर और हृदयदाही होता है। कहा है कि—

सगुणमपगुणं वा कुर्वता कार्यजातं,
परिणतिरवधार्या यत्नतः पण्डितेन।
अतिरभसकृतानां कर्मणामाविपत्ते,
भवति हृदयदाही शल्यतुल्यो विपाकः॥

अर्थात्—बुद्धिमान का यह कर्त्तव्य है कि अच्छा या बुरा काम करने के पहिले उसके परिणाम को पूरी तरह विचार ले क्योंकि बिना विचारे किये हुए कार्यों का फल कांटे के समान हृदय को जलाने वाला होता है। अतएव सतत जागृत रहकर कामभोगों से विरक्त होना चाहिए तभी शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक शान्ति की अनुभूति हो सकती है।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

आययचक्खू लोगविपस्सी लोगस्स अहोभागं जाणइ, उड्ढं भागं जाणइ, तिरियं भागं जाणइ। गड्ढिए लोए अणुपरियट्टमाणे संधिं विदित्ता इह मच्चिएहिं एस वीरे पसंसिए जे बद्धे पडिमोयए।

संस्कृतच्छाया—*आयतचक्षुः लोकविदर्शी लोकस्याधो भागं जानाति ऊर्ध्वं भागं जानाति तिर्यग्भागं जानाति। गृद्धः लोकोऽनुपरिवर्त्तमानः सन्धिं विदित्वा इह मर्त्येषु, एष वीरः प्रशंसितः यो बद्धान् प्रतिमोचयति।*

शब्दार्थ—आययचक्खू=दीर्घदर्शी। लोगविपस्सी=संसार की विचित्रता को जानने वाला। लोगस्स=लोक के। अहोभागं=नीचे के भाग को। जाणइ=जानता है। उड्ढं भागं=ऊर्ध्व भाग को। जाणइ=जानता है। तिरियं भागं जाणइ=तिरछे भाग को जानता है। गड्ढिए=विषयों में आसक्त। लोए=जीव। अणुपरियट्टमाणे=बार-बार संसार में परिभ्रमण करते हैं। इह मच्चिएहिं=इस मनुष्य-जीवन में। संधिं=सुयोग्य अवसर को। विइत्ता=जानकर विषयों से दूर रहता है। एस वीरे=वही शूरवीर। पसंसिए=प्रशंसनीय है। जे बद्धे=जो संसार के बन्धनों में बँधे हुए को। पडिमोयए=मुक्त करता है।

भावार्थ—जो दीर्घदर्शी और संसार के विचित्र स्वरूप को जानने वाले हैं वे लोक के नीचे, ऊँचे और तिरछे भाग को जानते हैं। (अर्थात्- जीव इन भागों में किन २ कारणोंसे उत्पन्न होते हैं यह बात जान सकते हैं) विषयों में आसक्त बने हुए प्राणी बारम्बार संसार में परिभ्रमण करते रहते हैं। इसलिए मनुष्य-जीवन सरीखा स्वर्ण अवसर प्राप्त कर जो विषयों से दूर रहते हैं वे ही शूरवीर प्रशंसा के पात्र हैं और ऐसे ही पुरुष संसार के बन्धनों में जकडे हुए अन्य जीवों को भी बाह्य और आभ्यन्तर बन्धनों से मुक्त कर सकते हैं।

विवेचन—इस सूत्र में सूक्ष्म अवलोकन बुद्धि का सूचन किया गया है। जो प्राणी दीर्घदर्शी होता है वह ऐहिक और पारलौकिक लाभ और हानि को जान सकता है। सूक्ष्मदर्शी प्राणी मात्र वर्तमान को ही नहीं देखता है लेकिन भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों काल का विचार करता है। दीर्घदर्शी प्राणी यह समझता है कि कामभोग इस लोक और परलोक दोनों जगह दुख देने वाले हैं और जो इसका त्याग करता है वह उभयत्र शान्ति-सुख का अनुभव करता है। वह दीर्घदर्शी प्राणी लोक के स्वरूप को भी भलीभाँति जानता है। संसार की विविधता और विचित्रता का वह ज्ञाता होता है। संसार में एक ही पदार्थ किसी व्यक्ति को इष्ट लगता है वही दूसरे को अनिष्ट मालूम होता है। एक को जो मित्र मालूम होता है वही दूसरे को दुश्मन प्रतीत होता है। एक जगह हर्ष के बाजे बजते हैं और दूसरी जगह रुदन की करुण चीत्कार है। ये सब संसार की विचित्रताएँ हैं। दीर्घदर्शी प्राणी इन सभी विचित्रताओं के रहस्यों का ज्ञाता होता है। वह जानता है कि क्यों प्राणी दुखी होते हैं? क्यों सुखी होते हैं? नीचे लोक में क्यों जन्म लेते हैं? ऊर्ध्व लोक में किन कारणों से पैदा होते हैं? तिरछे लोक में प्राणी किन कारणों से उत्पन्न होते हैं? इस

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

प्रकार लोक के स्वरूप को जानने वाला वह प्राणी यह समझ लेता है कि कामभोग दुःखों के कारण हैं और इनके त्याग में ही सुख और शान्ति छिपी हुई है। वह यह भी जानता है कि विषयासक्त प्राणी विषयों के चक्र में पड़कर पुनः पुनः संसार में परिभ्रमण करता है और उसके लिए विषयों का त्याग अत्यन्त दुष्कर बनता है अतएव उसकी भवपरम्परा बढ़ती जाती है।

जबतक अपनी स्थिति का ज्ञान नहीं होता तबतक प्रायः धर्म में प्रवृत्ति नहीं होती अतः सूत्रकार उपदेश करते हुए फरमाते हैं कि हे मनुष्यो! तुम्हें असीम पुण्योदय से चिन्तामणि रत्न के समान यह मानव-जीवन प्राप्त हुआ है। यह मानव-जीवन सौभाग्य का सबसे श्रेष्ठ वरदान है। इसी जीवन में ज्ञान, दर्शन और चारित्र का सम्पूर्ण विकास हो सकता है। यही जीवन सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ-मोक्ष-की प्राप्ति का साधन है। इसी भव में मोक्ष प्रकट हो सकता है, अन्यत्र नहीं। देवता भी जिस मानव-जन्म को प्राप्त करने के लिए तरसते हैं वह तुम्हें अनायास ही प्राप्त हो गया है। इस दुर्लभ स्वर्ण अवसर को प्राप्त करके उसे व्यर्थ ही विषय-कषायों में ही व्यतीत नहीं कर देना चाहिए। हे प्राणियों! इस मनुष्य जन्म की दुर्लभता को समझो। यह सुन्दर सुयोग बारबार नहीं मिलने वाला है। प्रबलतर पुण्यों के पुंज के पुंज जब एकत्रित होते हैं तब यह दुर्लभ जन्म प्राप्त होता है। संसार में हम अनेक जीव-योनियाँ प्रत्यक्ष देखते हैं। करोड़ों तरह की वनस्पति-रूप योनि, लाखों कीटपतंग-कीड़े मकोड़े लट आदि की योनियाँ हैं। आगे बढ़ने पर गाय, भैंस, बकरी, सिंह व्याघ्र, आदि चौपद और कबूतर, चिड़ियाँ, तोता, मैना आदि २ पक्षी असंख्य प्रतीत होते हैं। इन जीव-योनियों का तो प्रत्यक्ष अनुभव होता है परन्तु असंख्य योनियाँ ऐसी हैं जो अत्यन्त सूक्ष्म हैं। इन असंख्य योनियों में यह जीवात्मा अनन्तकाल तक रहा है। अव्यवहार राशि-गत निगोद के भव में इस जीव ने अनन्त समय गंवाया है। वहाँ नियतिवशात् जन्म-मरण की, भूख प्यास की तथा सर्दी गर्मी की वेदनाएँ सहन करते करते अनन्त कर्मों की अकामनिर्जरा हो गई। इससे जीव की शक्ति अंशतः प्रकट हुई और वह व्यवहार राशि में आया। वहाँ चिरकाल तक रहने के बाद इस जीव ने अनन्त पुद्गल-परावर्तन पूरे किये। इसके पश्चात् सूक्ष्म अवस्था से बादर अवस्था में आता है। इस अवस्था में पृथ्वी, पानी, अग्नि आदि पाँच एकेन्द्रिय स्थावरों के रूप में चिरकाल पर्यन्त रहता है। तदनन्तर अकाम निर्जरा के प्रभाव से अनन्त पुण्य वृद्धि होनेपर कहीं त्रस पर्याय की प्राप्ति होती है। इसके पश्चात् निरन्तर अनन्त अनन्त पुण्य की वृद्धि होती जाय तो त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय, व संज्ञी पंचेन्द्रिय हो पाता है। संज्ञी पंचेन्द्रिय होने पर भी नरकादि में जावे तो अनेकों व्यथाओं को दीर्घ-काल तक भोगता है। इस प्रकार भव-भ्रमण करते २ अनन्तानन्त-पुण्य का संचय होने पर कहीं मनुष्य भव प्राप्त होता है। इस प्रकार विचारने से मालूम होता है कि संसार की असंख्य योनियों से बचकर सर्वश्रेष्ठ मनुष्य-योनि का मिल जाना कितना सुन्दर सुयोग है! कितनी अधिक सौभाग्य की निशानी है!

तात्पर्य यह है कि अनन्त आत्मिक सुख की प्राप्ति के लिए मनुष्य-भव ही सर्वश्रेष्ठ साधन है। पुण्योदय से यह साधन प्राप्त हुआ है ऐसी स्थिति में इस स्वर्ण-अवसर का सदुपयोग करना चाहिए। बार-बार ऐसे अवसर प्राप्त नहीं होते। अगर अवसर चूक गये तो हाथ मसल कर पछताना पड़ेगा। एक बार अगर यह अवसर हाथ से निकल गया तो अनन्त काल तक भव-भ्रमण करके असह्य यातनाएँ सहन करनी पड़ेंगी। इस स्वर्ण अवसर के निकल जाने पर पुनः उसकी प्राप्ति कितनी सुदुर्लभ है यह समझाने के लिए शास्त्रकारों ने दस दृष्टान्तों की योजना की है। वह दृष्टान्त इस प्रकार हैं—

विप्रः प्रार्थितवान् प्रसन्नमनसः श्री ब्रह्मदत्तात् पुरा,
क्षेत्रेऽस्मिन्भरतेऽखिले प्रतिगृहं मे भोजनं दापय।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

इत्थं लब्धवरोऽथ तेष्वपि कदाप्यश्नात्यहो द्वि सचेत्,
भ्रष्टो मर्त्यभवात्तथाप्यसुकृती भूयस्तमाप्नोति न ॥

(१) अर्थात्—किसी दरिद्र ब्राह्मण पर चक्रवर्ती राजा ब्रह्मदत्त प्रसन्न हो गये। उन्होंने उसे इच्छित वरदान मांगने की स्वीकृति दे दी। ब्राह्मण ने कहा मुझे यह वरदान दीजिये कि "आपके राज्य में—सम्पूर्ण भरतक्षेत्र में- प्रतिदिन एक घर में मुझे भोजन करा दिया जाय। जब सब घरों में भोजन कर लूँगा तो दूसरी बार भोजन करना आरम्भ करूँगा।" राजा ने 'तथास्तु' कह दिया। इस प्रकार जीमते जीमते सम्पूर्ण भरत क्षेत्र के घरों में जीम चुकने पर दूसरी बार बारी आना बहुत ही कठिन है। वह सारे जीवन में एक बार भी सभी घरों में नहीं जीम पाएगा। परन्तु कदाचित् यह सम्भव हो जाय परन्तु प्राप्त मनुष्य भव को जो व्यक्ति वृथा खो देता है उसे पुनः मनुष्य-भव प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है।

(२) एक सौ आठ कोने वाले एक हजार आठ स्तम्भों को जूवे में एक भी बार बिना हारे भले ही एक सौ आठ बार जीत ले और इस प्रकार पुत्र अपने पिता से साम्राज्य प्राप्त कर ले—यह अघट घटना भले ही घट जाय पर मनुष्य-भव को एक बार वृथा खो देने वाले पुरुष को पुनः उसकी प्राप्ति कठिन है।

(३) सम्पूर्ण भरत क्षेत्र के गेहूं, जौ, मक्की, चना आदि सभी धान्यों को एक जगह इकट्ठा किया जाय और उस एकत्रित ढेर में थोड़े से सरसों के दाने डाल दिये जायं और अच्छी तरह उन्हें हिला दिया जाय। फिर एक क्षीण नेत्र ज्योति वाली वृद्धा से कहा जाय कि इस ढेर से सरसों बीन बीन करके अलग कर दे। वह वृद्धा ऐसा करने में समर्थ नहीं हो सकती। परन्तु किसी अदृष्ट दिव्य-शक्ति के द्वारा वह ऐसा करने में समर्थ भी हो जाय तो भी मनुष्य-भव पाकर उसे यों ही बिताने वाले को पुनः उसकी प्राप्ति इससे भी अधिक कठिन है।

(४) एक धनी सेठ के पास बहुत रत्न थे। एक बार वह परदेश चला गया और पीछे से उसके पुत्रों ने उसके बहुमूल्य रत्न बहुत थोड़े मूल्य में बेच डाले। रत्न खरीदने वाले वणिक् विभिन्न दिशाओं में चले गये। सेठ परदेश से लौटा और अपने पुत्रों की करतूत जानकर क्रुद्ध हुआ। उसने अपने पुत्रों को आज्ञा दी—जाओ और वे सब रत्न वापिस ले आओ। सब पुत्र घर से निकले और इधर उधर घूमने लगे। क्या वे समस्त रत्न वापिस ला सकते हैं? नहीं। देवयोग से कदाचित वे इस काम में सफलता प्राप्त कर लें परन्तु पुनः मनुष्य-भव मिलना इससे भी अधिक कठिन है।

(५) एक भिखारी को रात्रि के अन्तिम प्रहर में स्वप्न आया कि उसने पूर्णमासी का चन्द्रमा निगल लिया है। उसने अपने स्वप्न का हाल अन्य भिखारियों से कहा। भिखारियों ने स्वप्न का फल प्रकट करते हुए कहा कि तुमने पूर्ण चन्द्रमा स्वप्न में देखा है इसलिए आज तुम्हें उसी आकार का पूरा रोट भिक्षा में मिलेगा। भिखारी को सचमुच उस दिन एक रोट मिल गया। उसी रात्रि में, उसी ग्राम में एक क्षत्रिय ने भी ऐसा ही स्वप्न देखा। उसने स्वप्नशास्त्रियों के पास जाकर स्वप्न का फल पूछा। उन्होंने बताया कि तुम्हें सम्पूर्ण राज्य की प्राप्ति होगी। संयोगवश उसी दिन उस ग्राम के राजा का देहान्त हो गया। वह निस्संतान था। प्राचीन काल की प्रथा के अनुसार सूँड में फूलमाला देकर हथिनी छोड़ी गई। वह जिसके गले में माला डाल दे वही राज्य का स्वामी बनाया जाय। हथिनी फूलमाला लिए घूमती हुई उसी राजपूत के पास आई और उसके गले में माला डाल दी। परम्परानुसार वह राजा बनाया

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

गया। जब स्वप्न में पूर्णचन्द्र देखने वाले भिखारी को वह हाल मालूम हुआ तो वह सोचने लगा—जो स्वप्न राजपूत ने देखा था वही मैंने भी देखा था। उसे राज्य मिला और मुझे एक रोट। मैं अब फिर सोता हूँ और फिर पूर्णचन्द्र का स्वप्न देखकर राज्य प्राप्त करूँगा। क्या भिक्षुक फिर वह स्वप्न देखकर राज्य प्राप्त कर सकता है? बहुत ही कठिन है। पर नरभव प्राप्त कर खो देने वाले को पुनः उसकी प्राप्ति होना इससे भी कठिन है।

(६) मथुरा के राजा जितशत्रु के एक पुत्री थी। राजा ने उसका स्वयंवर किया। उसमें काठ की एक पुतली बनाई। पुतली के नीचे आठ चक्र लगाये। चक्र निरन्तर घूमते रहते थे। पुतली के नीचे तैल से भरी हुई एक कड़ाई रक्खी गई। राजा ने यह घोषणा की कि तैल में पड़ने वाली पुतली की परछाई देखकर आठ चक्रों के बीच फिरती हुई पुतली की बाईं आँख की कीकी को बाण द्वारा वेधने वाले राजकुमार को मेरी कन्या ब्याही जायगी। स्वयंवर में सम्मिलित हुए समस्त राजा और राजकुमार ऐसा करने में असमर्थ रहे। अतएव जिस प्रकार उस पुतली के वाम नेत्र की कीकी को वेधना कठिन है उसी प्रकार वृथा व्यतीत किए हुए मानव-भव को पुनः प्राप्त करना दुर्लभ है।

(७) एक बड़ा सरोवर था। उस पर काई छाई हुई थी। पर बीच में एक छोटा-सा छिद्र था जहाँ काई नहीं थी। संयोगवश एक कछुए ने अपनी गर्दन उसमें डाली और ऊपर की ओर दृष्टि फेंकी तो उसे शरद् पूर्णिमा के चन्द्रमा के दर्शन हुए। उसके लिए वह दृश्य अपूर्व था। अतः अपने कुटुम्ब के व्यक्तियों को चन्द्र दिखलाने की इच्छा से उसने पानी में डुबकी लगाई। जब वह उन्हें साथ लेकर आया तब तक छेद बन्द हो गया था। अब दूसरी बार चन्द्र-दर्शन होना अति कठिन है इससे भी ज्यादा कठिन खोये हुए नरभव को पुनः पाना है।

(८) स्वयंभू-रमण समुद्र के एक किनारे गाड़ी का एक जूआ डाल दिया जाय और एक किनारे पर उसका कीला डाल दिया जाय। दोनों समुद्र की तरंगों से इधर-उधर भटकते-भटकते मिल जाएँ और वह कीला जूए के छेद में घुस जाय। यह घटना अत्यन्त कठिन है इसी प्रकार मानव-भव की पुनः प्राप्ति होना अत्यन्त कठिन है।

(९) जिस प्रकार देवाधिष्ठित पाशों से खेलने वाले पुरुष को सामान्य पाशों से खेलकर हराना अत्यन्त कठिन है, उसी प्रकार मनुष्य-भव पाकर विशिष्ट धर्म उपार्जन न करने वाले को पुनः मानव-पर्याय की प्राप्ति होना कठिन है।

(१०) एक विशाल स्तम्भ के अत्यन्त सूक्ष्म टुकड़े करके कोई देव एक नली में भर ले और सुमेरु पर्वत की चोटी पर जाकर जोर से फूँक मार कर उन तमाम टुकड़ों को (अणुओं को) हवा में उड़ा देवे। क्या कोई पुरुष उन समस्त अणुओं को इकट्ठा करके फिर उस स्तम्भ की रचना कर सकता है? अत्यन्त कठिन है। पर कदाचित् दैविक शक्ति से ऐसा हो जाय परन्तु मनुष्य-भव पाकर उसे वृथा गंवा देने वाले को मनुष्य-भव की पुनः प्राप्ति होना उससे भी अधिक कठिन है।

उपर्युक्त दस दृष्टान्तों से मनुष्य भव की दुर्लभता की कल्पना स्थूल बुद्धि वाले भी कर सकते हैं। नरभव का कितना अनमोल मूल्य है यह इनसे आँकना चाहिए। ऐसे सुदुर्लभ मानव-जीवन को जो प्राणी केवल विषय-भोगों में पूरा कर देते हैं वे कितने अविवेकी हैं? कहा है—

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

निर्वाणादिसुखप्रदे नरभवे जैनेन्द्र-धर्मान्विते,
लब्धे स्वल्पमचारु कामज सुखं नो सेवितुं युज्यते।
वैडूर्यादि महोपलौघनिचिते प्राप्तेऽपि रत्नाकरे,
लातुं स्वल्पमदीप्तिकाचशकलं किं साम्प्रतं साम्प्रतं॥

अर्थात्—मोक्ष के अतुल सुख को देने में साधनभूत मनुष्य-भव को एवं साथ ही जैन-धर्म को प्राप्त करके नीरस कामसुखों का सेवन करना योग्य नहीं है। वैडूर्य आदि बहुमूल्य मणियों से भरे हुए समुद्र को प्राप्त कर लेने पर बिना चमक का तुच्छ कांच का टुकड़ा ग्रहण करना क्या उचित कहा जा सकता है? वैडूर्य आदि रत्नों को छोड़कर कांच का टुकड़ा ग्रहण करना उचित नहीं है उसी प्रकार नरभव प्राप्त होने पर विषय-भोगों का सेवन करना उचित नहीं है।

जो दीर्घदर्शी है, लोक के स्वरूप को जानने वाला और मनुष्य भव के मूल्य और महत्व को समझने वाला है तथा जो विषयभोगों को सर्पकञ्चुकीवत् त्यागता है वही शूरवीर प्रशंसा का पात्र है और वही त्यागवीर संसार के बन्धनों में जकड़े हुए अन्य प्राणियों को भी बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार के बन्धनों से मुक्त कर सकता है। जो स्वयं तैरने की शक्ति रखता है वही दूसरों को तिरा सकता है। जो स्वयं मुक्त होता है वही दूसरों को मुक्त कर सकता है। अतएव संसार को सुधारने की इच्छा रखने वाले व्यक्तियों का यह कर्त्तव्य है कि पहिले अपने आपको सुधारें। जो स्वयं सुधरा हुआ नहीं है वह दूसरे को क्या सुधारेगा? जो स्वयं निर्धन है वह दूसरे को क्या धनी बनावेगा? अतएव शास्त्रकार यह फरमाते हैं कि जो स्वयं विषय-कषाय रूप आभ्यन्तर बन्धनों और धन, धान्य, पुत्र कलत्रादि बाह्य बन्धनों से मुक्त है वही त्यागवीर अन्य आत्माओं को भी अपनी अनुपम त्यागशक्ति के प्रभाव से बन्धनों से मुक्त कर सकता है।

जहा अंतो तहा बाहिं जहा बाहिं तहा अंतो, अंतो अंतो पूतिदेहंतराणि पासति पुढोवि सवंति पंडिए पडिलेहए।

संस्कृतच्छाया—*यथा अन्तस्तथा बहिर्यथा बहिस्तथाऽन्तः, अन्तेऽन्ते पूतिदेहान्तराणि पश्यति पृथगपि स्रवन्ति पण्डितः प्रत्युपेक्षेत।*

शब्दार्थ—जहा=जैसे। अंतो=अन्दर से असार है। तहा=वैसे। बाहिं=बाहर से हैं। जहा बाहिं=जैसे बाहर से है। तहा अंतो=वैसे ही अन्दर से हैं। अंतो अंतो=शरीर के अन्दर २ की। पूतिदेहन्तराणि=अशुद्धि और देह की अन्दर की स्थितियों को। पासति=देखता है। पुढोवि=शरीर के द्वार अलग अलग। सवंति=मैले पदार्थ बाहर निकालते हैं। पंडिए=पंडित पुरुष। पडिलेहए=इसके स्वरूप को समझे।

भावार्थ—यह शरीर अन्दर से जैसा असार है, वैसा ही बाहर से भी असार है और बाहर से जैसा असार है वैसा ही अन्दर से भी असार है। बुद्धिमान् इस शरीर में रहे हुए दुर्गन्धी पदार्थों तथा

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

शरीर के अन्दर की अवस्थाओं को देखता है कि ये हमेशा अशुभ मलादिक पदार्थ शरीर के द्वारों से बाहर निकालते रहते हैं। यह देखकर पंडित पुरुष इसके सच्चे स्वरूप को समझ कर इस शरीर का मोह न रक्खें।

विवेचन—प्रकृत सूत्र में शरीर की असारता का वर्णन किया गया है। इसके पहिले के सूत्र में कामभोगों का त्याग करने का उपदेश दिया गया है। भोगों का त्याग या उनके प्रति उदासीनता तबतक नहीं होती जबतक कि शरीर या रूप का मोह नहीं चला जाता। कामी पुरुष रूप की अग्नि में इस प्रकार जलते रहते हैं जैसे पतंगिया दीपक पर पड़कर जल जाता है। कामियों को कामिनियों की कञ्चनमयी काया ही सारभूत प्रतीत होती है। वे इसे ही अमृत समझते हैं और इसीमें सुख की कल्पना करते हैं। वे स्त्रियों के प्रत्येक अवयव की तुलना संसार के सर्वश्रेष्ठ पदार्थों के साथ करते हैं परन्तु अगर सचमुच देखा जाय तो यह सौन्दर्य की कल्पना मात्र विषयासक्ति का ही प्रतिबिम्ब है। बाह्य वस्तुओं में सौन्दर्य जैसी कोई चीज नहीं है परन्तु जो कुछ बाह्य वस्तुओं में आकर्षक तत्व के समान प्रतीत होता है वह मनुष्य की वृत्ति का प्रतिबिम्ब मात्र है। यही कारण है कि एक ही वस्तु भिन्न २ व्यक्तियों को भिन्न भिन्न रूप में दिखाई देती है। इससे यह सिद्ध होता है कि मनुष्य की वृत्तियों का प्रतिबिम्ब पदार्थों पर पड़ता है जिससे वे आकर्षक मालूम होने लगते हैं। वस्तुतः पदार्थों में यह धर्म नहीं है। मनुष्य शरीर में सौन्दर्य की कल्पना कर उसे स्पर्श करने के लिए प्रयत्न करता है अर्थात् अपने ही प्रतिबिम्ब को पकड़ने की कोशिश करता रहता है इससे वह स्वयं और जिस दर्पण में प्रतिबिम्ब पड़ता है वह दोनों विकृत हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि वस्तुतः जड़ पदार्थों में सौन्दर्य नहीं है परन्तु मनुष्य की वृत्ति में इसका स्थान है।

सूत्रकार शरीर की असारता बतलाकर विषयासक्ति को घटाने का मार्ग बतलाते हैं। कामी पुरुष जिस शरीर की सुन्दरता पर लट्टू हो जाते हैं वह शरीर अन्दर से कैसा है! इस शरीर में रुधिर, मांस, चर्बी, हड्डी, मज्जा, शुक्र, टट्टी, पेशाब, श्लेष्म आदि अनेक दुर्गन्धी पदार्थ भरे हुए हैं। यह शरीर अशुचि का पिण्ड है। कहा भी है:—

यदि नामास्य कायस्य यदन्तस्तद्बहिर्भवेत्।
दण्डमादाय लोकोऽयं शुनः काकांश्च वारयेत्॥

अर्थात्—इस शरीर के अन्दर ऐसे अशुचि पदार्थ भरे हैं और इस के अन्दर की आकृति ऐसी है कि अगर इसका भीतरी भाग बाहर हो जाय तो मनुष्य को दण्डा लेकर बैठना पड़े जिससे सदा कुत्तों और कौओं को निवारण ही करता रहे। अर्थात् अगर शरीर का भीतरी भाग ऊपर हो तो कौए और कुत्ते हमेशा इस पर पड़ते रहे जिनका निवारण करने के लिए हमेशा दण्डा हाथ में रखना पड़े। तात्पर्य यह है कि यह शरीर अशुचि का पिण्ड होने से अन्दर से अति असार है। यह शरीर अन्दर से जैसा असार है वैसा ही ऊपर से भी असार है। जैसे अशुचि (टट्टी) से भरा हुआ घड़ा अन्दर से भी अशुचिमय है और ऊपर से भी अशुचिमय ही कहलाता है क्योंकि उसके अन्दर अशुचि है। चाहे अशुचि बाहर न हो तो भी अन्दर भरी हुई अशुचि के कारण वह अशुचिमय ही है उसी प्रकार यह शरीर अन्दर से अशुचिमय होने से असार है। इसी तरह ऊपर से भी असार है। इसकी असारता का इससे अधिक क्या प्रमाण चाहिए कि इस पर लगाये हुए सुन्दर से सुन्दर पदार्थ भी खराब हो जाते हैं। चन्दन, केशर, इत्र इत्यादि सुगन्धी पदार्थ इस पर लगाये जाते हैं तो इसके संसर्ग से अल्पकाल में वे भी विकृत हो जाते हैं। शरीर में डाले

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

हुए सुन्दर से सुन्दर पकवानों का क्या परिणाम हो जाता है और कैसी विकृत वस्तु बाहर आती है! शरीर पर धारण किये हुए वस्त्र अल्पकाल में इसके संयोग से मैले हो जाते हैं। कैसा असार यह शरीर! कैसा इस पर मोह!! क्या इसका अभिमान!!!

जो पुरुष इस शरीर में रहे हुए अशुचि तत्त्वों को जानता है और शरीर की आभ्यन्तर स्थितियों को जानता है कि अमुक जगह रुधिर है, अमुक जगह हड्डी है, अमुक मूत्राशय है, अमुक मलाशय है, इसी प्रकार जो जानता है कि इस शरीर के द्वार (छेद) सदा मल-प्रवाही हैं, ये हमेशा झरते रहते हैं वह बुद्धिमान् कदापि इस पर मोह नहीं रख सकता। एक तो वैसे ही शरीर के द्वार बहते रहते हैं और अगर कुष्ठादि रोग हो तो समस्त शरीर से भी अशुचि झरती है। इसे कुत्सित, निन्द्य, अशुचि का पिण्ड और रोगों का अगार जानकर बुद्धिमान् का यह कर्त्तव्य होता है कि इस पर राग न रखकर इसका धर्माराधन में उपयोग करे। शरीर की यथार्थता को समझ कर जो इसका सदुपयोग करते हैं वे ही प्राणी सच्ची शान्ति का अनुभव करते हैं।

विवेकी प्राणियों को चाहिए कि वे अपनी आँखों के सामने शरीर के आभ्यन्तर स्वरूप की कल्पना करें। क्या आभ्यन्तर स्वरूप को समझ लेने के बाद भी उस पर मोह और आसक्ति रह सकती है? कदापि नहीं! शरीर की असारता का चिन्तन करने से कामभोगों की आसक्ति कम होती है। कामभोगों की आसक्ति अल्प होने पर आत्मजागृति प्रकट होती है और आत्मजागृति होने से सच्चे शाश्वत सुख की अनुभूति होती है।

से मइमं परिन्नाय मा य हु लालं पच्चासी, मा तेसु तिरिच्छमप्पाण-मावायए।

संस्कृतच्छाया—*स मतिमान् परिज्ञाय मा च लालां प्रत्याशी। मा तेषु तिरश्चीनमात्मानमापादयेत्।*

शब्दार्थ—**से=वह। मइमं=बुद्धिमान्। परिन्नाय=यह जानकर। लालं=लार को। पच्चासी=पुनः चूसने वाला। मा य हु=न हो। तेसु=ज्ञानादि कार्यों में। अप्पाणम्=अपने आपको। तिरिच्छं=विमुख। मा आवायए=न करे।**

भावार्थ—बुद्धिमान् पुरुष, काम और देह के स्वरूप को भलीभांति समझ कर बालक की भांति लार को चूसने वाला-अर्थात् त्यागे हुए भोगों की पुनः अभिलाषा करने वाला न हो और ज्ञानादि कार्यों के प्रति विमुख न रहे।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में त्यागियों को अपने त्यागमार्ग पर स्थिर रहने का उपदेश दिया गया है। काम-स्वरूप और देह के स्वरूप को समझ कर त्याग-मार्ग का अवलम्बन कर लेने के बाद भी त्यागी साधक के सामने अनेक प्रकार की इष्ट या अनिष्ट परिस्थितियाँ और वृत्तियाँ उपस्थित होती हैं जिनके कारण त्यागमार्ग से पतित होने की सम्भावना रहती है। ऐसी स्थितियों में साधक को अधिक सावधान रहने की आवश्यकता होती है क्योंकि पूर्वसंयोग अति प्रबल होते हैं और वे अवसर प्राप्त कर साधना के मार्ग से स्खलित कर देते हैं। अतएव त्यागियों को ऐसे प्रसंग पर सदा जागरुक रहने का उपदेश दिया गया है।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

मनुष्य का मन अत्यन्त चञ्चल है। वायु का वेग भी उसके तीव्र वेग के सामने मन्थर हो जाता है। अशान्त समुद्र में उठी हुई लहरों के समान मन में अनेक प्रकार के विचार आते हैं और विलीन हो जाते हैं। जब धर्म-श्रवण या स्वाध्याय आदि का योग होता है तब मनमें प्रशस्त विचार उदित हो आते हैं और कुछ ही क्षणों के पश्चात् नवीन मोह और तृष्णा से परिपूर्ण विचार उन प्रशस्त विचारों का स्थान ग्रहण कर लेते हैं। मन की इस चञ्चलता के कारण अनेकों अनर्थ उपस्थित होते हैं। अनेक संयमी अपने संयम से पतित हो जाते हैं, अनेक योगी अपने योग से भ्रष्ट हो जाते हैं और अनेक त्यागी त्यागमार्ग का त्याग कर देते हैं। इसलिए शास्त्रकार फरमाते हैं कि मन की इस चञ्चल प्रवृत्ति को रोकने के लिए प्रबल वैराग्य भावना और सतत ज्ञानादि के अध्ययन का आश्रय लो। पूर्वसंयोग अत्यन्त प्रबल हैं और वे जब उदित होते हैं तब सारी साधना को धूल में मिला देते हैं अतः उनका प्रबल सामना करने के लिए प्रबल पुरुषार्थ की आवश्यकता है। सूत्रकार, पूर्वसंयोगों के सामने दृढतापूर्वक टिक सकने का मार्ग बताते हुए कहते हैं कि-हे त्यागवीरो! तुम कभी मत भूलो कि तुमने विषयों को ठुकरा कर संयम का मार्ग अङ्गीकार किया है। संसार के बन्धनों का त्याग कर तुम मोक्षमार्ग के पथिक बने हो। धन को असार समझ कर अकिञ्चन बने हो। ध्यान रखो! तुमने सांप की कंचुकी के समान विषयों का त्याग कर दिया है। जिस प्रकार सर्प छोड़ी हुई कंचुकी की इच्छा नहीं करता उसी प्रकार तुम भी त्यागे हुए विषय-भोगों को पुनः ग्रहण करने का विचार पलभर के लिए भी हृदय में उदित न होने दो।

अगन्धन कुल के सर्प अग्नि में कूदकर जल मरना पसन्द करते हैं परन्तु वमन किये हुए विष को पुनः पीना नहीं चाहते। इसी प्रकार जो सच्चे जातिवान् त्यागी होते हैं वे छोड़े हुए विषयों को पुनः ग्रहण करना कदापि नहीं चाहते हैं।

जिस प्रकार वमन (क़ै) घृणित वस्तु समझी जाती है। कोई भी मनुष्य वमन करके उसे पुनः भोगने का विचार भी नहीं करता। भले ही कुत्ते, कौवे या अन्य नीच प्राणी उसका भोग करें परन्तु मनुष्य तो उसकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखना चाहता है। इसी प्रकार संसार सम्बन्धी जिन भोगों का त्याग कर दिया है वे वमन के तुल्य हैं। कोई भी विवेकशील त्यागी पुरुष उन्हें पुनः ग्रहण करने की आकांक्षा नहीं कर सकता। अगर कोई ऐसा करता है तो वह नीच-पशुओं के तुल्य है। जिस प्रकार बालक लार को पुनः चूस लेता है परन्तु कोई भी समझदार व्यक्ति लार को फेंक देता है किन्तु चूसता नहीं। उसी प्रकार जो बालक के समान अविवेकी होते हैं वे ही छोड़े हुए काम भोगों की पुनः आकांक्षा करते हैं। इसके विपरीत जो विवेकसम्पन्न होते हैं वे जैसे उस लार को फेंक देते हैं वैसे ही कदाचित् कोई अशुभ वृत्ति जागृत हो तो उसे मलिन समझकर त्याग देते हैं परन्तु त्यक्त भोगों की पुनः कामना नहीं करते। सूत्रकार पुनः उपदेश करते हैं कि कामभोगों की कामना में पड़कर मोक्ष के स्रोत के समान ज्ञानादि कार्यों में उदासीन न बनो। संसार के स्रोत मिथ्यात्व, कषाय आदि के प्रतिकूल बनकर उनका उल्लंघन करो और निर्वाण-स्रोत रूप सम्यग्ज्ञानादि में अनुकूलता रक्खो। इसमें प्रमाद न करो। अप्रमत्त होकर सदा संयम में जागृत रहो तो कदापि अशुभ वृत्तियां तुम पर प्रभाव नहीं डाल सकती हैं। ज्ञानादि में अप्रमत्त रहने पर अशुभ वृत्तियों का उद्भव ही नहीं हो सकता है। जहां प्रमाद है वहीं अशुभ वृत्तियों को अवकाश है। अप्रमत्तावस्था में अशुभ वृत्तियाँ हो नहीं सकतीं अतः इन वृत्तियों के प्रति सदा जागरूक रहना चाहिए।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

कासंकासे खलु अयं पुरिसे, बहुमाई, कडेण मूढे पुणो तं करेइ, लोहं वेरं वड्ढेइ अप्पणो। जमिणं परिकहिज्जइ इमस्स चेव पडिवूहणयाए, अमरायइ, महासड्ढी अट्टमेतं पेहाए, अपरिन्नाय कंदति से तं जाणह जमहं बेमि।

संस्कृतच्छाया—*कासंकसः (कासंकषः) खल्वयं पुरुषः बहुमायी, कृतेन मूढः पुनस्तत् करोति। लोभं वैरं वर्द्धते आत्मनः। यदिदं परिकथ्यते अस्य चैव परिवृंहणार्थम्, अमरायते महाश्रद्धी, आर्तमिमम् प्रेक्ष्यापरिज्ञाय क्रन्दते, तत्तस्माज्जानीहि यदहं ब्रवीमि।*

शब्दार्थ—अयं पुरिसे=यह कामी पुरुष। खलु=निश्चय ही। कासंकासे=यह किया, यह करूँगा इस विचार से व्याकुल रहता है। बहुमाई=बहुत माया करता है। कडेण मूढे=अपने कार्य से ही मूढ बनकर। पुणो=फिर से। तं करेइ=वैसा ही काम करता है। लोहं=लोभ करता है जिससे। अप्पणो=अपनी आत्मा के साथ। वेरं=शत्रुता। वड्ढेइ=बढ़ाता है। जमिणं=इसी-लिए यह। परिकहिज्जइ=कहा जाता है कि। महासड्ढी=भोगों में महान् इच्छा वाला पुरुष। इमस्स चेव=इस क्षण-भंगुर शरीर को। पडिवूहणयाए=पुष्ट बनाने के लिए प्रयत्न करता हुआ। अमरायइ=मानों अजर-अमर हो ऐसा बर्ताव करता है। अट्टमेतं=ऐसे प्राणी को दुखी। पेहाए=जानकर। (स्वयं काय और काम में आसक्ति न रक्खे)। अपरिन्नाय=सच्चे स्वरूप को नहीं जानकर। कंदति=शोक करता है। से तं जाणह=इसलिए उसे धारण करो। जमहं बेमि=जो मैं कहता हूँ।

भावार्थ—कामी पुरुष "यह किया और यह करूँगा" इस प्रकार के विचार से सदा चिन्ता-से व्याकुल रहता है, अत्यन्त माया का सेवन करता है और किंकर्त्तव्यविमूढ होकर पुनः ऐसा लोभ भी करता है जिससे अपनी आत्मा का वैरी बनकर दुखों की वृद्धि करता है। इसीलिए यह भी कहा जाता है कि काम में अति आसक्ति रखने वाला पुरुष इस क्षणभंगुर शरीर को पुष्ट करने के लिए प्रयत्न करता है मानों यह अजर अमर हो। बुद्धिमान् ऐसे व्यक्तियों को दुखी जानकर स्वयं काय और काम में आसक्ति न रक्खे। जो मूढ प्राणी वस्तु-स्वरूप को नहीं जानते हैं वे इच्छा और शोक के अनेक दुखों को भोगते हैं। इस वास्ते मैं कामपरित्याग का उपदेश देता हूँ उसे धारण करो।

विवेचन—इस सूत्र में कामी पुरुष को शान्ति दुर्लभ है यह बताया गया है। कामी पुरुष संकल्पों के अधीन होकर निरन्तर चिन्ताग्रस्त रहता है। "आज अमुक काम किया" "कल अमुक करना है" "उसका ऐसा करना" वैसा करना" इत्यादि संकल्प-विकल्पों में पड़ा हुआ वह कदापि शान्ति का अनुभव नहीं कर सकता। संकल्पों की परम्परा का कहीं अन्त नहीं दिखाई देता क्योंकि ज्यों ही एक संकल्प की पूर्ति होती है त्यों ही दूसरा संकल्प तैयार हो जाता है। जैसे एक लहर दूसरी लहर को उत्पन्न करती है वैसे ही एक संकल्प दूसरे संकल्प को जन्म देता है। यों संकल्पों की परम्परा अविच्छिन्न बनती है और इनके भूलभूलैये में पड़ा हुआ प्राणी इन्हीं में चक्कर लगाता रहता है। संकल्प आकाश के समान अनन्त

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

हैं। कामीपुरुष शेखचिल्ली के समान कल्पनाओं के जंजाल में फँसा हुआ दुख प्राप्त करता है। इस प्रसंग में भिखारी और दधिघटिका का दृष्टान्त उपयुक्त है। वह इस प्रकार है:—

किसी भिखारी को कहीं से थोड़ा दूध प्राप्त हुआ। उसका उसने दही बना लिया और सोचने लगा इसका घी बना कर उसे बेचकर, पैसे प्राप्त करके उनसे व्यापार करूँगा और व्यापार में हजारों रुपये पैदा करूँगा। रुपयों के बल से किसी सुन्दरी स्त्री के साथ विवाह करूँगा। उसके साथ सांसारिक सुख भोगते हुए मुझे पुत्र प्राप्त होगा और वह पुत्र जब बड़ा होगा तो मुझे अपनी माता के कहने से भोजन के लिए बुलाने के लिए आवेगा। उस समय मैं काम में लगा रहूँगा। लड़का फिर चलने को कहेगा तब उसे लात मारूँगा। इस प्रकार उसके विचार-तरंगों में ही पांव उठाते और मस्तक धुनने से दही का घड़ा नीचे गिर पड़ा और फूट गया। इससे उसके सभी तरंग नष्ट हुए। तब उसे ध्यान आया कि निष्फल हवाई किले बांधने का यह फल हुआ। न तो दही खाया और न पुण्य किया। जो था उसे भी खोया। ठीक इसी तरह संसारी प्राणी भी भावी कल्पनाओं के संसार में विचरण कर प्राप्त साधनों से भी वंचित रहते हैं और भावी काल्पनिक सुख की आशा में कष्ट सहन करते हैं। इस तरह कामी सदा चिन्तातुर रहने से शान्ति का अंश भी नहीं पा सकता है। अपनी भ्रामक बुद्धि से माने हुए सुख के साधनों को जुटाने में वह रातदिन एक करता है और माया का आचरण करता है। सूत्रकार ने 'माया' शब्द कहकर चारों ही कषायों का सूचन किया है। माया कषायों में मध्यवर्ती है अतः उसके ग्रहण से चारों कषायों का अर्थ समझ लेना चाहिए। तात्पर्य यह है कि आसक्त प्राणी क्रोधी, मानी, मायी और लोभी होता है।

जिस प्रकार मकड़ी जाला बनाकर स्वयं उसमें फँस जाती है उसी प्रकार कामी पुरुष अपने ही हाथों से प्रपञ्च खड़ा करता है और उसमें फंसकर किंकर्त्तव्यविमूढ़ बनता है और मूढ़तावश ऐसे २ अशुभ कार्य करता है और इस प्रकार लोभ का सेवन करता है जिसके द्वारा अपनी आत्मा के साथ वैर बढ़ाता है और अनेक दुखों को निमंत्रण देता है। धन-संग्रह में माने हुए मिथ्या सुख को प्राप्त करने के पीछे प्राणी इतना पागल हो जाता है कि न वह शान्ति के साथ भोजन कर सकता है, न पानी पी सकता है और न आराम की नींद ले सकता है। इस विषय में मम्मण सेठ का दृष्टान्त पहिले कहा जा चुका है। इस तरह अपने ही द्वारा रचे हुए प्रपञ्चों में फंसकर प्राणी ऐसा लोभ करता है और अन्य ऐसे पाप काम करता है जिनकी वजह से जन्म जन्मान्तरों तक दुखों का भागी बनता है और इस तरह आत्मा के साथ वैर करता है। आह! काम की कैसी विचित्र स्थिति है! कहा है:—

दुःखार्त्तः सेवते कामान् सेवितास्ते च दुःखदा।
यदि ते न प्रियं दुःखं प्रसङ्गस्तेषु न क्षमः॥

अर्थात्—अज्ञानी प्राणी दुख से पीड़ित होकर और सुख की अभिलाषा से कामभोगों का सेवन करते हैं परन्तु वे ही सेवित कामभोग दुःख देने वाले हो जाते हैं। इसलिए अगर दुख से छुटकारा चाहते हो तो कामभोगों के संग का त्याग करना चाहिए। लेकिन इतना होते हुए भी तीव्र अभिलाषा रखने वाले प्राणी अपने आपको अजर-अमर समझ कर इस नश्वर शरीर को हृष्ट-पुष्ट बनाने के लिए अनेक प्रकार के हिंसक उपायों का आश्रय लेते हैं और छह काय के जीवों का समारम्भ करके पाप का भार बढ़ाते हैं। वे प्राणी इस प्रकार के विविध प्रपञ्चों में इतने मशगूल रहते हैं कि जीवन के अन्तिम पल में भी उन प्रपञ्चों को नहीं छोड़ सकते हैं।

यद्यपि जन्म के साथ मृत्यु भी अवश्यंभावी है तो भी वे महासाहसिक प्राणी अपने आपको अजर-अमर समझ कर जीवन के अन्तिम क्षण तक विषयों की आशा करते रहते हैं। कितना दुस्साहस!

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

कैसी मोह-विडम्बना !! इस प्रकार भोगाभिलाषी और अपने आपको अमर मानने वाले प्राणी अन्त में घोर शारीरिक व मानसिक पीड़ाएँ प्राप्त करते हैं। कामभोगों का परिणाम किंपाक फल के समान अति दारुण और विकट होता है। जो भोगों के दारुण स्वरूप से अपरिचित और अज्ञान हैं ऐसे अविवेकी प्राणी भोगों के प्राप्त नहीं होने से अथवा प्राप्त भोगों के नष्ट हो जाने से आकांक्षा और शोक-जन्य दुखों का अनुभव करते हैं। इसलिए परम कारुणिक, सर्व-जीव-हितैषी, आप्त-पुरुष डिंडिम नाद के साथ उद्घोषणा करते हैं कि हे प्राणियो ! अगर दुखों से मुक्त होना चाहते हो और सुख के अखण्ड साम्राज्य में शान्ति का अनुभव करना चाहते हो तो कामभोगों का परित्याग करो। इस उपदेश को धारण करोगे तो तुम जिस सुख को प्राप्त करने के लिए परेशान हो रहे हो वह स्वयं तुम्हें प्राप्त हो जायगा। सुख का अथाह सागर तुम्हारे हृदय में उमड़ पड़ेगा। सुख का अमूल्य खजाना तुम्हारे चरणों में स्वयं उपस्थित हो जायगा। आवश्यकता है मात्र कामभोगों के त्याग की। इस त्यागमार्ग में ही सुख का अक्षय खजाना अन्तर्हित है।

त्यागमार्ग जैनदर्शन का राजमार्ग है। यद्यपि शास्त्रकार ने पहिले यह प्रतिपादन किया है कि कोई भी क्रिया एकान्त रूप से आचरणीय या निषिद्ध नहीं है और मुख्यतः क्रिया में धर्म या अधर्म नहीं है परन्तु वृत्ति में है। क्रिया के पीछे वृत्ति काम करती है वही शुभाशुभ वृत्ति या तो विकास करने वाली होती है या अवरोध करने वाली। अतएव वृत्ति-लालसा को रोक कर अनासक्त भाव से क्रिया करनी चाहिए। परन्तु विचारणीय बात यह है कि क्रिया के साधन और शक्ति होने पर भी क्रिया से वासना को निकाल देना और विरक्त भाव से क्रिया करना यह विरले योगियों का ही काम है। इसलिए उत्सर्ग मार्ग में त्याग-मार्ग की सुन्दर योजना बताई गयी है। यद्यपि त्याग भी तभी फलित समझा जाता है जब क्रमशः शुभ क्रियाएँ करते २ आसक्ति का नाश हो जाता है। जिस त्याग में से अनासक्ति प्रकट हो वही सच्चा त्याग है। इस दृष्टि से त्याग और निरासक्ति के उद्देश्य भिन्न नहीं परन्तु एक है। मात्र इसमें भूमिका का भेद है। क्रिया के त्याग से वृत्ति के त्याग का कार्य सरल बन जाता है। अर्थात् सरल भाषा में कहें तो त्याग करने से धीरे २ आसक्ति अपने आप मिट जाती है। वस्तुतः अनासक्ति का क्षेत्र ऊँचा है। साधन रहते हुए भी साधनों से लिप्त न होना, एक महान् कार्य है। हरएक के लिए यहाँ तक पहुँचना आसान नहीं। अतः सर्व-साधारण के लिए उस अवस्था तक पहुँचने के हेतु क्रमिक श्रेणियों का विधान किया गया है। इस पर से त्याग और क्रिया-काण्डों का महत्त्व प्रत्येक प्राणी को समझ लेना चाहिए।

तेइच्छं पंडिए पवयमाणे से हंता, छत्ता, भित्ता, लुंपइत्ता, विलुंपइत्ता, उद्दवइत्ता, अकडं करिस्सामि त्ति मन्नमाणे जस्स वि य णं करेइ, अलं बालस्स संगेणं, जे वा से कारेइ बाले, न एवं अणगारस्स जायइ त्ति बेमि ।

संस्कृतच्छाया—*चिकित्सां पण्डितः प्रवदन् स हन्ता, छेत्ता, भेत्ता, लुम्पयिता विलुम्पयिता अपद्रावयिता, अकृतं करिष्यामीति मन्यमानः यस्यापि च करोति, अलं बालस्य संगेन, यो वा तत् कारयति बालः, नैवमनगारस्य जायते, इति ब्रवीमि ।*

शब्दार्थ—पंडिए=पाण्डित्य का अभिमान करने वाले। तेइच्छं=कामविकार के शमन की चिकित्सा का। पवयमाणे=बकवाद करते हुए उपदेशक बनते हैं। अकडं=नहीं किया हुआ। करिस्सामित्ति=करूँगा ऐसा। मन्नमाणे=मानते हुए। से=वे। हंता=जीवों को मारने वाले।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

छित्ता=छेदन करने वाले। भेत्ता=शूलादि से भेदने वाले। लुम्पइत्ता=लूटने वाले। विलुम्पइत्ता=खसोटने वाले। उद्दवइत्ता=प्राणों से रहित करने वाले होते हैं। जस्स वि=जिस किसी को। णं करेइ=वे उपदेश करते हैं उसको भी क्रिया लगती है। अलं बालस्स संगेणं=ऐसे अज्ञानियों की संगति नहीं करनी चाहिए। जो वा से कारइ बाले=जो अज्ञानी ऐसी चिकित्सा कराते हैं उनकी भी संगति न करे। न एवं अणगारस्स जायइ=जो सच्चे गृहत्यागी साधु हैं उनको ऐसा उपदेश और चिकित्सा नहीं कल्पती है।

भावार्थ—परमार्थ नहीं समझते हुए भी पाण्डित्य का अभिमान करने वाले कितने ही वेशधारी श्रमण कामविकार को शमन करने के उपदेशक होकर वृत्ति करते हैं और हम कुछ अपूर्व कार्य करेंगे ऐसा अभिमान रखकर फिरते हैं पर ऐसा नहीं करके वे उल्टे छोटे मोटे जीवों को मारने वाले, छेदने वाले, भेदने वाले, लूटने वाले, खसोटने वाले और प्राणों से रहित करने वाले होते हैं। ऐसे अज्ञानी जिसे उपदेश देते हैं, जिसके संसर्ग में आते हैं वे भी कर्मबन्धन के भागी हैं और वे स्वयं तो हैं ही। इसलिए ऐसे अज्ञानियों की संगति नहीं करनी चाहिए। इतना ही नहीं वरन् जो इनकी संगति करते हैं उनकी भी संगति नहीं करनी चाहिए। जो गृहवास को त्यागकर त्यागी श्रमण होते हैं उनको तो ऐसा हिंसक उपदेश या चिकित्सा करना योग्य नहीं है।

विवेचन—इस सूत्र में यह बताया गया है कि हिंसक चिकित्सा द्वारा जो काम को शमन करने का झूठा दावा करते हैं वे केवल अपना थोथा अभिमान प्रदर्शित करते हैं। प्रथम तो चिकित्सा द्वारा कामनिग्रह सम्भव ही नहीं तदपि कदाचित् सम्भव मान भी लिया जाय तो भी यह उपाय अनेक जीवों को प्राण रहित करने वाला, उन्हें त्रास पहुँचाने वाला और परपीड़ाकारी है अतः यह अहिंसा के पुजारियों के लिए कदापि ग्राह्य नहीं हो सकता। सच्चे संत को काम-शमन और अहिंसा दोनों का चुस्त रीति से पालन करना पड़ता है अतः यह गलत उपाय है। वे अपनी विद्वत्ता का मिथ्या अभिमान करने वाले और अद्भुत कार्य करने का दावा करने वाले व्यक्ति स्वयं पाप का भार उठाते हैं और बकवाद करके वचन-जाल द्वारा अन्य सरल प्राणियों को भी ऐसा उपदेश करके पाप के भागी बनाते हैं। स्वयं भी डूबते हैं और दूसरों को भी डुबाते हैं। जो भोले प्राणी ऐसे अज्ञानियों का उपदेश सुनते हैं या उनका संसर्ग रखते हैं वे भी कर्मबन्धन में बँधते हैं क्योंकि संसर्ग का असर आये बिना नहीं रहता है। कहा है—

संसर्गजाः दोषगुणाः भवन्ति।

अर्थात्—संसर्ग से गुण और दोष उत्पन्न होते हैं। ऐसे अज्ञानियों के संसर्ग से दोष उत्पन्न हुए बिना नहीं रह सकते अतएव उनके संसर्ग का त्याग करने का कहा गया है। जो अज्ञानियों का संसर्ग करते हैं उनका भी संसर्ग वर्जनीय है क्योंकि दोषों का संसर्ग आखिर दोष पैदा करता है। सच्चे गृहत्यागी श्रमण कदापि ऐसी हिंसक चिकित्सा का उपदेश तक नहीं देते। वे कृत्रिम उपायों का अवलम्बन न लेकर अपने त्यागबल द्वारा काम का शमन करते हैं और इस तरह सच्चा सुख प्राप्त करते हैं।

—उपसंहार—

शुद्धवृत्ति रखना शुद्ध जीवन का मूल कारण है। कामभोगों से विरक्त शुद्ध जीवन ही सच्चे सुख का निदान है।

इति पञ्चमोद्देशकः

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

लोक-विजय नाम द्वितीय अध्ययन

—षष्ठ उद्देशक—

(ममता-परित्याग)

गत पञ्चम उद्देशक में संयम-देह-यात्रा के लिए लोक-निश्रा का विधान किया गया है। अर्थात् संयमी पुरुषों को अपने संयमित जीवन के निर्वाह के लिए गृहस्थ-जनों से भिक्षा ग्रहण करने का कहा गया है। गृहस्थों से भिक्षा ग्रहण करने का कार्य उनके संसर्ग के बिना नहीं होता। तात्पर्य यह है कि जीवन-निर्वाह के लिए त्यागियों को भी गृहस्थों के संसर्ग में आना पड़ता है। इस प्रकार संसर्ग रहने के कारण त्यागियों को भी ममता हो जाने की सम्भावना रहती है। एक से दूसरी बार भी जो प्राणी किसी के सम्पर्क में आ जाता है तो उसके प्रति भी आंशिक ममता हो आती है। सामान्य पुरुषों की बात छोड़कर भी हम देखते हैं कि अच्छे २ त्यागी व्यक्ति भी ऐसी ममता से बँध जाते हैं। अधिक संसर्ग से ममता होती है और ममता संसार की जननी है। इसलिए ममता का त्याग करने का इस उद्देशक में उपदेश दिया गया है।

संसर्ग में आये बिना तो काम चल नहीं सकता। जो एकान्त निवृत्ति का अवलम्बन लेकर वनों में, गिरिगह्वरों में और एकान्त शून्य स्थानों में ही रहते हैं और जो कभी नगरादि वसतियों में नहीं रहते उनकी बात को छोड़कर जब विचार किया जाता है तो यह मालूम होता है कि त्यागियों को भी स्व-पर कार्य के साधन के लिए वसतियों का अवलम्बन लेना पड़ता है। जो एकान्त आत्मार्थी ही हैं वे ही वनादि में रहते हैं। जो आत्मार्थी होने के साथ ही जनकल्याण की भावना रखते हैं उनके लिए वसतियाँ ही कार्य-क्षेत्र बनती हैं। शासन-नायक तीर्थङ्कर तीर्थ की प्रवृत्ति करते हैं। उसका भी उद्देश्य आत्म-साधना के साथ जनकल्याण की साधना का होता है और इसी उद्देश्य के अनुसार जनकल्याण और समाजकल्याण की बड़ी भारी जिम्मेदारी साधु-संस्था पर रही हुई है। साधुपद की व्युत्पत्ति करते हुए टीकाकार लिखते हैं—

साधयति स्वपरकार्याणीति साधुः।

अर्थात्—जो आत्म-साधना के साथ लोकोपकार के साधन का कार्य करता है वह साधु है। तात्पर्य इतना है कि चाहे अपनी जीवन-वृत्ति के लिए चाहे लोकोपकार के लिए साधु को लोक के संसर्ग में आना पड़ता है। संसर्ग में आने से ममता हो जाने की सम्भावना रहती है इसलिए इस उद्देशक में ममता के निवारण का उपदेश दिया जाता है। लोक-संसर्ग सर्वथा नहीं त्यागा जा सकता है इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि संसर्ग होते हुए भी ममता न की जाय। वस्तुतः संसर्ग बन्धन नहीं है परन्तु ममता बन्धन है। साधक का यह कर्त्तव्य है कि वह संसर्ग करता हुआ भी उससे लिप्त न हो। कमल और कीचड़ का संग है तदपि कमल कीचड़ से अलिप्त रहता है। उसी तरह साधु को चाहिए कि अपनी वृत्तियों को इतनी रूक्ष रखे कि वे ममता से लिप्त न बनें। ममता का जन्म संग से नहीं परन्तु ममत्व-बुद्धि से होता है अतः ममत्व-बुद्धि का त्याग करना चाहिए:—

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाय तम्हा पावकम्मं नेव कुज्जा न कारवेज्जा ।

संस्कृतच्छाया—*सः तत् संबुध्यमानः आदानीयं समुत्थाय तस्मात् पापकर्म्म नैव कुर्यात् न कारयेत् ।*

शब्दार्थ—**से**=वह साधक । **तं**=पूर्वोक्त वस्तु-स्वरूप को । **संबुज्झमाणे**=जानकर । **आयाणीयं**=आदेय-ज्ञानदर्शन चारित्रादि को । **समुट्ठाय**=सम्यग् जानकर ग्रहण करता है । **तम्हा**= इसलिए । **पावकर्म्म**=पापकर्म । **नेव कुज्जा**=न करे । **न कारवेज्जा**=न करावे ।

भावार्थ—हे प्रिय शिष्य जम्बू ! पूर्वोक्त वस्तु-स्वरूप को समझ कर आदेय-ज्ञान, दर्शन और चारित्रमय संयम में प्रयत्नशील रहने वाले साधक का यह कर्त्तव्य है कि वह स्वयं पापकर्म न करे और न दूसरों से करावे (पाप करते हुए अन्य को अनुमोदन न दे) क्योंकि उसने सर्व सावद्य आरम्भों से निवृत्ति की प्रतिज्ञा ली है ।

विवेचन—इस सूत्र का इसके पूर्ववर्ती पञ्चम उद्देशक के अन्तिम सूत्र के साथ सम्बन्ध है । उस सूत्र में यह कहा गया है कि जो सचागृहत्यागी श्रमण है उसे प्राणी का उपघात करने वाली चिकित्सा करना या वैसा उपदेश देना योग्य नहीं है इस बात को ज्ञ-परिज्ञा द्वारा जानता हुआ और प्रत्याख्यान-परिज्ञा द्वारा त्याग करता हुआ जो सच्चे ज्ञान-दर्शन और चारित्रमय संयम के अभिमुख होता है वह यह प्रतिज्ञा करता है कि मुझे किसी भी प्रकार का सावद्य कार्य नहीं करना है । इस प्रकार प्रतिज्ञा के पर्वत पर चढ़कर उसे चाहिए कि फिर किसी तरह वहाँ से पतित न हो । ऐसी प्रतिज्ञा कर लेने पर उसका यह वर्त्तव्य हो जाता है कि वह अपनी प्रतिज्ञा को पूर्ण रूप से पाले और स्वयं किसी प्रकार का पापकर्म न करे और अन्य से भी पापकर्म न करावे तथा करते हुए अन्य को अनुमोदन न दे ।

यहाँ यह शंका की जा सकती है कि सूत्रकार ने सूत्र में करने और कराने का ही निषेध किया है फिर अनुमोदन का निषेध कैसे ग्रहण किया जाय ? इसका समाधान यह है कि सूत्र में दिये हुए 'एव' शब्द से अनुमोदन करने का भी निषेध समझना चाहिए । इस तरह तीन करण और तीन योग से पापकर्मों का त्याग करना चाहिए ।

वैसे तो असंख्य तरह के पापकर्म होते हैं तदपि वर्गीकरण के सिद्धान्त के अनुसार उनके वर्ग (भेद) बना दिये जाते हैं । भिन्न भिन्न विवक्षाओं से पृथक् २ भेद हो सकते हैं । सामान्य रूप से अठारह पापस्थान प्रसिद्ध हैं । उनके नाम इस प्रकार हैं:—(१) प्राणातिपात (२) मृषावाद (३) अदत्तादान (४) मैथुन (५) परिग्रह (६) क्रोध (७) मान (८) माया (९) लोभ (१०) राग (११) द्वेष (१२) कलह (१३) अभ्याख्यान-कलंक देना (१४) पैशुन्य (१५) परपरिवाद (१६) रति-अरति (१७) मायामृषावाद और (१८) मिथ्यादर्शन शल्य । उपर्युक्त अठारह पापस्थानों का तीन करण तीन योग से त्याग करना साधु का धर्म है ।

सिया तत्थ एगयरं विप्परामुसइ, छसु अन्नयरम्मि कप्पइ ।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

संस्कृतच्छाया—*स्यात्तत्रैकतरं विपरामृशति षट्स्वन्यतरस्मिन् कल्प्यते ।*

शब्दार्थ—सिया=कदाचित् । तत्थ=पापारम्भ में । एगयरं=छकाय में से किसी एक काय का भी । विप्परामुसइ=समारम्भ करता है वह । छसु=छ ही कायों में से । अन्नयरम्मि=प्रत्येक का—सबका आरम्भ करने वाला । कप्पइ=गिना जाता है ।

भावार्थ—कदाचित् पापारम्भ में प्रवृत्त प्राणी छःकाय के जीवों में से किसी एक का भी समारंभ करता है वह छःकाय में से प्रत्येक का आरम्भ करने वाला गिना जाता है । अर्थात् छहों काय का आरम्भ करने वाला गिना जाता है । अथवा दूसरा अर्थ ऐसा भी हो सकता है कि जो पूर्वोक्त पापस्थानों में से किसी एक का भी सेवन करता है वह बारबार छह प्रकार के काय में से प्रत्येक काय में उत्पन्न होता है ।

विवेचन—इस सूत्र में हिंसा की पाप-गुरुता का वर्णन किया गया है अर्थात् यह प्रतिपादित किया गया है कि हिंसा करना सबसे बड़ा पाप है । जो हिंसा करता है या हिंसक बुद्धि रखता है उसके सभी गुणों का नाश हो जाता है । हिंसा पापों की बुनियाद है और अहिंसा धर्म की बुनियाद है । हिंसा की नींव पर पापों का महल खड़ा होता है और अहिंसा की बुनियाद पर धर्म का सुन्दर महल । जहाँ बुनियाद में विकृति हो जाती है या बुनियाद डांवाडोल होने लगती है तो उसके आधार पर महल कबतक टिक सकता है ? इसी प्रकार अहिंसा जब डांवाडोल होने लगती है तो सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि टिक नहीं सकते । इसका यह तात्पर्य हुआ कि जो हिंसा करता है अर्थात् प्रथम व्रत का भंग करता है वह शेष व्रतों का भी भंग करने वाला होता है । तथा जो छह काय में से किसी एक भी काय की हिंसा करता है वह छहों काय की हिंसा करने वाला समझा जाता है ।

शंका हो सकती है कि एक काय का आरम्भ करने वाला अपर काय का या सर्व जीवकाय का समारम्भ करने वाला कैसे माना जा सकता है ? अहिंसा का भंग होने से शेष व्रतों का भंग किस प्रकार हो सकता है ?

इस शंका का समाधान करने के लिए कुम्हार की शाला में रहे हुए जल के सञ्चालन का दृष्टान्त दिया जाता है । उस जल के स्पर्श से अपकाय की विराधना होती है । उस पानी में मिट्टी मिली हुई है अतः पृथ्वीकाय का आरम्भ हुआ । जहाँ जहाँ पानी है वहाँ वनस्पति की सत्ता का नियम है । इस नियम से जल के सद्भाव से वहाँ वनस्पति भी समझनी चाहिए और उसकी विराधना होने से वनस्पति का आरम्भ हुआ । पानी के हिलाने से वायुकाय का समारम्भ हुआ और वायु के समारम्भ से वहां रही हुई अग्नि प्रज्वलित होती है जिससे अग्नि का समारम्भ हुआ । अग्नि के समारम्भ होने से त्रस जीवों का समारम्भ होता है । इस प्रकार एक काय की हिंसा में प्रवृत्त हुआ प्राणी अन्य कायों की भी हिंसा करता है । दूसरी बात यह है कि जिसकी हिंसा की भावना है और जो हिंसा करता है वह पहले पहल भले ही छोटे जीवों की हिंसा करे परन्तु धीरे धीरे वह बड़ी २ हिंसाएँ भी कर सकता है । जिसे हिंसा से संकोच भी नहीं वह छोटे और बड़े जीवों का क्या ध्यान रक्खेगा ? पृथ्वीकाय के जीवों की हिंसा करने वाला अप्काय के जीवों को भी हिंसा कर सकता है, अप्काय की हिंसा करने वाला अग्नि की हिंसा में संकोच नहीं कर सकता है । इसी प्रकार जो स्थावरों की हिंसा निस्संकोच करता है वह त्रस की हिंसा

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

भी कर सकता है। तात्पर्य यह है कि जिसे हिंसक भावना में और हिंसक कार्य में संकोच ही नहीं होता वह बड़ी से बड़ी हिंसा कर सकता है इसलिए ऐसा कहा गया है कि जो एक काय की हिंसा करता है वह छ कायों की हिंसा करने वाला समझा जाता है।

जो अहिंसा-व्रत का भंग करता है वह सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह-व्रत की आराधना नहीं कर सकता। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है। संयम अङ्गीकार करते समय अहिंसक रहने की प्रतिज्ञा की जाती है। जब हिंसा करता है तो उस समय ली हुई प्रतिज्ञा का भंग होता है इससे उसके वचन झूठे होते हैं इससे सत्य-व्रत नहीं टिक सकता। मारे जाने वाले प्राणी का उसके प्राणों पर पूरा अधिकार है और वह प्राणी अपने प्राण उस मारने वाले को नहीं सौंपता है। तो भी हिंसक बिना दिये हुए ही उसके प्राणों का हरण करता है जिससे अदत्तादान का पाप लगता है जिससे अस्तेय व्रत टिक नहीं सकता। तथैव तीर्थंकरों ने प्राणातिपात के लिए अनुज्ञा नहीं दी है उनकी आज्ञा के विपरीत ऐसा काम करना—उनकी चोरी करना है। हिंसा करता हुआ प्राणी पापों का उपार्जन करता है जिससे परिग्रह का दोष भी लगता है। परिग्रह के अन्तर्गत मैथुन और रात्रि-भोजन का भी समावेश हो जाता है। क्योंकि परिग्रह के बिना इनका उपयोग नहीं हो सकता। जिसने हिंसा, असत्य, स्तेय, और परिग्रह रूप आस्रव द्वारों को नहीं रोके हैं वह क्या ब्रह्मचर्य पाल सकेगा? इस प्रकार एक व्रत का भंग होने से सभी व्रतों की हानि होती है। जो अहिंसक वृत्ति वाला होता है वही सत्य का साक्षात्कार कर सकता है' वही अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह व्रत का आराधक बन सकता है।

उपर्युक्त कथन से यह फलित होता है कि जो एक भी आस्रव-पापस्थान में निस्संकोच प्रवृत्ति कर सकता है वह सभी पापों को कर सकता है। अतः एक पापस्थान में प्रवृत्ति करने वाला इस अपेक्षा से सब आस्रवस्थानों में प्रवृत्ति करने वाला कहा जाता है।

उक्त सूत्र का वह अर्थ भी संगत ही है कि जो पापस्थानों में से एक भी पापस्थान में प्रवृत्ति करता है। वह छह जीव निकायों में-प्रत्येक में पुनः पुनः जन्म लेता है अर्थात् जन्म-मरण की परम्परा बढ़ाता है।

अतएव हिंसा को पापों की बुनियाद समझकर विवेकी प्राणियों और मुमुक्षुओं को इसका सर्वप्रथम त्याग करना चाहिए।

सुहट्ठी लालप्पमाणे सएण दुक्खेण मूढे विप्परियासमुवेइ, सएण विप्पमाएण पुढो वयं पकुव्वइ, जंसि मे पाणा पव्वहिया, पडिलेहाए नो निकरणयाए, एस परिन्ना पवुच्चइ, कम्मोवसंती।

संस्कृतच्छाया—सुखार्थी लालप्यमानः स्वकीयेन दुःखेन मूढो विपर्यासमुपैति। स्वकीयेन विप्रमादेन पृथग् व्रतं (वयः) प्रकरोति। यस्मिन्निमे प्राणिनः प्रव्यथिताः प्रत्युपेक्ष्य नो निकरणाय एषा परिज्ञा प्रोच्यते, कर्मोपशान्तिः।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

शब्दार्थ—सुहट्ठी=सुख का अभिलाषी। लालप्पमाणे=सुख के लिए दौड़ धाम करता हुआ। सएण=अपने। दुक्खेण=हाथ से उत्पन्न किए हुए दुख से। मूढे=मूढ बनकर। विप्परियासमुवेइ=दुखी होता है। सएण=अपने किये हुए। विप्पमाएण=प्रमाद से। पुढो वयं पकुव्वइ=व्रतों का भंग करता है, अथवा विचित्र अवस्थाओं को भोगता है। जंसिमे=जिन अवस्थाओं में ये। पाणा=प्राणी। पव्वहिया=अत्यन्त दुखी रहते हैं। पडिलेहाए=यह बात जानकर। नो निकरणाए=पर पीड़ाकारी कोई काम न करे। एस=यही। परिन्ना=परिज्ञा-विवेक। पवुच्चइ=कही गई है। कम्मोवसंती=इसीसे कर्मों का क्षय होता है।

भावार्थ—सुख का लोलुपी और सुख के लिए दौड़धाम करने वाला अज्ञानी जीव अपने ही हाथ से उत्पन्न किए हुए दुख से मूढ़ बनकर विशेष दुखी होता है और अपने ही किए हुए प्रमाद के कारण व्रतनियमों का भंग करता है या संसार की विचित्र दशाओं का अनुभव करता है जिन दशाओं में प्राणी अत्यन्त दुखी होते हैं। इस बात को भलीभांति समझ कर दूसरों को पीड़ा देने वाली कोई प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिए। यही परिज्ञा (सच्चा विवेक) कही गई है। इसी परिज्ञा से क्रमशः कर्मों का क्षय होता है।

विवेचन—इस सूत्र में सांसारिक सुख-लिप्सु प्राणियों की विपरीत दशा का चित्र खींचा गया है। जो प्राणी सुख के यथार्थ मूल को खोजे बिना सुख के लिए दौड़धाम करता है वह सुख को नहीं पाता है और बदले में एकान्त दुख प्राप्त करता है।

जिस प्रकार जो प्राणी, "तिलों में तैल होता है; बालुका में नहीं" इस बात को समझे बिना अगर बालुका से तैल निकालने का प्रयत्न करता है तो वह तैल तो नहीं पाता है वरन् व्यर्थ परिश्रम के खेद का अनुभव करता है और दुखी होता है। उसी प्रकार जो प्राणी सुख के मूल कारणों को नहीं जानता हुआ केवल कामभोगों से सुख पाने की अभिलाषा रखता है वह सुख तो नहीं पाता है बल्कि बड़ा भारी दुख मोल ले लेता है। जिस प्रकार कस्तूरी-मृग अपनी ही नाभि से निकलने वाली सुगन्धी के मूल को नहीं जानता है और उस सुगन्धी पदार्थ को पाने के लिए वन में चौकड़ियाँ भरता हुआ इधर उधर भागता है और दुख प्राप्त करता है लेकिन वह नहीं जानता कि इस सुगन्ध का मूल कारण मैं स्वयं हूँ। यह गंध जिसके पीछे मैं लट्टू हो रहा हूँ-मेरी ही है। मुझ में ही इसका उद्भव है। आखिर नतीजा यह होता है कि वह अज्ञानी मृग अपनी ही सुगंध को बाहर से प्राप्त करने में असमर्थ होता है और बहुत दौड़धाम करके अन्त में थक कर दुखी होता है। ठीक इसी तरह मृग के समान अज्ञानी जीव अपनी आत्मा में रहे हुए अनन्त सुख के सौरभ को नहीं जानते हैं और बाह्य-धनादि पदार्थों में सुख को ढूँढते हैं और समझते हैं कि इन पौद्गलिक पदार्थों में सुख रहा हुआ है। ऐसा समझ कर वे उन पदार्थों से सुख पाने के लिए दौड़धाम करते हैं। परन्तु वे बाल-जीव यह नहीं समझते कि बाह्य पदार्थों से सुख पाने का प्रयत्न, पानी को मथकर मक्खन प्राप्त करने के मनोरथ के समान है। जो वस्तु जहाँ हो नहीं सकती उसे उस स्थान पर ढूँढने से क्या हाथ आ सकता है? पानी का मंथन करने से हाथ दुखाने के अतिरिक्त और क्या हाथ आने वाला है? ठीक इसी तरह धनादि से सुख की आशा से बाल जीव दौड़ना, परदेशों में रहना, भूख-प्यास सहना आदि शारीरिक, चापलूसी करना, दीन शब्द बोलना आदि वाचिक और चिन्ता आदि मानसिक कष्ट उठाते हैं

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

परन्तु वे अपने मनोरथ में सफल नहीं हो सकते। सांसारिक बाल जीवों का यह प्रयत्न विष को खाकर अमर बनने की इच्छा के समान, गर्मी से व्याकुल होने पर अग्नि-सेवन के समान, शीत से पीड़ित होने पर बर्फ-सेवन के तुल्य और जीवन के लिए मृत्यु के आलिंगन के समान है इस तरह प्राणी अपने ही किए हुए पापकर्मों से दुखी होता है। सुख के उद्देश्य से किए गए उसके काम, उसके पाप दुखमय बन जाते हैं और उस दुख से किंकर्त्तव्यविमूढ़ बनकर वह विपरीत फल प्राप्त करता है। सुख की अभिलाषा से वह अन्य प्राणियों की हिंसा करता है व दूसरों के जन्मसिद्ध अधिकारों का अपहरण करता है। फल यह होता है कि पापकर्म करके वह दुख की परम्परा बढ़ा लेता है। कहा है:—

दुःखद्विट् सुखलिप्सुर्मोहान्धत्वादहष्टगुणदोषः ।
यां यां करोति चेष्टां तया तया दुःखमादत्ते ॥

अर्थात्—दुख से द्वेष करने वाला, सांसारिक सुख का लोभी और मोह से अन्ध होकर गुण दोष का विचार न करने वाला जो भी क्रियाएँ करता है वह उन क्रियाओं के फलस्वरूप दुख ही प्राप्त करता है। मोह शब्द अज्ञान का द्योतक भी है और मोहनीय कर्म का भेदरूप भी है। यहाँ दोनों प्रकार का मोह समझना चाहिए। इस प्रकार मोहान्ध प्राणी हित को अहित समझता है, अहित को हित समझता है, कर्त्तव्य को अकर्त्तव्य, अकर्त्तव्य को कर्त्तव्य, पथ्य को अपथ्य, अपथ्य को पथ्य, वाच्य को अवाच्य और अवाच्य को वाच्य समझता है। इसके कारण शारीरिक और मानसिक दुखों से पीड़ित होता है।

मूढ़ प्राणी के अन्य भी अनर्थकारी कार्य बताते हुए सूत्रकार फरमाते हैं कि वह अज्ञानी जीव अपने ही द्वारा सेवित मद्य, विषय, कषाय, विकथा और निद्रा रूप पांच प्रमादों के कारण अपने लिए हुए व्रत-नियमों का भङ्ग करता है।

"पुढो वयं पकुव्वइ" इस पद का ऐसा भी अर्थ किया जा सकता है कि पुढो=पृथु, विस्तीर्ण, वयं का अर्थ "वयन्ति-पर्यटन्ति प्राणिनः यस्मिन् स वयः संसारः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार संसार होता है। अर्थात् वह प्राणी संसार का विस्तार करता है—चिरकाल तक छःकाय में रहता है अथवा कारण में कार्य का उपचार करने से ऐसा भी अर्थ होता है कि प्रमादी प्राणी अपने कर्म से एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, गर्भावास, जन्म, व्याधि, दरिद्रता, दुर्भगता आदि आदि दुखद अवस्थाओं को भोगता है।

संसार और उक्त दुखद अवस्थाओं का वर्णन करते हुए सूत्रकार ने फरमाया है कि इस संसार में या इन अवस्थाओं में प्राणी अत्यन्त व्यथित रहते हैं। गर्भावास की विकट वेदना, व्याधियों की धमाचौकड़ी, नरकतिर्यञ्च के अपरम्पार दुख और जन्म मरण की व्याथाएँ यही संसार है। यह संसार मानो एक धधकती हुई विशाल भट्टी है और प्रत्येक प्राणी इसमें कोयले की नाईं जल रहा है। यही संसार का सच्चा स्वरूप है।

संसार के सच्चे स्वरूप का दिग्दर्शन कराने के बाद सूत्रकार उपदेश देते हुए और करुणा से आर्द्र होकर दुख से मुक्त होने का उपाय बताते हैं। वे फरमाते हैं कि हे सुखाभिलाषी प्राणियो! अगर तुम सचमुच सुख प्राप्त करना चाहते हो तो संसार के वास्तविक रूप को समझ कर ऐसी प्रवृत्ति करो जिससे किसी भी अन्य प्राणी को पीड़ा न पहुँचे। अन्य को पीड़ा देना अपने लिए पीड़ा को बुलाना है। इसी प्रकार अन्य को सुख-शान्ति पहुँचाना अपने लिए सुखशान्ति को बुलाना है। अगर तुम दुख से छूटने की इच्छा

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

रखते हो तो कभी दूसरों को पीड़ा न दो और सुख चाहते हो तो दूसरों को सुख दो। यही दुख से मुक्त होने और सुख को प्राप्त करने का उपाय है। पर-पीड़ाकारी प्रवृत्ति का परि-त्याग ही परिज्ञा कहलाती है। इसी का नाम सच्चा विवेक है। पर-पीड़ाकारी प्रवृत्ति से निवृत्ति करना यही तो ज्ञान का फल है। जिस ज्ञान का फल विरति रूप नहीं है वह ज्ञान नट के ज्ञान के समान मात्र विडम्बना रूप ही है। ज्ञ-परिज्ञा और प्रत्याख्यान-परिज्ञा के द्वारा पर-पीड़ाकारी प्रवृत्ति का परित्याग करने से क्रमशः समस्त कर्मद्वन्द्वों का क्षय हो जाता है। संसार का अन्त हो जाता है और परम व चरम पुरुषार्थ-मोक्ष-की प्राप्ति होती है।

जे ममाइयमइं जहाइ से चयइ ममाइयं, से हु दिट्ठपहे मुणी जस्स नत्थि ममाइयं, तं परिन्नाय मेहावी विइत्ता लोगं, वंता लोगसन्नं से मइमं परिक्कमिज्जासि त्ति बेमि ।

संस्कृतच्छाया—*यो ममायितमतिं जहाति स त्यजति ममायितं । स खलु दृष्टपथो मुनिर्यस्य नास्ति ममायितं । तत्परिज्ञाय मेधावी विदित्वा लोकं वान्त्वा लोकसंज्ञां सः मतिमान् पराक्रमेत ।*

शब्दार्थ—जे=जो। ममाइयमइं=ममत्व बुद्धि को। जहाइ=छोड़ता है। से=वह। ममाइयं=ममत्व-परिग्रह को। चयइ=त्यागता है। जस्स=जिसके। ममाइयं=ममत्व। नत्थि=नहीं है। से हु=वही निश्चय से। दिट्ठपहे=मोक्षमार्ग को जानने वाला। मुणी=मुनि है। तं=यह। परिन्नाय=जानकर। मेहावी=बुद्धिमान् मुनि। लोगं=लोक के स्वरूप को। विइत्ता=जानकर। लोगसन्नं=लोकसंज्ञा को। वंता=छोड़कर। से मइमं=वह बुद्धिमान्। परिक्कमिज्जासि=संयम में पराक्रम करे। त्ति बेमि=ऐसा मैं कहता हूँ।

भावार्थ—हे जम्बू ! जो ममत्व-बुद्धि का त्याग कर सकता है वही ममत्व को छोड़ सकता है और जिसे ममत्व नहीं है वही मोक्ष के मार्ग को जानने वाला मुनि है। ऐसा जानकर चतुर मुनि लोक के स्वरूप को जानकर और लोक की संज्ञाओं का त्याग कर विवेकपूर्वक संयम के मार्ग में विचरण करे, ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—इस सूत्र में ममता का परित्याग करने का कहा गया है। ममता का जन्म ममत्व-बुद्धि से होता है। यही कारण है कि जब तक ममत्व-बुद्धि रहती है वहाँ तक पदार्थों के त्याग का वास्तविक उद्देश्य पूर्ण नहीं होता। पदार्थों का संयोग न होने पर भी यदि चित्तवृत्ति में उन पदार्थों के प्रति ममत्व-बुद्धि है तो पदार्थों के अभाव में भी ममता का दोष लगता है इसके विपरीत बाह्यदृष्टि से कोई व्यक्ति परिग्रही नजर आता हो परन्तु वस्तुतः उन पदार्थों पर ममत्व बुद्धि न हो तो वह परिग्रह-त्यागी समझा जा सकता है। उदाहरण के लिए हम देख सकते हैं कि एक दरिद्र भिखारी है। उसके पास बाह्य पदार्थों का अभाव है किन्तु इसीसे हम उसको अपरिग्रही या त्यागी नहीं कह सकते हैं। इसका कारण यह है कि उसकी ममत्व-बुद्धि का नाश नहीं हुआ है। उसकी चित्तवृत्ति पर से ममता नहीं हटी है। पदार्थों के अभाव

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

में भी उसके मन में यह लालसा है कि यदि मुझे पदार्थ मिल जाँय तो मैं उनका उपभोग करूँ। इसी ममत्व भावना के कारण वह त्यागी नहीं माना जाता है। इसके विपरीत भरत चक्रवर्त्ती के परिग्रह का कोई पार न था तो भी ममत्व भावना के अभाव से वे त्यागी माने गए हैं और उन्होंने द्रव्यलिंग के अभाव में भी भाव संयम के कारण आरिसा भवन में ही केवलज्ञान प्राप्त किया था। दशवैकालिक सूत्र में त्यागी की व्याख्या बताते हुए कहा गया है:—

वत्थगंधमलंकारं इत्थीओ सयणाणि य
अच्छंदा जे न भुंजन्ति न से चाई त्ति वुच्चइ॥
जे य इट्ठे कंते भोए लद्धे वि पिट्ठिकुव्वइ।
साहीणे चयइ भोए से हु चाई त्ति वुच्चइ।

उक्त दो गाथाओं में त्यागी की सच्ची परिभाषा दी गयी है। जो व्यक्ति वस्त्र, गन्ध, आभूषण, स्त्रियाँ, शयनासन आदि बाह्य पदार्थों को पराधीन होने से नहीं भोगते हैं वे त्यागी नहीं कहे जाते हैं परन्तु इष्ट, कान्त और मनोज्ञ भोगों को प्राप्त करके भी जो उनसे विमुख होते हैं और स्वेच्छा पूर्वक उनका त्याग करते हैं वे ही त्यागी माने गए हैं। इस तरह विधिनिषेध रूप से त्यागी की स्पष्ट परिभाषा बताई है। उपर्युक्त गाथाओं का यह मतलब नहीं है कि जो साधन-सम्पन्न हैं वे ही साधनों का त्याग करने पर त्यागी कहला सकते हैं और साधनहीन त्यागी नहीं हो सकते। उक्त गाथाओं का तात्पर्य यह है कि जिसकी ममत्व-बुद्धि चली गयी हो वही त्यागी है। साधनहीन होने पर भी यदि चित्त में साधनों को प्राप्त करने की कामना न हो, चित्त में लालसा न हो तो वह त्यागी हो सकता है। सारांश यह है कि ममत्व-बुद्धि का त्याग करने पर ही ममता का त्याग हो सकता है। चित्तवृत्ति जहाँ तक ममत्व-भावना से जकड़ी हुई होती है वहाँ तक पदार्थों का त्याग कर देने पर भी ममता-आसक्ति पैदा होने की है। वस्तुतः पदार्थ आसक्ति के जनक नहीं परन्तु उन पदार्थों में की हुई ममत्व-बुद्धि आसक्ति का कारण है। इससे बाह्य पदार्थों से विकास रुक जाता है यह बात कोई महत्व की नहीं है। विकास को रोकने वाले पदार्थ नहीं परन्तु पदार्थ के प्रति की गई हमारी ममत्व-भावना ही है। इसका यह अर्थ नहीं है कि बाह्य पदार्थों के त्याग की आवश्यकता नहीं है। बाह्य पदार्थों का त्याग, ममत्व-बुद्धि को कम करने के लिए प्राथमिक रूप से उपयोगी है। बाह्य पदार्थों के त्याग का उद्देश्य भी ममत्व-बुद्धि को कम करने का ही है। पदार्थों पर से आसक्ति कम करने के लिए बाह्य पदार्थों का त्याग एक पूर्व साधन है। धीरे धीरे आन्तरिक चित्तवृत्ति पर रही हुई ममत्व-वासना के त्याग से ही वास्तविक उद्देश्य पूरा होता है। तात्पर्य यह निकलता है कि ममत्व-बुद्धि का त्याग ममता के त्याग के लिए आवश्यक है।

सूत्रकार ने ममत्व-बुद्धि के त्याग से भाव परिग्रह और ममता के त्याग से द्रव्य परिग्रह के त्याग का सूचन किया है। परिग्रह के परिणाम को जानने वाले साधक के लिए भाव और द्रव्य परिग्रह का त्याग श्रेयस्कर है।

पदार्थ के सम्बन्धमात्र से चित्त कलुषित नहीं हो जाता। जिस प्रकार मुनि नगरों में रहते हैं या भूमि पर बैठते हैं इस सम्बन्धमात्र से परिग्रह नहीं हो जाता परन्तु ममत्व-भावना से कालुष्य होता है अतएव जो ममत्व-भावना का त्याग करता है वह ममत्व का त्याग करता है और जिसके ममत्व नहीं है वही मुनि मोक्षमार्ग के स्वरूप को जानने वाला है। जो ममत्व को मोक्षमार्ग में अन्तरायरूप और संसार

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

के परिभ्रमण का मूल हेतु समझ कर त्याग करता है वही मोक्ष का अधिकारी हो सकता है। "दिट्ठभए" ऐसा पद मानने पर अर्थ होता है—सात प्रकार के भय को जानने वाला। अर्थात् परिग्रह के कारण साक्षात् या परम्परा से सात प्रकार का भय रहता है। जब परिग्रह का त्याग कर दिया जाता है तो भय नहीं रहता है इसलिए वह दृष्टभय हो जाता है। इस प्रकार परिग्रह को ज्ञ-परिज्ञा से जानकर और प्रत्याख्यान-परिज्ञा द्वारा छोड़ना चाहिए।

बुद्धिमान् साधु का यह कर्त्तव्य है कि वह लोक के स्वरूप को समझ कर लोक-संज्ञाओं का त्याग करे। विदितवेद्य साधु यह विचारे कि परिग्रह के कारण प्राणीगण लोक में एकेन्द्रियादि योनियों में अनेक प्रकार के दुखों को सहन करते हैं। अतः उसका त्याग ही श्रेयस्कर है। साथ ही साथ लोकसंज्ञाएँ भी छोड़नी चाहिए। प्रज्ञापना सूत्र में दस प्रकार की संज्ञाएँ कही गई हैं:—

दस सण्णाओ पण्णत्ताओ तंजहा-आहारसण्णा, भयसण्णा, मेहुणसण्णा, परिग्गहसण्णा, कोह-सण्णा, माणसण्णा, मायासण्णा, लोभसण्णा, ओहसण्णा लोगसण्णाति।

अर्थात्—आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा, परिग्रहसंज्ञा, क्रोधसंज्ञा, मानसंज्ञा, मायासंज्ञा, लोभसंज्ञा, ओघसंज्ञा और लोकसंज्ञा ये दस प्रकार की संज्ञाएँ हैं। इन दस प्रकार की संज्ञाओं का भी त्याग करना चाहिए। अथवा लोकसंज्ञा में समाविष्ट कीर्ति, मोह, लालसा, वासना और अहंकारादि का त्याग करना चाहिए। धर्मिष्ट पुरुषों के धर्म-कार्य भी अगर कीर्ति-मोह से या लोक-वासना से किए गये हों तो वे निष्फल होते हैं। विकास के मार्ग में आगे बढ़े हुए साधकों का भी इस प्रकार के लोकसंज्ञा के अंधानुकरण से गहन पतन होने की सम्भावना रहती है। कई आगे बढ़े हुए साधक भी कीर्ति और यश की कामना के कारण पतनोन्मुख होते हुए देखे जाते हैं। कीर्ति-लोभ का संवरण करना साधारण काम नहीं है तो भी सच्चे साधक के लिए तो इस प्रकार की लोक-संज्ञाओं का त्याग आवश्यक हो जाता है। सच्चे आत्मार्थी और मुमुक्षु प्राणी को कीर्ति-लोभ से क्या प्रयोजन? इस प्रकार की लोकसंज्ञाओं के त्याग के लिए प्रबल वैराग्य की आवश्यकता है। जबतक वैराग्य का वेग प्रबल रहता है वहाँतक ममत्व-भावना या कीर्ति-भावना जागृत ही नहीं हो सकती। परन्तु जहाँ वैराग्य का वेग कम हुआ वहाँ शीघ्र उक्त भावनाएँ जागृत हो जाती हैं और आगे बढ़े हुए साधक को पीछे धकेल देती हैं और उसका पतन कर देती हैं। अतः अपने वैराग्य को सदा दृढ़ रखकर ममत्व-भावना और लोक-संज्ञा का त्याग कर संयम के मार्ग में विवेक पूर्वक प्रवृत्ति करनी चाहिए। इसीसे साध्य की सिद्धि हो सकती है।

नारइं सहई वीरे, वीरे न सहई रतिं। जम्हा अविमणे वीरे, तम्हा वीरे न रज्जइ ॥

संस्कृतच्छाया—*नारतिं सहते वीरो, वीरो न सहते रतिं। यस्मादविमना वीर स्तस्माद्वीरो न रज्यति*

शब्दार्थ—वीरे=पराक्रमी मुनि। अरइं=संयम में उत्पन्न अरुचि को। न सहइ=उपेक्षा नहीं करता है। वीरे=वीर साधु। रतिं=बाह्य प्रलोभनों में होती हुई रुचि को। न सहइ=उपेक्षा नहीं करता है। जम्हा=क्योंकि। वीरे=वीर साधु। अविमणे=अन्यमनस्क नहीं होता है-शान्त

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

होता है। तम्हा=इसलिए। वीरे=वीर साधक। न रज्जइ=किसी पदार्थ पर रागवृत्ति उत्पन्न नहीं होने देता है।

भावार्थ—पराक्रमी साधक संयम में उत्पन्न हुई अरुचि की उपेक्षा नहीं करता है और बाह्य पदार्थों में होने वाली रति को नहीं सहन कर सकता है अर्थात् वीर साधु संयम में अरति और विषयों में रति नहीं करता है। सच्चा साधु रति या अरति उत्पन्न होने पर भी डांवाडोल नहीं होता है; वह शान्त रहता है और इसीलिए वह किसी भी पदार्थ पर रागवृत्ति उत्पन्न नहीं होने देता है।

विवेचन—साधना-मार्ग के प्रत्येक पथिक में सांसारिक वृत्ति के गाढ़ अथवा अल्प संस्कार हुआ करते हैं इसलिये किसी मोहक वस्तु के निमित्त को पाकर वे गूढ़ रहे हुए संस्कार जागृत हो जाते हैं। जिनकी वजह से संयम के प्रति अरुचि उत्पन्न हो जाती है और प्रलोभन उत्पन्न करने वाले बाह्य पदार्थों पर आसक्ति हो जाती है। ऐसे प्रसंग पर जो वीर साधु होते हैं वे उस उत्पन्न हुई अरुचि को सहन करके उपेक्षा नहीं करते हैं तथा विषयों के प्रति पैदा हुई रुचि को भी नहीं सहते हैं। ज्योंही यह प्रतीत होने लगे कि चित्त-वृत्तियों का वेग विघ्न दिशा में गति कर रहा है त्योंही साधक को सावधान हो जाने की आवश्यकता है। निम्नदिशा में ढलती हुई चित्तवृत्ति को देखकर भी यदि उसकी उपेक्षा की जाय तो न मालूम वह पतन कहाँ जाकर रुकेगा। दोषों की तरफ झुकती हुई वृत्ति को प्रतिक्रिया यदि समय पर ही न कर दी जाय तो उसके इतने बढ़ने की सम्भावना रहती है कि फिर उस पर काबू रखना अत्यन्त कठिन हो जाता है। अगर अग्नि के कण के प्रति दुर्लक्ष्य कर उपेक्षा की जाती है तो उसका परिणाम यह आता है कि उस बढ़ती हुई अग्नि की ज्वाला पर काबू करना कठिन हो जाता है और वह भीषण अग्नि अत्यन्त संहारक हो जाती है। जिस प्रकार वट-वृक्ष का बीज अत्यन्त छोटा होता है परन्तु बढ़ते २ वह विशाल रूप धारण कर लेता है। ठीक इसी तरह प्रारम्भ में दोष बहुत छोटे मालूम होते हैं लेकिन उनकी उपेक्षा की जाती है तो वे बड़े भयंकर सिद्ध होते हैं।

ज्योंही साधक को यह ज्ञात हो जाय कि उसकी वृत्तियाँ निम्नगामिनी होने लगी हैं त्योंही उसे सावधान होकर समता-योग का आश्रय लेना चाहिए। ऐसी डाँवाडोल स्थिति में यदि साधक किसी एक वृत्ति की तरफ झुक जाता है तो परिणाम यह होता है कि फिर उस वृत्ति पर काबू नहीं किया जा सकता अपितु वह दूषित वृत्ति प्रबल बनकर साधक पर काबू कर लेती है। समय पर चूके हुए व्यक्ति का परिश्रम बहुत लम्बे काल के लिए व्यर्थ होता है। परीक्षा में चूके हुए को पुनः सालभर तक उसी कक्षा में रहना पड़ता है। उसी प्रकार रति-अरति उत्पन्न होने के समय अगर साधक चूक जाता है तो उसकी सारी साधना पर पानी फिर जाता है और पुनः उस मार्ग पर आने के लिए शतगुण परिश्रम करने पर भी कई बार निष्फल होना पड़ता है इसलिए ऐसे प्रसंग पर प्रमादी बनना अत्यन्त भयंकर है। ऐसे प्रसंग पर जो उस उगती हुई दूषित वृत्ति पर काबू कर लेता है वही सचमुच वीर है। सच्चा वीर प्रतिकूल और अनिष्ट संयोगों में भी कभी अपने साध्य से पतित नहीं होता है। सच्चा वीर रति-अरति को उत्पन्न ही नहीं होने देता। कदाचित् निमित्तों की प्रबलता से रति-अरति उत्पन्न भी हो जाय तो वह अपने हृदय पर उसका असर नहीं होने देता। रति-अरति में वह कदापि खेद का अनुभव नहीं करता है और विषयों में या प्रलोभनों में लुब्ध बनकर किसी पदार्थ पर आसक्त नही होता है अपितु ऐसे प्रसंग पर सावधान और

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

स्वस्थ होकर समता-योग की साधना करता हुआ चित्त को साधना में स्थिर करता है वही सच्चा वीर है। वही कर्मों का विदारण करने वाला सच्चा शूरवीर है।

सद्दे फासे अहियासमाणे, निव्विंद नंदिं इह जीवियस्स। मुणी मोणं समायाय धुणे कम्मसरीरगं। पंतं लूहं सेवंति वीरा सम्मत्तदंसिणो, एस ओहंतरे मुणी तिण्णे, मुत्ते, विरए वियाहिए त्ति बेमि।

संस्कृतच्छाया—*शब्दान् स्पर्शानध्यासमानो निर्विन्दस्व नान्दिमिह जीवितस्य। मुनिर्मौनं समादाय धुनीयात् कर्मशरीरकम्। प्रान्तं रूक्षं सेवन्ते वीरा सम्यक्त्वदर्शिनः। एष ओघन्तरो मुनिस्तीर्णो मुक्तो विरतो व्याख्यातः इति ब्रवीमि।*

शब्दार्थ—सद्दे=शब्दों को। फासे=स्पर्श को। अहियासमाणे=सहन करते हुए। इह=इस। जीवियस्स=असंयमित जीवन के। नंदिं=प्रमोद और मोह को। निव्विंद=घृणा की दृष्टि से देखो। मोणं=संयम को। समादाय=ग्रहण कर। मुणी=मुनि। कम्मसरीरगं=कर्मरूप शरीर को। धुणे=आत्मा से अलग करे। वीरा=सत्पुरुषार्थी। सम्मत्तदंसिणो=सम्यक् तत्त्वों को जानने वाले। पंतं=नीरस, हल्का। लूहं=लूखा भोजन। सेवन्ति=करते हैं। एस मुणी=ये ही साधु। ओहंतरे=संसार के प्रवाह को तैरते हैं। तिण्णे=तिरे हुए हैं। मुत्ते=परिग्रह से मुक्त हुए। विरए=त्यागी। वियाहिए=कहे गए हैं। त्ति बेमि=ऐसा मैं कहता हूँ।

भावार्थ—हे साधको! तुम्हारे मार्ग में मोहक शब्द और मनोज्ञ स्पर्श इत्यादि विषय उपस्थित होवेंगे परन्तु ऐसे प्रसंग पर उनको सहन कर लेना और इस असंयमित जीवन के आमोद-प्रमोद को घृणा की दृष्टि से देखकर उससे अलग रहना। हे शिष्य! मुनिरत्न संयम की आराधना करके कर्मरूप शरीर को आत्मा से पृथक् करने का या देह के ममत्व को छोड़ने का प्रयत्न करते हैं। सच्चे पुरुषार्थी और तत्व-दर्शी महापुरुष लूखा-सूखा आहार करते हैं। ऐसे मुनि संसार के प्रवाह को तिर सकते हैं और ऐसे महापुरुष संसार से तिरे हुए, परिग्रह से मुक्त हुए और त्यागी समझे जाते हैं ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—इसके पूर्ववर्ती सूत्र में रति-अरति को निराकरण करने का उपदेश दिया गया है। जो व्यक्ति रति-अरति का निराकरण करने में समर्थ होता है वही अपनी साधना के दुर्गम मार्ग पर सफलता पूर्वक प्रगति कर सकता है। इसी बात को पुनः दृढ करते हुए इस सूत्र में साधकों को सूचित किया गया है कि देखो! तुम्हारे साधना के मार्ग में अनेकविध बाधाएँ उपस्थित होगीं। वे रुकावटें तुम्हें तुम्हारे मार्ग से पतित करने के लिए प्रयत्न करेगीं परन्तु तुम अपने प्रगति के पथ पर अविचलित होकर प्रयाण करते रहना। अनेक प्रकार के आकर्षक शब्द, मादक रूप, मोहक सुगंध, रसीले स्वाद और सुकोमल स्पर्श तुम्हें लुभाने का प्रयत्न करेंगे। इसी प्रकार कर्कश, भयंकर और कर्णकटु शब्द, बीभत्स रूप, नाक को फाड़ने

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

वाली दुर्गन्ध, अमनोज्ञ स्वाद और अनिष्ट स्पर्श भी तुम्हें विचलित करने के लिए उपस्थित होवेंगे परन्तु हे साधको ! तुम पर्वत के समान अडोल रहना। मोहक आकर्षण और अमनोज्ञ विषयों में रति-अरति न कर बैठना अन्यथा ऐसे गिरोगे कि कहीं पता ही न लगेगा ! कहीं के न रहोगे ! न दीन के न दुनियाँ के। कहा है:—

सद्देसु अ भद्दयपावएसु सोयविसयमुवगएसु।
तुट्ठेण व रूट्ठेण व समणेण सया न होअव्वं॥

अर्थात्—कर्ण-प्रदेश में आये हुए मनोज्ञ या अमनोज्ञ शब्दों में साधुओं को राग या द्वेष नहीं होना चाहिए। इसी प्रकार मनोज्ञ या अमनोज्ञ रूप, गन्ध, रस और स्पर्श में भी राग-द्वेष नहीं करना चाहिए। ऐसे प्रसंग के उपस्थित होने पर राग-द्वेष रहित होकर उसे पुद्गलों का तथारूप परिणमन जान कर समभाव से सहन करना चाहिए।

मनोज्ञ शब्दादि विषयों को सन्मुख उपस्थित जानकर भी उनमें रागभाव का स्थापन नहीं करना चाहिए वरन् इस असंयमित जीवन के आमोद-प्रमोदों को तुच्छ जानकर उनसे घृणा करनी चाहिए। इस जीवन के आमोद-प्रमोद अनेक भवों के विषादों और दुखों को साथ लेकर आते हैं। अतः क्षणिक और तुच्छ सुख के लिए सैकड़ों भवों में रुलाने वाले आमोद-प्रमोदों के सेवन से क्या लाभ ? ये प्राप्त-साधन भी छाया के समान हैं। यह छाया सदा एकसी नहीं रहती अतः वैभव में व विलासों में अभिमान करने का या वैभव के अभाव में दुखी होने का कोई कारण नहीं क्योंकि हस्तताडित गेंद के समान मनुष्यों का उत्थान और पतन होता ही रहता है। जिस प्रकार सनत्कुमार चक्रवर्ती ने अपने रूप को तुच्छ समझ कर परमार्थ को प्राप्त किया इसी प्रकार संसार के जुगुप्सित कामभोगों से घृणा करनी चाहिए और निर्वेद प्राप्त कर परमार्थद्रष्टा बनना चाहिए।

इस प्रकार शब्दादि विषयों से निर्विघ्न होकर जो मुनि चारित्र का निर्मल रूप से आराधन करता है वह कर्मरूपी शरीर को आत्मा से पृथक् कर देता है अथवा औदारिक आदि शरीर को धुन देता है। उस पर ममत्व-भाव नहीं रखता है वह देह-भाव से परे हो जाता है।

जो सत्पुरुषार्थी, तत्त्वदर्शी तथा समदर्शी प्राणी देहभाव परे हो जाते हैं वे लूखे-सूखे आहार से ही निर्वाह करते हैं। नीरस अथवा रूक्ष भोजन भी वे द्वेषरहित (धूमदोषहीन) और रागरहित (अङ्गार दोष रहित) होकर सेवन करते हैं। वे इस शरीर को आत्म-साधना का उपयोगी साधन समझ कर सादा आहारादि देकर इसका पालन करते हैं। जो सम्यक्त्वदर्शी हैं वे आत्मा और शरीर को भिन्न जानते हुए इसे अपना स्वरूप नहीं समझते। शरीर से सम्बद्ध होते हुए भी "मैं कुछ और हूँ मेरा शरीर कुछ और है" ऐसा प्रति क्षण उन्हें ध्यान रहता है। यही कारण है कि वे देहभाव से परे होते हैं। अतः उन्हें न स्वादिष्ट पदार्थों की चाह है, न सुन्दर वस्त्रों की तमन्ना है। वे तो अपनी आवश्यकताओं को दिन-प्रतिदिन हल्की करते जाते हैं और द्रव्य तथा भावकर्म के भार से मुक्त होकर हल्के बनते हैं। वे लूखा-सूखा आहार करते हैं फिर भी जो बहुमूल्य पदार्थों का उपभोग करते हैं उनकी अपेक्षा बहुत ही अधिक आत्म-संतोष का अनुभव करते हैं।

ऐसे सम्यक्त्वदर्शी और समदर्शी प्राणी देहभाव से परे रहने के कारण संसार-समुद्र को तैर जाते हैं अथवा क्रियमाण को कृत मानने की अपेक्षा से वे संसार-समुद्र से पार हो चुके हैं। वे बाह्य और आभ्यन्तर

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

परिग्रह से मुक्त हो गए हैं। वे विरत हैं। जो ममता-परिग्रह से मुक्त हैं और जो पापों से विरत हैं ऐसे मुनि ही भावओघ—संसार समुद्र को तैर चुके हैं ऐसा मैं कहता हूँ। जो सर्वदर्शी हैं और तदनुसार वर्त्ताव करने वाले हैं ऐसे ही प्राणी स्वयं तिरते हैं और दूसरों के तारक बन सकते हैं। केवल तत्त्वज्ञान की बातों से ही कोई तारक नहीं हो जाता। ज्ञान और विरति मोक्ष के प्रधान कारण हैं।

दुव्वसुमुणी अणाणाए, तुच्छए गिलाइ वत्तए। एस वीरे पसंसिए, अच्चेइ लोयसंजोगं एस नाए पवुच्चइ।

संस्कृतच्छाया—*दुर्वसुमुनिः अनाज्ञया, तुच्छः ग्लायति वक्तुं। एष वीरः प्रशंसितोऽत्येति लोकसंयोगम्, एष न्यायः प्रोच्यते।*

शब्दार्थ—अणाणाए=तीर्थङ्करों की आज्ञा को न मानकर स्वच्छंद बना हुआ। दुव्वसु मुणी=मुनि मोक्ष प्राप्ति के अयोग्य होता है। तुच्छए=वह ज्ञानादि से रिक्त होने से। वत्तए=पूछे जाने पर प्रत्युत्तर देने में। गिलाइ=ग्लानि का अनुभव करता है। लोयसंजोगं=जो दुनिया की जंजाल से। अच्चेइ=पार होता है। एस=वही। वीरे=वीर। पसंसिए=प्रशंसा के योग्य है। एस नाए=वही तीर्थङ्करों का मार्ग न्यायमार्ग। पवुच्चइ=कहा जाता है।

भावार्थ—तीर्थंकर देव की आज्ञा को न मानकर जो साधक स्वच्छंदी बनकर विचरता है वह मुक्ति प्राप्त करने के लिए सर्वथा अयोग्य है। ऐसे साधक विज्ञान से अपूर्ण होने की वजह से प्रश्न पूछे जानेपर प्रत्युत्तर देने में ग्लानि, भय और संकोच का अनुभव करता है। इसलिए जो वीतराग की आज्ञा का आराधक बनकर संसार की जंजाल से पार हो जाता है वही वीर सचमुच प्रशंसा के योग्य है। तीर्थंकर प्ररूपित यही मार्ग न्यायमार्ग कहा जाता है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में आराधकत्व और अनाराधकत्व की चर्चा की गई है। जो वीतराग की आज्ञा का आराधक है वही मोक्ष का आराधक हो सकता है। जो वीतराग की आज्ञा का आराधक नहीं है वह मोक्ष का अधिकारी भी नहीं हो सकता है। वीतराग की आज्ञा के आराधन से ही मुक्ति की आराधना हो सकती है, अन्यथा नहीं। जो व्यक्ति अपने स्वच्छन्दाचार से वीतराग देव की आज्ञा के विरुद्ध आचरण करते हैं वे मोक्ष-प्राप्ति के लिए अयोग्य हैं।

वीतराग की आज्ञा, संसारी जीवों को संसार के जन्म-मरण आदि की यातनाओं से छुड़ाने वाली, परम मङ्गलमयी, सर्वजनहितकारी, सद्भूत अर्थों को प्रकट करने वाली, एकान्तवादियों के द्वारा कदापि पराभूत न होने वाली, नय और प्रमाणों से वस्तु-तत्त्व का बोध देने वाली, मिथ्यादृष्टियों के लिए दुर्ज्ञेय और भव्यजनों के परम पुरुषार्थ को प्रकट करने वाली है। जिनेश्वर देव राग-द्वेष से परे हो चुके हैं, आकांक्षा और लोभ का समूल क्षय कर चुके हैं अतः वे कभी असत्य-भाषण नहीं कर सकते। उनके असत्य-भाषण का कोई कारण ही नहीं है। अतः कहा है कि—"नान्यथा वादिनो जिनाः। अर्थात् जिन

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

भगवान् अन्यथावादी हो ही नहीं सकते। निष्कारण उपकार करने वाले, तीन काल और तीन लोक को हस्तामलकवत् जानने वाले, राग-द्वेष के सम्पूर्ण विजेता, त्रिलोकबन्धु तथा कृतकृत्य जिनेश्वर देव के वचन सत्य ही होते हैं। वे एकान्त करुणा से आर्द्र होकर जगज्जनों के लिए उपदेश फरमाते हैं, विधि निषेधों का प्रतिपादन करते हैं और प्राणियों को दुखों से मुक्त होने का उपाय बताते हैं। भव्यजनों के लिए वीतराग की आज्ञा मार्गदर्शिका है। यही आज्ञा आकाश-दीप के समान भूले हुए पथिकों को सच्चे मार्ग पर लाती है। जो वीतराग की आज्ञा का पालन करते हैं वे ही मोक्ष पाने के अधिकारी हो सकते हैं अन्य नहीं। वीतराग ने जो उपदेश दिया है वह उनका पूर्ण परीक्षित और आचीर्ण प्रयोग है। उन्होंने जिस मार्ग का अनुसरण किया है, जिसके द्वारा केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन प्राप्त किया है और जिसके द्वारा अपना सर्वोत्कृष्ट विकास किया है वह सुन्दर से सुन्दर उपाय उन्होंने संसार को बता दिया है। उनका उपदेश शब्द-रचना-मात्र ही नहीं है परन्तु उन्होंने उसे अपने जीवन में व्यवहृत करके उसे व्यावहारिक और आचरणीय बनाया है। पूर्ण अनुभव के पश्चात् उन्होंने यह बताया कि सच्चा तत्वज्ञान करना, वस्तु के सच्चे स्वरूप को समझना, मन वचन और कर्म को संयम के मार्ग में लगा देना, निमित्तों के उपस्थित होने पर भी संयम में अरुचि और विषयों में राग न करके अपनी वृत्तियों को समतोल रखना और तपस्वी जीवन व्यतीत करना यही सुख का और मोक्ष का मार्ग है। अपने लक्ष्य-मोक्ष-को प्राप्त करने के लिए इसी मार्ग का अवलम्बन लेना चाहिए। यही वीतराग की आज्ञा है।

साध्य की प्राप्ति के लिए साधना की आवश्यकता होती है। प्रत्येक वस्तु को प्राप्त करने के लिए परिश्रम-साधना-अनिवार्य है। साधारण वस्तुओं को प्राप्त करने के लिए भी परिश्रम अनिवार्य है तो अनमोल वस्तुओं के लिए कितने श्रम और धैर्य की आवश्यकता रहती है यह सब समझ सकते हैं। परिश्रम किए बिना या अल्प परिश्रम करके फल के लिए आतुर रहने की वृत्ति को छोड़े बिना साध्य सिद्ध नहीं हो सकता। जो व्यक्ति नियत समय से पूर्व ही फल पाना चाहते हैं वे कभी सफल नहीं हो सकते। जमने के पहले आतुर होकर दही की जावनी को छेड़ना या पकने के पहले फल को तोड़कर खा जाना, अहितकर ही है। फल पाने के लिए श्रम और धीरज आवश्यक है। अज्ञानी प्राणी साधना की कठिनता से डरकर या शीघ्र फल न मिलने के कारण साधना को ही छोड़ बैठते हैं।

वीतराग देव ने मोक्ष-प्राप्ति के लिए तत्त्वज्ञान और संयम रूप मार्ग की प्ररूपणा की है। परन्तु अज्ञानी प्राणी उस मार्ग में कठिनता का अनुभव करता है क्योंकि वीतराग की आज्ञा संयम का विधान करती है और उसकी वृत्तियाँ स्वच्छन्द रहना चाहती हैं। अज्ञानी प्राणी-वर्ग अपनी वृत्तियों पर अंकुश रखना पसन्द नहीं करता अतः उसे वीतराग की आज्ञा अरुचिकर मालूम होती है। मिथ्यात्व से मोहित होने की वजह से वह सच्चा स्वरूप नहीं समझ सकता, व्रतों में स्वयं को स्थापित करना उसके लिए कठिन है। लूखा-सूखा आहार करना, इष्ट अनिष्ट संयोगों में समभाव रखना और अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना अत्यन्त कठिन मालूम होता है। इसका कारण यह है कि यह जीव अनादिकाल से राग-द्वेष के बन्धनों में पड़ा हुआ है और इसकी वजह से अपनी स्वाभाविक दशा को भूल कर ऐसी विभाव-दशा में आ गया है कि इसे सांसारिक और इन्द्रियजन्य सुखों से मोह हो गया है और वीतराग की आज्ञा में उसे डर और शंका मालूम होती है। वीतराग के मार्ग में पौद्गलिक सुखों का त्याग करना पड़ता है और वह अज्ञानी प्राणी उन सुखों में ही सच्चा सुख मानकर उनसे चिपका रहना चाहता है इसलिए वह वीतराग की आज्ञा से विपरीत चलता है और स्वच्छन्द विचरण करता है। उसका यह स्वच्छन्द विचरण उसे महा भयंकर फल देने वाला होगा। वह अनन्तकाल तक इसी संसार में जन्म-मरण करता रहेगा और

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

उसे अनेक प्रकार की यातनाओं और व्यथाओं को सहन करने के लिए बाध्य होना पड़ेगा। वीतराग की आज्ञा कठिन है परन्तु उसका फल त्रिकाल कल्याणकारी और सर्वथा हितकारी है। जिस प्रकार कल्याणकारी और सर्वथा हितकारी स्वास्थ्य को प्राप्त करने के लिए रोगी को कड़वी औषधि का पान करना पड़ता है और वह कड़वी औषधि सेवन करता है तो ही रोग से मुक्त हो सकता है। अगर रोग के समय स्वाद के वश होकर कड़वी औषधि का सेवन न करे तो वह रोग-मुक्त नहीं हो सकता। ठीक इसी तरह विभाव-दशापन्न जीव जब तक कठिन मालूम देने वाले संयम का सेवन न करे वहाँ तक वह विभाव-दशा से मुक्त नहीं हो सकता। इसलिए विवेकी पुरुषों का यह कर्त्तव्य है कि कठिन प्रतीत होने वाली वीतराग की आज्ञा का भी यथाविधि पालन करे ताकि अपनी स्वाभाविक दशा को प्राप्त कर सके और विभाव-दशा से पिण्ड छूटे। तात्पर्य यह है कि वीतराग की आज्ञा के आराधन में मोक्ष का आराधन है।

जो व्यक्ति तीर्थङ्करों की आज्ञा का आराधक नहीं होता वह ज्ञान, दर्शन और चारित्र से रिक्त होता है। वह तत्त्वज्ञान से वञ्चित रहता है। वह अनुभवशून्य और अपूर्ण रहता है। जिसने संसार के विविध तत्त्वों का विविध दृष्टिबिन्दुओं से अवलोकन किया हो और जगत् के पदार्थों, अवयवों और घटना-चक्रों का जिसने सूक्ष्मरीति से अनुभव किया हो वही सच्चा ज्ञानी कहा जा सकता है। जो वीतराग की आज्ञा से विपरीत चलता है वह स्वच्छन्दाचारी इस प्रकार के अनुभव से शून्य होता है। इसलिए जब कोई व्यक्ति उससे किसी प्रकार का प्रश्न करता है तो वह ज्ञानशून्य होने से प्रत्युत्तर नहीं दे सकता है और बीलता हुआ ग्लानि, संकोच और डर का अनुभव करता है। अगर वह ज्ञानादि समन्वित भी हुआ तो भी आचार के अभाव से यथातथ्य प्ररूपणा नहीं करता हुआ स्वयं भी डूबता है और अन्य को भी डुबाता है। अपना आचरण शुद्ध न होने से वह शुद्ध प्ररूपणा करते हुए संकोच करता है और ग्लानि का अनुभव करता है। इसके विपरीत जो व्यक्ति आज्ञा का आराधक है वह आचार-सम्पन्न होने की वजह से शुद्ध प्ररूपणा करता हुआ संकोच नहीं करता है। कषायरूपी महाविष के लिए औषधि के समान वीतराग की आज्ञा की आराधना करने वाला प्राणी यथार्थ ज्ञानी और यथार्थ अनुष्ठान करने वाला होने से सम्यक् प्ररूपणा करता है।

जो वीतराग की आज्ञा का आराधक होकर यथार्थज्ञानी तथा यथार्थ क्रिया करने वाला होता है वही कर्मों का विदारण करने में समर्थ होता है। कर्म का विदारण करने से ही वह सच्चा वीर कहलाता है। जो व्यक्ति संसार के बाह्य और आभ्यन्तर संयोगों का त्याग करता है वही वस्तुतः प्रशंसनीय है। धन, धान्य, सोना, चांदी, माता-पिता पत्नी आदि का संयोग बाह्य संयोग कहलाता है और राग-द्वेष आदि का या इनके कार्यरूप आठ प्रकार के कर्मों का संयोग आभ्यन्तर संयोग कहलाता है। बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार के ममत्व का जो त्याग करता है वही सच्चा त्यागवीर अमर कीर्ति और शाश्वत यश को प्राप्त करता है। आप्त तीर्थङ्करों द्वारा भी उसकी गुणगाथा गायी जाती है। ऐसा पुरुष ही कर्म-बन्धनों से मुक्त होकर सिद्ध बनता है।

इस प्रकार लोकसंयोग का त्याग करना और वीतराग की आज्ञा का यथाविधि आराधन करना यही सच्चा त्यागमार्ग है। यही मुमुक्षुओं का आचार है। यही मोक्ष में ले जाने वाला मार्ग है। इसीसे अपने चरम लक्ष्य की सिद्धि है। जो इस वीतराग के बताये हुए मार्ग पर विघ्नबाधाओं की परवाह किए बिना अविरल गति से बढ़ता रहता है वह अपने लक्ष्य को प्राप्त कर अवश्य कृतकृत्य हो जाता है।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

जं दुक्खं पवेइयं इह माणवाणं तस्स दुक्खस्स कुसला परिन्नमुदाहरंति इह कम्मं परिन्नाय सव्वसो ।

संस्कृतच्छाया—*यद्दुःखं प्रवेदितमिह मानवानां तस्य दुःखस्य कुशलाः परिज्ञामुदाहरन्ति । इह कर्म परिज्ञाय सर्वशः (आस्रवद्वारेषु न वर्त्तेत)*

शब्दार्थ—इह=इस संसार में । माणवाणं=मनुष्यों के लिए । जं दुक्खं=जो दुख या दुख के कारण । पवेइयं=कहे गए हैं । तस्स=उन । दुक्खस्स=दुखों के कारणों से छूटने के लिए। कुसला=कुशल साधक । परिन्नमुदाहरन्ति=ज्ञ-प्रत्याख्यान-परिज्ञा द्वारा उनका त्याग करते हैं । इह=इस प्रकार । कम्मं=दुख के कारण कर्मों को । परिन्नाय=जानकर । सव्वसो=सर्वथा तीन-करण तीनयोग से आस्रव द्वारों में प्रवृत्ति न करे । अथवा सव्वसो=सब प्रकार का ज्ञान करके ही उपदेश दे ।

भावार्थ—हे जम्बू ! इस संसार में ज्ञानी पुरुषों ने मनुष्यों के लिए जो दुख उत्पन्न होने के कारण बताये हैं उन कारणों को कुशल साधक ज्ञ—परिज्ञा द्वारा जानता है और प्रत्याख्यान—परिज्ञा द्वारा उनका त्याग करता है । ये दुख अपने किये हुए कर्मों के फलरूप हैं ऐसा जानकर आस्रवद्वारों में प्रवृत्ति न करे । अथवा कर्मों को भलीभांति जानकर और सब प्रकार का ज्ञान प्राप्त कर अन्य को उपदेश दे ।

विवेचन—इसके पूर्व-सूत्र में न्यायमार्ग का कथन किया गया है । न्यायमार्ग को जान लेने के पश्चात् उसको अङ्गीकार किया जा सकता है । वस्तु के रहस्य को समझने से तद्विषयक उचित्त प्रवृत्ति या या निवृत्ति करने का कार्य कथञ्चित् सरल बन जाता है । जिसने तीर्थङ्कर द्वारा प्ररूपित न्यायमार्ग का निश्चय कर लिया है वह उसे आदरने के लिए अवश्य प्रयत्नशील होगा और आर्य-तीर्थकरों ने जो दुखों के कारण बताये हैं उनसे मुक्त रहने का प्रयत्न करेगा ।

परम कारुणिक आप्त पुरुषों ने सांसारिक प्राणियों को निरन्तर दुख की भट्टी में कोयले की नाईं जलते हुए देखकर तथा दया से आर्द्र बनकर संसार के प्राणियों को दुख मुक्त होने के उपाय बताए हैं । उन्होंने दुखों के कारणों को समझ कर दुख से पिण्ड छुड़ाने के लिए उन कारणों का परित्याग करने का फरमाया है । जिस प्रकार कुशल वैद्य रोग की औषधि देने के पहिले यह निदान करता है कि इस रोगो-त्पत्ति का कारण क्या है ? बिना निदान के औषधि हितकर नहीं होती । निदान करने के बाद वह रोगों को हटाने के लिए औषधि देता है और रोगोत्पत्ति के कारणों से दूर रहने के लिए पथ्यादि कहता है । इसी प्रकार आप्त-पुरुषों ने सबसे पहिले दुखों का निदान किया और बतलाया कि इन इन कारणों से दुखरोग की उत्पत्ति हुई है । अगर इस रोग से मुक्त होना चाहते हो तो पहिले दुखों के इन कारणों का परित्याग करो तभी दुख से मुक्त हो सकोगे । आप्त-पुरुषों के द्वारा कहे गये दुखों को या दुख के कारणों को समझ कर जो कुशल साधु उन कारणों का परित्याग करता है वह दुख से मुक्त हो जाता है । कारणों की निवृत्ति हो जाने से कार्य की निवृत्ति स्वतः हो जाती है । जब रोग के कारण मिट जाते हैं तो

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

रोग नहीं टिक सकता। जब दुखों के कारणों का त्याग कर दिया जाता है तो दुख नहीं ठहर सकते हैं। कारणों के चले जाने से वे स्वयं चले जाते हैं। कोई प्राणी अगर अग्नि को शान्त करना चाहता है तो उसको अग्नि के कारणों को दूर करना चाहिए। परन्तु अज्ञानवश अग्नि को शान्त करने के लिए यदि उसमें ईन्धन डालता जाय तो वह शान्त होगी या प्रज्वलित होगी ? विषयान्ध और मोहान्ध प्राणी भी दुखों की अग्नि की शान्ति के लिए कामभोग-रूपी ईन्धन का सेवन करते हैं इससे दुख-रूप अग्नि शान्त होगी या प्रज्वलित होगी ? वह अज्ञान-वश दुख के सच्चे कारणों को ही नहीं समझता है और उसके दुख की परम्परा बढ़ा लेता है। अतः आप्त-पुरुषों के वचनों को प्रमाण मानकर उन्होंने जो दुख के कारण बताए हैं उनसे निवृत्ति करनी चाहिए तभी सुख और शान्ति का अनुभव हो सकता है। अन्यथा कदापि नहीं।

मनुष्यों को यह विचारना चाहिए कि वस्तुतः दुखों की जड़ क्या है ? किन कारणों से दुख उत्पन्न होते हैं ? अगर मनुष्य अपनी विचारबुद्धि से काम ले तो वह सरलता से जान सकता है कि वह अपने ही कर्मों द्वारा दुखी हो रहा है। वह अपने ही हाथों अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मार रहा है। मनुष्य के अशुभ कर्त्तव्य ही उसके दुखों के जनक हैं। अतः अपने अशुभ कर्मों के परित्याग से ही वह दुख से मुक्त हो सकता है। ज्ञानावरणादि आठ प्रकार के बन्धन के कारणों को ज्ञ-परिज्ञा द्वारा जानकर प्रत्याख्यान-परिज्ञा द्वारा त्याग देना चाहिए। कर्मास्रव के कारणों में किसी भी प्रकार की प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिए। त्रिकरण और त्रियोग द्वारा कर्मबन्धन के हेतुओं का त्याग करना ही सुख का मूल कारण है।

"इह कम्मं परिन्नाय सव्वसो" इस पद का ऐसा भी अर्थ किया गया है कि कर्म के यथार्थ स्वरूप को जानकर ही उपदेश देना ठीक होता है। प्रथम स्वयं वस्तु-तत्त्व को और कर्मों को भलीभांति समझे तदनन्तर सर्वथा योग्य होकर उपदेश देना ही योग्य कहा जा सकता है। जो कुशल साधक कर्मास्रव के कारणों को ज्ञ-परिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यान-परिज्ञा से त्यागता है वही अन्य मनुष्यों को दुख के कारण समझा कर उनका परिहार करने का उपदेश दे सकता है। जो व्यक्ति स्वयं उपदिष्ट तत्वों का आचरण करता है वही दूसरों को सन्मार्ग पर लाने में समर्थ बनता है। जो व्यक्ति सिद्धान्तों का प्रतिपादन करके ही रह जाता है और तदनुसार स्वयं प्रवृत्ति नहीं करता है तो उसका प्रतिपादन करना प्रभाव-शून्य होता है। उसका अन्य जनों पर प्रभाव नहीं पड़ सकता है। जो व्यक्ति जैसा कहता है वैसा ही आचरण करता है वही अन्य पर प्रभाव डाल सकने में समर्थ होता है। इसलिए पहले सभी तरह का ज्ञान प्राप्त करके और परिहार्य तत्वों का परित्याग करके जो उपदेश देता है वस्तुतः वही उपदेश देने का अधिकारी है। सिद्धान्तों को व्यावहारिक रूप देने वाले व्यक्तियों को ही उपदेश या धर्म-कथा करने का अधिकार है।

धर्मकथा चार प्रकार की है:—(१) आक्षेपणी (२) विक्षेपणी (३) संवेदनी (४) निर्वेदनी।

(१) आक्षेपणी

आक्षेपणी कथा का स्वरूप टीका की टिप्पणी में इस प्रकार बताया है—

स्थाप्यते हेतुदृष्टान्तैः स्वमतं यत्र पण्डितैः।
स्याद्वादध्वनिसंयुक्तं सा कथाऽऽक्षेपणी मता॥

अर्थात्—हेतु और दृष्टान्त द्वारा स्वमत का जो मण्डन किया जाता है तथा स्याद्वादमय वचनों द्वारा जो धर्मोपदेश दिया जाता है वह आक्षेपणी कथा है। श्रोताओं के हृदय में से राग, द्वेष और मोह

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

को दूर करके तत्त्वों की ओर आकर्षित करने वाली कथा आक्षेपणी कथा कहलाती है। इस कथा के चार उपभेद हैं—(१) केश लोच आदि आचार के द्वारा अथवा आचार के प्रतिपादन द्वारा श्रोताओं को अर्हन्त के शासन की ओर आकृष्ट करना आचार-आक्षेपणी कथा है (२) दोष लगने पर प्रायश्चित्त या व्यवहार सूत्र का व्याख्यान करना व्यवहार-आक्षेपणी कथा है (३) जिन्हें जिन-वचन में कहीं शंका हो उन्हें मधुर वचनों द्वारा समझा कर या प्रज्ञप्तिसूत्र का व्याख्यान करके श्रोताओं को जिन-शासन की ओर आकृष्ट करना प्रज्ञप्ति आक्षेपणी कथा है (४) सात नयों के अनुसार जीवादि तत्त्वों का व्याख्यान करके अथवा दृष्टिवाद का व्याख्यान कर तत्त्वबोध कराना दृष्टिवाद-आक्षेपणी कथा है। आक्षेपणी कथा में स्वमतमण्डन की प्रधानता रहती है।

(२) विक्षेपणी

मिथ्यादृष्टीं मतं यत्र पूर्वापरविरोधकृत् ।
तन्निराक्रियते साद्धिः सा च विक्षेपणी मता ॥

अर्थात्—मिथ्यादृष्टियों के मत में पूर्वापर विरोधी बातें बताकर प्रमाणयुक्त वचनों द्वारा उनका निराकरण करना विक्षेपणी कथा है। इस कथा में कुमार्ग-खण्डन की प्रधानता के साथ सत्पक्ष का प्रतिपादन किया जाता है।

विक्षेपणी कथा के चार प्रकार हैं—(१) जिन-शासन के गुणों को प्रकाशित करके एकान्तवाद के दोषों का निरूपण करना (२) पर-सिद्धान्त का पूर्वपक्ष के रूप में कथन करके स्वकीय सिद्धान्त की प्रमाण-पुरस्सर स्थापना करना (३) परसिद्धान्त में जो विषय जिनागम के समान निरूपित हैं उनका दिग्दर्शन कराते हुए विपरीत बातों में दोषों का निरूपण करना (४) पर-सिद्धान्त में कथित जिनागम से विपरीत वादों का निरूपण करके जिनागम के समान विषयों का कथन करना। ये चार विक्षेपणी कथा के प्रकार हैं।

(३) संवेदनी

यस्याः श्रवणमात्रेण, भवेन्मोक्षाभिलाषिता ।
भव्यानां सा च विद्वद्भिः प्रोक्ता संवेदनी कथा ॥

अर्थात्—जिस कथा के सुनने मात्र से भव्य जीवों को मोक्ष की अभिलाषा हो वह कथा विद्वानों के द्वारा संवेदनी कथा कही गई है। इस कथा के चार भेद हैं:—

(१) **इहलोक-संवेदनी**—इस लोक के दुख का वर्णन करना—जैसे मानव-जीवन जल के बुद्बुद् के समान चञ्चल और जन्म-मरणादि के दुखों से व्याप्त है। ऐसे कथन से संसार से विरक्ति होकर भव्य-जीवों को मोक्ष की अभिलाषा होती है अतः यह इहलोक-संवेदनी कथा है।

(२) **परलोक-संवेदनी**—स्वर्गादि में होने वाले दुख, ईर्षा, भय आदि का वर्णन करना। इससे जागृत होने वाली मोक्षाभिलाषा के कारण यह परलोक-संवेदनी कथा है।

(३) **स्वशरीर-संवेदनी**—अपने शरीर की अशुचि और क्षणभङ्गुरता का प्रतिपादन करना। जैसे-यह शरीर अत्यन्त अपवित्र है, मल-मूत्र का थैला है। यह स्वशरी-संवेदनी कथा है।

(४) **परशरीर-संवेदनी**—मृत-शरीर का कथन करके विरक्ति उत्पन्न करना तथा मोक्षाभिलाषा जागृत करना परशरीर-संवेदनी कथा है।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

(४) निर्वेदिनी

यत्र संसारभोगाङ्ग-स्थिति-लक्षण-वर्णनम् ।
वैराग्यकारणं भव्यैः सोक्ता निर्वेदिनीकथा ॥

अर्थात्—जहाँ संसार, भोग और अंगादि की स्थिति का वर्णन करके वैराग्य की वृद्धि की जाती है वह कथा निर्वेदिनी कथा है। कर्मों के शुभाशुभ फलों का निरूपण करके वैराग्य उत्पन्न करना निर्वेदिनी कथा है। इस लोक और परलोक के शुभाशुभ कर्मफलों की अपेक्षा इसके चार प्रकार हैं:—(१) इस लोक में किए हुए दुष्ट कर्म इस भव में दुखदायक होते हैं। इस जन्म में किये हुए शुभ कार्य इस जन्म में सुखरूप फल प्रदान करते हैं इस प्रकार कहना। (२) इस लोक में किये हुए शुभाशुभ कर्मों का परलोक में शुभाशुभ फल प्राप्त होता है-ऐसा प्रतिपादन करना (३) परलोक में किये हुए शुभाशुभ कर्म इस लोक में शुभाशुभ फल देते हैं ऐसा व्याख्यान करना (४) पूर्वभव में किये हुए शुभाशुभ कर्म आगामी भव में शुभाशुभ फल देने वाले होंगे, ऐसा प्रतिपादन करके वैराग्य पैदा करना। ऐसा कथन करना निर्वेदिनी कथा है।

इस प्रकार विकथाओं से बचकर, और सर्व प्रकार से योग्य बनकर धर्म-कथा द्वारा जैन शासन की प्रभावना करते हुए अन्य को सन्मार्ग पर लाना चाहिए।

जे अणन्नदंसी से अणण्णारामे, जे अणण्णारामे से अणन्नदंसी ।

संस्कृतच्छाया—*योऽनन्यदर्शी सोऽनन्यारामः, योऽनन्यारामः सोऽनन्यदर्शी ।*

शब्दार्थ—जे=जो । अणन्नदंसी=परमार्थ-दृष्टा है । से=वह । अणण्णारामे=मोक्षमार्ग के सिवाय अन्यत्र रमण नहीं करता है । जे=जो । अणण्णारामे=मोक्षमार्ग के सिवाय अन्यत्र रमण नहीं करता है । से=वह । अणन्नदंसी=परमार्थ-दृष्टा है ।

भावार्थ—जो यथावस्थित पदार्थों को जानने वाला परमार्थदर्शी है वह मोक्षमार्ग के अतिरिक्त अन्यत्र रमण नहीं करता है। जो मोक्षमार्ग के सिवाय अन्यत्र रमण नहीं करता है वह वस्तुतः परमार्थ-दर्शी है।

विवेचन—इसके पूर्ववर्ती सूत्र में सर्वतोमुखी ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् धर्मकथा करने का कहा गया है। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि सर्वतोमुखी ज्ञान का स्वरूप क्या है जिसे जानकर ही उपदेश दिया जा सकता है ? इस प्रश्न का उत्तर इस सूत्र में दिया गया है। यथार्थ सर्वतोमुखी ज्ञान का अर्थ-यथावस्थित पदार्थों के स्वरूप को जानना है। जो पदार्थों के स्वरूप को तद्रूप से भलीभांति जानता है वह सम्यग्दृष्टि है। जो सम्यग्दृष्टि होता है-जो तीर्थङ्कर प्ररूपित प्रवचनों का गीतार्थ होता है वह मोक्षमार्ग के अतिरिक्त अन्यत्र रमण नहीं करता है। जिसकी दृष्टि का विष दूर हो जाता है वह व्यक्ति आत्म-स्वरूप को भलीभांति समझ सकता है और उसी में आनन्द की अक्षयनिधि का दर्शन करता है। आत्म-स्वरूप से भिन्न तत्त्वों को पर-तत्त्व समझ कर वह उनमें आसक्त नहीं होता है और उन बाह्यतत्त्वों से हर्ष या विषाद का अनुभव नहीं करता है। आत्म-रमण करने में ही उसे वास्तविक आनन्द प्राप्त होता है। आत्मा में ही सुख का

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

अनन्त समुद्र लहराता हुआ दिखाई देता है। जिनेश्वर देव ने जो आत्मधर्म और मोक्षमार्ग का निरूपण किया है उसी में वह रमण करता है, अन्यत्र नहीं। आत्म-साधना व मोक्ष-साधना ही उसका लक्ष्य होता है। इसके सिवाय अन्य सब उसके लिए अकारथ हैं। जबतक आत्म-तत्त्व और पर-तत्त्व का भलीभांति ज्ञान नहीं होता तबतक प्राणी संसार के बाह्य पदार्थों में सुख का अनुभव करने की भ्रान्त आशा रखता है। जब आत्मा और पर-पदार्थ का विवेक हो जाता है तो आत्मधर्म के सिवाय अन्यत्र रमण हो ही नहीं सकता अतएव जो परमार्थदृष्टा होता है वह आत्मधर्म (मोक्षमार्ग) से अन्यत्र रमण नहीं करता, ऐसा कहा गया है।

हेतुहेतुमद्भाव से व्याख्या करते हुए यह समझना चाहिए कि जो मोक्षमार्ग से अन्यत्र रमण नहीं करता वह तत्वदर्शी है। जो तत्वदर्शी है वह मोक्षमार्ग से अन्यत्र रमण नहीं करता है।

जहा पुण्णस्स कत्थइ तहा तुच्छस्स कत्थइ, जहा तुच्छस्स कत्थइ तहा पुण्णस्स कत्थइ।

संस्कृतच्छाया—*यथा पुण्यवतः कथ्यते तथा तुच्छस्य कथ्यते, यथा तुच्छस्य कथ्यते तथा पुण्यवतः कथ्यते।*

शब्दार्थ—जहा=जिस प्रकार। पुण्णस्स=राजादि श्रीमंतों को। कत्थइ=उपदेश देता है। तहा=उसी प्रकार। तुच्छस्स=रंकादि को भी। कत्थइ=उपदेश देता है। जहा=जिस प्रकार। तुच्छस्स=रंकादि को। कत्थइ=उपदेश देता है। तहा=वैसा ही। पुण्णस्स=राजादि को भी। कत्थइ=उपदेश देता है।

भावार्थ—सच्चा उपदेशक जैसा उपदेश कुल, रूप और धन से सम्पन्न राजादि को देता है वैसा ही उपदेश सामान्य रक-जनों को भी देता है। सामान्य रंक-वर्ग को जैसे उपदेश देता है वैसे ही उच्च श्रीमन्तों को भी देता है।

विवेचन—इस सूत्र में उपदेशक के गुण बताये गये हैं। सच्चा उपदेशक, उपदेश देते हुए राग-द्वेष से रहित होता है। सच्चा उपदेशक श्रीमन्त, राजा, दलित, पीड़ित, पतित और गरीब सबको समान दृष्टि से देखता हुआ निस्पृह होकर उपदेश देता है। उसकी दृष्टि में अमीर, गरीब, उच्च, नीच, राजा या रंक का भेदभाव नहीं होता। मुनि-उपदेशक का मुख्य लक्षण है कि वह सभी को समभाव से देखे। वह जिस कल्याण-भावना से प्रेरित होकर श्रीमन्त को उपदेश देता है उसी कल्याण-भावना से रंक को भी उपदेश देता है। उसके उपदेश देने का उद्देश्य जन-कल्याण करने का होता है। जो व्यक्ति निस्पृह है, जिसे किसी तरह की कामना नहीं है उसके लिए राजा और रंक समान है। राजा का कल्याण करने के लिए उसे जैसा उपदेश देता है वैसी ही भावना के साथ रंक का कल्याण करने के लिए उसे भी उपदेश देता है। सच्चा साधु राजा-रंक और अमीर-गरीब के भेदों से परे होता है। उसका उपदेश देने का उद्देश्य लोक-कल्याण ही होता है।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

उपर्युक्त कथन का यह अर्थ नहीं है कि सभी को एक ही बात का एक ही तरह का—उपदेश दिया जाय। उपदेश तो श्रोता की योग्यता और पात्रता के अनुसार दिया जाना चाहिए। ऐसा न करने से लोक-कल्याण का उद्देश्य पूरा नहीं होता। जो व्यक्ति जिस भूमिका पर है उसे उसके अनुकूल उपदेश देना हितकर हो सकता है। उपर्युक्त कथन का मतलब यह है कि श्रीमन्त और गरीब को निस्पृहभाव से तथा दोनों पर समानभाव रखते हुए उपदेश देना चाहिए। पुण्यवानों पर राग और तुच्छ पर द्वेषभाव करना मुनिधर्म से प्रतिकूल है। उसके लिए पुण्यवान् और तुच्छ समान है। अथवा 'पुण्णस्स' इस पद का अर्थ पूर्ण करने पर यह अर्थ होता है कि जाति, कुल, रूप, ऐश्वर्य, बुद्धि आदि से पूर्ण को जैसी भावना से उपदेश दे वैसी ही भावना से तुच्छ को भी दे। कहा भी है:—

ज्ञानैश्वर्यधनोपेतो जात्यन्वयबलान्वितः ।
तेजस्वी मतिमान् ख्यातः पूर्णस्तुच्छो विपर्ययात् ॥

जो ज्ञान, प्रभुता, धन, जाति और बल-सम्पन्न हो, जो तेजस्वी हो, बुद्धिमान् हो और ख्याति-प्राप्त हो उसे पूर्ण समझना चाहिए। इससे विपरीत हों उन्हें तुच्छ समझना चाहिए। तात्पर्य यह है कि साधु जिस अनुग्रह-बुद्धि से और प्रत्युपकार की आशा के बिना रंक आदि को उपदेश देता है उसी अनुग्रह-बुद्धि से ही चक्रवर्ती आदि को भी उपदेश देता है। जिस दृष्टि से चक्रवर्त्ती को उपदेश देता है उसी दृष्टि से तुच्छ को भी उपदेश देता है। सच्चा उपदेशक अरक्तद्विष्ट होकर उपदेश देता है।

उपदेश देते समय सामने वाले की भूमिका और पात्रता जानना आवश्यक है। अगर श्रोता स्थूलबुद्धि का हो तो उसे स्थूल बातों से समझाना चाहिए और मतिमान् हुआ तो उसे उस तरह समझाना चाहिए। उपदेशक को द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को देखकर तदनुकूल उपदेश देना चाहिए। द्रव्यक्षेत्रादि को देखे बिना उपदेश देने से अनिष्ट परिणाम आ सकता है यही बात सूत्रकार अगले सूत्र में स्पष्ट करते हैं:—

अवि य हणे अणाइयमाणे, इत्थं पि जाण सेयं ति नत्थि। केयं पुरिसे कं च नए? एस वीरे पसंसिए जे बद्धे परिमोयए, उड्ढं अहं तिरियं दिसासु।

संस्कृतच्छाया—*अपि च हन्यादनादृयमाणः अत्रापि जानीहि श्रेय इति नास्ति। कोऽयं पुरुषः कञ्च नतः? एष वीरः प्रशंसितः यो बद्धान् परिमोचयति ऊर्ध्वमधस्तिर्यग्दिक्षु।*

शब्दार्थ—अवि य=सम्भव है कि। अणाइयमाणे=राजादि अपमान समझ कर क्रोधित हो। हणे=मारने लगे। इत्थं पि=उपदेश देने की विधि को जाने बिना उपदेश देने में। सेयं=नत्थि=कल्याण नहीं है। ति जाण=ऐसा समझो। केयं पुरिसे=यह पुरुष कौन है? कं च नए=किस देव को नमस्कार करता है ऐसा जानकर उपदेश दे। उड्ढं=ऊर्ध्व। अहं=नीची। तिरियं=तिरछी। दिसासु=दिशाओं में रहे हुए। बद्धे=कर्म-बन्धनों से बँधे हुए जीवों को। जे=जो। परिमोयए=मुक्त करता है। एस=यह। वीरे=वीर। पसंसिए=प्रशंसा-पात्र है।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

भावार्थ—हे जम्बू ! (उपदेशक को श्रोताजनों के अभिप्राय, धर्म, विचार वगैरह जानने के बाद उपदेश देना चाहिए) अन्यथा सम्भव है कि वे उपदेश को सुनकर अपना अपमान समझें और क्रुद्ध होकर उपदेशक को मारने लगे। उपदेश देने की विधि को जाने बिना उपदेश देने में कल्याण नहीं है। (यह भी जानना आवश्यक है कि) यह पुरुष कैसा है, किस देव को नमस्कार करता है, इसका कौनसा धर्म या पंथ है ? इन बातों का विचार कर उपदेश देना चाहिए। ऐसे उपदेश से संसार के ऊर्ध्व, निम्न और तिर्यग् भाग में रहे हुए और कर्म-बन्धनों से बँधे हुए जीवों को जो पराक्रमी पुरुष मुक्त कर सकते हैं वे ही प्रशंसा के पात्र हैं।

विवेचन—उपदेशक को द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव देखने के बाद उपदेश देना चाहिए। अवसर को पहिचाने बिना दिया गया उपदेश अनर्थों की जड़ हो सकता है। राजादि को उपदेश देते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि यह राजा किस अभिप्राय वाला है ? किस दर्शन में आग्रह रखता है ? मध्यस्थ-बुद्धि वाला है या संशय वाला है या शंका रहित है ? स्वयं कदाग्रही है या अन्य वादियों द्वारा कदाग्रही बनाया गया है ? राजा अगर कदाग्रही हो तो वह साधु के स्वमत विरुद्ध उपदेश को सुनकर अपना अपमान समझकर क्रुद्ध होकर साधु की तर्जना द्वारा या ताडन आदि के द्वारा हीलना कर सकता है और मार भी सकता है इससे स्वदर्शन की लघुता होती है। इसलिए विधि और अवसर को देखे बिना उपदेश देना ठीक नहीं है। इससे ऐहिक बाधा भी होती है और परलौकिक लाभ भी नहीं होता है।

यद्यपि पर-कल्याण के लिए धर्मोपदेश देने वाले साधु को कल्याणकारी फल होता है तदपि वक्ता यदि सभा और श्रोताओं को पहचाने बिना धर्मकथा करने लगे तो इसमें कल्याण नहीं है। अवसर पहचाने बिना द्वेषयुक्त खण्डनात्मक उपदेश करने से लाभ के बदले हानि ही उठानी पड़ती है। दूसरी बात श्रोताओं को देखकर तदनुकूल उपदेश देना योग्य होता है। विद्वानों की सभा में विद्वत्तापूर्ण और पक्ष, हेतु, दृष्टान्त पूर्वक प्रवचन करना चाहिए और साधारण सभा में जिस तरह मनुष्यों को बोध हो उस विधि से उपदेश देना चाहिए।

उपदेश देते समय यह भी ध्यान रखना चाहिए कि यह श्रोता किस प्रकृति का है ? यह किस देव की उपासना करता है ? किस धर्म या मत को मानता है ? इसका ध्येय क्या है ? इन बातों को मानसशास्त्र द्वारा पहिचान कर उसके उपकार के लिये विधिपूर्वक उपदेश देना ठीक होता है। यह अवलोकन करना आवश्यक है कि प्रश्न पूछने वाला अथवा श्रोता किस भावना से प्रश्न पूछता है या धर्म-श्रवण करता है ? यह मिथ्यादृष्टि है या भद्रिक है ? जिज्ञासा बुद्धि से पूछता है या अन्यदृष्टि से ? तात्पर्य यह है कि धर्मकथा करने वाला (उपदेशक) द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव द्वारा श्रोताओं का पूरा अवलोकन करे। द्रव्य से सभा को पहिचाने। क्षेत्र से देखे कि यहां किस पंथ के लोग विशेष हैं—किसका प्रभाव विशेष है ? समय को देखे कि—अभी कैसा जमाना है ? सुभिक्ष है या दुर्भिक्ष ? भाव से देखे कि सुनने वालों के अभिप्राय कैसे हैं ? इस प्रकार पूर्ण विचार कर धर्मकथा करनी चाहिये। जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और स्वशास्त्र और परशास्त्र का ज्ञाता हो ऐसा दीर्घदृष्टि, समदर्शी और ज्ञानी पुरुष ही उपदेश देने का अधिकारी है। जिसे इस प्रकार का बोध न हो उसे उपदेश नहीं देना चाहिए। क्योंकि अविधि से उपदेश देना प्रवचन की हीलना करना है और इससे कर्मबन्धन होता है। विधि को जाने बिना उपदेश देने की अपेक्षा मौन करना श्रेयस्कर है। कहा भी है:—

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

सावज्जणवज्जाणं वयणाणं जो न याणइ विसेसं ।
वत्तुंपि तस्स न खमं किमंग पुण देसणं काउं ?

जिसे सावद्य और निरद्य वचनों का विवेक नहीं है उसे बोलना भी उचित नहीं है तो देशना (उपदेश) देने की तो क्या बात है ?

जिस उपदेशक को आगम का पूरा ज्ञान हो, जिसमें तर्क शक्ति प्रबल हो और जो युक्तियों और हेतुओं द्वारा स्वपक्ष प्रतिपादन कर सकता हो वही उपदेश दे सकता है। तर्क द्वारा समझने वालों को तर्क से समझावे, आगम से समझने वालों को आगम से समझावे। वही सिद्धान्त का आराधक होता है। कहा भी है—

जो हेउवायपक्खम्मि हेउओ, आगमम्मि आगमिओ ।
सो ससमयपण्णवओ सिद्धंतविराहओ अण्णो ॥

अर्थात्—हेतुवाद के पक्ष में हेतु देने वाला, आगम के पक्ष में आगम-प्रमाण देने वाला ही स्वसिद्धान्त का प्ररूपक होता है अन्य तो सिद्धान्त का विराधक होता है। तर्कसंगत पक्ष में तर्क का प्रयोग आगमसंगत पक्ष में आगम का प्रयोग करना ही योग्य है। इस प्रकार की योग्यता वाला उपदेशक सच्चा उपदेष्टा हो सकता है। वही पराक्रमी पुरुष अपने उपदेशों द्वारा संसार के ऊर्ध्व, निम्न और तिर्यग्भाग में रहे हुए, सांसारिक बन्धनों में जकड़े हुए प्राणियों को मुक्त करता है। ऐसा पुरुष ही प्रशंसा के योग्य है।

से सव्वओ सव्वपरिण्णाचारी ण लिप्पइ छणपएण वीरे । से मेहावी अणुग्घायणखेयण्णे जे य बन्धपमुक्खमन्नेसी, कुसले पुण नो बद्धे नो मुक्के।

संस्कृतच्छाया—*स सर्वतः सर्वपरिज्ञाचारी न लिप्यते क्षणपदेन वीरः । स मेधावी अणोद्घातन-खेदज्ञो यश्च बन्धप्रमोक्षमन्वेषी । कुशलः पुनः न बद्धः न मुक्तः ।*

शब्दार्थ—**से वीरे=वह वीर पुरुष । सव्वओ=हमेशा । सव्वपरिन्नाचारी=सर्व ज्ञान और क्रिया रूप परिज्ञा का आचरण करता हुआ । छणपएण=हिंसा से । ण लिप्पइ=लिप्त नहीं होता है । जे अणुग्घायणखेयन्ने=जो कर्म को दूर करने में निपुण है । बंधपमुक्खमन्नेसी=कर्मों के बन्धन से मुक्त होने का उपाय ढूँढने वाला है । से मेहावी=वही पण्डित है । कुसले=केवली भगवान् । नो बद्धे=न तो बँधे हुए हैं । नो मुक्के=और न मुक्त हैं।**

भावार्थ—ऐसे वीर सत्पुरुष अपने जीवन में ज्ञान और क्रिया का ऐसा सद्-व्यवहार करते हैं जिससे हिंसाजन्य पाप से वे लिप्त नहीं होते हैं। जो मनुष्य कर्मों के आवरण को दूर करने में निपुण हैं और बन्धन मुक्त होने के उपायो का अन्वेषण करते हैं वही सचमुच पंडित हैं। केवली भगवान् जैसे कुशल साधक न तो मुक्त हैं और न बद्ध ही हैं (वे साधना पूर्ण कर चुके हैं इसलिए उनके लिए बन्ध-मोक्ष जैसा प्रश्न ही विशेषतः नहीं रहता है)।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

विवेचन—जो वीर सत्पुरुष अपने आचीर्ण उपदेशों के द्वारा संसार के बन्धनों से जकड़े हुए अन्य पुरुषों को मुक्त करते हैं वे व्यक्ति अपने जीवन को ऐसा बनाते हैं जो दूसरों के लिए आदर्श उपस्थित करता है। इनके जीवन में ज्ञान और क्रिया का अनुपम सम्मिश्रण होता है। उनका जीवन-वस्त्र ज्ञान और सद्वर्तन रूपी ताने-बाने से बना हुआ होता है। विवेक और सद्वर्त्तन का संयोग दूषणों से बचाता है। जहाँ विवेक है और साथ ही तदनुकूल क्रियाएँ हैं वहां पाप फटक ही नहीं सकता है। ज्ञान और क्रिया के समन्वय से वह सभी प्रकार के बन्धनों से अलिप्त रहता है। जिस व्यक्ति ने ज्ञान प्राप्त किया है परन्तु तदनुकूल उसका व्यवहार न हो तो वह ज्ञान सार्थक नहीं कहा जा सकता है। ज्ञान का अर्थ पुस्तकीय ज्ञान या अक्षर ज्ञान से ही नहीं है वरन् वही ज्ञान, ज्ञान है जो बन्धन से मुक्त करने में समर्थ हो। ज्ञपरिज्ञा और प्रत्याख्यान परिज्ञा का व्यवहार करने वाला कर्मों से लिप्त नहीं होता। सच्चा पण्डित अथवा ज्ञानी वही है जो कर्म-ग्रन्थनों को दूर करने में निपुण हो तथा जो कर्मों के बन्धन से मुक्त होने के उपायों का अन्वेषणा करता हो। स्व-पर का कल्याण करने वाला ज्ञान विरतिफल वाला होता है। जिस ज्ञान का फल विरति रूप नहीं है वह ज्ञान मात्र पुस्कीय ज्ञान है और ऐसे पण्डित 'पोथे पण्डित' कहे जाते हैं।

शंका—सूत्र में 'अणुग्घायणखेयन्ने' पद दिया गया है। इसी से कर्मप्रकृति के मूल और उत्तर भेदों को जानने वाला, चार प्रकार के बन्ध से मुक्त होने का उपाय ढूँढ़ने वाला कर्म की स्पृष्ट, बद्ध, निद्धत व निकाचित अवस्था और उससे छूटने के उपाय आदि के जानने वाले का भी ग्रहण हो जाता है तो "बन्धपमुक्खमन्नेसी" पद और क्यों दिया गया ? क्या इसमें पुनरुक्ति दोष नहीं है ?

समाधान—टीकाकार इसका समाधान करते हैं कि "अणुग्घायणखेयन्ने" इस पद से तो कर्मों को दूर करने का ज्ञान वाला होता है ऐसा कहा गया है और "बन्धपमुक्खमन्नेसी" इस पद से कर्मों को दूर करने के उपायों का आचरण करने वाला कहा गया है अतः पुनरुक्ति दोष नहीं है। कर्म के यथार्थ स्वरूप को जानकर जो उससे दूर रहने के उपायों का अन्वेषण करता है वही पण्डित और बुद्धिमान है।

यहाँ पर शंका हो सकती है कि उपर्युक्त लक्षण सम्पन्न बुद्धिमान छद्मस्थ होता है या केवली ही हो सकता है ? इसका समाधान यह है कि ऐसा बुद्धिमान छद्मस्थ होता है क्योंकि केवली में उक्त लक्षण नहीं पाये जाते हैं। केवली तो चार घनघाति कर्मों का क्षय कर चुके होते हैं अतः उन्हें कर्म-क्षय करने के उपायों का अन्वेषण करना नहीं पड़ता है। अतः ऐसे बुद्धिमान छद्मस्थ समझने चाहिए। केवली तो बद्ध भी नहीं हैं और मुक्त भी नहीं है। चार प्रकार के घनघाति कर्मों का क्षय कर देने से वे बन्धन वाले नहीं कहे जाते तथा सर्वथा मुक्त भी नहीं कहे जा सकते क्योंकि भवोपग्राही कर्म अवशिष्ट हैं अतः केवली साधक (कुशल) न तो बद्ध हैं और न मुक्त ही। वस्तुतः वे साधना में कृतकृत्य हो चुके हैं अतः बन्ध-मोक्ष का उनके लिए कोई प्रश्न नहीं रहता है।

से जं च आरभे जं च णारभे, अणारद्धं च न आरभे, छणं छणं परिण्णाय लोगसन्नं च सव्वसो।

संस्कृतच्छाया—*सः यच्चारभते यच्च नारभते, अनारब्धञ्च नारभते। क्षणं क्षणं परिज्ञाय लोकसंज्ञाञ्च सर्वशः।*

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

शब्दार्थ—से=वे कुशल साधक। जं च आरभे=जिस संयम के मार्ग पर चले हैं। जं च णारभे=जिस मिथ्यात्वादि मार्ग पर नहीं चले हैं-(यह जानकर उनके द्वारा आचीर्ण मार्ग पर चले और अनाचीर्ण मार्ग पर न चले। अणारद्धं=जो उनके द्वारा आचीर्ण नहीं है। च न आरभे=वह न करे। छणं छणं=हिंसा और हिंसा के कारणों को। लोगसन्नं च=और लोकसंज्ञा को। परिन्नाय=जानकर। सव्वसो=सर्वथा-त्रिकरण त्रियोग से उनका त्याग करे।

भावार्थ—वे कुशल साधक जिस मार्ग पर चले हैं उसपर प्रत्येक को चलना चाहिए और जिस मार्ग पर वे नहीं गये हैं उसपर प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिए। हिंसा और हिंसा के कारणों को तथा लोक-संज्ञा को जानकर दोनों का सर्वथा (त्रिकरण और तीन योग से) त्याग करना चाहिए।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में जिन महापुरुषों ने ध्येय की सिद्धि कर ली है उनका पदानुसरण करने का उपदेश दिया गया है। हमारे सामने उन महापुरुषों का आदर्श जीवन आकाशदीप के समान मार्ग-दर्शक है। उनका अनुभव हमारे लिए अत्यन्त उपकारी है। अगर हम भी उसी लक्ष्य पर पहुँचना चाहते हैं तो हमारे लिए भी यही मार्ग है कि वे जिन मार्ग पर चलकर अपने साध्य पर पहुँचे हैं उसे ही हम भी अपनावें। यह मार्ग उनका अनुभूत है अतः उनका उपदिष्ट मार्ग अवश्य हमें हमारे साध्य तक पहुँचावेगा। उन कुशल साधकों ने संयम के मार्ग पर प्रवृत्ति करके साध्य पाया है अतः हमें भी उसी मार्ग पर चलना चाहिए। वे साधक विषय-कषाय के मायालु मार्ग से दूर रहे उसी तरह हमें भी उससे दूर रहना चाहिए। उन्होंने जिसका व्यवहार किया है वह हमारे लिए भी व्यवहार करने योग्य है और उन्होंने जिसका परिहार किया है वह हमें भी छोड़ना चाहिए।

उन साधकों ने हिंसा और हिंसा के कारणों को तथा विषय, कषाय, कीर्ति आदि लोक-संज्ञाओं का त्याग किया तब वे अपने साध्य पर पहुँचे। इसी तरह प्रत्येक को हिंसा और लोकसंज्ञा का त्याग करना चाहिए इसीसे साध्यसिद्धि है। हिंसा और लोकसंज्ञा को ज्ञ-परिज्ञा द्वारा जानकर प्रत्याख्यान-परिज्ञा द्वारा त्रिकरण त्रियोग से त्यागना चाहिए ताकि हम उन आदर्श महापुरुषों के आचीर्ण मार्ग पर चलकर उनका पदानुसरण करके अपने चरम साध्य को प्राप्त कर सके।

यहाँ महापुरुषों का पदानुसरण करने का कहा गया है। यह हमारे लिए हितकर है क्योंकि उन्होंने स्वयं अनुभव करने के पश्चात् हमें सन्मार्ग दिखाया है। यहाँ यह बात ध्यान रखने योग्य है कि साधारण जनता की अंध-अनुकरण करने की प्रवृत्ति होती है। बहुत से लोग किसी अमुक काल की आवश्यकता को ध्यान में रखकर या तात्कालीन परिस्थिति को देखकर बताये हुए किसी मार्ग या साधन-विशेष को त्रिकालाबाधित समझ कर हमेशा के लिए गतानुगतिक उनका अनुसरण करते रहते हैं। साधन कभी त्रिकालाबाधित नहीं होते। भिन्न भिन्न देश-काल की स्थिति में भिन्न २ मार्ग और साधन प्ररूपित किये जाते हैं परन्तु कालान्तर में उनका उद्देश्य भुला दिये जाने से वे रूढि रूप रह जाते हैं। अज्ञानी लोग सच्चे ज्ञान के अभाव से उसी रूढि को पकड़े रहते हैं और उसी को सत्य समझते हैं। यहाँ शास्त्रकार फरमाते हैं कि लोकसंज्ञा-लोकरूढि-यह विकास का मार्ग नहीं है। सर्वज्ञ प्रभु ने साक्षात् अनुभव करके सन्मार्ग का निदर्शन किया है अतः लोकरूढि को त्याग कर उसी मार्ग पर प्रवृत्ति करनी चाहिए। वीतराग का मार्ग अनुभूत है अतः सच्चा है इसलिए उसका पदानुसरण करने से अवश्य साध्यसिद्धि हो सकती है।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

उद्देसो पासगस्स नत्थि, बाले पुण निहे कामसमणुन्ने असमियदुक्खे दुक्खी दुक्खाणमेव आवट्टं अणुपरियट्टइ त्ति बेमि।

संस्कृतच्छाया—*उपदेशः (उद्देशो वा) पश्यकस्य नास्ति। बालः पुनर्निहः कामसमनुज्ञः अशमित-दुःखः दुःखी दुःखानामेवावर्त्तमनुपरिवर्त्तते, इति ब्रवीमि।*

शब्दार्थ—तृतीय उद्देशकवत्—

भावार्थ—हे प्रिय जम्बू! जो तत्वज्ञ और परमार्थदृष्टा है उसे उपदेश और विधि-निषेध की आवश्यकता ही नहीं है परन्तु जो तत्वज्ञ नहीं हैं और आत्म-स्वरूप से अज्ञान हैं उन्हीं के लिए यह आवश्यक है क्योंकि वे अभी ऐसी भूमिका पर होते हैं जहां आसक्ति पूर्वक आशा, इच्छा और विषयों का सेवन करते रहते हैं इस तरह वे दुखों को किसी तरह कम नहीं करते हुए उल्टे अधिक दुखी होकर शारीरिक और मानसिक दुखों के चक्र में ही परिभ्रमण करते हैं। ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—तृतीयोद्देशकवत्।

—उपसंहार—

इस उद्देशक में ममता और ममत्वबुद्धि का त्याग करने का प्रधानतः उपदेश दिया गया है। जब जीवात्मा आत्मस्वरूप को भूलकर पर-पदार्थों में अहंता का आरोप करता है तब ममत्व-बुद्धि का जन्म होता है और ममत्व-बुद्धि से ममता प्रकट होती है। ममत्व-बुद्धि में आत्म-भान भुला दिया जाता है और चैतन्य जड़ के हाथ बेच दिया जाता है। इस प्रकार जड़ पदार्थों की आसक्ति से चैतन्य क्षीण होता है। चैतन्य की क्षीणता से कर्म-बन्धन, कर्म-बन्धन से संसार और संसार से दुख उत्पन्न होता है इसीलिये दुख-मुक्त होने के लिए ममत्व-बुद्धि का त्याग करना चाहिए।

हिंसक-वृत्ति और लोकसंज्ञा पर विजय प्राप्त कर संयम के मार्ग पर प्रगति करनी चाहिए। अनुभव की प्राप्ति के पश्चात् ही उपदेशक बनकर स्वकल्याण और पर-कल्याण का समन्वय करना चाहिए। कर्म-बन्धन से मुक्त होने का लक्ष्य रखकर तदनुकूल संयम, त्याग आदि का आधार लेकर विकास की ओर बढ़ना और विजय प्राप्त करना यही लोक-विजय है।

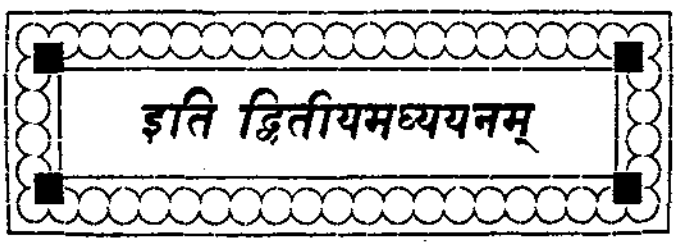

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

शीतोष्णीय नाम तृतीय अध्ययन

—प्रथम उद्देशक—

दो अध्ययनों का वर्णन किया जा चुका है अब तृतीय अध्ययन प्रारम्भ होता है। गत प्रथम अध्ययन में शस्त्रपरिज्ञा का वर्णन करते हुए षट्काय की रक्षा रूप पंचमहाव्रत अंगीकार करने का कहा गया है। तत्पश्चात् द्वितीय अध्ययन में अङ्गीकृत महाव्रतों की सम्यग् आराधना के हेतु कषायादि लोक को अथवा इन्द्रिय-लोक को या कीर्ति-कामना रूप लोकसंज्ञा (लौकैषणा) को पराजित करके आत्म-विजय का डंका बजाने का उपदेश दिया गया है। जो मुमुक्षु परम तत्त्व की साधना के लिए संयम-मार्ग अङ्गीकार करता है उसे अपने मार्ग में अच्छे या बुरे, अनुकूल या प्रतिकूल संयोगों का अवश्यमेव मुकाबला करना पड़ता है। ऐसे संयोगों के उपस्थित होने पर विकास-मार्ग की ओर प्रगति करने वाले साधक का क्या कर्त्तव्य है यह इस तृतीय अध्ययन में प्ररूपित किया गया है।

इस अध्ययन का नाम "शीतोष्णीय" है। शीतोष्णीय इस नाम में "शीत" और "उष्ण" ऐसे दो शब्दों का समास हुआ है। साधारण लोकभाषा में शीत शब्द का अर्थ ठंढा और उष्ण शब्द का अर्थ गरम है। यहाँ आगम में केवल इतना ही अर्थ अपेक्षित नहीं है परन्तु इससे विशेषार्थ लिया गया है। यहाँ प्रयुक्त शीतोष्ण शब्दों का अर्थ शीत और उष्ण प्रकृति वाले परीषहों से है। हिम तुषार आदि द्रव्य-शीत और अग्नि आदि द्रव्य उष्ण को छोड़कर यहाँ भाव-शीत और भाव-उष्ण का ग्रहण समझना चाहिए। भाव-शीत और भाव-उष्ण का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए निर्युक्ति में इस प्रकार कहा गया है:—

सीयंपरीसहपमायुवसमविरई सुहं च उण्हं तु।
परीसहतवुज्जमकसाय-सोगवेयारई दुक्खं॥

अर्थात्—परीषह, प्रमाद, उपशम (मोहनीय का उपशम), विरति (हिंसादि से निवृत्ति) और सातावेदनीयजन्य सुख ये भाव-शीत हैं और परीषह, तप में उद्यम, कषाय, शोक, वेद अरति और दुःख ये भाव-उष्ण हैं।

शंका—इस गाथा में परीषह को शीत में भी गिनाया गया है और उष्ण में भी कहा गया है और शीत एवं उष्ण परस्पर विरोधी हैं तो परीषह दोनों में कैसे गिनाया गया है?

समाधान—इसका समाधान यह है कि आगम में बाईस परीषह बताये गये हैं। उनमें स्त्री-परीषह और सत्कार परीषह भावमन के अनुकूल होने से शीत हैं और शेष बीस परीषह मन के प्रतिकूल होने से उष्ण हैं। शीत परीषह भाव-शीत में गिने गये हैं और उष्ण परीषह भाव उष्ण में गिने गये हैं इसलिए दोनों में परीषह गिनाये गये हैं। इसमें विरोध नहीं है। विरोध तो तब होता जब एक ही परीषह शीत में भी कहा गया होता और वही उष्ण में भी कहा जाता। यहां तो भिन्न २ परीषहों के लिये उभयत्र परीषह सामान्य पद का प्रयोग किया गया है इसलिये विरोध की शंका निर्मूल है।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

इस तरह निर्युक्तिकार ने भाव-शीत और भाव-उष्ण का स्पष्टीकरण किया है। इसी भाव-शीत और भाव-उष्ण से यहां प्रयोजन है।

इस अध्ययन में भाव-शीत और भाव-उष्ण का प्रतिपादन करने का अभिप्राय यह है कि विकास मार्ग में प्रगति करने वाले साधक को शीत स्पर्श और उष्ण स्पर्श-जनित वेदनाओं का अनुभव होता है। ऐसे समय में शरीर और मन के अनुकूल सुख और शरीर व मन के विपरीत दुःख का हर्ष-विषाद से रहित होकर सहन करना ही साधक का कर्त्तव्य है। यह बताने के लिए इस अध्ययन में उपदेश दिया गया है।

वैसे शीत और उष्ण दोनों परस्पर विरोधी गुण हैं परन्तु शीत और उष्ण का वेदन करने वाला मन तो एक ही है। जो मन ठण्ड का अनुभव करता है वही मन उष्णता का भी अनुभव करता है। जो वस्तु किसी के लिये सुख उत्पन्न करती है वह वह वस्तु किसी दूसरे के लिए या उसी के लिए दुःख भी उत्पन्न कर सकती है। यह सर्व प्राणियों का अनुभव है। परन्तु कभी कभी यह मन ऐसी स्वाभाविक स्थिति का भी अनुभव करता है जो हर्ष-शोक और शीत-उष्ण से परे है। जब साधक को ऐसी अवस्था प्राप्त हो जाती है तो वह एकदम जागृत हो जाता है और स्वाभाविक शाश्वत सुख को प्राप्त कर लेता है हर्ष-शोक से परे रह सकने की शक्ति प्रकट करने के लिए ही यह अध्ययन कहा गया है क्योंकि वस्तुतः यह समभाव का विकास ही मोक्ष का हेतु है।

स्थितप्रज्ञता, समभाव और निरासक्त योग ये प्रायः समानार्थक शब्द ही हैं। इनका जितना २ विकास होता जायगा उतना उतना ही मोक्ष नजदीक आता जायगा। अतएव समभाव का विकास करने के लिये उपदेश प्रारम्भ करते हुए सूत्रकार फरमाते हैं :—

सुत्ता अमुणी, सया मुणिणो जागरंति।

संस्कृतच्छाया—*सुप्ता अमुनयः, सततं मुनयः जाग्रति।*

शब्दार्थ—**अमुणी=अज्ञानी-जन। सुत्ता=सदा सोये हुए हैं। मुणिणो=ज्ञानी-जन। सया=अनवरत। जागरंति=जागृत रहते हैं।**

भावार्थ—अज्ञानी-जन द्रव्य से निद्रारहित हों तो भी सोये हुए हैं और ज्ञानी-जन द्रव्य से सोये हुए हों तो भी अनवरत जागृत ही हैं।

विवेचन—द्वितीय अध्ययन का उपसंहार करते हुए सूत्रकार ने कहा है कि विषय-कषायादि से दुखी बना हुआ प्राणी दुखमय संसार में ही परिभ्रमण करता है। यही बात आचार्य यहाँ अध्ययन के प्रारम्भ में फरमाते हैं कि भावसुप्त अज्ञानी प्राणी भी इसी संसार-सागर में गोते लगाते रहते हैं। यह अज्ञानरूपी महा-ज्वर संसार के दुखों का प्रधान हेतु है। कहा है कि:—

नातः परमहं मन्ये जगतो दुःखकारणम्।
यथाऽज्ञानमहारोगो दुरन्तः सर्वदेहिनाम्॥

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

अर्थात्—संसारान्तरवर्ती प्राणियों के लिए दुरतिक्रम-दुर्जय-अज्ञानरूपी महारोग ही संसार के दुखों का सबसे प्रधान कारण है। इससे बढ़कर और कोई दूसरा कारण नहीं है। भाव-निद्रा ही संसार की जड़ है।

निद्रा दो प्रकार की है—(१) द्रव्यनिद्रा (२) भावनिद्रा। द्रव्यनिद्रा देह और इन्द्रियों के श्रम-निवारण के लिए है। इस निद्रा से सोया हुआ प्राणी शीघ्र जागृत हो जाता है। परन्तु जो भावनिद्रा से सोये हुए हैं वे जागृत मालूम होते हैं तदपि सुषुप्त ही हैं। अज्ञान से प्राप्त होने वाली चैतन्य की सुषुप्ति भावनिद्रा है। मिथ्यात्व-अज्ञानरूप महानिद्रा में सोये हुए संसारी प्राणी सद्-असद् के विवेक से विकल होने की वजह से भावनिद्रा से सुषुप्त हैं। इसके विपरीत कोई विरल विभूति अज्ञानरूपी अंधकार के दूर होने से तथा मोक्षमार्ग में सद्व्रत प्रवृत्ति करने से एवं हिताहित का विवेक कर सकने की योग्यता होने से सदा जागृत रहती हैं वे द्रव्यनिद्रा-युक्त होने पर भी सदा जागृत ही हैं। संसार के अन्य प्राणी द्रव्यनिद्रा-युक्त नहीं होने पर भी सदा भावनिद्रा में सोये हुए हैं अतएव वे संसार में होने वाले जन्म, जरा, मृत्यु, रोग, दुख, संकट आदि के नाटकों को देखते हुए भी नहीं देख सकते हैं। "पश्यन्नपि न पश्यति" आँख खुली होने पर भी अज्ञान का पर्दा ऐसा पड़ा रहता है कि देखने योग्य वस्तु नहीं देख सकते हैं। जो अनुभव प्राप्त करने योग्य है वह प्राप्त नहीं होता है यही भावनिद्रा है। भावनिद्रा और भाव-जागरण के विषय में निर्युक्तिकार ने इस प्रकार स्पष्टीकरण किया है:—

सुत्ता अमुणओ सया मुणओ सुत्तावि जागरा हुंति।
धम्मं पडुच्च एवं निद्दासुत्तेण भइयव्वं ॥

अर्थात्—अमुनि-अज्ञानी गृहस्थ मिथ्यात्व से व्याप्त होने के कारण तथा हिंसादि आस्रव-द्वारों में प्रवृत्त होने के कारण हमेशा भावनिद्रा से सुप्त हैं और मुनि मिथ्यात्वरूप महानिद्रा के चले जाने से और सम्यक्त्वरूप प्रकाश के प्राप्त होने के कारण सदा जागृत ही हैं। यद्यपि मुनिजन संयम के आधारभूत शरीर की स्थिति के लिए निद्रावश होते हैं तदपि वे जागृत ही हैं। इस प्रकार धर्म के आश्रय से सुप्त-अवस्था और जागृत अवस्था कही गई है। द्रव्यनिद्रा से सोये हुए प्राणियों के लिए धर्म की भजना है अर्थात् धर्म हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है। यदि प्राणी भाव से जागृत है तो निद्रा से सुप्त होने पर भी धर्म होता है और यदि भाव से जागृत होने पर भी अत्यन्त गाढ़निद्रा और प्रमादवश हो जाता है तो धर्म नहीं होता है। जो द्रव्य और भावनिद्रा से सोये हुए हैं उनको तो धर्म नहीं ही होता है। यह भजना का अर्थ है। तात्पर्य यह है कि सदसद् का विवेक और धर्माराधन करना यह भाव जागरण है और मिथ्यात्व (अज्ञान) में पड़ा रहना यह भावनिद्रा है। ज्ञानी मुनिजन सदा भाव-जागरण करते हैं। गीता में भी यही कहा गया है:—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥ (गीता अ. २ श्लोक ६९)

अर्थात्—सब लोगों के लिए जो रात है उसमें संयमी-स्थितप्रज्ञ जागता है और जब समस्त प्राणी जागते रहते हैं तब ज्ञानवान् पुरुष को रात मालूम होती है। यह विरोधाभासात्मक वर्णन अलङ्कारिक है। अन्धकार को अज्ञान और प्रकाश को ज्ञान कहते हैं। अर्थ यह है कि अज्ञानी लोगों को जो वस्तु अनावश्यक प्रतीत होती है वही ज्ञानियों के लिए आवश्यक होती है। जिसमें अज्ञानी लोग उलझे रहते हैं और उन्हें जो प्रकाश मालूम होता है वही ज्ञानी को अंधेरा मालूम पड़ता है अर्थात् वह ज्ञानी को अभीष्ट नहीं होता।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

तात्पर्य यह है कि ज्ञानी और अज्ञानी का भेद पूर्णिमा और अमावस्या, आकाश और पाताल, हिमालय और परमाणु से भी अधिक है। "जो सोता है सो खोता है, जो जागत है सो पावत है" इस कहावत में भी यही भाव गर्भित है। जो द्रव्यनिद्रा से सुप्त होता है वह भी अवसर खो देता है तो जो मिथ्यात्वादि भावनिद्रा से चिरकाल से सुप्त हैं उनका तो क्या कहना? भावनिद्रा से सुषुप्त प्राणी तीव्र नरकादि दुख को प्राप्त करते हैं और जो विवेक-सम्पन्न होकर सदा जागृत दशा का अनुभव करते हैं वह कल्याण के भागी होते हैं। सुप्तासुप्ताधिकार में टीका में निम्न गाथाएँ संगृहीत हैं:—

जागरह णरा णिच्चं जागरमाणस्स वड्ढए बुद्धी।
जो सुअइ न सो धण्णो जो जग्गइ सो सया धन्नो॥ १॥

अर्थात्—हे मनुष्यो! सदा जागृत रहो। जो जागृत रहता है उसकी बुद्धि बढ़ती है। जो सोता है वह धन्य (सफल) नहीं होता और जो जागता है वह सदा धन्य (सफल) होता है॥ १॥

सुअइ सुअं तस्स सुअं संकिय खलियं भवे पमत्तस्स।
जागरमाणस्स सुअं थिरपरिचिअमप्पमत्तस्स॥ २॥

अर्थात्—जो सोता है उसका श्रुत (शास्त्रीय बोध) भी सो जाता है। प्रमादी का ज्ञान भी शङ्कादि के कारण स्खलित हो जाता है। इसके विपरीत जो जागता है उसका श्रुतज्ञान स्थिर और सदा परिचित होता है॥ २॥

आलस्सेण समं सुक्खं, न विज्जा सह निद्दया।
न वेरग्गं पमाएणं आरंभेण दयालुया॥ ३॥

अर्थात्—आलस्य के साथ सुख, निद्रा के साथ विद्या, प्रमाद के साथ वैराग्य तथा आरम्भ के साथ दयालुता कभी नहीं रह सकती हैं॥ ३॥

जागरिआ धम्मीणं अहम्मीणं तु सुत्तया सेआ।
वच्छाहिवभगिणीए अकहिंसु जिणो जयंतीए॥ ४॥

अर्थात्—जिनेश्वर भगवान् ने वत्स राजा की बहिन जयंती से इस प्रकार कहा था कि धर्मी पुरुष जागते अच्छे और अधार्मिक पुरुष सोते अच्छे। इसका तात्पर्य यह है कि जागते हुए धर्मी पुरुष शुभ क्रियाएँ करेंगे और जागते हुए पापी पुरुष पाप क्रिया करेंगे अतएव धार्मिक जागृत अच्छे और पापी सोते अच्छे हैं॥४॥

सूत्रकार का आशय यह है कि मुनि-ज्ञानीजन दर्शनावरणीय कर्म के उदय से निद्रा लेते हुए भी दर्शनमोहनीय रूप महानिद्रा के चले जाने से सदा जागृत ही हैं और अज्ञानी द्रव्यनिद्रा से जागते रहने पर भी दर्शनमोहनीय रूप महानिद्रा के गाढ अंधकार में सोये रहने से सदा सुषुप्त ही हैं। इसलिए कहा है कि ज्ञानी सदा जागृत हैं और अज्ञानी सदा सुप्त हैं। अज्ञान महादुख है और यही संसार में रहे हुए प्राणियों का घोर अहित करने वाला है यह आगे के सूत्र में बताते हैं:—

लोयंसि जाण अहियाय दुक्खं, समयं लोगस्स जाणित्ता, इत्थ सत्थोवरए।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

संस्कृतच्छाया—*लोके जानीहि अहिताय दुःखं, समयं लोकस्य ज्ञात्वा अत्र शस्त्रोपरतः ।*

शब्दार्थ—लोयंसि=लोक में । दुक्खं=दुःख का कारण अज्ञान या मोह । अहियाय= अहित करने वाला है । जाण=यह जानो । लोगस्स=संसार का । समयं=आचार । जाणित्ता= जानकर । इत्थ सत्थोवरए=संयम के बाधक शस्त्रों से दूर रहना चाहिए ।

भावार्थ—संसार में दुख का कारण अज्ञान अथवा मोह है और यह अहित करने वाला है ऐसा समझो । लोक के हिंसामय आचार को जानकर संयम के बाधक-रूप हिंसा, असत्य आदि शस्त्रों से दूर रहना चाहिए ।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में संसार के दुखों का मूल कारण बताया गया है । वस्तुतः संसार के दुखों का मूल कारण तथा सभी अहितों का मूल अगर कोई है तो वह अज्ञान ही है । वास्तविक स्वरूप से अज्ञान रहना ही दुख है । जब तक प्राणी को आत्मस्वरूप का तथा वस्तु-स्वरूप का पूरा पूरा सच्चा ज्ञान नहीं हो जाता तब तक वह सुख का अनुभव ही नहीं कर सकता है । वस्तु-स्वरूप को नहीं समझना ही अज्ञान है और इसी अज्ञान से दुखों का जन्म होता है । प्राणी अपने चैतन्य पर मोह का पर्दा डाल देता है जिससे वस्तु का सच्चा स्वरूप उसे दिखाई नहीं देता और बाह्य एवं कृत्रिम स्वरूप को देखकर वह उस वस्तु को प्राप्त करने के लिए अधीर हो जाता है । बस यही दुखों के जन्म की कहानी है । प्राणी का महामोह (अज्ञान) दुखों का जनक है । यही अहित का मूल है । यह अज्ञान ही गाढ़ भावनिद्रा है । यही नरकादि दुखों का कारण है । जब वस्तु के बाह्य-स्वरूप को तथा आभ्यन्तर स्वरूप को भलीभांति समझने की योग्यता आती है, जब सदसत् का विवेक करना आ जाता है और जब गाढनिद्रा दूर होकर सम्यक्त्व (सच्चा ज्ञान) प्राप्त होता है तभी प्राणी सुख के सन्मुख होता है और तभी उसका हित होता है । ज्ञान प्रकाश है और अज्ञान अंधकार है । यह जानकर मिथ्यात्व-रूप गाढ भावनिद्रा को त्याग कर सम्यक्त्व के सन्मुख होना चाहिए ।

संसारी प्राणी भोगों की अभिलाषा से प्राणियों की हिंसारूप कर्मों को संचित करके नरकादि स्थानों में महान् वेदनाएँ उठाते हैं और वहाँ से किसी प्रकार निकल कर धर्म के कारण आर्यक्षेत्र, मनुष्य-जन्म आदि में जन्म ग्रहण करते हैं लेकिन पुनः धर्म-आराधन के योग्य स्थानों में भी प्राणी महामोह के वशीभूत होकर ऐसे २ सावद्य पापकारी कर्म करते हैं जिससे वे निरन्तर नीचे और नीचे चले जाते हैं और अनन्त संसार-सागर में डूब जाते हैं । यह अज्ञानियों का आचार है । इस अज्ञानियों के आचार को जान-कर सुख के अभिलाषी प्राणी को सदा इस हिंसा से बचना चाहिए । अथवा "समयं लोयस्स जाणित्ता" इस पद का ऐसा भी अर्थ हो सकता है कि संसार में सभी जीवों को समभाव से अथवा अपने समान समझ कर हिंसा से बचना चाहिए । संसार का छोटा सा प्राणी भी मरण से डरता है, सुख का अभिलाषी है और दुख से द्वेष करने वाला है और सदा जीना चाहता है ऐसा समझ कर किसी भी प्राणी को दुख नहीं पहुँचाना चाहिए । द्रव्य और भाव रूप दोनों प्रकार के शस्त्रों से उपरत होना चाहिए और धर्म-जागरण करना चाहिए । षट्काय-लोक का स्वरूप जानकर संयम के बाधक शस्त्रों से दूर रहना ही सच्चा मुनि-धर्म है । हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील एवं परिग्रह ये संयम के लिए शस्त्र हैं । इसलिए संयमियों को अपने संयम की रक्षा और पालना के लिए इन शस्त्रों से दूर रहना चाहिए । अज्ञान के कारण ये भावशस्त्र ही

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

हैं। भावशस्त्रों का कारण अज्ञान है और अज्ञान के कारण भावशस्त्र हैं इस प्रकार परस्पर कार्य-कारण भाव समझना चाहिए। जो ज्ञानी-जन इन शस्त्रों के संसर्ग से अलग रहते हैं वे ही सच्चे ज्ञानी और मुनि हैं।

जस्सिमे सद्दा य रूवा य रसा य गंधा य फासा य अभिसमन्नागया भवंति से आयवं, नाणवं, वेयवं, धम्मवं बंभवं, पन्नाणेहिं परियाणइ लोयं, मुणीत्ति वुच्चे, धम्मविऊ, उज्जू, आवट्टसोए संगमभिजाणइ, सीउसिणच्चाई से निग्गंथे, अरइरइसहे, फरुसयं नो वेएइ जागरवेरोवरए वीरे एवं दुक्खा पमुक्खसि।

संस्कृतच्छाया—*यस्येमे शब्द-रूप-रस-गन्ध-स्पर्शा अभिसमन्वागता भवन्ति स आत्मावित्, ज्ञानवित्, वेदवित्, धर्मवित्, ब्रह्मवित् प्रज्ञानैः परिजानाति लोकं मुनिरिति वाच्यः, धर्मवित्, ऋजुः आवर्त्तस्रोतसोः संगमभिजानाति, शीतोष्णत्यागी स निर्ग्रन्थः रत्यरतिसहः परुषतां नो वेत्ति, जागरवैरोपरतः वीरः एवं (त्वं) दुःखात् प्रमोक्षयसि।*

शब्दार्थ—जस्सिमे=जिस पुरुष को ये। सद्दा य=शब्द। रूवा य=रूप। गंधा य=गंध। रसा य=रस। फासा य=और स्पर्श। अभिसमन्नागया=भलीभांति ज्ञात। भवंति=होते हैं। से आयवं=वही आत्म-स्वरूप को जानने वाला है। णाणवं=ज्ञानवान्। वेयवं=शास्त्रों का वेत्ता। धम्मवं=धर्म को जानने वाला। बंभवं=ब्रह्म को जानने वाला है। पन्नाणेहिं=विज्ञान बल के द्वारा। लोयं=लोक को। परियाणइ=जान लेता है। मुणीत्ति वुच्चे=वही मुनि कहा जाता है। धम्मविऊ=धर्म को जानने वाला। उज्जू=सरल मुनि। आवट्टसोए=संसार-चक्र का और विषयाभिलाषा का। संगमभिजाणइ=सम्बन्ध जानता है। सीउसिणच्चाई=सुख और दुख की आशा नहीं रखता हुआ। से निग्गंथे=वह अपरिग्रही मुनि। अरइरइसहे=अनुकूल प्रतिकूल उपसर्गों को-परीषहों को सहन करता हुआ। फरुसयं=संयम में कठिनता का। नो वेएइ=अनुभव नहीं करता है। जागरवेरोवरए=ऐसा मुनि सदा जागरूक रहता है और वैर-विरोध से दूर रहता है। वीरे=हे वीर! एवं दुक्खा=इस प्रकार तुम दुखों से। पमुक्खसि=मुक्त बनोगे।

भावार्थ--जो साधक शब्द, रूप, रस, गंध, और स्पर्श के सुन्दर या खराब, अनुकूल या प्रतिकूल मनोज्ञ या अमनोज्ञ, प्राप्त होने पर भी दोनों अवस्थाओं में समान भाव रख सकता है वही साधक चैतन्य (आत्म-रूप) ज्ञान, वेद (शास्त्रीय बोध) धर्म तथा ब्रह्म (निर्विकल्प सुख) का ज्ञाता है। ऐसा ही साधक अपने विज्ञान-बल से लोक के स्वरूप को जान सकता है और ऐसा ही साधक मुनि कहला सकता है। इस प्रकार धर्म के जानने वाले सरल मुनि संसार-चक्र तथा विषयाभिलाषा (आसक्ति) का रागादि के साथ क्या सम्बन्ध है

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

यह जानते हैं और सुख तथा दुख की जरा भी परवाह किये बिना संयममार्ग में आने वाले अनुकूल और प्रतिकूल प्रसंगों को समान रूप से सहन कर लेते हैं, संयम में कठिनाई का अनुभव नहीं करते हैं और जागृत रहकर वैर-विरोध को दूर करते हैं ऐसे वीर-धीर मुनि ही दुखों से मुक्त होते हैं।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में सच्चे ज्ञानी और सच्चे मुनि की व्याख्या दी गई है। जैनधर्म गुणपूजा स्वीकार करता है व्यक्ति पूजा नहीं। जिस व्यक्ति में साधुता के-मुनिधर्म के गुण पाये जाते हैं वह व्यक्ति चाहे कोई भी हो, चाहे किसी भी वेश का हो, चाहे किसी भी पंथ या सम्प्रदाय का हो, अवश्य ही पूजनीय है। जैनधर्म विश्वधर्म है; इस में प्रत्येक प्राणी को प्रवेश करने का अधिकार है; यहाँ मात्र गुणों की पूजा है। मुनि बनने के लिए क्या २ गुण चाहिए सो इस सूत्र में बताये गये हैं। साधु की साधुता और ज्ञानियों का ज्ञान मापने का मापयंत्र इस सूत्र में बताया गया है। जो व्यक्ति शब्द, रूप, गंध, रस, और स्पर्श इन विषयों में समभाव रख सकता है वही सच्चा साधु है, वही सच्चा ज्ञानी है। जो सुख और दुख में समभाव रख सकते हैं वे ही आत्मा के चैतन्य स्वरूप को जान सकते हैं, वे ही ज्ञानी कहे जा सकते हैं, वे ही शास्त्रों और वेदान्तों के अभ्यासी, वे ही धर्म के धुरन्धर और निर्विकल्प सुख के जानने वाले कहे जा सकते हैं। सुख-दुख में समभाव रखना यह एक कसौटी है जिस पर साधुता और ज्ञानीपन की परीक्षा होती है। जो व्यक्ति सुख-दुख के प्रसंगों में अपने जीवन की तुला को सम रख सकता है, जो सुखद एवं दुखद संयोगों में भी अपनी समतोलता नहीं खो बैठता है वही सचमुच ज्ञानी, साधु, शास्त्रों का पारगामी, धर्म का धुरन्धर और परब्रह्ममय निर्विकल्प सुख का द्रष्टा है। ऐसा मध्यस्थवृत्ति वाला व्यक्ति ही अपने विज्ञान के बल से संसार के सच्चे स्वरूप को जानता है। जो शब्दादि विषयसंगों का त्याग करता है वस्तुतः वही संसार के सच्चे स्वरूप को जानता है। ऐसा व्यक्ति ही सच्चा मुनि है। श्रुत-चारित्र रूप धर्म के स्वरूप को समझने वाला, ज्ञान, दर्शन और चारित्र का कुटिलतारहित पालन करने के कारण सरल, सर्वोपाधि से रहित साधु इस संसार रूप चक्रवाल का मूल कारण आसक्ति है ऐसा समझता है। जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक आदि दुखमय संसार का और विषयासक्ति का राग तथा द्वेष के साथ क्या और कैसा सम्बन्ध है इस बात का उसे पूरा-पूरा भान होता है। इस संसार को और विषयासक्ति को राग-द्वेषात्मक समझ कर जो त्याग करता है वही संसार के संग का ज्ञाता हो सकता है।

जो बाह्य और आभ्यन्तर ग्रन्थि से रहित होकर, शीत एवं उष्णरूप परिषहों को सहन करता है, सुख की जिसे कामना नहीं है और जो दुख से व्याकुल नहीं होता है, जो रति और अरति को सहन करता है, जो अनुकूल-प्रतिकूल परिषहों के कारण संयम में कठिनता का अनुभव नहीं करता है, जो असंयम रूप महानिद्रा के चले जाने से सदा जागृत है और जिसे क्रोध अथवा मान के कारण किसी पर द्वेष अथवा किसी के साथ वैर-विरोध नहीं है ऐसा वीर और धीर साधक ही सभी दुखों से मुक्त होकर निर्वाण का शाश्वत सुख प्राप्त करता है। समभावी आत्मा ही मोक्ष के सुख का अनुभव कर सकती है इसमें सन्देह नहीं है। आचार्य शिष्य को सम्बोधन करते हुए कहते हैं कि हे वीर! यदि तुम शब्दादि विषयों पर समवृत्ति रखोगे तो अपने आपको तथा दूसरों को भी दुख रूपी समुद्र से पार कर सकोगे। संसार के समस्त दुखों का निरन्वय विनाश करके ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक निराबाध सुख को प्राप्त कर सकोगे। यह भाव-जागरण का सुखमय परिणाम है।

जरामच्चुवसोवणीए नरे सययं मूढे धम्मं नाभिजाणइ।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

संस्कृतच्छाया—*जरामृत्युवशोपनीतः नरः सततं मूढः धर्मं नाभिजानाति ।*

शब्दार्थ—**जरामच्चुवसोवणीए=जरा और मृत्यु के सपाटे में फँसा हुआ । सययं मूढे= इससे सदा मूढ बना हुआ । नरे=मनुष्य । धम्मं=धर्म को । नाभिजाणइ=नहीं जानता है ।**

भावार्थ—जो प्राणी जरा और मृत्यु के सपाटे में फँसा हुआ है और इससे सदा किंकर्त्तव्यविमूढ बना हुआ है वह प्राणी धर्म को नहीं जान सकता है ।

विवेचन—इस सूत्र में भावनिद्रा से सुषुप्त प्राणियों की दशा बतलायी है । जो महामोह के कारण इस निद्रा में पड़े हुए हैं वे धर्म के रहस्य को नहीं समझ सकते हैं । महामोह एक बड़ा घन आवरण है । जिस प्रकार आँख के आगे आवरण आ जाने से सामने रही हुई वस्तु भी स्पष्ट नहीं दिखाई देती है उसी प्रकार मोहांध प्राणी भी सामने रही हुई वस्तु के वास्तविक स्वरूप को नहीं जानता है और भले-बुरे का विवेक भी नहीं कर सकता है । इसका परिणाम यह होता है कि वह वस्तु के वास्तविक स्वरूप को छोड़-कर उसके बाह्य स्वरूप को ही वस्तु मान लेता है और उसे प्राप्त करने के लिए अधीर हो उठता है । इस महामोह के कारण वस्तु के प्रति आकर्षण पैदा होता है और साथ ही 'यह वस्तु कहीं चली न जाय' इस बात का सदा भय बना रहता है । यही भय संसार के प्राणियों की विह्वलता का कारण है । एक तरफ तो वस्तु कहीं चली न जाय इस बात की चिन्ता बनी रहती है और दूसरी तरफ जबतक वस्तु चली न जाय तबतक उसका मनमाना उपभोग करने की झंखना जागृत होती है परन्तु जहाँ चिन्ता, भय और घबराहट है वहाँ सच्चा उपयोग तो क्या उपयोग का विचार तक कैसे हो सकता है ?

इसी कारण से प्राणी को बुढापे और मृत्यु का डर बना रहता है और जबतक ये न आ जावें तबतक वह भोग्य पदार्थों का पूरा पूरा मनमाना उपभोग करने के लिए विह्वल और अधीर हो जाता है। कहीं बुढापा न आ जाय, कहीं मौत आकर खड़ी न रह जाय, कहीं यह वस्तु नष्ट न हो जाय, इन्हीं विचारों से जवानी के प्रति और भोग्य पदार्थों के प्रति मोह ही नहीं परन्तु महामोह पैदा होता है और प्राणी विह्वल और भोग में अत्यन्त आसक्त बन जाता है ।

जब इस प्राणी को यह भान होगा कि बुढापा, यौवन और मृत्यु ये सभी स्थितियाँ आत्मा की नहीं परन्तु आत्मा के वेष्टन रूप देह की हैं, जब देह और आत्मा का भिन्नत्व प्रतीत होगा, जब शुद्ध चैतन्य और अविनाशी स्वरूप का ज्ञान होगा तब प्राणी निरासक्त होकर पदार्थों का उपभोग नहीं परन्तु सच्चा उपयोग कर सकेगा और धर्म के वास्तविक रहस्य को समझ सकेगा । देह और आत्मा की भिन्नता के सच्चे ज्ञान के अभाव से ही महामोह पैदा होता है । मोह से व्याकुलता होती है । इस व्याकुलता का अंत करने से ही धर्म का स्वरूप समझा जा सकता है । अन्यथा नहीं ।

शंका—ऊपर यह कहा गया है कि संसार के प्रत्येक प्राणी को जरा का डर बना रहता है किन्तु देवों को जरा का डर नहीं है वे अजर इसीलिये कहाते हैं—उन्हें तो जरा का डर नहीं है ।

समाधान—यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि देवताओं में भी जन्म की स्थिति और च्यवन की स्थिति में शरीर के वर्ण, कान्ति एवं लेश्यादि में अन्तर अवश्य हो जाता है । उत्पन्न होते समय जो लेश्या, बल,

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

सुख, प्रभुत्व और वर्ण होता है वह च्यवन के पहिले नहीं रहता। उनमें हानि हो जाती है इसलिए वहाँ भी जरा का सद्भाव है।

संसारान्तरवर्त्ती सभी प्राणी जरा और मृत्यु के सिकंजे में फँसे हुए अत्यन्त व्याकुल हो रहे हैं और सच्चे स्वरूप को भूल रहे हैं। जब मिथ्यात्व रूप महा मोहनिद्रा दूर होगी तब यह व्याकुलता दूर हो सकती है। अतएव इस मोहनिद्रा का नाश करके भाव-जागरण करना चाहिए।

पासिय आउरपाणे अप्पमत्तो परिव्वए, मंता य मइमं पास।

संस्कृतच्छाया—*दृष्ट्वा आतुरप्राणिनोऽप्रमत्तः परिव्रजेत्, मत्वा च मतिमन् ! पश्य।*

शब्दार्थ—**आउरपाणे=मोह से विह्वल होते हुए प्राणियों को। पासिय=देखकर। अप्पमत्तो=सावधान होकर। परिव्वए=संयम में प्रवृत्ति करनी चाहिए। मइमं=हे बुद्धिमान्! पास=यह देख कि। मंता य=मोह से विह्वलता होती मानकर विह्वल होने की इच्छा न कर।**

भावार्थ—भावनिद्रा से सोये हुए प्राणियों को विह्वल देखकर संयम में सावधानी से प्रवृत्ति करनी चाहिए। हे बुद्धिमान् मुनि! मोहनिद्रा से उत्पन्न होने वाले दुखों को जानकर तू इस प्रकार विह्वल होने की इच्छा न कर अर्थात् सदा सावधान रह॥

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में मोहनिद्रा में सोये हुए प्राणियों की विह्वलता बताकर सूत्रकार ने उस निद्रा से जागृत होने के लिए फरमाया है। मोहनिद्रा का अनिष्ट परिणाम बतलाते हुए सूत्रकार ने स्पष्ट फरमाया है कि मोह से प्राणी किंकर्त्तव्यविमूढ बन जाते हैं। उनकी ऐसी मूढ़ दशा देखकर उससे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। दूसरों के कार्यों और उनके परिणामों को देखकर स्वयं शिक्षा लेनी चाहिए। मोह से आतुर बने हुए प्राणियों की दुर्दशा से हमें यह शिक्षा लेनी चाहिए कि हम मोहनिद्रा से जागृत हों और सदा उससे बचने की कोशिश करें।

जब तक आत्मा और जड़ पदार्थों की भिन्नता हृदय से स्वीकृत नहीं होती तब तक यह भावनिद्रा, यह महामोह और इसका फल विह्वलता एवं जरा और मृत्यु का भय सदा बना रहने का ही है। जिस क्षण इस जीव ने यह अनुभव कर लिया कि "मैं कुछ और हूँ और यह जड़ पदार्थ कुछ और हैं" उसी क्षण यह मोहनिद्रा टूट जायगी और जीव को अपने स्वरूप का भान होने लगेगा। तब वह बाह्य जड़ वस्तुओं के लिए विह्वल न होगा, उसे जरा और मृत्यु नहीं डरा सकेगी। जड़ वस्तुओं के गाढ संसर्ग से आत्मा का सहज सुन्दर स्वरूप भुला दिया जाता है और बाह्य वस्तुओं के प्रति आकर्षण पैदा होता है, जिन्हें प्राप्त करने के लिए प्राणी अत्यन्त परिश्रम एवं हिंसादि कार्य करते हैं और उन वस्तुओं को टिकाये रखने के लिए, उनका उपभोग करने के लिए सदा लालायित रहते हैं और उनके चले जाने की आशंका से जरा और मृत्यु से सदा भयभीत रहते हैं। यही प्राणियों की विह्वलता का कारण है। दुखविह्वल प्राणियों को देखकर एवं उनसे शिक्षा ग्रहण कर संयम के मार्ग में प्रवृत्ति करनी चाहिए।

सम्यक्त्व की निशानी और मिथ्यात्व निद्रा के भङ्ग हो जाने का यही चिह्न है कि आत्मद्रव्य और जडद्रव्य की भिन्नता का हार्दिक अनुभव हो जाय। इस भिन्नता के अनुभव होते ही संयम के लिए स्वतः

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

स्फुरणा प्राप्त होती है और तभी संयम यथेष्ट लाभप्रद हो सकता है। यह विवेक हो जाने पर ही आत्म-विकास का मार्ग खुला होता है। अतः आत्मा की विशुद्धि प्रतीति करके मोहरूप महानिद्रा से जागृत होना चाहिए और संयम में सावधानी पूर्वक प्रवृत्ति करनी चाहिए। विह्वलता से छूटने का यही उपाय है।

आरंभजं दुक्खमिणं ति णच्चा, माई पमाई पुण एइ गब्भं, उवेहमाणो सद्दरूवेसु उज्जू माराभिसंकी मरणा पमुच्चइ।

संस्कृतच्छाया—*आरम्भजं दुःखमिदमिति ज्ञात्वा, मायी प्रमादी पुनरेति गर्भम्, उपेक्षमाणः शब्दरूपेषु, ऋजुः माराभिशङ्की मरणात् प्रमुच्यते।*

शब्दार्थ—इणं दुक्खं=यह दुःख। आरंभजं=हिंसादि से होता है। इति णच्चा=यह जानकर सदा जागृत रहना चाहिए। माई=मायावी। पमाई=प्रमादी। पुण=बारबार। गब्भं एइ=जन्म-मरण करता है। सद्दरूवेसु=शब्द रूपादि विषयों में। उवेहमाणो=रागद्वेष नहीं रखता हुआ। उज्जू=सरल स्वभावी। माराभिसंकी=जन्म-मृत्यु के चक्र से डरता है वह व्यक्ति। मरणा=मृत्यु से। पमुच्चइ=मुक्त हो जाता है।

भावार्थ—हे बुद्धिमान् शिष्य! प्राणियों को होने वाले सभी दुख हिंसादि आरम्भ से उत्पन्न होते हैं यह जानकर सदा आरम्भों से सावधान रहना चाहिए। मायावी और कषायी तथा प्रमादी प्राणी पुनः पुनः गर्भ में आकर जन्म-मरण के चक्र में फँसता है। इसके विपरीत जो व्यक्ति जन्म-मरण से डर कर शब्दादि विषयों में रागद्वेष न रखता हुआ समभाव (सरलता) से प्रवृत्ति करता है वह मृत्यु के भय से मुक्त हो जाता है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में दुःख का कारण बताया गया है। सभी दुखों का निदान सावद्य अनुष्ठान रूप आरम्भ है। संसार में जहाँ कहीं दुख का अनुभव होता है उसका कारण प्राणियों की पाप-प्रवृत्ति ही है। पाप स्वयं दुखरूप है और दुखों का निदान है। पाप-क्रियाओं से संसार दुखमय बनता है और नरक तिर्यञ्चादि गतियों में दुख उठाने पड़ते हैं।

इस तत्त्व में भी अगर सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि इसमें जड़ वस्तुओं के प्रति आकर्षण ही काम कर रहा है। प्राणी पाप करने के लिए प्रवृत्त होता है इसका कारण जड़ वस्तुओं का आकर्षण और आत्मद्रव्य का अज्ञान ही है। जड़ वस्तुओं के गाढ़ सम्पर्क के कारण चैतन्य-राज भी अपने चैतन्य को भूलकर अपने आपको भी जड़ मानने लगता है। जिस प्रकार जन्म से ही सिंह का बच्चा बकरियों के समूह में रख दिया जाय और सतत बकरियों का ही उसे संसर्ग रहे तो वह उस संसर्ग के कारण सिंह-स्वरूप को भूलकर अपने को बकरी ही मानने लगता है। यही दशा जड़ के गाढ़ संसर्ग के कारण चैतन्य की होती है। इसके कारण जड़ वस्तुओं को प्राप्त करने के लिए, भौतिक आनन्द को लूटने के लिए, अधिक से अधिक साधन-सामग्री जुटाने के लिए प्राणी सावद्य क्रियाएँ करता है और ये ही

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

क्रियाएँ दुख को उत्पन्न करती हैं। इस तरह यह संसार दु खागार बन जाता है। आरम्भ जन्य दुखों को जानकर सदा निरारम्भ रहना चाहिए। सदा आत्मजागृति के लिये प्रयत्नशील रहना चाहिए।

जो भावनिद्रा से सुषुप्त प्राणी हैं वे विषय-कषायादि से लिप्त रहकर भयङ्कर यातनाएँ सहन करते हैं। मायावी और सकषायी प्राणी पुनः पुनः गर्भ में आते हैं और जन्म-मरण के चक्र में परिभ्रमण करते रहते हैं। प्रमाद और कषायों के कारण विषयों में प्रवृत्ति होती है। यह विषयों का आकर्षण भयङ्कर दुखों का उत्पादक बनता है। अपने माने हुए विषयों के सुख में तृप्ति न मिलने के कारण प्राणी विषयों के संसर्ग को चिरकाल तक टिकाये रखने के लिए लालायित रहता है अतएव वह मृत्यु से डरता है। इसके विपरीत जो प्राणी आत्मस्वरूप को पहिचानता है वह शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श रूप विषयों में राग-द्वेष नहीं कर सकता है। वह इन जड़वस्तुओं से अपने आपको अलिप्त मानता है अतः उनमें आसक्ति नहीं रखता है। जो जन्म-मरण से डरता है वह प्राणी इन विषय-कषायों में कभी प्रवृत्ति नहीं कर सकता। जिसे आत्म-स्वरूप की विमल झाँकी के दर्शन हो चुके हों उसे मृत्यु का डर नहीं डरा सकता है। वह हँसते हँसते मृत्यु का आलिंगन करता है। इसका कारण यह है कि वह मृत्यु के स्वरूप को और संसार के पदार्थों के स्वरूप को भलीभांति जान चुकता है। जो मृत्यु के स्वरूप को जानता है वह उससे निर्भय रहता है। सम्यग्ज्ञान होनेकी वजह से वह पदार्थों को उनके असली स्वरूप में देखता है अतएव वस्तु-स्वरूप समझ कर वह समभाववृत्ति धारण करता है जिससे वह जन्म-मरण से मुक्त हो जाता है। वह मृत्युञ्जय बन जाता है। अतएव भावनिद्रा से जागृत बनकर आरम्भ, विषय और कषायों से सदा बचना चाहिए। ये ही संसार और संसार के दुखों के कारण हैं अतएव मुमुक्षुओं को और शाश्वत सुखाभिलाषियों को इनसे बचकर सदा सावधान रहना चाहिए।

अप्पमत्तो कामेहिं, उवरओ पावकम्मेहिं, वीरे आयगुत्ते खेयन्ने, जे पज्जवजायसत्थस्स खेयण्णे से असत्थस्स खेयन्ने, जे असत्थस्स खेयन्ने से पज्जवजायसत्थस्स खेयन्ने, अकम्मस्स ववहारो न विज्जइ, कम्मुणा उवाही जायइ।

संस्कृतच्छाया—*अप्रमत्तः कामेषुः, उपरतः पापकर्म्मभ्यः, वीरः गुप्तात्मा खेदज्ञः, यः पर्यवजातशस्त्रस्य खेदज्ञः सोऽशस्त्रस्य खेदज्ञः, योऽशस्त्रस्य खेदज्ञः सः पर्यवजातशस्त्रस्य खेदज्ञः, अकर्म्मणः व्यवहारो न विद्यते कर्म्मणा उपाधिर्जायते।*

शब्दार्थ—खेयन्ने=जो पुरुष दूसरों को होने वाले दुखों को जानता है। वीरे=वह वीर। आयगुत्ते=आत्म-संयम रखने वाला। कामेहिं=विषयों में। अप्पमत्तो=नहीं फँसता हुआ। पावकम्मेहिं=पापकर्मों से। उवरओ=दूर रहता है। जे=जो। पज्जवजायसत्थस्स=विषयोपभोग के अनुष्ठान को शस्त्ररूप। खेयन्ने=जानता है। से=वह। असत्थस्स=संयम को। खेयन्ने=जानता है। जे=जो। असत्थस्स=संयम को। खेयन्ने=जानता है। से=वह। पज्जवजायसत्थस्स=विषयोपभोग के अनुष्ठान को शस्त्ररूप। खेयन्ने=जानता है। अकम्मस्स=कर्म-रहित पुरुष के। ववहारो=सांसारिक व्यवहार। न विज्जइ=नहीं रहता है। कम्मुणा=कर्म से ही। उवाही=उपाधि। जायइ=पैदा होती है।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

भावार्थ—जो पुरुष दूसरों को होने वाले दुखों को जानता है वह वीर आत्म-संयम रखकर विषयों में नहीं फँसता हुआ पापकर्मों से दूर रहता है। जो विषयोपभोग के अनुष्ठान को शस्त्ररूप जानता है वही संयम को जानता है, जो संयम को जानता है वह विषयोपभोग के अनुष्ठान को शस्त्ररूप जानता है। कर्म-रहित हो जाने पर किसी भी तरह का सांसारिक व्यवहार नहीं रहता है। कर्मों से ही सभी उपाधियां पैदा होती हैं।

विवेचन—इसके पूर्व के सूत्र में आत्म-द्रव्य और पर-द्रव्य का स्वरूप समझ कर हिंसादि आरम्भ से निवृत्त होने के लिए कहा गया है। आरम्भ को ही सब दुखों का उत्पादक माना है। जो प्राणी दूसरों के दुखों को भी अपने ही दुख के समान समझता है और 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' के सिद्धान्तानुसार सभी प्रकार के आरम्भों से निवृत्ति करता है वही सच्चा खेदज्ञ है (ज्ञानी है)। अथवा जब व्यक्ति को आत्म-द्रव्य और परद्रव्य की भिन्नता का ज्ञान होता है और वह मालूम होता है कि परद्रव्य से दुख उत्पन्न होता है तो उसे सच्चा ज्ञानी कह सकते हैं। इस प्रकार के सच्चे ज्ञान के बिना सच्चा वैराग्य नहीं प्रकट होता और सच्चे वैराग्य के बिना त्याग टिक नहीं सकता। इस प्रकार का ऊपरी त्याग पापकर्मों से बचाने में असमर्थ होता है।

जब सच्चा विवेक और सच्ची खेदज्ञता प्राप्त होती है तब प्राणी आत्म-संयम रख सकता है और उस संयम के द्वारा विषयादि में नहीं फँसता हुआ सावद्य कार्यों से-पापकर्मों से दूर रहता है।

अब सूत्रकार आगे यह प्रतिपादन करते हैं कि विषय और संयम दोनों एक साथ नहीं रह सकते। संयम और विषयों में सहानवस्थान रूप विरोध है। जैसे जहाँ प्रकाश है वहाँ अन्धकार नहीं रह सकता और जहाँ अन्धकार है वहाँ प्रकाश नहीं रह सकता। उसी प्रकार जहाँ विषय हैं वहाँ संयम नहीं है और जहाँ संयम है वहाँ विषय किसी भी रूप में नहीं रह सकते। इसीलिये सूत्रकार फरमाते हैं कि जो विषयोपभोग के कार्य को आत्मा का हनन करने वाला शस्त्र मानता है वही व्यक्ति संयम की आराधना कर सकता है। वस्तुतः विषयों से उत्पन्न होने वाले भ्रामक सुख में सुख का अनुभव करना आत्मा का पतन करना है। जो व्यक्ति इन्द्रियों के मनोज्ञ या अमनोज्ञ विषयों पर रागद्वेष करता है वह आत्मा का हनन करता है। जो व्यक्ति इन विषयों को-विषयासक्ति को-आत्मा के लिए शस्त्र-रूप मानता है वही व्यक्ति अशस्त्र (संयम) को जान सकता है। वह संयम को आत्मा के लिए अशस्त्र मानता है क्योंकि संयम आत्मा के लिए घातक न होकर पोषक होता है। जो व्यक्ति संयम को आत्मा का पोषक मानता है और उसकी आराधना करता है वह व्यक्ति प्रत्येक इन्द्रिय के विषयों को-उनमें होने वाली रागद्वेषात्मक बुद्धि को आत्मा के लिए घातक शस्त्ररूप जानता है। इस प्रकार सूत्रकार ने हेतुहेतुमद्भाव से संयम और विषयों का विरोध प्रकट किया है। अतएव आत्मार्थी पुरुषों को संयम की निर्मल आराधना के लिए विषयासक्ति से सर्वथा दूर रहना चाहिए।

"पज्जयज्जायसत्थस्स" इस पद का ऐसा भी अर्थ हो सकता है कि "शब्दादि पर्यायेभ्यस्तज्जनित रागद्वेषपर्यायेभ्यो वा जातं यज्ज्ञानावरणादि कर्म तस्य यच्छस्त्रं दाहकत्वात् तपस्तस्य खेदज्ञः" अर्थात्-शब्दादि पर्यायों से और तज्जन्य रागद्वेष से उत्पन्न होने वाले ज्ञानावरणादि कर्म का शस्त्र-रूप-अर्थात् तप। जो तप का खेदज्ञ होता है यह संयम का खेदज्ञ है और जो संयम का खेदज्ञ है वह तप का खेदज्ञ है। जो इस प्रकार तप और संयम का ज्ञाता होता है वह सर्व आस्रवों का निरोध कर कर्मों का क्षय कर देता है।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

जो कर्मों का क्षय करके कर्म-रहित हो जाता है उसके लिए फिर सांसारिक व्यवहार नहीं रहता है अर्थात् वह नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव, पर्याप्त, अपर्याप्त, बालक, कुमार, युवक, वृद्ध आदि सांसारिक पर्यायों से छूट जाता है और सिद्ध हो जाता है। जबतक कर्म हैं तबतक उपाधि विद्यमान हैं!

आध्यात्मिक शब्दों की परिभाषाओं में से अनेक शब्दों के विषय में विचार-भेद होता आया है और हो रहा है। इस सूत्र में आये हुए "कर्म" शब्द की परिभाषा भी विचारणीय है। 'कर्म' शब्द का अर्थ अगर क्रिया ही लिया जाता है तो जबतक सिद्ध-अवस्था प्राप्त नहीं होती वहाँ तक कोई भी प्राणी अकर्मा नहीं हो सकता क्योंकि वहाँ तक क्रियाओं का सद्भाव है। यह "अकर्मा दशा" मात्र लक्ष्य बिन्दु हो सकती है। व्यावहारिक दृष्टि-बिन्दु से "कर्म" शब्द का अर्थ आसक्ति से होने वाली क्रिया और 'अकर्मा' का अर्थ निरासक्त क्रिया करने वाला हो तो यह भी सुसंगत है। सूत्रकार ने "अकम्मस्स ववहारो न विज्जइ" इस पद के द्वारा यह सूचित किया है कि जो रागद्वेष-रहित होकर निरासक्त बुद्धि से क्रिया करता है उसे सांसारिक सम्बन्ध स्वाभाविकतया रहता ही नहीं है।

संसार का अर्थ आसक्तिपूर्ण व्यवहार है। इसी आसक्ति से उपाधियाँ पैदा होती हैं। सूत्रकार ने यह फरमाया है कि 'कर्म से उपाधि होती है' इसका अर्थ यह है कि आसक्तिमय क्रियाओं से ही दुखों का उद्भव है। आगे आने वाले सूत्र में सूत्रकार ने क्रिया करते हुए रागद्वेष का परिहार करने के लिए फरमाया है। इसलिए प्रत्येक क्रिया करते हुए निरासक्त रहना चाहिए इससे सभी उपाधियों से मुक्ति प्राप्त हो सकती है।

कम्मं च पडिलेहाए, कम्ममूलं च जं छणं पडिलेहिय सव्वं समायाय दोहिं अंतेहिं अदिस्समाणे तं परिन्नाय मेहावि! विइत्ता लोगं, वंता लोगसन्नं से मेहावी परिक्कमिज्जासि त्ति बेमि।

संस्कृतच्छाया—*कर्म च प्रत्युपेक्ष्य, कर्ममूलं च यत्क्षणं, प्रत्युपेक्ष्य सर्वं समादाय द्वाभ्यामन्ताभ्यां सहादृश्यमानः तत् परिज्ञाय मेधाविन्! ज्ञात्वा लोकं, वान्त्वा लोकसंज्ञां स मेधावी पराक्रमेदिति ब्रवीमि।*

शब्दार्थ—कम्मं च=कर्म के स्वरूप को। पडिलेहाए=जानकर। जं च छणं=हिंसक वृत्ति को। कम्ममूलं च पडिलेहिय=कर्म की जड़ समझ कर उससे दूर रहना चाहिए। सव्वं=सब। समायाय=उपाय ग्रहण करके। दोहिं अंतेहिं=दोनों राग और द्वेष से। अदिस्समाणे=दूर रहे। मेहावी=बुद्धिमान्!। तं परिन्नाय=यह जानकर। लोगं विइत्ता=दुनियाँ को जानकर। लोगसन्नं=लोकसंज्ञा का। वंता=त्याग करके। से मेहावी=बुद्धिमान् व्यक्ति। परिक्कमिज्जासि=संयम में पराक्रम करे।

भावार्थ—इस प्रकार कर्म के यथार्थ स्वरूप को जानकर और हिंसकवृत्ति को कर्म की जड़ समझ कर उससे दूर रहना चाहिए। यह सब स्वरूप जानकर कर्म से दूर होने के सभी उपायों को ग्रहण करके

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

बुद्धिमान् साधक राग और द्वेष का समूल परिहार करे। बुद्धिमान् साधक राग और द्वेष को अहितकर जानता है। संसार के लोग इसी दुखमय दिखाई देते हैं ऐसा समझ कर विषयादि लोकसंज्ञा से दूर रहकर संयम में पराक्रम करना चाहिए।

विवेचन—प्रकृत सूत्र में रागद्वेष का परिहार करने का मुख्य उपदेश दिया हुआ है। रागद्वेषात्मक क्रिया कर्मबन्धन का कारण है। तीव्र आसक्ति तीव्र कर्मबन्धन का कारण है और कर्मबन्धन से संसार बढ़ता है और संसार से दुख पैदा होता है। तात्पर्य यह हुआ कि शब्दादि विषयों के मनोज्ञ और अमनोज्ञ होने पर उनमें राग और द्वेष करना यही संसार के दुखों का कारण है। हिंसक-वृत्ति और आसक्ति पाप है और पाप दुखरूप है। अतएव सुख के अभिलाषी प्राणियों का यह कर्त्तव्य है कि विषय और विषयों की ओर दौड़ती हुई वृत्तियों को तथा भोग भोगने की तमन्ना के भेद को समझ कर आसक्ति से सदा दूर रहें।

संसार और कर्म के बीज दो ही हैं (१) राग और (२) द्वेष। जहाँ राग है वहाँ द्वेष है यह निश्चित है। कारण यह है कि राग और द्वेष दोनों का उत्पत्ति स्थान एक ही है। जहाँ एक के प्रति राग होता है वहाँ दूसरे के प्रति द्वेष होता ही है। राग के बिना द्वेष नहीं और द्वेष के बिना राग नहीं। ये दोनों बीज ही संसार वृक्ष को फलाफूला रखते हैं। संसार-वृक्ष के कड़वे फलों को खाकर प्राणी दुखों का अनुभव कर रहे हैं इसलिए रागद्वेष में नहीं फँसते हुए कर्म और उसके कारणों को ज्ञ-परिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यान-परिज्ञा द्वारा त्यागना चाहिए। लोकवृत्ति की तरफ न झुककर, संसार की वृत्ति को जानकर, विषयपिपासा और धनादि के आग्रहरूप लोकसंज्ञा का परित्याग कर निरासक्त होकर संयम में पराक्रम करना ही बुद्धिमानों का काम है। जहाँ निरासक्ति का प्रकाश प्रकट हुआ वहाँ अन्य गुणों के लिए प्रयत्न की आवश्यकता नहीं रहती। अन्य गुण तो सहज प्रकट हो ही जाते हैं।

इस उद्देशक में भावनिद्रा और भावजागरण का स्वरूप बताया गया है। महामोह की निद्रा में पड़े हुए प्राणी अनन्तकाल तक संसार में परिभ्रमण करते हैं। इसका एकमात्र कारण अज्ञान है। आत्मद्रव्य और जड़वस्तु के भेदबुद्धि का विवेक होना ही ज्ञान है। ऐसा ज्ञानी द्रव्य से सुप्त हो तो भी वह जागरूक ही है। सदा जागृत बनने के लिए आसक्तिरूप निद्रा का त्याग करके निरासक्त भाव से संयम की आराधना करनी चाहिए।

इति प्रथमोद्देशकः

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

शीतोष्णीय नाम तृतीय अध्ययन

—द्वितीयोद्देशक—

(भावनिद्रा का फल और त्याग मार्ग की आवश्यकता)

प्रथम उद्देशक में भाव-निद्रा और भाव-जागरण का निरूपण किया गया है। इस द्वितीय उद्देशक में भाव-निद्रा का अशान्तिमय विपाक और भाव-जागरण के लिए आवश्यक त्यागमार्ग का वर्णन किया गया है। भाव-निद्रा का दुखमय स्वरूप और कटुक फल को बताकर सूत्रकार भाव-निद्रा में सोये हुए प्राणियों को सावधान करते हैं। भाव-निद्रा आत्मा की वैभाविकदशा का परिणाम है और वैभाविक अवस्था में परिणाम कितना अनिष्ट आता है यह सहज ही जाना जा सकता है। भाव-निद्रा के स्वरूप के वर्णन के बाद उसके अति अनिष्ट परिणामों के वर्णन करने का उद्देश्य भाव-निद्रा से सुप्त प्राणियों को सचेत करना है। सूत्रकार ने केवल भाव-निद्रा और उसकी भयंकरता ही नहीं बताई है लेकिन उस निद्रा से मुक्त होने के लिए उपाय भी बताये हैं।

जिस प्रकार कुशल वैद्य रोग को पहचान कर उसका स्वरूप बताता है, उससे होने वाले अनिष्ट परिणामों को बताता है और साथ ही साथ रोग से मुक्त होने का उपाय और रोग का उपद्रव फिर न हो इसके लिए पथ्य भी बताता है। अगर वह वैद्य केवल रोग और उसके अनिष्ट परिणामों को ही बतावे और उससे मुक्त होने और स्वस्थ रहने के उपाय न बतावे तो वह वैद्य उतना हितकारी नहीं हो सकता। सूत्रकार जगज्जीवों के परम हितैषी हैं अतएव उन्होंने भाव-निद्रा रूपी रोग और उसके अनिष्ट परिणाम बतला कर इस रोग से मुक्त होने के लिए त्यागमार्ग रूपी औषधि बतलायी है और व्रतनियमादि का पालनरूप पथ्य का निर्देश किया है जिसके कारण चिर आत्मिक-स्वास्थ्य बना रहता है। वैभाविकदशा के निवारण के लिए सूत्रकार ने त्यागमार्ग का निरूपण किया है और उसमें भी सर्व प्रथम सूत्र में अहिंसा का प्राधान्य और उसका प्रयोजन बताया है।

अहिंसा क्यों ? इस प्रश्न का समाधान सूत्रकार ने प्रथम सूत्र में किया है। अहिंसा के सच्चे आराधक हुए बिना व्यक्ति और समष्टि का पूर्ण विकास नहीं हो सकता। अहिंसा के विश्व-बन्धुत्व की भावना से ओतप्रोत सिद्धान्त के पालन से ही व्यक्ति और समष्टि के हित सुरक्षित रह सकते हैं। जो सुख हमें प्रिय हैं वे ही सुख दूसरों को भी प्रिय हैं, अपने सुख के लिए दूसरों को कष्ट पहुंचाना महा अधर्म है-ऐसे विचार वाले साधक का ही विकास सम्भव है। ऐसा ही साधक भाव-जागरण कर सकता है। यही सूत्रकार सूत्र द्वारा फरमाते हैं:—

जाइं च वुड्ढिं च इहऽज्ज ! पासे, भूएहिं जाणे पडिलेह सायं। तम्हाऽतिविज्जे परमं ति णच्चा सम्मत्तदंसी न करेइ पावं।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

संस्कृतच्छाया—*जातिञ्च वृद्धिञ्चेहार्य ! पश्य, भूतैः (समं) जानीहि प्रत्युपेक्ष्य सातं । तस्मादतिविद्यः परममिति ज्ञात्वा सम्यक्त्वदर्शी (सन्) न करोति पापं ।*

शब्दार्थ—अज्ज=हे आर्य । इह=इस संसार में । जाइं=जन्म । च=और । वुड्ढिं च=वृद्धावस्था के दुखों को । पासे=देख । भूएहिं=अन्य प्राणियों के साथ । सायं=अपने सुख का । पडिलेह=विचार करके । जाणे=अपने समान उसको भी जाने । तम्हा=इसलिये । अतिविज्जे=तत्ववेत्ता मुनि । परमं=कल्याणकारी मोक्षमार्ग को । णच्चा=जानकर । सम्मत्तदंसी=सम्यग्दृष्टि होता हुआ । पावं=पापकर्म । न करेइ=नहीं करता है ।

भावार्थ—हे आर्य शिष्य ! इस संसार में जन्म और जरा के दुखों को देख । संसार के सभी प्राणियों को अपने समान समझ । जैसे तुझे सुख प्रिय है और दुख अप्रिय है उसी तरह अन्य प्राणियों को भी सुख प्रिय और दुख अप्रिय है ऐसा विचार कर तू अपना वर्ताव बना । यही परम कल्याणकारी मोक्ष का मार्ग है । इसे जानकर तत्वदर्शी साधक पापकर्म नहीं करता है ।

विवेचन—संसार की नाट्यशाला में खेले जाते हुए दुखमय नाटक में जन्म और जरा का मुख्य हाथ है । सारा संसार जन्म और जरा के रोग से पीड़ित है । जन्म-धारण करते समय असंख्य सूइयों की नोकों को शरीर में चुभाने पर जो वेदना होती है उससे कई गुनी तीव्र वेदना होती है । इसी तरह वृद्धावस्था के शारीरिक और मानसिक दुखों का तो प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा है । इस अवस्था में अपना सबसे प्यारा साथी शरीर भी धोखा दे जाता है । शरीर जर्जरित हो जाता है और मानसिक संतापों का बोझ बढ़ जाता है।

जन्म और जरा के विषय में विचार करना मानों कर्मवाद के सिद्धान्त का निरीक्षण करना है । कर्म का अविचल सिद्धान्त यह बात बताता है कि क्रिया का फल उसके कर्त्ता को प्रत्यक्ष या परोक्ष में अवश्य मिलता ही है । जो जैसा कर्म करता है उसे आगे या पीछे उसका फल भोगना ही पड़ता है । कर्म के राज्य में सिफारिश और रिश्वतों का बोलबाला नहीं है । वहाँ राजा और रंक का भेद नहीं है । प्रत्येक प्राणी को उसके शुभाशुभ कर्मों के अनुसार उसका फल भोगना ही पड़ता है । जन्म और मरण अर्थात् यह सर्व संसार-भ्रमण कर्म के कारण ही है । इस बात को समझ कर जन्म-मरण रूपी दुखों से मुक्त होने के लिए यही उपाय है कि उपयोगमय जीवन व्यतीत किया जाय । उपयोगमय जीवन से कर्मबन्धन का अभाव हो जाता है और कर्मों के अभाव हो जाने से जन्म, जरा और मरण से छुटकारा मिल जाता है। आत्मा सभी तरह की आधि, व्याधि एवं उपाधि से मुक्त हो जाता है और अपने सहजानन्द स्वरूप में स्थित हो जाता है ।

इस सहजानन्द स्वरूप को प्राप्त करने का उपाय भी सूत्रकार ने इसमें बताया है । इस स्थिति पर पहुँचने का सबसे सुन्दर और सीधा मार्ग अहिंसक-वृत्ति और अहिंसक व्यवहार है । संसार में दिव्य आनन्द का अनुभव कराने वाली शक्ति अहिंसा ही है । सुख-शान्ति की सरिता का उद्गम अहिंसा से है। अहिंसा की लोकपावनी पवित्र गंगा दुखसंतप्त दुनिया के अन्तर को अपनी सुधोपम धारा के द्वारा सींच सकती है । परन्तु अपनी अज्ञानता के कारण दुनियाँ दिन प्रतिदिन इस अहिंसा से दूर भागती जा रही है।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

भौतिक यन्त्रसाधनों की वृद्धि के साथ-साथ विश्वशान्ति खतरे में पड़ती जा रही है। चारों तरफ स्वार्थ, साम्राज्य और शोषण का बोलबाला हो रहा है जिसका कटु परिणाम प्रत्यक्ष दिखाई देता है कि भयंकर नरसंहार हो रहा है और दुनियाँ खून से लथपथ हो रही है। आज संसार में सर्वत्र अशान्ति की ज्वाला धधक रही है और रणचण्डी भयंकर अट्टहास करती हुई ताण्डव कर रही है। इसका एकमात्र कारण अहिंसा के परम-कल्याणकारी मार्ग को भुला देना है।

संसार का छोटे से छोटा प्राणी भी सुख का अभिलाषी है। सभी प्राणी सुख पाने के लिए ही प्रवृत्ति कर रहे हैं। मानव की तो बात जाने दीजिये—कीड़े मकोड़े, पशु-पक्षी और सूक्ष्म कीटाणु भी एक मात्र सुख चाहते हैं। स्वर्ग का स्वामी इन्द्र भी सुख चाहता है और एक सूक्ष्म प्राणी भी सुख चाहता है। सभी प्राणी सुख के इच्छुक और दुख के द्वेषी हैं। दुख किसी को प्रिय नहीं लगता। सभी जीना चाहते हैं, कोई मरना नहीं चाहता। तिर्यञ्च और नारकी के जीव भयंकर वेदनाएँ सहते हैं तदपि वे जीना चाहते हैं, मरना नहीं। ऐसी अवस्था में हमें यह विचारना चाहिए कि जैसे सुख हमें प्रिय है वैसे ही दूसरों को भी प्रिय है और जैसे दुख हमें अप्रिय है वैसे ही दूसरों को भी अप्रिय है। यह विचार कर किसी भी प्राणी को कष्ट नहीं पहुँचाना चाहिए। यही कल्याण का मार्ग है। "आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्" अर्थात्—जो बातें हमें दुखरूप मालूम होती हैं उनका बर्ताव हमें दूसरों के साथ भी नहीं करना चाहिए। इस तत्त्व की तरफ हमारी आत्मा जितनी प्रगति कर सकेगी उतनी ही हमारी मुक्ति होती जायगी।

यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि सारा संसार जीवों से संकुल (व्याप्त) है। संसार के प्रत्येक हलन-चलनादि व्यवहार में हिंसा अनिवार्य है तो अहिंसा व्यवहार्य कैसे हो सकती है? इसका समाधान यह है कि अहिंसा का आराधन करने के लिए बुद्धि की अहिंसकता आवश्यक है। अगर हमारी वृत्ति-बुद्धि अहिंसक है तो अनिवार्य हिंसा के होने पर भी तज्जन्य बन्ध के भागी नहीं होते। इसका कारण यह है कि अहिंसक-भावना वाले की दृष्टि सम्यग् होती है, वह अहिंसा को अपना लक्ष्य मानता है परन्तु जो हिंसा अनिवार्य हो जाती है उसे वह लाचारी मानता है और हिंसा को पापरूप मानकर उस पाप से भयभीत रहता है। उसकी श्रद्धा में अहिंसा व्याप्त रहती है अतः वह अहिंसक हो सकता है। अहिंसक-वृत्ति वाला व्यक्ति सार्थक और निरर्थक दोनों प्रकार की हिंसाओं से बचता है। जो भी हिंसा लाचारी से हो जाती है उसके लिए भी उसे पश्चात्ताप होता है। यह स्मरण रखना चाहिए कि एक ही कृत्य तीव्रभाव, मन्दभाव आदि से किया जाने पर विभिन्न फल देने वाला होता है। तत्वार्थ सूत्र में कहा है कि:—

तीव्रमन्दज्ञाताज्ञातभावाधिकरणवीर्यविशेषेभ्यस्तद्विशेषः।

अर्थात्—तीव्रभाव, मन्दभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव, अधिकरण और शक्ति के भेद से कर्म के आस्रव में भेद होता है। तात्पर्य यह है कि तीव्रभाव से किया जाने वाला पाप अधिक अशुभ कर्म-बन्ध का कारण है और मन्दभाव से किया जाने वाला पाप कम अशुभ कर्म के बन्ध का कारण है। इसी प्रकार "मैं इस प्राणी को मारूँ" इस संकल्प से जान-बूझकर हिंसा करने वाला अधिक पाप का भागी है और अनजान में अगर पापकर्म हो जाय तो वह कम पाप का भागी है।

तात्पर्य यह है कि वृत्ति में अहिंसकता रहनी चाहिए। हमारी वृत्ति-भावना जितनी अधिक अहिंसक होगी उतनी ही अधिक अहिंसा व्यवहार्य हो सकेगी।

अहिंसा का राजमार्ग सीधा मोक्ष में ले जाने वाला मार्ग है। यही मार्ग परम कल्याणकारी है ऐसा समझ कर बुद्धिमान् प्राणी को इस मार्ग पर प्रवृत्ति करनी चाहिए। तत्त्वदर्शी साधक पापकर्मों से

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

सदा दूर रहता है। सम्यग्दर्शन वाला व्यक्ति पापकर्म नहीं करता है। तात्पर्य यह है कि सम्यग्दृष्टि जीव जितने अंश में स्वात्मा में स्थित और पर-पदार्थों से निरपेक्ष होता है। उतने अंश में उसे पाप का बन्धन नहीं होता है। कहा भी है:—

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति॥

अर्थात्—जिस अंश में सम्यग्दर्शन है उस अंश से बन्धन नहीं है और जिस अंश से राग है उस अंश से बन्धन होता है।

तात्पर्य यह है कि सम्यक्त्वदर्शी प्राणी भव-भ्रमणरूप कोई भी पापक्रिया नहीं करता। भव-भ्रमण का खास कारण मिथ्यात्व है और वह मिथ्यात्व से परे हो चुका है इसलिए वह भव-भ्रमणरूप पापक्रिया नहीं करता है।

उम्मुंच पासं इह मच्चिएहिं, आरंभजीवी उभयाणुपस्सी। कामेसु गिद्धा निचयं करंति संसिच्चमाणा पुणरिंति गब्भं।

संस्कृतच्छाया—*उन्मुञ्च पाशमिह मर्त्यैः (साई), आरम्भजीवी, उभयानुदर्शी। कामेषु गृद्धाः निचयं कुर्वन्ति, संसिच्यमानाः पुनर्यान्ति गर्भम्।*

शब्दार्थ—इह=इस मनुष्य लोक में। मच्चिएहिं=मनुष्यों के साथ। पासं=स्नेह के जाल को। उम्मुञ्च=दूर करो। आरंभजीवी=ये गृहस्थ हिंसादि से जीविका करते हैं। उभयाणुपस्सी=इस लोक और परलोक में कामसुखों की लालसा करते हैं। कामेसु=विषय-भोगों में। गिद्धा=आसक्त होकर। निचयं=कर्म का बन्धन। करंति=करते हैं। संसिच्चमाणा=कर्मों से लिप्त होकर। पुण=बारबार। गब्भं=गर्भ में। इंति=गमन करते हैं।

भावार्थ—हे मुनि साधक! असंयती गृहस्थों के साथ स्नेहसम्बन्ध के जाल से सदा दूर रहो क्योंकि ये गृहस्थ जीवहिंसादि आरम्भ से जीविका करते हैं और इस लोक और परलोक में विषयसुखों की लालसा करते हैं। ये गृहस्थ विषय-भोगों में आसक्त होकर कर्मों का बन्धन करते हैं और कर्ममल से लिप्त होकर पुनः २ जन्म-मरण करते हैं अतएव इनके साथ स्नेह-पाश में तुम न फँसो।

विवेचन—इस संसाररूपी वृक्ष को सींचने वाले राग और द्वेष हैं। इनमें भी रागभाव विशेषतः संसार की वृद्धि का कारण होता है। क्योंकि जहाँ राग होता है वहाँ द्वेष नियमतः पाया जाता है। जो प्राणी किसी के साथ रागभाव से बँधा हुआ है वह अवश्य किसी दूसरे से द्वेष करता ही है। अतः द्वेष का कारण भी किसी पर राग करना ही है। इस अपेक्षा से रागभाव ही प्रधानतः संसार के मूल को सींचने वाला है। अतएव इस स्नेह के पाश से सदा दूर रहने की शिक्षा इस सूत्र में दी गई है।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

वस्तुतः लोहे की शृङ्खलाओं को तोड़ना आसान है परन्तु स्नेह के कच्चे धागे को तोड़ना अत्यधिक कठिन है। तत्त्वदृष्टि से विचारा जाय तो यह स्नेह का पाश ही पाप का मूल है। अज्ञानी प्राणी अपने पुत्र, स्त्री, माता-पिता आदि कुटुम्बियों के, धन के, विषयसुखों के और शरीर के स्नेह के कारण ही जीवहिंसादि आरम्भ करते हैं और विविध प्रकार के छल-कपट द्वारा अन्य प्राणियों को दुखी करके परमार्थतः स्वयं दुखी बनते हैं। कुटुम्बियों और धन-धाम का स्नेह पाप का मूल है अतएव इसके त्याग करने का सदा ध्यान रखना चाहिए। यह स्नेह हृदय के ऐसे अन्तरभाग में छिपा हुआ रहता है कि जरा सा मौका पाकर तुरन्त अंकुरित हो जाता है। अतः त्यागियों को सदैव इससे सावधान रहना चाहिए। बड़े-बड़े ऋषि-महर्षि और त्यागी पुरुष इस स्नेह के कारण अपनी साधना से पतित हो गये हैं। अतः संयमियों को स्नेह के आकर्षक जाल से सदा दूर रहना चाहिए।

सामान्यरूप से त्यागी-जन अपने कुटुम्ब और धन-वैभव के स्नेह को ठुकरा कर ही त्याग-मार्ग (दीक्षा) अङ्गीकार करते हैं फिर सूत्रकार पुनः स्नेह के त्याग का उपदेश फरमाते हैं इसका कोई विशेष प्रयोजन होना चाहिए। वह प्रयोजन यह है कि यद्यपि कुटुम्बियों और धन का मोह छूटता है तभी दीक्षा अङ्गीकार की जाती है तदपि दीक्षा के पश्चात् भी पूर्वसंयोगों के स्मरण से स्नेह का उद्भव हो जाता है। उसका निवारण करने के लिए सूत्रकार उपदेश फरमाते हैं अथवा कुटुम्ब का त्याग करने के पश्चात् भी संयमी अवस्था में अनेक गृहस्थों के सम्पर्क में आना पड़ता है। अधिक सम्पर्क के कारण गृहस्थों के साथ स्नेह-सम्बन्ध का बँध जाना बिल्कुल स्वाभाविक है। अतएव सूत्रकार विशेष रूप से यह प्रतिपादन करते हैं कि त्यागियों को गृहस्थ के स्नेह-पाश में कदापि न बँधना चाहिए। गृहस्थों के स्नेह में पड़ जाने पर संयम की निर्मल आराधना दुष्कर होती है क्योंकि त्यागी और गृहस्थ की दिशाएँ बिल्कुल विपरीत हैं। विपरीत दिशा में प्रवृत्ति करने वालों का संसर्ग भी विपरीत दिशा में ले जाने वाला होता है। त्यागी का जीवन अहिंसक होता है और गृहस्थ का जीवन जीवहिंसादि आरम्भरूप कीचड़ से मलिन होता है। त्यागी विषयसुखों से एकान्त पराङ्मुख होता है जबकि गृहस्थ इसलोक और परलोक में विषयसुखों की झंखना करता रहता है। तात्पर्य यह है कि त्यागी और असंयमी का मार्ग एक दूसरे से विपरीत है इस वास्ते विपरीत दिशा में प्रवृत्ति करने वालों के साथ स्नेह-सम्बन्ध रखना अपने सही लक्ष्य से भ्रष्ट होना है। यह जानकर त्यागियों को गृहस्थों के स्नेह में और अन्य लट-पट में नहीं फँसना चाहिए।

इसके साथ ही सूत्रकार यह फरमाते हैं कि कामभोगों की प्राप्ति से सुख मिलता है इस मिथ्या कल्पना के कारण असंयमी प्राणी कामभोगों को प्राप्त करने की लालसा रखते हैं और उसी लालसा से बाह्य क्रिया-काण्ड करते हैं और स्वर्ग में विशेष सुख मिलेगा यह आशा रखते हैं परन्तु यह उनकी दुराशा मात्र है। इस प्रकार की लालसा से और आरम्भ परिग्रहादि से वे कर्मों का उपार्जन करते हैं और उनसे लिप्त होकर पुनः पुनः संसाररूपी चक्र में अरघट्ट-घटीयंत्र-न्याय से परिभ्रमण करते रहते हैं और अनन्त काल तक जन्म-मरण की परम्परा बढ़ाते हैं।

अवि से हासमासज्ज हंता णंदीति मन्नइ, अलं बालस्स संगेणं वेरं वड्ढेइ अप्पणो।

संस्कृतच्छाया—*अपि स हास्यमासाद्य हंता नंदीति मन्यते, अलं बालस्य संगेन वैरं वर्धयति आत्मनः।*

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

शब्दार्थ—से=वह अज्ञानी प्राणी। हासमासज्ज=हँसी विनोद में आसक्त होकर। हंता अवि=प्राणियों का वध करके भी। नंदीति=आनन्द। मन्यते=मानता है। बालस्य=ऐसे अज्ञानी की। संगेन=संगति से। अलं=बचना चाहिए। अप्पणो वेरं=इस प्रकार हिंसा से अपना अन्य आत्मा के साथ वैरभाव। वड्ढेइ=बढ़ाता है।

भावार्थ—अज्ञानी पुरुष हास्यविनोद में आसक्त होकर हिंसा करने में आनन्द मानते हैं। ऐसे अज्ञानियों की संगति से सदा बचना चाहिए क्योंकि ऐसे हास्यप्रसंग से अनेक प्राणियों के साथ आत्मा का वैर-भाव बढ़ जाता है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में बाल जीवों की संगति का त्याग करने का कहा गया है। शास्त्रकार ने बाल का लक्षण इस प्रकार फरमाया है—हिंसादि अकर्त्तव्य कर्मों में दत्तचित्त रहने वाला, इन्द्रियों के क्रीतदास, विषयलोलुप, धर्म-मार्ग से प्रतिकूल चलने वाले और सद् असत् के विवेक से शून्य पुरुष बाल कहलाते हैं। ऐसे बाल जीवों की संगति से आत्मा का पतन होता है क्योंकि संगति का असर पड़े बिना नहीं रह सकता है। बाल जीवों की संगति से सदैव अनिष्ट परिणाम आते हैं। उनकी संगति करने से भद्र परिणाम वाले प्राणी भी उन्हीं जैसे बाल बन जाते हैं अतः उनकी संगति से बचना चाहिए।

बाल प्राणी की कितनी अज्ञानता है कि वह अपने मनोविनोद के लिए अन्य प्राणियों की हिंसा करता है और ऐसा करने में आनन्द का अनुभव करता है। हिंसा का मूल अगर शोधा जाय तो मालूम होता है कि प्रमाद और आसक्ति ही इसके मूल हैं। प्रमादी और आसक्त प्राणी की क्रियाएँ कर्म-बन्ध करने वाली होती हैं। ज्यों ज्यों प्रमाद और आसक्ति बढ़ती जाती है त्यों त्यों चेतनता दूर होकर जड़ता आती जाती है। जड़ता के बढ़ने से कठोरता आती है जिससे अन्य प्राणियों का वध करने पर भी मजा मालूम होता है और दूसरों के दुख में सुख मालूम होता है। ऐसे क्रूर मनुष्य वस्तुतः बाल हैं। वे कहते हैं कि ये प्राणी तो शिकार के लिए ही बनाये गये हैं। यों कहकर वे उनके वध में प्रवृत्त होकर प्रसन्न होते हैं तथा बिना संकोच के पाप करते हैं। इस प्रकार हिंसा करके वह जिन प्राणियों का हनन करता है, उनके साथ वैरानुबन्धी कर्म बाँधता है जिसके कारण भव-भवान्तर में दुख का भागी होना पड़ता है। वैर की परम्परा अनेक भवों तक चालू रहती है। जिस प्रकार "समराइच्च कहा" में गुणसेन ने अग्निशर्मा का उपहास किया उसका फल लगातार नव भवों तक वैर बढ़ने के रूप में हुआ। ऐसे हास्य-प्रसंगों से बचना चाहिए। अज्ञानियों का संसर्ग वर्जनीय है।

तम्हाऽतिविज्जो परमंति णच्चा, आयंकदंसी न करेइ पावं।

संस्कृतच्छाया—*तस्मादतिविद्वान् परमामिति ज्ञात्वा, आतंकदर्शी न करोति पापम्।*

शब्दार्थ—तस्मात्=इसलिये। अतिविज्जो=तत्त्वज्ञानी पुरुष। परमंति=परम मोक्ष-पद को। णच्चा=जानकर। आयंकदंसी=नरकादि के दुखों को जानकर। पावं=पापकर्म। न करेइ=नहीं करता है।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

भावार्थ—इसलिये सच्चा तत्वदर्शी साधक अपने परम ध्येय मोक्ष को जानकर और नरकादि के दुखों को जानकर पापकर्म नहीं करता है।

विवेचन—पूर्व सूत्रों में अज्ञान और अज्ञानी की संगति को अनर्थों की जड़ कहा गया है तथा उनका त्याग करने का उपदेश दिया गया है। इसमें उपसंहार करके यह दिखाया गया है कि सच्चा तत्व-वेत्ता पापकर्म नहीं करता है। तत्वज्ञान का फल ही यही है कि हिंसादि से विरति की जाय। जो तत्वज्ञान विरति रूप में नहीं परिणमता है वह सच्चा तत्वज्ञान ही नहीं है वह तो मात्र विवाद रूप पुस्तकीय ज्ञान ही है। जिस व्यक्ति को सच्चा तत्वज्ञान हो गया है वह फिर अपने लक्ष्य को समझ कर पापकर्म से निवृत्त हो जाता है। सच्चे तत्वदर्शी का साध्य परमपद-मोक्ष-होता है। वह उसी लक्ष्य के अनुसार प्रवृत्ति करता है। वह तत्ववेत्ता यह भी समझता है कि पापकर्मों का परिणाम बड़ा अनिष्ट होता है। नरक आदि योनियों में इसके कारण भयंकर यातनाएँ सहन करनी पड़ती हैं। पाप से अनेक भयंकर हानियाँ हैं। इन सब बातों को जानकर वह साधक पापकर्म में कभी प्रवृत्त नहीं होता। यही सच्चा तत्वज्ञान है। ऐसा तत्वज्ञानी पुरुष मोक्ष को साध्य मानकर और नरकादि के कारणों को जानकर पापकर्म नहीं करता है। सूत्रकार आगे स्वयं पापकर्म की व्याख्या का स्पष्टीकरण करते हैं:—

अग्गं च मूलं च विगिंच धीरे, पलिच्छिंदिया णं निक्कम्मदंसी।

संस्कृतच्छाया—*अग्रञ्च मूलञ्च त्यज धीर ! परिच्छित्वा निष्कर्मदर्शी।*

शब्दार्थ—धीरे=हे धीर पुरुषो ! अग्गं च=अग्रकर्म को और। मूलं च=मूलकर्म को। विगिंच=आत्मा से अलग करो। पलिच्छिंदिया णं=इस तरह कर्मों को तोड़कर। निक्कम्म-दंसी=तुम निष्कर्मा बन जाओगे।

भावार्थ—हे धीर पुरुषो ! तुम मूलकर्म और अग्रकर्म के स्वरूप को समझ कर उनको अपनी आत्मा से पृथक् करो। जब तुम इस तरह कर्मों को तोड़ दोगे तो तुम कर्मरहित बनकर अपनी आत्मा के यथार्थ स्वरूप को देख सकोगे।

विवेचन—पूर्व के सूत्रों में यह बताया जा चुका है कि संसार की समस्त उपाधियों का कारण कर्म ही है। कर्म ही के कारण संसार की विविधता और विचित्रता दिखाई देती है। संसार-प्रवाह का कारण कर्म ही है। कर्मों के उपचय से ही भव-परम्परा बढ़ती है और इस तरह संसार-स्रोत का प्रवाह बहता रहता है। कर्म ही के कारण संसार और मोक्ष का भेद होता है। निश्चय दृष्टि से मुक्तात्मा और संसारी जीवात्मा का स्वरूप एक समान है। इनमें भेद करने वाला कर्म ही है। सिद्धों की आत्मा कर्म-कलंक से सर्वथा मुक्त है और संसारवर्ती जीवात्मा कर्मों से लिप्त है। संसारी जीव जब कर्म के बन्धनों को तोड़ देता है तो वह भी मुक्तात्मा हो जाता है। मुक्तात्मा ही परमात्मा है। अन्य दर्शनकारों ने मुक्तात्मा के ऊपर भी एक ईश्वर की कल्पना की है परन्तु यह बात युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि मुक्तात्मा सभी बन्धनों से मुक्त होने से फिर उन पर अन्य किसी का स्वामित्व कैसे हो सकता है ? अगर किसी अन्य का स्वामित्व

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

शेष रह जाता है तो वे मुक्तात्मा कैसे हो सकते हैं ? आत्मा का सम्पूर्ण विकास होना ही तो मुक्ति है। जैनदर्शन ने मुक्तात्मा और परमात्मा में भेद नहीं माना है। इसकी दृष्टि से मुक्तात्मा ही परमात्मा है और प्रत्येक व्यक्ति कर्मों के बन्धन को तोड़कर जीवात्मा से परमात्मा बन सकता है।

प्रस्तुत सूत्र में कर्मों को आत्मा से पृथक् करने का उपदेश दिया गया है। कर्मों ने ही आत्मा की विकृति कर रखी है। कर्मों ने अपने भूलभुलैये में आत्मा को फँसा रखा है। कर्मरूपी लुटेरों ने आत्मा-रूपी साहूकार की ज्ञान, दर्शनरूपी सम्पत्ति को लूटकर बन्धनों में बाँध रक्खा है। आत्मा की ऐसी दुर्दशा हो गयी है कि वह इन लुटेरों के डरके कारण अपनी शक्ति को भूल बैठा है। उस पर इन कर्म-लुटेरों का भयङ्कर आतङ्क छा गया है जिससे अनन्त शक्तिमान आत्मा अपनी शक्ति को भूलकर उनके अधीन हो रहा है। जिस प्रकार एक सिंह का बालक जन्म से ही बकरियों के बच्चों के साथ रहने से अपने सिंहत्व को भूलकर बकरी के बच्चे के समान बन जाता है लेकिन किसी समय सिंह की गर्जना सुनने से वह भी अपने स्वरूप को समझता है और दहाड़ता है। उसी प्रकार जीव भी कर्मों के कारण अपनी शक्ति भूल बैठा है परन्तु वीतराग जिनेश्वर-देव यह सिंहनाद करते हैं कि हे जीवो ! तुम अनन्त शक्तिमान हो ! ये कर्म तुम्हारे ही बनाए हुए हैं, तुम कर्म के बनाये हुए नहीं हो ! ये कर्म तुम्हारे खिलौने हैं। परन्तु तुम इनके मोहक जाल में पड़कर इनके खिलौने बन गए हो !! ये तुम्हारे आधीन थे अब तुम इनके आधीन हो गए हो। हे जीवो ! हे भूले हुए जीवो !! अपनी शक्ति को पहचानो, जागो, पुरुषार्थ करो, कर्मों की परतंत्रता की बेड़ियों को काट फेंको और अपने निष्कर्म आत्म-स्वरूप की ज्योति के दर्शन करो।

जिनेश्वर देव के इस संजीवन उपदेश से कई जीवों ने अपने स्वरूप के दर्शन किये हैं और कर्मों से अपने पुरुषार्थ-द्वारा मुक्त हुए हैं।

कर्मों से मुक्त होने के लिए कर्मों के स्वरूप को पहचानना आवश्यक है। कर्मों के स्वरूप को जाने बिना उनका क्षय कैसे किया जा सकता है ? जिस प्रकार किसी शत्रु को पराजित करने या नष्ट करने के लिए उसके स्वरूप, उसकी शक्ति और उसके छिद्रों से जानकारी रखना आवश्यक है। ऐसा किये बिना शत्रु पर विजय प्राप्त करना कठिन है। उसी प्रकार कर्म-शत्रुओं को हराने के लिए उनके स्वरूप को जानना, उनकी शक्ति को मापना और बाद में उनको पराजित करने का उपाय करना आवश्यक है। इसीलिए सूत्रकार यहाँ कर्मों का स्वरूप बताते हैं। सूत्रकार ने सूत्र में दो प्रकार के कर्म बताये हैं:— (१) अग्रकर्म और (२) मूलकर्म।

(१) **अग्रकर्म**—अग्रकर्म वे हैं जिनकी जड़ में हीं और जो आसानी से तोड़ दिये जा सकते हैं। जिस प्रकार मूल (जड़) बिना के लता तृणादि आसानी से तोड़े जा सकते हैं उसी प्रकार जो कर्म मूलकर्म के बिना आसानी से दूर किये जा सकते हैं जैसे—भवोपग्राही वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्रकर्म।

(२) **मूलकर्म**—जिस प्रकार मूलवाले वृक्ष कठिनाई से उखाड़े जाते हैं उसी प्रकार जो कर्म कठिनाई से दूर किये जाते हैं वे मूलकर्म कहे जाते हैं जैसे—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय।

अथवा मोहनीय कर्म मूलकर्म है और शेष सातकर्म अग्रकर्म हैं। अथवा मिथ्यात्व मूलकर्म है और शेष अग्रकर्म हैं।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि मिथ्यात्व और मोह को मूलकर्म कहने का क्या प्रयोजन है ? इसका समाधान यह है कि मिथ्यात्व और मोह के कारण ही कर्म-प्रकृतियों का बन्ध होता है। मोह और मिथ्यात्व के कारण जीव आठों कर्म-प्रकृतियों को बाँध सकता है। इसी तरह मोह के क्षय होने से शेष कर्मों का भी शीघ्र क्षय हो जाता है। तात्पर्य यह है कि मोह और मिथ्यात्व ही सभी कर्मों के बन्ध के कारण हैं इसलिये इन्हें मूलकर्म कहा है। आगम में कहा गया है कि—

कहएणं भंते ! जीवा अट्ठ कम्मपगडीओ बंधंति ? गोयमा ! णाणावरणिज्जस्स उदएणं दरिसणावरणिज्जं कम्मं नियच्छइ, दरिसणावरणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं दंसणमोहणीयं कम्मं नियच्छइ, दंसणमोहणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं मिच्छत्तं नियच्छइ, मिच्छत्तेणं उदिएणेणं एवं खलु जीवे अट्ठकम्मपगडीओ बंधइ।

अर्थ—हे भगवान् ! जीव आठ कर्म-प्रकृतियों का बँध किस प्रकार करते हैं ? हे गौतम ! जीव ज्ञानवरणीय कर्म के उदय से दर्शनावरणीय कर्म का बँध करते हैं। दर्शनावरणीय कर्म के उदय से दर्शन-मोहनीय का बँध करते हैं, दर्शनमोहनीय के उदय से जीव मिथ्यात्व का बन्ध करते हैं और मिथ्यात्व के उदय से जीव आठों कर्म प्रकृतियों का बन्ध करते हैं।

उपर्युक्त आगम वाक्य में मिथ्यात्व से आठों कर्म-प्रकृतियों का बँध होना कहा है। इससे यह सिद्ध हुआ कि मोह और मिथ्यात्व मूलकर्म हैं। मोहनीय के क्षय होने पर शेषकर्म उसी तरह क्षय हो जाते हैं जैसे सेना के नायक के मारे जाने पर सेना नष्ट हो जाती है। कहा भी है—

नायगम्मि हते संते जहा सेणा विणस्सइ ।
एवं कम्माणि नस्संति मोहणिज्जे खयं गए ॥

अर्थात्—सेना-नायक के मारे जाने पर जिस प्रकार सेना नष्ट हो जाती है उसी प्रकार मोहनीय के क्षीण होने पर सभी कर्म नष्ट हो जाते हैं।

आशय यह हुआ कि मोहनीयकर्म मूलकर्म है और शेष अप्रकर्म हैं। इन मूल और अप्रकर्म को विवेक-बुद्धि से जानकर छोड़ना चाहिए।

सूत्रकार ने सूत्र में "विगिंच" पद दिया है। इसका अर्थ छोड़ना और पृथक् करना होता है। 'कर्मों का नाश कर' ऐसा न कहकर कर्मों को छोड़, कर्मों से अपनी आत्मा को पृथक् कर ऐसा कहने में सूत्रकार का कोई आशय है और वह यह है कि—सभी दर्शनकारों का यह सिद्धान्त है कि "नासतो जायते भावो नाभावो जायते सतः" अर्थात्—असत् कभी सत् नहीं हो सकता और जो सत् है उसका अभाव नहीं हो सकता। जिस प्रकार आकाश-कुसुम असत् पदार्थ है तो वह तीनकाल में भी सत् नहीं हो सकता और आकाश सत् है तो उसका त्रिकाल में भी सर्वथा अभाव नहीं हो सकता कर्म भी पौद्गलिक हैं और सत् हैं इसलिए उनका सर्वथा अभाव नहीं हो सकता अतः अपनी आत्मा को कर्मों से पृथक्करण करना चाहिए। अपनी आत्मा से कर्मों को दूर करना चाहिए। यह सूत्रकार का आशय मालूम होता है।

आत्मा को कर्मों से मुक्त करने पर जीव निष्कर्मा बन जाता है अर्थात्—कर्म-रहित होने से वह शुद्ध स्वरूप में आ जाता है और आत्म-ज्योति का दर्शन कर लेता है। निष्कर्मत्व ही आत्मा का सच्चा स्वरूप है।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

यहाँ यह शंका की जा सकती है कि जब एक कर्म का उदय होता है तो साथ ही दूसरे कर्मों का बन्ध हो जाता है तो जीव कर्म की परम्परा से छूटकर निष्कर्मा कैसे बन सकता है ? जैसे ज्ञानावरणीय का उदय होने पर जीव दर्शनावरणीय कर्म बाँध लेता है और दर्शनावरणीय के उदय में दर्शन-मोहनीय आदि बाँध लेता है इस तरह उदय के समय नवीन बंध होने पर कर्मों का अभाव कैसे होगा ? जिस प्रकार कोई व्यक्ति किसी साहूकार से एक हजार रुपये ले गया और फिर एक हजार जमा कराकर नये दो हजार रुपये ले गया तो उसका खाता चालू रहेगा बन्द नहीं होगा। इसी प्रकार उदय के समय यदि बन्ध हो तो नवीन कर्म लगे रहेंगे। कर्मों का अन्त नहीं आ सकता तो निष्कर्मा कैसे बना जा सकता है ?

इस शंका का समाधान यह है कि कर्मों के उदयकाल में जीव की जैसी परिणति (विचार-धारा) होती है तदनुसार शुभ या अशुभ बन्ध होता है और बन्ध नहीं भी होता है। कर्मों के फल भोगने के समय जीव यदि आर्त्तध्यान आदि बुरे भावों से फल भोगता है तो अशुभ कर्मों का बन्ध होता है और शुभ भावों से फल भोगता है तो शुभकर्मों का बन्ध होता है परन्तु राग-द्वेष-रहित समभाव से कर्मों का फल भोगता है तो नवीन कर्मों का बन्ध नहीं होता। पुराने कर्म नष्ट होते रहते हैं और नवीन कर्म समभाव के कारण नहीं बँधते हैं इस तरह जीव अकर्मा बन जाता है। जिस प्रकार कोई व्यक्ति नया कर्ज न करे और पुराना अदा करता जाय तो वह ऋणमुक्त हो जाता है उसी तरह नवीन कर्मों का उपार्जन न हो और पुराने क्षय होते जाय तो जीव कर्म-मुक्त बन सकते हैं।

तप संयम आदि के द्वारा रागादि को और उनके कार्य-कर्मों को छेदकर निष्कर्मा बनने के लिए सूत्रकार ने इस सूत्र में फरमाया है। साथ ही साथ मोह को मूलकर्म कहकर सूत्रकार ने यह भी बताया है कि मोहपूर्वक आसक्ति के साथ की जाने वाली प्रत्येक क्रिया मूलकर्म है और आसक्ति रहित होकर की जाने वाली क्रिया अग्रकर्म है। आसक्ति-रहित की जाने वाली क्रियाओं से बँधने वाले कर्मों का अन्त भी सरलता से किया जा सकता है। आसक्ति-पूर्वक की हुई क्रियाएँ आत्म-विकास को रोकने वाली हैं और अनासक्त होकर की हुई क्रिया आत्म-विकास की अवरोधिका नहीं है। कर्मों के गम्भीर रहस्य को समझे बिना निरासक्ति असंभव है। लोकसंसर्ग और पदार्थों के संसर्ग में रहकर निरासक्त रहना अत्यन्त कठिन है। इसीलिये त्यागमार्ग का उपदेश दिया गया है। लोकसंसर्ग में भी निरासक्त रहना यह विरले पुरुषों का ही काम है। अतएव दुनियाँ के कार्यों को करते हुए निरासक्ति को साधना अपवाद-मार्ग है उत्सर्गमार्ग नहीं; उत्सर्गमार्ग में निरासक्त रहने के लिए त्यागमार्ग पर चलना ही सरल उपाय है। तात्पर्य यह हुआ कि मूलकर्म्म और अग्रकर्म्म के विवेक को समझ कर उनसे अपनी आत्मा को पृथक् करके-निष्कर्मा बनकर अपने पवित्र आत्मस्वरूप के द्रष्टा बनना चाहिए।

एस मरणा पमुच्चइ, से हु दिट्ठभए मुणी, लोगंसि परमदंसी विवित्तजीवी, उवसंते, समिए, सहिए, सया जए कालकंखी परिव्वए।

संस्कृतच्छाया—*एषः मरणात् प्रमुच्यते, स एव दृष्टभयो मुनिः लोके परमदर्शी विविक्तजीवी, उपशान्तः, समितः, सहितः सदा यतः कालाकाङ्क्षी परिव्रजेत्।*

शब्दार्थ—एस=यह मूलाग्रकर्म विवेचक। मरणा=मरण से। पमुच्चइ=मुक्त हो जाता है। से हु=वही। मुणी=मुनि। दिट्ठभए=संसार से डरने वाला। लोगंसि=लोक में। परमदंसी=मोक्ष

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

का दृष्टा बनकर। विविक्तजीवी=रागद्वेषरहित समभाव से जीने वाला। उवसंते=शान्त। समिए=समिति युक्त। सहिए=ज्ञानयुक्त। सया जए=हमेशा अप्रमत्त होकर। कालकंखी=स्वाभाविक काल-क्रम से। परिव्वए=संयम के मार्ग में वीरता से आगे बढ़ता है।

भावार्थ—इस प्रकार मूलकर्म और अग्रकर्म के विवेक को जानने वाला मुनि मरण से मुक्त हो जाता है। ऐसा मुनि संसार के दुखों से डरता हुआ, लोक में सर्वश्रेष्ठ मोक्ष का दृष्टा बनकर रागद्वेषरहित समभाव से जीवन बिताता हुआ, इन्द्रियों और मन को शान्त करता हुआ, समितियों से युक्त, ज्ञानादिगुण युक्त, सदा अप्रमत्त होकर पुरुषार्थ करता हुआ, तथा पंडितमरण को चाहता हुआ संयम के मार्ग में वीरता से आगे बढ़ता है।

विवेचन—पूर्ववर्त्ती सूत्र में मूलकर्म और अग्रकर्म का विवेक समझाया गया है। प्रस्तुत सूत्र में मूल और अग्रकर्म का विवेक करने वाले को क्या लाभ होता है यह स्पष्ट करते हैं।

जिस व्यक्ति ने मूल और अग्रकर्म का विवेक समझ लिया है वह मरण से मुक्त हो जाता है। संसार के समस्त दुखों में मरण का भय और मरण सबसे भयङ्कर दुख है। इस सबसे अधिक दुख एवं भय रूप मरण को वह साधक जीत लेता है जो मूलाग्रकर्म का विवेचक होता है। कर्म-भेद के ज्ञाता साधक को मृत्यु का भय नहीं रहता है। जिसने कर्म का भेद जान लिया है और आत्मा के निष्कर्मत्वरूप को देख लिया है वह मरण के बन्धन से मुक्त हो जाता है। अर्थात्—उसे नवीन आयुष्य का बन्धन नहीं होता। संसार में जन्म-मरण परस्पर अविनाभावी है। जन्म है तो मरण भी है और मरण है तो जन्म भी है। जन्म के बिना मरण नहीं और मरण के बिना जन्म ही नहीं। यहाँ मरण से छूटने का कहा है परन्तु मरण जन्म से अविनाभावी है अतः यह अर्थ होता है कि कर्म-भेद का ज्ञाता जन्म और मरण से मुक्त हो जाता है। जन्म-मरण का ही नाम संसार है अतएव वह संसार से मुक्त हो जाता है।

जो कर्म-भेद का ज्ञाता है वह संसार को भयरूप मानता है। संसार को भयरूप मानने का मतलब यह है कि वह सांसारिक सुखोपभोग को आत्मा के लिए भयङ्कर दुखों को उत्पन्न करने वाले समझता है अतएव सदा उनसे डरता हुआ उनसे दूर रहता है। सांसारिक विषयों को संसार कहा गया है यह आधार और आधेय के सम्बन्ध से समझना चाहिए। विषयभोगों का आधार संसार है और विषयभोग आधेय हैं। आधेय की भयङ्करता से आधार भी भयंकर समझा जाता है। जिस प्रकार चोरों की पल्ली स्वयं भयंकर नहीं होती किन्तु चोरों के कारण वह भी भयंकर हो जाती है उसी तरह विषयों के कारण संसार भयंकर कहा गया है। कर्मभेद का ज्ञाता विषयजन्य सुखों से सदा डरता रहता है इसीलिए वह निष्कर्मदर्शी हो जाता है।

मूलाग्रकर्म का भेद समझ लेने से जीव की स्वाभाविक अभिलाषा कर्मों से मुक्त होने की और मोक्ष प्राप्त करने की होती है। अतः कर्म-विवेक हो जाने पर उस आत्मा का लक्ष्य मोक्ष हो जाता है। वह कर्म-बन्धन से मुक्त होकर मोक्ष-प्राप्ति के लिए अधीर हो उठता है। मोक्ष का स्वरूप उसके नयनों में समाया रहता है। लोक में मोक्ष ही उसे सारभूत तत्त्व दिखाई देता है। इस प्रकार वह मोक्ष का दृष्टा बन जाता है।

जिस आत्मा ने कर्मभेद का रहस्य समझ लिया है वह निष्कर्मा बनना चाहता है और मोक्ष उसका लक्ष्य हो जाता है। जिस व्यक्ति का लक्ष्य मोक्ष हो जाता है तो उसका जीवन अनोखा ही हो जाता है।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

उसके जीवन में समभाव, क्रोधादि कषायों की शान्ति, इन्द्रिय एवं मन का शमन होना, सतत विवेकशीलता, उपयोगमयता, विवेकबुद्धि की जागृति और सतत पुरुषार्थ इत्यादि गुण सहज ही आ जाते हैं। ऐसा व्यक्ति ही पदार्थों के संसर्ग में रहता हुआ निरासक्त रह सकता है। ऐसे व्यक्ति का एक क्षण भी आत्म-लक्ष्य से भिन्न नहीं हो सकता। इसकी प्रत्येक क्रिया इसी लक्ष्य के अनुकूल होती है। इसकी एक भी क्रिया आत्म-प्रकृति से विरुद्ध नहीं हो सकती। इसके लिए जीवन और मृत्यु दोनों एक समान होते हैं। इसे अपने कार्यों का अभिमान नहीं होता। अहंवृत्ति से यह दूर रहता है। प्राकृतिक नियमानुसार उसके जीवन का स्रोत निरन्तर आगे बढ़ता रहता है। ऐसा व्यक्ति ही पदार्थों के संसर्ग में भी अनासक्त रह सकता है। जिस प्रकार समुद्र का जल खारा होता है और दिनरात समुद्र के खारे जल में ही रहने वाली मछली में मिठास होती है अर्थात् खारे जल में से भी मछली मिठास ग्रहण कर लेती है इसी प्रकार जिस का ध्येय मोक्ष है तथा तदनुसार ही जो प्रवृत्ति करता है वह संसार के पदार्थों के खारेपन में से भी आध्यात्मिक मिठास ही ग्रहण करता है। पूर्वोक्त समभावादि गुणों से युक्त होकर वह यावज्जीवन संयम के मार्ग में आगे बढ़ता रहता है। कर्मों को तोड़ना बच्चों का खेल नहीं है। प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बन्धात्मक बन्ध, उदय और सत्ता रूप से व्यवस्थित मूल और उत्तर प्रकृति वाले कर्मों की बद्ध, स्पृष्ट, निधत्त और निकाचित्त अवस्थाओं का क्षय अल्पकाल ही में होना दुःशक्य है अतएव वह यावज्जीवन पण्डितमरण की आकांक्षा से संयम की आराधना करता रहता है। संयमी पुरुषों के मरने और जीने का ध्येय एक होता है अतः उनके लिये जीवन और मरण तुल्य ही है। वे मरण की चिन्ता किये बिना कालक्रम से कर्म-क्षय करते हुए आगे बढते रहते हैं।

बहुं च खलु पावकम्मं पगडं, सच्चम्मि धिइं कुव्वह एत्थोवरए मेहावी सव्वं पावं कम्मं झोसइ।

संस्कृतच्छाया—*बहु च खलु पापकर्म प्रकृतं, सत्ये धृतिं कुरुध्वम् अत्रोपरतः मेधावी सर्वं पाप-कर्म क्षोषयति।*

शब्दार्थ—**बहुं च खलु=निश्चय ही बहुत। पावकम्मं=पापकर्म। पगडं=किए, यह सोचकर। सच्चम्मि=संयम में। धिइं कुव्वह=दृढ़ता धारण करो। एत्थोवरए=संयम में लीन रहे हुए। मेहावी=बुद्धिमान्। सव्वं पावं कम्मं=सभी पापकर्मों को। झोसइ=नष्ट कर देता है।**

भावार्थ—(हे साधको ! संयम के मार्ग में आगे बढते हुए यदि तुम्हें वृत्तियां ठगें तो) "पहिले बहुत पापकर्म किये हैं" ऐसा विचार कर अब तुम सत्यमार्ग में अधिक से अधिक धैर्य धारण करो। संयम में लीन रहे हुए बुद्धिमान् साधक सभी दुष्ट कर्मों का नाश कर देते हैं।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में त्यागमार्ग में दृढ़ता रखने का कहा गया है। इसके पूर्ववर्ती सूत्र में यह कहा गया है कि जो कर्म-भेद का ज्ञाता होता है, जिसे मोक्षमार्ग की तमन्ना है, जो सदा उपयोगशील और विवेक-सम्पन्न है वह पदार्थों के संग में भी निर्लेप रह सकता है। इस सूत्र में यह कहते हैं कि पूर्वाभ्यासों की प्रबलता के कारण जिनकी वासना और लालसा के संस्कार जागृत होने के बारबार प्रसंग आते हैं उनको उचित है कि वे त्यागमार्ग का आश्रय लें। उन्हें संग से दूर रहना अधिक उचित है।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

शास्त्रकार ने यह निरूपण इसलिये किया है कि आखिर कामभोगों एवं विलासों से सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिए वास्तविक सुख को प्राप्त करने के लिए और आत्मस्वरूप को समझने के लिए पुरुषार्थ करना ही पड़ेगा। वास्तविक-स्वरूप को समझने के लिए कृत्रिम वैभाविक तत्त्वों का त्याग करने में पुरुषार्थ करना ही पड़ेगा। जिस प्रकार डाक्टर रोगी के रोग को समझ कर दो प्रकार की चिकित्सा (मेडिकल और सर्जिकल) देवी और आसुरी में से किसी एक का-जो रोगी के लिए हितकर हो-आश्रय लेता है उसी प्रकार चित्त के रोग को दूर करने के भी दो मार्ग हैं। प्रथम मार्ग तो यह है कि वैभाविकता को अधिक बढ़ने के पहिले ही उसे काट कर फेंक देना चाहिए और दूसरा मार्ग वैभाविकता को दूर करने के लिए उसकी विरोधी दवाई के सेवन से स्वाभाविकता उत्पन्न करना चाहिए। इन दो मार्गों की तरह या तो लोकसंसर्ग में रहकर निर्लेप रहता हुआ साधना के मार्ग में आगे बढ़े या लोकसंसर्ग से दूर रहकर साधना में आगे बढ़े। किसी भी मार्ग का आश्रय लेकर आत्मा के शुद्ध स्वरूप की ओर बढ़े बिना छुटकारा नहीं हो सकता। इसलिए जिसे आत्म-प्रतीति हो गयी हो उसे अप्रमादी बनकर संयम में सदा दृढ़ता रखनी चाहिए।

पूर्व संयोगों का वृत्तियों पर ऐसा गुप्त या प्रकट प्रभाव पड़ा रहता है कि अल्पमात्र भी निमित्तों के कारण साधक अपनी साधना से पतित हो जाता है। उसकी वृत्तियाँ उसे संयम से पतित कर देती हैं और चिर अभ्यस्त विषय-कषायों की तरफ उसे खींच ले जाती हैं। पूर्वाभ्यास अति प्रबल होते हैं। जब कभी साधक को ये पूर्वसंयोग सताने लगे तब साधक को यह विचारना चाहिए कि-हे आत्मन्! ये वृत्तियाँ तुझे विपरीत मार्ग पर घसीट ले जा रही हैं, तुझे इन वृत्तियों के अधीन नहीं होना चाहिए वरन इन पर काबू करके इन्हें सुमार्ग की ओर प्रवृत्त करनी चाहिए। इन वृत्तियों की गुलामी के कारण तूने पूर्वकाल में अनेक पापकर्म किये हैं। इन्द्रियों का पोषण करने के लिए, सांसारिक विषयों का उपभोग करने के लिए, तथा सांसारिक सुखों के लिए तूने अनेक प्रकार के छल किये, अनेकों के गले पर छुरियाँ चलायी, अनेकों के साथ विश्वासघात किया और कोई पाप नहीं बचा जिसे सेवन न किया हो। इतने पापकर्म करते हुए भी और अनेकों बार भोगोपभोग की विपुल सामग्री प्राप्त होने पर भी क्या आत्मा को संतोष हुआ? नहीं; कदापि नहीं। वस्तुतः जिसमें सुख मान रक्खा है उसमें सुख है ही नहीं तो सुख मिलेगा कहाँ से? इसलिये तूने अबतक पापकर्म तो खूब कर लिए हैं लेकिन उनसे शान्ति नहीं मिली तो अब सत्यमय संयम में प्रवृत्ति कर, तो तुझे सुख-शान्ति की प्राप्ति हो सकेगी। पापों में प्रवृत्ति करके तूने उनका अनुभव कर लिया तो संयम में दृढ़ता रखकर उसके फल का भी अनुभव कर। पाप में शान्ति कहाँ? संयम में सदा सुख ही सुख है।

जो बुद्धिमान् साधक वृत्तियों के अधीन नहीं रहता है और संयम में दृढ़ता रखता है वह समस्त पापकर्मों को नष्ट कर डालता है।

अणेगचित्ते खलु अयं पुरिसे, से केयणं अरिहए पूरित्तए, से अण्णवहाए अण्णपरियावाए, अण्णपरिग्गहाए, जणवयवहाए, जणवयपरियावाए, जणवयपरिग्गहाए।

संस्कृतच्छाया—*अनेकचित्तः खल्वयं पुरुषः, स केतनमर्हति पूरयितुं, सोऽन्यवधाय अन्यपरितापाय अन्यपरिग्रहाय, जनपदवधाय, जनपदपरितापाय, जनपदपरिग्रहाय (प्रभवतीत्यध्याहारः)*

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

शब्दार्थ—अयं पुरिसे=यह संसार सुखाभिलाषी प्राणी। खलु=निश्चय से। अणेगचित्ते=अनेक संकल्प-विकल्प करता है। से=वह। केयणं=चालनी को या समुद्र को। अरिहए पूरित्तए=भर देने का प्रयत्न करता है। से अण्णवहाए=वह दूसरों को मारने के लिए। अण्णपरियावाए=दूसरों को सताने के लिए। अण्णपरिग्गहाए=दूसरों को अपने अधीन करने के लिए। जणवयवहाए=देश को नष्ट करने के लिए। जणवयपरियावाए=देश को हैरान करने के लिए। जणवयपरिग्गहाए=देश को अपने अधिकार में रखने के लिए तैयार होता है।

भावार्थ—संसार-सुखाभिलाषी पुरुष अनेक संकल्प-विकल्पों वाला होता है। वह मृग-तृष्णा के जल के समान सुख के पीछे दौड़ता है और चालनी के अन्दर समुद्र को भरने की कोशिश करता है, लोभरूपी समुद्र को पाट देने की मिथ्या आशा रखता है। इसके लिये वह दूसरों को मारने के लिये, सताने के लिये और दूसरों पर अधिकार चलाने के लिये तैयार रहता है। और यही नहीं वरन् देश के देश डुबो देने, परेशान करने और उनपर शासन करने के लिये तैयार होता है।

विवेचन—इसके पूर्ववर्ती सूत्रों में निष्कर्मदर्शी बनने के लिए अप्रमत्त रहने का उपदेश दिया है। तत्पश्चात् प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार प्रमादी की दशा का वर्णन करते हैं। कषायादि प्रमाद से मत्त प्राणियों का स्वरूप इस सूत्र में बताया गया है। परम-कृपालु सूत्रकार का उद्देश्य संसारी जीवों को सच्चा प्रतिबोध देकर जागृत करने का है अतएव वे अन्वय, व्यतिरेक, विधिमार्ग और निषेधमार्ग द्वारा विविध प्रणाली से एक ही बात को पूर्ण तौर से स्पष्ट कर देते हैं ताकि प्रत्येक-व्युत्पन्नमति और मन्दमति वाले-उस तत्त्व को हृदयंगम कर सके। इसी आशय से पहिले अप्रमाद का वर्णन कर उसमें प्रवृत्ति करने का उपदेश दिया है और इस सूत्र में तद्विरोधी प्रमाद का वर्णन कर उससे निवृत्ति करने का उपदेश फरमाते हैं।

संसार का प्रत्येक प्राणी सुखाभिलाषी है। हरेक प्राणी सुख के लिए ही प्रवृत्ति करता है। मनुष्यों की प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्दर सुख पाने की भावना काम करती होती है। परन्तु प्रत्येक प्राणी यह नहीं जानता कि वस्तुतः सुख क्या है और सुख का उद्गम क्या है? सुख का सरोवर कहाँ लहराता है? यह एक ऐसा पहलू है जिसका संसार के बहुत ही विरले प्राणियों को विचार आता है? संसार में बहुतेरों की ऐसी भ्रामक मान्यता है कि धन एवं कामभोगों से सुख प्राप्त होता है। धनवालों और विषयी-जनों से पूछो कि तुम सुखी हो? वे अन्तःकरण पर हाथ रखकर कहेंगे कि हम सुख के लिए तरसते हैं, हमें सुख की झलक भी प्राप्त नहीं हुई है।

यूनान के बादशाह सिकन्दर ने हिन्दुस्तान के कुछ भाग के सिवाय संसार के एक बहुत बड़े भाग पर अपना साम्राज्य स्थापित किया था और देश-विदेशों से उसने अपार धन-राशि एकत्रित की थी। उसे अपने साम्राज्य और धन का अभिमान था। लेकिन जब अन्तिम समय नजदीक आया तब सिकन्दर को विचार आया कि इस विशाल भूभाग में से-जिसके लिए मैंने इतनी लड़ाईयाँ लड़ी-एक भी इञ्च जमीन और इस अथाह धनराशि में से एक भी पाई मेरे साथ न आएगी। मैं खाली हाथ जाऊँगा। सिकन्दर ने खूब सोचा। आखिर उसने अपने चोबदार को कहा कि मेरे मरने के बाद जब मेरा जनाजा निकाला जावे तो मेरे दोनों हाथ कफन से ढँके न जाँय लेकिन खुले रखे जाय और जब लोग अचरज से इसके लिए

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

प्रश्न करें तो उन्हें अपने बादशाह का यह अंतिम संदेश सुना देना। आखिर सिकन्दर संसार से कूच कर गया और जब उसका जनाज़ा निकाला गया तो उसकी इच्छानुसार उसके दोनों हाथ कफन से बाहर खुले रखे गये। जब जनाज़ा निकला तो शाही रिवाज के विरुद्ध दोनों हाथों को खुले देखकर लोगों को बड़ा अचरज हुआ और वे परस्पर इसकी चर्चा करने लगे। तब एक ऊँचे स्थान पर खड़े होकर चोबदार ने कहा कि हे मित्रो! अपने सम्राट् के अन्तिम संदेश को सुन लीजिये। सम्राट् ने यह कहा कि मैंने जीते जी तो आप लोगों को अनेक प्रकार की शिक्षाएँ दीं लेकिन एक महत्त्व पूर्ण शिक्षा बाकी रह गई सो अब मृत्यु के बाद मेरे खुले हुए दोनों हाथ तुम्हें शिक्षा देते हैं कि मैंने सारी उम्र भर लड़ाईयाँ लड़ीं। अपना सारा समय और पुरुषार्थ संसार पर विजय पाने के पीछे व्यय किया। मैंने अपने पराक्रम से दुनियाँ के एक विशाल भूखंड पर अपना साम्राज्य स्थापित किया और अथाह धनराशि एकत्रित की लेकिन आप सब यह देख लें कि मेरे साथ इनमें से कोई चीज नहीं आ रही है। मेरे दोनों हाथ खाली है। मेरा किया हुआ सब व्यर्थ हुआ। यही शिक्षा शेष रह गयी थी सो यह शिक्षा मेरे इन खुले हाथों से ग्रहण करो। तात्पर्य यह है कि विशाल साम्राज्य या विशाल धन सम्पत्ति में सुख होता तो सिकन्दर यह शिक्षा नहीं दे जाता।

धनवैभव में और साम्राज्य में सुख मानना उस मृगतृष्णा के समान है जिसके पीछे ज्यों-ज्यों दौड़ा जाता है त्यों-त्यों निराश होना पड़ता है और अन्त में अपना स्वत्व भी गुमा देना पड़ता है। धन की मृगतृष्णा में फँसकर प्राणी अपना चैतन्य खो देता है और आत्मभान भूलकर मुग्ध (मूर्छित) हो जाता है। इस मोहक भूलभुलैया में फँसकर प्राणी इधर उधर चक्कर काटता रहता है। उसका मन इस भूलभुलैया में पड़कर अत्र तत्र घूमता रहता है। वह नाना प्रकार के संकल्प-विकल्पों में फँसा रहता है। ये संकल्प-विकल्प ही इस बात की साक्षी देते हैं कि कामभोग मृगतृष्णा है।

संसार सुखों का अभिलाषी प्राणी आशाओं के धागे से बँधकर आकाश में पतङ्ग की भांति संकल्प-विकल्पों में उड़ा करता है। वह कभी विशाल साम्राज्य स्थापित करने के स्वप्न देखता है, कभी व्यापार से अपरिमित धनराशि उपार्जन करके धनकुबेर कहाना चाहता है, कभी मनुष्यों के परिश्रम को और गृहउद्योगों को नष्ट करके बड़े २ कारखाने खोलकर पूँजीपति बनना चाहता है। संकल्पों का न ओर है न छोर। वह अपने समस्त संकल्पों को पूरा करने का निष्फल प्रयास करता है। एक संकल्प दूसरे अनेक संकल्पों की हारमाला को जन्म देकर नष्ट होता है ऐसी हालत में संकल्पों को पूरा करना मानो चालनी में समुद्र भरना है। चालनी को जल से भरना या समुद्र को पाटना जितना कठिन है उतना ही संकल्पों की पूर्ति होना कठिन है। तदपि मृगतृष्णा से मूर्छित बना हुआ प्राणी संभव असंभव का विचार किये बिना चालनी को जल से भर देने की चेष्टा करता है। सूत्रकार ने सूत्र में "केयण" शब्द दिया है। चालनी द्रव्य-केतन है और लोभेच्छा भाव-केतन है। द्रव्य-केतन और भाव-केतन दोनों की पूर्ति असंभव है। लोभ का कहीं अन्त नहीं है। यह आकाश के समान अनन्त है। इसके सम्बन्ध में कपिल की दो माशा सुवर्ण माँगने की अभिलाषा का अन्त करोड़ स्वर्ण मोहरों से भी नहीं हुआ, यह वृत्तान्त प्रसिद्ध ही है।

लोभ के आकर्षण से आकृष्ट होकर प्राणी क्या क्या कर्म कर डालता है इसका स्वयं सूत्रकार वर्णन करते हैं। लोभवृत्ति से ही हिंसा का जन्म होता है। इसी वृत्ति से प्राणी अन्य प्राणी वध करता है, छल-कपट से गले पर छुरी चलाता है, उसे परेशान करता है और उसको अपना गुलाम बनाकर रखता है। इसी वृत्ति से व्यक्ति का ही नहीं वरन् देश का नाश करता है, देश को परेशान करता है और देश को गुलाम बनाता है। इसी वृत्ति के कारण भयंकर से भयंकर महायुद्ध लड़े जाते हैं जिनमें असंख्य मनुष्यों

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

का संहार हो जाता है एवं असंख्य मनुष्य भयंकर यातनाएँ सहन करने के लिए बाध्य हो जाते हैं। इस वृत्ति के कारण जो भयंकर नर-संहार हुआ उसका शास्त्र में वर्णन मिलता है।

कोणिक राजा ने हार और हाथी के लिए अपने भाइयों से भयंकर युद्ध किया जिसमें १ करोड़ और ८० लाख मनुष्यों का संहार हुआ। अन्य प्राणियों का कितना संहार हुआ होगा यह नर-संहार को देखकर समझा जा सकता है। कोणिक ने हार-हाथी के लिए अपने सहोदर दस बन्धुओं का विनाश किया और हाथ क्या आया ? हाथी मर गया और हार देवता ले गये। मुफ्त ही इतना घमासान हो गया। कोणिक को राज्य मिल गया था तदपि वह अपनी रानी पद्मावती की प्रेरणा से अपने भाई वहिल-कुमार से, उसे न्याय-अधिकार से प्राप्त हुए हार और हाथी मांगने लगा। वहिलकुमार को राज्य में हिस्सा नहीं मिला था उसे केवल हार और हाथी ही मिले थे तदपि उसे संतोष था। लेकिन कोणिक को राज्य मिल जाने पर भी हार और हाथी हथियाने की लोभवृत्ति पैदा हुई जिसका यह परिणाम हुआ कि इतना भीषण हत्या-काण्ड हुआ। लोभवृत्ति के कारण भाई-भाई का संहार कर देता है तो अन्य की क्या बात है ? कोणिक को हार और हाथी अपने भाइयों से भी अधिक कीमती जान पड़े। व्यक्तियों की बात छोड़ दीजिए और देखिये कि इसी लोभवृत्ति के कारण एक देश दूसरे देश को अपना गुलाम बना रखता है, उसको परेशान करता है और उसका शोषण करता है। आज भारतवर्ष भी विदेशी सत्ता की लोभवृत्ति का शिकार बना हुआ है। वह आज अंग्रेजों का गुलाम बना हुआ है। उनकी लोभवृत्ति ने भारतवर्ष के व्यापार और उद्योग-धन्धों पर पानी फेर दिया है। इसका आर्थिक शोषण दिन-प्रतिदिन बढ़ रहा है। भारत दिन-प्रतिदिन निर्धन और हीन बन रहा है यह विदेशी सत्ता की लोभवृत्ति के कारण ही है। लेकिन इसमें केवल विदेशी सत्ता का ही दोष नहीं है परन्तु भारतवासियों की लोभवृत्ति और विलासिता का सबसे ज्यादा दोष है। भारतवासी लोभवृत्ति में और विलासिता में पड़कर विदेशी वस्तुओं को अपनाते हैं और अपने देश को दीन-हीन बना रहे हैं। अगर भारतवासी स्वदेशी वस्तुओं को अपनावें और विलास के साधनों को दूर करें तो वे शीघ्र ही गुलामी से मुक्त हो सकते हैं।

यह लोभवृत्ति का अनिष्ट परिणाम है। जिस प्रकार चालनी में पानी नहीं भरा जा सकता उसी प्रकार लोभ और संकल्प-विकल्पों की पूर्ति नहीं हो सकती। तात्पर्य यह है कि सुखाभासरूप सांसारिक सुखों से सच्चा सुख नहीं प्राप्त हो सकता। सच्चा सुख तो सच्चे त्याग के अन्दर छिपा हुआ है।

आसेवित्ता एतं अट्ठं इच्चेवेगे समुट्ठिया, तम्हा तं बिइयं नो सेवे निस्सारं पासिय नाणी। उववायं चवणं णच्चा, अणण्णं चर माहणे, से न छणे न छणावए, छणंतं नाणुजाणइ, निव्विंद नंदिं, अरए पयासु, अणोमदंसी, निसण्णे पावेहिं कम्मेहिं।

संस्कृतच्छाया—*आसेव्यैतदर्थमित्येवेके समुत्थिताः, तस्मात्तं द्वितीयं नासेवेत निस्सारं दृष्ट्वा ज्ञानी। उपपातं च्यवनं ज्ञात्वा, अनन्यं चर मुने !, स न क्षणुयात् न घातयेत्, घातयन्तं न समनुजानीयात्,। निर्विन्दस्व नंदीं, अरक्तः प्रजासु, अनवमदर्शी, निषण्णः पापकर्मभ्यः।*

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

शब्दार्थ—इच्चेव एतमट्ठं=लोभवश वध परितापनादि का। आसेवित्ता=सेवन करके भी। एगे=एक एक भरतादि। समुट्ठिया=संयम में उद्यमवंत हुए। तम्हा=इसलिए। नाणी=ज्ञानी साधक। तं=प्राप्त कामभोगों को। निस्सारं=सार रहित। पासिय=जानकर। विइयं=एकबार जिनका त्याग कर दिया है उनकी इच्छा करके द्वितीय दोष मृषावाद का। नो सेवे=सेवन न करे। उववायं=जन्म। चवणं=मरण को। णच्चा=जानकर। माहणे=मुनि। अणण्णं=संयममार्ग में। चर=विचरण करे। से=वह। न छणे=किसी जीव की हिंसा न करे। न छणावए=हिंसा न करावे। छणंतं नाणुजाणइ=हिंसा करते हुए को अनुमोदन न दे। पयासु=स्त्रियों में। अरए=आसक्त न हो। नंदिं=सांसारिक आमोद-प्रमोद से। निव्विंद=घृणा करें। अणोमदंसी=ज्ञानादि उत्तम वस्तुओं को पाकर। पावेहिं कम्मेहिं=पापकर्मों से। निसण्णे=दूर रहे।

भावार्थ—लोभ के वश वध, परिताप और परिग्रह का सेवन करने के पश्चात् भी (भान होने पर उस मार्ग को त्याग कर) भरत-चक्रवर्ती के समान कतिपय प्राणी संयम के मार्ग में उद्यमवन्त हुए। इसलिये हे साधको ! जिन बुद्धिमानों ने भोगों को निस्सार जानकर छोड़ दिये हैं वे उन्हें पुनः ग्रहण करने की इच्छा करके मृषावाद का सेवन न करें। संसार के प्रत्येक प्राणी के पीछे जन्म और मरण का लट्ठ लगा हुआ है अर्थात् यह जन्म अशाश्वत है ऐसा जानकर संयम मार्ग को अंगीकार करो। अर्थात् किसी भी जीव को न सताओ, अन्य के द्वारा पीड़ा न पहुँचाओ और पीड़ित करते हुए को अनुमोदन न दो। हे साधको ! स्त्रियों में आसक्ति न लाकर वासना-जन्य सांसारिक सुख का तिरस्कार करो। साथ ही ज्ञान एवं संयमादि गुणों को प्राप्त करके पापकर्मों से दूर रहो।

विवेचन—इस सूत्र में प्रमादियों को भी आश्वासन दिया गया है। प्रयत्न करने से उनका भी उद्धार संभव है यह कहकर सूत्रकार ने प्रमत्त आत्माओं को निराशा के अन्धकार में डूबने से बचाया है और उनके सामने चमकता हुआ नक्षत्र रख दिया है। प्रायः ऐसा होता है कि जब प्राणी यह देख लेता है कि मैं तो बहुत पापी हूँ, मेरा तो उद्धार हो ही नहीं सकता तो वह निश्शंक होकर पापकर्म करता रहता है क्योंकि उसके सामने उसके सुधार का कोई मार्ग नहीं रहता। ऐसी अवस्था न हो, प्रमत्त आत्माएँ अपने उद्धार की आशा से निराश न हो जाँय इसके लिए उन्हें आश्वासन देते हुए सूत्रकार फरमाते हैं कि वध, परिताप और परिग्रह करने पर भी आत्मभान होने पर उस मार्ग से विमुख होने पर एक-एक भरत चक्रवर्ती सरीखे व्यक्ति संयम के मार्ग में उद्यमवन्त हुए। उन्होंने अपना उद्धार कर लिया इसलिए घबराने की आवश्यकता नहीं। आत्मग्लानि का अनुभव करने की जरूरत नहीं। तुमने पाप किये हैं तो भी तुम्हारा उद्धार संभव है। तुम पाप करते हुए जिस मार्ग पर चल रहे हो केवल उसका त्याग कर दो; बस तुम्हारा भी कल्याण हो जायगा। भरत चक्रवर्ती छः खंड के अधिपति थे तो भी उन्हें उसमें आत्म-संतोष नहीं प्राप्त हुआ और जब तृष्णा की बेड़ियों को तोड़कर मुक्त हुए तभी सुख के अधिकारी बने। भरत चक्रवर्ती छः खंड के स्वामी थे, उनके आरम्भ-समारम्भ का पार न था तो भी जब उन्होंने तृष्णा का बन्धन तोड़ा तो उनका उद्धार हो गया। इसी तरह भले ही अब तक तुमने बहुत पाप किये हों परन्तु अब यदि तुम उस मार्ग से निवृत्त होकर संयम में दृढ़ता रखते हो तो तुम्हारा भी कल्याण अवश्यंभावी है।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

षट्खंड के अधिपति भरत चक्रवर्ती के सांसारिक सुखों की कमी नहीं थी तो भी वे उस सुख को ठुकरा कर त्यागमार्ग में प्रवृत्त हुए और उसमें उन्होंने सुख माना। क्या इससे यह प्रतीति नहीं होती कि सांसारिक सुख सच्चे सुख नहीं वरन् सुखाभास हैं ? अगर उनमें सच्चा सुख होता तो भरत चक्रवर्ती उन्हें त्याग कर त्यागी क्यों बनते ? जिन्होंने बाह्य पदार्थों में सुख माना था आखिर वे भी त्यागमार्ग की शरण में आये तो सच्चे सुख की प्राप्ति हुई। सच्चे सुख की प्राप्ति के लिए त्याग ही राजमार्ग है।

जिन बुद्धिमान् साधकों ने भोगादि का एक बार त्याग कर दिया है वे कदापि उन्हें पुनः सेवन करने की अभिलाषा नहीं कर सकते। वे काम-वासनाओं को निस्सार समझते हैं। जिस प्रकार वमन किये हुए को चाटना अति जघन्य कृत्य है उसी तरह त्यागे हुए विषयों को पुनः ग्रहण करना अति जघन्य कृत्य है। बुद्धिमान् साधक स्वप्न में भी ऐसा नहीं कर सकते। जो साधक वमन किये हुए विषयों की मन से भी कामना करता है वह मृषावाद दोष का भी सेवन करता है क्योंकि त्यागमार्ग अङ्गीकार करते समय इन्हें सेवन न करने की उसने प्रतिज्ञा ली है। धीमान् साधु इस प्रकार मृषावाद रूप द्वितीय दोष का सेवन नहीं कर सकता। इससे यह फलित हुआ कि वह त्यक्त विषयों की कदापि अभिलाषा नहीं कर सकता।

सूत्रकार ने विषयों को निस्सार कहा है। निस्सार की व्याख्या यह है कि जिसके सेवन करने से तृप्ति न हो। विषयों का चाहे जितना सेवन किया जाय लेकिन इससे तृप्ति का अभाव ही होता है इसलिये विषय निस्सार कहे गये हैं। केवल मनुष्यों के विषय ही निस्सार नहीं है अपितु देवताओं के विषयसुख भी अशाश्वत और अस्थिर हैं। देवताओं से लगाकर सूक्ष्म कीट को भी जन्म-मरण का चक्र पीड़ा दे रहा है। यह जानकर विषयों से पराङ्मुख होना चाहिए और संयम में विचरण करना चाहिए।

सूत्र में संयम को 'अणण्णं' (अनन्यं) कहा है। इसका अर्थ यह है कि जिससे बढ़कर अन्य कोई श्रेष्ठ नहीं वह अनन्य। संयम अथवा मोक्ष से बढ़कर और कोई श्रेष्ठ वस्तु नहीं हो सकती अतः संयम या मोक्ष को अनन्य कहा गया है।

अबतक त्यागमार्ग की आवश्यकता का प्रतिपादन किया। अब यह बताते हैं कि त्यागमार्ग अङ्गीकार करने के बाद त्यागी का जीवन कैसा होना चाहिए।

त्यागी का सर्वप्रथम गुण अहिंसा है। वह अहिंसा का साक्षात् अवतार होता है अतः वह त्रिकरण त्रियोग से पूर्ण अहिंसक होता है। वह सूक्ष्म जीवों को भी नहीं सताता है, न अन्य के द्वारा पीड़ा पहुँचाता है और न पीड़ा पहुँचाने वाले को अनुमोदन देता है। वह सूक्ष्म हिंसा से भी सदा बचता रहता है।

तत्पश्चात् त्यागी का यह कर्त्तव्य है कि वह स्त्रियों में आसक्त न हो और वासना-जन्य सुखों का तिरस्कार करें। जबतक त्यागी के हृदय में विषयों के और स्त्रियों के सम्बन्ध में सूक्ष्म मात्र भी आसक्ति रहती है वहाँ तक त्यागमार्ग की साधना निर्विघ्न रूप से नहीं हो सकती। त्यागियों को इस तत्त्व पर विशेष ध्यान देना अनिवार्य है क्योंकि ये विषय बड़े लुभावने और मनोहर प्रतीत होते हैं। इनके चक्कर में आ जाना कोई बड़ी बात नहीं। जरा-सी असावधानी भयङ्कर हो जाती है। अतएव इस विषय में विशेष सावधान रहने का कहा गया है।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

त्यागी का स्वरूप बताते हुए यह कहा गया है कि त्यागी को अणोमदंसी (अनवमदर्शी) होना चाहिए। अवम का अर्थ हीन होता है अर्थात् मिथ्यादर्शन अविरति आदि अवम हैं। इनसे विपरीत हो वह अनवम हैं अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को अनवम कहते हैं। जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र को देखने वाला—आराधने वाला होता है वह सभी पापकर्मों से दूर रहता है। ये गुण त्यागियों में अवश्य होने ही चाहिए।

कोहाइमाणं हणिया य वीरे, लोभस्स पासे निरयं महंतं। तम्हा य वीरे विरए वहाओ, छिंदिज्ज सोयं लहुभूयगामी। गंथं परिण्णाय इहज्ज धीरे, सोयं परिण्णाय चरिज्ज दंते। उम्मज्ज लद्धुं इह माणवेहिं नो पाणिणं पाणे समारभिज्जासि त्ति बेमि।

संस्कृतच्छाया—क्रोधादिमानं हन्याच्च वीरः, लोभस्य पश्य नरकं महन्तं। तस्मात् च वीरः विरतो वधात्, छिन्द्यात् स्रोतः लघुभूतगामी। ग्रन्थं परिज्ञाय इहाद्य धीरः, स्रोतः परिज्ञाय चरेद्दान्तः। उन्मज्जनम् लब्ध्वा इह मानुष्येषु, न प्राणिनः प्राणान् समारभेथाः इति ब्रवीमि।

शब्दार्थ—वीरे=पराक्रमी साधक। कोहाइमाणं=क्रोध और अहंकार को। हणिया=नष्ट करे। य=और। लोहस्स=लोभ से। महंतं=बड़े भारी दुखों से भरे हुए। निरयं=नरक को। पासे=देखे। तम्हा=इसलिए। वीरे=वीर साधक। वहाओ=हिंसा से। विरए=दूर रहे। लहुभूयगामी=मोक्ष-गमन के लिए तत्पर होकर। सोयं=संसार के प्रवाह को अथवा शोक संताप को। छिंदिज्ज=छेद दे। गंथं=परिग्रह को। परिण्णाय=अहितकर्ता जानकर। इहज्ज=आज ही। धीरे=धीर साधक। सोयं=संसार के प्रवाह को। परिण्णाय=अहितरूप जानकर। दंते चरिज्ज=इन्द्रियों का दमन करते हुए विचरे। इह माणवेहिं=इस मनुष्य भव में। उम्मज्जणं=उच्च स्थान। लद्धुं=प्राप्त कर। पाणिणो=प्राणियों के। पाणे=प्राणों की। न समारभेज्जासि=विराधना न करे।

भावार्थ—हे पराक्रमी साधको! क्रोध और क्रोध के कारण रूप अहंकार को नष्ट कर दो और लोभ से अति दुख से भरी हुई नरक जैसी अधम गति में जाना पड़ता है यह समझो इसलिये हे वीर मोक्षार्थी साधको! हिंसकवृत्ति से दूर रहो और संसार-प्रवाह का या शोक का छेदन करो, परिग्रह को अहितकर्ता जानकर उसका अभी ही त्याग करो। विषयवाञ्छा रूप संसार के प्रवाह को अहित रूप जानकर इन्द्रियों का दमन करते हुए विचरो। इस मनुष्य भव में संयम की उच्च भूमिका के ऊँचे पद पर तुम आ चुके हो अब किसी भी छोटे या बड़े प्राणियों के प्राणों को पीड़ा न पहुँचाओ। इस प्रकार श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने कहा। वही स्वरूप हे प्रिय जम्बू! तुझे कहता हूँ।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

विवेचन—इसके पहिले के सूत्र में त्यागी के गुणों का वर्णन किया गया है। इस सूत्र में भी त्यागी को और किन किन मुख्य गुणों की आराधना करनी चाहिए सो बताया गया है।

यह संसार-रूपी वृक्ष चार कषायों द्वारा सिञ्चित होकर हरा-भरा रहता है। अगर संसार-वृक्ष को सुखाने की भावना है तो इन कषायों का नाश करना पड़ेगा। अतएव सूत्रकार ने यह बताया है कि क्रोध का और क्रोध के कारण रूप मान का हनन करो। चार कषायों में से क्रोध और मान तो द्वेषमूलक हैं और माया व लोभ रागमूलक हैं। यहाँ क्रोध का कारण मान बताया गया है। वास्तव में अगर क्रोध का विश्लेषण किया जाय तो उसके अन्दर मान छिपा हुआ मिलेगा। मान के कारण ही जीव को क्रोध आता है। क्रोध के मूल में अहंकार छिपा है। अतएव त्यागी साधक के लिए मान और क्रोध का त्याग करना आवश्यक है। क्रोध और मान साधक को साधना से भ्रष्ट कर देते हैं। अनेक भवों की तपस्या क्रोध के कारण भस्म हो जाती है। क्रोध से सारी साधना निष्फल हो जाती है अतएव क्रोध और मान का त्याग करना चाहिए।

द्वेषमूलक कषायों का निषेध करके अब रागमूलक कषायों का निषेध करते हैं। रागमूलक कषाय में लोभ मुख्य है और लोभ के कारण माया का सेवन किया जाता है। लोभ का अनिष्ट फल बताकर सूत्रकार ने उसको त्यागने का फरमाया है। लोभ का फल नरक बताया गया है। लोभ की स्थिति और लोभ का विपाक महान् है। संज्वलन लोभ सूक्ष्मसम्पराय नामक दसवें गुणस्थान तक रहता है और लोभ के कारण सातवीं नारकी में जीव को यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं। आगम में कहा है:—

मच्छा मणुआ य सत्तमिं पुढवीं।

अर्थात्—महालोभाभिभूत मनुष्य और मत्स्य सातवीं नरक में जाते हैं। महालोभ का फल सप्तम नारकी समझ कर लोभ से विरत होना चाहिए। महालोभ से आकृष्ट होकर प्राणी भयानक वधादि प्रवृत्ति करके नरक के भागी बनते हैं अतः जो लघुभूतगामी—मोक्षार्थी हैं उन्हें हिंसा से और संसार के प्रवाह से निवृत्त होना चाहिए। यहाँ सूत्र में "सोयं" पद दिया हुआ है इसका संस्कृत रूप शोक और स्रोत दोनों होते हैं। शोक अर्थ करने पर यह मतलब होता है कि शोक-संताप का छेदन करे और स्रोत अर्थ करने पर यह मतलब होता है कि भावस्रोत-विषयवाञ्छा के प्रवाह का छेदन करे।

त्यागी साधक को और उपदेश देते हैं कि परिग्रह की परिज्ञा करो। परिग्रह को ज्ञ-परिज्ञा द्वारा अहितकर समझो और प्रत्याख्यान परिज्ञा द्वारा उसका त्याग करो। अगर सूक्ष्म परिग्रह की भी कामना है तो संयम का सच्चा आनन्द नहीं प्राप्त हो सकता। हे त्यागी साधको! अगर संयम का सच्चा आनन्द उठाना चाहते हो तो परिग्रह की कामना का इसी क्षण परिहार करो। विषयवाञ्छा रूप संसार के प्रवाह को छेद दो और इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करो। यह मनुष्य जीवन रूपी अमूल्य अवसर तुम्हारे हाथ लगा है। इसी जीवन में मोक्ष की सम्पूर्ण साधना हो सकती है अन्यत्र नहीं। इसलिए यह मनुष्य जीवन देवों के जीवन से भी अत्यधिक श्रेष्ठ है। ऐसे निर्वाण के सुख को देने वाले मनुष्य-भव को प्राप्त करके और उसमें भी संयम के इतने ऊँचे स्थान पर आकर, इतनी ऊँची भूमिका पर पहुँचकर प्राणिवध रूप प्रमाद का सेवन नहीं करना चाहिए।

यह संसार रूपी सरोवर मिथ्यात्व रूपी शैवाल से (काञ्जी से) आच्छादित है। अनन्त शुभ पुण्यों के फल-स्वरूप इस जीवरूपी कछुए को श्रुति, श्रद्धा और संयम में वीर्य रूप उन्मज्जन (उत्थान)

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

प्राप्त हुआ है। इस अनमोल अवसर को यों ही न गँवाना चाहिए और प्राणियों के दस प्रकार के प्राणों में से किसी भी प्राण को पीड़ा न पहुँचाते हुए इस अवसर का लाभ उठाना चाहिए। प्राणियों को पीड़ा न पहुँचाना यही बड़ा धर्म है। पर पीड़ा से बढ़कर पाप नहीं है। अतः त्यागी को पूर्ण अहिंसक बनना चाहिए।

श्री सुधर्मास्वामी अपने शिष्य जम्बूस्वामी से कहते हैं कि हे प्रिय जम्बू! श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से मैंने इस प्रकार सुना, सो तुझे कहता हूँ।

—उपसंहार—

इस उद्देशक में त्याग-मार्ग की आवश्यकता और अनिवार्यता का निरूपण किया गया है। यह निरूपण करने के पश्चात् त्यागी को किन किन गुणों की आराधना करनी चाहिए यह बताया गया है। सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह एवं इन्द्रियविजय इन व्रतों का पालन करने के लिए बहुत ही सुन्दर ढंग से उपदेश दिया गया है।

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐
卐 इति द्वितीयोद्देशकः 卐
卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

शीतोष्णीय नाम तृतीय अध्ययन

—तृतीयोद्देशकः—

(त्याग-रहस्य एवं भाव-जागरण)

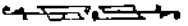

इस अध्ययन के प्रथम उद्देशक में संयम और चित्तवृत्ति का सम्बन्ध बताकर हर्ष और विषाद से परे रहकर समभाव के आनन्द का संवेदन करने का मार्ग बताया गया है तथा द्वितीय उद्देशक में निरासक्त बनने के लिए त्याग की आवश्यकता का प्रतिपादन करके त्यागी का स्वरूप बताया है। अब इस अध्ययन के इस उद्देशक में त्याग का रहस्य समझाते हुए सूत्रकार यह फरमाते हैं कि निष्क्रियता मात्र में त्याग सीमित नहीं है और त्याग का अर्थ मात्र निष्क्रिय हो जाना ही नहीं है परन्तु जीवन के पल-पल में उपस्थित होने वाले प्रलोभनों और संकटों के बीच अपने मन को समतोल रख सकने की योग्यता अथवा सत्क्रियाओं में सदा जागृत रह सकना यही सच्चा त्याग है। यही त्याग का गूढ़ आशय है।

निष्क्रियत्व या निवृत्ति का अर्थ सत्प्रवृत्ति से समझना चाहिए क्योंकि जब तक योगों की सत्ता है तब तक सूक्ष्म क्रिया तो अनिवार्य है। कदाचित् काया को निष्क्रिय रख ली जाय तदपि मन की क्रिया तो चालू रहती ही है। इससे यह समझना चाहिए कि जब तक योग हैं तब तक प्रवृत्ति है ही। इससे सत्क्रियाओं के प्रति सतत जागृत रहने का सूत्रकार ने इस उद्देशक में कहा है:—

संधिं लोयस्स जाणित्ता, आयओ बहिया पास तम्हा न हंता न विघायए, जमिणं अन्नमन्नवितिगिच्छाए पडिलेहाए न करेइ पावकम्मं किं तत्थ मुणी कारणं सिया ?

संस्कृतच्छाया—*संधिं लोकस्य ज्ञात्वा (न प्रमादः श्रेयान्) आत्मनो बहिरपि पश्य तस्मान्न हन्ता (स्यात्) न विघातयेत्, यदिदमन्योन्यविचिकित्सया प्रत्युपेक्ष्य न करोति पापकर्म्म किं तत्र मुनिः कारणं स्यात् ?*

शब्दार्थ—संधिं=अवसर को। जाणित्ता=जानकर। लोयस्स=प्राणियों को दुख उत्पन्न करने वाला कार्य न करे। आयओ=अपने समान ही। बहिया=अन्य बाह्य जीवों को। पास=देख। तम्हा=इसलिये। न हंता=न तो स्वयं जीवों की हिंसा करे। न विघायए=न अन्य से हिंसा करावे। जमिणं=जो। अन्नमन्नवितिगिच्छाए=एक दूसरे की शर्म या भय का। पडिलेहाए=विचार करके। पावकम्मं न करेइ=पापकर्म न करे तो। किं=क्या। तत्थ=इस विषय में। मुणी=मुनित्व। कारणं सिया=कारण होगा।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

भावार्थ—हे जम्बू ! सुअवसर प्राप्त हुआ जानकर प्रमाद नहीं करना चाहिए। अर्थात् जीवलोक को दुख उत्पन्न करने वाले कार्य न करने चाहिए। जैसे स्वयं को सुख प्रिय है वैसे ही अन्य को भी प्रिय है। दूसरे प्राणियों को भी अपने समान देखो। आत्मोपम समझ कर किसी जीव की हिंसा न करनी चाहिए और अन्य से हिंसा नहीं करवानी चाहिए। कोई परस्पर लज्जा से अथवा भय से (अन्तर में पाप-वृत्ति होते हुए भी) पापकर्म नहीं करता है तो इसीसे क्या वह मुनि कहा जा सकेगा ? कदापि नहीं। समता की जहां उपेक्षा है वहां मुनित्व नहीं। समभाव से पापकर्म नहीं करता है तो ही सच्चा मुनि कहा जा सकता है।

विवेचन—इस उद्देशक को आरम्भ करते हुए सूत्रकार ने प्राप्त सुअवसर का सदुपयोग और प्रमादनिद्रा को त्याग कर भाव-जागरण करने का फरमाया है। त्याग-मार्ग अङ्गीकार करने के पश्चात् सतत सावधान रहने की आवश्यकता है क्योंकि इस अवस्था में सेवन किया हुआ प्रमाद विशेष अहित-कर्त्ता है। बाह्य पदार्थों का त्याग कर देने मात्र से अपने आपको त्यागी मान लेना और इससे इन्द्रियों एवं चित्त के प्रति असावधानी रखना अति भयावह है। इन्द्रियों एवं चित्त पर काबू न रखा जायगा तो पूर्वाभ्यासों के कारण विषयों की ओर उनकी विशेष गति रहेगी इससे साधना निष्फल हो जायगी। इन्द्रियों और चित्त पर काबू न रक्खा जाय तो छोड़े हुए पदार्थों से कोई मतलब सिद्ध नहीं हो सकता। पदार्थों का त्याग वृत्तियों पर विजय प्राप्त करने का एक साधन है। इससे वृत्तियों पर विजय पाने में सहा-यता मिलती है। वस्तुतः सच्चा त्याग तो वह है कि वृत्तियाँ कभी उन बाह्य पदार्थों की ओर जावें ही नहीं। कामना का नाश करना ही वास्तविक त्याग है। पदार्थों के त्याग देने पर भी चित्त में यदि कामना रह गयी तो वह त्याग यथेष्ट फलदायक नहीं हो सकता। पदार्थों के त्याग से कामना के विनाश करने में सहा-यता मिलती है। मतलब यह है कि पदार्थ-त्याग एक प्रकार का साधन है-निमित्त है जो उपादान की शुद्धि के लिए उपयोगी है। परन्तु उपादान को भूलकर मात्र निमित्त को ही साध्य मानकर संतोष कर लिया जाय तो यह लाभप्रद नहीं हो सकता। साधनों और निमित्तों को प्राप्त कर साध्य को सिद्ध करने के लिए विशेष तत्पर होना चाहिए न कि साधनों को पाकर साध्य के प्रति उपेक्षा करनी चाहिए। इसलिए सूत्रकार ने फरमाया है कि त्याग-मार्ग तुम्हें साधन-रूप में मिला है इसे पाकर तुम्हें साध्य के प्रति विशेष जागृत और सावधान रहना चाहिए। इस अवसर को प्रमाद में नहीं व्यतीत कर देना चाहिए।

शास्त्रकार ने सूत्र में "संधि" पद दिया है। संधि दो प्रकार की है—(१) द्रव्यसंधि और (२) भाव-संधि। भींत आदि में जो छेद पड़ जाता है उसे द्रव्यसंधि कहते है और इसी तरह कर्मरूपी भित्ति में छेद पड़ जाना भावसंधि है। दर्शन मोहनीय के क्षयोपशम से अर्थात् उदयप्राप्त दर्शनमोहनीय क्षय से और शेष के उपशान्त होनेसे जो सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है यह भावसंधि है। अथवा ज्ञानावरणीय के विशिष्ट क्षयोपशम से जो चारित्र प्राप्त होता है यह भावसंधि है। इन्हें जानकर प्रमाद करना श्रेयस्कर नहीं है। एक व्यक्ति जेलखाने में बन्द है। वह जेलखाने से मुक्त होना चाहता है किन्तु उसके चारों ओर खड़ी हुई दिवालें उसे मुक्त नहीं होने देतीं। संयोग से दिवाल में छेद हो गया और उसने यह जान लिया तो उसे बाहर निकल जाने में प्रमाद नहीं करना चाहिए। अगर वह उस समय प्रमाद करता है तो फिर उसे उसी जेलखाने में न जाने कितने समय तक बन्द रहना पड़ेगा। जिस प्रकार उसका प्रमाद करना श्रेयस्कर नहीं है उसी प्रकार कर्म की मिथ्यात्वादि दिवालों से घिरे हुए जेलखाने में यह जीव कैद है; संयोग से सम्यक्त्व, ज्ञान

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

व चारित्र के कारण उस कर्म की दिवाल में छेद हो गया है। यह जानकर मुक्त होने वाले जीवात्मा को प्रमाद न करके उस विवर से-कैदखाने से बाहर आ जाना चाहिए। कर्मरूपी दिवाल में विवर जानकर भी यदि वह प्रमाद के कारण उस समय बाहर नहीं आता तो उसे जेलखाने में ही सड़ना पड़ता है। इस प्रकार उसका प्रमाद करना श्रेयस्कर नहीं हैं। त्याग-मार्ग ने कर्मरूपी दिवाल में छेद कर दिया है। अब बाहर निकलने के लिए प्रमाद नहीं करना चाहिए।

अथवा संधि शब्द का अर्थ टूटे हुए का मिलना भी होता है। कर्मोदय से ज्ञान, दर्शन, चारित्र-रूप अध्यवसाय का खंडन हो गया है उसका पुनः मिल जाना भावसंधि है। यह जानकर प्रमाद न करना चाहिए। अथवा संधि का अर्थ धर्मानुष्ठान का अवसर भी समझना चाहिए। धर्मानुष्ठान का अवसर प्राप्त हुआ जानकर प्रमाद का सेवन नहीं करना चाहिए।

प्रमाद का निषेध करके सूत्रकार साधक को सब प्राणियों को अपने समान समझने का उपदेश फरमाते हैं। संसार के समस्त प्राणियों को आत्मवत् समझना चाहिए। जैसे हमें सुख प्रिय है और दुख अप्रिय है इसी तरह अन्य प्राणियों को भी सुख प्रिय लगता है और दुख अप्रिय लगता है। जैसे हम जीवित रहना चाहते हैं वैसे ही सभी जीव जीना चाहते हैं, कोई मरना नहीं चाहता। हमें कोई मारे या पीड़ा पहुंचावे तो हमें अप्रिय लगता है उसी तरह दूसरों को भी अप्रिय लगता है। यह समझ कर किसी जीव की हिंसा न करनी चाहिए और न करवानी चाहिए। इसी तरह हिंसा को अनुमोदन भी नहीं देना चाहिए।

जो त्यागी हैं वे सारे संसार को आत्मवत् देखते हैं। उनके हृदय में किसी भी प्राणी के प्रति द्वेष, तिरस्कार और घृणा हो ही नहीं सकती। साथ ही "यह मुझसे अधम है, मैं ऊँचा हूँ, यह हल्का है, निर्गुणी है, मैं महान् और गुण सम्पन्न हूं" यह भावना उसे कभी नहीं हो सकती। ऐसे सब को आत्मोपम समझने वाले त्यागी दुनियाँ में सुख की सरिता बहाते हैं और दुख रूपी कचरे को बहा देते हैं। वे अपने आपको एक छोटी-सी सरिता समझते हैं और दुनियाँ को समुद्र समझ कर उसमें अपना अस्तित्व मिला देते है। वे अपना व्यक्तित्व संसार को समर्पण कर देते हैं। वे संसार के प्राणियों को अपने से भिन्न नहीं मानते और अपने को उनसे भिन्न नहीं समझते। यही कारण है कि सारी वसुधा उनका कुटुम्ब बन जाती है। "मैं और मेरापन" जैसी कोई चीज उनके खयाल में नहीं होती। सरिता समुद्र में मिलने पर अपनापन पृथक् नहीं रखती वरन् समुद्र में अपना अस्तित्व मिटा देती है और अपने मिठास को भी मिटा देती है। वह समुद्र से भिन्न नहीं रहती। उसी प्रकार ऐसा साधक विश्व के प्राणियों में ऐसा मिल जाता है कि उसके लिए स्व और पर का भेद शेष नहीं रहता। "मेरा और तेरा, मैं मैं तू तू" सब मिट जाता है। वह विश्वमय हो जाता है और विश्व तद्रूप हो जाता है। ऐसे समभावी दुनियाँ के लिए वरदान रूप हैं। वे दुनिया के दुख में दुखी होते हैं और उसके कल्याण के लिए यत्न करते हैं। वे दुनियाँ के दुख में अपना दुख भूल जाते हैं। ऐसे समभावी साधक ही अपने सिद्धि-साध्य को सम्पन्न करते हैं। वस्तुतः वे ही त्यागी और तत्त्वदर्शी हैं। गीता में कहा है:—

आत्मौपम्येन भूतेषु यः पश्यति स पश्यति।

विश्व को कुटुम्ब मानने वाला साधक कदापि हिंसक नहीं हो सकता। वह अहिंसा का अवतार होता है। उसके अन्तःकरण में प्रेम और मैत्री का अखण्ड स्रोत प्रवाहित होता रहता है। सूक्ष्म से सूक्ष्म कीट भी समान रूप से उसकी मैत्री का और प्रेम का पात्र है।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

त्यागी का यह स्वरूप सुनकर आत्मार्थी शिष्य गुरुदेव से प्रश्न करता है कि—गुरुदेव! एक दूसरे की शर्म से दब कर या एक दूसरे के डर से अथवा आस पास के संयोगों के अधीन बनकर वृत्ति में पाप होते हुए भी जो पापकर्म नहीं करते हैं उनके त्याग को क्या त्याग कहा जा सकता है?

शिष्य के इस प्रश्न का समाधान करते हुए आचार्य श्री फरमाते हैं कि हे शिष्य! पापकर्म नहीं करने मात्र से मुनि नहीं हो सकता। मुनित्व का सम्बन्ध चित्तवृत्ति की समता से हैं। जहाँ समता है वहाँ मुनि-धर्म है। अन्दर की अभिलाषा यदि पाप करने की है और संयोगों के कारण या शर्म या डर के कारण पापकर्म नहीं करता है तो वहाँ समता टिक नहीं सकती है। वहाँ मुनिधर्म नहीं रह सकता है। अध्यवसाय की शुद्धि ही मुनिभाव का कारण है। ऐसी स्थिति में अध्यवसायों की अशुद्धि के कारण वह त्याग, सच्चा त्याग नहीं कहा जा सकता है। त्याग आत्मा की वस्तु है और मुनिधर्म भी आत्मा से सम्बन्ध रखता है। जहाँ लोभ, भय या लोकेषणा है वहाँ यह आत्मा की चीज़ नहीं टिक सकती।

शिष्य पुनः प्रश्न करता है कि हे भगवान्! साधु एक दूसरे की या गृहस्थों की शर्म से या निन्दा से डर कर आधाकर्म आदि दोषों का परिहार करता है—यह मुनिभाव का कारण है या नहीं? उसे मुनि समझना चाहिए या नहीं?

आचार्य समाधान करते हैं कि—शुभ अन्तःकरण पूर्वक जो क्रियाएँ की जाती हैं वही मुनि-भाव का कारण होती हैं। शुद्ध हृदय के परिणामों पर मुनि-धर्म निर्भर है बाह्य संयोगों पर नहीं। मुनि की बाह्य क्रियाएँ करते हुए भी यदि भावों में विकार है तो निश्चय दृष्टि से वे मुनिभाव का कारण नहीं हो सकती हैं।

उक्त अभिप्राय निश्चय नय की दृष्टि से है। व्यवहार नय की अपेक्षा से तो जो पंच महाव्रतधारी समान साधुओं की लज्जा से अथवा गुरु आदि के डर से या महत्त्व पाने की लालसा से क्रियाएँ करता है तो भी वह मुनि कहा जा सकता है क्योंकि परम्परा से उसमें अध्यवसाय उत्पन्न हो सकते हैं। उस समय शुभ अध्यवसाय न भी हों, केवल लोकभय से क्रिया करता हो तो भी कालान्तर में ये क्रियाएँ शुभ भाव पैदा करने वाली होती हैं। इसी प्रकार तीर्थ की प्रभावना के लिए प्रकट मासक्षमण तप इत्यादि करना भी व्यवहार की अपेक्षा से मुनिभाव का कारण समझना चाहिए क्योंकि परम्परा से शुभ अध्यवसाय हो सकते हैं। तात्पर्य यह है कि सच्चा त्याग तो उसी का नाम है जिसमें वासनाओं और इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर ली जाती है। जहाँ समता है वहाँ त्याग है। जिस त्याग में स्वाभाविकता नहीं है वह त्याग विकास में अधिक साधक नहीं हो सकता। पदार्थों के संयोग या वियोग में मानसिक समतोलता कायम रख सकने में ही त्याग की सार्थकता है। इसी बात को आगे के सूत्र में स्वयं सूत्रकार स्पष्ट करते हैं।

समयं तत्थुवेहाए अप्पाणं विप्पसायए। अणन्नपरमं नाणी नो पमायए कयाइवि, आयगुत्ते सया वीरे जायामायाइ जावए।

संस्कृतच्छाया—*समतां तत्रोत्प्रेक्ष्यात्मानं विप्रसादयेत्, अनन्यपरमं ज्ञानी नो प्रमादयेत् कदाचिदपि। आत्मगुप्तः सदा वीरो यात्रामात्रया यापयेत्।*

शब्दार्थ—समयं=समता का। तत्थुवेहाए=विचार करके। अप्पाणं=अपनी आत्मा को। विप्पसायए=प्रसन्न रक्खे। नाणी=ज्ञानवान् साधक। अणन्नपरमं=समभाव रूप संयम में।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

कयाइ वि=कभी। नो पमायए=प्रमाद न करे। आयगुत्ते=आत्मा का गोपन करके। सया वीरे=सदैव धीर बनकर। जायामायाइ=देह को संयम-यात्रा का साधन मानकर। जावए=उसका निर्वाह करे।

भावार्थ—सच्चा साधक समभाव से अपनी आत्मा को प्रसन्न रक्खे। ज्ञानवान् साधक समभाव को अपना परम लक्ष्य बनाकर संयम में कदापि प्रमाद न करे तथा इन्द्रियों और मन पर विजय प्राप्त कर धीर-वीर साधक देह को संयम-यात्रा का साधन मानकर उसका सम्यग् उपयोग करे।

विवेचन—इस सूत्र में नैश्चयिक मुनिभाव का स्वरूप बताया है। इसके पूर्व सूत्र में शिष्य ने प्रश्न किया था कि जो त्यागी अपने सहयोगी साधुओं की शर्म से या गृहस्थादिकों की निन्दा से आधाकर्मादि पाप का सेवन नहीं करता है तो उसे त्यागी कहना चाहिए कि नहीं ? आचार्य फरमाते हैं कि साधुता और त्याग, समता-समानभाव से सम्बन्ध रखते हैं। इस क्रिया के द्वारा दूसरे मेरी निन्दा करेंगे अथवा मेरी पूजा और प्रतिष्ठा में क्षति पहुँचेगी इस प्रकार की अन्यान्य समाजैषणा और लोकैषणा के खातिर डर और शर्म से जो पापकर्म नहीं करता है वह सच्चा त्यागी नहीं है। जहाँ समता है वहाँ त्याग है। त्याग में निर्भयता और स्वाभाविकता का होना आवश्यक है।

आत्मानन्द का जिसे यथार्थ अनुभव हो जाता है वह समाज के डर या शर्म से कोई काम नहीं करता है वरन् उसे अपना कर्त्तव्य समझ कर करता है। कीर्ति अथवा प्रदर्शन के हेतु किए हुए त्याग का वास्तविक कोई अर्थ नहीं। जब तक सच्ची विरक्ति नहीं तब तक त्याग टिक ही नहीं सकता। जहाँ सच्ची विरक्ति है वहाँ वृत्तियों में-मन में पदार्थों को ग्रहण करने की भावना का जन्म ही कैसे हो सकता है ? जिसे संसार के पदार्थों की असारता का ज्ञान हो गया हो और ऐसा ज्ञान होने पर ही उसने पदार्थों का त्याग किया हो तो उसे दोष-सेवन करने की भावना ही नहीं हो सकती। परन्तु सच्ची विरक्ति के बिना संयोगों के दबाव के कारण जिसने त्याग-मार्ग ग्रहण किया है वह त्याग की सच्ची आराधना करने में समर्थ नहीं हो सकता इसलिए साधक को चाहिए कि समता का विकास करे। आत्मा में ज्यों-ज्यों समभाव बढ़ता जायगा त्यों-त्यों साधुता और मुनि-धर्म प्रकट होता जायगा। समभाव को अपना ध्येय बनाना चाहिए। इसी ध्येय से सभी क्रियाएँ करनी चाहिए न कि समाज के डर से या कीर्ति से। समभाव से क्रियाएँ करते हुए अपनी आत्मा को उपशान्त-प्रसन्न रखना यही मुनि-धर्म है।

अथवा सूत्र में "समयं" पद आया है उसका अर्थ आगम भी होता है। मतलब यह है कि आगमों-शास्त्रों का पर्यालोचन करके तदनुसार सभी क्रियाएँ करना मुनि-भाव का कारण है। आगमों का एवं समता का पूरा विचार करके आत्मा को प्रसन्न रखना चाहिए। आत्मा की प्रसन्नता संयम पर ही निर्भर है। जो किसी डर से या शर्म से क्रिया करता है उसकी आत्मा सदा सशङ्कित रहती है। उसे सदा यह डर बना रहता है कि कोई मेरी निन्दा न करे, कोई देख न ले और कहीं कोई यह जान न ले। जहाँ शङ्का है वहाँ प्रसन्नता टिक ही नहीं सकती। चोर चोरी करता है किन्तु उसकी आत्मा में सदा शंका बनी रहती है कि कहीं पकड़ा न जाऊँ। इस आशंका के कारण वह सुखी नहीं हो सकता। चोरी करके धन पा लेने पर भी उसे धन पाने का संतोष नहीं होता लेकिन यही डर उसे सताता रहता है कि कहीं मैं पकड़ा न जाऊँ। इसी तरह साधु अगर शंका या डर से पापकर्म नहीं करता है तो जब उसे मौका मिलेगा, वह पापकर्म कर

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

लेगा और फिर वह पापकर्म कोई सहयोगी साधु या गृहस्थ जान न ले इसके लिए सदा सशङ्कित रहेगा। जहाँ शंका है वहाँ संयम नहीं और प्रसन्नता भी नहीं है। सच्ची प्रसन्नता संयम में ही हो सकती है अतएव समभावरूप संयम में अल्पमात्र भी प्रमाद नहीं करना चाहिए।

प्रमाद का कारण इन्द्रियों और मन पर विजय नहीं पाना है। जब तक इन्द्रियाँ और मन काबू में नहीं हैं तब तक प्रमाद नहीं जीता जा सकता है अतएव सूत्रकार ने फरमाया है कि 'आत्मगुप्त' बनो। जब तक इन्द्रियों का गोपन नहीं होता वहाँ तक वे इन्द्रियाँ और मन आत्मा को प्रमाद की ओर घसीट लेते हैं और आत्मा को पतित कर देते हैं अतः आत्मा की रक्षा के लिए इन्द्रिय और मन पर विजय पाना जरूरी है। मनोविजय और इन्द्रियविजय का काम सरल नहीं हैं। वायु के समान चञ्चल मन का निग्रह करना कठिन है। सतत अभ्यास और वैराग्य के द्वारा ही इनपर विजय पाई जा सकती है। प्रयत्न करते हुए भी एकदम इनपर काबू नहीं हो जाता है इसलिये कई साधक घबरा कर प्रयत्न छोड़ देते हैं। इसलिये सूत्रकार ने फरमाया है कि हे साधको! धीर बनो। अधीर न बनो। धीरता से तुम इनपर विजय पा सकोगे। अधीर बनकर पुरुषार्थ न छोड़ो। सतत अभ्यास के द्वारा अवश्य मनोनिग्रह साध्य है और मनोनिग्रह हो जाने पर प्रमाद की ओर प्रवृत्ति न होगी।

'आत्मगुप्त' बनने का उपदेश देने के पश्चात् सूत्रकार अब यह बताते हैं कि संयम के पालन के लिए शरीर एक उपयोगी साधन है इसलिये संयम-रूपी यात्रा को निर्विघ्न पूरी करने के लिए शरीर-प्रतिपालन की भी आवश्यकता है। साध्य की सिद्धि के लिए साधनों की अपेक्षा रहती है। साधनों की पूर्ति के बिना साध्य सिद्ध नहीं होता। जैसे बीज में अंकुरोत्पादन की शक्ति है तो भी पृथ्वी, पानी, हवा आदि सहकारियों के बिना वह अंकुर उत्पन्न नहीं कर सकता है। उसी प्रकार आत्मा में शक्ति है तदपि संयम के पालन के लिए और कर्मों के बन्धन से मुक्त होने के लिए इसे शरीररूपी सहकारी की आवश्यकता रहती है।

जबतक साध्य सिद्ध न हो जाय तबतक साधनों की आवश्यकता होती है। साध्य के सिद्ध होने पर साधन छूट जाते हैं, फिर साधनों की आवश्यकता नहीं रहती। साधनों को साध्य सिद्ध होने पर छोड़ना पड़ेगा इसलिये साधनों को पहिले से ही ग्रहण नहीं करना चाहिए यह कथन योग्य नहीं है। मान लीजिये एक नदी है। उसे भुजाओं से तैरने की शक्ति नहीं है इसलिये उसे तैरने के लिए नाव का सहारा लेना पड़ता है। किनारे पहुँचने पर नाव को छोड़ देनी पड़ती है। इसलिए क्या नदी के प्रवाह को तैरने के लिए नाव का सहारा नहीं लेना चाहिए? वैसे ही प्रवाह में कूद पड़ना चाहिए? ऐसा करना महज़ बेवकूफी होगी। नाव का सहारा न लेने पर वह प्रवाह में बह जायगा और कहीं ठिकाना नहीं लगेगा। इसलिये भुजाओं में शक्ति न होने पर प्रवाह को तैरने के लिए नाव का सहारा लेना ही बुद्धिमानी है। इसी तरह जबतक मोक्षरूप साध्य सिद्ध न हो जाय तबतक शरीररूप साधन का सदुपयोग करना चाहिए। अन्ततः अशरीरी तो होना ही है। अशरीरी बनने के लिए संयम की आवश्यकता है और संयम के पालन के लिए शरीर की आवश्यकता है। मूर्त्त शरीर से मूर्त्त कर्मों को तोड़ने की आवश्यकता है। जैसे लोहे को काटने के लिए लोहे की छीनी और लोहे के हथोड़े की आवश्यकता होती है उसी प्रकार मूर्त्त कर्मों को तोड़ने के लिए मूर्त्त शरीर की प्रतिपालना की अनिवार्यता रहती है। मूर्त्त कर्मों के चले जाने पर मूर्त्त शरीर भी चला जायगा और आत्मा अपने स्वरूप को पालेगा।

सारांश यह है कि संयम की वृद्धि के लिए शरीर को आहारादि द्वारा पालकर इसका सम्यक् उपयोग करना चाहिए।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

देह का विलास जिस प्रकार आत्मघातक है उसी तरह शरीर के प्रति अति लापरवाही भी जीवन के रस को चूसने वाली हो सकती है। अतएव संयम के मार्ग में आत्म-रक्षा और धैर्य को सन्मुख रखकर देहरूपी साधन व्यवस्थित, सुगठित, नियमबद्ध और कार्य-साधक बने इसतरह उसका निर्वाह करना संयम का ही अंग है। साध्य, साधक की योग्यता और साधन का सदुपयोग इस त्रिपुटी का समन्वय करने का सूत्रकार ने सूचित किया है।

विरागं रूवेहिं गच्छिज्जा महया खुड्डएहिं य, आगइं गइं परिण्णाय दोहि वि अंतेहिं अदिस्समाणेहिं से न छिज्जइ, न भिज्जइ, न डज्झइ, न हम्मइ कंचणं सव्वलोए।

संस्कृतच्छाया—*विरागं रूपेषु गच्छेत् महता क्षुल्लकेषु च, आगतिं गतिं परिज्ञाय द्वाभ्यामन्ताभ्यामदृश्यमानाभ्यां, स न छिद्यते, न भिद्यते, न दह्यते न हन्यते केनचित् सर्वस्मिंल्लोके।*

शब्दार्थ—महया=अतिमोहक, दिव्य। खुड्डएहिं=तथा सामान्य। रूवेहिं=रूपों में। विरागं गच्छिज्जा=विरक्त रहे। आगइं=आगमन को। गइं=गमन को। परिण्णाय=जानकर। दोहि वि=दोनों ही। अंतेहिं=राग और द्वेष से। अदिस्समाणेहिं=नहीं देखा जाता हुआ। से=वह साधक। सव्वलोए=सारे लोक में। कंचणं=किसी के भी द्वारा। न छिज्जइ=न छेदा जाता है। न भिज्जइ=न भेदा जाता है। न डज्झइ=न जलाया जाता है। न हम्मइ=न मारा जा सकता है।

भावार्थ—साधक अति मोहक दिव्य अथवा सामान्य किसी भी प्रकार के रूप में आसक्ति न करे और विरक्त रहे। गति आगति को जानकर (संसार के स्वरूप को समझ कर) जो राग और द्वेष से दूर रहता है वह सारे लोक में किसी के द्वारा भी न छेदा जा सकता है, न भेदा जा सकता है, न जलाया जा सकता है और न मारा जा सकता है।

विवेचन—पूर्ववर्त्ती सूत्र में शरीर की प्रतिपालना करने का कहा गया है। उसका उद्देश्य यह नहीं है कि सदा रसमय पदार्थों का उपभोग किया जाय। उसका उद्देश्य तो मात्र प्राणसंधारण का ही और प्राण-संधारण का उद्देश्य भी तत्त्वज्ञान ही है। तत्त्वज्ञान का उद्देश्य पुनः पुनः होने वाले जन्म-मरण को रोकने का है। संयमी पुरुष खाने के लिए नहीं जीते हैं परन्तु जीने के लिए खाते हैं। जीवन का उद्देश्य भी पुनः पुनः जीवन न हो यही पुरुषार्थ करना है। कहा भी है:—

आहारार्थं कर्म कुर्यादनिन्द्यं, स्यादाहारः प्राणसंधारणार्थम्।
प्राणा धार्यास्तत्त्वजिज्ञासनाय तत्त्वं ज्ञेयं येन भूयो न भूयात्॥

अर्थात्—आहार के लिए अनिन्दनीय कार्य करे। आहार प्राण-धारण के लिए है। प्राणों का धारण करना तत्त्वज्ञानार्थ है और तत्त्वों का ज्ञान इसलिए करे कि पुनः जन्म-मरण न करना पड़े।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

यह प्रतिपादन करके इस सूत्र में आचार्य रूप-रसादि से विरत होने का उपदेश फरमाते हैं। कहीं शरीर का प्रतिपालन करते हुए रसादि की लोलुपता और रूपासक्ति साधक में न आ जाय इसलिए सूत्रकार ने यहाँ यह फरमाया है कि साधक दिव्य रूप में अथवा सामान्य रूप में आसक्ति न करे। सुन्दर दिव्य रूप को देखकर अपना मन उस ओर न ले जाय। यहाँ सूत्रकार ने केवल रूप में आसक्ति न करने का कहा है, इसका कारण यह है कि पाँचों विषयों में रूप विशेष हानिकर्त्ता है इसलिए उसका उपलक्षण रूप से ग्रहण किया गया है। अभिप्राय तो पाँचों इन्द्रियों के विषयों में आसक्ति न करें, यही है। रूप आँख का विषय है और आँख की गति और चपलता अति तीव्र है। उसका आकर्षण भी इतना ही उग्र है। इस इन्द्रिय के लिए निमित्त भी पल-पल में मिलते रहते हैं। शास्त्रकारों ने आँख को अप्राप्यकारी कहा है अर्थात्–अन्य इन्द्रियाँ तो पदार्थ को छूकर जानती है लेकिन आँख पदार्थ को दूर से ही ग्रहण कर लेती हैं। इसलिए चक्षु द्वारा ग्रहण किए हुए विषयों का मन पर बहुत जल्दी प्रतिबिम्ब पड़ जाता है इसलिए मन भी उस ओर ढ़ीला होकर आकर्षित हो जाता है। इसलिए सभी इन्द्रियों में चक्षु–इन्द्रिय की प्रधानता बतलायी है उसका दुरुपयोग उतना ही भयंकर फल वाला होता है। इसलिए यहाँ सूत्रकार ने रूप में आसक्ति न करने का कहा है।

पुण्यरूप प्रकृति के कारण चक्षु की प्राप्ति होती है। उसे प्राप्त करके यह देखना है कि पुण्य से मिली हुई आँख का हम दुरुपयोग तो नहीं करते हैं? उस पुण्य-प्रदत्त चक्षु से हम पाप का उपार्जन तो नहीं करते हैं? क्या ये आँखें स्त्रियों की ओर दुर्बुद्धि से देखने के लिए मिली हैं?

दुनियाँ में आजकल आँख के डाक्टर बहुत हो गये हैं। आँखों को अच्छी करने वाले डाक्टर का लोग अहसान मानते हैं। परन्तु विचारना है कि कुदरत ने हमें जो आँख दी हैं वैसी एक भी आँख हजारों डाक्टर मिलकर नहीं बना सकते। जब आँख के साधारण विकार को मिटाने वाले डाक्टर का अहसान मानते हैं तो जिस कुदरत ने आँख दी हैं उसका कितना आभार मानना चाहिए? पुण्य प्रकृति ने आँख प्रदान की हैं तो कम से कम उससे पाप का उपार्जन तो नहीं करना चाहिए।

जिस प्रकार अपने शरीर की छाया को पकड़ने के लिए उसके पीछे दौड़ने वाला मुसाफिर ज्यों-ज्यों दौड़ता है–भागता है त्यों-त्यों उसकी छाया भी आगे दौड़ती जाती है और वह श्रम और निराशा से दुखी हो जाता है उसी प्रकार जो व्यक्ति सुन्दरता को देखकर उसे लूटने की अभिलाषा रखता है वह भी उसी तरह निराश और दुखी होता है। इसीलिए सूत्रकार महात्मा ने रूप से विरक्ति करने का कहा है। रूप के साथ ही साथ सभी इन्द्रियों के विषयों से भी विरक्त होना चाहिए।

ये इन्द्रियों के विषय संसार में परिभ्रमण कराते हैं। ये ही जन्म-मरण का कारण हैं और इन्हीं के कारण गति-अगति होती है। भवान्तर में जाने का नाम गति है और भवान्तर से आने का नाम आगति है। यही संसार का स्वरूप है। अरहट्ट के यन्त्र के समान यह संसार-चक्र चलता रहता है। यह स्वरूप समझ कर राग और द्वेष को दूर करना चाहिए।

त्याग का उद्देश्य राग और द्वेष को घटाना हो सकता है। त्याग या तपश्चर्या का उद्देश्य ऐहलौकिक या पारलौकिक ऋद्धि, समृद्धि या किसी प्रकार की लब्धि की प्राप्ति की कामना नहीं है। वासनाजन्य सांसारिक सुख की अभिलाषा करना संसार-बुद्धि का कारण होता है। शास्त्रकार ने स्वर्ग–प्राप्ति की कामना से तपश्चर्या करने को तप नहीं कहा है। कई तपस्वी सांसारिक समृद्धि, चमत्कार और स्वर्ग के

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

लिए ही तप करते हैं। किसी कामना को लेकर किया हुआ तप आत्मिक उन्नति का कारण नहीं हो सकता है। वैसे प्रत्येक क्रिया का फल तो अवश्य ही होता है चाहे वह बुरा हो या अच्छा, अल्प हो या अधिक। परन्तु जो किसी कामना को लेकर तप करता है वह तप के फल को हीन करता है। वह हीरा देकर बदले में काँच खरीदता है। तप-रूप कीमत देकर वह स्वर्ग सुख खरीदता है अर्थात् हीरा देकर कांच खरीदता है। यह बुद्धिमानी नहीं हो सकती। प्रश्न हो सकता है कि जब स्वर्ग की कामना से तप आदि करना ठीक नहीं तो शास्त्रकार ने स्वर्ग और स्वर्ग-सुखों का वर्णन क्यों किया है? इसका समाधान यह है कि शास्त्रकार ने लोक का स्वरूप समझाने के लिए ही स्वर्ग का वर्णन किया है, न कि स्वर्ग में होने वाले पौद्गलिक सुख के लिए तप आदि करने का कहा है। शास्त्रकारों ने उसे भी स्वर्ण की बेड़ी कहकर अन्त में हेय माना है। तात्पर्य यह है कि त्याग और तप का उद्देश्य राग और द्वेष को घटाकर समताभाव की वृद्धि करने का ही है। इसी समता योग की सिद्धि के लिए त्याग, तपश्चर्या और संयम हैं अतः संयमी पुरुषों को समता की ओर खास ध्यान देने की आवश्यकता है।

जिस साधक ने समता-योग की साधना की है वह राग-द्वेष से परे हो जाता है और यहाँ तक कि उसका देह-भान भी चला जाता है। ऐसा साधक किसी के द्वारा छेदा, भेदा, जलाया और मारा नहीं जा सकता है क्योंकि ये सभी धर्म देह में पाये जाते हैं। आत्मा में नहीं। देह में होने वाली ये क्रियाएँ उसकी आत्मा के सहजानन्द में किसी प्रकार की बाधा नहीं डाल सकती हैं। इसके लिए गजसुकुमाल का दृष्टान्त विचारणीय है। गजसुकुमाल के मस्तक पर सोमिल ब्राह्मण ने मिट्टी की पाल बाँधकर उसमें धग-धगते अङ्गारे डाल दिये। गजसुकुमाल का मस्तक खिचड़ी के समान खद्बद् करने लगा। लेकिन उसके अटल समता-योग में किसी तरह का अन्तर नहीं पड़ा। उनके हृदय में सोमिल के प्रति अंशमात्र भी द्वेष नहीं हुआ वरन् उन्होंने सोचा कि सोमिल ने मेरा बड़ा भारी उपकार किया है। उसने मेरे मस्तक पर अङ्गारे डाल कर मेरे कर्म-रूपी वन में आग लगाई है ताकि मेरा कर्म-रूपी वन शीघ्र ही जल सके। इसमें उसने बुरा ही क्या किया? मेरा क्या बिगड़ रहा है? उसने मुझे सहायता की है। मैं कर्मों को जलाना चाहता था और उसने अङ्गारे डालकर उन्हें जलाना शुरू कर दिया। अहा! सोमिल का कितना उपकार! सोमिल ने मुझे मुक्ति-रूपी रमणी से विवाह करने के अवसर पर यह पगड़ी बँधायी है। अहा! मुनि की समता!!

गजसुकुमाल मुनि ऐसे भीषण संकट में भी अपने अध्यवसाय इतने निर्मल रख सके। उन्हें सोमिल के प्रति द्वेष नहीं हुआ। इसका कारण यह है कि वे देह-भान से परे हो चुके थे। उन्होंने समझा कि जो जल रहा है वह मैं नहीं हूँ और जो मैं हूँ वह कभी जल नहीं सकता। शरीर जल रहा है यह तो किसी दिन जलने का ही था। जो मेरा निजका स्वरूप है वह तो अखण्डित ही है। ऐसे निर्मल परिणामों के कारण उन्होंने शिव-रमणी से पाणि-ग्रहण किया। मुक्ति रूपी वधू ने उनका स्वागत किया। कैसी अद्भुत मुनि की समता!!

समता का विकास होने पर देह-भान विलीन हो जाता है यह गजसुकुमाल मुनि के उदाहरण से स्पष्ट है। गीता में भी कहा है कि:—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥

अर्थात्—इस आत्मा को शस्त्र काट नहीं सकते, आग जला नहीं सकती, पानी इसे गला नहीं सकता और हवा इसे सुखा भी नहीं सकती है। आत्मा कभी नहीं कटने वाला, नहीं जलने वाला, नहीं गलने वाला, न सूखने वाला है। यह नित्य, सर्व व्यापी, स्थिर, अचल और सनातन (चिरन्तन) है।

तात्पर्य यह है कि राग-द्वेष से रहित होने से समताभाव का विकास होता है और समता के विकास होने से देह के कष्टादि का आत्मा पर असर नहीं पड़ता है। सच्चा समभावी साधक आत्मा का स्वरूप सच्चिदानन्दमय समझता है। अतः उसे दुख का अनुभव ही कैसे हो सकता है। उसकी आत्मा तो शाश्वत, चैतन्यमय और आनन्द का सागर है

अवरेण पुव्विं न सरंति एगे किमस्स तीयं ? किं वा आगमिस्सं ? भासंति एगे इह माणवाओ जमस्स तीयं तमागमिस्सं । नाईयमट्ठं न य आगमिस्सं अट्ठं नियच्छंति तहागया उ । विहूयकप्पे एयाणुपस्सी निज्झोसइत्ता खवगे महेसी ।

संस्कृतच्छाया—*अपरेण सह पूर्वन्न स्मरन्त्येके किमस्यातीतं ? किं वाऽऽगमिष्यति । भाषन्ते एके इह मानवा यदस्यातीतं तदेवागमिष्यति । नातीतमर्थं न चागामिनमर्थं नियच्छन्ति तथागतास्तु । विधूतकल्पः एतदनुदर्शी निर्झोषयिता क्षपकः महर्षिः ।*

शब्दार्थ—एगे=कितनेक । अवरेण=भविष्य में होने वाले के साथ । पुव्विं=भूतकाल को । न सरन्ति=याद नहीं करते हैं कि । अस्स=इस जन्तु का । किं तीयं=भूतकाल में क्या हुआ । किं वा आगमिस्सं=भविष्यकाल में क्या होगा ? एगे=कितनेक । भासंति=कहते हैं कि । इह=संसार में । माणवाओ=मनुष्य को । जमस्स तीयं=जो भूतकाल में प्राप्त हुआ । तमागमिस्सं= वही भविष्य में भी मिलेगा । तहागया उ=तथागत-तत्त्वज्ञानी तो । नाईयमट्ठं=अतीत अर्थ को ही भविष्य काल का नहीं । न य आगमिस्सं अट्ठं=न भविष्य काल के अर्थ को भूतरूप में । नियच्छंति=स्वीकार करते हैं । विहूयकप्पे=पवित्र आचार वाले । महेसी=महर्षि । एयाणुपस्स = यह जानकर । निज्झोसइत्ता खवए=कर्मों को धुनकर क्षय करें ।

भावार्थ—इस जगत् में कितनेक ऐसे अज्ञानी प्राणी भी हैं जो भूत और भविष्यत् काल के बनावों पर विचार ही नहीं करते कि यह जीव पहिले कैसा था और आगामी काल में क्या होगा और कितने तो ऐसा भी मानते हैं कि इस जीव को पहिले जो सुख या दुख मिल गया वही भविष्य में भी

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

होने का है। परन्तु तत्वज्ञ पुरुष ऐसा नहीं मानते (वे अतीत को अनागत और अनागत को अतीत-वत् नहीं मानते। वे तो ऐसा कहते हैं कि कर्मों की परिणति विचित्र होने से कर्मानुसार दुख-सुख मिलेंगे ही।) पवित्र आचार वाला महर्षि साधक इस बात को जानकर कर्मों के बन्धन को क्षय करे।

विवेचन—पहिले यह प्रतिपादन किया जा चुका है कि आत्मा शाश्वत और सनातन है। यह अछेद्य, अभेद्य और अविनाशी है परन्तु कर्म-पुद्गलों से सम्बद्ध होने से यह जन्म-मरण करता है। एक गति से दूसरी गति में जाता है अर्थात् आत्मा भवान्तर-गामिनी है। यह प्रतिपादन कर चुकने पर शास्त्रकार इस सूत्र में यह फरमाते हैं कि इस संसार में कतिपय मोहावृत्त (अज्ञानी) प्राणी हैं जो कभी यह नहीं विचारते कि यह जीव पहिले किस अवस्था में था और आगे इसका क्या हाल होगा। वे केवल सामने की बात को मानने वाले प्राणी भूत और भविष्य काल का कभी स्मरण भी नहीं करते हैं। उन्हें कभी अपनी भूत और भावी दशा का विचार ही नहीं होता। यदि भूत और भावीदशा का पर्यालोचन हो तो संसार में आसक्ति नहीं हो सकती। कहा भी है:—

केण ममेत्थुप्पत्ती ? कहं इओ तह पुणोऽवि गंतव्वं ।
जो एत्तियंपि चिंतइ इत्थं सो को न निव्विण्णो ॥

अर्थात्—मैं यहाँ कहाँ से आया हूँ, यहाँ से मुझे कहाँ जाना पड़ेगा ? इतना मात्र भी जो विचार करता है वह कौन संसार से विरक्त न होगा ?

इस सूत्र में नास्तिक मत (चार्वाक) की विचार-धारा सूत्रकार ने बतायी है। उसके मत के अनुसार प्रत्यक्ष ही प्रमाण है। वह भूतकाल और भविष्य काल को नहीं मानता है। उसके मतानुसार आत्मा कोई चीज नहीं है। पाँच भूत जब देहाकार रूप में परिणमते हैं तब उसमें चैतन्य की उत्पत्ति हो जाती है और जब पाँच भूत बिखर जाते हैं तो चैतन्य भी विलय हो जाता है। ऐसा मानकर वे आत्मा को शरीर से भिन्न नहीं मानते, तथा पुनर्जन्म को स्वीकार नहीं करते हैं। पुनर्जन्म के सिद्धान्त को न मानने से उन्हें विचार ही नहीं आता है कि इसका भूत और भविष्य क्या था और क्या होगा ?

उपर्युक्त उनकी मान्यता असंगत और विविध-प्रत्यक्ष एवं अनुमानादि-प्रमाणों से बाधित है। सूत्रकार ने "एक-एक ऐसा मानते हैं" यों कहकर उनके पक्ष का तिरस्कार किया है।

चार्वाकों का उक्त कथन भ्रमपूर्ण है। क्योंकि पृथ्वी आदि भूतों के गुण और हैं तथा आत्मा का गुण (चैतन्य) और ही है। असाधारण गुणों की भिन्नता भिन्न वस्तु को सिद्ध करती है। अगर यह कहा जाय की अलग-अलग भूत में चैतन्य को उत्पन्न करने की शक्ति नहीं है परन्तु सब भूत मिलकर जब शरीररूप में परिणमते हैं तब उनसे चैतन्य की उत्पत्ति होती है तो इसका समाधान यह है कि जो गुण प्रत्येक पदार्थ में भिन्न अवस्था में नहीं होता वह उसके समुदाय में भी नहीं हो सकता। जिस प्रकार रेत के एक कण में तेल नहीं है तो वह रेत के समुदाय में भी नहीं हो सकता। उसी तरह पृथ्वी आदि भूतों में पृथक् २ चैतन्य गुण नहीं है तो वह उनके समूह में भी नहीं हो सकता। अगर भूतों में अलगर चैतन्य माना जाय तो जब भूत शरीर का रूप धारण करते हैं तब पाँच चैतन्य पाये जाने चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं है।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

दूसरी बात यह है कि अगर भूतों से चैतन्य का पैदा होना माना जाय तो किसी भी अवस्था में मृत्यु नहीं हो सकती। क्योंकि मृतक शरीर से भी पाँचों भूत पाये जाते हैं। अगर यह कहो कि मृतक शरीर में वायु और तेज नहीं है अतः वहाँ चैतन्य नहीं रहता है तो यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि मृतक शरीर में सूजन देखी जाती है अतः वहाँ वायु का सद्भाव है और मवाद की उत्पत्ति के कारण उसमें तेज भी मानना पड़ेगा। इसलिये पाँचों भूतों की सदा विद्यमानता के कारण कभी मृत्यु नहीं होनी चाहिए किन्तु मृत्यु होती है अतः यह मानना चाहिए कि भूतों के अतिरिक्त आत्मा नाम का द्रव्य है और चैतन्य उसका गुण है।

अनुभव समस्त प्रमाणों में मुख्य है। उसके आधार पर किया हुआ निर्णय सदा असंदिग्ध होता है। अनुभव से यह प्रतीति होती है कि 'मैं सुखी हूँ, मैं दुखी हूँ'। इसमें आया हुआ अहं (मैं) पद आत्मा का द्योतक है। शरीर में यह अनुभव होता है यह शंका अयोग्य है क्योंकि साथ ही यह अनुभव भी होता है कि "मेरा शरीर" इस वाक्य से शरीर का अधिष्ठाता कोई होना चाहिए। वह आत्मा है।

आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने वाली अनेक युक्तियाँ हैं जैसे एक ही माता-पिता की संतान में बहुत अन्तर देखा जाता है। कोई उद्दण्ड, क्रोधी और अज्ञानी होता है और कोई विनयी, शान्त और बुद्धिमान् होता है। समान संयोगों में पाले-पोसे जाने पर भी दो भाइयों में बहुत अन्तर पाया जाता है। इसका कारण पूर्व-संस्कार हैं। युगल-जात बालकों के स्वभाव में भिन्नता का कारण पूर्व-संस्कार नहीं तो क्या है? पूर्व-संस्कार सिद्ध होने पर आत्मा का परलोक-गमन स्वतः सिद्ध हो जाता है।

पूर्व संस्कारों को स्पष्ट करने वाला जातिस्मरण ज्ञान है। वर्तमान काल में भी पुनर्जन्म को सिद्ध करने वाली अनेक सत्य घटित घटनाएँ समाचार-पत्रों में पढ़ने को मिलती हैं। शिकोहाबाद नामक नगर में वेश्या का एक लड़का था। उसे जाति-स्मरण ज्ञान हुआ। उसने कहा मैं ब्राह्मण हूँ, पास के ग्राम में मेरे भाई और मेरी स्त्री है। मेरी ज़मीन गिरवी रखी हुई थी। मैंने कलकत्ते में नौकरी कर उसे छुड़ाई थी। उसने अपने आये हुए कुटुम्बियों को पहचान लिया और अनेक स्त्रियों के बीच में खड़ी हुई अपनी पत्नी को पहचान ली और उसके वक्षस्थल पर एक फोड़ा था उसका भी उसने जिक्र कर सुनाया। इसी तरह दिल्ली में शान्ताबाई नामक बालिका ने अपना पूर्व वृत्तान्त बताया जो जांच करने पर सही साबित हुआ। ये घटनाएँ पुनर्जन्म को सिद्ध करती हैं।

पुनर्जन्म सब युक्तियों से सिद्ध है तब अवश्य यह विचार करना चाहिए कि यह आत्मा भूतकाल में कैसी स्थिति में था और भविष्य में इसकी क्या स्थिति होगी। भूतकाल और भविष्य काल पर विचारणा करने से आत्म-जागृति होती है और यह आत्म जागृति जीवन को एक दिव्य आनंद समर्पण करती है।

यह विवेचन करने के बाद अब सूत्रकार दूसरी तरह के अज्ञानियों की मान्यता बताते हैं। वे आत्मा को मानते हैं और उसे भवान्तर-गामिनी भी स्वीकार करते हैं परन्तु यह कहते हैं कि जीव जैसा भूतकाल में सुखी या दुखी था वह भविष्य काल में भी वैसा ही सुखी या दुखी रहेगा। पुरुष सदा पुरुष ही रहेगा, स्त्री सदा स्त्री ही रहेगी, पशु सदा पशु ही रहेंगे, इत्यादि। जो भूतकाल में जिस रूप में था वह भविष्य में भी वैसा ही रहेगा।

उनका यह मानना केवल युक्ति-बाधित ही नहीं परन्तु हास्यास्पद भी है। अगर यह मान्यता मान ली जाय तो सर्व पुरुषार्थ का ही अभाव हो जायगा। जब जीव को यह ज्ञात हो जाय कि उसकी

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

जो वर्तमान अवस्था है यही रहने की है तो दुखी पुरुष सुख के लिए पुरुषार्थ ही क्यों करेगा? वह जानता है कि मैं तो सदा दुखी ही रहने वाला हूँ तो धर्म-क्रिया आदि से मुझे क्या प्रयोजन? दुख तो है ही और दुखी रहना ही है तो पापकर्म क्यों न करूँ? इसी तरह सुखी व्यक्ति यह सोचेगा कि मैं चाहे जैसे कार्य करूँ, मैं तो सुखी ही रहने वाला हूँ तो फिर तपश्चरणादि शुभ क्रियाएँ क्यों करूँ? इस प्रकार परम पुरुषार्थ का ही अभाव हो जाता है। अगर उनका यह कथन स्वीकार कर लिया जाय तो धर्म-कर्म का अभाव हो जायगा।

प्रत्यक्ष से, उनके माने हुए इस कथन में दोष आता है। प्रतिदिन के व्यवहार में हम देखते हैं कि आज जो बाह्य-दृष्टि से सुखी है, धन-धान्यादि से सम्पन्न है वही थोड़े समय बाद दर-दर का भिखारी बना हुआ दिखाई देता है साथ ही जो एक दिन दाने-दाने के लिए मुहताज था वह लाखों का स्वामी होता हुआ भी दिखाई देता है। यहीं मनुष्य की अवस्थाओं का परिवर्तन होता हुआ स्पष्ट दिखाई देता है तो परलोक में वैसा का वैसा रहेगा यह कैसे मान्य हो सकता है? अतः उनकी यह मान्यता, अज्ञानमूलक है।

कर्मवाद के सुव्यवस्थित सिद्धान्त को नहीं समझने के कारण वे प्राणी इस प्रकार मिथ्या कल्पनाओं का जाल बनाकर दूसरे प्राणियों को उसमें फँसाते हैं और स्वयं भी फँसते हैं।

जो तथागत-यथार्थ तत्त्वदर्शी होते हैं वे इस प्रकार नहीं मानते हैं। उनका कर्मवाद का अविचल सिद्धान्त यह कहता है कि कोई क्रिया निष्फल नहीं हो सकती। उसका अच्छा या बुरा परिणाम अवश्य उसके कर्त्ता को प्राप्त होता है। चाहे शीघ्र मिल जाय या देरी से; मिलेगा जरूर। प्राणी जब शुभ क्रियाएँ करता है तो उसका शुभ फल अवश्य उसे प्राप्त होता है। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि एक व्यक्ति नित्य दानादि शुभ क्रियाएँ करता है तदपि वह दुखी है और एक व्यक्ति नित्य चोरी करता है, गरीबों के गले काटता है और धर्मकर्म कुछ नहीं मानता तो भी वह सुखी है, ऐसा क्यों?

इस प्रश्न का समाधान यह है कि क्रिया तो अवश्यमेव कर्त्ता को ही प्राप्त होती है। लेकिन कर्म जब उदयावलिका में आते हैं तब वे अपना शुभाशुभ फल बताते हैं। जब तक शुभ कर्मों का उदय नहीं होता है और अशुभ कर्मों का उदय होता है तब तक प्राणी दुख का अनुभव करता है। इसका अर्थ यह नहीं कि उसके किये हुए सब शुभकार्य व्यर्थ हुए। उसके किये हुए शुभकर्म जब उदयावलिका में आएँगे तब उसके दुख हट जाएँगे और सुख की प्राप्ति होगी। इसी तरह जब तक शुभकर्म उदय में हैं तब तक पाप करते हुए भी सुख का अनुभव करले परन्तु जब पापकर्म उदयावलिका में आवेंगे तब उसे अवश्य उनका कटुक फल भोगना पड़ेगा। कर्म का सिद्धान्त अविचल और अकाट्य है। कर्मों की विचित्रता के कारण प्राणी सुखी और दुखी हो सकता है।

कर्मवाद का सिद्धान्त जीवात्माओं को पुरुषार्थ करने की प्रेरणा देता है। यह सिद्धान्त सिखाता है कि हे पुरुषो! तुम अपने ही कर्मों से परमेश्वर बन सकते हो और अपने ही कर्मों से दीन और हीन। कर्मवाद मनुष्यों के सामने मुक्ति का अनुपम आदर्श उपस्थित करता है जिसे प्राप्त करने के लिए प्राणी पुरुषार्थ करने के लिए प्रेरित होता है। कर्मवाद स्पष्ट चेतावनी देता है कि हे जीवो! तुम्हारे कार्यों पर ही सुख-दुख निर्भर हैं। सुखी होना चाहते हो-शुभकार्य करो और दुख में सड़ना पसन्द हो तो वैसे कर्म करने के लिए तुम स्वतंत्र हो।

तात्पर्य यह है कि तत्त्वदर्शी पुरुष कर्मों के अनुसार भूत और भविष्य का विचार करते हैं और कर्मों को तोड़ने का पुरुषार्थ करते हैं।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

महर्षि साधक का यह कर्त्तव्य है कि वह इस को समझ कर कर्मों का धुनन करके उन्हें क्षय कर दे।

प्रकारान्तर से भी इस सूत्र का अर्थ किया जाता है वह इस प्रकार है। सूत्र में आये हुए 'अवरेण' पद का संस्कृत रूप "अपरेन" होता है। न विद्यते परः-प्रधानोऽस्मादित्यपरः अर्थात्-जिससे और कोई प्रधान न हो वह अपर। सर्व-प्रधान संयम ही है अतएव 'अपर' का अर्थ संयम है। जो संयम से संस्कारित हैं वे पूर्व के भोगे हुए विषयसुखोपभोग का स्मरण नहीं करते हैं और रागद्वेष से मुक्त होकर अनागत देवाङ्गनादि के भोगों की आकांक्षा भी नहीं करते हैं। वे इसका स्मरण नहीं करते हैं कि इस जीव ने पहिले ये विषयोपभोग भोगे थे और आगे ये प्राप्त होंगे अथवा क्या सांसारिक सुख प्राप्त होगा ? एक-एक रागद्वेष-रहित केवली अथवा चौदह पूर्वधारी आदि लोकोत्तर पुरुष फरमाते हैं कि अनादि काल से यह जीव कर्म-पुद्गलों से बँधा हुआ है और सुख-दुख का वेदन करता आ रहा है। यदि यही कर्म-परम्परा चालू रही तो भविष्य में भी यह जीव सुख-दुख का वेदन करता रहेगा। रागद्वेषादि के कारण कर्म से बन्धा हुआ जीव उसके विपाकों का अनुभव करता है अथवा भूतकाल में जैसे विपाक उदय में आये हैं वे ही भविष्य में भी फल देंगे, यदि रागद्वेष जन्य कर्म-परम्परा चालू रही। इसके विपरीत सर्वज्ञ की वाणी का रसास्वादन करने से जिसने संसार अतिक्रान्त किया वह इसी तरह करने से आगामी जन्म में भी संसार अतिक्रान्त करेगा। जो रागद्वेष रहित तत्त्वदर्शी हैं वे न तो अतीत विषय-सुखों का स्मरण करते हैं और न अनागत देवाङ्गनाओं के भोग की आकांक्षा करते हैं। यह समझ कर पवित्र आचार वाला महर्षि साधक अतीत और अनागत विषय-सुखों का स्मरण न करे अपितु कर्मों का क्षय करने में पुरुषार्थ करे।

का अरई, के आणंदे ? इत्थंपि अग्गहे चरे, सव्वं हासं परिचज्ज आलीनगुत्तो परिव्वए।

संस्कृतच्छाया—*का ऽरतिः क आनन्दः ? अत्रापि अग्रहश्चरेत्, सर्वं हास्यं परित्यज्यालीनगुप्तः परिव्रजेत्।*

शब्दार्थ—का अरई=दुख क्या है। के आणंदे=और सुख क्या है ? इत्थंपि=इस हर्ष शोक के विषय में। अग्गहे=गृद्ध न होकर। चरे=संयम में विचरे। सव्वं=सभी प्रकार का। हासं=कुतूहल। परिचज्ज=त्याग कर। आलीनगुत्तो=मन, वचन और काया का गोपन करके। परिव्वए=संयम का पालन करे।

भावार्थ—योगी मुनि के लिए क्या दुख और क्या सुख हो सकता है ? वह तो हर्ष और शोक से परे होता है। हर्ष-शोक के प्रसंगों में वह अनासक्त रहता है। साधक सर्व प्रकार के हास्य, कुतूहल इत्यादि छोड़कर, मन, वचन और काया को कूर्म की तरह गुप्त करके सदा संयम का पालन करता रहे।

विवेचन—कर्म-क्षपण के लिए तत्पर हुए, शुक्ल एवं धर्मध्यान के अभ्यासी महायोगीश्वर और संसार के सुख-दुखों के विकल्प से परे रहने वाले साधक को क्या फल प्राप्त होता है वह इस सूत्र में बताया गया है।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

प्रस्तुत सूत्र में कहा गया है कि साधक के मन में क्या शोक और क्या हर्ष ? वह हर्ष और शोक की भावना से परे हो जाता है। "इष्टाप्राप्तिविनाशोत्थो मानसो विकारोऽरतिः" अर्थात्–इष्ट की प्राप्ति नहीं होने या इष्ट के विनाश से उत्पन्न होने वाला मानसिक विकार अरति है और 'अभिलषितार्थावाप्तिरानन्दः' अर्थात्–इष्ट पदार्थ की प्राप्ति से होने वाला मानसिक विकार आनन्द है। जो व्यक्ति धर्मध्यान और शुक्ल-ध्यान के सोपान पर चढ़ गया हो उसके लिए हर्ष-शोक के उपादान कारणों का ही अभाव हो जाता है अतः हर्ष और शोक की भावना ही उत्पन्न नहीं हो सकती है। अरति और आनन्द रूप भेद ही नहीं रह पाता है।

साधक अवस्था में कदाचित् हर्ष-शोक के प्रसंग उपस्थित हों तो अनासक्त भाव से उनका वेदन कर लेना चाहिए।

यहाँ एक तर्क और हो सकती है कि शास्त्रों में अन्यत्र, असंयम में अरति और संयम में रति करने का उपदेश दिया है और यहाँ रति-अरति का निषेध किया गया है। क्या दोनों बातें परस्पर असंगत नहीं हैं ? शास्त्र में यह असंगति क्यों ? इसका समाधान यह है कि यहाँ पर हर्ष और शोक रूप विकल्पों का निषेध किया गया है अर्थात्–साधक के मन में अमुक अमुक संयोगों में हर्ष-शोक के भाव उत्पन्न हो सकते हैं जो संयम में चञ्चलता पैदा कर सकते हैं अतएव उनका निषेध यहाँ किया गया है। जो रति-अरति की भावना संयम में चञ्चलता एवं व्यग्रता उत्पन्न करती है उसका तो निषेध किया गया है और जो संयम में रति और असंयम में अरति का उपदेश दिया गया है इसका अभिप्राय यह है कि इससे आत्मिक उन्नति में बाधा नहीं होती अपितु यह आत्मा के विकास का कारण है। इस तरह शास्त्रों में दोनों की संगति बतलायी गई है इसलिए यह तर्क ठीक नहीं है।

योगी के लिए क्या हर्ष और क्या विषाद ? वह इन दोनों से परे है। कदाचित् हर्ष और शोक के भाव पैदा हो जाय तो अनासक्त होकर उनको सहन करने का सूत्रकार फरमाते हैं।

हर्ष-शोक की भावना इन्द्रियों एवं मन पर परिपूर्ण विजय न पाने से उत्पन्न होती है अतएव पुनः पुनः सूत्रकार इन्द्रियविजय का उपदेश फरमाते हैं:–साधक का यह कर्त्तव्य है कि वह हास्य, कुतूहल आदि को छोड़कर इन्द्रियविजय करे। जिस प्रकार कछुआ सहसा अभेद्य पीठ के तले अपने आपको दबाकर बाह्य आक्रमण से बचता है इसी तरह आत्माभिमुख होने के लिए सतत पुरुषार्थ रूपी ढाल बनाकर साधक बाह्य आक्रमण से बचे। कछुए के समान अपनी इन्द्रियों का गोपन करे। इन्द्रियों का सम्यग्गोपन होने से उनकी शक्ति केन्द्रित हो जाती है। वह केन्द्रित शक्ति परम पुरुषार्थ मोक्ष को सिद्ध करती है।

पुरिसा ! तुममेव तुमं मित्तं किं बहिया मित्तमिच्छसि ?

संस्कृतच्छाया—*हे पुरुष ! त्वमेव तव मित्रं किं बहिर्मित्रमिच्छसि ?*

शब्दार्थ—पुरिसा=हे पुरुष। तुममेव=तू ही। तुमं=तेरा। मित्तं=मित्र है। बहिया=बाहर के। मित्तं=मित्र की। किं इच्छसि=क्यों इच्छा करता है।

भावार्थ—हे जीव ! तू स्वयं ही तेरा मित्र है। बाहर के मित्र की इच्छा क्यों करता है ?

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

विवेचन—पूर्व सूत्र में मुमुक्षु के लिए संयम का अनुष्ठान करने का कहा गया है। यह संयम का अनुष्ठान आत्म-समाधि से ही सफल हो सकता है इसलिए सूत्रकार इस सूत्र में यह प्रकट करते हैं कि आत्मा अनन्त शक्ति-सम्पन्न है। आत्मा ही परम मित्र (सहायक) है। बाहर के मित्रों की क्या आवश्यकता है? हे पुरुष देहधारी आत्मन्! तू जो कुछ चाहता है, अनन्त काल से जो तेरा लक्ष्य बन रहा है और तू जो कुछ पाने के लिए लालायित हो रहा है वह तुझे कोई दूसरा नहीं दे सकता, वह तो तुझे अपने ही अन्दर से प्राप्त होगा। वह अक्षय सुख–वह तेरा लक्ष्य–तुझ में ही भरा हुआ है। तू जिसे ढूँढ रहा है वह स्वयं तू ही है।

जिस प्रकार कस्तूरी-मृग अपनी ही नाभि में रही हुई कस्तूरी के सौरभ से आकृष्ट होकर उसे पाने के लिए वन में चौकड़ियाँ भरता हुआ भागता है, छलांगें मारता हुआ दौड़ता है और सारे वन को पैरों तले रौंद डालता है लेकिन उसे उस सौरभ का उद्गम स्थान नहीं प्राप्त होता। वह अनजान मृग यह नहीं जानता कि जिस सौरभ के लिए मैं इतना परिश्रम उठा रहा हूँ, इतनी भाग-दौड़ कर रहा हूँ वह तो मुझ में ही है। मैं ही इस सुगन्ध का उद्गम हूँ। मेरी ही सुगंध से सारा वनखंड सुगन्धित है, मैं उसे लेने के लिए बाहर ढूँढता हूँ तो कैसे प्राप्त हो सकती है? जो चीज अन्दर है वह बाहर से कैसे प्राप्त हो सकती है? भोला मृग अपनी आन्तरिक वस्तु को बाहर ढूँढता है, इसके लिए घोर प्रयत्न करता है व घोर कष्ट उठाता है लेकिन वह वस्तु उसे कैसे प्राप्त हो सकती है? ठीक उसी तरह यह आत्मारूपी मृग अपने सुखमय स्वरूप को भूल गया है और बाहर से सुख पाने की आशा रखता है। वह सुख को बाहर ढूँढता है लेकिन जो आत्मा की वस्तु है वह बाहर कैसे मिल सकती है। वह प्राणी अनन्तता चाहता है लेकिन जहाँ-आत्मा में अनन्तता है वहाँ उसे नहीं ढूँढना चाहता लेकिन अन्त वाले नश्वर बाह्य पदार्थों में अनन्तता ढूँढता है। वहाँ वह अनन्तता कैसे प्राप्त हो सकती है? प्राणी अपने अनन्त एवं सुखमय स्वरूप को भूलकर ज्यों ज्यों बाह्य पदार्थों की शरण लेता है त्यों त्यों वह वासना में फँसता जाता है और अपने स्वरूप से दूर होता जाता है। नश्वर पदार्थों में अनन्तता और दुखरूप विषयों में सुख ढूँढना यही अज्ञान है।

इसीलिए सूत्रकार ने आत्म-शक्ति का भान कराने के लिए साधक से यह कहा है कि तू ही तेरा मित्र है। तू बाहर के मित्रों की इच्छा न कर। अपनी शक्ति का अपने में ही दर्शन कर। तू आत्म-दर्शन कर। तुझे उसमें अनन्त शक्ति का सागर लहराता हुआ मिलेगा।

सूत्रकार ने कहा है कि आत्मा ही अपना मित्र है। जो उपकारी हो उसे मित्र समझना चाहिए। पारमार्थिक, ऐकान्तिक और आत्यन्तिक उपकार करने वाला आत्मा के सिवाय अन्य कौन हो सकता है? जो सांसारिक साहाय्य देकर उपकार करते हैं वे द्रव्यमित्र कहलाते हैं। बाह्य मित्रों का उपकार पारमार्थिक नहीं हो सकता क्योंकि उससे परमपुरुषार्थ की सिद्धि नहीं होती है। जो परमपुरुषार्थ रूप साध्य में उपकारी होता है वही उपकार पारमार्थिक है। मित्रों का किया हुआ उपकार ऐकान्तिक नहीं होता क्योंकि उस उपकार से अपकार भी हो सकता है। इसी तरह बाह्य मित्रों का उपकार आत्यन्तिक नहीं हो सकता क्योंकि वह उपकार सदा के लिए टिक नहीं सकता अतः पारमार्थिक, ऐकान्तिक और आत्यन्तिक उपकार करने वाला मित्र अपना आत्मा ही है।

आत्मा ही अपना मित्र है इस कथन का मतलब यह है कि आत्मा की शुभ परिणति ही मित्र का काम करती है और आत्मा की परिणति जब अशुभ होती है तब वही वैरी का काम करती है। शुभ परिणति शुभकर्मों के बन्धन व उनके उदय से सुखरूप होने से मित्र है और अशुभ परिणति अशुभ कर्मों

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

के बन्धन के कारण व उनके उदय के कारण दुखरूप होती है अतः वैरी है। आत्म-परिणति को ही यहाँ आत्मा कहा गया है। शुभ और शुद्ध आत्म-परिणति अपना वास्तविक उपकार कर सकती है अतएव वही मित्र है।

यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि सूत्र में तो "तुमं" पद है और उसका अर्थ आत्मा से है फिर यहाँ आत्म-परिणति को मित्र कहा है तो क्या आत्मा और आत्मपरिणति में भेद नहीं हैं? यहाँ आत्म-परिणति को मित्र कहने का क्या प्रयोजन है?

इस प्रश्न का समाधान यह है कि द्रव्य और पर्यायों की अभिन्न विवक्षा से इस प्रकार कहा गया है। आत्मा द्रव्य है और आत्मपरिणति पर्याय है। द्रव्य और पर्याय में कथञ्चित् अभिन्नता है। इस अपेक्षा से आत्मा का अर्थ आत्मपरिणति लिया गया है। जिस प्रकार स्वर्ण के कलश को स्वर्ण और मिट्टी के घड़े को मिट्टी कहना युक्त है क्योंकि स्वर्ण द्रव्य है और कलश पर्याय है; मिट्टी द्रव्य है और घड़ा पर्याय है। द्रव्य और पर्याय की कथञ्चित् अभिन्नता है ही। वैसे ही आत्मा रूप उपादान से आत्मपरिणति होती है अतः आत्मपरिणति को आत्मा कह सकते हैं।

तात्पर्य यह हुआ कि शुभ परिणति वाला आत्मा ही सच्चा मित्र है। यह सूत्र साधकप्राणियों में स्वावलम्बन की स्फूर्ति उत्पन्न करता है। ठीक इसी तरह का उपदेश श्रीकृष्ण ने अर्जुन को दिया है। गीता में कहा है:—

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥

अर्थात्—हे अर्जुन! तुम ही तुम्हारे उद्धारक हो। मनुष्य को चाहिए कि वह अपना उद्धार आप ही करे। वह अपनी अवनति स्वयं न करे। क्योंकि प्रत्येक मनुष्य स्वयं अपना बन्धु (हितकारी) है और स्वयं अपना शत्रु है।

बौद्ध धर्म के मान्य ग्रन्थ धम्मपद में भी इसी प्रकार कहा गया है:—

अत्ता हि अत्तनो नाथो अत्ता हि अत्तनो गति ।
तस्मा संजमयऽत्ताणं अस्सं भद्दं व वाणिजो ॥ (धम्मपद, ३८०)

आत्मा ही स्वयं अपना स्वामी है और आत्मा के सिवा हमें तारने वाला दूसरा कोई नहीं है इसलिए जिस प्रकार कोई व्यापारी अपने उत्तम घोड़े का संयमन करता है उसी प्रकार हमें अपना संयमन आप ही भलीभांति करना चाहिए।

उपर्युक्त सभी कथनों का सार यह है कि आत्मा ही अपना मित्र है क्योंकि आत्मा ही आत्यन्तिक, ऐकान्तिक और पारमार्थिक सुख को देने वाला है। आत्मा जैसा हितकारी है वैसे ही अशुभ परिणति वाला आत्मा अपना अति अनिष्ट करने वाला शत्रु है। बाह्य शत्रु भौतिक अथवा शारीरिक हानि पहुँचा सकता है, वह आत्मा को हानि नहीं पहुँचा सकता है। कोई शत्रु धन छीन सकता है, कोई मकान को नुकसान पहुँचा सकता है, कोई शारीरिक अवयव का छेदन कर सकता है और अधिक से अधिक शरीर का अन्त कर सकता है। इससे बढ़कर वह आत्मा को नुकसान नहीं पहुँचा सकता। धन, मकान और

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

शरीर का सम्बन्ध आत्मा के साथ औपाधिक है। ये पर-पदार्थ चाहे किसी भी निमित्त से आगे या पीछे जाने वाले तो हैं ही तो शत्रु इनका हरण करके विशेष हानि नहीं पहुंचा सकता है लेकिन जब आत्मा में दुरात्मता प्रकट होती है तब यह घोर अनिष्ट कर देता है जो भवान्तरों में भी दुखों का कारण होता है। राग-द्वेष और कषायमय परिणति आत्मा में विकार पैदा करती है जिनके कारण संसार के भयंकर दुखों का भोग बनना पड़ता है। बलवान् शत्रु एक भव में कष्ट दे सकता है परन्तु दुष्ट अध्यवसाय रूप आत्म-परिणति भयंकर शत्रु बनकर जन्म-जन्मातरों तक शत्रुता रखकर पीड़ित करती है। अतः अशुभ परिणति वाला आत्मा अपना बड़ा भारी शत्रु है। कहा है:—

दुप्पत्थिओ अमित्तं अप्पा सुप्पत्थिओ अ ते मित्तं।
सुहदुक्खकारणाओ अप्पा मित्तं अमित्तं य॥

अर्थात्—विमार्ग पर चलने वाला आत्मा अपना शत्रु है और सन्मार्ग स्थित आत्मा परम मित्र है। यह आत्मा सुप्रस्थित होकर सुख देता है अतः मित्र है और यही आत्मा दुःप्रस्थित होकर दुख देता है अतः वैरी है। पुनश्च

अप्येकं मरणं कुर्यात् संक्रुद्धो बलवानरिः।
मरणानि त्वनन्तानि जन्मानि च करोत्ययम्॥

अर्थात्—बलवान् क्रोधित शत्रु अधिक से अधिक एक बार मार सकता है किन्तु यह दुःप्रस्थित आत्मा अनन्त जन्म और मरण करवाता है।

जैनदर्शन का कर्मवाद का सिद्धान्त निराश एवं अकर्मण्य बने हुए आत्माओं में वह नवजीवन डाल देता है जिसके कारण उन्हें आत्मशक्ति की प्रतीति होती है और आत्मदर्शन होने के बाद वे ऐसा सिंहनाद करते हैं जिसे सुनकर कर्मरूपी कुरंग भाग जाते हैं। यह आत्म-सामर्थ्य और स्वावलम्बन का बोध-पाठ है। साधक का कर्त्तव्य है कि वह सूत्रकार के इस सूत्र के द्वारा आत्मा में रही हुई अनन्त शक्ति का साक्षात्कार करे और अपनी आत्मा को अपना मित्र समझ कर धीरतापूर्वक अपने मार्ग पर प्रगति करता हुआ बढ़ता चले।

जं जाणिज्जा उच्चालइयं तं जाणिज्जा दूरालइयं, जं जाणिज्जा दूरालइयं तं जाणिज्जा उच्चालइयं।

संस्कृतच्छाया—यं जानीयादुच्चालयितारम् तं जानीयाद्दूरालयिकम्, यं जानीयात् दूरालयिकं तं जानीयादुच्चालयितारम्।

शब्दार्थ—जं=जिसको। उच्चालइयं=कर्मों को दूर करने वाला। जाणिज्जा=समझना चाहिए। तं=उसको। दूरालइयं=मोक्ष प्राप्त करने वाला। जाणिज्जा=समझना चाहिए। जं दूरालइयं=जिसको मोक्ष प्राप्त करने वाला। जाणिज्जा=समझना चाहिए। तं=उसको। उच्चालइयं=कर्मों का नाश करने वाला समझना चाहिए।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

भावार्थ—जो कर्मों को दूर करने वाला है वह मोक्ष को प्राप्त करने वाला है और जो मोक्ष प्राप्त करने वाला है, वह कर्मों को दूर करने वाला है ऐसा समझना चाहिए।

विवेचन—पूर्ववर्त्ती सूत्र में आत्म-शक्ति का भान कराया गया है। जीवात्मा को यह विश्वास और आश्वासन दिया गया है कि हे जीवात्मन्! तू अनन्त शक्ति का केन्द्र है। ये कर्म तेरे ही बनाये हुए हैं और तू ही इनसे भयभीत होता है? उठ, पुरुषार्थ कर और अपने ही उत्पन्न किए हुए कर्मों का स्वयं ही विनाश कर। आत्मा से ही आत्मा का उद्धार कर।

यह प्रेरक उपदेश देने के बाद सूत्रकार यह फरमाते हैं कि जो पुरुषार्थ-द्वारा कर्मों को दूर करता है वही मोक्ष का अधिकारी है और जो मोक्ष का अधिकारी होता है वही कर्मों को दूर करता है। इस प्रकार कर्म-विनाश और मोक्ष-प्राप्ति का हेतुहेतुमद्भाव प्रदर्शित किया है। जो कर्मों का और आस्रवों का विनाश करता है वही मोक्षमार्ग का अधिकारी है। जिसका लक्ष्य मोक्ष का होता है और जो तदनुसार प्रवृत्ति करता है वही कर्मों को दूर कर सकता है। आत्मा ही कर्म-बन्धन का कारण है और आत्मा ही मोक्ष का कारण है।

उपर्युक्त कथन से सूत्रकार ने आत्मा का कर्तृत्व और स्वातंत्र्य प्रतिपादन किया है। सांख्य-दर्शन में आत्मा को अकर्त्ता माना है और साथ ही कर्म-फल का भोक्ता माना है। जैसा कि कहा है:—

अकर्त्ता निर्गुणो भोक्ताऽऽत्मा कापिलदर्शने।

यह सांख्यों का कथन युक्ति-संगत नहीं है क्योंकि अगर आत्मा को नित्य और सर्वव्यापी कहकर उसे सर्वथा अकर्त्ता-निष्क्रिय माना जायगा तो वह सदा एकरूप रहेगा ऐसी अवस्था में चतुर्गति-रूप संसार और मोक्ष कैसे सिद्ध होगा? इसके अतिरिक्त आत्मा यदि कर्मों का कर्त्ता नहीं है तो अकृत कर्मों का फल कैसे भोग सकता है? अगर अकृत कर्मों का फल भोगता है तो ऐसे भोग की कदापि समाप्ति नहीं होगी। इसी प्रकार आत्मा को अक्रिय मानने से गतियाँ भी सिद्ध नहीं हो सकती हैं। कहा भी है:—

को वेएइ अकयं, कयनासो पंचहा गई नत्थि।
देवमणुस्सगयागइजाइस्सरणाइयाणं च ॥

आत्मा अगर कर्म नहीं करता है तो अकृत कर्म का फल कैसे भोग सकता है? निष्क्रिय होने से आत्मा कर्म का फल नहीं भोग सकता अतः कृतकर्म निष्फल हो जावेंगे। आत्मा को कूटस्थ नित्य मानने पर पाँच प्रकार की गतियाँ सिद्ध नहीं हो सकती हैं। आत्मा को सर्वव्यापी मानने पर देव-मनुष्यादि गतियों में आवागमन नहीं हो सकता तथा इसे नित्य मानने के कारण विस्मरण भी नहीं हो सकता। अतः जातिस्मरणादि ज्ञान का अभाव हो जायगा। क्योंकि विस्मरण होने पर ही स्मरण हो सकता है।

अतएव आत्मा को कर्त्ता मानना चाहिए। आत्मा को सर्वथा अक्रिय मानना और साथ ही भोक्ता मानना आश्चर्यजनक है। "भोगना" भी एक क्रिया ही है, जो अकर्त्ता है वह भोग-क्रिया का कर्त्ता नहीं हो सकता। कर्त्ता और हो और भोक्ता और हो यह तो असंगत बात है। अतएव आत्मा ही कर्त्ता है और वही स्वयं भोक्ता है।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

कई लोग आत्मा को कर्त्ता तो मानते हैं लेकिन स्वयं भोक्ता नहीं मानते हैं। उनका कहना है कि आत्मा स्वयं सुख-दुख नहीं भोगता है वरन् ईश्वर कर्म का फल देता है। ईश्वर-प्रेरित होकर ही जीव नरक या स्वर्ग में जाता है। यह मान्यता प्रतीति के विरुद्ध है। जो कार्य करता है वही फल का भोक्ता होना चाहिए। कर्त्ता की क्रिया ही फल देने वाली समझनी चाहिए। जो विष का भक्षण करता है वह मरता है। इसमें विष ही मारक हुआ न कि ईश्वर। अगर ईश्वर मारक है तो विष निरर्थक हुआ। शराबी शराब पीता है और नशा ईश्वर चढ़ाता है और मिरची खाकर धूप में खड़े रहने वाले को ईश्वर प्यास लगाता है यह मानना संगत नहीं है। वस्तुतः शराब में ही नशा चढ़ाने का गुण है और मिरची और धूप में ही प्यास लगाने का गुण है। जीव के निमित्त से ये पदार्थ अपना गुण दिखाते हैं। अतः पदार्थों की शक्ति माननी चाहिए। इसी तरह जीव कर्त्ता है अतः वह स्वयं इसका भोक्ता होना चाहिए।

यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि चोर चोरी करता है लेकिन वह स्वयं उसका बुरा फल भोगने को तैयार नहीं होता, उसे अपनी क्रिया का दण्ड देने के लिए राजा की आवश्यकता रहती है इसी तरह जीव कार्य तो कर लेता है किन्तु उनका फल स्वयं भोगना नहीं चाहता अतएव ईश्वर उसे दण्ड देता है। यह प्रश्न योग्य नहीं है क्योंकि जीव कर्म करने में स्वतंत्र है लेकिन जब वह कर्म कर चुकता है तब वह उस कर्म के अधीन हो जाता है इसलिए भले ही वह फल न भोगना चाहे तो भी वह कर्म उसे फल देता ही है। जैसे एक मनुष्य मिरची खाने के लिए स्वतंत्र है। उसकी इच्छा हो तो वह मिरची खावे अथवा न खावे लेकिन जब वह मिरची खा चुकता है तब तो वह उसके गुण दोष के अधीन हो जाता है। मिरची खा चुकने पर वह चाहे कि मुझे प्यास न लगे तो ऐसा नहीं हो सकता। मिरची अपना गुण बता-*देगी ही। तात्पर्य यह है कि कर्म कर चुकने पर कर्त्ता कर्म के अधीन हो जाता है। इसलिए जीव जो भी शुभ या अशुभ कर्म करता है उसका फल उसे इच्छा से या अनिच्छा से अवश्यमेव भोगना पड़ता है।* अतएव यह सिद्ध हुआ कि आत्मा ही कर्म का कर्त्ता है और कर्म-फल का भोक्ता है। जो कर्मों का नाश कर देता है वह मुक्तात्मा है।

पुरिसा ! अत्ताणमेव अभिणिगिज्झ एवं दुक्खा पमुच्चसि, पुरिसा सच्चमेव समभिजाणाहि, सच्चस्स आणाए से उवट्ठिए मेहावी मारं तरइ, सहिओ धम्ममायाय सेयं समणुपस्सइ।

संस्कृतच्छाया—हे पुरुष ! आत्मानमेवाभिनिगृह्य, एवं दुःखात् प्रमोक्ष्यसि, हे पुरुष ! सत्यमेव समभिजानीहि, सत्यस्याज्ञयोपस्थितः मेधावी मारं तरति, सहितो धर्ममादाय श्रेयः समनुपश्यति।

शब्दार्थ—पुरिसा=हे पुरुष ! अत्ताणमेव=अपने आपका। अभिणिगिज्झ=निग्रह कर। एवं=ऐसा करने से। दुक्खा=दुख से। पमुच्चसि=छूट जायगा। पुरिसा=हे जीव। सच्चमेव=सत्य का ही। समभिजाणाहि=सेवन करो। सच्चस्स=सत्य की। आणाए=आज्ञा में। उवट्ठिए=उपस्थित। से मेहावी=वह बुद्धिमान्। मारं=संसार को। तरइ=तैरता है। सहितो=ज्ञानादि युक्त हो। धम्ममादाय=यथार्थ धर्म को ग्रहण कर। सेयं=कल्याण। समणुपस्सइ=देखता है

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

भावार्थ—हे पुरुष ! तेरी आत्मा को विषयमार्ग में जाते हुए रोक। ऐसा करने से तू दुखों से छूट सकेगा। हे पुरुष ! तू सत्य का ही सेवन कर क्योंकि सत्य की आज्ञा में प्रवर्तित बुद्धिमान् साधक संसार को तिर जाते हैं और श्रुतचारित्र-रूप धर्म का यथार्थ-रूप से पालन कर कल्याण प्राप्त करते हैं।

विवेचन—पहिले यह प्रतिपादन किया जा चुका है कि आत्मा की शक्ति अनन्त है और आत्मा कर्म करने और उसका फल भोगने में स्वतंत्र है। साथ ही यह भी कहा जा चुका है कि आत्मा ने कर्म के बन्धन में पड़कर अपनी स्वतंत्रता गुमा दी है और वह इन्द्रिय एवं मन का गुलाम बन गया है। इन्द्रियाँ और मन उसे विषयों की ओर खींच लेते हैं जिससे आत्मा अपनी स्वतंत्रता और अपना स्वरूप खोकर जड़ता की ओर बढ़ता है।

कर्म-बद्ध जीवात्मा यद्यपि स्वतंत्र नहीं है तो भी उसे स्वतंत्रता प्राप्त हो सकती है। यह स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए अपने अन्तर में डुबकी मारने की आवश्यकता है। इन्द्रियों के ऊपर बाह्य जगत् की जो क्रियाएँ होती हैं उनसे अपना स्वरूप भिन्न है ऐसा बराबर अनुभव होना चाहिए। इसका अर्थ ऐसा है कि हमें आत्माभिमुख बनना चाहिए और आत्माभिमुख होकर ही जीवन बिताना चाहिए। बाह्य पदार्थों की ओर दौड़ती हुई इन्द्रियों को रोकना सीखना चाहिए। विषयों का आकर्षण और आत्माभिमुखता ये दो परस्पर विरोधी वस्तु हैं। जहाँ विषयों की आसक्ति है वहाँ आत्माभिमुखता टिक नहीं सकती। इसलिए सूत्रकार ने यह कहा है कि हे पुरुष ! तू अपना निग्रह करना सीख। इन्द्रियाँ जो पदार्थ चाहती हैं उनके बिना भी काम चला लेना आध्यात्मिक जीवन की शुरुआत है। जब तक मनुष्य इस तरह इन्द्रियों से परे नहीं हो जाता तब तक उसे आत्मा की सच्ची प्रतीति नहीं हो सकती।

इन्द्रिय-सुखों में आसक्ति होना कामनाओं का परिणाम है। कामनाएँ जड़ जगत् की जननी हैं। कामना संसार का पाया है। कामनाएँ इन्द्रिय-सुख में और तीव्र आवेशों में संतोष मानती हैं। हमें उनका सम्पूर्ण त्याग करना चाहिए। जब कामनाएँ दूर हो जाती हैं तब आवेश-रहित शान्त चित्त में सभी विकल्प अपने आप शान्त हो जाते हैं क्योंकि संकल्पों का कारण बाह्य-इन्द्रियों का हर्ष या शोक अथवा राग और द्वेष है। यह दूर होते ही आत्मा आत्मभाव में स्थित हो जाता है। इसीलिए सूत्रकार फरमा रहे हैं कि आत्मा को विषय-संग से रोक रखो। आत्म-निग्रह करो। ऐसा करने से ही विभाव-रूप दुख छूटेगा और सहज सच्चिदानन्द स्वभाव प्रकट हो जायगा।

साधक आत्मनिग्रह करने का प्रयास करता है तब यह संभव है कि पूर्वाभ्यासों (पूर्व संस्कारों) के कारण वृत्तियाँ आत्मा को बाह्य पदार्थों की ओर आकृष्ट करें। उस समय साधक का यह कर्त्तव्य है कि वह ऐसे पूर्व संस्कारों की अधीनता न स्वीकारे और नवीन सत्यदृष्टि से अवलोकन करे। पूर्वसंस्कारों के कारण यदि आत्मा वृत्तियों का साथ दे तो गहरा पतन अवश्यंभावी है। क्योंकि इससे वे संस्कार अधिक दृढ़ बनते हैं और ज्यों-ज्यों पूर्वाभ्यास दृढ़ होते हैं त्यों-त्यों राग-द्वेष बढ़ता है और संसार की वृद्धि होती है। अतएव साधक का कर्त्तव्य है कि जब पूर्वाभ्यास अपना प्रभाव दिखाने लगें तब सत्यदृष्टि से आत्मस्वरूप का चिन्तन करे और सत्य की ओर प्रवृत्ति करे ताकि उन संस्कारों का प्रभाव क्रमशः क्षीण होता चला जाय।

सूत्रकार ने फरमाया है कि विषय-संग से निवृत्त होकर सत्य की ओर प्रवृत्ति कर। सत् का अर्थ है "होना" अर्थात्-जो वस्तु का सच्चा स्वरूप है तद्रूप होना। वस्तु के बाह्य औपाधिक रूप को न देखकर

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

उसके सच्चे स्वरूप को निरखना ही सत्य है। जिसने इस सत्य को अपने जीवन में उतारा है वह साधक संसार-समुद्र से समुत्तीर्ण हो जाता है। उसका कल्याण हो चुकता है। यह सत्य ही साधक का ध्येय होना चाहिए और इसी सत्यमय जीवन के लिए सकल पुरुषार्थ करने चाहिए। सत्य ही साधना का साध्य है।

दुहओ जीवियस्स परिवंदणमाणणपूयणाए जंसि एगे पमायंति। सहिओ दुक्खमत्ताए पुट्ठो नो झंझाए, पासिमं दविए लोयालोयपवंचाओ मुच्चइ त्ति बेमि।

संस्कृतच्छाया—*द्विहतः जीवितस्य परिवंदनमाननपूजनार्थं, यस्मिन्नेके प्रमाद्यन्ति। सहितः दुःखमात्रया स्पृष्टः नो व्याकुलितमतिर्भवेत्, पश्येमं द्रव्यः लोकालोकपपञ्चान्मुच्यते, इति ब्रवीमि।*

शब्दार्थ—**दुहओ=रागद्वेष वाला साधक। जीवियस्स=जीवन के। परिवंदणमाणणपूयणाए=वन्दन, सत्कार और पूजा के लिए पापकर्म करते हैं। जंसि=जिसमें। एगे=कितनेक। पमायंति=खुशी मानते हैं। सहिओ=ज्ञानसम्पन्न साधु। दुक्खमत्ताए=दुख की मात्रा से। पुट्ठो=स्पृष्ट होने पर। नो झंझाए=न घबरावे। पास इमं=यह देख। दविए=ऐसे साधु। लोयालोयपवंचाओ=संसार के प्रपञ्च से। मुच्चइ=मुक्त हो जाते हैं। त्ति बेमि=ऐसा मैं कहता हूँ।**

भावार्थ—राग और द्वेष से कलुषित कतिपय साधक इस क्षण-भंगुर जीवन के लिए, कीर्ति, मान और पूजा प्राप्त करने के लिए पापकर्म करने में मशगूल रहते हैं और ऐसे पापकर्म से प्राप्त कीर्ति आदि में प्रसन्नता का अनुभव करते हैं। इसलिए साधक साधना के मार्ग में आने वाले दुख या प्रलोभनों से व्याकुल न हो। हे प्रिय जम्बू! मैं कहता हूँ कि समदृष्टि और मोक्षार्थी साधक संसार के समस्त प्रपंचों से मुक्त हो जाते हैं।

विवेचन—इसके पूर्ववर्ती सूत्र में सत्य-दृष्टि को ध्येय बनाने का कहा गया है। इसी ध्येय से की गई साधना सफल हो सकती है। वस्तु का स्वरूप अधिक स्पष्ट करने के लिए स्वरूप का कथन और पर-रूप की व्यावृत्ति का कथन आवश्यक है। धर्म का स्वरूप समझने के लिए अधर्म का स्वरूप जानना जरूरी है। धर्म से होने वाले लाभ के साथ अधर्म से होने वाली हानियाँ जानने से धर्म की ओर विशेष प्रवृत्ति हो सकती है। इसी तरह अप्रमाद के गुण-वर्णन के बाद सूत्रकार प्रमाद से होने वाली हानियाँ बताकर उनसे निवृत्ति करने का उपदेश देते हैं।

साधक अवस्था में जिनके विषय-लिप्सा आदि विकार नष्ट हो गये हों ऐसे साधक मिल जाते हैं परन्तु ऐसे साधकों को भी कीर्ति, मान, पूजा और प्रतिष्ठा का भूत लग जाता है। यह प्रतिष्ठा का लोभ—यह कीर्ति-लालसा साधना के सत्य-ध्येय को भुला देती है और साधक रागद्वेष में फँसकर संसार-वृद्धि कर लेता है। इसलिए सूत्रकार यह बताते हैं कि साधक का ध्येय-कल्याणार्थी का लक्ष्य बाह्य आकर्षण नहीं लेकिन सत्य ही होना चाहिए। आत्माभिमुख होना ही सच्चा लक्ष्य होना चाहिए। कीर्ति आदि की लालसा

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

से किया हुआ तपश्चरण आदि आत्मा के लिए हितकर नहीं होता। आत्माभिमुख होकर और सत्य को लक्ष्य में रखकर जो क्रिया की जाती है वही आत्म-साधिका होती है।

यह बाह्य-जीवन और बाह्य पदार्थ केले के गर्भ के समान निस्सार हैं। जिस प्रकार केले के पत्र एक के बाद एक निकलते ही जाते हैं उनमें से सार नहीं निकलता है इसी प्रकार ये बाह्य पदार्थ सारहीन और असार हैं। तथा जिस प्रकार बिजली अति चञ्चल है उसी तरह ये बाह्य पदार्थ अस्थिर हैं। इस असार और अस्थिर जीवन के लिए और परिवन्दन, मानन और पूजादि के लिए, हिंसादि पापकर्म करना क्या अच्छा है? परिवन्दन का अर्थ है मनुष्यों के द्वारा स्तुति और प्रशंसा का किया जाना अर्थात् वचन द्वारा कीर्ति करना परिवन्दण है। मान का अर्थ है—माननीय के आने पर उठ जाना, आसन-प्रदान करना, अञ्जलि जोड़ना आदि। पूजा का अर्थ है वस्त्रादि के दान के द्वारा सत्कार करना।

लोग वचन द्वारा मेरी कीर्ति करें, मेरी प्रशंसा में गीत बनावें, मेरे आने पर मेरे सत्कार के लिए उठें, मुझे उच्च आसन प्रदान करें, वस्त्रादि द्वारा सन्मान करें, इस भावना से प्रेरित होकर साधक अनुचित पापकर्म में प्रवृत्त हो जाते हैं। इतना ही नहीं लेकिन ऐसे कार्यों द्वारा जब उन्हें कीर्ति मिलती है तो वे उसमें मशगूल हो जाते हैं—उसमें अद्भुत आनन्द मानते हैं। परन्तु सूत्रकार फरमाते हैं कि ये आत्महित के लिए नहीं हैं। जिस कार्य के लिए—जिस उद्देश्य से बाह्य पदार्थों का त्याग करके चारित्रमार्ग अङ्गीकार किया है उसकी इससे सिद्धि नहीं होती। ये क्रियाएँ संसार-समुद्र से पार नहीं कर सकतीं। सत्यदृष्टि को सन्मुख रखकर—आत्माभिमुख होकर जो क्रियाएँ की जाती हैं वे ही साध्य को सिद्ध कर सकती हैं। उन्हीं से मोक्ष हो सकता है।

साधना के मार्ग में साधक को संकट और प्रलोभन उपस्थित होते हैं। ऐसे समय साधक को विह्वल न होकर संसार के आकर्षण से दूर रहना चाहिए। संकटों की अपेक्षा प्रलोभनों में विशेष सावधान रहने की आवश्यकता है। द्वेष की अपेक्षा राग को जीतना कठिन है। यद्यपि आये हुए संकटों को—मानसिक वृत्ति के प्रतिकार के सिवा—शान्ति से सहन करने में कम आत्मसामर्थ्य की अपेक्षा नहीं रहती लेकिन इससे भी अधिक सावधानी प्रलोभनों के संयोगों में रखनी चाहिए क्योंकि प्रलोभनों के निमित्तों से मन चञ्चल होने पर शीघ्र पतन हो जाता है। यह पतन इतना गहरा और भयंकर होता है कि पुनः उत्थान की ओर अग्रसर होना कठिन हो जाता है। अतएव ज्ञानियों का यह अनुभव है कि प्रलोभनों के निमित्तों की अपेक्षा संकट के निमित्त कम हानि-कारक हैं। अतः साधक का यह कर्त्तव्य है कि दुखों से और प्रलोभनों से विह्वल न हो और सत्य-लक्ष्य की ओर बढ़ता रहे।

जिस प्रकार एक कुशल नट रस्सी पर चलता है। उसके आस-पास एक तरफ गहरी और भयंकर खाई है और दूसरी तरफ नुकीले पत्थरों का ढेर है। ऐसे समय में ही उसकी कार्यदक्षता की कसौटी होती है। इसी तरह जिस साधक ने सत्य-दृष्टि को साध्य बना लिया है—सत्य ही जिसका एक मात्र लक्ष्य है—वह अनेक इष्ट और अनिष्ट निमित्तों से गुजरता हुआ भी उनकी ओर नहीं देखता है। वह हृदय पर भय, राग व द्वेष का प्रभाव नहीं पड़ने देता। ऐसा साधक धीरे-धीरे अपनी मंजिल तय कर लेता है। सच्चा समदृष्टि और मोक्षार्थी साधक लोक के समस्त प्रपञ्च से मुक्त हो जाता है।

"लोयालोयपवंचाओ" का अर्थ है कि "लोके आलोक्यते इति लोकालोकः" लोक में दिखाई देने वाले प्रपञ्चों से मुक्त हो जाता है। शास्त्रकार ने पहिले कह दिया है कि "पासगस्स उवाही णत्थि" समदृष्टि

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

वाले साधक को किसी प्रकार की उपाधि नहीं रहती। ऐसे साधक के लिए संसार-व्यवहार नहीं होता। वह गतियों से मुक्त हो जाता है। अर्थात्-वह सच्चा आत्म-स्वरूप प्राप्त कर लेता है। अतः समदृष्टि का विकास करना साधक का सच्चा कर्त्तव्य है।

—उपसंहार—

त्याग में प्रमाद को स्थान नहीं होना चाहिए। संसार के समस्त जीवों को आत्मवत् जानकर प्रत्येक क्रिया में सदा जागृत रहना अप्रमाद है। समभाव की प्राप्ति के बिना जीवन अप्रमत्त नहीं बन सकता। जहाँ बाह्यदृष्टि है वहाँ शुद्ध समभाव नहीं रह सकता है। इसलिए समभाव की साधना अवश्य करनी चाहिए। कर्मों के विचित्र परिणाम को समभावी ही सरलता से सहता है क्योंकि वह जानता है कि जो कर्म का कर्त्ता है उसे फल भोगना ही पड़ता है। आत्मार्थी का ध्येय सत्य ही हो सकता है। विषयों का वेग रोके बिना सत्य-लक्ष्य की प्राप्ति अशक्य है। आत्मानन्द को चखने पर बाह्य-दृष्टि अपने आप विलीन हो जाती है। समदृष्टि और मोक्षार्थी साधक सत्य को लक्ष्य बनाकर पूर्ण बन जाता है। ऐसा श्री सुधर्मास्वामी ने अपने शिष्य जम्बूस्वामी से कहा है।

इति तृतीयोद्देशकः

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

शीतोष्णीय नाम तृतीय अध्ययन

—चतुर्थोद्देशकः—

(कषाय-त्याग)

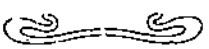

शीतोष्णीय अध्ययन के तीन उद्देशक कहे जा चुके हैं। अब चतुर्थ उद्देशक प्रारम्भ होता है। इन तीन उद्देशकों में भावनिद्रा, त्याग-मार्ग की आवश्यकता और त्याग में अप्रमत्तता का वर्णन किया गया है। प्रस्तुत उद्देशक में त्याग का फल प्रतिपादित करेंगे। तृतीय उद्देशक में यह कहा गया है कि बाह्य-दृष्टि से पापकर्म नहीं करने से या शारीरिक कष्ट सहन करने मात्र से कोई श्रमण नहीं हो सकता वरन् निराबाध रूप से संयम का अनुष्ठान करने से ही श्रमणत्व प्रकट होता है। संयम का लक्ष्य सत्य का साक्षात्कार करना है यह पूर्व उद्देशक में बतलाया गया है। इस सत्य को लक्ष्य में रखकर जो क्रिया करता है वह समभाव की क्रिया होने से सार्थक है। यदि उद्देश्य शुद्ध नहीं है तो वह शुद्ध चारित्र की क्रिया नहीं कही जा सकती है। इसलिए कई देह का दमन करने वाले बाल-तपस्वियों का कष्ट-सहन आत्मिक उन्नति का कारण नहीं कहा गया है। जहाँ समभाव-रूप शुद्ध लक्ष्य है वहीं चारित्र है। जहाँ समभाव है वहाँ साधुता है। जहाँ साधुता है वहाँ समभाव होना ही चाहिए। यह समभाव कषायों का त्याग किए बिना नहीं प्रकट हो सकता इसलिए इस उद्देशक में कषाय-त्याग का उपदेश दिया गया है।

त्यागी किसी वेश, दर्शन, पंथ, संप्रदाय और फिरके से नहीं पहचाना जाता है लेकिन कषायों का शमन ही उसके त्याग की आदर्शता का मापकयन्त्र है। जहाँ जितनी कषायों की शान्ति या क्षय है वहाँ उतनी ही त्यागवृत्ति है। त्याग कषायों को हल्का करता है। जो त्याग कषायों को बढ़ाता है वह त्याग ही नहीं है। कषायों की उपशान्ति होना, यह त्याग का फल है। अतः इस उद्देशक में कषाय-त्याग के लिए उपदेश दिया जाता है:—

से वंता कोहं च माणं च मायं च लोभं च, एयं पासगस्स दंसणं, उवरयसत्थस्स, पलियंतकरस्स आयाणं सगडब्भि।

संस्कृतच्छाया—*स वमिता क्रोधञ्च, मानञ्च, मायाञ्च, लोभं च, एतत् पश्यकस्य दर्शनमुपरत-शस्त्रस्य पर्यन्तकरस्यादानं स्वतोभिद् (भवति)।*

शब्दार्थ—से=वह त्यागी। कोहं च=क्रोध को। माणं च=मान को। मायं च=माया को। लोभं च=और लोभ को। वंता=छोड़ने वाला होता है। आयाणं=जो कर्मास्रवों को वमन करता है। सगडब्भि=वह अपने कर्मों का भेदन करता है। एयं=यह। उवरयसत्थस्स=

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

द्रव्य-भाव शस्त्रों से निवृत्त। पलियंतकरस्स=कर्मों का अन्त करने वाले। पासगस्स=सर्वज्ञ भगवान् महावीर का। दंसणं=उपदेश और अभिप्राय है।

भावार्थ—प्रिय जम्बू! जो त्याग का उपासक है वह अवश्य ही क्रोध, मान, माया और लोभ का वमन करता है। जो कर्मास्रवों का वमन (त्याग) करता है वह अपने कर्मों का भेदन करता है। ऐसा द्रव्य-भाव-शस्त्र से सर्वथा परे रहने वाले, कर्मों का अन्त करने वाले सर्वदर्शी सर्वज्ञ भगवान् महावीर का उपदेश और अभिप्राय है।

विवेचन—प्रत्येक पदार्थ और प्रत्येक क्रिया का परिणाम अनुभव में आता है। जो जहर खाता है वह मरता है और जो अमृत का सेवन करता है वह अमर बनता है। यह पदार्थों का परिणाम दृष्टि-गोचर होता है। बालक वर्णमाला सीखता है और धीरे-धीरे वह पुस्तक पढ़ने लगता है। उसके पुस्तक पढ़ने से यह मालूम होता है उसकी वर्णमाला के सीखने की क्रिया सफल हुई। अगर वह पुस्तक नहीं पढ़ सकता है तो उसका वर्णमाला का ज्ञान यथोचित नहीं है। वर्णमाला सीखने का परिणाम भी प्रतीत होता है। व्यापारी व्यापार करता है तो उसका परिणाम लाभ-हानि स्पष्ट अनुभव में आता है। इसी प्रकार त्याग का परिणाम भी अनुभव में आना चाहिए। त्याग का परिणाम है कषायों का उपशम और उनका त्याग। जितने अंशों में कषायों का शमन है उतने ही अंशों में त्याग समझना चाहिए। कषायों का शमन ही त्याग की सफलता का सूचक है। त्याग की उज्ज्वलता या मलिनता का मापदण्ड कषायों की शान्ति अथवा तरतमता है। जो त्यागी है उसके कषाय अवश्य मिटने चाहिए।

पहिले यह कहा जा चुका है कि समभाव पर ही साधुता निर्भर है और समभाव कषायों की निवृत्ति के बिना नहीं हो सकता है। अतः त्यागी तो क्रोध, मान, माया और लोभ रूप कषायों का अवश्यमेव त्याग करता है।

क्रोध, मान, माया और लोभ कषाय क्यों कहलाते हैं? कषाय शब्द का अर्थ क्या है? यह स्पष्ट कर देने की आवश्यकता है।

कम्मं कसं भवो वा कसमाओ सिं जओ कसाया ते।
कसमायंति व जओ गमयंति कसं कसायत्ति॥
आओ व उवादाणं तेण कसाया जओ कसस्साया।
चत्तारि बहुवयणाओ एवं विइयादओऽवि गया॥

भावार्थ—कष का अर्थ है कर्म और भव। जिससे कर्म की और संसार की आय-प्राप्ति हो उसे कषाय कहते हैं। अथवा कर्म या संसार का जिससे आदान (ग्रहण) हो वह कषाय है अथवा जिसके होने पर जीव कर्म या संसार को प्राप्त करें वह कषाय है अथवा आय का अर्थ उपादान कारण है। संसार और कर्म का उपादान कारण होने से वह कषाय कहलाता है। बहुत्व की अपेक्षा इसके चार भेद हैं इसी तरह और भेद भी समझने चाहिए।

कषाय की उपर्युक्त व्युत्पत्तियों से यह स्पष्ट हो गया है कि कषाय कर्म और संसार के कारण हैं। कषाय से ही भव-भ्रमण और कर्म बन्ध है। कषायों के बिना कर्मों का बन्ध नहीं होता और कर्म-बन्ध के अभाव में भव-भ्रमण नहीं हो सकता। उमास्वामी ने तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है कि:—

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

"सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः"

अर्थात्—जीव कषाय के योग से कार्मण वर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करता है वही बन्ध है। इससे स्पष्ट है कि बन्ध में कषायों की प्रमुखता है। कषाय आत्मा के सम्यक्त्व और चारित्र गुण का घात करते हैं अतएव इनका स्वरूप समझ कर त्याग करना चाहिए।

कषाय के मुख्य चार भेद हैं जिनका शास्त्रकार ने सूत्र में उल्लेख किया है:—(१) क्रोध (२) मान (३) माया और (४) लोभ।

क्रोध—क्रोध नामक चारित्र-मोहनीय कर्म के उदय से होने वाला, उचित-अनुचित का विवेक नष्ट कर देने वाला, प्रज्वलनरूप आत्मा का परिणाम क्रोध कहलाता है। क्रोध विवेकरूपी दीप को नष्ट कर देता है। इस अवस्था में जीव ऐसा बेभान हो जाता है कि वह पागल की भांति अनर्गल बोलने लगता है और अनेक दुष्कृत्य कर बैठता है। क्रोध में मनुष्य अपने आपको भूल जाता है। क्रोध के आवेश में मनुष्य ऐसे कुकृत्य कर डालता है जिनका उसे क्रोध के शान्त होने पर बहुत पश्चात्ताप होता है। इतना ही नहीं लेकिन क्रोधावेश में ऐसे भी कार्य हो जाते हैं जो बहुत पछताने पर भी फिर नहीं सुधर सकते। क्रोधी मनुष्य व्यक्ति का ही नहीं परन्तु देश के देश का नाश कर देता है। दूसरों के नाश के साथ ही साथ क्रोधी मनुष्य अपना भी घोर अनिष्ट कर बैठता है। क्रोध के कारण कई मूढ़ लोग अपने जीवन का अन्त कर डालते हैं। कोई कूप में गिर पड़ता है, कोई जल मरता है। इस तरह क्रोध आत्म-हत्या के रूप में भी परिणत होता है। क्रोध के विषय में कहा है:—

उत्पद्यमानः प्रथमं दहत्येव स्वमाश्रयम्।
क्रोधः कृशानुवत्पश्चादन्यं दहति वा न वा॥

अर्थात्—जिस प्रकार अग्नि चाहे अन्य को जलावे या न जलावे लेकिन अपने आश्रय-स्थान को तो अवश्य जलाती है उसी तरह उत्पन्न हुआ क्रोध अपने आश्रय अन्तःकरण को तो अवश्य जलाता है; चाहे दूसरों को हानि पहुँचावे या न पहुँचावे। तात्पर्य यह हुआ कि क्रोधी अपनी हानि तो करता ही है। उसका अन्तःकरण कोयले की तरह जलता रहता है। यह शान्ति और समभाव का बाधक है अतः इसका निग्रह करना चाहिए।

मान—मान नामक मोहनीय कर्म के उदय से होने वाला, जाति, कुल, बल, ऐश्वर्य, रूप, तप, आदि का अहंकार रूप आत्मा का विभाव परिणाम मान कहलाता है। इस कषाय के वशीभूत होकर जीव आदरणीय पुरुषों का आदर नहीं करता, गुणियों के गुण का सन्मान नहीं करता और उसके अन्तःकरण से नम्रता का गुण चला जाता है। इस कषाय के वशीभूत होने से संसार में अनेक तरह के कलह और युद्ध देखने में आते हैं। अभिमान के कारण भी पुरुष अंधा हो जाता है। उस पर एक प्रकार का नशा चढ़ जाता है जिसके मद में वह अपने स्वरूप को भूल जाता है। अभिमानी मनुष्य अपने आपको बड़ा मानकर अन्य का तिरस्कार करता है किन्तु दुनियाँ की दृष्टि से वह हीन समझा जाता है। दुनियाँ में एक से एक बढ़कर बलवान्, धनवान्, विद्वान् पुरुष विद्यमान हैं उनकी ओर दृष्टिपात करने से यह अभिमान का नशा नहीं ठहर सकता है। अभिमानी व्यक्तियों की कभी प्रतिष्ठा नहीं हो सकती। उनका यह अभिमान दूसरों की हित-शिक्षा नहीं सुनने देता है अतएव अभिमानी का कल्याण भी दुष्कर है। मुमुक्षुओं को इसका त्याग करना चाहिए। माननिग्रह से सच्चा मान मिलता है।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

माया—माया नामक मोहनीय कर्म से उत्पन्न होने वाली, मन, वचन और काया की कुटिलता रूपी आत्मा की विकृत परिणति माया है। माया संसार के मूल को सींचती है, माया अनेक दोषों को जन्म देती है। जहाँ हृदय की सरलता है वहीं धर्म की भूमिका है और माया धर्म की भूमि को ही नष्ट कर देती है। मायावी पुरुष अप्रतीति के पात्र होता है। उसका मन सदा मैला रहता है। अतः उज्ज्वल मोक्ष को चाहने वाले भव्यात्माओं को इसका निग्रह करना चाहिए। अन्तःकरण में उगी हुई माया रूपी वल्लरी को सरलता रूपी कुल्हाड़ी से छेद कर फेंक देना चाहिए।

लोभ—लोभ मोहनीय कर्म के उदय से होने वाला, ममता और तृष्णारूप आत्म-परिणाम लोभ है। यह लोभ पाप का बाप है। इसी के कारण बाह्य पदार्थों में आकर्षण मालूम होता है और आत्मरमण में बाधा पहुँचती है। यह लोभ संसार को दुखमय बनाता है। इसके कारण भयंकर युद्ध लड़े जाते हैं और करोड़ों मानवों का संहार किया जाता है। यह बड़े २ त्यागी और साधु कहे जाने वालों के हृदय में भी गुप्त रूप से सूक्ष्मतया बना रहता है। सामान्य-जन तो इसके चक्कर में पड़े ही हैं। इस कषाय को जीतने के लिए मुमुक्षु को पूरा ध्यान रखना चाहिए।

इस प्रकार ये चार कषाय जन्ममरण रूप संसार के मूल का सिञ्चन करते हैं। यहाँ यह कहा जा सकता है कि चार कषायों में पहिले क्रोध को और अन्त में लोभ को स्थान क्यों दिया गया? यही क्रम रखने का क्या प्रयोजन है?

इस प्रश्न का टीकाकार ने इस प्रकार समाधान किया है कि इन कषायों का क्षय और उपशम इसी क्रम से होता है। लोभ का क्षय सबसे अन्त में होता है। सूक्ष्म सम्पराय नामक दसवें गुणस्थान में भी संज्वलन लोभ शेष रह जाता है। इन चार कषायों में प्रथम क्रोध, फिर मान, पश्चात् माया और अन्त में लोभ का क्षय अथवा उपशम होता है इस अपेक्षा से कषायों का यही क्रम रक्खा गया है।

क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायों की तरतमता देखी जाती है। किसी को ऐसा क्रोध आता है कि वह बड़ी कठिनाई से शान्त होता है और किसी को क्रोध आ जाता है लेकिन थोड़े ही समय बाद उसे अपने कार्य पर पश्चात्ताप होता है। मानना पड़ेगा कि दोनों व्यक्तियों के क्रोध में अन्तर रहा हुआ है। इस अन्तर को स्पष्ट समझाने के लिए कषायों में से प्रत्येक के चार २ भेद बतलाये गये हैं। वे ये हैं:—(१) अनन्तानुबंधी (२) अप्रत्याख्यानावरण (३) प्रत्याख्यानावरण और (४) संज्वलन।

अनन्तानुबन्धी—जिस कषाय के प्रभाव से जीव अनन्त काल तक संसार में परिभ्रमण करता है उसे अनन्तानुबंधी कहते हैं। यह जीव के सम्यक्त्व गुण का घात करता है। जबतक अनन्तानुबन्धी कषाय हैं वहाँ तक सम्यक्त्व नहीं हो सकता। यह कषाय जीवन पर्यन्त बना रहता है। इसके उदय से जीव प्रायः नरक गति में जाता है।

अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ को समझाने के लिए आचार्यों ने दृष्टान्तों की योजना की है जिनसे इनका स्वरूप और भेद हृदयंगम हो जाता है। वे ये हैं:—

क्रोध के कारण दिल का भेद हो जाता है इसलिए मिलन के आधार से दृष्टान्त कहते हैं—जिस प्रकार पर्वत में दरार पड़ने से वह दरार नहीं मिटती है उसी प्रकार जो क्रोध कभी शान्त न हो और जीवन-भर बना रहे वह अनन्तानुबन्धी क्रोध है। मान में कठोरता है अतः कठोरता की तरतमता का दृष्टान्त

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

कहते हैं—जिस प्रकार पत्थर का स्तम्भ कभी झुक नहीं सकता उसी प्रकार जो कदापि न झुके वह अनन्तानुबन्धी मान है। माया का स्वभाव कुटिल है अतः वक्रता का दृष्टान्त कहते हैं—जिस प्रकार बाँस की जड़ का टेढ़ापन कदापि नहीं मिटता इसी प्रकार जो माया कदापि दूर न हो वह अनन्तानुबन्धी माया है। लोभ एक प्रकार का रंग है जो मनुष्यों के मन को रँगता है। अतएव रंग के दृष्टान्त से यह स्पष्ट करते हैं-जिस प्रकार किरमिची रंग लगने पर नहीं छूटता उसी तरह अनन्तानुबन्धी लोभ कदापि नहीं छूटता। यह अनन्तानुबंधी का स्वरूप है।

अप्रत्याख्यानावरण—जिस कषाय के उदय से जीव देशविरति-रूप प्रत्याख्यान भी नहीं कर सकता है वह अप्रत्याख्यानावरण है। इससे श्रावक-धर्म की प्राप्ति नहीं होती। प्रायः इससे तिर्यञ्च गति होती है और स्थिति एक वर्ष की है।

अप्रत्याख्यानी क्रोध—जिस प्रकार पृथ्वी में पड़ी हुई दरारें वर्षा के आने पर मिलती हैं इसी प्रकार जो क्रोध बड़ी कठिनाई से शान्त हो।

अप्रत्याख्यानी मान—जिस प्रकार हड्डी को नमाना अत्यन्त कठिन है तदपि अति-परिश्रम से वह झुकाई जा सकती है इसी प्रकार जो मान अति कठिनाई से दूर हो।

अप्रत्याख्यानी माया—जिस प्रकार मेंढ़े के सींग का टेढ़ापन निकालना अति कठिन है उसी प्रकार जो माया बड़ी कठिनाई से दूर हो।

अप्रत्याख्यानी लोभ—जिस प्रकार गाडी के कीट का रंग बड़ी कठिनाई से छूटता है इसी प्रकार जो लोभ बहुत कठिनाई से दूर हो।

प्रत्याख्यानावरण—जिस कषाय के उदय से सर्वविरति प्राप्त नहीं होती वह प्रत्याख्यानावरण कषाय है। यह साधु-वृत्ति नहीं होने देता। इससे प्रायः मनुष्य गति का आयुष्य बँधता है। इसकी स्थिति चार मास की है।

प्रत्याख्यानावरण क्रोध—जिस प्रकार रेत में पड़ी हुई दरार अल्प महनत से मिल जाती है उसी तरह जो क्रोध थोड़ी महनत से दूर हो जाय।

प्रत्याख्यानावरण मान—जिस प्रकार काष्ठ अल्प महनत से नम जाता है उसी प्रकार जो मान अल्प महनत से दूर हो।

प्रत्याख्यानावरण माया—जिस प्रकार चलते हुए बैल के पेशाब करने की लकीर टेढ़ी होती है और वह टेढापन धूलादि गिरने पर मिटता है इस प्रकार जो माया कुछ कठिनाई से दूर हो।

प्रत्याख्यानावरण लोभ—जिस प्रकार काजल का रंग अल्प कठिनाई से छूट जाता है उसी प्रकार जो लोभ थोड़े से परिश्रम से छूट जाय।

संज्वलन कषाय—जिस कषाय के उदय से यथाख्यात-चारित्र की प्राप्ति न हो वह संज्वलन कषाय है।

संज्वलन क्रोध—जिस प्रकार जल में खींची हुई लकीर शीघ्र मिट जाती है इस प्रकार जो क्रोध शीघ्र ही मिट जाय।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

संज्वलन मान—जिस प्रकार तृण शीघ्र ही नम जाता है इसी प्रकार जो मान शीघ्र दूर हो जाय।

संज्वलन माया—जिस प्रकार बाँस का छिलका सहज ही सीधा किया जा सकता है इस तरह जो माया शीघ्र ही दूर हो जाय।

संज्वलन लोभ—जिस प्रकार हल्दी का रंग शीघ्र ही छूट जाता है इस प्रकार जो लोभ शीघ्र ही छूट जाय। यह संज्वलन कषाय यथाख्यात-चारित्र का घात करता है। इससे देवगति योग्य कर्म-बन्धन होता है। स्थिति एक पक्ष की है।

यहाँ जो कषायों की गति और स्थिति बतायी हैं वह प्रायः करके समझनी चाहिए। कभी कभी संज्वलन कषाय अधिक काल तक भी बना रहता है जैसे बाहुबलि को रहा। इसी तरह अनन्तानुबन्धी कषाय के होने पर भी कोई कोई मिथ्यादृष्टि नव ग्रैवेयक में उत्पन्न होते हैं।

इस प्रकार कषायों का स्वरूप समझ कर इनका त्याग करना चाहिए। कषायों के त्याग से ही पारमार्थिक श्रमणत्व होता है। कषायों के तीव्र रहने से कोटिभव का तपश्चरण भी व्यर्थ हो जाता है। जैसा कि कहा है:—

सामण्णमणुचरन्तस्स कसाया जस्स उक्कडा होंति।
मन्नामि उच्छुपुप्फं व निप्फलं तस्स सामण्णं॥
जं अज्जियं चरित्तं देसूणाए वि पुव्वकोडीए।
तं पि कसाइयमेत्तो हारेइ नरो मुहुत्तेण॥

अर्थात्—श्रमण अवस्था में जिसके कषाय तीव्र हो तो उसका संयम इक्षु के पुष्प के समान निष्फल है। प्राणी कुछ कम क्रोड़ पूर्व वर्ष का चारित्र भी केवल कषाय के कारण एक मुहूर्त में हार जाता है।

इसलिए कषायों को कर्म-बन्धन का प्रमुख कारण जानकर त्याग करना चाहिए। क्षमा से क्रोध को, विनय से मान को, सरलता से माया को और संतोष से लोभ को जीतना चाहिए। कषायों को जीतने से आत्म-शुद्धि होती है। आत्म-शुद्धि से ही आत्मा का साक्षात्कार होता है और आत्मा का साक्षात्कार होने से सर्व जगत् का साक्षात्कार हो जाता है।

यह उपर्युक्त कथन सर्वज्ञ तत्त्वज्ञानी पुरुषों का अनुभूत है। उन सर्वज्ञ प्रभु ने भी कषायों का त्याग किया और नवीन कर्मों का आदान त्यागा तो उन्हें सर्वज्ञत्व प्राप्त हुआ और वे संसार के अन्त करने वाले-संसार-पारगामी कहलाये अतएव प्रत्येक साधक को उनके अनुभव से लाभ उठाना चाहिए। यह सर्वज्ञ प्रभु का अभिप्राय है, यह कह कर सुधर्मास्वामी अपनी मनीषिका का परिहार करते हैं और भगवान् के वचनों की छाप लगाकर विशेष रूप से इसे महत्व प्रदान करते हैं। भगवान् ने भी कषायों का त्याग किया है अतः उनके प्रत्येक अनुयायी को कषायों का त्याग करना चाहिए।

सूत्रकार ने "आयाणं सगडब्भि" यह पद दिया है। इसमें आदान शब्द का अर्थ समझने के लिए उसकी व्युत्पत्ति जानने की आवश्यकता है। टीकाकार ने "आदान" शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है "आदीयते-गृह्यते आत्मप्रदेशैः सह श्लिष्यते अष्टप्रकारं कर्म येन तदादानम्" अर्थात्-जिसके द्वारा आत्म-प्रदेशों के साथ कर्मों का बन्धन होता है वह आदान है। इस अर्थ के अनुसार हिंसादि आस्रव-द्वार

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

अथवा अठारह पापस्थान आदान रूप हैं। अथवा कर्म की स्थिति के कारण कषाय हैं इसलिए वे भी आदान कहे जा सकते हैं। सभी कर्मास्रव आदान के अन्तर्गत आ जाते हैं। जो आदान का त्याग करता है वह अपने कर्मों का भेदन करने वाला है। वह अनेक जन्मों के उपार्जित स्व-कर्मों का भेदन करता है अतएव वह सर्वज्ञ हो जाता है।

सूत्रकार ने "कर्मों का भेत्ता" न कहकर अपने कर्मों का भेत्ता होता है यह कहकर यह सूचित किया है कि जीव अपने ही किये हुए कर्मों का स्वयं ही भेत्ता हो सकता है। कोई दूसरा उसके कर्मों को क्षीण नहीं कर सकता है। तीर्थङ्कर का उपदेश भी निमित्त मात्र हो सकता है लेकिन कर्मों का क्षय करने वाला नहीं हो सकता। उस उपदेश को श्रवण कर जीव स्वयं अपने परिणामों द्वारा ही कर्म-क्षय कर सकता है। अपने कर्मों का क्षय जीव को स्वयं ही करना पड़ता है अतएव कर्मक्षय के लिए तत्पर रहने का सूत्रकार ने सूचित किया है।

यहाँ यह तर्क की जा सकती है कि जब तीर्थङ्कर भी अन्य के कर्मों का क्षय नहीं कर सकते तो इसका अर्थ यह हुआ कि वे दूसरे के कर्म का क्षय करने का उपाय नहीं जानते हैं यह उनके ज्ञान की त्रुटि है? इसका समाधान यह है कि तीर्थङ्करों के ज्ञान में तीन लोक के पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं। जो सत् हैं वे सद् रूप में और जो असत् हैं वह असत् रूप में उनके ज्ञान में व्याप्त हैं। असत् पदार्थों के न जानने से ज्ञान की त्रुटि नहीं कही जा सकती क्योंकि असत् अभाव रूप है। वन्ध्यापुत्र को न जानने से या आकाश-कुसुम को न जानने से ज्ञान में दोष नहीं हो सकता है। तीर्थङ्कर का ज्ञान तो प्रतिपूर्ण है। प्रत्येक व्यक्ति अपने अपने कर्मों को तोड़ने लिए प्रयत्न करे इसीलिए स्व विशेषण दिया गया है।

पुनः शंका होती है कि तीर्थङ्कर हेय को त्यागने और उपादेय को ग्रहण करने की शिक्षा देते हैं इतने मात्र से ही क्या वे तीर्थंकर हो सकते हैं? ऐसा उपदेश करने से ही तो तीर्थंकर नहीं कहे जा सकते हैं?

इसका समाधान यह है कि सम्यग्ज्ञान के बिना हित को ग्रहण करने और अहित को छोड़ने का उपदेश नहीं दिया जा सकता। जब तक यथावस्थित पदार्थ का सम्पूर्ण ज्ञान नहीं होता तब तक शुद्ध उपदेश नहीं दिया जा सकता है। सर्वज्ञता के बिना अविसंवादी उपदेश नहीं हो सकता है। तीर्थंकर अविसंवादी उपदेश के प्रदाता हैं अतएव वे सर्वज्ञ हैं। सर्वज्ञता के बिना एक भी पदार्थ का सम्पूर्ण ज्ञान सम्भव नहीं है यही बात अगले सूत्र में सूत्रकार फरमाते हैं:—

जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ, जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ।

संस्कृतच्छाया—*य एकं जानाति स सर्वं जानाति, यः सर्वं जानाति स एकं जानाति।*

शब्दार्थ—जे=जो। एगं=एक को। जाणइ=जानता है। से=वह। सव्वं=सबको। जाणइ=जानता है। जे=जो। सव्वं=सबको। जाणइ=जानता है। से=वह। एगं=एक को। जाणइ=जानता है।

भावार्थ—जो एक को जानता है वह सर्व को जानता है; जो सबको जानता है वह एक को जानता है।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में एकता और अनन्तता का सम्मिश्रण दिग्दर्शित किया गया है। जैनदर्शन में वस्तु अनन्तधर्मात्मक कही गई है। दीप से लगाकर व्योमपर्यन्त सभी पदार्थों में अनन्त-धर्म रहे हुए हैं। अनन्त-धर्मात्मक वस्तु को सम्पूर्ण जान लेने का अर्थ है सारे संसार के पदार्थों को जान लेना। जैसे संसार अनन्त है उसी तरह वस्तु के गुण-पर्याय भी अनन्त हैं। तात्पर्य यह है कि जो अनन्त धर्मों को जानता है वही एक वस्तु को जानता है और जो अनन्त पदार्थों को जानता है वही एक वस्तु को भलीभांति जान सकता है। एक पदार्थ के परिपूर्ण ज्ञान के लिए सर्वज्ञता की आवश्यकता है। जो सर्वज्ञ है वही एक पदार्थ को पूरी तरह जान सकता है और जो एक पदार्थ को पूरी तरह जान लेता है वह सर्वज्ञ हो जाता है।

पदार्थ का नाम द्रव्य भी है। द्रव्य शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए जैन-दर्शन के आचार्यों ने कहा है कि द्रवति तांस्तान्पर्यायान्यातीति द्रव्यम् अर्थात्—जो पर्यायों को प्राप्त होता है वह द्रव्य है। अतीत और अनागत की अपेक्षा द्रव्य की अनन्त पर्याय हैं। अनन्त पर्यायों के बदलते हुए भी द्रव्य ध्रौव्यरूप से स्थिर रहता है। जिस प्रकार एक सोने का कड़ा है। उसे तोड़कर सुनारने मुकुट बना लिया तो कड़े का नाश हुआ और मुकुट की उत्पत्ति हुई परन्तु दोनों पर्यायों में स्वर्ण-रूप द्रव्य तो वही कायम रहता है। इसी तरह वस्तुओं की पर्यायें पलटती हैं और द्रव्य कायम रहता है। एक द्रव्य को पूरा जान लेना अर्थात् उसकी भूत और भविष्य की समस्त पर्यायों को जान लेना है क्योंकि द्रव्य का अर्थ उसकी अनन्त-पर्यायों से है। द्रव्य को छोड़कर पर्याय नहीं रहतीं और पर्यायों के बिना द्रव्य नहीं रहता। अतः एक द्रव्य को जानना अर्थात् उसकी अनन्त भूत और भविष्य पर्यायों को जानना है। यह जानना सर्वज्ञत्व के बिना नहीं हो सकता अतएव यह कहा गया है कि जो एक को जानता है वह सबको जानता है और जो सबको जानता है वह एक को जानता है।

सामान्यरूप से किसी वस्तु के एक गुण को जानने से ही उस वस्तु को जानना कहा जाता है। जैसे आम को देखकर हम कहते हैं कि हमने आम जाना। परन्तु यह कथन औपचारिक है। आम के रूप को देखकर ही उसको जानना कहना उपचार है। आम में रूप के अतिरिक्त गन्ध, रस, स्पर्श, मूर्त्तत्व, लघुत्व, प्रमेयत्व आदि अनेक धर्म रहे हुए हैं जिनका अनुभव नहीं किया तो उस आम्र को पूरा नहीं जाना है। आम के रूप को देखकर उसको जानना कहने का उपचार प्रधान और उपसर्जन भाव की अपेक्षा से होता है। रूप का प्रधानत्व और इतरधर्मों का उपसर्जन (गौणता) होने से उक्त औपचारिक व्यवहार होता है।

वस्तुतः इन्द्रियों से अथवा मन से किसी भी वस्तु की सम्पूर्ण पर्याय, उसकी सभी अवस्थाएँ और उसके सभी गुण नहीं जाने जा सकते। क्योंकि इन्द्रियों का विषय वर्तमान काल की पर्याय को जानना है। इन्द्रियों में भूत और भविष्य की पर्याय को जानने की शक्ति नहीं है। यह ज्ञान उनकी शक्तियों से परे है। यह ज्ञान तो केवल आत्मा की शक्ति से ही हो सकता है। आत्मा का साक्षात्कार होना ही अनन्तता का साक्षात्कार है। आत्मस्वरूप को समझे बिना सभी पदार्थों का ज्ञान कर सकना असंभव है। आत्मा का स्वरूप अनन्त है और विश्व भी अनन्त है। जिसने अपनी अनन्तता समझ ली है वह विश्व की अनन्तता समझ ही लेता है। इस प्रकार उसके लिए आत्मा ही विश्वरूप और विश्व ही आत्मरूप हो जाता है। यही भाव "पिण्ड सो ब्रह्माण्ड" इस वाक्य से प्रतीत होता है।

जब आत्मा कर्म-लेप से मुक्त होकर सम्पूर्ण शुद्ध हो जाती है तब अनन्तता का साक्षात्कार—केवल-ज्ञान होता है। यही सर्वज्ञता है। सभी पदार्थों के अनन्त धर्मों को समझने की चाबी आत्मदर्शन है।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

आत्मदर्शन हुआ कि विश्वदर्शन हुआ। आत्मा को जाना कि संसार के प्रत्येक पदार्थ को जाना। यह बात एक छोटे से दृष्टान्त से समझी जा सकती है।

एक मनुष्य किसी गाँव के प्रति जाना चाहता है। वहाँ तक पहुँचने के बीच में अनेक मार्ग फटते हैं पर प्रत्येक मार्ग पर पाटिया लगा हुआ है और उस पर उस स्थल का नाम लिखा हुआ है। वह मनुष्य उन पाटियों की तरफ ध्यान नहीं देता है और उसे किधर जाना है यह भी उसके ध्यान में नहीं है। वह अनेक पगदण्डियों पर भ्रमण करता है लेकिन अपने निश्चित स्थल पर नहीं पहुँच सकता है। यद्यपि वह इधर-उधर भटकते हुए अनेक दृश्यों का अनुभव करता है तदपि वह इष्ट स्थान पर नहीं पहुँच सकता है और जब तक पाटियों पर लिखे हुए अक्षरों की जानकारी न कर ले तब तक उसका परिश्रम व्यर्थ होता है। अगर वह अक्षरों को पढ़ ले तो अपने नियत मार्ग पर ही चलकर इधर उधर भटके बिना सीधा अपने स्थान पर पहुँच जाता है। इतना ही नहीं, वरन् अपने असली मार्ग से जाते हुए वह अन्य मार्गों का भी अनुभव कर सकता है। इसी तरह जिसे आत्मदर्शन रूपी चाबी प्राप्त हो गयी है वह अपने इष्ट मार्ग पर ही चला जाता है और साथ ही अन्य पदार्थों के विविध धर्मों को भी उसी चाबी द्वारा सहज ही जान लेता है।

विज्ञान भी एक ही परमाणु में अनन्त शक्ति मानता है। हमारे आचार्य प्रारम्भ से यह कहते हैं कि "शब्द में शक्ति है।" विज्ञान ने यह बताया कि शब्द में विविध शक्ति हैं। टेलीफोन, रेडियो यह शब्द की शक्ति के विविध परिणाम है। तात्पर्य यह है कि एक आत्मा के साक्षात्कार होने से संसार के सभी पदार्थों का ज्ञान हो जाता है। अतएव बाह्य पदार्थों के रहस्य को समझने के लिए प्रयत्न करने की अपेक्षा आत्मा के रहस्य को समझना चाहिए। जिसने इस रहस्य को पा लिया उसने सब पा लिया। इसलिए कहा है कि जो एक आत्मा को जानता है वह सबको जानता है। जो सबको जानता है वह एक को जानता है।

सव्वओ पमत्तस्स भयं, सव्वओ अपमत्तस्स नत्थि भयं।

संस्कृतच्छाया—सर्वतः प्रमत्तस्य भयं, सर्वतोऽप्रमत्तस्य नास्ति भयं।

शब्दार्थ—पमत्तस्स=प्रमादी के लिए। सव्वओ=सभी तरह से। भयं=डर है। अप्पमत्तस्स=अप्रमादी के लिए। सव्वओ=सभी तरह से। भयं=भय। नत्थि=नहीं है।

भावार्थ—प्रमादी को सभी प्रकार का डर रहता है। अप्रमत्तात्मा को किसी प्रकार का डर नहीं रहता है।

विवेचन—पूर्वसूत्र में आत्मा का साक्षात्कार करने के लिए कहा गया है। सर्वज्ञता प्राप्त करने के लिए आत्म-साक्षात्कार करना आवश्यक है। प्रमादी प्राणी आत्म-दर्शन नहीं कर सकता और सर्वज्ञता नहीं प्राप्त कर सकता। इसलिए इस सूत्र में सूत्रकार प्रमाद से हानि और अप्रमाद से सिद्धि होती है यह उपदेश फरमाते हैं।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

जब तक सर्वज्ञता प्राप्त न हो तब तक साधक को अपनी साधना में सतत सावधान रहना चाहिए। ऐसा न हो कि बीच में ही प्रमाद में फँसकर साध्य को भुला दिया जाय। जो मंजिल तय करनी है उस पर सतत सावधानी से आगे प्रयाण करते रहना चाहिए। मार्ग के दृश्यों के प्रलोभन में अथवा तस्कर आदि के डर से विचलित न होना चाहिए और साध्य की ओर कदम बढ़ाते रहना चाहिए। साधुवृत्ति में संसार के प्रलोभन और इन्द्रियाँ और मनरूपी लुटेरे इसको विचलित करने के लिए आते हैं। उस समय सावधानी से सदा जागृत रहकर मंजिल तय करनी चाहिए। उस समय आत्मा की जरासी असावधानी, जरा-सा प्रमाद सारे कार्य पर पानी फेर देता है। इसीलिए सूत्रकार ने सदा अप्रमत्त रहने का उपदेश दिया है। सूत्रकार फरमाते हैं कि प्रमादी को सर्वतः और सर्वत्र भय रहता है। प्रमाद और भय सदा सहचारी हैं। जहाँ प्रमाद है वहाँ भय है और जहाँ भय है वहाँ प्रमाद है। प्रमाद का अर्थ है आत्मा की स्खलना। आत्मा की स्खलना-त्रुटि जहाँ हैं वहाँ निर्भयता कैसे टिक सकती है? जहाँ असावधानी होती है वहाँ भय रहता ही है यह सब को अनुभूत है ही। अपराधी सदा सशङ्कित रहता है यह सभी का अनुभव है। इसके विपरीत जो सदा जागृत है उसे किसी तरह का भय नहीं है। अथवा प्रमादी से सभी को भय रहता है क्योंकि वह दूसरों की हिंसा कर सकता है और अप्रमादी से संसार के किसी भी जीव को भय नहीं रहता है। क्योंकि वह संयम के द्वारा सभी को अभय प्रदान करता है।

अथवा 'भयं' शब्द का अर्थ कर्म हो सकता है। कर्म सबसे अधिक भयङ्कर हैं अतएव भय शब्द से कर्म का ग्रहण हो सकता है। इस पक्ष में अर्थ यह होगा कि प्रमादी सभी तरह से कर्मों को ग्रहण करता है और अप्रमादी किसी तरह कर्मों को नहीं ग्रहण करता है। प्रमादी सर्वतः-द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से कर्मों को एकत्रित करता है। द्रव्य से वह सभी आत्म-प्रदेशों से कर्मों के पुद्गलों को ग्रहण करता है। क्षेत्र से पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्व और अधो दिशा में रहे हुए कर्म पुद्गलों को ग्रहण करता है। इन दिशाओं में सभी दिशाओं का ग्रहण समझना चाहिए। काल से प्रति समय कर्म के पुद्गलों का ग्रहण करता है और भाव से हिंसादि के द्वारा कर्मों को एकत्रित करता है। प्रमादी को इस लोक और परलोक में दोनों जगह भय है। इसके विपरीत अप्रमादी को किसी प्रकार के कर्म का भय नहीं रहता है और इहलोक और परलोक में वह भयमुक्त होता है। यह समझकर सर्वज्ञता प्राप्त होने तक सदा अप्रमत्त रहना चाहिए।

जे एगं नामे से बहुं नामे, जे बहुं नामे से एगं नामे।

संस्कृतच्छाया—य एकं नामयति स बहूनपि नामयति, यो बहून् नामयति स एकं नामयति।

शब्दार्थ—जे=जो। एगं=एक को। नामे=नमाता है। से=वह। बहुं=अनेकों को। नामे=नमाता है। जे=जो। बहुं=अनेकों को। नामे=नमाता है। से=वह। एगं=एक को। नामे=नमाता है।

भावार्थ—जो एक को नमाता है वह अनेक को नमाता है और जो अनेक को नमाता है वह एक को नमाता है।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

विवेचन—पूर्व सूत्र में अप्रमत्त रहने का उपदेश दिया गया है। अप्रमत्त बनने के लिए आत्म-विजय एवं कषायविजय की आवश्यकता है अतएव इस सूत्र में आत्मविजय एवं कषायविजय का उपदेश दिया गया है। सूत्रकार फरमाते हैं कि जिसने एक को जीत लिया उसने संसार को जीत लिया। इसका तात्पर्य यह है कि जिसने आत्मा पर विजय प्राप्त कर ली हैं उसने सारे संसार पर विजय-पताका फहरा दी है और जिसने बाह्य-संसार को जितना जीता है उतने ही अंश में उसने आत्मा पर विजय प्राप्त की है। बाह्य-संसार को जीतने का अर्थ संसार के ममतामय संयोगों को त्यागने का है। यह संयोग-त्याग आत्मविजय का महान् साधन है।

जैसे संसार में राजा महाराजाओं के भौतिक संग्राम होते रहते हैं उसी प्रकार आत्मा की वैभाविक और स्वाभाविक शक्तियों में निरन्तर संग्राम होता रहता है। बाह्य संग्राम यदा-कदा होते हैं परन्तु यह संग्राम प्रतिपल चालू रहता है। भौतिक संग्राम का अन्त तब आता है जब कि दो पक्षों में से कोई पक्ष पराजित हो जाय उसी तरह यह आध्यात्मिक युद्ध भी तभी समाप्त होता है जब स्वाभाविक और वैभाविक शक्तियों में से किसी का सम्पूर्ण पराजय हो जाय। स्वाभाविक शक्ति अगर पराजित हो जाती है तो आत्मा को निगोद में सड़ना पड़ता है—उसे कारागार में कैद होना पड़ता है और अगर स्वाभाविक शक्तियों की विजय होती है तो मोक्ष का अखण्ड साम्राज्य प्राप्त होता है। इस युद्ध में एक तरफ चैतन्य राजा के, सम्यक्त्व, दशविधधर्म, पाँच समिति, तीनगुप्ति, रत्नत्रय और अप्रमाद आदि योद्धा हैं और दूसरी तरफ कामराजा के मिथ्यात्व, मोह, प्रमाद, कषाय आदि सुभट झूझते हैं। यह आध्यात्मिक युद्ध प्रतिपल चालू रहता है। यह युद्ध चर्म-चक्षुओं से नहीं दिखाई देता है इसका अवलोकन करने के लिए अन्तर्दृष्टि प्राप्त करनी चाहिए। योगी-जन दृढ़ता पूर्वक इस संग्राम को देखते हैं और उसमें हिस्सा लेते हैं तो वे अपने शत्रुओं का समूल विनाश कर देते हैं।

बाह्य संग्राम तो स्थूल है और स्थूल साधनों तथा पाशविक बल के द्वारा वह जीता जा सकता है परन्तु यह आध्यात्मिक युद्ध अति सूक्ष्म है इसे जीतने के लिए इतने ही सूक्ष्म साधनों की आवश्यकता है। आन्तरिक शत्रु अति सूक्ष्म हैं अतः उन्हें जीतने के लिए सूक्ष्म साधन और आत्म-बल की अपेक्षा रहती है अतएव सूत्रकार फरमाते हैं कि आत्म-विजय करो। भौतिक विजय से तो भूमि और धन का लाभ होता है लेकिन आध्यात्मिक विजय से त्रिलोक का ईश्वरत्व प्राप्त होता है। आध्यात्मिक युद्ध का विजेता त्रिलोक पर शासन करता है और राजा महाराजा तो क्या करोड़ों देवों का अधिपति इन्द्र भी उसकी सेवा करने में अहोभाग्य मानता है। लौकिक विजय कई बार पराजय में परिणत होती है। बड़े से बड़े सम्राट् को भी हार खानी पड़ती है लेकिन जिसने एक बार आध्यात्मिक युद्ध को जीत लिया उसे कभी हार नहीं खानी पड़ती। आध्यात्मिक विजय शाश्वत विजय है। भौतिक विजेता अपने गर्व के उन्माद में दुनिया पर कहर की आग बरसाता है जब कि आत्मिक विजेता संताप से संतप्त दुनिया पर कल्याण की सुधा सींचता है। आध्यात्मिक विजय परम विजय है। जिसने यह विजय प्राप्त कर ली है वह विश्व-विजेता सम्राट् है। इसलिए सूत्रकार ने फरमाया है कि अपने आप पर विजय प्राप्त करो, तुम दुनिया में विश्व-विजयी बन जाओगे। आत्म-विजय ही परम और चरम विजय है।

अथवा "जे एगं नामे" इस पद का अर्थ यह किया जा सकता है कि जो एक मोहनीयकर्म का क्षय करता है वह शेष दूसरे कर्मों का क्षय करता है और जो बहुत स्थिति वाली बहुत प्रकृतियों का क्षय करता है वही मोहनीय का क्षय करने में समर्थ है। वर्धमान शुभ अध्यवसायों पर चढ़ा हुआ जीव

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

अनन्तानुबन्धी क्रोध का क्षय करता है वह मान आदि बहुत-सी प्रकृतियों का क्षय करता है। मोहनीय का क्षय करते हुए अन्य प्रकृतियों का भी क्षय करना पड़ता है। जैसे मोहनीयकर्म की ६९ क्रोडाक्रोडी सागरोपम, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और अन्तराय की २९ क्रोड़ाक्रोड़ी, नाम, गोत्र की १९ क्रोडाक्रोडी सागरोपम स्थिति क्षय हो जाने के बाद और इसमें से भी कुछ स्थिति कम होने के बाद मोहनीयकर्म का क्षय हो सकता है। तात्पर्य यह है कि जो मोहनीयकर्म का क्षय कर देता है वह शेष कर्मप्रकृतियों का भी क्षय कर देता है, जो बहुत कर्मप्रकृतियों का क्षय कर सकता है वही मोहनीय का क्षय कर सकता है। इसमें जो बात क्षय के लिए कही गई है वही उपशम के सम्बन्ध में समझनी चाहिए। उपशमश्रेणी की अपेक्षा से जो एक को उपशान्त करता है वह अनेक को उपशान्त करता है, जो अनेक को उपशान्त करता है वही एक का उपशम करता है यह अर्थ भी समझ लेना चाहिए। जो कषायों को जीतेगा वही मोहनीय को जीतेगा; जो मोहनीय को जीतेगा वही सकल कर्मों पर विजय प्राप्त करेगा। इसलिए कषाय-विजय और आत्म-विजय करना चाहिए जिससे अप्रमत्तता होगी और अप्रमत्तता से सर्वज्ञता का लाभ होगा।

हे मुमुक्षुओ! अगर तुम मोक्ष का अखण्ड साम्राज्य चाहते हो और अपना पूर्ण विकास चाहते हो तो अन्तर्दृष्टि प्राप्त करो और अपने आप पर विजय प्राप्त करो यही परम-विजय है।

दुक्खं लोगस्स जाणित्ता वंता लोगस्स संजोगं जंति धीरा महाजाणं, परेण परं जंति नावकंखंति जीवियं।

संस्कृतच्छाया—*दुःखं लोकस्य ज्ञात्वा वान्त्वा लोकस्य संयोगं यान्ति धीराः महायानं, परेण परं यान्ति नावकाङ्क्षन्ति जीवितम्।*

शब्दार्थ—**लोगस्स=संसार के। दुक्खं=दुख को। जाणित्ता=जानकर। लोगस्स=लोक के। संजोगं=संयोग को। वंता=छोड़कर। धीरा=वीर साधक। महाजाणं=मोक्षमार्ग में। जंति=जाते हैं। परेण परं=उत्तरोत्तर आगे। जंति=जाते हैं। जीवियं=असंयमित जीवन की। नावकंखंति=इच्छा नहीं करते हैं।**

भावार्थ—संसार के दुखों को जानकर और लोक के ममता आदि संयोगों का त्याग कर वीर-धीर साधक सयम मार्ग-मोक्षमार्ग में प्रयाण करते हुए उत्तरोत्तर आगे बढ़ते हैं और असंयमित जीवन की अभिलाषा नहीं करते हैं।

विवेचन—पूर्ववर्ती सूत्र में आत्म-विजय का उपदेश दिया है। आत्म-विजय का अर्थ अपनी वृत्तियों पर विजय पाना है। वृत्तियों पर विजय पाने के लिए अन्तर्दृष्टि होनी चाहिए। जब तक साधक की दृष्टि बाह्याभिमुख रहती है तबतक उसके हृदय में आत्मा सम्बन्धी जिज्ञासा उत्पन्न नहीं हो सकती। बाह्य-दृष्टि से वह सुख की शोध के लिए प्रयत्न करता है परन्तु मृग-तृष्णा के समान वह अपने उद्देश्य में सफल नहीं होता। आखिर संसार की ठोकरें खाने के बाद उसकी अन्तर्दृष्टि खुलती है और बाह्यदृष्टि को विराम मिलता है। बाह्यदृष्टि से प्राणी संसार में सुख मानता है और धन, धान्य, पुत्र, स्त्री और कुटुम्ब की ममता में फँसा रहता है, लेकिन जब अन्तर्दृष्टि खुल जाती है तब वह संसार के दुखों का अनुभव करता

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

है और ममता के बन्धनों को तोड़ डालता है। ज्ञ-परिज्ञा द्वारा वह यह जान लेता है कि संसार दुखमय है और उस दुख के कारण कर्म हैं। यह जानकर वह प्रत्याख्यान-परिज्ञा द्वारा कर्मों को त्यागने के लिए प्रयत्न करता है। सच्चे वीरों के लिए यही पुरुषार्थ है कि वे संसार के मूल को उखाड़ फेंके और मोक्ष में अखण्ड साम्राज्य स्थापित करें। भौतिक वीरों की वीरता इस आध्यात्मिक वीरता के सामने किसी गिनती में नहीं। भौतिक वीर तो आन्तरिक शत्रु के सामने कायर बनकर दुम हिलाने लगते हैं परन्तु आत्मवीर उन शत्रुओं पर विजय प्राप्त करते हैं। रावण बड़ा भारी योद्धा और वीर था किन्तु वह भी काम-वश होकर आत्म-बल वाली सीता के आगे निष्प्रभ हो जाता है। समझने की बात है कि रावण की पाशविक वीरता सच्ची वीरता है या सीता की आत्मिक वीरता सच्ची है? कहना होगा कि सीता का आत्म-बल सच्चा बल है। यह समझ कर कर्मविदारण करने में वीर और धीर साधक संयम के मार्ग में प्रयाण करते हैं।

सूत्रकार से "महाजाणं" पद दिया है। "यान्त्यनेन मोक्षमिति यानम्" अर्थात्-जिसके द्वारा मोक्ष में जाते हैं उसे यान कहते हैं। यह यान संयम ही है। इस 'यान' के भी सूत्रकार ने महत् विशेषण लगाया है। इसका अभिप्राय यह है कि कोटि-भव-दुर्लभ चारित्र को प्राप्त करके भी यदि उसमें प्रमाद का सेवन किया जाय तो वह चारित्र स्वप्न में प्राप्त हुए अखूट धन के समान हो जाता है इसलिए 'महत्' विशेषण लगाकर सूत्रकार ने यह बताया है कि संयम में रत्नत्रय की सम्यग् आराधना करनी चाहिए। अथवा "महाजाणं" का "महद्यानं सम्यग्दर्शनादित्रयं यस्य स महायानो-मोक्षः इस प्रकार बहुव्रीहि समास करने पर यह अर्थ होता है सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रय हैं यान जिसके ऐसे मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

पुनः प्रश्न होता है कि क्या एक ही भव में महा-यान रूप चारित्र से मुक्ति हो जाती है अथवा परम्परा से होती है? इसका उत्तर यह है कि दोनों तरह से मुक्ति होती है। अगर योग्य क्षेत्र और योग्य काल हो और कर्म विशेष न हों तो उसी भव में मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है, नहीं तो अन्य भव में भी मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। ज्यों ज्यों संयम की आराधना होती है त्यों त्यों आत्मिक विकास होता जाता है और उत्तरोत्तर ऊर्ध्व गति प्राप्त होती है। इसलिए सूत्रकार ने कहा कि "परेण परं जंति" अर्थात् उच्च और उच्च अवस्था प्राप्त होती है। सम्यक्त्व प्राप्त होने से नरकगति और तिर्यञ्चगति का बँध नहीं पड़ता है। सम्यक्त्व-पूर्वक ज्ञानाराधन करके और संयम का पालन करके आयुष्य के क्षय से कितनेक जीव सौधर्म आदि देवलोक में उत्पन्न होते हैं। पुण्य शेष होने से कर्म भूमि, आर्य क्षेत्र, सुकुलोत्पत्ति, आरोग्य, श्रद्धा, श्रवण और संयम को पाकर सर्वोच्च अनुत्तरोपपातिक देवलोक में जाते हैं और वहाँ से मनुष्य भव में आकर समस्त कर्मों का क्षय करके मोक्ष प्राप्त करते हैं। यह परम्परा-मोक्ष कहलाता है।

अथवा "परेण परं जंति" इस पद का अर्थ यह है कि सम्यग्दृष्टि नामक चतुर्थ गुणस्थान से उत्तरोत्तर चौदहवें गुणस्थान (अयोगिकेवली) तक जाते हैं। अथवा अनन्तानुबन्धी का क्षय करके अध्यवसायों की विशुद्धि करते हुए दर्शन और चारित्र-मोहनीय का क्षय करते हैं और भवोपग्राही कर्मों का क्षय करके मोक्ष प्राप्त करते हैं अथवा उत्तरोत्तर तेजोलेश्या प्राप्त करते हैं। आगम में कहा है—

जे इमे अज्जत्ताए समणा निग्गंथा विहरंति एएणं कस्स तेयलेस्सं वीइवयंति ? गोयमा ! मासपरियाए समणे निग्गंथे वाणवंतराणं देवाणं तेयलेस्सं वीइक्कंति एवं दुमासपरियाए असुरिंदवज्जियाणं भवणवासीणं देवाणं, तिमासपरियाए असुरकुमाराणं देवाणं, चउमासपरियाए गहगणनक्खत्ततारारूवाणं जोइसियाणं देवाणं, पंचमासपरियाए चंदिमसूरियाणं जोइसिंदाणं जोइसराईणं तेयलेस्सं, छम्मासपरियाए सोहम्मीसाणाणं देवाणं,

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

सत्तमासपरियाए सणंकुमारमाहिंदाणं देवाणं, अट्ठमासपरियाए बंभलोगलंतगाणं देवाणं, नवमासपरियाए महासुक्कसहस्साराणं देवाणं, दसमासपरियाए आणयपाणयआरणच्चुआणं देवाणं, एगारसमासपरियाए गेवेज्जाणं बारसमासे समणे निग्गंथे अणुत्तरोववाइयाणं देवाणं तेयलेस्सं वीइवयइ, तेण परं सुक्के सुक्काभिजाई भवित्ता तओ पच्छा सिज्झइ ।

अर्थात्—गौतमस्वामी भगवान् महावीर से प्रश्न करते हैं कि हे भगवान् ! वर्तमान में जो श्रमण निर्ग्रन्थ विचरते हैं वे किसकी तेजोलेश्या को प्राप्त करते हैं ? भगवान् फरमाते हैं कि हे गौतम ! जो श्रमण निर्ग्रन्थ एक मास तक संयम-पर्याय पालता है वह वानव्यन्तर देव को तेजोलेश्या प्राप्त करता है, दो मास संयम-पर्याय वाला असुरेन्द्र को छोड़कर शेष भवनपति देवों की तेजोलेश्या पाता है। तीन मास की संयम-पर्याय वाला असुरकुमार की, चार मास की दीक्षा-पर्याय वाला ग्रह, नक्षत्र तारा रूप ज्योतिष्क देवों की, पांच मास की दीक्षा वाला चन्द्र-सूर्य की, छह मास दीक्षा वाला सौधर्म ईशान देवों की, सात मास-दीक्षा वाला सनत्कुमार माहेन्द्र देवों की, आठ मास की दीक्षा वाला ब्रह्मलोक और लान्तक देवों की, नव मास की दीक्षा वाला महाशुक्र और सहस्रार की, दस मास की दीक्षा वाला आनत प्राणत तथा आरण अच्युत की, ग्यारह मास की दीक्षा वाला ग्रैवेयक देवों की, बारह मास की दीक्षा वाला अनुत्तरोपपातिक देवों की तेजोलेश्या प्राप्त करता है। तत्पश्चात् शुक्ल लेश्या को प्राप्तकर केवलज्ञानी बन कर मोक्ष को प्राप्त करता है।

उक्त रीति से लोक-संयोग का त्याग करने वाला साधक उत्तरोत्तर आगे बढ़ता है और मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। ऐसा साधक दीर्घ जीवन और असंयमित जीवन की इच्छा नहीं करता। क्योंकि वह अपने ध्येय पर पहुँच जाता है। जिसका ध्येय पूरा न हुआ हो वही जीवन की वांछा करता है। वह साधक अपना साध्य सिद्ध कर लेता है अतएव वह जीवन की कामना से मुक्त हो जाता है।

एगं विगिंचमाणे पुढो विगिंचइ, पुढो वि एगं, सड्ढी आणाए मेहावी लोगं च आणाए अभिसमेच्चा अकुओभयं, अत्थि सत्थं परेण परं, नत्थि असत्थं परेण परं ।

संस्कृतच्छाया—*एकं क्षपयन् पृथग् क्षपयति, पृथगपि (क्षपयन्) एकं (क्षपयति) श्रद्धावान् आज्ञया मेधावी लोकं चाज्ञयाभिसमेत्याकुतोभयं । अस्ति शस्त्रं परेण परं, नास्ति अशस्त्रं परेण परम् ।*

शब्दार्थ—एगं=एक को । विगिंचमाणे=क्षय करने वाला । पुढो=अनेक को । विगिंचइ=क्षय करता है। पुढो वि=अनेक को खपाने वाला। एगं=एक को खपाता है। सड्ढी=श्रद्धावान्। आणाए=तीर्थङ्कर की आज्ञा के अनुसार। मेहावी=बुद्धिमान्। आणाए=आज्ञा के द्वारा। लोगं=लोक को। अभिसमेच्चा=जानकर। अकुओभयं=किसी को भय न हो ऐसा वर्ताव करे। सत्थं=शस्त्ररूप असंयम। परेण परं अत्थि=चढाव उतार रूप है। असत्थं=अशस्त्र-संयम। परेण परं=उतार चढाव रूप। नत्थि=नहीं है।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

भावार्थ—जो एक (मोहनीय) का क्षय करता है वह अनेक का क्षय करता है जो अनेक का क्षय करता है वह एक का क्षय करता है। जो श्रद्धावान् है, तीर्थंकर की आज्ञानुसार अनुष्ठान करने वाला है और बुद्धिमान् है वह क्षपक-श्रेणी के योग्य है। जो भगवान् की आज्ञा से लोक के यथार्थ स्वरूप को जानता है उसे किसी का भय नहीं रहता और किसी को भी उसका भय नहीं रहता है। शस्त्र एक दूसरे से तेज या मन्द होते हैं परन्तु अशस्त्र में यह तरतमता नहीं है अर्थात् असंयम में तरतमता है परन्तु आत्म-स्वरूप में (संयम में) तरतमता नहीं है।

विवेचन—साधक, साधक-अवस्था में कर्मों का क्षय करने के लिए पुरुषार्थ करता है। जो साधक मोहनीयकर्म का क्षय कर देता है वह शेष अनेक कर्मप्रकृतियों का क्षय कर देता है। क्योंकि मोह ही संसार का कारण है और मोह ही आत्मा के प्रकाश का आवरण है। जब यह दूर हो जाता है तो शेष कर्मों का भी क्षय कर दिया जाता है। अनेक कर्मप्रकृतियों के क्षय करने पर मोहनीयकर्म का क्षय होता है। यह विवेचन "एगं नामे से बहुं नामे" इस सूत्र में कर दिया गया है। प्रश्न होता है कि जो बात एक जगह कह दी है उसे बार-बार क्यों कहा गया है? इसका उत्तर यह है कि शास्त्रकार विद्वत्ता बताने के लिए शास्त्र-रचना नहीं करते परन्तु विनेयजनों के अनुग्रह के लिए शास्त्ररचना करते हैं। शिष्य-वर्ग को समझाने के लिए और किसी वस्तु पर विशेष जोर देने के लिए पुनः पुनः कथन करने में कोई हानि नहीं है। इस पद का अर्थ यों भी किया जा सकता है कि जो क्षपकश्रेणी पर आरूढ जीव अनन्तानुबन्धी क्रोध का क्षय करता है वह अन्य भी दर्शनमोहनीय आदि अनेक प्रकृतियों का क्षय करता है। आयुष्य बँध जाने पर भी दर्शनमोहनीय आदि सात प्रकृतियों (अनन्तानुबन्धी ४, दर्शनमोहनीय ३) का क्षय कर सकता है। जो अन्य प्रकृतियों का क्षय करता है वह अनन्तानुबन्धी क्रोध का क्षय करता है।

अब सूत्रकार यह बताते हैं कि क्षपकश्रेणी के योग्य कौन हो सकता है। इस योग्यता के लिए शास्त्रकार ने प्रथम गुण श्रद्धा का होना बताया है। जो व्यक्ति जिनेन्द्र देव की आज्ञा में श्रद्धा रखता है वही क्षपकश्रेणी के योग्य होता है। जब तक सत्पुरुषों के प्रति श्रद्धा नहीं होती वहाँ तक कर्त्तव्यों में निश्चयता नहीं आ पाती। सम्यक् श्रद्धा के बिना आज्ञा का यथार्थ पालन नहीं हो सकता। आज्ञा का पालन तभी हो सकता है जब किसी के प्रति अर्पणता के भाव हों। अर्पणता तो श्रद्धा से ही आती है। इसीलिए गीता में कहा है कि-"श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्" अर्थात्-श्रद्धा से ही आत्मज्ञान होता है। प्रथम श्रद्धा होनी चाहिए। श्रद्धा होने पर ही ज्ञान जागृत होता है।

श्रद्धा हृदय की वस्तु है। तदपि सच्ची श्रद्धा तब उत्पन्न होती है जब सात्विक बुद्धि जागृत हो। हृदय अभिमान से रहित होता है तब किसी के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हो सकती है। महापुरुषों का कथन है कि सत्पुरुष, शास्त्र और विवेक बुद्धि से सच्ची श्रद्धा का जन्म होता है। केवल तर्क से अथवा भावना-मात्र से ऐसी श्रद्धा नहीं आ सकती। शुद्ध हृदय और सद्बुद्धि होने पर ही श्रद्धा ठीक होती है। श्रद्धा के लिए जिज्ञासा, त्याग और विवेक की आवश्यकता है। श्रद्धा से ही साधना में निश्चलता आती है अतएव प्रथम गुण श्रद्धा का होना है। जब जिनेन्द्र के वचनों पर श्रद्धा हो जाती है तब उसका पालन भी यथोचित रीति से हो सकता है। अतएव श्रद्धा के बाद दूसरा गुण जिनाज्ञा के यथावत् पालन करने का है। तीसरा गुण "मेधावी" होना चाहिए। मेधावी का अर्थ बुद्धिमान्, विवेकशील है। जो बुद्धिमान् और विवेकी होगा वह व्यक्ति क्षपकश्रेणी के योग्य होता है।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

ऐसा योग्य साधक जिनेन्द्र-आज्ञा के द्वारा लोक के स्वरूप को भलीभांति जानता है। यहाँ लोक शब्द का अर्थ षड्जीवनिकायात्मक अथवा कषायात्मक लोक से है। कषायों का स्वरूप और उसके अनिष्ट परिणाम तथा षट्काय का यथावत् स्वरूप और उनका संयम जो जानता है वह निर्भय बन जाता है। न उससे किसी को डर है और न उसको किसी से डर है। वह सच्चा अहिंसक है। अहिंसक स्वयं निर्भय होता है और जो निर्भय होता है वही दूसरों को निर्भय बना सकता है।

भय, सदा शस्त्रों से हुआ करता है। असंयम शस्त्ररूप है अतएव भयरूप है। द्रव्य-शस्त्र तलवार आदि हैं। उनमें तरतमता पायी जाती है। कोई तलवार तीक्ष्ण होती है, कोई उससे भी अधिक तीक्ष्ण और कोई मन्द होती है। इसी तरह भाव-शस्त्र असंयम में तरतमता है। किसी का असंयम विशेष है, किसी का मंद है। कोई वासना तीव्र होती है कोई मंद होती है इस प्रकार विविधता है परन्तु अशस्त्र में-आत्मा की सहज दशा में इस प्रकार कुछ नहीं होता।

एक मनुष्य क्रोध से, दूसरा अभिमान से, तीसरा घृणा से, चौथा विषयासक्ति से, पाँचवाँ लोभ से इस प्रकार विविध रूप से आत्म-धर्म का हनन कर सकता है। इस क्रोध, मान, घृणा, लोभ और विषयासक्ति में भी अनेक कारणों से तरतमता होती देखी जाती है। परन्तु आत्मा के सहज-स्वभाव समभाव में यह भेद नहीं होता है। यह सभी स्थितियों में एक-सा रहता है। क्रोधी व्यक्ति भी किसी पर क्रोधी और किसी पर स्नेही यों विविध बनता है परन्तु समभावी तो शत्रु और मित्र पर, छोटे और बड़े पर, एक समान अमृत-मय प्रेम बरसाता है। वह पृथ्वीकाय के सूक्ष्म जीवों पर भी वही प्रेम बरसाता है जो इन्द्र पर। सारांश यह है कि पतन में विविधता और तरतमता है। आत्मा की सहज स्थिति में-विकास में कोई भेद नहीं हैं।

अथवा संसार में एक शस्त्र से बढ़कर दूसरा शस्त्र है। एक पीड़ा से दूसरी पीड़ा उत्पन्न होती है जैसे-तलवार के प्रवाह से वात का प्रकोप, वातप्रकोप से सिर दर्द। उससे ज्वर, ज्वर से मूर्छा, मुख सूखना आदि रोग उत्पन्न होते हैं। भाव-शस्त्र भी एक से एक बढ़कर हैं और एक से एक उत्पन्न होता है परन्तु संयम रूप अशस्त्र में इस प्रकार का भेद नहीं है। संयम से बढ़कर और कोई श्रेष्ठ नहीं है। अतः संयम में प्रवृत्ति करनी चाहिए।

जे कोहदंसी से माणदंसी, जे माणदंसी से मायादंसी, जे मायादंसी से लोभदंसी, जे लोभदंसी से पिज्जदंसि, जे पिज्जदंसि से दोसदंसी, जे दोसदंसी से मोहदंसी, जे मोहदंसी से गब्भदंसी, जे गब्भदंसी से जम्मदंसी, जे जम्मदंसी से मारदंसी, जे मारदंसी से नरयदंसी, जे नरयदंसी से तिरियदंसी, जे तिरियदंसी से दुक्खदंसी। से मेहावी अभिनिवट्टिज्जा कोहं च माणं च मायं च लोभं च पिज्जं च दोसं च मोहं च गब्भं च जम्मं च मारं च नरयं च तिरियं च दुक्खं च। एयं पासगस्स दंसणं उवरयसत्थस्स पलियंतकरस्स आयाणं निसिद्धा सगडब्भि किमत्थि उवाही पासगस्स न विज्जइ ? नत्थि त्ति बेमि।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

यः क्रोधदर्शी स मानदर्शी, यो मानदर्शी स मायादर्शी, यो मायादर्शी स लोभदर्शी, यः लोभदर्शी स प्रेमदर्शी, यः प्रेमदर्शी स द्वेषदर्शी, यो द्वेषदर्शी स मोहदर्शी, यः मोहदर्शी स गर्भदर्शी, यः गर्भदर्शी स जन्मदर्शी, यो जन्मदर्शी स मारदर्शी, यो मारदर्शी स नरकदर्शी, यो नरकदर्शी स तिर्यग्दर्शी, यो तिर्यग्दर्शी सो दुःखदर्शी। स मेधावी अभिनिवर्त्तयेत् क्रोधञ्च, मानञ्च, मायाञ्च, लोभञ्च, प्रियञ्च, द्वेषञ्च, मोहञ्च, गर्भञ्च, जन्म च, मारञ्च, नरकञ्च तिर्यञ्चञ्च, दुःखञ्च। एतत्पश्यकस्य दर्शनमुपरतशस्त्रस्य, पर्यन्तकरस्य, आदानं निषेध्य स्वकृताभित्। किमस्ति उपाधिः पश्यकस्य न विद्यते ? नास्ति इति ब्रवीमि।

शब्दार्थ—जे=जो। कोहदंसी=क्रोध को जानता और छोड़ता है। से=वह। माणदंसी=मान को जानता और छोड़ता है। जे=जो। माणदंसी=मान को छोड़ता है। से मायादंसी=वह माया को छोड़ता है। जे मायादंसी=जो माया को छोड़ता है। से लोभदंसी=वह लोभ को छोड़ता है। जे लोभदंसी=जो लोभ को छोड़ता है। से पिज्जदंसी=वह राग को छोड़ता है। जे पिज्जदंसी=जो राग को छोड़ता है। से दोसदंसी=वह द्वेष को छोड़ता है। जे दोसदंसी=जो द्वेष को छोड़ता है। से मोहदंसी=वह मोह को छोड़ता है। जे मोहदंसी=जो मोह को छोड़ता है। से गब्भदंसी=वह गर्भ को त्यागता है। जे गब्भदंसी=जो गर्भ को त्यागता है। से जम्मदंसी=वह जन्म को त्यागता है। जे जम्मदंसी=जो जन्म को त्यागता है। से मारदंसी=वह मृत्यु को त्यागता है। जे मारदंसी=जो मृत्यु को त्यागता है। से नरयदंसी=वह नरक को त्यागता है। जे नरयदंसी=जो नरक को त्यागता है। से तिरियदंसी=वह तिर्यंच गति को छोड़ता है। जे तिरियदंसी=जो तिर्यञ्च गति को छोड़ता है। से दुक्खदंसी=वह दुख को छोड़ता है। से मेहावी=वह बुद्धिमान्। कोहं च=क्रोध को। माणं च=मान को। मायं च=माया को। लोहं च=लोभ को। पिज्जं च=राग को। दोसं च=द्वेष को। मोहं च=मोह को। गब्भं च=गर्भ को। जम्मं च=जन्म को। मारं च=मृत्यु को। नरयं च=नरक को। तिरियं च=तिर्यंच को। दुक्खं च=और दुख को। अभिनिवट्टिज्जा=दूर करे। एयं=यह। उवरयसत्थस्स=द्रव्य-भाव-शस्त्र से रहित। पलियंतकरस्स=कर्म व संसार का अन्त करने वाले। पासगस्स=सर्वज्ञ महावीर का। दंसणं=कथन है। आयाणं=कर्मास्रवों को। निसिद्धा=रोककर। सगडब्भि=अपने कर्मों को दूर करना चाहिए। पासगस्स=केवली भगवान् के। किं=क्या। उवाही=उपाधि। अत्थि=है या। न विज्जइ=नहीं है? नत्थि=नहीं है। त्ति बेमि=ऐसा मैं कहता हूँ।

भावार्थ—जो क्रोध को जानता और छोड़ता है वह मान को जानता और छोड़ता है; जो मान का त्याग करता वह माया का त्याग करता है; जो माया का त्याग करता है वह लोभ का त्याग करता है; जो लोभ का त्याग करता है वह राग को छोड़ता है; जो राग को छोड़ता है वह द्वेष को छोड़ता है; जो द्वेष को छोड़ता है वह मोह को छोड़ता है, जो मोह को छोड़ता है वह गर्भ से मुक्त होता है जो

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

गर्भ से मुक्त होता है वह जन्म से मुक्त होता है, जो जन्म से मुक्त होता है वह मृत्यु से मुक्त होता है, जो मृत्यु से मुक्त होता है वह नरक से मुक्त होता है, जो नरक से मुक्त होता है वह तिर्यंच से मुक्त होता है, जो तिर्यंच से मुक्त होता है वह दुख से मुक्त होता है। इसलिए बुद्धिमान् क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेष एवं मोह से पृथक होकर गर्भ, जन्म, मृत्यु नरक गति और तिर्यंच गति के दुखों से निवृत्त हो। यह द्रव्य-भाव-शस्त्र से रहित संसार से पार हुए सर्वज्ञों का अनुभव पूर्ण कथन है। कर्म के आस्रवों को (मूल कारणों को) छेद करके पूर्वकृत कर्मों का अन्त करना चाहिए। सर्वज्ञ तत्वदर्शी के उपाधि है या नहीं ? नहीं है। ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—इस सूत्र में त्याग के फल का उपसंहार करते हुए सूत्रकार कषाय और कषायों से होने वाली स्थिति से लगाकर भव-भ्रमण तक का सारा क्रम बताते हैं। इस सूत्र में दोषों का तथा उनके त्याग का क्रम बताया गया है। दोषों की चिकित्सा भी बता दी गई है। संसार के रहस्य की समीक्षा भी इसमें की गई है।

पहिले यह कह दिया गया है कि जो एक का क्षय करता है वह दूसरी अनेक प्रवृत्तियों का क्षय करता है। जो क्रोध का क्षय करता है वह साथ ही मान आदि अन्य प्रकृतियों का भी नाश करता है। यहाँ सूत्रकार ने विशदता से वर्णन करने के लिए अलग २ प्रकृतियों का नामनिर्देश किया है।

जिस प्रकार घड़ी के एक चक्र के चलने से अन्य पुर्जे चलने लगते हैं और चक्र के रुक जाने से अन्य पुर्जे भी रुक जाते हैं अर्थात् चक्र की चाल का अच्छा या बुरा असर सभी पुर्जों पर पड़ता है इसी तरह प्राणी के एक गुण का या एक दोष का असर उसके सारे गुणों और दोषों पर अवश्य पड़ता है। हाँ, यह हो सक्ता है कि वह अल्प या अधिक मात्रा में पड़े। इसी कारण कभी तो वह प्रभाव दिखाई देता है और कभी नहीं भी दिखाई देता है लेकिन यह मानना ही पड़ता है कि एक गुण का या एक दोष का असर दूसरे पर अवश्य पड़ता है। यह दिखाई देता है कि एक व्यक्ति क्रोधी होता है और एक व्यक्ति अभिमानी होता है। क्रोधी में अभिमान और अभिमानी में क्रोध सामान्यतया नहीं दिखाई देता है लेकिन अगर क्रोधी के क्रोध का और अभिमानी के अभिमान का विश्लेषण किया जाय तो मालूम होगा कि क्रोध में अभिमान रहा हुआ है और अभिमान में क्रोध की मात्रा रही हुई है। क्रोधी व्यक्ति में अभिमान दिखाई नहीं देता है इसका कारण अभिमान का नाश हो गया है यह नहीं है वरन् इसका कारण निमित्तों की अनुपस्थिति है। वैसे निमित्त मिलते ही क्रोधी अभिमानी हो जाता है, अभिमानी निमित्त मिलने पर क्रोधी हो जाता है। तात्पर्य यह है कि एक भी दुर्गुण विद्यमान है तो वह दूसरे दुर्गुण को जन्म देता है। एक दोष दूसरे दोष का कारण हो जाता है। इसलिए शास्त्रकार कहते हैं कि जो क्रोधी है वह मानी भी है, मायी भी है, लोभी भी है, रागी भी है, द्वेषी भी है और मोही भी है। जो क्रोध का त्यागी है वह मान का, माया का, लोभ का, राग का द्वेष का और मोह का भी त्यागी है।

जिसमें एक सद्गुण का विकास होता है तो उसका असर सभी क्षेत्रों में दृष्टिगोचर होता है। एक सद्गुण दूसरे सद्गुणों का जनक होता है। उस सद्गुण का प्रकाश जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पड़ता है तभी वह सच्चा सहज विकास कहलाता है। जो व्यक्ति धर्मस्थान में असत्य नहीं बोलता है परन्तु जीवन-व्यवहार की क्रियाओं में-कपड़ा मापने में, माल देने लेने में, झूठ बोलता है तो वह सत्य का सहज विकास

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

नहीं कहलाता। वह सत्य स्वाभाविक नहीं किन्तु बनावटी है। उससे यह प्रतीत होता है कि सत्य बोलने की हार्दिक इच्छा तो नहीं है परन्तु धर्मस्थान है अतएव झूठ न बोलने के लिए विवश है। अगर हृदय में सत्य की तन्मयता प्रकट हुई हो तो वह व्यक्ति जीवन-व्यवहार में भी झूठ नहीं बोल सकता। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार घड़ी के चक्र के फिरने से अन्य पुर्जे और कांटे बराबर फिरते हैं उसी प्रकार एक क्रिया की शुद्धि से सारे जीवन की शुद्धि होनी चाहिए। इसी तरह एक दोष से सारा जीवन दूषित हुए बिना नहीं रह सकता। इसी कारण सूत्रकार ने यह कहा है कि जो क्रोध का त्यागी है वह मान को त्यागता है, वह माया को त्यागता है यावत् मोह को त्यागता है। फलस्वरूप जन्म, मरण, नरक और तिर्यञ्च के दुख से मुक्त होता है।

इस सूत्र का दो तरह से अर्थ घटित हो सकता है। प्रथम अर्थ तो त्याग रूप है जो कि पहिले भावार्थ में किया गया है। दूसरा अर्थ आचरण रूप भी होता है। "दंसी" (दर्शी) शब्द का अर्थ स्वरूप से जानने वाला होता है और इसका अर्थ आचरण करने वाला भी होता है। पहिले अर्थ में "कोहदंसी" का अर्थ हुआ क्रोध के अनिष्ट परिणाम को जानकर उसे त्यागने वाला। दूसरे प्रकार के अर्थ की अपेक्षा क्रोध का आचरण करने वाला। दोनों तरह से अर्थ घटित होता है। प्रथम पक्ष में यह अर्थ घटित होता है कि जो क्रोध का त्याग करता है वह मान का त्याग करता है इत्यादि। दूसरे पक्ष में यह अर्थ होता है कि जो क्रोध का आचरण करता है वह मान का आचरण करता है, जो मान का आचरण करता है वह माया का आचरण करता है, जो माया का आचरण करता वह लोभ का आचरण करता है, जो लोभ का आचरण करता है वह राग का आचरण करता है, जो राग का आचरण करता है वह द्वेष का आचरण करता है, जो द्वेष का आचरण करता है वह मोह का आचरण करता है, जो मोह का आचरण करता है वह गर्भ में उत्पन्न होता है, जो गर्भ में उत्पन्न होता है वह जन्म धारण करता है और मरता है, जो मरता है वह नरक तिर्यञ्च में जाता है और दुख पाता है।

दोनों प्रकार का अर्थ सुघटित है। दोनों का अभिप्राय एक है। यह बात जानकर साधक को क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मोह और इनके फल गर्भ, जन्म, मरण, नरक, तिर्यञ्च और दुखों से निवृत्त होना चाहिए। यह उपदेश सामान्य व्यक्तियों का नहीं है परन्तु जो द्रव्य और भावशस्त्रों से सर्वथा रहित हैं, जिन्होंने तीन लोक के पदार्थों को हाथ में रहे हुए आँवले की तरह स्पष्ट रूप से जाना है जो सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं उन सत्पुरुषों का यह अनुभवपूर्ण उपदेश है। सूत्रकार यह कहकर सूचित करते हैं कि सत्पुरुषों के वचन श्रद्धा से स्वीकार करने चाहिए क्योंकि उनका उपदेश–उनकी आज्ञा किसी स्वार्थ से या कामना से नहीं होती बल्कि एकान्त लोक-कल्याण ही उनका उद्देश्य होता है और उसी उद्देश्य से वे उपदेश फरमाते हैं अतः वह उपदेश स्वतः श्रद्धास्पद है। उसमें तर्क की गति नहीं है। तर्क वहाँ तक नहीं पहुंच सकती है।

पूर्वोक्त क्रोधादि कषाय ही संसार के व दुख के कारण हैं। अतः जो साधक दुख से मुक्त होना चाहता है उसे चाहिए कि इन मूल कारणों को दूर करें क्योंकि जब तक कारण विद्यमान रहते हैं तब तक कार्य बना रहता है। कारण के चले जाने पर कार्य भी बिखर जाता है। कार्य को तोड़ने के लिए उसके कारणों को दूर करना आवश्यक है। दुखरूप कार्य का नाश करने के लिए यह जानना आवश्यक है कि दुख कैसे और किससे उत्पन्न होता है। जब तक यह नहीं जाना जाता और जानकर जब तक उसके कारणों को दूर नहीं किया जाता तब तक दुख दूर नहीं हो सकता। जिस प्रकार ध्रुव काँटे को हाथ में लेकर कोई उसके मुख को पूर्व में रखने का प्रयत्न करे और इसके लिए वह उस काँटे को उँगली से दबाकर

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

पूर्व की तरफ ही रखना चाहता है लेकिन होता यह है कि जब तक उँगली से वह दबा रहता है तबतक पूर्व में रहता है और उँगली के उठते ही वह उत्तर में चला जाता है। कितने ही वर्षों तक इस तरह प्रयत्न किया जाय तो भी वह काँटा उत्तर में ही रहेगा। जब तक उस काँटे के उत्तर में ही रहने का मूल कारण न जान लिया जाय और दूर न किया जाय तब तक वह काँटा उत्तर में ही रहेगा। जब उसका मूल कारण शोधते हुए मालूम हो कि इसमें लोहचुम्बक है जो काँटे को उत्तर की ओर आकर्षित करता है, तो लोह-चुम्बक को मिटा देने से काँटा इच्छित दिशा में रह सकता है। इसी प्रकार जब तक किसी चीज के मूल कारण का पता न लगे और वह कारण दूर न हो तब तक किसी चीज का नाश नहीं हो सकता। अतएव दुख का नाश करना है तो पहिले उसके मूल कारणों को जानो और उनका उच्छेद करो तो दुख का नाश होगा। अपने किए हुए पूर्वकृत ही दुखों के कारण हैं अतएव उनका नाश करना चाहिए। जो पूर्वकृत-कर्मों का क्षय कर देते हैं वे सर्वज्ञ बन जाते हैं और सभी तरह के प्रपञ्चों से मुक्त हो जाते हैं। उनके लिए संसार-व्यवहार नहीं होता। वे संसार से परे हो जाते हैं। वे अपना साध्य सिद्ध कर चुकते हैं। वे शुद्ध-बुद्ध हो जाते हैं।

—उपसंहार—

कषाय ही भव-भ्रमण का मूल है इसलिए जितने अंश में कषायों की शान्ति है उतने ही अंश में त्याग की सफलता है। कषायों के शमन से आत्म-शुद्धि होती है और आत्म-शुद्धि की पराकाष्ठा से सर्वज्ञता प्राप्त होती है। पूरी निर्भयता, सत्य की अखंड आराधना एवं कषायों का शमन ये ही वीर के लक्षण हैं। श्रद्धा से अपूर्व शक्ति प्राप्त होती है। सत्पुरुषों के मार्ग में तन्मयता होना ही श्रद्धा है। श्रद्धावान् का कल्याण अधिक सरलता से हो सकता है।

कषाय-शमन, सर्वज्ञता, श्रद्धा, एवं वीरता का स्वरूप इस उद्देशक में बताया गया है। मूल सार, कषाय-शमन करने का है। अतएव मुमुक्षुओं को आत्मोन्नति के लिए कषायों का शमन अवश्यमेव करना चाहिए। इसी से साधना सफल हो सकती है। ऐसा श्री सुधर्मास्वामी ने जम्बूस्वामी से कहा।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

सम्यक्त्व नाम चतुर्थ अध्ययन

—प्रथमोद्देशकः—

तीन अध्ययनों की व्याख्या की जा चुकी है। अब चतुर्थ सम्यक्त्व नामक अध्ययन प्रारम्भ किया जाता है। प्रथम शस्त्र-परिज्ञा अध्ययन में षड् जीव-निकाय की सिद्धि द्वारा जीव तत्त्व की और व्यतिरेक रूप से अजीव तत्त्व की प्ररुपणा की गई है। तथा षड् जीवनिकाय को जानकर उनके वध से निवृत्त होने का उपदेश दिया गया है। जीवनिकाय के वध से आस्रव होता है यह कहकर आस्रव तत्त्व और विरति से संवर होता है इससे संवर तत्त्व का कथन हुआ समझना चाहिए। इस प्रकार प्रथम अध्ययन में जीव, अजीव, आस्रव और संवर इन चार तत्त्वों का वर्णन किया गया है। द्वितीय लोक-विजय अध्ययन में बन्ध और निर्जरा का कथन किया गया है। तृतीय शीतोष्णीय अध्ययन में त्याग, परीषह एवं उपसर्गों की सहनशीलता और कषाय-त्याग का वर्णन किया है। इसका फल मोक्ष है अतएव इस अध्ययन में मोक्ष का कथन समझना चाहिए। पुण्य और पाप, बन्ध के अन्तर्गत होने से बन्ध के वर्णन से इनका वर्णन समझना चाहिए। इस प्रकार तीन अध्ययनों में नव तत्त्वों की व्याख्या की गई है। तत्त्वों पर श्रद्धा करना सम्यग्दर्शन (सम्यक्त्व) कहा जाता है अतएव अब इस अध्ययन में सम्यक्त्व पर विचार किया जाता है।

सम्यक्त्व का अर्थ है निर्मलदृष्टि, सच्ची श्रद्धा और सच्चा लक्ष्य। सम्यक्त्व ही मुक्ति-महल का प्रथम सोपान है। जब तक सम्यक्त्व नहीं है तब तक समस्त-ज्ञान और समस्त-चारित्र मिथ्या है। जैसे अंक के बिना बिन्दुओं की लम्बी लकीर बना देने पर भी उसका कोई अर्थ नहीं होता—उससे कोई संख्या तैयार नहीं होती उसी प्रकार सत्यक्त्व के बिना ज्ञान और चारित्र का कोई उपयोग नहीं और वे शून्यवत् निष्फल हैं। अगर सम्यक्त्व रूपी अंक हो और उसके बाद ज्ञान और चारित्र हों तो ज्यों प्रत्येक शून्य से दस गुनी कीमत हो जाती है त्यों वे ज्ञान और चारित्र मोक्ष के साधक होते हैं। मुक्ति के लिए सम्यग्दर्शन की सर्व प्रथम अपेक्षा रहती है। सम्यग्दर्शन से ही ज्ञान और चारित्र में सम्यक्त्व आती है इसीलिए दर्शन, ज्ञान और चारित्र तीनों ही भाव सम्यक्त्व होते हुए भी सम्यक्त्व शब्द सम्यग्दर्शन के अर्थ में ही रूढ़ हो गया है। यह सम्यग्दर्शन की प्रधानता सूचित करता है। सम्यक्त्व का स्वरूप बालजनों को सरलता से समझाने के लिए एक दृष्टान्त दिया गया है; वह इस प्रकार है:—

उदयसेन नाम का एक राजा था। उसके वीरसेन और शूरसेन नाम के दो पुत्र थे। वीरसेनकुमार अन्धा था इसलिए वह गान-कला आदि तद्योग्य कलाएँ सीखा। शूरसेन ने धनुर्विद्या सीखी। वह उसमें पारंगत हुआ और लोक में उसकी कीर्ति हुई। यह सुनकर वीरसेनकुमार ने राजा से प्रार्थना की कि मैं भी धनुर्विद्या का अभ्यास करूँ। उसका अति आग्रह होने से राजा ने आज्ञा दे दी। योग्य शिक्षक और अतिशय बुद्धि के कारण वह शब्दवेधी हुआ। कालान्तर में कोई शत्रु राजा पर चढ़ आया। तब वीरसेन ने राजा से युद्ध में जाने की आज्ञा माँगी। राजा की आज्ञा लेकर वह शत्रु-सैन्य को जीतने का यत्न करने लगा। परन्तु शत्रु ने जान लिया कि वीरसेन अन्धा है और शब्दवेधी है अतएव शत्रुपक्ष मूक रहा और

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

उसने आकर वीरसेन को पकड़ लिया। जब शूरसेन को यह वृत्तान्त मालूम हुआ तो वह राजा की आज्ञा लेकर युद्ध में गया और तीक्ष्ण बाण-वर्षा के द्वारा शत्रु को परास्त करके वीरसेन को बन्धन-मुक्त किया। इस तरह वीरसेन अच्छा अभ्यास और उद्यम करने पर भी नेत्र की विकलता के कारण अपना कार्य सिद्ध नहीं कर सका। इसी प्रकार सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान और चारित्र कार्य-सिद्धि नहीं कर सकते। निर्युक्ति-कार ने कहा है—

कुणमाणोऽवि निवित्तिं, परिचयंतोऽवि सयणधणभोए।
दितोऽवि दुहस्स उरं मिच्छदिट्ठी न सिज्झइ उ॥

अर्थात्—यमनियमादि निवृत्ति करते हुए भी, कुटुम्ब, धन और भोगों का त्याग करने पर भी, पञ्चाग्नि तप आदि के द्वारा शारीरिक कष्ट सहन करने पर भी मिथ्यादृष्टि सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकता है। तु शब्द अवधारण सूचक है अर्थात् मिथ्यादृष्टि मोक्ष नहीं ही पा सकता है। जिस प्रकार अन्ध-कुमार शत्रु-सेना को जीतने में असमर्थ रहा त्यों ही मिथ्यादृष्टि मुक्ति नहीं ही पा सकता। वह सिद्धि प्राप्त करने में असमर्थ है। आगे निर्युक्तिकार कहते हैं:—

तम्हा कम्मारीणं जेउमणो दंसणम्मि पजइज्जा।
दंसणवओ हि सफलाणि हुंति तवनाणचरणाइं॥

अर्थात्—कर्मरूपी सेना को जीतने की इच्छा रखने वाले को सम्यग्दर्शन में प्रयत्न करना चाहिए। क्योंकि सम्यग्दर्शन के बिना कर्मों का क्षय नहीं हो सकता। सम्यक्त्वी के किए हुए तप, ज्ञान और चारित्र ही सफल होते हैं अतः सम्यक्त्व के लिए यत्न करना चाहिए।

सम्यक्त्व आत्मा का स्वाभाविक धर्म है परन्तु अनादिकाल से दर्शन-मोहनीय कर्म के कारण आत्मा का यह गुण आवृत्त है। ज्यों ही दर्शन-मोहनीय कर्म दूर हुआ कि सम्यक्त्व गुण इस प्रकार प्रकट हो जाता है जैसे मेघों के दूर होने पर सूर्य। इस प्रकार दर्शन-मोहनीय के दूर होने को और सम्यक्त्व गुण प्रकट होने को समकित की प्राप्ति होना कहा जाता है। समकित की प्राप्ति दो तरह से होती है; निसर्ग से और अधिगम से। तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है "तन्निसर्गादधिगमाद्वा"। जो सम्यक्त्व बिना गुरु आदि के उपदेश से होता है वह निसर्गज कहलाता है और जो गुरु आदि के उपदेश से हो वह अधिगमज कहलाता है। सम्यक्त्व प्राप्ति का क्रम इस प्रकार है:—

जैसे तीव्र वेगवाली नदी में बहने वाला पत्थर अन्य पत्थरों और चट्टानों से टकराता-टकराता गोल-मोल हो जाता है इसी प्रकार जीव नाना-योनियों में भ्रमण करता हुआ और अनेक शारीरिक और मानसिक कष्टों को सहन करता हुआ कर्मों की निर्जरा करता है। उसके प्रभाव से उसे पाँच प्रकार की लब्धियां प्राप्त होती हैं (१) क्षयोपशम लब्धि (२) विशुद्धि लब्धि (३) देशना लब्धि (४) प्रयोग लब्धि और (५) करण लब्धि। अनादिकाल से परि-भ्रमण करते हुए संयोग वश ज्ञानावरणादि आठ कर्मों की अशुभ प्रकृतियों के अनुभाग को (रस को) प्रति समय अनन्त गुना न्यून करना क्षयोपशम लब्धि है। इस प्रकार अशुभ प्रकृतियों के अनुभाग के मन्द होने से परिणामों की अशुभता में हानि होती है जिससे शुभ परिणाम उत्पन्न होते हैं यह विशुद्धि-लब्धि है। विशुद्धि-लब्धि के प्रभाव से तत्त्वों के प्रति रूचि उत्पन्न होती है और उन्हें जानने की इच्छा होती है, यह देशनालब्धि है। तदन्तर जीव अपने परिणामों को शुद्ध करता

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

हुआ आयुकर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों को कुछ कम एक कोडाकोडी सागरोपम की स्थिति वाले कर लेता है और कर्मों के तीव्र अनुभाग को मन्द करता है यह प्रयोग लब्धि है। इसके पश्चात् करणलब्धि होती है। आत्मा के परिणाम को करण कहते हैं। करण तीन हैं—(१) यथाप्रवृत्ति करण (२) अपूर्वकरण और (३) अनिवृत्ति करण। प्रयोग-लब्धि से सात कर्मों की स्थिति को कुछ कम एक कोडाकोड़ी सागरोपम की कर देने वाले आत्मा के परिणामों में विशेष शुद्धि होना यथाप्रवृत्ति करण कहलाता है। यह करण अभव्य जीवों को भी होता है। इस परिणाम के पश्चात् परिणामों में और शुद्धि होती है जिसके कारण अनादिकालीन रागद्वेष की निबिडतम ग्रन्थि को भेदने का सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है और ग्रन्थि-भेद कर भी डालता है। ऐसा पूर्व में कभी नहीं किया अतः इसे अपूर्व-करण कहते हैं। अपूर्व-करण के बाद और विशेष शुद्धि होना अनिवृत्ति करण कहलाता है। इस करण के करने से सम्यक्त्व प्राप्त होता है।

सम्यक्त्व के तीन प्रकार हैं—(१) औपशमिक सम्यक्त्व (२) क्षायोपशमिक सम्यक्त्व और (३) क्षायिक सम्यक्त्व। यथाप्रवृत्तिकरण से कर्मों की कुछ कम एक कोडाकोडी सागरोपम की स्थिति करने पर, अपूर्वकरण में ग्रन्थि-भेद करने पर और मिथ्यात्व का उदय न होने पर अनिवृत्तिकरण द्वारा प्रथम जो सम्यक्त्व होता है वह औपशमिक समकित है। कहा भी है—

ऊसरदेसं दड्ढेल्ल यं च विज्झइ वणदवो पप्प।
इयमिच्छत्ताणुदए उवसमसम्मं लहइ जीवो॥

अर्थात्—जिस प्रकार ऊसर और दग्ध भूमि को प्राप्त होकर दावाग्नि स्वयमेव बुझ जाती है उसी तरह मिथ्यात्व के उदय में न आने पर जीव उपशम सम्यक्त्व पाता है।

अथवा अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ तथा दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियाँ-यों सात प्रकृतियों के उपशम से होने वाला समकित औपशमिक है। उदय-प्राप्त मिथ्यात्व-मोहनीय का क्षय और उदय में नहीं आये हुए मिथ्यात्व का उपशम और सम्यक्त्व मोहनीय के उदय से होने वाला सम्यक्त्व क्षायोपशमिक है। पूर्वोक्त सात प्रकृतियों के क्षय से होने वाला क्षायिक है। क्षायिक समकित अप्रतिपाती है अर्थात् एक बार आ जाने पर फिर नहीं जा सकता। शेष दो आने पर पुनः जा भी सकते हैं। तदपि समकित में ऐसी अद्भुत शक्ति है कि जिसने समकित का स्पर्श कर लिया वह संसार को परिमित कर देता है और अर्द्ध पुद्गल-परावर्त्तन काल में अवश्य मोक्ष में जाता है।

निर्युक्तिकार ने यह कहा है कि है समकितपूर्वक-शुद्ध ध्येय से किये हुए तपश्चरण चारित्रादि सफल होते हैं। यदि कोई उपाधि से तप आदि करता है तो वह सफल नहीं होता है। इसको स्पष्ट करने के लिए निर्युक्तिकार ने कहा है:—

आहारउवहिपूआइड्ढीसु य गारवेसु कइतविय।
एमेव बारसविहे तवम्मि न हु कइतवे समणो॥

अर्थात्—आहार, उपाधि, पूजा आमर्षौषधि इत्यादि लब्धियों को प्राप्त करने के लिए तथा तीन प्रकार के (ऋद्धि, रस और साता) गौरव में फँसा हुआ अगर कोई ज्ञान पढ़े या चारित्र पाले तो वह कृत्रिम है। इसी प्रकार ऐसी वासनाओं में फँसा हुआ कोई बारह प्रकार का तप करे तो वह कृत्रिम है। अतएव वह सफल नहीं है। जो कृत्रिम अनुष्ठान करता है वह साधुता के गुण से दूर है। अतएव सम्यक्त्वी की ही क्रियाएँ सफल होती हैं यह जानकर सम्यक्त्व में यत्न करना चाहिए।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

तत्त्वार्थ की श्रद्धा होना सम्यग्दर्शन है। तत्त्व वही है जो तीर्थङ्कर देवों ने निरावरण केवलज्ञान और केवलदर्शन के द्वारा चराचर जगत् को उपदेश दिया है। तीर्थङ्करों ने क्या कहा है सो सूत्र द्वारा कहा जाता है—

से बेमि जे अईया, जे य पडुप्पन्ना, जे य आगमिस्सा अरहंता भगवंतो ते सव्वे एवमाइक्खन्ति, एवं भासन्ति, एवं पण्णविंति एवं परूविंति सव्वे पाणा, सव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता न हंतव्वा, न अज्जावेयव्वा, न परिघित्तव्वा, न परियावेयव्वा न उद्दवेयव्वा। एस धम्मे सुद्धे, निइए, सासए, समिच्च लोयं खेयण्णेहिं पवेइए तंजहा–उट्ठिएसु वा, अणुट्ठिएसु वा, उवट्ठिएसु वा अणुवट्ठिएसु वा, उवरयदंडेसु वा अणुवरयदंडेसु वा, सोवहिएसु वा, अणोवहिएसु वा संजोगरएसु वा, असंजोगरएसु वा, तच्चं चेयं, तहा चेयं, अस्सिं चेयं पवुच्चइ।

संस्कृतच्छाया—*तद् ब्रवीमि ये अतीताः ये च प्रत्युत्पन्नाः ये चागामिनोऽर्हन्तो भगवन्तः ते सर्वे एवमाचक्षते, एवं भाषन्ते, एवं प्रज्ञापयन्ति, एवं प्ररूपयन्ति, सर्वे प्राणिनः, सर्वे भूताः, सर्वे जीवाः, सर्वे सत्वाः न हन्तव्याः, नाज्ञापयितव्याः, न परिग्राह्याः, न परितापयितव्याः, नापद्रावयितव्याः। एष धर्मः शुद्धः नित्यः शाश्वतः समेत्य लोकं खेदज्ञैः प्रवेदितः तद्यथा उत्थितेषु वानुत्थितेषु वा, उपस्थितेषु वा अनुपस्थितेषु वा, उपरतदण्डेषु वा, अनुपरतदण्डेषु वा, सोपधिकेषु वा, अनोपधिकेषु वा, संयोगरतेषु वा, असंयोगरतेषु वा तथ्यम् चैतत्, तथा चैतदस्मिन्नेव चेतत् प्रोच्यते।*

शब्दार्थ—से बेमि=वही मैं कहता हूँ। जे अईया=जो भूतकाल के। जे य पडुप्पन्ना=जो वर्त्तमान काल के। जे य आगमिस्सा=और जो भविष्य काल के। अरहंता=अर्हन्त। भगवंतो=भगवान् हैं। ते सव्वे=वे सभी। एवम्=इस प्रकार। आइक्खंति=कहते हैं। एवं भासन्ति=इस प्रकार बोलते हैं। एवं पण्णविंति=इस प्रकार समझाते हैं। एवं परूविंति=इस प्रकार वर्णन करते हैं कि। सव्वे पाणा=सभी द्वीन्द्रियादि प्राणी। सव्वे भूया=वनस्पति इत्यादि सभी भूत। सव्वे जीवा=पंचेन्द्रियादि सभी जीव। सव्वे सत्ता=पृथ्वीकाय आदि सभी सत्वों को। न हन्तव्वा=मारना नहीं। न अज्जावेयव्वा=उन पर हुकूमत करना नहीं। न परिघित्तव्वा=उन्हें दास की तरह कब्जे में रखना नहीं। न परियावेयव्वा=उन्हें संताप देना नहीं। न उद्दवेयव्वा=उन्हें प्राणरहित करना नहीं। एस धम्मे=यही धर्म। सुद्धे=शुद्ध है। निइए=नित्य है। सासए=शाश्वत है। लोयं=लोक को। समिच्च=जानकर। खेयण्णेहिं=दुखों को जानने वाले हितकारी तीर्थंकरों द्वारा।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

उट्ठिएसु वा=धर्म-श्रवण के लिए तैयार हुए को। अणुट्ठिएसु वा=नहीं तैयार हुए को। उवट्ठिएसु वा= साक्षात् उपस्थित हुए जीवों को। अणुवट्ठिएसु वा=अनुपस्थित जीवों को। उवरयदंडेसु वा= हिंसा से निवृत्त हुए को। अणुवरयदंडेसु वा=हिंसा से नहीं निवृत्त हुए को। सोवहिएसु वा= उपाधि वालों को। अणोवहिएसु वा=उपाधि से रहितों को। संजोगरएसु वा=रागियों को। असंजोगरएसु=त्यागियों को। पवेइए=प्रतिपादित किया गया है। च=और। एयं=यह धर्म। तच्चं=सच्चा है। तहा चेयं=जैसा भगवान् ने कहा वैसा ही है। अस्सिं च=और इसी जिन-प्रवचन में। एयं=यह। पवुच्चइ=कहा गया है।

भावार्थ—हे जम्बू! मैं कहता हूँ कि भूतकाल में जो तीर्थंकर भगवान् हो गये हैं, वर्त्तमान में जो तीर्थंकर हैं और भविष्य में जो तीर्थंकर होंगे वे सब इस प्रकार कहते हैं, बोलते हैं, समझाते हैं और प्ररूपणा करते हैं कि सभी प्राणी, (बेइन्द्रियादि) सभी भूत (वनस्पति), सभी जीव (पंचेन्द्रिय) और सभी सत्वों (पृथ्वीकायादि) को दण्डादि से नहीं मारना चाहिए, उन पर आज्ञा नहीं चलानी चाहिए, उन्हें दास की भांति अधिकार में नहीं रखना चाहिए, उन्हें शारीरिक व मानसिक संताप नहीं देना चाहिए और उन्हें प्राणों से रहित नहीं करना चाहिए। यही धर्म शुद्ध है, नित्य है और शाश्वत है। संसार के दुखों को जानकर जगज्जन्तुहितकारी भगवान् ने संयम में तत्पर और अतत्पर (श्रवण के लिए उद्यत और अनुद्यत) उपस्थित और अनुपस्थित, मुनियों और गृहस्थों, रागियों और त्यागिओं, भोगियों और योगियों को समान-भाव से यह उपदेश प्रदान किया है। यही सत्य है, यह तथारूप है और ऐसा धर्म इस जिन-प्रवचन में ही कहा गया है।

विवेचन—तत्त्वों पर श्रद्धा करना सम्यग्दर्शन है। अतएव सम्यक्त्व का निरुपण करने के पहिले तत्त्व क्या है यह बताना आवश्यक है। तीर्थंकर देवों का उपदेश ही तत्त्व है। यह कहने पर प्रश्न हो सकता है कि तीर्थंकरों का उपदेश तो सागर के समान विस्तृत, गम्भीर और साधारण जनों के द्वारा दुर्गम्य है अतः साधारण जनों के लिए हितकर, श्रुत-सागर का सार, आगम-महोदधि के मन्थन का मक्खन रूप तत्त्व क्या है? इस प्रश्न का उत्तर इस सूत्र में दिया गया है।

अतीत काल में अनन्त तीर्थंकर हो चुके हैं क्योंकि काल अनादि है, भविष्य काल अनन्त है इसलिए भविष्य में अनन्त तीर्थंकर होवेंगे और वर्त्तमान काल में प्रज्ञापक की अपेक्षा नियत संख्या न होने से जघन्य और उत्कृष्ट द्वारा यह कहे जा सकते हैं। इसमें अढ़ाई द्वीप में उत्कृष्ट १७० एक सौ सित्तर और जघन्य बीस तीर्थंकर होते हैं। पाँच महाविदेह में एक एक विदेह ये बत्तीस क्षेत्र हैं इस प्रकार १६० एक सौ साठ क्षेत्र हुए प्रत्येक में एक एक तीर्थंकर हो सकते हैं। पाँच भरत तथा पाँच ऐरवत में दस तीर्थंकर हो सकते हैं यों एक साथ एक सौ सित्तर देवाधिदेव हो सकते हैं। जघन्य-अपेक्षा से पांच महाविदेह में से प्रत्येक महाविदेह में चार चार तीर्थंकर होते हैं यों बीस हुए। भरत-ऐरवत में सुषमादि आरे में तीर्थंकर नहीं होते। महाविदेह में सदा रहते हैं इस तरह कम से कम बीस तीर्थंकर सदा विद्यमान रहते हैं। इस तरह अतीतकाल में, वर्त्तमान काल में और भविष्य काल के जितने भी तीर्थंकर हुए, हैं, और होंगे उन

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

सभी ने यही कहा है, यही कहते हैं और यही कहेंगे कि सब प्राणियों, सब भूतों, सब सत्त्वों और सब जीवों को नहीं मारना चाहिए। उन्हें शारीरिक और मानसिक संताप नहीं देना चाहिए। सब तीर्थंकरों के उपदेश का यही सार है। "अहिंसा परमो धर्मः" यही अगाध श्रुत-सागर के मन्थन का सार है। इस छोटे से वाक्य में सब तीर्थंकरों का उपदेश और सब शास्त्रों का सार गर्भित हो जाता है। यही तत्त्व है, इस पर श्रद्धा करना सम्यग्दर्शन है। श्री सुधर्मास्वामी ने अहिंसा के गागर में समस्त श्रुतसागर को भरकर अहिंसा की परम महत्ता का सूचन किया है। भगवती अहिंसा की निर्मल आराधना में ही समस्त तीर्थंकरों की आज्ञा का पालन है। यही बात सूत्रकार ने "से बेमि" पद से सूचित की है। इस पद का यह अर्थ है कि "मैं यह कहता हूँ जिसपर श्रद्धा करने से सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है।" यह अर्थ 'से' शब्द को तत् (वह) शब्द के अर्थ में लेने से निकलता है। अन्यथा 'से' का अर्थ 'वही मैं' है। जिसने भगवान् के चरणारविन्द की सेवा करते हुए उनके मुखारविन्द से यह सुना है वही मैं तुम से कहता हूँ। इस कथन से यह भगवद्-वचन है अतएव अति श्रद्धास्पद है यह सूचित किया है। साथ ही बौद्धों के माने हुए क्षणिक वाद का भी इसमें खण्डन किया गया है। बौद्ध प्रत्येक वस्तु को क्षणमात्रस्थायी मानते हैं। उनके मत से कोई वस्तु दूसरे क्षण में नहीं रहती है। दूसरे क्षण में वे वस्तु का सर्वथा नाश होना मानते हैं। उनका यह मानना युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि पदार्थ को एकान्त क्षणविध्वंसी मान लेने पर यह वही है इस प्रकार का प्रत्यभिज्ञान (भूत काल का वर्त्तमान के साथ जोड़ रूप ज्ञान) नहीं हो सकता। ऐसा ज्ञान होता है। सुधर्मास्वामी भी कहते हैं कि 'वही मैं हूँ' इससे उन्होंने बौद्धों के सर्वथा क्षणिकवाद का खण्डन किया है।

आगे चल कर सूत्रकार ने 'एवमाइक्खन्ति' एवं भासंति, एवं पण्णविंति एवं परूविंति' इस प्रकार चार क्रियाओं का प्रयोग किया है। सामान्यतः ये क्रियाएँ एकार्थक हैं और विशेष महत्व के लिये इनका प्रयोग किया गया है। अथवा आइक्खन्ति का अर्थ यह है कि देव और मनुष्यों की पर्षद् में सामान्य रूप से कहते हैं। भासन्ति का अर्थ यह है कि अर्ध-मागधी भाषा में तीर्थंकर उपदेश फरमाते हैं और वह भाषा अतिशय के कारण सभी प्राणियों की अपनी अपनी भाषा में परिणत हो जाती है। मतलब यह है कि भगवान् अर्ध-मागधी में बोलते हैं लेकिन अतिशय के कारण सभी जीवों को ऐसा मालूम होता है कि भगवान् उनकी ही भाषा में बोल रहे हैं। 'पण्णविंति' का अर्थ प्रज्ञप्त करते हैं-समझाते हैं। सामान्य कथन करने पर शिष्यों को संशय रह जाता है तो भगवान् संशय को दूर करने के लिए जीवाजीवादि तत्त्वों को प्रज्ञप्त करते हैं। 'परूविंति' का अर्थ प्ररूपणा करते हैं कि सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र मोक्ष के मार्ग हैं इस तरह विशेष रूप से फरमाते हैं। तात्पर्य यह है कि प्रसंगतः इन धातुओं के अर्थ में सामान्य भेद है, वैसे ये एकार्थक ही हैं। इस कथन पर अधिक जोर देने के लिए और विशदता के लिए चार समानार्थक धातुओं का प्रयोग किया गया है। इसी तरह सूत्र में प्रयुक्त प्राणी, सत्व, जीव और भूत ये भी एकार्थक शब्द ही हैं तो भी प्राणी की विभिन्न पर्यायों को बताने के लिए इनका पृथक् २ निर्देश किया गया है। प्राण शब्द से द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय का ग्रहण समझना चाहिए। भूत शब्द से वनस्पतिकाय का, जीव शब्द से पंचेन्द्रिय का और सत्व से पृथ्वीकाय आदि का ग्रहण करना चाहिए। इस तरह जीव के सब भेदों का इनमें ग्रहण समझना चाहिए। इससे यह अर्थ निकला कि सूक्ष्म से सूक्ष्म जीव की भी हिंसा नहीं करनी चाहिए।

साधारण रूप से हिंसा का अर्थ किसी जीव का हनन करना ही समझा जाता है लेकिन ऐसा नहीं है। अहिंसा की व्याख्या अति व्यापक और उदार है। केवल प्राणों से रहित करना ही हिंसा नहीं है

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

लेकिन दण्डादि से प्रहार करना, किसी को गुलाम बनाना, दूसरों पर अभिमान से हुकूमत चलाना, दूसरों को बन्धन में बाँधना, नौकर-चाकरों के प्रति दुर्व्यवहार करना, शारीरिक व मानसिक संताप देना ये सभी हिंसाएँ हैं।

पुष्प-पाँखुडी जहाँ दुभाय तहाँ जिनवर की आज्ञा नाय।

फूल की पँखुड़ी को कष्ट पहुँचाना भी हिंसा है तो अहिंसक व्यक्ति किस तरह किसी के मनको या शरीर को पीड़ा पहुँचा सकता है? अहिंसा का उपासक मन से भी किसी को कष्ट पहुँचाने की भावना नहीं कर सकता। अपने आश्रय में रहे हुए नौकर-चाकर या पशुओं पर अत्याचार नहीं कर सकता। वह समझता है कि सब जीव मेरे समान ही सुख चाहते हैं, उनमें भी चेतना तत्त्व है, वे भी मनःशक्ति वाले हैं और वे भी जीवन की इच्छा रखते हैं। ऐसा समझकर वह प्रत्येक के साथ मित्र, बन्धु और पालक का नाता रखता है। यही अहिंसा है। जहाँ हुकूमत, ममता, परिग्रह और आसक्ति हो वहाँ अहिंसा नहीं रह सकती है। सच्चे अहिंसक के प्रत्येक कार्य में अहिंसा की व विवेक की झलक दिखाई देती है। वह विलासी और कायर नहीं हो सकता। वह अपने स्वार्थ के लिए दूसरे के हितों का भोग नहीं लेता।

अहिंसा के रहस्य को न समझने के कारण अहिंसा के नाम पर हिंसा का नाटक होता हुआ दिखाई देता है। धर्म के नाम पर पशुओं का बलिदान किया जाता है। धर्म के लिए की जाने वाली हिंसा, हिंसा नहीं है यह कहा जाता है परन्तु यह सब अहिंसा के विकार हैं। अनुकम्पा और दान निषेधक तेरह पन्थ भी विकृत अहिंसा का फल है। वह अहिंसा का अजीर्ण है। यह देखने में आता है कि सूक्ष्म जीवों के प्रति दयाभाव बताने वाले, मनुष्यों के प्रति हमदर्दी बताने से भी कोसों दूर रहते हैं। सच्चे अहिंसक की वृत्ति और कार्य में अहिंसा भरी रहती है, हिंसा का लेश भी नहीं रहता। अहिंसक कहलाने वालों में से किसी की क्रिया में हिंसा न हो तो भी वृत्ति में हिंसा देखी जाती है, किसी की वृत्ति में हिंसा नहीं होती किन्तु क्रिया में देखी जाती है यह अवांछनीय है। सच्चा अहिंसक वृत्ति और कार्य में हिंसा से निर्लेप रहता है।

प्रश्न हो सकता है कि प्रथम शस्त्रपरिज्ञा अध्ययन में अहिंसा का कथन कर दिया गया है उसे पुनः कहने की और सम्यक्त्व के निरूपण के अधिकार में उसे दोहराने की क्या आवश्यकता है? इसका समाधान यह है कि जैनधर्म का प्राण ही अहिंसा है। जैनेन्द्र-प्रवचन अहिंसामय ही है। अहिंसा की आधार-शिला पर ही जैनधर्म का महल खड़ा है अतएव जगह-जगह उसका वर्णन किया जाता है ताकि विनेय (शिष्य) जन अहिंसा में सदा प्रवृत्त रहें। दूसरी बात यह है कि प्रथम अध्ययन में विवेक रूप अहिंसा का वर्णन है और इसमें आचरणीय-व्यवहार के सर्व क्षेत्रों में व्यापक-अहिंसा का कथन है। प्रथम अध्ययन में षट्काय में जीव है यह सिद्ध कर अहिंसा का विवेक समझाया गया है और इस अध्ययन में अहिंसा को अपने जीवन में कैसे उतार लेना यह बताया गया है। तीसरी बात यह है कि अहिंसा का स्वरूप इतना व्यापक है कि अन्य व्रतों का भी इसमें अन्तर्भाव हो जाता है। इसीलिए व्रतों में प्रथम स्थान अहिंसा को दिया गया है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हुआ कि अहिंसा में ही विश्व-शान्ति का मूल है। अहिंसा से ही सब प्राणी सुरक्षित और निर्भय रह सकते हैं। अहिंसा ही संसार के सुख और कल्याण की जननी है। अहिंसा ही संसार में शान्ति का विशद साम्राज्य स्थापित करके दुनिया के लिए आशीर्वाद रूप हो सकती

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

है। अहिंसा की विमल छाया के नीचे संसार सुख की नींद ले सकता है। जो धर्म ऐसी अहिंसा का पाठ पढ़ावे, वही सच्चा और सनातन है।

यह अहिंसामय धर्म ही नित्य है, शाश्वत है एवं शुद्ध है। अनन्त तीर्थङ्करों ने अहिंसामय धर्म कहा है, कहते हैं और कहेंगे। इसीसे अहिंसा धर्म की नित्यता सिद्ध होती है। जैसे काल की आदि और अन्त नहीं है। इसी तरह अहिंसा धर्म अनादि अनन्त है। यह अहिंसा धर्म शाश्वतगति (मोक्ष) का कारण है अतएव शाश्वत है और यह धर्म कर्ममल से निर्लेप करने वाला है, आत्मा को पवित्र बनाने वाला है अतएव शुद्ध है। अहिंसामय जैनधर्म नित्य है, शाश्वत है और शुद्ध है।

चूंकि अहिंसाधर्म शुद्ध, नित्य और शाश्वत है अतएव यह किसी सम्प्रदाय, समाज या मजहब के लिए नहीं है परन्तु प्राणीमात्र के लिए है। जिस प्रकार सूर्य की किरणें किसी खास व्यक्ति या किसी खास समूह के लिए नहीं हैं परन्तु प्राणीमात्र के लिए हैं इसी प्रकार तीर्थङ्करों ने यह उपदेश किसी खास व्यक्ति, मजहब या पक्ष के लिए नहीं दिया लेकिन प्राणीमात्र के लिए दिया है। अन्य देहधारियों की अपेक्षा मानव का पुरुषार्थ और बुद्धि स्वाधीन है अतएव उनको सम्बोधन करके भगवान् ने यह अहिंसा का उपदेश फरमाया है। सूर्य के प्रकाश की तरह निरपेक्ष भाव से प्रभु देशना देते हैं। जो धर्म में उद्यत हैं, जो धर्म में उद्यत नहीं हैं, जो उपदेश सुनने आये हैं, जो नहीं आये हैं, जो हिंसा से निवृत्त है, जो हिंसा से निवृत्त नहीं हैं, जो मुनि हैं, जो गृहस्थ हैं, जो रागी हैं, जो त्यागी हैं, जो योगी हैं, जो भोगी हैं सब के लिए भगवान् ने यह अहिंसामय धर्म प्ररूपित किया है। जो धर्म में उद्यत हैं, त्यागी हैं और दण्ड से निवृत्त हैं उनके गुणों की स्थिरता के लिए और जो अनुद्यत हैं, भोगी हैं, हिंसा से निवृत्त नहीं हैं उनको धर्म में उद्यत करने के लिए, त्याग का पाठ सिखाने के लिए, हिंसा से निवृत्त करने के लिए प्रभु का उपदेश होता है।

संसार में प्रत्येक प्राणी को धर्मतत्त्व की अनिवार्य आवश्यकता रहती है। कोई भी प्राणी धर्म से पृथक् नहीं रह सकता जोकि विकास की अपेक्षा तरतमता पायी जाती है। धर्म और अहिंसा में सूर्य-किरण का सम्बन्ध है। जहाँ जितने अंश में अहिंसा है वहाँ उतने ही अंश में धर्म है। अहिंसा के बिना धर्म नहीं और धर्म के बिना अहिंसा नहीं। इस प्रकार का अहिंसामय धर्म जैनशासन में विशेषतया कहा गया है। जिन-प्रवचन में कहे जाने का तात्पर्य यह है कि:—

"जैन" शब्द किसी कुल, जाति या समाज की संज्ञा नहीं है किन्तु यह गुणवाचक है। जो जैन गुणों को धारण करे वह जैन। जैनधर्म का द्वार संसार के प्रत्येक मनुष्य तो क्या पशु के लिए भी खुला है। यहाँ जाति का कोई बन्धन नहीं है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है कि-'न दीसइ जाइविसेस कोऽवि।' जाति से किसी की महत्ता नहीं है।

दूसरी बात यह है कि जैनधर्म ने अहिंसा की जैसी व्यापक व्याख्या की है वैसी और कहीं भी देखने में नहीं आती। प्राचीन काल में जैन के सिवाय इतर वर्ग में अहिंसा की इतनी उदार और व्यापक परिभाषा न थी और यज्ञों में पशुओं का बलिदान किया जाता था। इस प्रकार धर्म के नाम पर रूढि, वहम और अज्ञानता के कारण की जाने वाली हिंसा को धर्म समझा जाता था। इस विकृति के कारण सूत्रकार ने यह कहा है कि यह अहिंसामय धर्म जिन-प्रवचन में ही विशेष रूप से कहा गया है।

इस अहिंसा-मय धर्म पर शुद्ध श्रद्धा होना सम्यग्दर्शन है।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

तं आइत्तु न निहे न निक्खिवे जाणित्तु धम्मं जहा तहा, दिट्ठेहिं निव्वेयं गच्छिज्जा, नो लोगस्सेसणं चरे ।

संस्कृतच्छाया—*तमादाय न गोपयेत् न निक्षिपेत् ज्ञात्वा धर्मं यथा तथा, दृष्टैर्निर्वेदं गच्छेत् नो लोकस्यैषणां चरेत् ।*

शब्दार्थ—जहातहा=यथार्थ रूप से । धम्मं=धर्म को । जाणित्तु=जानकर । तं=उस सम्यग्दर्शन को । आइत्तु=ग्रहण करके । न निहे=प्रमादी न बने । न निक्खिवे=उसका त्याग न करे । दिट्ठेहिं=दिखने वाले रंग-राग में । निव्वेयं गच्छिज्जा=वैराग्य धारण करे । लोगस्सेसणं=दुनिया की देखादेखी । नो चरे=न करे।

भावार्थ—अहिंसामय निर्दोष धर्म के यथार्थ स्वरूप को जानकर और उस पर पूर्ण श्रद्धा करके उसमें प्रमादी न बने और ग्रहण करने के बाद संयोगों के वश होकर कदापि उसका त्याग न करे । दुनियां के दिखाई देने वाले रंग-राग में वैराग्य धारण करे और दुनियां का अन्ध-अनुकरण भी न करे ।

विवेचन—प्रथम सूत्र में शुद्ध अहिंसामय धर्म का प्ररूपण किया गया है । धर्म और अहिंसा में सूर्य और किरण सा सम्बन्ध है अतएव जहाँ अहिंसा है वहाँ धर्म है और जहाँ धर्म है वहाँ अहिंसा है । जहाँ हिंसा है वहाँ धर्म नहीं और जहाँ धर्म है वहाँ हिंसा नहीं यह स्पष्ट बात है । इससे यह फलित होता है कि धर्म के नाम पर सूक्ष्म हिंसा भी क्षन्तव्य नहीं है । हिंसा करके धर्म का अनुष्ठान करने की आशा रखना सर्प के मुख से अमृत झरने की आशा के समान है । भला यज्ञ में निर्दोष मूक पशुओं के वध से क्या धर्म हो सकता है ? इसी तरह अन्य भी हिंसा के कार्य करके उनसे धर्म का पालन समझना मिथ्या है । जहाँ जितने अंश में अहिंसा है वहाँ उतने ही अंश में धर्म है । धर्म के इस यथातथ्य (वास्तविक) स्वरूप को जानकर इस पर सम्पूर्ण श्रद्धा करके इसके पालन में अल्पमात्र भी प्रमाद नहीं करना चाहिए ।

जब किसी वस्तु का स्वरूप जान लिया जाता है और उस पर पूरा विश्वास हो जाता है तब अगर वह वस्तु इष्ट है तो उसका ग्रहण कर लिया जाता है और यदि वह अनिष्ट है तो छोड़ दी जाती है । जब किसी संसारी प्राणी को यह मालूम हो जाता है कि यह मार्ग में पड़ी हुई चीज सोने की है तो वह उसे उठाने में प्रमाद नहीं करता । इसी तरह सर्प को देखकर उसे हाथ से पकड़ने की कोशिश नहीं करता है क्योंकि उसे विश्वास है कि इसे हाथ से पकड़ूँगा तो यह काट खाएगा । इसी तरह जब यह विश्वास और सम्यग्दर्शन हो जाता है कि अहिंसामय धर्म ही तथ्य है तो उसके पालन में प्रमाद नहीं होना चाहिए । जब यह मालूम हो जाता है और पूरी श्रद्धा हो जाती है कि हिंसा और प्रमाद बुरा है तो उसका सेवन क्यों करना चाहिए ? इसलिए सूत्रकार कहते हैं कि पूरी श्रद्धा होने के बाद उसके पालन में प्रमाद नहीं होना चाहिए । अगर प्रमाद है तो इसका अर्थ यह हुआ कि जैसी चाहिए वैसी पूरी श्रद्धा नहीं है । कई लोग ऐसा कहते हैं कि "हम धर्म में कुछ समझते ही नहीं, हममें अमुक धार्मिक क्रियाएँ करने की शक्ति ही नहीं, हमने धार्मिक-ग्रन्थों का अवलोकन किया हीं नहीं, हम तो विविध प्रकार के संसार के प्रपञ्चों में फँसे हुए हैं हम से क्या धर्म हो सकता है ?" ऐसा कहने वाले लोग केवल अपना प्रमाद सूचित करते हैं । अगर हृदय में

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

श्रद्धा हो और सच्ची विचारक-बुद्धि हो तो प्रत्येक व्यक्ति धर्म का पालन कर सकता है। उपर्युक्त कथन अपने प्रमाद को ढकने का लूला बचाव मात्र है। वे धर्म के प्रति अपनी अश्रद्धा व्यक्त करते हैं। उनका प्रमाद ही उनसे यह कहलाता है। वस्तुतः जहाँ हृदय में भावना है, जिज्ञासा है, विचारणा है, वहाँ प्रत्येक श्रेणी में, प्रत्येक वर्ग में और प्रत्येक संयोग में धर्म का पालन शक्य है। राजा, सेनापति, रंक और श्रीमन्त सब अपने २ क्षेत्र और अपनी अपनी भूमिका में रहकर क्रमशः धर्म का पालन कर सकते हैं। अहिंसा धर्म का पालन करते हुए उच्च श्रेणी का जीवन-व्यवहार चल सकता है। कई लोग यह कहते हैं कि "हम तो गृहस्थ हैं, पापों में फँसे हैं, हमसे अहिंसा का पालन कैसे हो सकता है ? यों कहकर वे अपने व्यवहार में हिंसा से, असत्य से और कई दुर्गुणों से निश्शंक होकर उनका सेवन करते हैं। परन्तु यह उनकी नादानी है। अगर वे हृदय से हिंसादि को बुरा समझते हैं तो उन्हें अपने जीवन-व्यवहार से क्रमशः दूर करना चाहिए और क्रमिक धर्म का पालन करना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति के लिए चाहे वह किसी भी श्रेणी का हो धर्म का पालन शक्य है। अतएव पूरी श्रद्धा हो जाने के बाद प्रमाद का सेवन न करे।

सम्यग्दर्शन हो जाने के बाद भी संसर्ग के कारण दृष्टि में विपर्ययता आ जाती है। "संसर्गजाः दोषगुणाः भवन्ति" यह उक्ति बिल्कुल यथार्थ है। संसर्ग के कारण गुण और दोष होते हैं। अगर संसर्ग अच्छा है तो गुणों की वृद्धि होती है संसर्ग बुरा है। तो दोषों की वृद्धि होती है। सम्यक्त्वी यदि मिथ्या-दृष्टियों के संसर्ग में रहता है तो उसमें भी विकार की सम्भावना रहती है क्योंकि काजल की कोठरी में कितनी ही सावधनी से जाएँ तो भी काजल का थोड़ा-सा भी दाग लगे बिना नहीं रह सकता है। अतएव मिथ्या-दृष्टियों के संसर्ग से बचना चाहिए। उनके संसर्ग में कदाचित् आना पड़े तो अपने सम्यक्त्व के सामर्थ्य को सदा प्रकट करता रहे। मिथ्यात्व कहीं न आ जाय इसके लिए सदा सावधान रहे। जिस तत्त्व को एक बार समझदारी पूर्वक अङ्गीकार किया है उस तत्त्व को प्राणान्त तक नहीं त्यागना चाहिए। कतिपय मतावलम्बी किन्हीं संयोगों में व्रतादि ग्रहण कर लेते हैं और फिर दण्ड-कमण्डल गुरु को सौंपकर व्रतों का त्याग कर देते हैं। इस प्रकार नहीं करना चाहिए। लिए हुए व्रतों का पालन सदा दृढ़ता के साथ करना चाहिए। प्राणान्त कष्ट के होने पर भी गृहीत धर्म का त्याग न करना चाहिए। गीता में भी कहा है-

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।

अर्थात्—अपने धर्म का पालन करते हुए मर जाना श्रेयस्कर है परन्तु पर-धर्म का आश्रय नहीं लेना चाहिए। परधर्म भयङ्कर है। इस वाक्य में स्वधर्म और परधर्म का अर्थ बाहर दिखाई देने वाले सम्प्रदाय, मजहब और पन्थ से नहीं है परन्तु स्वधर्म का अर्थ आत्म-धर्म है और परधर्म का अर्थ जड़धर्म है। अपने कर्त्तव्यों का पालन करना आत्म-धर्म है। अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हुए यदि मृत्यु हो जाय तो वह श्रेयस्कर है किन्तु कर्त्तव्य का त्याग करना अच्छा नहीं है इसलिए सूत्रकार फरमाते हैं कि सम्यग्दर्शन को अङ्गीकार करके उसका त्याग नहीं करना चाहिए।

साधक के पतन का कारण पदार्थों के प्रति मोह का जागृत होना है। इसलिए सूत्रकार यह बताते हैं कि दिखने वाले रंग-राग में साधक वैराग्यभाव धारण करे। रंग-राग को देखकर उनके प्रति अपने भावों को आकृष्ट न करे। अच्छे शब्द, मनोज्ञ, रूप, सुरभि गन्ध, सुस्वाद रस और मृदु स्पर्श में रागभाव और कटु शब्द, कुरूप, दुर्गन्ध, बुरा रस और कठोर स्पर्शादि में द्वेषभाव धारण न करे। सच्चा दर्शन, सच्ची दृष्टि जिसे प्राप्त हो गयी है वह साधक तो यह विचारता है कि यह सब पुद्गलों की परिणति है। इसमें राग व द्वेष का क्या प्रयोजन ? पुद्गल का स्वभाव ही ऐसा है कि जो आज शुभ और मनोज्ञ हैं

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

वे ही अशुभ और अमनोज्ञ हो सकते हैं और जो अभी अशुभ और अमनोज्ञ हैं वह कभी शुभ और मनोज्ञ हो सकते हैं। यह सब पुद्गलों की विचित्र परिणति का परिणाम है। अतः सच्चा साधक बाह्य पदार्थों में आसक्त नहीं होता है। वह तो संसार को एक नाट्यशाला समझता है जिसमें हास्य, रुदन, सौन्दर्य, भयंकरता, प्रेम, निर्दयता, स्वाभाविकता और कृत्रिमता इत्यादि विविध दृश्य दिखाई देते हैं। जैसे नाटक के दृश्य बदलते रहते हैं उसी तरह ये दृश्य भी एक के बाद एक पलटते रहते हैं और नवीन नवीन रूप दिखाई देते हैं। सच्चा दर्शक इन विविध दृश्यों में तन्मय नहीं हो जाता। वह समझता है कि यह तो नाटक का दृश्य है जो क्षण में ही बदलने वाला है। बाह्य पदार्थों के परिणामों का कारण और उनके स्वभावों का विश्लेषण करके उसमें से शिक्षा लेने के लिए वह सदा आतुर रहता है। जो साधक दुनिया के पदार्थों में आसक्त हो जाता है वह आत्मभान और विवेक खो देता है। मोह जीवन के लिए प्रगाढ़ अन्धकार है। वह मोहान्धकार जड़-चेतन के विवेक-दीप के बिना दूर नहीं हो सकता अतएव साधक बाह्य पदार्थों की क्षणिकता और आत्मा की शाश्वत अवस्था का सदा चिन्तन करता रहे ताकि वह पदार्थों की आसक्ति से बच सके। मोहासक्त प्राणी कदापि अहिंसक नहीं हो सकता। वह प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अवश्य हिंसा का भागी होता है। अतएव अहिंसक बनने वाले को मोह का त्याग करना चाहिए। अहिंसा जीवन में तभी उतरती है जब पदार्थों की आसक्ति कम होती है। इसलिए दृश्य पदार्थों में विरक्ति धारण करने के लिए सूत्रकार ने फरमाया है।

दुनिया अनादिकाल के मिथ्यात्व (झूठी श्रमणा) के कारण गलत मार्ग पर चली जा रही है। उसे आत्म-तत्त्व का भान ही नहीं है। उसके लिए बाह्यपदार्थ ही सर्वस्व हैं। अतएव बाह्यपदार्थों के लिए दुनिया में मारामारी चल रही है। सच्चा साधक दुनिया की रफ्तार में न बह जाय इसलिए सूत्रकार उसे सचेत करते हैं कि दुनिया की देखादेखी न कर। दुनिया की रफ्तार का अन्धानुकरण न कर। भेड़िया-धसान मत बनो और अपनी बुद्धि के प्रकाश का उपयोग करो। जो व्यक्ति सदा दूसरों का अनुकरण ही करता है उसकी विचारशक्ति मारी जाती है। अतएव वह अपने सुख के मार्ग का विचार तक नहीं करता है और दुनिया जिस ओर चली जा रही है उसी ओर बह जाता है। इस प्रकार संसार के प्रवाह में बहता हुआ वह अपने सुख के मार्ग से वञ्चित रहता है। संसार की देखादेखी करने से मोह का पोषण होता है। साधक को मोह घटाना है। यह अपने स्वयं के विचार-बल से ही घट सकता है। अतएव दूसरों का अन्ध-अनुकरण नहीं करना चाहिए। दुनिया राग-द्वेष के भँवर में पड़ी हुई है इसलिए पारगामी साधक को दुनिया की देखादेखी नहीं करनी चाहिए।

जस्स नत्थि इमा जाई अण्णा तस्स कओ सिया ? दिट्ठं सुयं मयं विण्णायं जं एयं परिकहिज्जइ। समेमाणा पलेमाणा पुणो पुणो जाइं पकप्पंति अहो अ राओ य जयमाणे धीरे सया आगयपण्णाणे पमत्ते बहिया पास अपमत्ते सया परिकमिज्जासि त्ति बेमि।

संस्कृतच्छाया—यस्य नास्तीयम् ज्ञातिः, अन्या तस्य कुतः स्यात् ? दृष्टं, श्रुतं, मतं, विज्ञातं यदेतत्परिकथ्यते। शाम्यन्तः प्रलीयमानाः पुनः पुनः जातिं प्रकल्पयन्ति। अहश्च रात्रिं च यतमानो धीरः सदा आगतप्रज्ञानः, प्रमत्तान् बहिर् पश्य, अप्रमत्तः सन् सदा पराक्रमेथा इति ब्रवीमि।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

शब्दार्थ—जस्स=जिसके। इमा=यह। जाई=लोकैषणा। नत्थि=नहीं है। तस्स=उसके। अण्णा=अन्य सावद्य प्रवृत्ति। कओ सिया=कहाँ से हो सकती है। जं एयं=यह जो। परिकहिज्जइ=कहा जाता है वह। दिट्ठं=केवल ज्ञान से देखा हुआ है। सुयं=सुना हुआ है। मतं=माना हुआ है। विण्णायं=जाना हुआ है। समेमाणा=बाह्य पदार्थों में गृद्ध होने वाले। पलेमाणा=विषयों में लीन होने वाले। पुणो पुणो=बार बार। जाइं पकप्पंति=जन्म मरण करते हैं। अहो अ राओ य=रातदिन। जयमाणे=मोक्षमार्ग में यत्न करने वाले। धीरे=परीषह उपसर्गों में दृढ़ता रखने वाले। सया=सदा। आगयपण्णाणे=विवेकशील साधक। पमत्ते=प्रमादियों को। बहिया पास=धर्म से बाहर देखे और। अपमत्ते=अप्रमत्त होकर। सया=हमेशा। परिक्कमिज्जासि=पराक्रम करे।

भावार्थ—जिस साधक को लोकैषणा नहीं है उसके अन्य सावद्य प्रवृत्ति कैसे हो सकती है? (अथवा जिसके सम्यक्त्व रूप ज्ञाति नहीं है उसके अन्य शुभ प्रवृत्तियां कसे हो सकती हैं?) हे जम्बू! मैंने जो ऊपर कहा है वह सब भगवान् के द्वारा केवलज्ञान द्वारा देखा हुआ है, श्रोताओं द्वारा सुना हुआ है, भव्य जीवों द्वारा माना हुआ है और सर्वज्ञों द्वारा अनुभव किया हुआ है। जो व्यक्ति संसार में अत्यन्त आसक्ति रखते हैं तथा इन्द्रियों के विषय में लीन रहते हैं वे पुनः पुनः संसार में परिभ्रमण करते हैं। इस लिए रातदिन मोक्षमार्ग में यत्नशील तत्त्वदर्शी धीर साधक प्रमादियों को धर्म से बहिर्मुख जानकर स्वयं अप्रमत्त होकर मोक्षमार्ग में सावधानी से पराक्रम करे।

विवेचन—इस सूत्र में लोकैषणा को सावद्य प्रवृत्तियों का कारण कहा गया है। जो व्यक्ति अपने विवेक-चक्षुओं को बन्द करके मोहासक्त दुनिया का अनुकरण करता है वह आत्मिक सत्प्रवृत्ति कैसे कर सकता है? दुनिया का-जड़ दुनिया का और आत्मधर्म का मार्ग ही निराला है। दोनों में छत्तीस के अंक के समान विपरीतता है। उत्तर और दक्षिण जितना भेद है। जो दुनिया की देखादेखी करता है वह अन्य शुभ प्रवृत्तियाँ नहीं कर सकता। लोकैषणा का अर्थ दुनिया की तारीफ प्राप्त करना भी होता है। जो व्यक्ति यह विचारता है कि दुनिया मुझे अच्छा कहे, दुनिया मेरा आदर करे लोगों की दृष्टि में मैं अच्छा लगूं-वह साधक भी साधना में सफल नहीं हो सकता अपितु यह पतन का कारण है। लोकैषणा दुनिया की तारीफ की भावना-बहिर्दृष्टि का परिणाम है। यशोलालसा और कीर्ति-लोभ से किया हुआ काम हितकारी नहीं हो सकता। जिस साधक की दृष्टि आत्मोन्मुख है वह कभी लोकैषणा की भावना नहीं करता। जहाँ तक बाह्यदृष्टि है वहाँ तक आत्मधर्म का रहस्य नहीं समझा जा सकता है अतएव सूत्रकार फरमाते है कि लोकैषणा वाला साधक आत्मोपयोगी शुभप्रवृत्ति नहीं कर सकता।

अथवा इस सूत्र का अर्थ इस तरह भी किया जा सकता है कि जिसके अहिंसामय धर्म की श्रद्धा रूप सम्यक्त्व नहीं है इसके अन्य शुभ प्रवृत्तियाँ कैसे हो सकती हैं? सब शुभ प्रवृत्तियों के मूल में सम्यक्त्व होना ही चाहिए। जिसके सम्यक्त्व नहीं है उसकी सभी प्रवृत्तियाँ निष्फल होती हैं। सम्यक्त्व की नींव पर ही धर्म-महल टिका हुआ है। अतएव सम्यक्त्व पूर्वक सभी क्रियाएँ की जानी चाहिए।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

श्री सुधर्मास्वामी ने जम्बूस्वामी को सम्बोधन करके जो उपदेश फरमाया है वह सकल-संसार को सुख का मार्ग बताने वाला है। जम्बूस्वामी को कहने के मिष से उन्होंने सकल प्राणियों को यह उपदेशामृत पिलाया है। दुनिया पर उन महापुरुषों का असीम उपकार है। दुनिया को उनका ऋणी होना चाहिए। महोपकारी सुधर्मास्वामी उपदेश प्रदान करते हैं तदपि स्वमनीषिका का परिहार करके उसे प्रभु-भाषित कह कर उनके प्रति अपना विनय प्रकट करते हैं और इस बहाने शिष्यों को गुरु का विनय करने की शिक्षा देते हैं। अथवा अपने कथन को विशेष प्रमाणित करने के लिए यह कहते हैं कि यह सर्व कथन सर्वज्ञों द्वारा केवलज्ञान से देखा गया है। भगवान् के चरणारविन्द के उपासक श्रोताओं द्वारा सुना हुआ है। लघुकर्मी भव्यात्माओं द्वारा यह माना गया है। विशिष्ट ज्ञानियों द्वारा यह अनुभव किया हुआ है अतएव मेरे इस सम्यक्त्वरूप कथन में यत्नशील होना चाहिए।

जो व्यक्ति इस कथन के अनुसार आचरण नहीं करते हैं, जो इस उपदेश पर श्रद्धा न करके संसार के पदार्थों में अति आसक्त बनते हैं और इन्द्रियों के विषयों में लीन बनते हैं वे पुनः पुनः जन्म-मरण करते हैं। आसक्ति और आत्मविकास एक साथ नहीं टिक सकते अतएव विकास के अभिलाषियों को अन्तर्मुख होना चाहिए और बाह्यदृष्टि का त्याग करना चाहिए।

इसलिए साधक को रात-दिन मोक्षमार्ग में यत्नशील होना चाहिए। परीषह और उपसर्गों में धैर्यसम्पन्न होना चाहिए और विवेक-दृष्टि के द्वारा प्रमादियों को धर्म से बहिर्मुख जानकर स्वयं अप्रमत्त बनकर साधना के मार्ग में उद्यमशील होना चाहिए। अप्रमाद अमृत है और प्रमाद विष है। प्रमाद आध्यात्मिक मृत्यु है। अतएव धर्ममार्ग को यथार्थ समझ कर दृढ़ निश्चयपूर्वक अपने मार्ग में अप्रमत्त रहना चाहिए यही सम्यक्त्व का परिणमन है।

—उपसंहार—

समकित-सत्य लक्ष्यपूर्वक की हुई क्रियाएँ ही सार्थक हैं। अहिंसामय धर्म पर शुद्ध श्रद्धा करना सम्यक्त्व है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अहिंसा व्यवहार्य है। जीवन में अहिंसा को जितना स्थान मिलता है उतना ही सनातन, सत्य और शुद्ध धर्म का पालन है। जीवन में उतरी हुई अहिंसा न केवल व्यक्ति का बल्कि समाज, राष्ट्र और विश्व का कल्याण और विकास कर सकती है अतएव यह अहिंसामय धर्म सभी के लिए श्रद्धास्पद है।

विलास हिंसा के पोषक हैं। हिंसा और धर्म एक साथ नहीं रह सकते है अतः अहिंसा के उपासक को अन्तर्दृष्टि रखनी चाहिए। अन्तर्दृष्टि रखते हुए सदा जागृत रहना चाहिए।

इति प्रथमोद्देशकः

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

सम्यक्त्व नाम चतुर्थ अध्ययन

—द्वितीयोद्देशक—

(मिथ्यात्व-विध्वंसन)

प्रथम उद्देशक में सम्यक्त्व का स्वरूप बताया गया है। मिथ्यात्व का जब निरसन किया जाता है तब सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। मिथ्यात्व का निरसन मिथ्यात्व को जाने बिना नहीं हो सकता अतएव इस उद्देशक में मिथ्यावादियों के विचारों को दिखाकर उनका युक्तिपूर्वक खण्डन किया गया है और सम्यग्वाद का मण्डन किया गया है।

सम्यग्वाद के विचार में मोक्ष और संसार तथा उनके कारणों का विचार करना अति आवश्यक है क्योंकि यह विवेक ही सम्यक्त्व की नींव है। संसार का कारण आस्रव है और मोक्ष का कारण निर्जरा है। आस्रव के ग्रहण से बन्ध भी जाना जा सकता है और निर्जरा के ग्रहण से संवर का भी ग्रहण हो जाता है। संवर का कार्यरूप मोक्ष भी फलित हो जाता है। यह मोक्ष ही सबका साध्य है। संसार और मोक्ष और उसके कारणभूत आस्रव और निर्जरा का स्वरूप समझना सम्यक्त्व का अनिवार्य अंग है अतएव उद्देशक के प्रारम्भ में आस्रव और निर्जरा की चर्चा करते हुए सूत्रकार फरमाते हैं—

जे आसवा ते परिस्सवा, जे परिस्सवा ते आसवा, जे अणासवा ते अपरिस्सवा, जे अपरिस्सवा ते अणासवा, एए पए संबुज्झमाणे लोयं च आणाए अभिसमिच्चा पुढो पवेइयं।

संस्कृतच्छाया—*य एवास्रवा त एव परिस्रवा, य एव परिस्रवा त एवास्रवाः, ये एव अनास्रवा त एवापरिस्रवा, ये परिस्रवा ते अनास्रवा, एतानि पदानि संबुध्यमानः लोकमाज्ञयाऽभिसमेत्य पृथक् प्रवेदितम्।*

शब्दार्थ—जे=जो। आसवा=कर्म-बन्धन के हेतु हैं। ते=वे। परिस्सवा=कर्म-निर्जरा के हेतु भी हो सकते हैं। जे=जो। परिस्सवा=कर्म-निर्जरा के हेतु हैं। ते=वे। आसवा=कर्म-बन्धन के कारण भी हो सकते हैं। जे=जो। अणासवा=व्रतादि जो आस्रव के कारण नहीं है। ते अपरिस्सवा=वे कभी कभी संवर के कारण भी नहीं होते हैं। जे=जो। अपरिस्सवा=आस्रव के के कारण हैं। ते अणासवा=वे कभी २ आस्रव के कारण नहीं भी होते हैं। एए पए=इन पदों को। संबुज्झमाणे=पूरी तरह समझने वाले। लोयं च=और लोक को। आणाए=तीर्थङ्करों की

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

आज्ञा से मुक्त और कर्म बाँधते हुए। अभिसमिच्चा=जानकर। पुढो पवेइयं=निर्जरा और आस्रव के उपादानों को जानकर कौन धर्म में प्रयत्नशील न होगा ?

भावार्थ—जो आस्रव (कर्म-बन्धन) के हेतु हैं वे कर्म की निर्जरा के हेतु भी हो सकते हैं और जो कर्म की निर्जरा के हेतु हैं वे कर्म-बन्धन के हेतु भी बन जाते हैं। (अथवा जितने कर्म खपाने के हेतु हैं उतने ही कर्म-बन्धन के हेतु हैं और जितने कर्म-बन्धन के हेतु हैं उतने ही कर्म-क्षय के भी हेतु हैं।) जो व्रतादि आस्रव रूप नहीं हैं वे भी (अशुभ अध्यवसायों से) निर्जरा के कारण नहीं होते हैं और जो संवर या निर्जरा के कारण नहीं हैं वे भी कदाचित् (शुभ परिणामों से) पाप-बन्ध के कारण नहीं होते हैं।

विवेचन—प्रकृत सूत्र में कर्म-बन्धन और कर्म-निर्जरा के हेतुओं के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण किया गया है। विशेषतः कर्म-बन्धन और कर्म-निर्जरा का आधार अध्यवसाय हैं। बाह्य कारणों पर कर्म-बन्धन या कर्म-निर्जरा का आधार इतना नहीं है जितना कि परिणामों की धारा पर। यही कारण है कि एक ही पदार्थ को देखकर एक व्यक्ति एक तरह का विचार करता है और दूसरा व्यक्ति दूसरी तरह का और तीसरा व्यक्ति तीसरी तरह का। एक ही पदार्थ का अवलोकन एक के लिए विलास का पोषक है और एक के लिए वैराग्य-वर्द्धक है। एक ही पदार्थ एक के लिए अमृत है और एक के लिए विष। जिन स्त्री, माला आदि पदार्थों को देखकर विषयी जीव कर्मों का उपादन करते हैं उन्हीं को देखकर विषयसुखों से पराङ्मुख बने हुए तत्त्वदर्शी पुरुष उन्हें निस्सार जानकर वैराग्य-भावना का पोषण करते हैं। तात्पर्य यह है कि उपादान की शुद्धि या अशुद्धि के अनुसार निमित्त भी शुद्ध या अशुद्ध बना लिए जाते हैं। आभ्यन्तर चित्तवृत्ति के अनुसार एक ही पदार्थ एक को एक रूप में दिखाई देता है और दूसरे को दूसरे रूप में। चित्तवृत्ति का प्रतिबिम्ब पदार्थों पर पड़ता है। एक वेश्या के मृत शरीर को देखकर एक कामी सोचता है कि क्या ही अच्छा होता अगर यह जीवित होती ? मैं इसके साथ वैषयिक सुखोपभोग करता। उसी मृत शरीर को देखकर योगी सोचता है कि अहो ! शरीर की क्षणभङ्गुरता। अहा ! संसार की निस्सारता। आखिर इस पौद्गलिक शरीर का यही दारूण फल और परिणमन होने वाला है। मनुष्य अपने सुन्दर तन का अभिमान करते हैं और रातदिन इसे सजाने में व्यतीत कर देते हैं आखिर इसका यह परिणमन कि जलकर राख हो जायगा ! आश्चर्य ! महा आश्चर्य ! ! यह वेश्या अपना शीलरत्न बेचकर अनेक को पतित करती थी और आज क्या साथ ले जा रही है ? कैसी संसार की विडम्बना है। उसी शव को देखकर कुत्ता सोचता है कि लोग यहाँ से दूर हों तो मैं इसका मांस खाऊँ। इस तरह एक ही शव को देखने पर कामी, योगी और कुत्ते के भिन्न २ विचार हुए। कहने की आवश्यकता न होगी यह उनकी चित्तवृत्ति का प्रभाव है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है चित्त के परिणामों की धारा के अनुसार पदार्थ अच्छे या बुरे बन जाते हैं। पदार्थ में स्वयं अच्छाई या बुराई नहीं रही हुई हैं। दुनिया का कोई भी पदार्थ निरुपयोगी नहीं हैं। शिक्षा ग्रहण करने वाला व्यक्ति दुनिया के प्रत्येक पदार्थ में से शिक्षा ले सकता है और बुराई देखने वाला प्रत्येक अच्छे से अच्छे पदार्थ में से बुराई ले सकता है। इससे एक ही बात फलित होती है कि बाह्य-संसार अथवा बाह्य पदार्थ स्वयं बुरे नहीं हैं परन्तु उनमें प्राणियों की आसक्ति, अनिष्ट का कारण है। पदार्थों का सदुपयोग अथवा दुरुपयोग कर्त्ता की चित्तवृत्ति पर निर्भर है। इसीलिए सूत्रकार ने फरमाया है कि जो कर्म के आने के मार्ग हैं वे ही कर्म की निर्जरा के निमित्त बन जाते हैं और जो कर्म की निर्जरा के निमित्त हैं वे ही कर्म के आस्रव के निमित्त बन जाते हैं। मिथ्यादृष्टियों के लिए जो पाप के कारण हैं वे ही तत्त्व-

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

दर्शी सम्यक्त्वी-जनों के लिए कर्म-निर्जरा के कारण हो जाते हैं। जो स्त्री, चन्दन, पुष्पमाला इत्यादि कामियों के लिए कर्म-हेतु होने से आस्रव रूप हैं वे ही विरक्तात्माओं के वैराग्य का पोषण करने से परिस्रव-निर्जरा के स्थान हो जाते हैं। इसी तरह साधु-समाचारी, तपश्चरण इत्यादि निर्जरा के स्थान अशुभ अध्यवसायों के कारण और साता, रस और ऋद्धिगौरव आदि के कारण कर्म-बन्धन का कारण हो जाते हैं। अतएव कहा है कि:—

यथा प्रकाराः यावन्तः संसारावेशहेतवः।

तावन्तस्तद्विपर्यासाविवार्णसुखहेतवः ॥

अर्थात्—जितने प्रकार के और जितने संसार में परिभ्रमण के कारण हैं उतने ही प्रकार के और उतने ही उनको विपरीत रीति से लेने से मोक्ष-सुख के कारण हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि जितने कर्म-निर्जरा के लिए संयम के स्थान हैं उतने ही कर्म-बन्धन के लिए असंयम के स्थान हैं।

जिस प्रकार ज्वर-ग्रस्त व्यक्ति को शक्कर और दूध भी कटु मालूम होता है अथवा नीम के रस के पीने से जिसका मुँह कड़ुआ हो रहा है उसे शक्कर-मिश्रित दूध भी कटु लगता है उसी प्रकार राग और द्वेष के कारण जिसका हृदय कलुषित है, जो विषय-सुख के लिए लालायित है उसके अध्यवसाय अशुभ होने से उसकी समस्त क्रियाएँ संसार के लिए ही होती हैं। इसके विपरीत जो सम्यग्दृष्टि है, विषयसुख से पराङ्मुख है, जो पदार्थों के असली रहस्य को जानता है और जो वैराग्य से भरा हुआ है उसके लिए सभी क्रियाएँ मोक्षमार्ग की साधिकाएँ हैं।

इस बात को समझने के लिए श्री स्थूलिभद्र मुनि का उदाहरण उपयोगी है। कोशा जैसी अनुपम लावण्यवती वेश्या के विलासगृह में लम्बे काल तक अहोरात्र रहने पर भी श्री स्थूलिभद्र मुनि निर्विकार रहे। वेश्या का विलासगृह कर्म-बन्धन का मुख्य स्थान है परन्तु वहीं रहकर उन मुनि ने अपने अखण्ड सच्चारित्र की छाप उस अनुपम सुन्दरी वेश्या पर डाली और अपने कर्म के बन्धनों को तोड़ा। एक तरफ विलास का आकर्षक वातावरण, दूसरी ओर योगीश्वर की अडोलता। दोनों के द्वन्द्व में योगीराज जीते। कैसे विलास पूर्ण वातावरण में रहकर स्थूलिभद्र निर्विकार रह सके इसका वर्णन इस श्लोक में किया गया है—

वेश्या रागवती सदा तदनुगा षड्भिः रसैर्भोजनं,

सौधं धाम मनोहरं वपुरहो नव्यः वयः संगमः।

कालोऽयं जलदाविलस्तदपि यः कामं जिगायादरात्,

वन्दे तं युवतिप्रबोधकुशलं श्रीस्थूलिभद्रं मुनिम् ॥

अर्थात्—अनुपम सुन्दरी वेश्या सदा जिनके स्वाधीन थी, (जिन पर अनुरक्त थी) नाना रसों से युक्त स्वादिष्ट भोजन, विशाल अट्टालिका, सर्वाङ्ग सुन्दर शरीर और भर यौवन अवस्था और इस पर वर्षा ऋतु का मादक घनघोर घटा वाला समय, इतने विलास के पोषक एवं विकारोत्तेजक वातावरण में रहकर भी जिन्होंने काम-वासना पर विजय प्राप्त की और जो अपने अखण्ड चारित्र-बल के द्वारा वेश्या को भी सन्मार्ग पर लाये उन योगीश्वर स्थूलिभद्र मुनि को नमस्कार करता हूँ।

ऊपर के श्लोक से यह विदित हो जाता है कि श्री स्थूलिभद्र मुनि के सभी निमित्त विकार-वर्धक अतएव आस्रव के स्थान थे परन्तु उनका उपादान (चित्तवृत्ति) शुद्ध था अतएव उनके लिए वे ही आस्रव के स्थान संवररूप में परिणत हो गये। इसीलिए सूत्रकार फरमाते हैं कि 'जे आसवा ते परिसवा'।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

इसी तरह जो संवर और निर्जरा के कारण हैं वे ही कर्मबन्धन के कारण हो जाते हैं। साधुत्व और दस प्रकार की साधु सामाचारी का अनुष्ठान निर्जरा का कारण है तो भी अध्यवसायों की मलिनता और कपट के कारण वह भी कर्मबन्धन का कारण हो जाता है। जिस प्रकार उदायन राजा को मारने के लिए एक नाई ने कपटपूर्वक साधुत्व अङ्गीकार किया था। ऐसा कपटपूर्ण संयम और अध्यवसायों की विकृति के कारण संवर के स्थान भी आस्रव के स्थान हो जाते हैं। इसलिए कहा है कि "जे परिसवा ते आसवा"।

उपर्युक्त दोनों पद विधिरूप से कहे गये हैं। इसी बात को अब निषेधरूप से फरमाते हुए सूत्रकार कहते हैं कि "जे अणासवा ते अपरिसवा" अर्थात्–जो आस्रव रूप नहीं है वे व्रतादि भी कर्मोदय से अशुभ अध्यवसाय वाले के लिए कर्म की निर्जरा के कारण नहीं होते हैं। व्रतादि कर्म-निर्जरा के कारण हैं तो भी अध्यवसाय की अशुभता के कारण वे निर्जरा के कारण नहीं होते हैं। इसी तरह "जे अपरिसवा ते अणासवा" जो अपरिस्रव—कर्म के उपादान कारण हैं वे कदाचित् शासन (प्रवचन) के उपकार आदि शुभ अध्यवसाय पूर्वक किये जाने पर कर्म-बन्धन रूप नहीं होते हैं।

इस सम्बन्ध में चौभंगी इस प्रकार कही गई है:—

(१) जो आस्रव हैं वे परिस्रव हैं।
(२) जो आस्रव हैं वे अपरिस्रव हैं।
(३) जो अनास्रव हैं वे परिस्रव हैं।
(४) जो अनास्रव हैं वे अपरिस्रव हैं।

इस चौभंगी का प्रथम भंग समस्त संसारी जीवों में पाया जाता है। क्योंकि जो कर्म के आस्रव हैं वे ही दूसरों के लिए निर्जरा के कारण हैं यह समस्त चतुर्गत्यापन्न जीवों में पाया जाता है। प्रत्येक संसारी जीव के प्रतिक्षण आस्रव और संवर होता रहता है। द्वितीय भंग शून्य है क्योंकि जहाँ आस्रव है वहाँ निर्जरा अवश्यम्भावी है। जहाँ बन्धन है तो उसका अलग होना भी सिद्ध ही है। तृतीय भंग अयोगि-केवलियों में पाया जाता है क्योंकि उनके आस्रव तो नहीं है लेकिन परिस्रव है। चतुर्थ भंग सिद्धों में पाया जाता है। उनके न आस्रव है और न परिस्रव है। इस चौभंगी में से सूत्र में आदि और अन्त का भंग ग्रहण किया गया है। आदि व अन्त के ग्रहण से मध्यवर्ती भंगों का भी ग्रहण समझ लेना चाहिए। क्योंकि जिसकी आदि है और अन्त है उसका मध्य भी अवश्य होता ही है। अतएव आदि और अन्त भंग के ग्रहण करने से मध्य भंगों का भी ग्रहण समझना चाहिए।

इतने विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आस्रव और संवर तथा निर्जरा का मुख्य आधार चित्तवृत्ति पर–मानसिक परिणामों की धारा पर-निर्भर है। बाह्य पदार्थ और बाह्य क्रिया-काण्ड निमित्त मात्र हैं। निमित्त उपादान की शुद्धि की प्रकटता के लिए हैं। निमित्त जब तक उपादान के उपकारी होते हैं तब तक वे ग्राह्य हैं लेकिन निमित्तों के पीछे उपादान को न भुला देना चाहिए। जब उपादान को विसरा कर निमित्तों को महत्व दिया जाता है तब धर्म केवल शुष्क क्रियाकाण्ड में ही समाप्त हो जाता है। वह जीवनव्यापी नहीं बन सकता। जब तक धर्म का व्यवहार में सर्वक्षेत्रस्पर्शी प्रयोग न हो तब तक धर्म का सच्चा रहस्य नहीं समझा गया ऐसा मानना पड़ेगा। निमित्त उपादान के उपकारी हैं अतएव ग्राह्य होते हैं। वस्तुतः उपादान की ही प्रबलता है। अतएव उपादान को—अपनी चित्तवृत्ति को-शुद्ध बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। यही बात "मनः एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः" इस सूत्र में गर्भित है।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

यहाँ यह बात खास लक्ष्य में रखनी चाहिए कि यह अनासक्त योग कहने में जितना सरल है उतना आचरण में कठिन है ही। कोई भी साधक श्री स्थूलिभद्र मुनि का अनुकरण करके विलास-वर्धक एवं विकारोत्तेजक संयोगों में रहने का साहस न करे। एकदम अनासक्त योग पर चढ़ने का प्रयत्न करने पर मुँह की खाकर नीचे गिरना पड़ेगा। अनासक्त योग की प्रथम सीढ़ी त्यागमार्ग है। त्यागमार्ग पर आये बिना जो साधक सीधा अनासक्त योग पर जाने लगेगा वह सीढ़ियों को कूदकर ऊपर चढ़ना चाहेगा; फलस्वरूप नीचे गर्त्त में गिरेगा। कर्मबन्धन के स्थान में समभाव, तटस्थ और निर्विकार रह सकने की शक्ति दीर्घकाल के त्यागमार्ग की साधना के पीछे प्राप्त होती है। अतएव कर्मबन्धन के स्थानों से अलग रहना ही श्रेयस्कर है। संयम के स्थानों में विचरण करते हुए भी अध्यवसायों की शुद्धि पर विशेष लक्ष्य देने की आवश्यकता है।

इस प्रकार आस्रव और निर्जरा के स्थानों का कथन किया गया है। इसके विवेक को समझ कर साधक आस्रव का त्याग करे और निर्जरा को ग्रहण करे।

तीर्थङ्कर देवों ने अपने केवलज्ञान द्वारा कर्मों के आस्रव के कारण और निर्जरा के कारण जानकर संसार के जीवों के सामने उनका प्रतिपादन किया है। उन तीर्थङ्कर देवों की आज्ञा के अनुसार इस संसार के प्राणियों को कर्म के बन्धन में बँधते हुए और बन्धन से छूटते हुए जानकर कौन प्राणी संयम में उद्यत न होगा? आस्रव और निर्जरा के स्वरूप को बराबर समझ कर उनका विवेक कर निर्जरा के स्थानों में प्रवृत्ति करनी चाहिए। संयम में सदा प्रयत्नशील होना चाहिए।

तीर्थङ्कर देवों ने भिन्न भिन्न कर्मों के आस्रव के भिन्न २ कारण बताये हैं। इसी तरह निर्जरा के कारण भी कहे हैं। उनका संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार हैं—

ज्ञानावरणीय कर्म के बन्ध के हेतु इस प्रकार हैं—(१) ज्ञान और ज्ञानवान् की निन्दा करना (२) जिस ज्ञानी से ज्ञान सीखा है उसका नाम छिपाकर स्वयं ज्ञानी बनने का प्रयत्न करना (३) ज्ञान की आराधना में विघ्न डालना (४) ज्ञानीजनों पर द्वेष रखना (५) ज्ञान और ज्ञानी की आशातना करना और (६) ज्ञानी के साथ विसंवाद—वृथा बकवाद करना। दर्शनावरणीयकर्म के बन्ध के हेतु वही हैं जो ज्ञानावरणीय के हैं केवल ज्ञान की जगह दर्शन समझना चाहिए जैसे (१) सुदर्शनी की निन्दा करना (२) जिसके द्वारा दर्शन प्राप्त हुआ है उसके नाम का गोपन करना (३) दर्शन की आराधना में विघ्न डालना (४) सुदर्शनी पर द्वेष रखना (५) दर्शन और दर्शनी की आशातना करना और (६) सुदर्शनी के साथ विसंवाद करना। वेदनीय कर्म के दो भेद हैं-(१) सातावेदनीय और (२) असातावेदनीय। सातावेदनीय के बन्ध के कारण ये हैं-(१) द्वीन्द्रिय आदि प्राणियों की अनुकम्पा करना (२) वनस्पति आदि भूतों की अनुकम्पा करना (३) पंचेन्द्रिय जीवों की अनुकम्पा करना (४) पृथ्वीकाय आदि सत्वों की अनुकम्पा करना (५) प्राणियों को दुख नहीं पहुँचाना (६) शोक नहीं कराना (७) झूराना नहीं (८) पीड़ा नहीं पहुँचाना (९) परितापना नहीं देना। असातावेदनीय के बन्ध के कारण इनसे विपरीत समझने चाहिए। मोहनीय कर्म के बन्धन के हेतु ये हैं-केवली भगवान् का, वीतराग-प्ररूपित शास्त्र का, धर्म का, संघ का और देवों का अवर्णवाद करना दर्शनमोहनीय का कारण है। तीव्र क्रोध, तीव्र मान, तीव्र माया, तीव्र लोभ से चारित्र मोह का बन्ध होता है। आयुष्य कर्म के चार भेद हैं—(१) नरकायु (२) तिर्यञ्चायु (३) मनुष्यायु और (४) देवायु। महाआरम्भ, महापरिग्रह, पंचेन्द्रिय का वध और मांस-भक्षण करना ये नरकायु के कारण हैं। छल-कपट करना, मिथ्या भाषण करना, तोलने-मापने की वस्तुओं को कम-ज्यादा देना-लेना इत्यादि तिर्यञ्चायु के कारण हैं। प्रकृति की सरलता,

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

नम्रभाव, अल्प आरम्भ करना, अल्प परिग्रह रखना, ईर्षाभाव न रखना, सब पर दयाभाव रखना मनुष्यायु के कारण हैं। सराग संयम, श्रावक धर्म का पालन, अज्ञान तप, अकाम निर्जरा ये देवायु के कारण हैं।

नामकर्म के दो भेद हैं। शुभ नाम और अशुभ नाम। मन की सरलता, वचन की सरलता और काया की सरलता और वैरविरोध न रखने से शुभ नाम का बँध होता है। मन की वक्रता, वचन की वक्रता, काया की वक्रता और विसंवादत्व (वैरविरोध) अशुभ नाम कर्म के बंध के कारण है। जाति, कुल, बल, रूप, तप, श्रुत, लाभ और ऐश्वर्य का घमंड करने से और अपनी तारीफ और दूसरों की निन्दा करने से नीचगोत्र बँधता है। आठ मद स्थानों का अभिमान न करने से, दूसरों का गुणानुवाद और आत्मनिन्दा करने से उच्चगोत्र का बंध होता है। अन्तराय कर्म के बंध के कारण ये हैं:—(१) दान देते हुए के बीच में बाधा डालना (२) किसी को लाभ हो रहा हो उसमें बाधा डालना (३) भोजन-पान आदि भोग की प्राप्ति में बाधा डालना (४) वस्त्र शयनादि उपभोग योग्य वस्तु की प्राप्ति में रुकावट करना (५) कोई जीव अपने पुरुषार्थ को प्रकट कर रहा हो उसके प्रयत्न में बाधा डालना। यह आस्रवों के कारण का निरूपण किया गया है।

इसी तरह अनशन, ऊनोदरी, वृत्ति-संक्षेप, रसपरित्याग, काय-क्लेश और प्रतिसंलीनता रूप बाह्य तप, तथा विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान, कायोत्सर्ग और व्युत्सर्ग रूप आभ्यन्तर तप निर्जरा का कारण है।

इस प्रकार परम हितकारी तीर्थङ्कर देवों ने आस्रव और संवर का भलीभांति पृथक् पृथक् स्वरूप बताया है। इसे जानकर आस्रव से निवृत्ति और निर्जरा में प्रवृत्ति करनी चाहिए।

आघाइ नाणी इह माणवाणं संसारपडिवण्णाणं संबुज्झमाणाणं विन्नाणपत्ताणं, अट्टा वि संता अदुवा पमत्ता अहासच्चमिणं त्ति बेमि। नाणागमो मच्चुमुहस्स अत्थि, इच्छापणीया वंकानिकेया, कालग्गहिया निचयनिविट्ठा पुढो पुढो जाइं पकप्पयंति।

संस्कृतच्छाया—*आख्याति ज्ञानी इह मानवानां संसारप्रतिपन्नानां संबुध्यमानानां विज्ञानप्राप्तानाम्, आर्त्ता अपि सन्तः अथवा प्रमत्ताः यथासत्यमेतदिति ब्रवीमि। नानागमो मृत्युमुखस्यास्ति, इच्छाप्रणीताः, वङ्कानिकेताः, कालगृहीताः निचयनिविष्टाः पृथक् पृथक् जातिं प्रकल्पयन्ति।*

शब्दार्थ—नाणी=ज्ञानीजन। संसारपडिवण्णाणं=संसारवर्त्ती। संबुज्झमाणाणं=भलीभांति समझने वाले। विन्नाणपत्ताणं=हिताहित को समझ सकने वाले। माणवाणं=मनुष्यों को। इह=इस प्रवचन में। आघाइ=इस तरह उपदेश देते हैं कि। अट्टा वि संता=दुखी बने हुए। अदुवा=अथवा। पमत्ता=प्रमादी बने हुए भी धर्माचरण के लिए उद्यत होते हैं। अहासच्चमिणं=यह बिल्कुल सत्य है। त्ति बेमि=ऐसा मैं कहता हूँ। मच्चुमुहस्स=मृत्यु के मुख में पड़े हुए प्राणी

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

को। अणागमो=मृत्यु नहीं आवेगी ऐसा। न अत्थि=नहीं है। इच्छापणीया=इच्छा के वश में पड़े हुए। वंकानिकेया=असंयम में लीन बने हुए। कालगहीया=काल के मुँह में पड़े हुए तदपि। निचयनिविट्ठा=कर्मों का संग्रह करने में तल्लीन बने हुए। पुढो पुढो=विचित्र। जाइं=जन्म-परम्परा को। पकप्पयंति=बढाते हैं।

भावार्थ—ज्ञानी भगवान् संसार में रहे हुए, सरलबोधि और बुद्धिशाली पुरुषों को इस प्रकार धर्मोपदेश देते हैं कि जिससे वे क्लेश, शोक और संताप रूप आर्त्तध्यान से व्याकुल होने पर भी तथा विषयादि प्रमाद में फँसे हुए होने पर भी धर्माचरण कर सकते हैं। यह बात यथार्थ है। अहो जम्बू! कितना आश्चर्य! संसार के सभी प्राणी मृत्यु के मुख में पड़े हुए हैं। इन प्राणियों को मृत्यु न आवे ऐसा तो बिल्कुल है ही नहीं तो भी आशा से आकृष्ट होकर, असंयमी जीव काल के मुँह में पड़े होने पर भी मानों मरना ही नहीं है इस प्रकार पाप-क्रियाओं में लीन रहते हैं और विचित्र जन्म-परम्परा की वृद्धि करते हैं। अथवा पुनः पुनः आशा के जाल में फँसते हैं।

विवेचन—पूर्वसूत्र में यह कहा गया था कि तीर्थङ्कर देवों ने आस्रव और निर्जरा का स्वरूप विभिन्न रीति से लोक-समुदाय को प्रवेदित किया है। अब यह बताया गया है कि प्रवचन कौन कर सकता है और किनके सामने, कैसी योग्यता वालों के सामने धर्मोपदेश करना चाहिए। उपदेशक की योग्यता को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं कि जो ज्ञानवान् है, जिसने विविध प्रकार का अनुभव प्राप्त किया है, जिसने वस्तु-तत्त्व को विभिन्न दृष्टि-बिन्दुओं से पहचाना है वही उपदेश करने के योग्य हैं। विशिष्ट-ज्ञान-सम्पन्न पुरुष ही जन-समाज को विकास का सच्चा मार्ग बता सकता है। जिसे लोक-मानस का विशाल अनुभव नहीं है ऐसा पुरुष यदि उपदेश देने लगे तो कदाचित् अनर्थ का कारण भी हो सकता है। उपदेशक को द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का ज्ञाता होना चाहिए। पात्रापात्र को समझने की योग्यता उसमें होनी चाहिए इसीलिए सूत्रकार ने ज्ञानी को उपदेश करने योग्य कहा है। अब यह बताते हैं कि उपदेश-श्रवण के योग्य कौन है? किसे उपदेश प्रदान करना चाहिए? मुख्यतया मनुष्य ही उपदेश श्रवण के योग्य है क्योंकि मनुष्य ही सर्वसंवर रूप चारित्र के योग्य है। तिर्यञ्चादि भी उपदेश श्रवण करते हैं तथापि वे सम्पूर्ण चारित्र के पालन में असमर्थ हैं। देवतादि भी त्याग प्रत्याख्यान नहीं कर सकते हैं। अथवा सूत्र में आया हुआ "माणवाणं" पद उपलक्षण समझना चाहिए। इससे समस्त चतुर्गति के अन्तर्गत आये हुए जीवों का ग्रहण हो जाता है। सर्वविरतित्व मनुष्य में ही होता है अतः उसकी प्रधानता के कारण सूत्र में 'माणवाणं' पद दिया गया है। केवल "माणवाणं" पद देने से केवलियों का भी ग्रहण हो जाता है लेकिन केवलियों को उपदेश की आवश्यकता नहीं होती अतः उनका निषेध करने के लिए "संसारप्रतिपन्न" यह विशेषण लगाया है। इससे चतुर्गति में रहे हुए जीवों का ग्रहण समझना चाहिए। इनमें भी जो प्राणी धर्म ग्रहण करेंगे, जो सरलबोधि हैं, वे ही उपदेश श्रवण के योग्य हैं। छद्मस्थ प्राणी भविष्य की बात नहीं जान सकते हैं अतः उन्हें किसे उपदेश देना चाहिए यह प्रश्न हो सकता है अतएव सूत्रकार यह फरमाते हैं कि अपनी विवेक-बुद्धि से यह जान लेना चाहिए कि यह प्राणी हित या अहित को समझ सकने वाला है या नहीं? इस प्रकार जो मुमुक्षु हो, सुपात्र हो और बुद्धिशाली हो वही उपदेश श्रवण के योग्य है उसे लक्ष्य में रखकर उपदेश दिया जाना चाहिए।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

ज्ञानी पुरुष इस प्रकार से उपदेश फरमाते हैं कि जो आर्त्तध्यान से व्याकुल हैं और विषयादि प्रमादों से प्रमत्त हैं वे भी धर्माचरण के लिए उद्यत हो जाते हैं। ज्ञानी पुरुषों के वचनामृत में वह शक्ति है जो मिथ्यात्व और प्रमादादि रोगों को क्षण में शान्त कर देती है। चिलातिपुत्र दुखों से संतप्त हो रहा था। उसने भी प्रभु का उपदेश सुना और वह संयम में सावधान हुआ। इसी प्रकार शालिभद्र अपने स्वर्गीय विषयसुखों में निमग्न थे। वे विषयादि से प्रमत्त थे। संसार के सुखोपभोग के समस्त साधनों के विद्यमान होते हुए भी वे धर्माचरण के प्रति उद्यत हुए। यह प्रभु की देशना का ही परिणाम है। प्रभु के प्रवचन में राजा और रंक का भेद नहीं है। वे सभी को समान भाव से निरपेक्ष बुद्धि से उपदेश फरमाते हैं। प्रभु की दिव्य देशना के द्वारा भव्यजनों के मिथ्यात्वादि रोग क्षीण हो जाते हैं। प्रभु की वाणी समस्त पापों को दूर करने वाली है। उसका आश्रय लेकर अनन्त जीव संसार-समुद्र के पारगामी हुए और होवेंगे।

यहाँ यह आशंका की जा सकती है कि प्रभु की देशना से पाप दूर हो जाते हैं; प्रभु अनन्त शक्ति-सम्पन्न है और सब जीवों के हितकारी हैं तो उनकी देशना से अभव्य जीव प्रतिबोध क्यों नहीं पाते? प्रभु अपनी शक्ति और वाणीद्वारा उन्हें प्रतिबोध नहीं दे सकते तो क्या यह उनका असामर्थ्य नहीं है? इसका समाधान यह है कि तीर्थंकरों की देशना द्वारा अभव्य जीव प्रतिबोध नहीं पाते हैं तो यह उपदेशक की असमर्थता नहीं है बल्कि उन जीवों की तथारूप परिणति ही उसके लिए दोषी है। सूर्य अपने स्वर्णमय प्रकाश को अभेद रूप से वितरण करता है लेकिन अगर उल्लू उस प्रकाश का लाभ नहीं ले सकता तो यह सूर्य का दोष नहीं कहा जा सकता। इसी तरह प्रभु निरपेक्ष होकर देशना का दान करते हैं अगर अभव्य जीव प्रतिबोध नहीं पाते तो यह प्रभु का असामर्थ्य नहीं है। कहा है:—

सद्धर्मबीजवपनानघकौशलस्य, यल्लोकबान्धव ! तवापि खिलान्यभूवन् ।
तन्नाद्भुतं खगकुलेष्विह तामसेषु सूर्यांशवो मधुकरीचरणावदाताः ॥

अर्थात्—हे सर्व-जग-हितकारी प्रभो ! आप सद्धर्म रूप बीज के बोने में अद्वितीय कुशल हैं तदपि अभव्यात्माओं के लिए वह कारगर नहीं हो सकता है तो यह कोई अद्भुत बात नही है क्योंकि तमोविहारी उल्लू के लिए सूर्य की सुनहरी किरणें भी भ्रमरी के चरणों के समान काली ही होती है।

इस प्रकार ज्ञानी पुरुषों के प्रवचन में पतितों को पावन करने की, अधमों का उद्धार करने की, पतितों को ऊँचा उठाने की शक्ति रही हुई है। इस प्रवचन का आश्रय लेने से अतिघोर पापी भी मुक्ति के अधिकारी हुए हैं। जब पापी, आर्त्तध्यानी और विषयसुखों में लीन रहने वाले व्यक्ति भी प्रभु का उपदेश सुनकर धर्माचरण के प्रति उद्यत हुए तो हे शिष्यो ! तुम्हें धर्माचरण के प्रति सतत जागृत रहना चाहिए। ज्ञानी पुरुषों ने विकास का मार्ग बता दिया है। आवश्यकता है सिर्फ उस पर गमन करने की। जो साधक प्रभु के द्वारा उपदिष्ट मार्ग पर बराबर चलता है वह शीघ्र मुक्त हो जाता है।

श्रीसुधर्मास्वामी अपने प्रिय शिष्य जम्बूस्वामी से कहते हैं कि यह जो मैंने कथन किया है वह अनुभव पूर्ण सत्य है। यह यथार्थ तत्त्व है। अतः दुर्लभ सम्यक्त्व को पाकर प्रमाद नहीं करना चाहिए।

तीर्थङ्कर देवों का सत्य उपदेश होते हुए भी अनादिकालीन मिथ्यात्व की गाढ़ निद्रा से सुप्त प्राणी उस उपदेश पर ध्यान नहीं देते और संसार के प्रपञ्चों में ही आजीवन फँसे रहते हैं। यह बात तो निश्चित है कि प्रत्येक संसारी प्राणी मृत्यु के कराल गाल में पड़ा हुआ है। तदपि मोहासक्त प्राणी इसकी

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

परवा न करके अपने आपको अजर-अमर मानकर पाप के कार्यों में मस्त रहता है। हा हा! कितना आश्चर्य! कितनी मुग्धता! संसारासक्त प्राणी जन्म से लगाकर मृत्यु के प्रथम क्षण तक सांसारिक प्रपञ्चों में इस प्रकार मशगूल रहता है मानों उसे मृत्यु आएगी ही नहीं। लेकिन यह तो निश्चित है कि जो जन्म धारण करता है वह मरता है। राजा, महाराजा, सम्राट्, चक्रवर्त्ती, देव और देवों का अधिपति इन्द्र तक काल के गाल में पड़े हुए हैं। बालक, युवा अथवा वृद्ध, नर या नारी, देव और दानव सभी मृत्यु के विकराल पंजे में पकड़े हुए हैं। कहा है—

वदत यदीह काश्चिदनुसंततसुखपरिभोगलालितः ।
प्रयत्नशतपरोऽपि विगतव्यथमायुरवाप्तवान्नरः ॥

अर्थात्—कवि पूछता है कि बोलो, यहाँ सदा सुख के परिभोग के द्वारा लाड़ लड़ाया हुआ, व सैकड़ों प्रयत्न करने पर भी दुख और व्यथा रहित एक भी मनुष्य है? एक भी नहीं। देवताओं के समूह, विद्या वाला, असुर और किन्नरों का नायक और मनुष्य कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं है जो यमराज के दाँत रूपी वज्र के प्रहार से क्षुब्ध होकर मृत्यु को न पावे। धर्म के परिपूर्ण आराधन के सिवाय काल को जीतने का कोई उपाय नहीं। मंत्रवादियों के मंत्र, तन्त्रवादियों के तन्त्र, डाक्टरों और वैद्यों की औषधियाँ, ज्योतिषियों के ज्योतिष और वैज्ञानिकों के आविष्कार मृत्यु पर विजय प्राप्त करने में असमर्थ हैं और असमर्थ ही रहेंगे। मृत्यु को जीतने का एक मात्र उपाय संयम की अप्रमत्त आराधना है। तीर्थङ्कर देवों ने मृत्यु को जीतकर मृत्युञ्जय बनने के लिए संयम रूपी संजीवनी बूटी का दान किया है। जो विधिपूर्वक इस संयम-संजीवनी का प्रयोग करता है वह मृत्युञ्जय बनकर अमर हो जाता है।

इसके विपरीत जो प्राणी विषय और कषायों में गृद्ध होते हैं वे पुनः पुनः जन्म-मरण करते हैं। जो प्राणी इन्द्रिय और मन के विषयों के अनुकूल गति करते हैं वे इच्छा-प्रणीत कहलाते हैं। जो व्यक्ति इच्छा-प्रणीत अर्थात्-इच्छाओं के दास हैं और इसलिए वंकानिकेत-असंयम का आश्रय लेने वाले हैं वे प्राणी सावद्य कर्मों का बन्धन करने में मशगूल रहते हैं। वे मृत्यु के द्वार पकड़े हुए होते हैं तदपि उसकी परवाह न करते हुए पापकर्मों द्वारा कर्म-संग्रह करते हैं और फलस्वरूप विभिन्न योनियों में जन्म-मरण करते हैं।

कहीं कहीं "एत्थ मोहे पुणो पुणो" यह पाठान्तर भी पाया जाता है उसका अर्थ यह है कि इन्द्रियों के अनुकूल कर्मरूप मोह में डूबे हुए व्यक्ति बार-बार ऐसे कर्म करते हैं कि वे संसार से मुक्त न होकर परिभ्रमण करते ही रहते हैं। अर्थात्-आशा से बँध कर जन्म-मरण करते हैं और पुनः आशा के पाश में बँध जाते हैं इस तरह भव परम्परा का कभी अन्त नहीं आता है। अतएव मुमुक्षु साधक आशा के बन्धनों को तोड़कर संयम के आराधन में सदा अप्रमत्त रहे।

इहमेगेसिं तत्थ तत्थ संथवो भवइ, अहोववाइए फासे पडिसंवेयंति, चिट्ठं कम्मेहिं कूरेहिं चिट्ठं परिचिट्ठइ, अचिट्ठं कूरेहिं कम्मेहिं नो चिट्ठं परिचिट्ठइ, एगे वयंति अदुवावि नाणी, नाणी वयंति अदुवावि एगे ।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

संस्कृतच्छाया—*इहमेकेषां तत्र तत्र संस्तवो भवति अथ औपपातिकान् स्पर्शान् प्रतिसंवेदयंति, भृशम् कर्म्मभिः क्रूरैः भृशं परितिष्ठति, नात्यर्थ क्रूरैः कर्म्मभिः नो भृशं परितिष्ठति । एके वदन्ति अथवाऽपि ज्ञानी, ज्ञानिनो वदन्ति अथवाऽप्येके ।*

शाब्दार्थ—इहं=इस संसार में । एगेसिं=एकेक भारीकर्मी जीवों को । तत्थ तत्थ=उन उन नरकादि स्थानों से । संथवो=खूब परिचय । भवइ=होता है वे । अहोववाइए=नरकादि स्थानों में होने वाले । फासे=दुखों का । पडिसंवेयंति=वेदन करते रहते हैं । चिट्ठं=अत्यन्त । कूरेहिं कम्मेहिं=क्रूरकर्म करने से । चिट्ठं=अति भयङ्कर दुख वाले नरकादि स्थान में । परिचिट्ठइ=उत्पन्न होता है । अचिट्ठं कूरेहिं कम्मेहिं=अत्यन्त क्रूरकर्म न करने से । नो चिट्ठं=दुखी स्थानों में नहीं । परिचिट्ठइ=उत्पन्न होता है । एगे=श्रुतकेवली । वयंति=कहते हैं । अदुवावि=अथवा । नाणी=केवली कहते हैं-नाणी=केवलज्ञानी । वयंति=कहते हैं । अदुवावि=वही । एगे=श्रुतकेवली कहते हैं ।

भावार्थ—इस संसार में कतिपय ऐसे भी भारी-कर्मी जीव होते हैं जिनको नरकादि के दुखों को भोगने का मानो शौक लग गया हो । वे जीव घोर पापकर्म करके उन स्थानों में उत्पन्न होकर विविध प्रकार के दुख भोगा करते हैं । अत्यन्त क्रूरकर्म करने से अति भयंकर दुख वाले स्थान में उत्पन्न होना पड़ता है और जो जीव अति क्रूरकर्म नहीं करते हैं उन्हें ऐसे दुखमय स्थानों में उत्पन्न नहीं होना पड़ता है ।

इस प्रकार जो सत्य श्रुतकेवली पुरुष कहते हैं वही केवलज्ञानी पुरुष कहते हैं और जो केवलज्ञानी कहते हैं वही सत्य श्रुतकेवली पुरुष भी संसारियों को प्रतिबोध देने के लिए कहते हैं ।

विवेचन—पूर्ववर्ती सूत्र में यह कहा गया है कि जो जीव इच्छाओं के गुलाम हैं और अपनी इच्छाओं को पूर्ण करने के लिए जो सावद्य कार्यों में मशगूल रहते हैं वे पुनः पुनः जन्म-मरण करते हैं । अब इस सूत्र में यह बताया गया है कि पुनः पुनः जन्म-मरण करने से उन दुखों के साथ उनका गाढ़ परिचय हो जाता है । दुखों को सहन करते हुए जीवात्मा को दुख सहन करने की टेव पड़ जाती है ।

जिस प्रकार कोई भी मनुष्य प्रथम तो कारागृह (जेलखाने) में जाने से डरता है लेकिन चार पाँच बार जेलखाने में रह आने के बाद उसके लिए कारागार सहज घर के समान हो जाता है, उसी प्रकार जिसने अति घोर कष्ट सहन किये हैं वह जीवात्मा दुखों को सहन करने का ऐसा अभ्यस्त हो जाता है कि पीछे उसे दुखों का भय ही मानों नहीं रहता । इस कथन का आशय यह है कि जीवात्मा को अपने किए हुए कर्मों का अच्छा बुरा अनुभव बार बार हुआ करता है तो भी वह अपनी मूढ प्रवृत्ति को सुधारने का प्रयत्न नहीं करता है इस पर से ज्ञानी पुरुष यह अनुमान करते हैं कि कदाचित् यह दुख सहन करने का अभ्यस्त हो गया है नहीं तो अपने आप क्यों इस तरह बार बार फँसता है ? प्राणी जान बूझकर कोई प्रवृत्ति तब करता है जब उसे उस बात का शौक हो । पुनः पुनः दुःख सहन कर चुकने पर भी प्राणी दुःखोत्पादक क्रूर कर्म करता है इससे मालूम होता है कि दुःख के साथ इसका गाढ़ परिचय हो गया है और

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

दुख सहन करने का इसका शौक है। दुख से ही इसका सम्बन्ध जुड़ गया है। तभी तो यह दुख सहते हुए भी दुखों के कारणों को नहीं छोड़ता है बल्कि और भी दुख के कारणों को एकत्रित करता है।

एक बार यूरोप के किसी देश में एक व्यक्ति को किसी अपराध में आजीवन कैद की सजा दी गई। वह व्यक्ति जेलखाने की अँधेरी कोठरी में बंद कर दिया गया। उसके जीवन का बहुत-सा भाग उसी अँधेरी कोठरी में व्यतीत हो गया। बहुत वर्षों के बाद राज्य के किसी शुभ प्रसंग के उपलक्ष में कैदियों को मुक्त किया गया। जब वह व्यक्ति भी जेलखाने से बाहर लाया गया तो वह बाहर के खुले वातावरण को देखकर घबरा गया और रोते हुए चिल्लाने लगा कि मुझे तो मेरी अँधेरी कोठरी में ही रहने दो। मैं बाहर प्रकाश में नहीं रह सकता। लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ। मतलब यह है कि अपने जीवन का बहुत-सा भाग जेलखाने की अँधेरी कोठरी में ही व्यतीत करने से उसको अँधेरे में ही रहने की टेव हो गयी थी अतः वह प्रकाश को न सह सका। इसी तरह दुखों को सहन करते हुए प्राणी इतने अभ्यस्त हो गये हैं कि वे और भी दुख के कारणों को ही एकत्रित करते हैं। मानों दुख ही उनका चिरसंगी है। इस तरह इच्छा और विषयों के दास बने हुए प्राणी घोर कुकर्म करके नरक के भयंकर दुख सहन करते हैं। इन्द्रियों के विशेष रूप से दास बने हुए नास्तिक मत के प्रवर्त्तक बृहस्पति कहते हैं कि:—

पिब खाद च चारुलोचने! यदतीतं वरगात्रि! तन्न ते।
न हि भीरु! गतं निवर्त्तते समुदयमात्रमिदं कलेवरम्॥

अर्थात्—हे सुन्दर नेत्र वाली! खूब खाओ और पीओ। हे सुन्दर शरीर वाली! जो चला गया है वह अब तेरा नहीं है। हे भीरु! गया हुआ लौटकर नहीं आता। यह शरीर परमाणुओं का समूहमात्र है। न स्वर्ग है और न नरक। न पाप है न पुण्य। आनन्द से खाओ-पीओ और मौज करो। द्रव्य न हो तो "ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्" ऋण करके भी घृतपान करो। यह नास्तिक की विचार-धारा भारी मिथ्यात्व का परिणाम है। ऐसे प्राणी दुखों से परिचित रहते हैं। जैसे विष का कीड़ा विष में ही मस्त रहता है इसी तरह ये मोहासक्त और संसारासक्त प्राणी संसार के दुखों में ही सुख मानते हैं। ये इन सांसारिक इच्छाओं की पूर्ति के लिए अति भयंकर क्रूर कर्म करते हैं। जो भयंकर कर्म करते हैं। वे भयंकर दुख वाले स्थानों में—नरक में जाते हैं। जो क्रूरकर्म नहीं करते हैं उन्हें भयंकर नरकादि स्थानों में नहीं उत्पन्न होना पड़ता। जीवात्मा जैसे जैसे कर्म करता है उसी तरह उसका चैतन्य विकृत होता जाता है। जो निकृष्ट कर्म करता है उसे निकृष्ट स्थान में जाना पड़ता है। यह जानकर प्रत्येक मुमुक्षु व्यक्ति अधम कार्यों से डरे ताकि निकृष्ट स्थानों में जाना न पड़े।

यह समस्त कथन श्रुतकेवलियों के द्वारा कहा हुआ है। जो सत्य श्रुतकेवली कहते हैं वही केवलज्ञानी कहते हैं और केवलज्ञानी जो कहते हैं वही श्रुतकेवली कहते हैं। यह कथन करके सूत्रकार श्रुतकेवली और केवलज्ञानियों के कथन की एक रूपता प्रकट करते हैं। केवली तो समस्त घनघाति-कर्मों के विलय हो जाने पर उत्पन्न हुए निरावरण केवलज्ञान द्वारा समस्त चराचर जगत् के भावों को हस्तामलकवत् जानते हैं अतः उनकी प्ररूपणा सत्य ही है और श्रुतकेकली वह उपदेश देते हैं जो केवलियों ने दिया है। अतएव श्रुतकेवली और केवलियों का कथन सम्पूर्ण सत्य है। दश पूर्व से लेकर चौदह पूर्व का ज्ञान धारण करने वाले श्रुतकेवली कहलाते हैं। तीर्थंकर देव के उपदेशानुसार ही श्रुतकेवली की प्रवृत्ति होती है अतएव इनकी वाणी में और तीर्थंकर की वाणी में एकरूपता होती है इस प्रकार के समयज्ञ और सद्वर्त्ताव वाले महापुरुषों की शिक्षा का प्रत्येक साधक को अनुसरण करना चाहिए।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

आवंति केयावंती लोयंसि समणा य माहणा य पुढो विवायं वयंति, से दिट्ठं च णे, सुयं च णे, मयं च णे, विण्णायं च णे, उड्ढं अहं तिरियं दिसासु सव्वओ सुपडिलेहियं च णे–सव्वे पाणा, सव्वे जीवा, सव्वे भूया, सव्वे सत्ता हन्तव्वा अज्जावेयव्वा परिघित्तव्वा, परियावेयव्वा उद्दवेयव्वा इत्थवि जाणह नत्थित्थ दोसो। अणारियवयणमेयं।

तत्थ जे आरिया ते एवं वयासी–से दुद्दिट्ठं च भे, दुस्सुयं च भे, दुम्मयं च भे, दुविण्णायं च भे, उड्ढं अहं तिरियं दिसासु सव्वओ दुप्पडिलेहियं च भे, जं णं तुब्भे एवमाइक्खह एवं भासह, एवं परूवेह, एवं पण्णवेह सव्वे पाणा ४ हंतव्वा ५, इत्थवि जाणह नत्थित्थ दोसो। अणारियवयणमेयं।

वयं पुण एवमाइक्खामो एवं भासामो एवं परूवेमो एवं पण्णवेमो सव्वे पाणा ४ न हंतव्वा, न अज्जावेयव्वा, न परिघित्तव्वा, न परियावेयव्वा न उद्दवेयव्वा इत्थवि जाणह नत्थित्थ दोसो, आयरियवयणमेयं। पुव्वं निकायसमयं पत्तेयं पुच्छिस्सामि हं भो! पवाइया किं भे सायं दुक्खं असायं? समिया पडिवण्णे यावि एवं बूया–सव्वेसिं पाणाणं, सव्वेसिं भूयाणं, सव्वेसिं जीवाणं सव्वेसिं सत्ताणं असायं अपरिनिव्वाणं महब्भयं दुक्खं त्ति बेमि।

संस्कृतच्छाया—*यावन्तः केचन लोके श्रमणाश्च ब्राह्मणाश्च पृथक् विवादं वदन्ति—तद् दृष्टञ्च नः, श्रुतञ्च नः, मतञ्च नः, विज्ञातञ्च नः, ऊर्ध्वाधस्तिर्यक्षु दिक्षु सर्वतः सुप्रत्युपेक्षितञ्च नः—सर्वे प्राणाः, सर्वे जीवाः, सर्वे भूताः, सर्वे सत्वाः हन्तव्या आज्ञापयितव्याः, परिगृहीतव्याः परितापयितव्या अपद्रापयितव्याः, अत्रापि जानीथ नास्त्यत्र दोषः। अनार्यवचनमेतत्।*

तत्र ये आर्यास्ते एवमवादिषुः तद् दुर्दृष्टं च युष्माभिः, दुःश्रुतं च युष्माभिः, दुर्मतञ्च युष्माभिः, दुर्विज्ञातञ्च युष्माभिः, ऊर्ध्वाधस्तिर्यक्षु दिक्षु सर्वतः दुष्प्रत्युपेक्षितञ्च युष्माभिः, यदेतद् यूयं आचक्षध्वे, एवं भाषध्वे, प्ररूपयथ प्रज्ञापयथ सर्वे प्राणाः ४ हन्तव्याः ५ अत्रापि जानीथ नास्त्यत्र दोषः। अनार्यवचनमेतत्। वयं पुनः एवमाचक्षामहे, एवं भाषामहे एवं प्ररूपयामः एवं प्रज्ञापयामः सर्वे प्राणाः ४ न हन्तव्याः, न आज्ञापयितव्याः, न परिगृहीतव्याः, न परितापयितव्याः, न अपद्रापयितव्या अत्रापि जानीथ नास्त्यत्र दोषः।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

आर्यवचनमेतत् । पूर्वं निकाच्य समयं प्रत्येकं प्रत्येकं प्रश्नयिष्यामि भो प्रावादुकाः ! किं युष्माकं सातं दुःखम् उतासातं ? सम्यक् प्रतिपन्नास्तान् चाप्येवं ब्रूयात् सर्वेषाम् प्राणिनां, सर्वेषां भूतानां, सर्वेषां जीवानां, सर्वेषां सत्वानाम् असातं अपरिनिर्वाणं महद्भयं दुःखमिति ब्रवीमि ।

शब्दार्थ—लोयंसि=इस जगत् में । आवंति केयावंति=जितने कितनेक । समणा=श्रमण-बौद्धसाधु । माहणा य=और ब्राह्मण । पुढो=पृथक् २ । विवायं वयन्ति=धर्म-विरुद्ध बकवाद करते हैं । से दिट्ठं च णे=हमने देखा है । सुयं च णे=हमने सुना है । मयं च णे=हमने माना है । विण्णायं च णे=निश्चित रूप से जाना है । ऊड्ढं=ऊर्ध्वदिशा में । अहं=अधोदिशा में । तिरियं=तिर्छी दिशा में । दिसासु=सभी दिशाओं में । सुपडिलेहियं=अच्छी तरह परीक्षा की है कि । सव्वे पाणा=सभी द्वीन्द्रिय प्राणी । सव्वे जीवा=सभी पंचेन्द्रिय जीव । सव्वे भूया=सभी वनस्पतिकाय के जीव । सव्वे सत्ता=सभी पृथ्वी आदि के जीवों को । हन्तव्वा=मारना । अज्जावेयव्वा=दबाना-आज्ञा करना । परिघेत्तव्वा=पकडना । परियावेयव्वा=संताप पहुँचाना । उद्दवेयव्वा=प्राणविहीन करना । नत्थित्थ दोसो=इसमें कोई दोष नहीं है । इत्थवि जाणह=यह जानो । एयं=यह सब । अणारियवयणं=अनार्यों का कथन है ।

तत्थ=इस पर । जे=जो । आरिया=आर्य पुरुष हैं । ते=वे । एवं वयासी=इस प्रकार कहते हैं । से दुद्दिट्ठं च भे=यह तुम्हारा देखना दुष्ट है । दुस्सुयं च भे=तुम्हारा सुनना मिथ्या है । दुम्मयं च भे=तुम्हारा मानना दुष्ट है । दुव्विण्णायं च भे=तुम्हारा निश्चित जानना दुष्ट है । ऊड्ढं=ऊर्ध्व । अहं=नीची । तिरियं=तिर्छी । दिसासु=दिशाओं में । सव्वओ=सभी तरह । दुप्पडिलेहियं च भे=तुम्हारी परीक्षा मिथ्या है । जं णं तुब्भे=तुम जो । एवं आइक्खह=इस प्रकार कहते हो । एवं भासह=इस प्रकार बोलते हो । एवं परूवेह=इस प्रकार प्ररूपणा करते हो । एवं पण्णवेह=इस प्रकार प्रज्ञापित करते हो । सव्वे पाणा ४=सब प्राण, जीव, भूत, सत्त्व । हंतव्वा ५=मारने योग्य हैं आदि । इत्थवि=यह । जाणह=जानो कि । अत्थ=इसमें । दोसो नत्थि=दोष नहीं है । अणारियवयणमेयं=यह अनार्यों का वचन है । वयं पुण=हम तो । एवमाइक्खामो=इस प्रकार कहते हैं । एवं भासामो=इस प्रकार बोलते हैं । एवं परूवेमो=इस प्रकार प्ररूपणा करते हैं । एवं पण्णवेमो=इस प्रकार प्रज्ञप्त करते हैं । सव्वे पाणा ४=सभी प्राणी, जीव, भूत, सत्त्व । न हन्तव्वा=मारने योग्य नहीं हैं । न अज्जावेयव्वा=दबाने योग्य-आज्ञा करने योग्य नहीं हैं । न परिघित्तव्वा=पकडने योग्य नहीं हैं । न परियावेयव्वा=संताप पहुँचाने योग्य नहीं हैं । न उद्दवेयव्वा=प्राणरहित करने योग्य नहीं हैं । इत्थवि=यह भी । जाणह=जानो कि । नत्थित्थ दोसो=इसमें दोस नहीं है । आरियवयणमेयं=यह आर्य-पुरुषों के वचन हैं । पुव्वं=पहिले । पत्तेयं पत्तेयं=प्रत्येक । समयं=मत को । निकाय=जानकर । पुच्छिस्सामि=प्रश्न करता हूँ कि । हंभो=हे ।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

पवाइया=वादियो ! किं भे=क्या आपको। सायं=सुख। दुक्खं=अप्रिय है कि। असायं=दुख अप्रिय है। समिया=सम्यक्। पडिवण्णे यावि=स्वीकार करने पर। एवं वूया=उन्हें ऐसा कहना चाहिए। सव्वेसिं पाणाणं=सभी प्राणियों को। सव्वेसिं भूयाणं=सभी भूतों को। सव्वेसिं जीवाणं=सभी जीवों को। सव्वेसिं सत्ताणं=सभी सत्वों को। असायं=दुख। अपरिनिव्वाणं= अशान्ति करने वाला, अनिष्ट। महब्भयं=महा भयंकर। दुक्खं=अप्रिय है। त्ति बेमि=ऐसा मैं कहता हूँ।

भावार्थ—इस संसार में कोई श्रमण और ब्राह्मण सत्य और सनातन धर्म के विरुद्ध प्रलाप करते हैं। वे कहते हैं "हमने देखा है, गुरु आदि से सुना है, निश्चित रूप से जाना है, माना है और प्रत्येक दिशा में परीक्षा करके जाना है कि प्राण, भूत, जीव और सत्वों को मारने दबाने-आज्ञा करने, पकड़ने, दुखी करने और प्राणरहित करने में कोई दोष नहीं है"। वस्तुतः यह (मिथ्या प्रलाप) अनार्यों के ही वचन हैं।

जो आर्य होते हैं वे तो इस तरह के स्थल पर यह कहते हैं कि हे वादियो ! तुम्हारा यह देखना, सुनना, मानना, निश्चित रूप से जानना सभी दृष्टि-बिन्दुओं से जांच करना यह सब दुष्ट—असत्य अहितकर है। तुम कहते हो कि "प्राण, जीव, भूत और सत्वों को मारने में कोई दोष नहीं है" परन्तु तुम्हारा यह कथन अनार्यों के वचन के तुल्य है। हम तो यह कहते हैं--बोलते हैं, प्ररूपणा करते हैं, प्रज्ञप्त करते हैं कि किसी भी प्राणी, जीव, भूत और सत्व को किसी भी प्रयोजन से मारना, दबाना, संताप देना, पकड़ना और प्राणरहित नहीं करना चाहिए। इस प्रकार वर्ताव करने में दोष नहीं है; यह वचन आर्य-पुरुषों का है।

प्रत्येक मत के धर्मशास्त्रों में क्या २ कहा है यह भलीभांति जानकर प्रत्येक दर्शन के अनुयायियों से प्रश्न करते हैं कि हे परवादियो ! तुम्हें सुख अप्रिय है या दुख अप्रिय है ? सुख तो किसी को अप्रिय नहीं है। तुम्हें दुख अप्रिय लगता है तो सभी प्राणी, जीव, भूत और सत्वों को भी दुख महा भयंकर और अनिष्ट लगता है यह जानकर किसी को दुख न दो और अपने समान ही अन्य के साथ वर्ताव करो।

विवेचन—अहिंसा ही धर्म का प्राण है। अहिंसा के बिना कोई भी धर्म सच्चा धर्म नहीं कहा जा सकता। धर्मों का उद्देश्य व्यक्ति और समष्टि की एकरूपता सिद्ध करना होता है। मनुष्य स्वार्थ के संकीर्ण दायरे को छोड़कर क्रमशः जाति, समाज, देश और विश्व के प्राणियों के साथ आत्म-रूपता करना सीखे यही धर्मों का एकमात्र उद्देश्य होता है। अहिंसा के बिना यह उद्देश्य सिद्ध नहीं होता। विश्व की शान्ति के लिए अहिंसा अनिवार्य तत्त्व है। जब तक दुनिया अहिंसा देवी की आराधना नहीं करेगी तब तक दुनिया में शान्ति नाम मात्र को भी नहीं रह सकती। एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र पर आक्रमण करना, रक्तपात होना, भयंकर महायुद्धों का लड़ा जाना, ये सभी हिंसा के कार्य हैं जिनसे विश्व-शान्ति सदा खतरे में ही

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

रहती है। दुनिया पर भीषण तबाहियाँ गुजरती हैं। संसार के मानवी अगर अहिंसा की शरण लें तो ही वे शान्ति के दर्शन पा सकते हैं।

वैसे तो आंशिक अहिंसा को सभी वादियों ने स्वीकार की है तदपि इस विषय में वादियों में विभिन्न प्रकार के मत हैं। लेकिन इतना तो स्पष्ट है कि जो धर्म जितना अधिक अहिंसा को अपनाता है वह धर्म उतना ही अधिक उन्नत लोकोपयोगी और कल्याणकारक है। जैनधर्म अथवा अर्हन्त के प्रवचन में अहिंसा का इतनी सूक्ष्मता के साथ निरूपण है कि विश्व के अन्यान्य धर्मों में कहीं भी ऐसा निरूपण देखने को नहीं मिलता। जैनधर्म का विश्व-कल्याण कारक अहिंसा का सिद्धान्त, उसकी श्रेष्ठता और विश्व धर्म होने की योग्यता का प्रबल परिचायक है।

प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार वादियों के पूर्वपक्ष को बतला कर उसका सचोट एवं युक्तिसंगत खंडन करके अहिंसा के सिद्धान्त को पुष्ट करते हैं। साथ ही इस सूत्र से यह ध्वनित होता है कि उस काल में हिंसा का प्राबल्य था। यज्ञों और धर्म के नाम पर पशुओं का ही नहीं मनुष्यों तक का बलिदान किया जाता था। अज्ञान और स्वार्थान्ध व्यक्ति देव-देवियों के सामने और यज्ञों में हिंसा करने में धर्म है, ऐसा प्रचार करते थे। आज भी कतिपय देव-देवियों के स्थान पर बलिदान दिया जाता है यह तात्कालीन घातक प्रथा का अवशेष है। श्रमण भगवान् महावीर ने इसके विरुद्ध आन्दोलन खड़ा किया और इस प्रथा को नष्ट करने का भरसक प्रयत्न किया। उन्होंने सच्चे आर्य-धर्म अहिंसा का प्रचार किया। धर्म के नाम पर की हुई हिंसा, हिंसा नहीं है इस प्रकार कितनेक वादियों का मिथ्या प्रलाप है अतएव उसकी प्रसांगिक चर्चा की जाती है।

धूममार्गानुयायी मीमांसकों का यह कथन है कि जो हिंसा गृद्धता और व्यसन रूप से की जाती है वही हिंसा है। वही पापबन्ध का कारण है। वेदविहित हिंसा तो धर्म का हेतु है। इससे देवता और अतिथियों की प्रीति प्राप्त होती है। यज्ञादि करने से वृष्टि होती है यह उसका साक्षात्फल दृष्टिगोचर होता है। इसी तरह अश्वमेध, गोमेध, नरमेध आदि करने से देवता प्रसन्न होते हैं और इससे परराष्ट्रविजय और सन्तानादि का लाभ होता है। मीमांसकों का यह कथन उनकी कुसंस्कारिता और अज्ञान का द्योतक है। क्योंकि उनके वचन में ही विरोध आता है। वेदविहित हिंसा को हिंसा मानना और उसको धर्म का कारण मानना एक ही स्त्री को वन्ध्या और माता कहने के समान है। जिस प्रकार जो माता है वह वन्ध्या नहीं और जो वन्ध्या है वह माता नहीं हो सकती इसी प्रकार जो धर्म है वह हिंसा नहीं और जो हिंसा है वह धर्म नहीं हो सकता। हिंसा और धर्म में परस्पर विरोध है। ऐसी स्थिति में हिंसा चाहे वह वेदोक्त हो अथवा अन्यशास्त्र विहित हो, वह धर्म कदापि नहीं हो सकती। वैदिक हिंसा को हिंसा न मानने वालों को पूछना चाहिए कि वैदिक हिंसा में क्या विशेषता है जिससे वह हिंसा हिंसा नहीं है? क्या वैदिक मंत्रों का उच्चारण करके की जाने वाली हिंसा से प्राणी का घात नहीं होता है? क्या उसे घोर दुख नहीं होता है? ये दोनों बातें होती ही हैं तो फिर उसे हिंसा न मानने का क्या कारण है? इस प्रकार के प्रश्नों के उत्तर में मीमांसक यह कहते हैं कि जिस प्रकार लोहे का पिण्ड होता है वह जल में तैर नहीं सकता लेकिन जब उसको संस्कारित करके उसके पत्र बना दिए जाते हैं तो वे तैरने लग जाते हैं। अथवा विष मारक स्वभाव वाला है तदपि मंत्रादि के प्रभाव से वह गुण के लिए हो जाता है, एवं अग्नि का स्वभाव जलाने का है लेकिन सत्य के प्रभाव से वह शीतल हो जाती है इसी प्रकार यद्यपि यज्ञयागादि में हिंसा होती है लेकिन वैदिकमंत्रों के द्वारा संस्कारित होने से वह दोष-पात्र नहीं है।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

यह मीमांसकों का कथन केवल शब्द-जाल है इसमें तथ्यांश नहीं है क्योंकि दृष्टान्त विषम दिया गया है। जो लोह-पिण्ड के पत्रों का तैरना कहा गया है वहाँ तो लोहे के पिण्ड का रूपान्तर स्पष्ट दिखाई दे रहा है। पहिले वह पिण्डरूप था अब वह पत्रों के रूप में है लेकिन यज्ञ में मारे जाने वाले जीवों में वेद-मन्त्रों द्वारा कुछ भी परिवर्तन या अवस्थान्तर होता हुआ नहीं दिखाई देता है। प्राणी दुख के मारे चीत्कार करते हैं लेकिन वेदमन्त्रों द्वारा उनके चीत्कारों में या उनकी वेदना में कमी नहीं होती वरन् वे आर्त्तस्वर में करुणक्रन्दन करते हैं। वेदमन्त्रों द्वारा उनकी वेदना में अल्पमात्र भी कमी नहीं होती तो वे वेदमन्त्र क्या संस्कार करते हैं जिससे वह हिंसा, हिंसा न मानी जाय। यदि यह कहा जाय कि मरने वाले प्राणी को वेदमन्त्रों के उच्चारण के प्रभाव से स्वर्ग मिलता है तो इस कथन की सचाई का प्रमाण क्या है? क्या कभी कोई जीव स्वर्ग से आकर कहता है कि मैं वेदोक्त मन्त्रों के उच्चारणपूर्वक मारे जाने से स्वर्ग में उत्पन्न हुआ हूँ? ऐसा कभी नहीं होता। अगर इस प्रकार मरने से स्वर्ग मिल जाता हो तो इस प्रकार की श्रद्धा रखने वालों को चाहिए कि वे अपने माता-पिता आदि स्वजनों को इस प्रकार स्वर्ग में भेजकर उन पर उपकार क्यों नहीं करते? स्वर्गप्राप्ति का इससे बढ़कर और कौन सरल उपाय हो सकता है? क्यों न प्रियजनों को बलि पर चढ़ाकर उन्हें स्वर्ग में पहुंचाने का पुण्य लूटते हैं? उनकी यह करुणा बेचारे दीन-हीन मूक पशुओं पर ही क्यों बरसती है?

दूसरी बात यह है कि इस तरह यदि स्वर्ग मिल जाया करे तो जन्मभर के उपार्जित अशुभ कर्मों का नरकादि फल न मिलेगा जिससे कृतकर्म का नाश और अकृतकर्म का भोग मानना पड़ेगा जो कि किसी को भी इष्ट नहीं है अतएव वैदिकी हिंसा भी अन्य हिंसाओं के समान ही पापानुबन्धिनी है अतएव त्याज्य है।

पहिले यह कहा गया है कि इस प्रकार की हिंसाओं से देवता और अतिथियों की प्रीति होती है यह कथन युक्तिरहित है। उन्हें सोचना चाहिए कि देवता क्या कभी मांसभक्षण करते हैं? क्या देव ऐसे कुत्सित अशुचि के भूखे हैं? देवता तो संकल्पमात्र से संतुष्ट होते हैं। उन्हें इस प्रकार पशुमांस ग्रहण करने की इच्छा तक नहीं हो सकती है। अतिथियों को अन्नादि द्वारा तृप्त किया जा सकता है। तथा जो वृष्टि आदि होने का कहा है वह एकान्ततः सत्य नहीं है। यज्ञादि के बिना भी वृष्टि होती है और यज्ञ करने पर भी कदाचित् वृष्टि नहीं होती है। मन्त्रों का प्रभाव अचिन्त्य है अतएव जो यज्ञ में मारे जाते हैं उन्हें स्वर्ग मिलता है यह कथन मात्र अन्ध विश्वास का फल है। लौकिक व्यवहार में देखा जाता है कि वेदमन्त्रों के उच्चारण पूर्वक विवाहादि संस्कार होते हैं तदपि कहीं वैधव्य आ पड़ता है और कहीं बिना मन्त्रों के विवाहादि होने पर भी सौभाग्य बना रहता है। अतः "मन्त्रों का प्रभाव ही ऐसा है" यह कथन तो अन्ध विश्वास मात्र कहा जा सकता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिंसा चाहे वह किसी प्रकार की भी क्यों न हो पापानुबन्धी ही है। वेदान्तियों का भी यही कथन है—

देवोपहारव्याजेन यज्ञव्याजेन येऽथवा।
घ्नन्ति जन्तून् गतघृणा घोरां ते यान्ति दुर्गतिम्॥
अन्धे तमसि मज्जामः पशुभिर्ये यजामहे।
हिंसा नाम भवेद् धर्मो न भूतो न भविष्यति॥

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

अर्थात्—देवताओं को बलि देने के बहाने अथवा यज्ञ के बहाने जो निर्दय व्यक्ति प्राणियों की हिंसा करते हैं वे घोर नरक में जाते हैं। जो पशुओं का यज्ञ में बलिदान करते हैं वे अन्धकार में (नरक) डूबते हैं। हिंसा से न कभी धर्म हुआ है, न होगा। जो हिंसा करके धर्म चाहते हैं वे मानो सर्प के मुँह से अमृत झरने की चाह करते हैं। अतः विवेकियों को धर्म के नाम पर भी हिंसा न करनी चाहिए। किसी भी प्रकार की हिंसा चन्तव्य नहीं है। जो इस प्रकार की हिंसा करते हैं या हिंसा का प्रतिपादन करते हैं वे अनार्य हैं।

इसी तरह कई वादी पृथ्वी आदि पाँच स्थावरों में और कृमि-कीटादि में जीव ही नहीं मानते हैं और उनकी हिंसा में प्रवृत्त होते हैं लेकिन प्रथम अध्ययन में युक्तिपूर्वक इनमें जीवत्व प्रतिपादित कर दिया गया है। बौद्धमतावलम्बी इस प्रकार मानते हैं—

प्राणि-प्राणिज्ञानं घातकचित्तं च तद्गता चेष्टा।
प्राणैश्च विप्रयोगः पञ्चभिरापद्यते हिंसा॥

अर्थात्—जीव हो, जीव का ज्ञान हो जाय, उसे मारने का मन में संकल्प हो, उसके अनुसार चेष्टा की हो और प्राणी का प्राण चला जाय तो हिंसा होती है। अर्थात्-जब तक यह प्राणी है ऐसा ज्ञान न हो, ज्ञान हो जाने पर उसे मारने की भावना न हो और भावना हो जाने पर भी तद्रूप चेष्टा न की हो और चेष्टा करने पर भी जीव न मरा हो तो वह हिंसा नहीं है। उक्त कारणों में से एक भी कारण न हो तो वह हिंसा नहीं है। मारने का संकल्प कर लिया लेकिन तद्रूप चेष्टा न की तो कोई दोष नहीं है। जिस प्रकार मन में लड्डू खा लिए तो उनसे तृप्ति नहीं होती उसी तरह मनके संकल्प से कोई काम नहीं हो सकता अतः केवल संकल्प से हिंसा नहीं हो सकती। हिंसा हो गई हो लेकिन हिंसा करने का संकल्प न हो तो उससे पाप नहीं लगता। तात्पर्य यह है कि वे उक्त सभी कारणों के होने पर ही हिंसा मानते हैं लेकिन इनका यह कथन युक्तिसंगत नहीं है। अहिंसा की व्याख्या तो यह है कि मन, वचन और काया से सूक्ष्म जीवों को भी शारीरिक या मानसिक पीड़ा न पहुँचाना। जैनधर्म के अनुसार तो मन से किसी को पीड़ा पहुँचाने का संकल्प करने मात्र से मानसिक हिंसा का दोषी गिना जाता है। वस्तुतः जैनदर्शन ही अहिंसा का सूक्ष्म निरूपण करता है। यही निरूपण आर्य पुरुषों के योग्य है। जो आर्य हैं-सर्व पापकर्मों से निवृत्त होने से सुसंस्कारी हैं वे अहिंसामय धर्म का प्रतिपादन करते हैं और उसका व्यवहार में उपयोग करते हैं। जो प्राणि-हिंसा का विधान करते हैं वे अनार्यों के तुल्य हैं। इतना ही नहीं वरन् अनार्यों से भी पतित हैं। अनार्य और म्लेच्छ तो बेचारे धर्म और अधर्म के विवेक से रहित होते हैं अतएव भूल करते हैं लेकिन जो धर्म को समझते हैं वे प्राणी जब धर्म के नाम पर अधर्म का सेवन करते हैं और दूसरों को अधर्म का उपदेश देते हैं तो वे प्राणी स्वयं डूबते हैं और दूसरों को डुबाते हैं। ऐसे लोग जाति से अनार्यों की अपेक्षा विशेष अनार्य हैं क्योंकि ये आर्य कहलाते हुए भी अनार्यों जैसे कार्य करते हैं। हिंसा अनार्यों में ही स्थान पा सकती है। जो जितने अंश में आर्य हैं—सुसंस्कारी हैं वे उतने ही अहिंसक हैं। आर्यों का प्रतिपादन भी यही है कि संसार के सभी प्राण, जीव, भूत और सत्वों को न मारना चाहिए, न दबाना चाहिए, न पीड़ा पहुंचानी चाहिए और न प्राणों से रहित करना चाहिए। इन प्रत्येक कार्य में हिंसा रही हुई है। जिन प्राणियों ने अपना विकास किया है उन्होंने अहिंसा को अप जीवन में प्रथम स्थान दिया है। अन्य के हितों को कुचलना, अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए अन्य को पीड़ा देना और फिर अपने विकास की इच्छा करना, एक ही साथ हँसने और गाल फुलाने के समान असम्भव है। हृदय में समस्त प्राणियों के प्रति अनन्त प्रेम भरा हो तभी सच्चा विकास होता है। यही आर्यत्व है।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

वादी प्रश्न करते हैं कि आपने अपने वचनों को आर्य-वचन कहा और हमारे वचनों को अनार्य-वचन कहा लेकिन आपके कहने मात्र से ही नहीं माना जा सकता। इसके लिए आपके पास क्या प्रमाण हैं? इसका उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं कि हे वादियो! प्रत्येक के मत का सूक्ष्म अवलोकन करने के पश्चात् मैं यह कहता हूँ कि हिंसामय वचन अनार्य वचन है और अहिंसामय धर्म का प्रतिपादन आर्य वचन है। हे वादियो! यह तो बतलाइए कि आपको सुख प्रिय है या दुख? दुख अप्रिय है या सुख अप्रिय है? यदि आप यह कहते हैं कि हमें दुख प्रिय है और सुख अप्रिय है तो यह बात प्रत्यक्ष-बाधित है, आप कोई दुख को पसन्द नहीं करते हैं। अगर आप यह कहते हैं कि हमें सुख प्रिय है और दुख अप्रिय है तो हे वादियो! आपकी ही तरह संसार के सभी प्राण, भूत, जीव और सत्व दुख से घृणा करते हैं और सुख को चाहते हैं तो उन्हें क्यों सताया जाय? अपने ही समान संसार के अन्य प्राणियों को समझो और प्रत्येक के सुख के लिए प्रयत्न करो। किसी को दुख न दो। यही धर्म है। जो आप चाहते हैं सारी दुनिया वही चाहती है। अपना और पर का सादृश्य और एकरूपता सिद्ध करने के लिए ही धर्म होता है। अतएव अहिंसामय ही धर्म हो सकता है। हिंसामय धर्म कदापि नहीं हो सकता।

प्रवादि-परीक्षा के सम्बन्ध में निर्युक्तिकार ने एक दृष्टान्त कहा है वह इस प्रकार है:—चम्पानगरी में सिंहसेन नाम का राजा था। उसके रोहगुप्त नाम का मंत्री था। वह मंत्री शुद्ध अर्हन्त-प्रवचन का अनुरागी था। एकबार राजा के दरबार में धर्मसम्बन्धी चर्चा छिड़ पड़ी। जो जिस मत का अनुयायी था उसने अपने २ धर्म को अच्छा कहा लेकिन मंत्री चुपचाप रहा। राजा ने मंत्री से पूछा कि तुम क्यों कुछ नहीं कहते? मंत्री ने निवेदन किया कि मुख से कहने से क्या लाभ? यों तो सभी अपने धर्म के पक्षपात से अपने २ धर्म को श्रेष्ठ कहेंगे ही। हम विचारें और परीक्षा करें कि कौनसा धर्म सत्य है। मंत्री ने राजा की आज्ञा से 'संकुण्डलं वा वदनं न वेति' यह समस्या-पूर्ति करने के लिए सभी वादियों को दी और नगरी में घोषणा करवा दी कि जो इस समस्या की पूर्ति करेगा उसे राजा बहुत द्रव्य प्रदान करेगा तथा उसका अनुयायी हो जायगा। सभी वादियों ने यह चतुर्थ पद ग्रहण किया और सातवें दिन राजसभा में उपस्थित हुए। राजसभा में सबसे पहिले परिव्राजक बोला:—

भिक्खं पविट्ठेण मए ऽज्ज दिट्ठं पमयामुहं कमलविसालनेत्तं।
विक्खित्तचित्तेण न सुट्ठु नायं सकुंडलं वा वयणं न वत्ति॥

अर्थात्—मैं भिक्षा के लिए प्रविष्ट हुआ तो मैंने कमल के समान विशाल नेत्र वाला, युवती स्त्री का मुख देखा। उस मुख को देखने से मेरा चित्त व्याकुल हो गया इसलिये मुझे मालूम नहीं कि उसके कान में कुण्डल थे कि नहीं।

इस समस्या-पूर्ति में चित्त की व्यग्रता को नहीं जानने का कारण कहा है। इस में वीतरागता नहीं है। यों कहा जाकर राजा द्वारा वह तिरस्कृत हुआ। इसी प्रकार तापस, बौद्ध आदि वादियों ने चित्त की व्यग्रता को नहीं जानने का कारण बताया। तत्पश्चात् मंत्री ने यों सोचकर कि कहीं राजा सभी को एक समान न समझ ले इसलिए एक सच्चे मुनि से राजसभा में पधार कर राजा को धर्मोपदेश देने की प्रार्थना की थी। सो वे मुनि सभा में पधारे और बोले—

संतस्स दंतस्स जिइंदियस्स अज्झप्पजोगे गयमाणसस्स।
किं मज्झ एएण विचिंतिएण? सकुंडलं वा वयणं न वत्ति॥

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

अर्थात्—जो क्षमाशील है, जितेन्द्रिय और आत्मा का दमन करने वाला है, आध्यात्म में ही जिसका मन लगा है ऐसे मुझ साधु को यह विचारने से क्या लाभ कि वह स्त्री-मुख कुण्डल युक्त था या नहीं?

इसमें नहीं जानने का कारण जितेन्द्रियता और आध्यात्मिकता को बताया गया है। इससे राजा प्रसन्न हुआ। उसने मुनि से धर्म-श्रवण करने की अभिलाषा बतायी। मुनि ने दो—सूखे और गीले मिट्टी के गोलों के दृष्टान्त से यह उपदेश दिया:—

उल्लो सुक्को य दो छूढा गोलया मट्टियामया।
दो वि आवडिया कुड्डे जो उल्लो तत्थ लग्गइ॥
एवं लग्गंति दुम्मेहा जे नरा कामलालसा।
विरत्ता उ न लग्गंति जहा से सुक्कगोलए॥

अर्थात्—मिट्टी के दो गोले हैं। एक गीली मिट्टी का और दूसरा सूखी मिट्टी का। दोनों गोले अगर भींत पर फेंके जाएँ तो जो गीला है वह वहाँ चिपक जाएगा और जो सूखा है वह वहाँ नहीं चिपक सकता। इसी प्रकार जहाँ आसक्ति और वासना है वहाँ तो कर्मों का चिकना बंध होता है और जहाँ आसक्ति नहीं है वहाँ पापकर्दम भी नहीं है। जिनके चित्त में वासना है वे संसार के कीचड़ में फँसे रहते हैं और जो अनासक्त हैं वे सूखे गोले के समान संसार में नहीं फँसे रहते हैं। इस प्रकार मुनि की निस्पृहता और वीतरागता का राजा पर बहुत प्रभाव पड़ा। तात्पर्य यह है कि जिस धर्म में वीतरागता और अहिंसा विशेष है वही धर्म उपादेय है। वीतराग-प्ररूपित अहिंसामय धर्म ही सच्चा धर्म है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि जो अहिंसा ही धर्म है तो दुनिया में जो विविध धर्म, मत, पंथ वगैरह भेद हैं सो किसलिये? दुनिया में एक ही धर्म रहे तो सारी झंझटें ही दूर हो जाएँ। परन्तु यह प्रश्न जितना सुन्दर है उतना शक्य नहीं है। दुनिया में विविध प्रकृति और विविध कोटि के प्राणी रहते हैं अतएव भूमिका के अनुसार विभिन्न विकास के साधन अनिवार्य ही हैं। सत्य सर्वत्र व्यापक है तदपि एक है। इसी प्रकार धर्म एक ही है तदपि वह भिन्न २ रूप से सभी मतों में विद्यमान है। परन्तु इसे समझने के लिए जैनदर्शन की स्याद्वाद दृष्टि की आवश्यकता है। एक किरण अगर दूसरी किरण से लड़े इसकी अपेक्षा यदि एक किरण दूसरी किरण से मिले तो उसका विस्तार और तेज बढ़ जाता है। यही बात मत, पंथ और सम्प्रदाय के विषय में समझनी चाहिए। स्याद्वाद-दृष्टि जैनधर्म की विशेषता है। यह जैनदर्शन को उदार, व्यापक और सार्वत्रिक बनाती है। प्रभु महावीर ने दीर्घकालीन तपश्चर्या के फलस्वरूप जिस सत्य का अनुभव किया वह उन्होंने जगत् के सामने रख दिया है। जगत् उसमें से चाहे जितना बोध ले सकता है।

ऐसे सर्वज्ञानी सर्वदर्शी प्रभु महावीर यह फरमाते हैं कि अहिंसा ही धर्म का सार है। यही सम्यक्त्व की नींव है। अहिंसा समस्त जगत् के लिए पथ-प्रदर्शक दीपक है, संसार-समुद्र में डूबते हुए प्राणी को सहारा देने के लिए द्वीप है, त्राण है, शरण है, गति है। यह भगवती अहिंसा भयभीतों के लिए शरण-रूप, भूखों के लिए भोजन रूप, तृषितों के लिए जलरूप, रोगियों के लिए औषधिरूप है। यह अहिंसा समस्त जगत् के चराचर प्राणियों के लिए मंगलमय है।

इति द्वितीयोद्देशकः

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

सम्यक्त्व नाम चतुर्थ अध्ययन

—तृतीयोद्देशक—

(तपश्चरण)

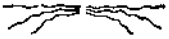

इस अध्ययन के प्रथम उद्देशक में सम्यक्त्व का निरूपण करते हुए अहिंसा को उसका आधार कहा है। द्वितीय उद्देशक में अन्यवादियों का खंडन करके अहिंसा की प्रबल युक्तियों से और सचोट रूप से स्थापना की है तथा हिंसा के प्रति प्रचण्ड विरोध दिखलाया गया है। इस प्रकार दो उद्देशकों द्वारा अहिंसा की समीक्षा करने के पश्चात् अहिंसा के साधन रूप में तपश्चरण अनिवार्य है अतएव इस उद्देशक में तपश्चरण का वर्णन करते हैं। अहिंसा की साधना के लिए तपश्चर्या की अनिवार्य आवश्यकता होती है। अतएव अहिंसा के पश्चात् तप का वर्णन किया जाता है। अथवा पहिले दो उद्देशकों में अहिंसा का वर्णन किया गया है उसे जानकर जो साधक अहिंसा को अपनाता है वह भविष्य में कर्मों का उपार्जन नहीं करता। लेकिन उसके पुराकृत कर्म शेष रहते हैं अतएव पूर्वकृत कर्मों को नष्ट करने के लिए तपश्चरण का विधान किया गया है।

तपश्चर्या आत्म-शुद्धि के लिए आवश्यक है। जिस प्रकार अग्नि में तपाने से स्वर्ण विशुद्ध बन जाता है—उसका मल दूर हो जाता है इसी प्रकार तपश्चर्या द्वारा आन्तरिक मैल दूर होता है और आत्मा पवित्र बनता है। चित्त-वृत्तियों की मलिनता आत्म-दर्शन के लिए गाढ़ आवरण रूप है। इस आवरण को दूर करने के लिए तपश्चरण की आवश्यकता है। आध्यात्मिक रोगों की शान्ति के लिए तपश्चर्या एक अमोघ रसायन है। इस रसायन के सेवन से रोग दूर हो जाते हैं और आत्मा शुद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाता है। रोगों की विभिन्नता के कारण औषधियों में और उनके सेवन में विभिन्नता हो ही जाती है इसीलिए श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने तपश्चरण के बारह भेद बताये हैं। जो रोगी जिस रोग से पीड़ित हो उसे उसके अनुकूल औषधि का सेवन करना चाहिए। ऐसा करने से ही रोग दूर होते हैं और स्वास्थ्य-लाभ होता है। इसी तरह बारह प्रकार के तपश्चरणों से आत्मा के आन्तरिक दुर्गुणों को नष्ट करने से आत्मा को चिरकाल के लिए स्वास्थ्य—शाश्वत सुख प्राप्त हो जाता है। रसायन सेवन करने वाले को पथ्य का पालन अवश्य करना पड़ता है इसी तरह तपरूपी रसायन के सेवन के लिए क्या पथ्य है, यह सूत्रकार दिखाते हैं:—

उवेहि णं बहिया य लोगं, से सव्वलोगम्मि जे केइ विण्णू, अणुवीइ पास निक्खित्तदंडा, जे केइ सत्ता पलियं चयंति, नरा मुयच्चा धम्मविउत्ति अंजू, आरंभजं दुक्खमिणंति णच्चा, एवमाहु समत्तदंसिणो, ते सव्वे पावाइया दुक्खस्स कुसला परिण्णमुदाहरंति इय कम्मं परिण्णाय सव्वसो।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

संस्कृतच्छाया—उपेक्षस्व बहिश्च लोकं, स सर्वलोके ये केचन विद्वान्तः (तेभ्योऽप्रणीः) अनुविचिन्त्य पश्य निक्षिप्तदण्डाः, ये केचन सत्वाः पलितं त्यजन्ति, नराः मृतार्चाः धर्मविदः इति ऋजवः आरम्भजं दुःखमेतादिति ज्ञात्वा, एवमाहुः सम्यक्त्वदर्शिनः, ते सर्वे प्रावादिकाः दुःखस्य कुशला परिज्ञा-मुदाहरन्ति, इति कर्म्म परिज्ञाय सर्वशः ।

शब्दार्थ—बहिया=धर्म से बाहर रहे हुए । लोगं=पाखण्डी लोगों की ओर । उवेहि=उपेक्षा रखो । से=वह उपेक्षा करने वाला । सव्वलोगंमि=सारे लोक में । जे केइ=जो कोई । विण्णू=विद्वान् हैं उनमें अग्रणी हैं । अणुवीइ=बराबर विचार कर । पास=देख कि । इणं दुक्खं=इस दुख को । आरंभजं=आरम्भ से उत्पन्न हुआ । णच्चा=जानकर । निक्खित्तदंडा=आरम्भ का त्याग करने वाले । मुयच्चा=शरीर की विभूषा से रहित होते हुए । धम्मविउत्ति=धर्म के रहस्य को जानने वाले । अंजू=सरल स्वभावी । नरा=मनुष्यादि । जे केइ सत्ता=जो कोई प्राणी । पलियं=कर्म को । चयंति=छोड़ते हैं वही विद्वान् हैं । एवं=इस प्रकार । संमत्तदंसिणो=तत्त्वदर्शी । आहु=कहते हैं । ते सव्वे=वे सभी । पावाइया=प्रवादी-तत्त्वदर्शी । इय कम्मं=कर्म को । सव्वसो=सभी तरह से । परिण्णाय=जानकर । दुक्खस्स=दुख की । कुसला=चिकित्सा में कुशल होकर । परिण्णय=सावद्य के त्याग का । उदाहरंति=उपदेश करते हैं ।

भावार्थ—हे प्रिय शिष्य ! धर्म के मार्ग से बाहर रहे हुए पाखंडियों की तरफ किसी प्रकार का लक्ष्य नहीं देना चाहिए और इस तरह जो वर्ताव करते हैं वे विद्वानों के शिरोमणि हैं । हे साधक मुनि ! तू यह विचार पूर्वक देख कि आरम्भ को दुख का कारण जानकर सावद्य-प्रवृत्ति को त्याग कर, शरीर की शुश्रूषा की इच्छा न करके, धर्म के रहस्य को समझ कर सरल स्वभावी बनकर जो मनुष्य कर्मों को तोड़ते हैं वे सचमुच विद्वान् हैं । इसलिए तत्त्वदर्शीजन सभी तरह कर्मों के रहस्य को जानकर सभी तरह के दुखों के चिकित्सक बनकर सावद्य कर्मों के त्याग का सदुपदेश करते हैं ।

विवेचन—द्वितीय उद्देशक में मिथ्यावादियों का खण्डन किया गया है । मिथ्यामत का निकन्दन करके सूत्रकार अब साधक को यह उपदेश करते हैं कि हे साधक ! तू उन पाखण्डियों के प्रति किसी तरह का लक्ष्य मत दे और उनको धर्म से बहिर्भूत जानकर तू आत्माभिमुख बन । इस कथन से दो प्रकार के आशय निकलते हैं । प्रथम तो यह है कि साधक को आत्माभिमुख ही बनना चाहिए । उसे खण्डनात्मक प्रवृत्ति में विशेष भाग नहीं लेना चाहिए । क्योंकि विशेषरूप से खण्डनात्मक मार्ग का आश्रय लेने से दोषोत्पत्ति होने की सम्भावना रहती है । इससे राग-द्वेष की प्रवृत्ति को प्रबलता मिलती है अतएव साधक का यह कर्त्तव्य है कि वह अनेकान्त-दृष्टि के द्वारा स्वरूप का निर्णय करे और आत्म-चिन्तन में ही मग्न रहे । दूसरा आशय यह ध्वनित होता है कि मिथ्यावादियों के संसर्ग का त्याग करना चाहिए । हिंसा में विश्वास रखने वाले मिथ्यावादी धर्म के सत्यस्वरूप से पराङ्मुख हैं । उनका संसर्ग होने से साधक के पतन की संभावना हो सकती है क्योंकि "संसर्गजाः दोषगुणाः भवन्ति" संसर्ग से गुण और दोष उत्पन्न

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

होते हैं। इसलिए मिथ्यावादियों के संसर्ग से बचने के लिए साधक को सूचना की गई है कि उन परवादियों को धर्म के असली स्वरूप से बाह्य जानकर उनकी उपेक्षा करनी चाहिए। उनके व्यवहारों और कथन पर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं है। इसी तरह मिथ्यावादियों का परिचय करना, उनका संस्तव करना इत्यादि कृत्य भी वर्जनीय हैं। जो साधक धर्म से बहिर्मुख वादियों के प्रति उपेक्षा धारण करके आत्मस्वरूप में मग्न रहता है वही विद्वानों का शिरोमणि है। आत्माभिमुख प्रवृत्ति करना ही सच्ची विद्वत्ता है।

मिथ्यावादियों की प्रवृत्ति की ओर उपेक्षा रखने का उपदेश देने के अनन्तर सूत्रकार अब यह बताते हैं कि ज्ञान की सफलता किस में है ? और किस मार्ग में प्रवृत्ति करनी चाहिए ? जो व्यक्ति सावद्य प्रवृत्ति रूप आरम्भ को दुख का कारण समझ कर उसका त्याग करते हैं—आरम्भ से निवृत्ति करते हैं वे ही विद्वान् हैं—यही विद्वत्ता है। ज्ञान का फल विरति कहा गया है। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि साँस लेने में, चलने-फिरने में इत्यादि प्रत्येक कार्य में हिंसा तो होती ही है तो सर्वथा आरम्भ का त्याग कैसे हो सकता है ? और निरारम्भी कैसे बना जा सकता है ? क्या निरारम्भी होने के लिए मर जाना चाहिए ?

इस प्रश्न का समाधान यह है कि निरारम्भी बनने के लिए मरने की कोई आवश्यकता नहीं है। इसको समझने के लिए आरम्भ क्या है, वह कैसे होता है, कैसे नहीं होता है, यह समझने की आवश्यकता है। आरम्भ का अर्थ है—उपयोगरहित क्रिया। जो क्रिया उपयोग के बिना की जाती है वह आरम्भ का कारण है और जो क्रिया उपयोग सहित की जाती है वह आरम्भ का कारण नहीं होती है। यही कारण है कि भगवती सूत्र में आरम्भी-अनारम्भी की चर्चा में अप्रमत्तसंयत और शुभ योगी (उपयोगी) प्रमत्तसंयत को भी निरारम्भी कहा गया है। अगर आरम्भ का अर्थ हिंसा किया जाता है तो सूक्ष्म कायिक हिंसा तो तेरहवें गुणस्थान तक होती है अतः वहाँ भी आरम्भ मानना पड़ेगा लेकिन ऐसा नहीं हो सकता। भगवती सूत्र में अप्रमत्तसंयत को भी निरारम्भी कहा गया है तो तेरहवें गुणस्थान वालों का तो कहना ही क्या ? इससे यह सिद्ध होता है कि आरम्भ शब्द का अर्थ है—उपयोगरहित क्रिया। जो क्रियाएँ साधारण रूप से शुभ कही जा सकती हैं वे भी अगर अनुपयोग से की जाती हैं तो आरम्भ का कारण होती हैं। उदाहरण के लिए प्रतिलेखन करने में वस्त्रादि का संचालन होता है लेकिन यदि उसमें उपयोग है तो वह क्रिया शुभ है और उपयोग के बिना प्रतिलेखना करने वाला षट्काय का विराधक कहा गया है। जैसा कि कहा है:—

पुढवी-आउकाए तेउ-वाउ-वणस्सइ-तसाणं ।
पडिलेहणापमत्तो छण्हं विराहओ होइ ॥

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उपयोग-रहित क्रिया ही आरम्भ है। दशवैकालिक सूत्र में भी यही कहा गया है कि:—

जयं चरे जयं चिट्ठे जयमासे जयं सए ।
जयं भुंजतो भासंतो पावकम्मं न बंधइ ॥

यतना—उपयोग पूर्वक की हुई क्रियाओं से पापकर्म का बन्ध नहीं होता है। इससे उपर्युक्त प्रश्न का समाधान हो जाता है। उपयोगपूर्वक क्रियाओं का करने वाला पापकर्म का भागी नहीं होता है। अनुपयोग से कोई भी काम करने वाला पापकर्म का भागी है। अतएव प्रत्येक कार्य उपयोगपूर्वक करना चाहिए। उससे आरम्भजन्य पाप से लिप्त नहीं होते हैं।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

असत्प्रवृत्ति ही पापकर्म है और पाप का परिणाम ही दुख है। अतएव दुखों का आत्यंतिक क्षय करने के लिए आरम्भ (असत्प्रवृत्ति) का त्याग करना चाहिए। असत्प्रवृत्ति के त्याग के द्वारा सत्य को जीवन में उतारना चाहिए। असत् प्रवृत्ति का त्याग करते हुए अगर शरीर-शुश्रूषा को छोड़ना पड़े तो भी सत्य का शोधक उस के प्रति किंचित् भी ध्यान नहीं देता है। सत्य के सामने देह की क्या कीमत हो सकती है ?

पहिले यह कहा गया है कि संयम के निर्वाह के लिए शरीर एक उपयोगी साधन है अतएव उसके प्रति एकदम निरपेक्ष नहीं रहना चाहिए; अब यहाँ यह कहा गया है कि शरीर की परवाह नहीं करनी चाहिए इन दोनों बातों की संगति कैसे समझनी चाहिए ? इस प्रश्न का समाधान यह है कि पहिले शरीर को संयम का साधन कह कर उसकी बिल्कुल उपेक्षा न करने का कहा गया था यहाँ उसकी मर्यादा बतायी गई है। साधक अपने देह की शुश्रूषा करे लेकिन वह वहीं तक जहाँ तक संयम में उपयोगी हो। जिस शरीर की शुश्रूषा से विकास रुक जाता है, या जिससे आत्मवृत्ति कम होकर बहिर्वृत्ति जागृत होती है वह शरीर शुश्रूषा वर्जनीय है। सच्चा साधक शरीर को विकास का एक साधन समझता है। जब तक वह साधन अपने साध्य में उपयोगी हो वहीं तक वह साधन है। जब वह साधन साध्य का साधक न होकर बाधक हो जाता है तब वह साधन ही नहीं रहता। इसी तरह जहाँ तक शरीर संयम के पालन में सहायक होता है वहीं तक आहारादि द्वारा उसका निर्वाह करना चाहिए। इसके विपरीत शरीर की सेवा से संयम में बाधा पहुँचने लगती हो या शरीर की सेवा में संयम भुला दिया जाता हो तब शरीर की परवाह न करके उसका दमन करना चाहिए। इसी उद्देश्य से तपश्चर्या की आवश्यकता है।

"मुयच्चा" इस पद का संस्कृत रूप "मृतार्चा" होता है। इसका एक अर्थ तो शरीर का संस्कार न करने वाला होता है, जो कि ऊपर किया गया है। दूसरा अर्चा का अर्थ होता है तेज-क्रोध। क्रोध कषाय का उपलक्षण है। तो इसका अर्थ हुआ कषायों से रहित। जो आरम्भ से रहित, कषाय से रहित, धर्म के ज्ञाता और सरलस्वभावी होते हैं वे मनुष्य कर्मों का क्षय करते हैं।

उपर्युक्त कथन सामान्य पुरुषों का नहीं लेकिन जो तत्त्वदर्शी और पारगामी हैं उनका यह प्रवचन है। तत्त्वदर्शी पुरुष कैसे होते हैं इसका भी सूत्रकार ने सूत्र में वर्णन किया है। वे तत्त्वदर्शी पुरुष दुख-नाश के उपाय को तथा कर्मों के स्वरूप को जानने में कुशल होते हैं। वे अत्यन्त मितभाषी होते हैं तदपि यथावस्थित वस्तुतत्त्व के प्रतिपादन में प्रवीण होते हैं। वे शारीरिक और मानसिक दुखों के चिकित्सक होते हैं। जिस प्रकार वैद्य रोग का निदान करता है और तदुपरान्त रोग-नाश के लिए औषधोपचार करता है, इसी तरह तत्त्वदर्शी पुरुष दुखों का निदान करते हैं और दुखों का नाश करने के लिए तत्पर होते हैं। संसार के दुख-रोगों के लिए वे कुशल वैद्य के समान होते हैं। वे कर्मों के मूल एवं उत्तर भेदों को भलीभाँति जानते हैं और कर्मों का बन्ध न हो इसके लिए वे परिज्ञा का उपदेश करते हैं। कर्मों का बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता को जानकर वे हेय तत्त्वों को ज्ञ-परिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यान-परिज्ञा द्वारा त्यागने का उपदेश देते हैं। वे स्वयं विवेक-बुद्धि द्वारा पदार्थ के स्वरूप को जानकर असत् का त्याग करने वाले होते हैं।

तत्त्वदर्शी पुरुष मात्र विद्वान् होते हैं इसलिए उन पर विश्वास और श्रद्धा रखनी चाहिए ऐसा नहीं है परन्तु उन्होंने अपने जीवन का विकास करके अनुभव प्राप्त किया है इसलिए उनके वचन ग्राह्य और श्रद्धेय हैं। न केवल श्रद्धेय हैं अपितु आचरणीय हैं। सूत्रकार ने तत्त्वदर्शी पुरुष के गुणों का वर्णन

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

किया इससे विद्वत्ता की व्याख्या मालूम होती है। केवल पुस्तकीय ज्ञान होना ही विद्वत्ता नहीं है लेकिन जहाँ ज्ञान के साथ तदूरूप आचरण होता है वहाँ विद्वत्ता समझनी चाहिए। वाणी और व्यवहार की एकरूपता ही सच्ची विद्वत्ता है। ऐसे विद्वान् ही उपदेशक हो सकते हैं और वे ही अनुभवी होने से स्वपर के कल्याण-साधक हो सकते हैं। इस प्रकार की योग्यता वाले उपदेशक अपने ज्ञान और चारित्र (आचरण) के प्रभाव से सत्य-मार्ग का यथार्थ प्ररूपण करके जनसमाज को सत्य-मार्ग पर प्रवर्त्तित कर सकते हैं। ऐसे ही पुरुषों के वचन श्रद्धेय और आचरणीय हैं।

इह आणाकंखी पंडिए, अणिहे, एगमप्पाणं संपेहाए धुणे सरीरं, कसेहि अप्पाणं, जरेहि अप्पाणं। जहा जुन्नाइं कट्ठाइं हव्ववाहो पमत्थइ एवं अत्त-समाहिए अणिहे।

संस्कृतच्छाया—*इह आज्ञाकाङ्क्षी पण्डितोऽस्निहः एकमात्मानं संप्रेक्ष्य धुनीयात् शरीरं, कृशं कुर्वात्मानम्, जरीकुर्वात्मानम्। यथा जीर्णानि काष्ठानि हव्यवाहो प्रमथ्नाति एवमात्मसमाहितः अस्निहः (कर्मकाष्ठं दहतीति भावार्थः)*

शब्दार्थ—इह=इस संसार में। आणाकंखी=सर्वज्ञों की आज्ञा का पालन करने की इच्छा रखने वाला। पंडिए=पंडित। अणिहे=राग रहित होकर। अप्पाणं=आत्मा को। एगं=अकेला। संपेहाए=जानकर। सरीरं=शरीर को। धुणे=धुने-सुखावे। अप्पाणं=अपने आपको। कसेहि=कृश करो। अप्पाणं जरेहि=अपने आपको जीर्ण करो। जहा=जिस प्रकार। जुन्नाइं=जीर्ण। कट्ठाइं=काष्ठ-लकडी को। हव्ववाहो=अग्नि। पमत्थइ=भस्मसात् करती है। एवं=इसी तरह। अत्तसमाहिए=सदा उपयोग वाला अप्रमत्त। अणिहे=आसक्ति-रहित साधक कर्मों को भस्म कर डालता है।

भावार्थ—इस संसार में सर्वज्ञों की आज्ञा का पालन करने की इच्छा रखने वाला, पंडित साधक रागद्वेष से रहित होकर, अपनी आत्मा के एकत्व का विचार करके तपश्चरण द्वारा अपने शरीर को कृश करे इसी तरह अपनी चित्तवृत्तियों का दमन करके उन्हें जीर्ण और कृश करे। जिस प्रकार जीर्ण और सूखे हुए काष्ठ को अग्नि शीघ्र भस्म कर डालती है उसी प्रकार आत्मा को समाधि में रखने वाला अप्रमत्त और आसक्तिरहित साधक कर्मों को शीघ्र भस्म कर देता है।

विवेचन—पूर्ववर्त्ती सूत्र में तत्त्वदर्शी पुरुषों द्वारा कर्मों का त्याग करने की परिज्ञा को समझाने का विवेचन किया है। अब इस सूत्र में इस परिज्ञा को जानकर क्या करना चाहिए यह बताया जाता है। सूत्रकार फरमाते हैं कि जो वीतराग की आज्ञाओं का पालन करने का अभिलाषी है, जो उनके उपदेशानुसार अनुष्ठान करना चाहता है तथा जो विद्वान् है उसे स्नेह (राग) से रहित बनना चाहिए।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

जो रागवान् है वह नियमतः द्वेषयुक्त भी होता है अतएव राग-ग्रहण से राग और द्वेष दोनों ही समझने चाहिए। राग और द्वेष ही कर्म बन्धन के कारण हैं। जो वीतराग की आज्ञा का उपासक है उसे राग और द्वेष से रहित बनना चाहिए। राग-द्वेष से रहित होने से कर्मों का बन्धन नहीं हो सकता है अतएव अस्निह (रागरहित) बनना चाहिए।

अथवा 'अणिहे' इस शब्द का संस्कृत रूप "अनिहतः" ऐसा भी हो सकता है। अनिहत का अर्थ है जो कभी हत न हो। अर्थात् इन्द्रिय एवं कषायादि आभ्यन्तर शत्रुओं द्वारा जो कभी हत नहीं हो सकता वह अनिहत है। जो जिनेन्द्र प्रवचन में अनुष्ठान करने वाला है वह पंडित है। वह भाव शत्रुओं से पराजित होने वाला नहीं है। जो भाव शत्रुओं से पराजित न हो वही कर्मों पर विजय पाने वाला है। राग द्वेष रहित होकर साधक इस प्रकार आत्मस्वरूप का चिन्तन करके अन्तर्वृत्ति को जागृत करे कि आत्मा एक है। वह धन, धान्य, हिरण्य, पुत्र, स्त्री आदि से भिन्न है। मैं ये बाह्य पदार्थ नहीं हूँ, ये बाह्य पदार्थ मैं नहीं हूँ, ये बाह्य पदार्थ मेरे नहीं हैं, मैं इन सब से भिन्न चैतन्य स्वरूप हूँ। इनका और मेरा सम्बन्ध वास्तविक नहीं किन्तु औपाधिक है। अतएव यह सम्बन्ध अनित्य है, ये मुझ से अलग होएगें। मैं इन्हें छोड़कर जाऊँगा इत्यादि स्वपर के स्वरूप का यथार्थ चिन्तन करना चाहिए और एकत्व भावना द्वारा अन्तर्वृत्ति को बढ़ाना चाहिए। एकत्व भावना का स्वरूप इस प्रकार है :—

संसार एवायमनर्थसारः कः कस्य कोऽत्र स्वजनः परो वा।
सर्वे भ्रमन्तः स्वजनाः परे च भवन्ति भूत्वा न भवन्ति भूयः॥

अर्थात्—यह संसार अनर्थ रूप है, इसमें कौन किसका है ? कौन स्वजन है और कौन पर है ? इस संसार रूपी समुद्र में फिरते हुए आज जो स्वजन हैं वे कल पर जन हो जाते हैं जो परजन हैं वे स्वजन बन जाते हैं अथवा जो अभी हैं वे कभी फिर अपने नहीं भी होंगे। तात्पर्य यह है कि इस चञ्चल असार संसार में कौन किसका हो सकता है ? कोई किसी का नहीं ? आत्मा ही अकेला अपना है। और भी कहा है—

विचिन्त्यमेतद् भवताहमेको न मेऽस्ति कश्चित् पुरतो न पश्चात्।
स्वकर्मभिर्भ्रान्तिरियं ममैव अहं पुरस्तादहमेव पश्चात्॥

अर्थात्—यह विचारना चाहिए कि मैं अकेला हूँ, मेरे आगे और पीछे कोई नहीं है। केवल मोहनीय कर्म के कारण मेरे-तेरे की भ्रान्ति है। वस्तुतः पहिले भी मैं और पीछे भी मैं हूँ। मैं ही अपना स्वजन हूँ। अन्य कोई नहीं। यह आत्मा स्वयं अकेला कर्मों का कर्त्ता है और यही स्वयं उनके फल का भोक्ता है। यह जीव अकेला जन्म लेता है, अकेला मरता है—भवान्तर में गमन करता है। इस प्रकार एकत्व भावना के चिन्तन द्वारा बहिर्वृत्तियों पर विजय प्राप्त करना चाहिए और अन्तर्वृत्ति का विकास करना चाहिए।

आत्माभिमुख दृष्टि प्रकट करने के लिए तपश्चर्या की आवश्यकता बताई गई है। तप के द्वारा पूर्वोपार्जित कर्मों का क्षय हो जाता है। पूर्व सूत्र में आरम्भ का त्याग करने का उपदेश देकर संवर तत्त्व के द्वारा नवीन कर्मों का आगमन रोकने का कहा है। नवीन कर्मों के आगमन के रुकने पर भी पूर्व सञ्चित कर्म तो बने रहते हैं। अतएव उनका क्षय करने के लिए तप करने का विधान किया है। जीव

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

एक तालाब के समान है और कर्म पानी के समान है। जिस तालाब में नवीन जल आता रहता हो तो उसमें से जल उलीचते रहने पर भी तालाब खाली नहीं हो सकता और अगर नवीन जल का आगमन रोक दिया गया परन्तु पुराना जल न सूखा तो भी सरोवर निर्जल नहीं हो सकता। इसी तरह जब तक आस्रव का प्रवाह चालू है तब तक जीव कर्मरहित नहीं हो सकता और पूर्वसञ्चित कर्मों का तप के द्वारा क्षय न किया जाय तब तक भी निष्कर्म नहीं बना जा सकता। नवीन कर्मों को रोकने के लिए आरम्भ का त्याग और पूर्वसञ्चित कर्मों का क्षय करने के लिए तप अपेक्षित है। तपश्चर्या के द्वारा कोटि भव का सञ्चित कर्मपुञ्ज भी इस प्रकार भस्म हो जाता है जिस प्रकार अग्नि के कण के द्वारा रुई का ढ़ेर। कहा है–

भवकोडिसंचियं कम्मं तवसा निज्जरिज्जइ।

अर्थात्—करोड़ों जन्म का उपार्जित कर्म तप के द्वारा क्षीण हो जाता है। जिस प्रकार पक्षिणी अपने शरीर पर लगी हुई धूल को शरीर को हिलाकर झाड़ देती है इसी तरह अनशनादि तप करने वाला पुरुष कर्मों का क्षय कर देता है। जिस प्रकार स्वर्ण के मैल को दूर करने के लिए उसे अग्नि में डाला जाता है इसी तरह आत्मा की शुद्धि के लिए आत्मा को तप रूपी अग्नि में डालना चाहिए।

तपश्चर्या का उद्देश्य शरीरदमन के साथ इन्द्रिय और मन पर विजय प्राप्त करना है। शरीर के पुष्ट होने से इन्द्रियाँ प्रबल होती हैं और वे विषयों की ओर तीव्रता से दौड़ती हैं। इन्द्रियों का विषयों के प्रति दौड़ना ही दुख का कारण है और यही संसार है। संसार से पार होने की इच्छा वाले मुमुक्षु के लिए इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना आवश्यक है। देहदमन इन्द्रिय-विजय करने का साधन है। अतएव तपश्चरणादि द्वारा शरीर का दमन करना चाहिए। शरीर-दमन एक साधन है और इन्द्रियों एवं वासनाओं पर विजय पाना साध्य है। साध्य को लक्ष्य में रखकर यदि साधनों का उपयोग किया जाय तब तो ठीक है लेकिन साध्य को भुला दिया जाय तो साधन निरुपयोगी सिद्ध होते हैं। संसार में कई प्राणी आत्मशुद्धि के लक्ष्य को भूलकर केवल शारीरिक कष्ट सहन करने का मार्ग स्वीकार करते हैं। कोई पञ्चाग्नि तप तपते हैं, कोई कांटों पर सोते हैं, कोई शेवाल खाकर रहते हैं, कोई मास-मास का उपवास करके पारणे में कुश मात्र खाते हैं लेकिन यह सब अज्ञानतप है। ऐसे तप का कोई आत्मिक-लाभ नहीं होता क्योंकि इस तप का उद्देश्य गलत है। जिसका उद्देश्य ही अशुद्ध है तो वह कार्य शुद्ध कैसे हो सकता है? सांसारिक वासनाओं से या यश की लालसा से किया हुआ तप भी बाल तप की कोटि में है। ऐसे तप से आत्मसंशोधन नहीं होता है। आत्मशुद्धि के उद्देश्य से किया हुआ तप ही कर्मों की निर्जरा का कारण होता है। कहा है–

जे य बुद्धा महाभागा वीरा सम्मत्तदंसिणो।
सुद्धं तेसं परक्कंतं अफलं होइ सव्वसो॥

अर्थात्—जो सम्यग्ज्ञानी, महाभाग, वीर एवं सम्यग्दृष्टि हैं उनका तप आदि अनुष्ठान शुद्ध है। उसीसे मोक्ष की प्राप्ति होती है। उन महापुरुषों का तप सांसारिक प्रयोजन के लिए नहीं होता। जो व्यक्ति तपश्चर्या करके उसका अभिमान करता है, मान-बड़ाई की अभिलाषा करता है और तप की प्रशंसा करता है उसका भी तप शुद्ध नहीं है। तप केवल निर्जरा की दृष्टि से ही करना चाहिए–ऐसा तप ही उत्तम तप है। ज्ञानपूर्वक किया हुआ तपश्चरण ही मोक्षरूप साध्य को सिद्ध कर सकता है। मिथ्यादृष्टियों द्वारा किया हुआ तप अज्ञान तप है क्योंकि वह शुद्ध उद्देश्यपूर्वक नहीं किया जाता है। इसीलिए मिथ्यात्वी की

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

क्रियाएँ भगवान् की आज्ञा में नहीं कही गई हैं। यह समझ कर पूर्वसंचित कर्मों की निर्जरा के लिए तप करना चाहिए। तप के लिए गीता में कहा गया है:—

विषया विनिवर्त्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्त्तते ॥

अर्थात्—तपस्वी निराहारी के विषय शान्त हो जाते हैं, जो रस (आसक्ति) रह जाता है वह भी सम्यग्ज्ञान के द्वारा नष्ट हो जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि विषयों से निवृत्त होने के लिए तप की आवश्यकता है। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि निराहारी रहने वालों में आसक्ति रह जाती है अतएव वह तप उपयोगी कैसे हो सकता है? उसका समाधान यह है कि जो तप ज्ञानपूर्वक किया जाता है उसमें पदार्थ के प्रति आसक्ति नहीं रह पाती है। निराहारी रहने से विषय शान्त होते हैं और इसी आशय से निराहारी रहने पर आसक्ति भी चली जाती है। तात्पर्य यह है कि इन्द्रियाँ विषयों की ओर न दौड़ें और आत्म-जागृति बनी रहे इसके लिए तप की आँच में तपना चाहिए। शरीर-दमन का उपदेश देने के बाद सूत्रकार फरमाते हैं कि आत्म-दमन करो और अपनी वृत्तियों को जीर्ण करो।

आत्मदमन का अर्थ है—कषायादि कुवासनाओं से वासित अन्तःकरण की प्रवृत्ति का निरोध करना। आत्मा कषायों से युक्त होकर कुसंस्कारों की ओर गमन करता है उसका निरोध करना आत्म-दमन है। यह कार्य सरल नहीं है। जो संयमी अत्यन्त अप्रमत्तभाव से अपनी चित्तवृत्ति की चौकसी करते हैं, जो सत् और असत् प्रवृत्ति के विवेक से विभूषित हैं वे आत्मदमन करके वर्त्तमान जीवन को भी सुखी बनाते हैं और भावी जीवन भी सुखमय बनाते हैं। जो साधक अपनी वृत्तियों को काबू में करते हैं वे तपस्वी पद के सच्चे अधिकारी हैं। तपश्चर्या का माप-दण्ड वृत्ति-विजय है। जिसने अपनी वासनाओं-इच्छाओं को जितने अंश में कम की हैं वह उतने ही अंश में तप का आराधक है इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि "इच्छानिरोधस्तपः" अर्थात्-इच्छाओं का रोकना ही तप है।

अब सूत्रकार एक दृष्टान्त द्वारा तप की आचरणीयता प्रदर्शित करते हैं। जिस प्रकार जीर्ण बने हुए काष्ठों को अग्नि शीघ्र ही भस्मसात् कर देती है उसी तरह जिसने तप के द्वारा अपने आपको जीर्ण कर लिया है वह शीघ्र ही सभी कर्मों को भस्मसात् कर डालता है। निर्युक्तिकार ने इस विषय में यह गाथा लिखी है:—

जह खलु झुसिरं कट्ठं सुचिरं सुक्कं लहुं डहइ अग्गी ।
तह खल खवंति कम्मं सम्मचरणे ठिया साहू ॥

अर्थात्—जिस प्रकार पोले-जीर्ण और अत्यन्त सूखे हुए काष्ठ को अग्नि शीघ्र ही जला देती है इसी प्रकार सम्यक् चारित्र में स्थित साधु कर्मरूपी काष्ठ को भस्म कर देते हैं। जिस तरह गीली की अपेक्षा सूखी लकड़ी और सूखी लकड़ी की अपेक्षा जीर्ण लकड़ी जल्दी जल जाती है इसी तरह पश्चात्ताप और संयम के द्वारा गीले पापकर्मों को तपा देना चाहिए तत्पश्चात् त्याग द्वारा आसक्ति के बीज को जीर्ण करना चाहिए और तदनन्तर आसक्ति का सर्वनाश करने के लिए अनासक्ति रूपी आग का आश्रय लेना चाहिए। अनासक्ति के द्वारा कर्म शीघ्र नष्ट होते हैं। यह अनासक्ति त्यागमार्ग के द्वारा ही आ सकती है अतएव संयम में अप्रमत्तता, अनासक्ति और आत्मनिष्ठा रखते हुए आगे बढ़ना चाहिए।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

विगिंच कोहं अविकंपमाणे इमं निरुद्धाउयं संपेहाए दुक्खं च जाण अदु आगमेस्सं, पुढो फासाइं च फासे, लोयं च पास विफंदमाणं, जे निव्वुडा पावेहिं कम्मेहिं अणियाणा ते वियाहिया तम्हा अतिविज्जो नो पडिसंजलिज्जासि त्ति बेमि ।

संस्कृतच्छाया—*परित्यज क्रोधमविकम्पमानः, इदं निरुद्धायुष्कं संप्रेक्ष्य दुःखञ्च जानीहि अथवा आगामि (दुःखं) पृथक् स्पर्शान् च स्पृशेत् लोकञ्च पश्य विस्पन्दमानं ये निवृत्ताः पापेषु कर्मसु अनिदानाः ते व्याख्याताः तस्मादतिविद्वान् (सन्) न प्रतिसञ्ज्वलेः इति ब्रवीमि ।*

शब्दार्थ—इमं=इस मनुष्य भव को । निरुद्धाउयं=अल्प आयुष्य वाला । संपेहाए=जानकर । अविकंपमाणे=अधीर न होते हुए । कोहं=क्रोध को । विगिंच=दूर करो । दुक्खं=क्रोध से होने वाले दुख को । जाण=जानो । अदु=अथवा । आगमिस्सं=आगामी भव में नरकादि में होने वाले दुख को जानो । पुढो=विभिन्न तरह के । फासाइं=दुखों को । फासे=अनुभव करता है । लोयं च=संसार को । विफंदमाणं=दुख का प्रतिकार करने के लिए इधर-उधर दौड़ते हुए । पास=देख । जे=जो । पावेहिं कम्मेहिं=पापकर्मों से । निव्वुडा=निवृत्त हुए हैं । ते=वे । अणियाणा=वासना-इच्छारहित । वियाहिया=(परम सुखी) कहे गये हैं । तम्हा=इसीलिए । अतिविज्जो=विद्वान् । नो पडिसंजलिज्जासि=क्रोध न करे । त्ति बेमि=ऐसा कहता हूँ ।

भावार्थ—हे साधको ! मनुष्य-भव को अल्पायुष्क जानकर अधीर न होकर क्रोध का त्याग करो । क्रोध के कारण होने वाले मानसिक और शारीरिक दुखों को और आगामी भव में होने वाले नरकादि दुखों को जानो । क्रोध के कारण नरकादि में जीव नाना प्रकार के दुखों का अनुभव करता है । क्रोध के वश बना हुआ यह मनुष्य दुख के प्रतिकार के लिए किस तरह इधर-उधर दौड़ता है यह तुम देखो । जो साधक कषायों पर विजय पाकर उपशान्त बने हैं वे निदानरहित परमसुख के भागी कहे गये हैं । अतएव हे विद्वन् ! तुम कदापि क्रोध न करो ऐसा मैं कहता हूँ ।

विवेचन—इस सूत्र में क्रोध को त्याग ने का उपदेश दिया गया है । पूर्ववर्ती सूत्र में तपश्चर्या का विधान करके अब क्रोध को त्यागने का उपदेश दे रहे हैं इससे यह ध्वनित होता है कि तपश्चर्या तभी साधक होती है जब क्रोध का शमन किया जाय । प्रायः यह देखा जाता है कि जो तपस्वी कहलाते हैं वे अधिक क्रोध करते हैं लेकिन सच्चा तपस्वी क्रोधी नहीं होता यह दिखलाने के लिए तपश्चर्या के बाद ही क्रोध का निषेध किया गया है ।

सूत्रकार फरमाते हैं कि मनुष्य-भव को अल्पायुष्क जानकर अधीर न होकर क्रोध का त्याग करो । मनुष्य-भव का अल्पकाल कह कर सूत्रकार सदा सर्वदा जागृत रहने का संकेत करते हैं । साधना का काल

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

अत्यल्प है; अल्प भी कितना है यह भी विश्वास नहीं हो सकता। इस चञ्चल जीवन का क्षणभर के लिए भी भरोसा नहीं किया जा सकता। प्राण-वायु इस छिद्रमय शरीर में कैसे रुकी हुई है यही आश्चर्य है। न जाने किस क्षण में यह वायु निकल जाय इसलिए भगवान् महावीर ने "समयं गोयम ! मा पमायए" हे गौतम ! समयमात्र का भी प्रमाद न कर यह सुनहरा उपदेश श्री गौतमस्वामी को सुनाया था। प्रत्येक साधक को अपनी साधना का काल अल्प जानकर सदा जागृत-अप्रमत्त रहना चाहिए। प्रत्येक क्रिया को और उसके परिणाम को जाने बिना क्रिया नहीं करनी चाहिए। अपनी विवेक-बुद्धि द्वारा यह सोचे कि इस क्रिया का परिणाम अनिष्ट तो न होगा। उपयोगपूर्वक कार्य करने का नाम ही जागृति है। सतत जागृति रखते हुए साधक को अपनी भूलें प्रतीत हों तो उन्हें देखकर निर्बल, कायर और अधीर न बन जाना चाहिए इसीलिए सूत्रकार ने "अविकंपमाणे" यह पद दिया है। दुष्ट वृत्तियों पर विजय पाना सरल काम नहीं है। एकदम वृत्तियाँ जीर्ण नहीं हो जातीं। इसलिए यह देखकर साधक को हताश और अधीर नहीं बन जाना चाहिए लेकिन धैर्य धारण करते हुए वहाँ तक पहुंचना चाहिए। भूलें एकदम नहीं सुधर सकतीं। उन्हें सुधारने में उतावला न होकर विवेकबुद्धि से काम लेना चाहिए। आवेश के वश नहीं होना चाहिए। इसलिए सूत्रकार ने कहा है कि सदा जागृत रहकर आवेश न करते हुए क्रोध का त्याग करो।

क्रोध मूल दोष है। यह विवेकरूपी दीपक के लिए वायु के समान है। विवेकदीप के बिना मनुष्य अन्धा हो जाता है। क्रोध विवेक का शत्रु है अतएव क्रोध में मनुष्य अन्धा हो जाता है। उसे हिताहित और कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विवेक—भान नहीं रहता है। क्रोध ऐसी अग्नि के समान है जो दूसरों को भले ही न जलाए लेकिन स्वयं तो जलती ही है। क्रोध कदाचित् दूसरे को नुकसान न पहुँचाए लेकिन अपने हृदय को तो अवश्य संताप पहुँचाता है। क्रोध को प्रधान दोष कहने का अभिप्राय यह है कि क्रोध के कारण विवेकबुद्धि नष्ट हो जाती है और विवेक के चले जाने पर मनुष्य घोर से घोर कुकृत्य कर डालता है। अतएव क्रोध को मूल दोष जानकर इसका परिहार करना चाहिए। कई बार साधक अपने दोषों को दूर करना चाहता है लेकिन दोषों को दूर करने का मार्ग उसे नहीं सूझता है। इसके फलस्वरूप कई बार दोष घटने के बजाय बढ़ जाते हैं। इसका कारण यह है कि दोषों के प्रति उसे ऐसी घृणा होती है कि वह विह्वल हो जाता है और उसे आगे बढ़ने का मार्ग नहीं मिलता है। अतएव वह विह्वल होकर अधिक दोषों का सेवन करने लगता है इसलिए दोषों को दूर करने के लिए अधीर न होकर विवेकबुद्धि से काम लेना चाहिए। जब तक विवेकबुद्धि द्वारा दोषों की उत्पत्ति का कारण और उनका परिणाम न जान लिया जाय वहाँ तक दोष सर्वथा नहीं नष्ट हो सकते। इसीलिए सूत्रकार ने क्रोध का परिणाम जानने के लिए कहा है। क्रोध का परिणाम है शारीरिक और मानसिक संताप। इस संताप के कारण आगामीभव में नरकादि-स्थानों में विविध प्रकार के कष्टों का अनुभव करना पड़ता है यह जानकर उभय परिज्ञा द्वारा क्रोध का सर्वथा त्याग करना चाहिए।

संसार के जीव क्रोध के कारण कैसे दुख उठा रहे हैं और भविष्य में उठावेंगे यह जानकर अपनी बुद्धि की कसौटी करो। प्रत्येक पदार्थ को विवेकबुद्धि से देखो। इस तरह जो साधक क्रोध का निरोध करके उपशान्त हुए हैं, पापकर्मों से निवृत्त हुए हैं, जो सब प्रकार के निदान (वासना-इच्छा) से रहित हैं वे शान्ति के असीम आनन्द का अनुभव करते हैं। तीर्थङ्करों के उपदेशामृत के द्वारा जिनका अन्तःकरण सुवासित है, कषायरूपी अग्नि के शीतल होने से जो शान्त हैं वे शान्ति के सागर में हिलोरे लेते हैं। इस-लिए विद्वान् पुरुष कभी क्रोध न करे। कषायों का उपशम करना ही साधना की कसौटी है। चाहे जैसे

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

निमित्त क्यों न उपस्थित हों साधक को सदा क्रोध से बचना चाहिए। उसे यह समझना चाहिए कि क्रोध के निमित्त मेरी ही वृत्तियों से उत्पन्न हुए हैं। अतएव अपनी वृत्तियों को ही शान्त करना चाहिए। साधक यह समझे कि मुझ में शान्ति का अखण्ड स्रोत बह रहा है। अपने आप में अद्भूत शान्ति का अनुभव करने से कषायों पर विजय प्राप्त हो सकती है। कषाय-विजय ही संयम की साधना की कसौटी है।

—उपसंहार—

मिथ्यावादियों के प्रति उपेक्षाबुद्धि रखकर आत्माभिमुखता का विकास करना चाहिए। जीवन के समस्त तत्त्वों को जो संस्कारी बनावे उसी का नाम सच्ची विद्या है। वाणी और व्यवहार की एकरूपता का नाम ही विद्वत्ता है। आत्माभिमुख दृष्टि के विकास के लिए देहदमन, इन्द्रियदमन और वृत्तिदमन तीनों की आवश्यकता होती है। कषायों का शमन ही शान्ति का मूल है। जगत् के सभी महापुरुषों ने यही अङ्गीकार किया है। इसी मार्ग पर चलने में ही कल्याण है।

इस प्रकार श्रीमत्सुधर्मास्वामी ने अपने ज्येष्ठ अन्तेवासी श्री जम्बूस्वामी को कहा कि मैंने भगवान् के मुखारविन्द से झरते हुए अमृत के विन्दुओं का पान किया है सो ही तुझे कहता हूँ। यह भगवद्-वचन हैं, मेरे नहीं। तत्त्वदर्शी पुरुषों के वचनों पर श्रद्धा करो। ऐसा करने से जीवन प्रफुल्ल होता है।

इति तृतीयोद्देशकः

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

सम्यक्त्व नाम चतुर्थ अध्ययन

—चतुर्थोद्देशकः—

गत उद्देशक में तप का विधान किया गया है। तप की यथार्थता और अविकलता संयम के द्वारा होती है। तप को सार्थक बनाने के लिए संयम की आवश्यकता है और संयम की स्थिरता के लिए तप की अनिवार्यता है। जिस तरह स्वर्ण की अंगूठी में जड़ा हुआ नगीना स्वर्ण से शोभा पाता है और स्वर्ण नगीने से शोभा पाता है, जिस तरह जल की शोभा कमल से है और कमल की शोभा जल से है इसी तरह तप की शोभा संयम से है और संयम की शोभा तप से होती है। अतएव इस उद्देशक में संयम का प्रतिपादन किया गया है:—

आवीलए, पवीलए, निप्पीलए जहित्ता पुव्वसंजोगं हिच्चा उवसमं तम्हा अविमणे वीरे, सारए, समिए, सहिए, सया जए, दुरणुचरो मग्गो वीराणं अनियट्टगामीणं।

संस्कृतच्छाया—*आपीडयेत्, प्रपीडयेत्, निष्पीडयेत्, त्यक्त्वा पूर्वसंयोगं हित्वा उपशमं, तस्माद-विमनाः वीरः स्वारतः, समितः, सहितः सदा यतेत। दुरनुचरो मार्गः वीरानामनिवर्त्तगामिनाम्।*

शब्दार्थ—पुव्वसंजोगं=पूर्व संयोग को। जहित्ता=छोड़कर। उवसमं=शान्ति को। हित्वा=प्राप्त करके। आवीलए=आदि में अल्प देहदमन करे। पवीलए=पश्चात् विशेष दमन करे। निप्पीलए=तदनन्तर सम्पूर्ण रूप से दमन करे। तम्हा=इसलिए। अविमणे=शान्तचित्त से। वीरे=वीर साधक। सारए=स्वरूप में प्रेम धारण कर। समिए=पाँच समिति से युक्त होकर। सहिए=ज्ञानादि सद्गुण युक्त होकर। सया=हमेशा। जए=यत्नपूर्वक क्रिया करे। अणियट्टगामीणं=मोक्ष प्राप्त करने वाले। वीराणं=वीरों का। मग्गो=मार्ग। दुरणुचरो=बड़ा विकट है।

भावार्थ—संसार के पूर्वसंयोगों का त्याग कर उपशान्त वृत्ति को पाकर क्रमपूर्वक पहिले अल्प पश्चात् विशेष तदनन्तर सम्पूर्ण रीति से देह का दमन करना चाहिए। अथवा कर्मों का दमन करना चाहिए। अतएव वीर साधक आत्मस्वरूप में प्रसन्नता धारण कर, संयम में तल्लीनता रखकर, पांच समिति से युक्त होकर सदा यत्नापूर्वक क्रिया करे। हे साधको! मोक्ष प्राप्त करने वाले वीरों का मार्ग बड़ा विकट है। आसान नहीं है।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

विवेचन—गत उद्देशक में देहदमन का उपदेश दिया गया है। देहदमन तपश्चरण का ही अंग है। अब इस सूत्र में तपश्चरण का विवेक समझाया गया है। तपश्चर्या की शोभा संयम और उपशम से है। जितने अंश में संयम और उपशम होता है उतने ही अंश में तपश्चर्या सार्थक होती है। अतएव सूत्रकार यह फरमाते हैं कि पूर्व संयोगों को छोड़कर और उपशम-वृत्ति प्राप्त कर तप में यथाक्रम प्रवृत्ति करनी चाहिए। पूर्व संयोग का अर्थ है धन, धान्य, पुत्र कलत्रादि संसार सम्बन्धी जड़ ममता—अथवा अनादि भाव का अभ्यस्त असंयम भी पूर्व संयोग कहा जाता है। सांसारिक ममता को और असंयम को छोड़कर जो तप किया जाता है वह सार्थक है। पूर्वसंयोग—बाह्य पदार्थों की ममता—अति प्रबल होते हैं अतएव उनके त्याग में और उनके पुनः स्मरण होने के विषय में सदा सतर्क रहना चाहिए। लोकैषणा—ख्याति या अन्य सांसारिक कामना संयोग रूप है। अतएव तप करने के पहिले उनका त्याग कर देना चाहिए। कामनाओं के और कषायों के बिना जो तप किया जाता है वह उच्च कोटि का तप है और ऐसा तप ही उपादेय है। तप की उपादेयता बतला कर सूत्रकार ने उसका क्रम बताया है। प्रत्येक कार्य का आरम्भ यदि छोटे रूप में हो और क्रमिक विकास होता रहे तो उस कार्य में स्थिरता, पुष्टता और सुव्यवस्था होती है। इसी आशय से सूत्रकार ने फरमाया है कि प्रारम्भ में अल्प तप के द्वारा देह-दमन करे और पश्चात् उससे विशेष तप करे और बढ़ते हुए अन्त में पूर्ण रूप से देह-दमन करे। प्रव्रज्या अंगीकार करते समय अल्प, तत्पश्चात् आगमों का अध्ययन करके विशेष और शरीर का प्रयोजन सिद्ध हो जाने पर सम्पूर्ण रूप से तपश्चर्या द्वारा शरीर का दमन करे।

कर्मों के क्षय करने के उद्देश्य से तप का अनुष्ठान किया जाता है लेकिन कई प्राणी पूजा, सांसारिक लाभ, एवं ख्याति के लिये भी तप करते हैं अतएव ऐसे तप से—शरीरपीड़न से कोई विशेष लाभ नहीं होता। अथवा उक्त सूत्र की इस प्रकार से व्याख्या की जा सकती है कि कर्म ही कार्मण शरीर है। इस कार्मण शरीर को प्रथम अल्प, फिर विशेष और तदनन्तर सम्पूर्ण रूप से पीड़ित कर देना चाहिए। सम्यग्दृष्टि गुणस्थान से लगाकर अप्रमत्त संयत गुणस्थान तक (चतुर्थ गुणस्थान से सातवें गुणस्थान तक) कर्मों को मर्यादा पूर्वक पीड़े। तदनन्तर निवृत्ति अनिवृत्ति बादर (आठवें नौवें में) गुणस्थान में विशेष रूप से प्रपीड़न करे और सूक्ष्मसम्पराय नामक दसवें गुणस्थान से कर्मों को सविशेष क्षय करे। अथवा उपशम श्रेणी में मर्यादा पूर्वक पीड़न, क्षपक श्रेणी में प्रपीड़न और शैलेशी अवस्था में निष्पीड़न करे।

आठवें गुणस्थानवर्त्ती जीव दो प्रकार के होते हैं—एक उपशम श्रेणी वाले दूसरे क्षपक श्रेणी वाले। इस गुणस्थान से आत्मविकास के दो मार्ग हो जाते हैं। कोई आत्मा ऐसा होता है जो मोहनीय कर्म की प्रकृतियों का उपशम करता हुआ और कोई क्षय करता हुआ आगे बढ़ता है। इसमें से प्रथम मार्ग को उपशम श्रेणी और द्वितीय को क्षपक श्रेणी कहते हैं। जिस प्रकार आग को राख से ढँक देने पर वह दब जाती है लेकिन वायु के झोंके से वह पुनः प्रकट हो जाती है और ताप आदि कार्य करने लगती है; उसी तरह जो आत्मा मोहनीय कर्म की प्रकृतियों को उपशान्त करता है—दबाता है—उसके पुनः मोहनीय कर्म का उदय होता है और वह उदय आगे बढ़ने से रोकता है और नीचे गिराता है। उपशम श्रेणी वाला जीव ग्यारहवें गुणस्थान से आगे नहीं बढ़ सकता। वहाँ से उसको गिरना ही होता है। क्षपकश्रेणी वाला जीव मोहनीय कर्म की प्रकृतियों का क्षय कर देता है अतएव उसके पतन का सम्भव नहीं रहता है और वह आगे बढ़ता चला जाता है। ऐसा जीव दसवें गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान में चला जाता है और सदा के लिए अप्रतिपाती हो जाता है। यह उपशम और क्षपकश्रेणी का स्वरूप समझना चाहिए।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

कर्मों का सर्वथा निष्पीड़न तो चौदहवें गुणस्थान में किये जाने वाले शैलेशीकरण अवस्था में ही होता है। तेरहवें संयोगकेवलि-गुणस्थान के अंत में योगों का निरोध किया जाता है। मन, वचन और काया की प्रवृत्ति को सर्वथा रोक देना योग का निरोध करना कहलाता है। शुक्लध्यान के तृतीय भेद सूक्ष्मक्रियाऽनिवृत्ति के द्वारा काययोग को भी रोक दिया जाता है और चतुर्थ भेद समुच्छिन्न-क्रिया-अप्रतिपाती के द्वारा सूक्ष्म से सूक्ष्म क्रिया तक का भी निरोध कर लिया जाता है और अ, इ, उ, ऋ, लृ इन पाँच लघु अक्षरों के उच्चारण में जितना समय लगता है उतने ही समय का शैलेशीकरण होता है। इस अवस्था में सभी योग रुक जाते हैं और आत्मा पर्वत (शैल) की तरह अकम्पित हो जाता है अतएव इसे शैलेशीकरण कहा जाता है। इस शैलेशीकरण में अन्त में आत्मा चार अघातिक कर्मों से भी मुक्त हो जाता है और कर्मलेप से सर्वथा छूटकर निष्कर्मा—सिद्ध बन जाता है।

तात्पर्य यह है कि प्रारम्भ में अल्प, पश्चात् अधिक इस तरह क्रम से बढ़ते हुए एक दिन सर्वथा कर्मों का निष्पीड़न कर देना चाहिए। कर्मों के निष्पीड़न के उद्देश्य से ही साधक को सभी क्रियाएँ करनी चाहिए। सूत्रकार ने यह क्रम इसलिए बताया है कि जगत् में ऐसे अनेक दृष्टान्त देखे गये हैं जिनमें व्यक्ति प्रथम तो बड़े उत्साह और उमङ्ग के साथ बड़े वेग से काम प्रारम्भ करते हैं लेकिन थोड़े ही समय में उनका उत्साह एकदम मन्द हो जाता है और वे काम को एकदम छोड़ देते हैं। कहीं साधक का ऐसा हाल न हो इसलिए सूत्रकार ने प्रारम्भ में अल्प, पश्चात् विशेष इस क्रम से धीरे २ आगे बढ़ते हुए एक दिन सर्वथा कर्मों का निष्पीड़न कर देना चाहिए ऐसा सूत्रकार ने फरमाया है। असंयम को छोड़कर और उपशम को प्राप्त करके तपश्चरणादि के द्वारा अपने कर्मों का आपीड़न, प्रपीड़न और निष्पीड़न करना चाहिए।

कर्मों का निष्पीड़न करने के लिए किन किन गुणों की आवश्यकता है सो अब सूत्रकार फरमाते हैं:—वीर साधक को शान्तचित्त से जीवन-पर्यन्त संयम में प्रेम धारण कर, आत्मलीनता साध कर, समिति और ज्ञानादि गुणों से युक्तहोकर यत्नपूर्वक वर्ताव करना चाहिए। सूत्रकार ने कर्म-क्षय करने की योग्यता वाले के गुणों को बताते हुए पहिला विशेषण 'वीर' दिया है। इसका कारण यह है कि जो वीर होगा वही कर्मों का विदारण कर सकता है, कायर नहीं। कायरों द्वारा इस मार्ग का आचरण नहीं हो सकता। वे तो इसे देखकर दूर से ही भागते हैं। जो शूरवीर होते हैं वे ही इस मार्ग का आनन्द ले सकते हैं क्योंकि यह धर्म शूरवीरों द्वारा ही प्ररूपित हुआ है। महावीर के धर्म का पालन वीर ही कर सकते हैं। यहाँ वीर का अर्थ शारीरिक वीर नहीं लेकिन आत्मिक वीर से है। वस्तुतः बाह्य वीरता सच्ची वीरता नहीं है क्योंकि सैकड़ों नहीं, हजारों नहीं लेकिन करोड़ों योद्धा एक आत्म-बली के सामने नत मस्तक हो जाते हैं। लंका का अधिपति महा योद्धा रावण अपने लाखों योद्धाओं के सहित आत्म-बलवती सीता के आगे निष्प्रभ हो जाता है। इससे सिद्ध होता है कि सच्ची वीरता शारीरिक वीरता नहीं है अपितु आत्मिक वीरता ही सच्ची वीरता है। जिसमें आत्म-बल है वही साधक साधना के मार्ग में आगे बढ़ सकता है। जिसमें यह बल नहीं है वह संयम में पद-पद पर परीषह और उपसर्गों से पीड़ित होने पर दुखी होगा और संयम की आराधना नहीं कर सकेगा। अतएव कर्म क्षय करने के लिए सर्व प्रथम गुण 'वीर' बनना है। सच्चा आत्म-वीर ही कर्मों का विदारण कर सकता है। जो वीर है वह कभी संयम में ग्लानि का अनुभव नहीं कर सकता अतएव वह सदा अविमना (शान्तचित्त) रहता है। जिनका चित्त चञ्चल है, जो अल्पमात्र निमित्तों के मिल जाने से लुब्ध बन जाते हैं, या जो इन्द्रियों के विषयों में आसक्ति रखते हैं वे साधक साधना के योग्य नहीं हैं। वही साधक साधना की आराधना कर सकते हैं जिनका चित्त चञ्चल नहीं है, जो इन्द्रियों के विषय में अनुरक्ति नहीं रखते हैं और जो संयम की आराधना में अनुरक्त रहते हैं। संयम के प्रति

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

जिनके हृदय में अनुराग है, संयम के साथ जिनकी तन्मयता हो जाती है वे ही संयम को यथावत् पाल कर कर्म-क्षय कर सकते हैं। साथ ही साथ प्रत्येक क्रिया को करते समय साधक को सदा जागृत रहना चाहिए। प्रत्येक क्रिया में उपयोग का पूरा ध्यान रखना चाहिए। इसलिए पाँच समितियों का पालन और ज्ञानादि गुणों से युक्त होकर कर्म-क्षपण के लिए प्रयत्नशील बनना चाहिए। जो सावधानी के साथ संयम का पालन करता है वह शीघ्र कर्मों का अन्त कर देता है। अतएव संयम में सावधान रहना चाहिए।

यहाँ यह आशंका की जा सकती है कि पहिले कई बार संयम में सावधान रहने का कहा जा चुका है फिर पुनः पुनः यह उपदेश क्यों दिया जाता है? इसका समाधान स्वयं सूत्रकार ने किया है कि "दुरणुचरो मग्गो वीराणं अनियट्टगामीणं" अर्थात्-मोक्षगामी वीरों का मार्ग बड़ा विकट है। इससे यह ध्वनित होता है कि साधना-मार्ग जैसा-वैसा नहीं है लेकिन यह अति विकट मार्ग है। इस मार्ग पर चलते हुए सदा सावधानी रखनी चाहिए अन्यथा हानि की सम्भावना है। यह सूचित करने के लिए तथा सदा जागृत रहने के लिए बार-बार यह उपदेश दिया जाता है। अग्नि में जल मरना, पर्वत से कूद पड़ना और समुद्र में डूब मरना सरल है, लेकिन चित्तवृत्तियों पर पूरा अधिकार करना बड़ा कठिन है। बड़े बड़े साधक और मुमुक्षु इन चित्तवृत्तियों के वेग के सामने हार स्वीकार कर लेते हैं और संयम के उच्च स्थान से गिर जाते हैं। चित्तवृत्तियों के वेग के आगे हार न मानकर उन पर अपना वर्चस्व कायम करना यही संयम है और इसी संयम के लिए पुनः पुनः उपदेश दिया जाता है। पुनः पुनः उपदेश-श्रवण से संयम में स्थिरता बनी रहे इसी उदार आशय से पुनः पुनः संयम का उपदेश दिया जाता है। इससे संयम की महत्ता समझ कर उसके प्रति सावधान होना चाहिए।

विगिंच मंससोणियं, एस पुरिसे दविए वीरे, आयाणिज्जे वियाहिए जे धुणाइ समुस्सयं वसित्ता बंभचेरंसि।

संस्कृतच्छाया—*विवेचय मांसशोणितं, एषः पुरुषः द्रविकः, वीरः आदानीयः व्याख्यातः यो धुनाति समुच्छ्रयं उषित्वा ब्रह्मचर्ये।*

शब्दार्थ—मंससोणियं=मांस और खून को। विगिंच=सुखाकर। बंभचेरंसि=ब्रह्मचर्य में। वसित्ता=रहकर। जे=जो। समुस्सयं=शरीर को। धुणाइ=धुनता है। एस=वह। पुरिसे=पुरुष। दविए=मोक्ष के योग्य। वीरे=सच्चा वीर। आयाणिज्जे=ग्राह्य-वचन वाला। वियाहिए=कहा जाता है।

भावार्थ—जो अहंकार और कामवासना को उत्तेजित करे इस तरह शरीर में खून और मांस को न बढ़ाकर तपश्चर्या द्वारा देह का दमन करता है तथा ब्रह्मचर्य में रहकर जो शरीर को धुनता है—वही वीर पुरुष मोक्ष-प्राप्ति के योग्य है और उसीके वचन माननीय होते हैं।

विवेचन—पूर्ववर्ती सूत्र में कर्मक्षय करने के लिए आवश्यक गुणों का वर्णन करते हुए वीर बनने का कहा गया है। यहाँ वीरता का अर्थ-कोई शारीरिक वीरता समझ कर उसे प्राप्त करने के लिए, शरीर

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

में खून और मांस को बढ़ाने वाले पदार्थों का सेवन करने की मूर्खता न कर बैठे इसलिए सूत्रकार ने यहाँ वीरता के अर्थ को स्पष्ट कर दिया है। वीरता का अर्थ शारीरिक पुष्टि नहीं लेकिन आत्मिक शक्ति से है। वीरता चैतन्य का गुण है। चैतन्य का जितना विकास होता है उतना ही वीरत्व प्रकट होता है। चैतन्य पर जितना आवरण रहता है उतना ही वीरत्व का ह्रास होता है। दृढ संकल्प बल, इन्द्रियविजय और ब्रह्मचर्य के द्वारा वीरता प्रकट होती है। सच्चा वीर स्त्रियों के विजय को ही सच्ची विजय समझता है। इसलिए वह वृत्ति के विजय के लिये शरीर और मन दोनों को कसता है। शरीर और इन्द्रियों की पुष्टता, बहुत करके काम-विकारों को जागृत करने वाली होती है। वैसे ही इन्द्रियां अति चञ्चल होती हैं इस पर यदि उन्हें नित्य पोषण मिलता रहे तो तो उनमें अनावश्यक चञ्चलता आ जाती है और वे आत्मा को पतन के गर्त में गिरा देती है। बन्दर स्वभावतः चञ्चल है इस पर उसे यदि मदिरा पीने को मिल जाय तो उसकी चञ्चलता का कहना ही क्या? ठीक उसी तरह चञ्चल इन्द्रियों को आवश्यकता से अधिक पोषण मिलता है तो उनके उन्मार्ग में जाने की बहुत अधिक सम्भावना हो जाती है। पुष्ट शरीर और पुष्ट इन्द्रियां आत्मा को विलास के मार्ग पर खींचती हैं इससे साधना विकृत हो जाती है इतना ही नहीं लेकिन कर्मों का बन्धन भी हो जाता है। इस आशय से साधक को देह में अनावश्यक खून और मांस को न बढ़ाने का और देह का दमन करने उपदेश दिया गया है। संयम की साधना के लिये ब्रह्मचर्य द्वारा देह और इन्द्रियों का निग्रह करना चाहिए।

आत्म-साक्षात्कार और परमात्म-दर्शन के लिए ब्रह्मचर्य की अनिवार्य आवश्यकता होती है। ब्रह्मचर्य का अर्थ अति विस्तृत, गहन और व्यापक है। 'ब्रह्म' शब्द के अनेक अर्थ हैं। ब्रह्म का अर्थ—ईश्वर अथवा आत्मा मुख्य रूप से होता है। "ब्रह्मणि चर्यते अनेन इति ब्रह्मचर्यम्" इस व्युत्पत्ति के अनुसार आत्मा में—परमात्मा में—जिसके द्वारा रमण किया जाय वह अथवा आत्मा में—तन्मय हो जाना ब्रह्मचर्य है। इस व्युत्पत्ति से यह अर्थ निकलता है कि आत्मा में—परब्रह्म में—तल्लीन हो कर आत्मा और परमात्मा का अभेद अनुभव करना ब्रह्मचर्य है। यह ब्रह्मचर्य का गम्भीर और विस्तृत अर्थ होता है लेकिन यह शब्द अब काम विकार को जीतने के अर्थ में ही रूढ़ हो गया है।

वस्तुतः ब्रह्मचर्य के बिना आत्मा का विकास नहीं हो सकता। जब तक प्राणी विलासों का कीड़ा बना रहता है वहाँ तक उसे किसी भी कार्य में सफलता नहीं मिल सकती। आध्यात्मिक विषयों की बात तो दूर रही लेकिन संसार व्यवहारों में भी ब्रह्मचर्य के अभाव से भयंकर हानियां दृष्टिगोचर हो रही हैं। विलासों में मग्न रहने के कारण कई राजाओं ने अपने राज्य से हाथ धोये हैं। मुगल साम्राज्य का अन्त इस बात की साक्षी देता है। ब्रह्मचर्य के अभाव से आज भारतीय प्रजा तेजोहीन और शक्तिहीन बन गई है। जिन युवकों में यौवन का उछलता हुआ खून होना चाहिए वे युवक अपना तेज गँवा कर कृत्रिम सौन्दर्य के साधनों से अपना शरीर सजाते हैं। उनमें स्फूर्ति, उत्साह और उमंग दिखाई देनी चाहिए लेकिन वे केवल मिट्टी के पुतले दिखाई देते हैं उनमें किसी तरह का संकल्प-बल दृष्टिगोचर नहीं होता है। यह ब्रह्मचर्य के अभाव का परिणाम है। अगर हम यह चाहते हैं कि हमारी प्रजा तेजस्वी, शक्तिसम्पन्न बने तो यह कार्य ब्रह्मचर्य की आराधना के बिना नहीं हो सकता।

ब्रह्मचर्य के बिना शारीरिक और मानसिक शक्ति का बराबर गठन नहीं हो सकता है। स्वास्थ्य की दृष्टि से शरीर का राजा वीर्य कहा गया है। वीर्य शरीर के धातुओं का सार है। वीर्य शरीर का अनमोल रत्न है। मनुष्य जो आहार करते हैं उसका रस बनता है, तदनन्तर रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

और वीर्य बनता है। शारीरिक-विज्ञानवेत्ताओं का कथन है कि मनुष्य जो आहार करते हैं उसका तीस दिन के पश्चात् वीर्य बनता है। साथ ही उनका यह भी कथन है कि एक मन आहार से एक सेर रक्त बनता है और एक सेर रक्त से केवल दो तोला वीर्य बनता है। इस क्रम पर विचार करने से प्रतीत होता है कि यदि कोई मनुष्य सेर आहार प्रतिदिन करे तो चालीस दिनों में उसे केवल दो ही तोला वीर्य की प्राप्ति हो सकेगी। जीवन के लिए अनिवार्य ऐसे बहुमूल्य पदार्थ को जो लोग क्षणभर की तृप्ति के लिए गँवा देते हैं उनकी मूर्खता का क्या वर्णन किया जाय ? एक बार वीर्य को नष्ट करने का अर्थ है—लगभग चालीस दिन की कमाई को धूल में मिला देना, चालीस दिन तक किये हुए आहार को व्यर्थ कर देना और मूल्यवान् जीवन के चालीस दिन कम कर लेना। इतना ही नहीं लेकिन जीवन का सामर्थ्य, स्वास्थ्य, शरीर का ओज और मानसिक शान्ति आदि भी वीर्यनाश से नष्ट हो जाते हैं।

मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्—

अर्थात्—वीर्यनाश ही मृत्यु है और वीर्यरक्षा ही जीवन है। इस आयुर्वेद के स्वर्णिम सूत्र को भुलाकर आर्य-प्रजा भी दिनोदिन ब्रह्मचर्य का नाश करके रसातल की ओर जा रही है यह खेद का विषय है। यही कारण है कि शारीरिक शक्ति के ह्रास के साथ ही मानसिक दृढ़ता भी नष्ट हो गई है। ब्रह्मचर्य के बिना संकल्पों में दृढ़ता नहीं आ सकती और जब तक संकल्पों में दृढ़ता नहीं आती वहाँ तक सांसारिक या पारमार्थिक कोई भी कार्य पूरा नहीं हो सकता। संसार के सभी महापुरुषों ने अपनी दृढ़ संकल्प शक्ति के कारण बड़े बड़े कार्य सम्पन्न किए हैं। बिना ब्रह्मचर्य के दृढ़ संकल्प-शक्ति आ नहीं सकती। ब्रह्मचर्य ही शक्ति का मूलमंत्र है, बुद्धि को तेज करने वाला है और शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शक्ति को प्रकट करने वाला है।

अध्यात्म-भावना प्रधान ऋषियों और मुनियों ने ब्रह्मचर्य को आचार में सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया है। यह इतना महान् व्रत है कि उसके यशोगान का अन्त नहीं हो सकता। भगवान् ने सूत्रकृताङ्ग सूत्र में फरमाया है—"तवेसु वा उत्तमं बंभचेरं" सभी तपों में ब्रह्मचर्य उत्तम तप है। प्रश्न व्याकरण सूत्र में भगवान् ने ब्रह्मचर्य की महिमा इस प्रकार कही है:—

ब्रह्मचर्य उत्तम तप, नियम, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सम्यक्त्व तथा विनय का मूल है। यम और नियमरूप प्रधान गुणों से युक्त है। हिमवान् पर्वत से महान् और तेजस्वी है। ब्रह्मचर्य का अनुष्ठान करने से मनुष्य का अन्तःकरण प्रशस्त, गम्भीर और स्थिर हो जाता है। साधुजन ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं। वह मोक्ष का मार्ग है। निर्मल सिद्ध गति का स्थान है, शाश्वत है, अव्याबाध है। जन्म-मरण का निरोध करने वाला है। प्रशस्त है, सौम्य है, सुखरूप है, शिवरूप है, अचल और अक्षय बनाने वाला है। मुनिवरों ने, महापुरुषों ने, धीर-वीरों ने और धर्मात्माओं ने सदा इसका पालन किया है। यह शंकारहित है, भयरहित है, खेद रहित है और पाप की चिकनाहट से रहित है। यह समाधि का स्थान है। ब्रह्मचर्य का भङ्ग होने से सभी व्रतों का तत्काल भङ्ग हो जाता है, सभी व्रत, विनय, शील, तप, नियम गुण आदि दही के समान मथ जाते हैं—चूर-चूर हो जाते हैं, बाधित हो जाते हैं, पर्वत के शिखर से गिरे हुए पत्थर के समान भ्रष्ट हो जाते हैं—खण्डित हो जाते हैं। निरतिचार ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला ही सुब्राह्मण है, सुश्रमण है, सुसाधु है। जो ब्रह्मचर्य का शुद्ध पालन करता है, वही ऋषि है, वही मुनि है, वही संयमी है, वही भिक्षुक है।"

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

उपर्युक्त प्रश्न व्याकरण सूत्र के उद्धरण से ब्रह्मचर्य की महत्ता का बोध हो जाता है। इससे अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है।

ब्रह्मचर्य की स्थिरता के लिये केवल स्पर्शनेन्द्रिय के निग्रह से ही काम नहीं चलता लेकिन पांचों इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना आवश्यक है। स्वाद-विजय इसका प्रधान अंग है। जो व्यक्ति स्वाद पर विजय पाये बिना ब्रह्मचर्य-पालन की आशा करता है वह भ्रम में है। इसी तरह घ्राण, चक्षु और श्रोत्रेन्द्रिय का भी निग्रह आवश्यक है। इन्द्रिय-संयम और वृत्तिविजय द्वारा ही ब्रह्मचर्य साध्य हो सकता है। इसीलिए ब्रह्मचर्य पालन के लिए नव-वाड़ों का कथन किया गया है।

जो व्यक्ति ब्रह्मचर्य द्वारा अपने देह और मन का दमन करता है वही वीर है, वह मुक्ति-गमन के योग्य है और उसीके वचन आदरणीय और माननीय हैं। यह समझ कर साधक को ब्रह्मचर्य के विषय में खूब सतर्क रहना चाहिए।

नित्तेहिं पलिच्छिन्नेहिं आयाणसोयगढिए बाले, अव्वोच्छिन्नबंधणे, अणभिक्कंतसंजोए तमंसि अवियाणओ आणाए लंभो नत्थि त्ति बेमि ।

संस्कृतच्छाया—*नेत्रैः परिच्छिन्नैः आदानस्रोतोगृद्धः बालः अव्यवच्छिन्नबंधनः अनभिक्रान्तसंयोगः तमसि अविजानतः, आज्ञायाः लाभो नास्तीति ब्रवीमि ।*

शब्दार्थ—नित्तेहिं=नेत्रादि इन्द्रियों के। पलिच्छिन्नेहिं=विषयों को रोक कर, फिर किसी कारण से। आयाणसोयगढिए=कर्म के आस्रव के कारणों में आसक्त होता है वह। बाले= अज्ञानी है। अव्वोच्छिन्नबंधणे=उसके किसी प्रकार के बन्धन नहीं कटते हैं। अणभिक्कंतसंजोए= वह धनधान्यादि संयोगों से मुक्त नहीं है। अवियाणओ=ऐसे अज्ञानी को। तमंसि=भावान्धकार में रहने से। आणाए=भगवान् की आज्ञा का। लंभो नत्थि=लाभ नहीं होता है। त्ति बेमि= ऐसा मैं कहता हूँ।

भावार्थ—कतिपय साधक प्रथम तो नेत्रादि इन्द्रियों को अपने विषयों पर जाती हुई रोककर साधना के मार्ग में जुड़ते हैं लेकिन बाद में पुनः मोह-वश होकर विषयों में आसक्त हो जाते हैं। ऐसे अज्ञानी जीव किसी प्रकार के बन्धन से अथवा प्रपंच से नहीं छूट सकते हैं और मोहरूपी अन्धकार में रहने से तीर्थंकर देव की आज्ञा के आराधक नहीं हो सकते।

विवेचन—ऊपर के सूत्रों में संयम में अप्रमत्त रहने वाले साधकों का वर्णन किया गया है। अब प्रमत्तों का वर्णन किया जाता है। अप्रमत्त दशा के लाभ बताने के पश्चात् अब प्रमत्त दशा से होने वाली हानियाँ बताते हैं। लाभ और हानि तथा उसके कारणों को जानकर लाभ में प्रवृत्ति करनी चाहिए। शास्त्रकार को प्राणियों की प्रवृत्ति अप्रमाद में करानी है अतएव वे विभिन्न तरह से अप्रमाद के लाभ और

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

प्रमाद से होने वाली हानियों का निर्देश करते हैं ताकि उन्हें समझ कर प्राणियों की प्रवृत्ति प्रमाद में न होकर अप्रमाद में हो। यहाँ प्रमाद से हानियाँ बताते हैं।

कई व्यक्ति प्रथम इन्द्रियादि के विषयों को रोक कर साधुवृत्ति अङ्गीकार कर लेते हैं परन्तु मोह का उदय होने के कारण पुनः विषयों में आसक्त हो जाते हैं। कहने का आशय यह है कि साधुवृत्ति स्वीकार करने मात्र से साध्य सिद्ध नहीं हो सकता। यह वृत्ति भी मोक्ष की सिद्धि के लिए एक साधन मात्र है। जो व्यक्ति संयम स्वीकार करने को ही सब कुछ कर चुकना मानकर वृत्तियों के प्रति असावधान रहते हैं वे धोखा खाते हैं। अनेक साधक कितने ही वर्षों तक संयम का पालन करके पुनः पतित हो जाते हैं। विषयों और पदार्थों के प्रति उनका मोह जागृत हो जाता है और वे इस तरह सावद्य अनुष्ठान करके संसार के बीजभूत कर्मों का आस्रव करते हैं। इससे यह तात्पर्य निकलता है कि संयम अङ्गीकार करके भी अपनी वृत्तियों पर पूरा काबू रखना चाहिए। ज्यों ही वृत्तियों को छूट मिलती है त्योंही ये अपने सहज स्वभाव से आत्मा को जड़ता की ओर खींच लेती हैं। अतएव वृत्तियों को ढीली नहीं छोड़नी चाहिए। वृत्तियों पर अंकुश रखने के लिए और उनके प्रति सतत सतर्क रहने के उद्देश्य से ही तपश्चर्या की जाती है। तपश्चर्या का यह हेतु नहीं भूल जाना चाहिए।

जो व्यक्ति एक बार संयम अङ्गीकार करके पुनः विषयों की ओर आकृष्ट होते हैं वे अपनी प्रतिज्ञा को भूल जाते हैं। प्रथम प्रव्रज्या अङ्गीकार करते समय यावज्जीवन सावद्य अनुष्ठान का त्याग करने की प्रतिज्ञा ली जाती है। उस प्रतिज्ञा को लेकर भी कई साधक वृत्तियों के आवेश में भान भूल जाते हैं और प्रतिज्ञा को विस्मृत कर देते हैं। ऐसे व्यक्ति कर्म के स्रोत इन्द्रियादि विषयों में अथवा मिथ्यात्व, अविरति प्रमाद, कषाय और अशुभयोग में आसक्त हो जाते हैं। उन्हें सूत्रकार ने बाल, अव्यवच्छिन्नबंधन, अनभिक्रान्त संयोग और तीर्थङ्करों की आज्ञा से बहिर्भूत कहा है। संयम लेने पर भी जो विषय-विकारों में आसक्त होते हैं वे राग-द्वेष युक्त अन्तःकरण वाले होने से और मोहाभिभूत होने से बाल हैं, अज्ञानी हैं। बालक जिस तरह हिताहित का विवेक नहीं कर सकता उसी तरह वे व्यक्ति भी हिताहित के विवेक से शून्य हैं। उनके ऐसे सावद्य अनुष्ठान से ऐसे कर्मों का आस्रव होता है कि वे कर्म सैकड़ों भवों में भी नहीं छूट सकते अतएव वे अव्यवच्छिन्नबन्धन होते हैं। ऐसे व्यक्ति बाह्यरूप से धन, धान्य, पुत्र, कलत्रादि संयोगों का त्याग करते हुए भी संयोगों के त्यागी नहीं हो सकते हैं। क्योंकि बाह्यरूप से त्यागने पर भी आन्तरिक वासना शेष रही हुई है। इसलिए आसक्त प्राणी किसी प्रकार के संयोग का त्यागी नहीं हो सकता। वह किसी भी प्रपञ्च से मुक्त नहीं हो सकता। ऐसा व्यक्ति इन्द्रियों के अनुकूल कार्य करने से मोहान्धकार में निमग्न रहता है अतएव आत्मा की ज्योति आवृत्त हो जाती है। ऐसा मोहान्ध प्राणी अज्ञानी है और वह तीर्थङ्करों की आज्ञा का आराधक नहीं होता है।

तीर्थङ्कर की आज्ञा का अर्थ है—तीर्थङ्करोपदिष्ट नियमोपनियम को आंशिक या सर्वांश में पालने की प्राथमिक प्रतिज्ञा। मोहरूपी अन्धकार में वर्त्तमान होने से वह व्यक्ति आज्ञा का आराधक नहीं होता लेकिन विराधक होता है। अथवा 'आज्ञा' का अर्थ सम्यक्त्व। ऐसे अनभिक्रान्त संयोग आत्मा को समकित की प्राप्ति भी नहीं होती है। सूत्र में आया हुआ 'अस्ति' शब्द त्रिकाल विषयी है अतएव यह अर्थ हुआ कि भावान्धकार में रहे हुए प्राणी को न सम्यक्त्व पहिले था, न है और न भविष्यकाल में होगा। इसी बात को आगे स्पष्ट करते हैं।

जस्स नत्थि पुरा, पच्छा मज्झे तस्स कुओ सिया ? से हु पन्नाणमंते बुद्धे आरंभोवरए, सम्ममेयंति पासह, जेण बंधं, वहं, घोरं परियावं च दारूणं

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

पलिछिंदिय बाहिरंग च सोयं, निक्कम्मदंसी इह मच्चिएहिं, कम्माणं सफलं दट्ठूण तओ निज्जाइ वेयवी ।

संस्कृतच्छाया—*यस्स नास्ति पुरा पश्चादपि मध्ये तस्य कुतः स्यात् ? स हु प्रज्ञानवान् बुद्धः आरम्भोपरतः सम्यगेतदिति पश्यत । येन बन्धम्, वधं, घोरं, परितापञ्च दारुणं (अवाप्नोति) परिच्छिन्द्य बाह्यञ्च स्रोतः निष्कर्मदर्शी इह मर्त्येषु, कर्म्मणाम् सफलत्वं दृष्ट्वा तस्मान्निर्याति वेदावित् ।*

शब्दार्थ—जस्स=जिसको । पुरा=पूर्वभव में । नत्थि=सम्यक्त्व प्राप्त नहीं हुआ । पच्छा=आगामी भव में भी प्राप्त होने वाला नहीं । तस्स=उसको । मज्झे=इस मध्यकाल में । कुओ=कहाँ से । सिया=होगा ? से हु=वही । पन्नाणमंते=तत्त्वदर्शी । बुद्धे=और विद्वान् है । आरंभोवरए=जो सावद्य अनुष्ठान से रहित है । एयं=यह । सम्मं=सम्यक् है । त्ति=इस प्रकार । पासह=देख । जेण=क्योंकि हिंसा से । बंधं=बन्धन । वहं=वध । घोरं=भयंकर । परितापं=शारीरिक व मानसिक दुख प्राप्त होता है । बाहिरंग=बाह्य । च=और अन्तरंग । सोयं=पाप के कारणों को । पलिछिंदिय=तोड़कर । इह मच्चिएहिं=इस मृत्यु लोक में । निक्कम्मदंसी=निष्कर्मदर्शी बनना चाहिए । कम्माणं=कर्मों को । सफलं । सफल । दट्ठूण=जानकर । वेयवी=तत्त्वज्ञ । तओ=कर्म के कारणों से । निज्जाइ=दूर रहता है ।

भावार्थ—जिसने पूर्वभव में धर्माराधना नहीं की और भविष्य में भी धर्मसाधना हो सके ऐसी योग्यता नहीं प्राप्त की वह वर्तमान काल में धर्माराधन किस तरह कर सकेगा ? क्योंकि सावद्य प्रवृत्ति द्वारा जीवात्मा को बन्ध, वध, संताप इत्यादि भयंकर दुख सहन करने पड़ते हैं ऐसा समझ कर ज्ञानवान् और तत्त्वज्ञ पुरुष ऐसी सावद्य प्रवृत्ति से सदा दूर रहते हैं । उनका यह व्यवहार कितना सुन्दर और सम्यक् है । हे साधको ! तुम भी बाहरी और भीतरी प्रतिबंधों को काटकर पाप कर्मों से परे होकर और मोक्ष की तरफ ध्यान देकर संयम में आगे बढ़ो । किए हुए कर्मों का फल अवश्य मिलता है यह जानकर तत्त्वज्ञ पुरुष कर्मबन्धन के कारणों से सदा दूर रहते हैं ।

विवेचन—इस सूत्र में यह बताया गया है कि भावान्धकार में रहने वाले, अव्यवच्छिन्नबंध और अनभिक्रान्त-संयोग (बाह्याभ्यन्तर परिग्रह का त्याग न करने वाले) जीव त्रिकाल में भी सम्यक्त्व नहीं पा सकते हैं । जिसने पूर्वभव में सम्यक्त्व पाया है अथवा भविष्य काल में सम्यक्त्व प्राप्त करने की जिसमें योग्यता है वही वर्त्तमान भव में धर्माराधन कर सकता है । जिसने पूर्व जन्म में सम्यक्त्व नहीं पाया और भविष्य में होने वाले भव में भी सम्यक्त्व प्राप्त करने की योग्यता नहीं पायी वह वर्त्तमान भव में भी सम्यक्त्व नहीं पा सकता है । जिस तरह अभव्य जीव न तो पूर्वभव में समकित प्राप्त करते हैं और न आगे के भव में प्राप्त कर सकेंगे अतएव वे वर्त्तमान भव में भी नहीं पा सकते हैं । जिसने एकबार समकित प्राप्त किया है, वह समकित भले ही मिथ्यात्व के उदय से चला जाय तदपि अपार्द्ध-पुद्गल

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

परावर्त्तन काल में वह अवश्य पुनः प्राप्त होता है और वह जीव अवश्य आराधक होकर मोक्ष में जाता है। समकित के नष्ट हो जाने पर पुनः समकित नहीं प्राप्त हो यह असंभव बात है।

इस सूत्र में यह कहा गया है कि कई साधकों के पूर्व-जन्म में उपार्जित कर्म इतने घने और चिकने होते हैं कि वे धर्म के सन्मुख भी नहीं हो सकते हैं। पूर्व-जन्म के कर्म भी समकित में बाधक होते हैं। जीवात्मा कई कार्य करने के लिए प्रयत्न करता है लेकिन वह सफल नहीं होता है इसका कारण पूर्वकर्मों का संयोग है। पूर्व-घन-कर्मों की वजह से भी जीव धर्माराधना नहीं कर सकता है। धर्माराधन के योग्य संयोगों का मिलना अथवा न मिलना यह भी पूर्व-जन्म के कर्मों को ऊपर अवलम्बित है। किसी प्राणी के कर्म ऐसे होते हैं कि उसे अनायास ही सब साधन मिल जाते हैं और एक-एक प्राणी ऐसे भी होते हैं जिन्हें भरसक प्रयत्न करते हुए भी साधन उपलब्ध नहीं होते हैं। संयम की आराधना कर सकने के योग्य संयोग की प्राप्ति होना सरल काम नहीं है। युग-युग के सतत प्रयत्न के पीछे जड़ वृत्ति को परास्त करके आत्म-वृत्ति को विकसित करने का अवसर मिलता है। संयम का मार्ग बाहर से जितना सुन्दर, सरल और सहज-साध्य प्रतीत होता है उतना ही यह कठिन और कष्ट-साध्य है फिर भी इसी मार्ग पर आये बिना इच्छित फल की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसके लिए तो जल्दी या देर से इसी मार्ग पर आना पड़ेगा। संयम-पालन का अपूर्व अवसर प्राप्त हुआ है यह जानकर साधक को प्रमाद नहीं करना चाहिए। कोटिभव दुर्लभ चारित्र प्राप्त हुआ है इसका महत्व समझ कर अप्रमत्त भाव से इसकी सम्यग् आराधना करनी चाहिए।

अथवा "जस्स नत्थि पुरा पच्छा मज्झे तस्स कुओ सिया" इसका अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है—जिसको पूर्व में भोगे हुए सांसारिक सुखों का स्मरण नहीं आता है और जो भविष्य में होने वाले दिव्याङ्गनादि स्वर्ग-सुख की अभिलाषा नहीं करता है वह वर्त्तमान सुखों में आसक्ति कैसे रख सकता है? अर्थात् नहीं रख सकता है।

इस सूत्र के पहिले के सूत्र में प्रमादी का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वह कर्मों के आस्रव के कारण रूप विषयों में आसक्त होकर प्रपञ्च और बन्धनों से मुक्त नहीं हो सकता है। यहाँ इसको विपर्यय रूप से कहा गया है कि जो व्यक्ति पूर्व में भोगे हुए सुखों का स्मरण करके उन्हें पुनः प्राप्त करने की अभिलाषा नहीं रखता है और न आगे होने वाले स्वर्गादि के सुखों की आशा करता है वह व्यक्ति इस वर्त्तमान काल के सुखों के प्रति आसक्त नहीं हो सकता है। वह तो सांसारिक सुखों से बिल्कुल निरपेक्ष होता है। ऐसा व्यक्ति ही प्रपञ्चों और बंधनों से मुक्त हो सकता है। वही जन्म-मरण की परम्परा से छूट सकता है।

सांसारिक सुखों से निरपेक्ष होकर जो व्यक्ति सावद्य अनुष्ठान से निवृत्त होते हैं वे ही प्रज्ञावान् और बुद्ध हैं। जो भोगाभिलाषा से निवृत्त है वह प्रज्ञावान् है। प्रज्ञावान् है इसलिए तत्त्वदर्शी है। तत्त्व-दर्शी है अतएव सावद्य अनुष्ठान से निवृत्त है। जिसके अन्तःकरण में जीवाजीव का विवेक और तत्त्वज्ञान का प्रकाश स्फुरित होता है उसका व्यवहार भी उतना ही पवित्र होता है। वह अपने ज्ञान के प्रकाश और हृदय की अनुभूति से यह जानता है कि सावद्य अनुष्ठान का परिणाम अति अनिष्ट होता है। पापिष्ठ-वृत्ति द्वारा जीवात्मा बन्धनों—बेड़ियों में बँधता है, चाबूक आदि के द्वारा वध किया जाता है, प्राण-घातक दण्ड से दण्डित होता है और शारीरिक एवं मानसिक भयङ्कर असह्य कष्टों का अनुभव करता है। यह जानकर परमार्थी और तत्त्वज्ञानी ऐसी वृत्तियों से दूर रहते हैं। सूत्रकार उनकी अनारम्भ प्रवृत्ति की प्रशंसा की करते हुए कहते हैं कि उनका यह अहिंसक पवित्र व्यवहार कितना सुन्दर, सत्य और शिवरूप है।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

सूत्रकार पुनः उपदेश करते है कि कर्म के स्रोत को रोक कर और मोक्ष को साध्य बनाकर साधना में आगे बढ़ना चाहिए। परिग्रह और कषाय ये विशेषतः पाप के उपादान हैं। धन, धान्य, हिरण्य, पुत्र कलत्र आदि बाह्य परिग्रह और राग-द्वेष, विषयपिपासा आदि आभ्यन्तर परिग्रह आत्मोत्थान के प्रति बन्धक हैं। इन प्रतिबन्धों को छेदकर निष्कर्मदर्शी—मोक्षाभिलाषी बनना चाहिए। जो मोक्षाभिलाषी है वही इस संसार में बाह्य आभ्यन्तर स्रोत का छेदन करने वाला होता है। ऊपर वृत्ति-विजय के लिए कहा गया है इससे कोई साधक बाह्य त्याग की अनावश्यकता समझने की भूल न कर बैठे इसलिए यहाँ बाह्य त्याग और तपश्चरण का पुनः महत्त्व बताने के लिए सूत्र में "बहिरंग" पद दिया है।

बाह्याभ्यन्तर संयोगों का त्याग करने वाला विद्वान यह भलीभांति जानता है कि किए हुए कर्मों का फल अवश्य मिलता है। क्रिया के कर्त्ता को उसका फल अवश्यमेव प्राप्त होता है। इस कर्म के सिद्धान्त में किसी प्रकार का अपवाद नहीं हो सकता है। प्रत्येक क्रिया कुछ न कुछ परिणाम—दृष्ट या अदृष्ट अवश्य उत्पन्न करती है। क्रिया कभी निष्फल नहीं हो सकती। शुभकर्मों का शुभ परिणाम और अशुभ कर्मों का अशुभ परिणाम होता है। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग से बँधने वाले ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का तत् तत् प्रकार का फल अवश्य प्राप्त होता है। कर्मों का फल भोगे बिना उनसे छुटकारा नहीं हो सकता। 'कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि' यह आगम-वाक्य है। चोर चोरी करता है और वही पुलिस अधिकारियों द्वारा पकड़ा जाकर सजा पाता है। कदाचित् पुलिस-अधिकारियों के आँखों में धूल भी झोंक सकता है लेकिन कर्म के व्यवस्थित शासन से वह नहीं बच सकता। इस भव में या अन्य भव में उसे अवश्य उसका दारुण फल भोगना पड़ता ही है। जीव चाहे जिसको उद्देश्य करके कर्म करे लेकिन उस कर्म का फल तो उसे स्वयं ही भोगना पड़ता है। अगर जीव अपने कर्मों का फल स्वयं न भोगे तो दुनिया में अव्यवस्था फैल जायगी। कर्म कोई और करे और फल कोई और भोगे तो कृतप्रणाश और अकृत-कर्मभोग दोष आवेंगे। अर्थात् प्राणी जो शुभकर्म करता है उसका फल उसे नहीं मिलकर अन्य को मिलता है तो उसका कर्म करना व्यर्थ हुआ और दूसरे ने कर्म नहीं किए उसे फल भोगना पड़ा यह अकृत-कर्मभोग हुआ। इस अव्यवस्था को दूर करने के लिए यह स्वीकार करना चाहिए कि जीव स्वयं ही अपने कर्मों का भोक्ता है। कर्मों को भोगे बिना छुटकारा नहीं।

यहाँ यह आशंका की जा सकती है कि प्रत्येक कर्म का विपाकोदय नहीं होता है क्योंकि प्रदेशोदय भी होता है और तप आदि के द्वारा बिना भोगे हुए भी कर्मों का क्षय हो जाता है। फिर भोगे बिना छुटकारा नहीं होता है इस कथन की संगति कैसे ?

इस आशंका का समाधान यह है कि यहाँ सामान्य विवक्षा है। सभी प्रकारों का यहाँ ग्रहण नहीं किया गया है। यहाँ तो कर्म द्रव्य की अपेक्षा सामान्य विवक्षा है यद्यपि प्रत्येक प्रकृति का विपाकोदय नहीं होता तदपि संसारवर्त्ती प्रत्येक जीव अष्ट कर्मों से युक्त है अतएव उनका फल भी मिलता है। इस अपेक्षा से इस कथन की संगति समझनी चाहिए।

विद्वान और आगमवेत्ता कर्म के अविचल सिद्धान्त को समझ कर प्रत्येक क्रिया के परिणाम पर गहन विचार करता है और प्रत्येक क्रिया को करते हुए विवेकबुद्धि से काम लेता है अतएव वह कोई क्रिया इस प्रकार की नहीं करता है जिसका बन्धन तीव्र रूप से पड़ता हो। उसका अन्तःकरण उसे तीव्रबन्धनात्मक क्रिया से बचा लेता है। वह कर्मों के कारणों से सदा दूर रहता है।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

जे खलु भो ! वीरा समिया सहिया सया जया संघडदंसिणो आओवरया अहातहं लोयं उवेहमाणा पाईणं पडिणं दाहिणं उईणं, इय सच्चंसि परिचिट्ठिंसु, साहिस्सामो नाणं, वीराणं, समियाणं सहियाणं सया जयाणं संघडदंसीणं आओवरयाणं अहातहं लोयं समुवेहमाणाणं किमत्थि उवाही? पासगस्स न विज्जइ नत्थि त्ति बेमि ।

संस्कृतच्छाय—ये खलु भो वीरा ! समिताः सहिताः सदा यताः निरन्तरदर्शिनः आत्मोपरताः यथातथावस्थितं लोकं उपेक्षमाणाः प्राच्यां, प्रतीच्यां, दक्षिणायां, उत्तरस्याम् इह सत्ये परितस्थुः कथयिष्यामि ज्ञानं वीराणां, समितानां, सहितानां, सदा यतानाम्, निरन्तरदर्शिनामात्मोपरतानां यथातथालोकमुपेक्षमाणानां किमस्त्युपाधिः ? पश्यकस्य न विद्यते, नास्तीति ब्रवीमि ।

शब्दार्थ—भो=हे साधको ! खलु=निश्चय से । जे=जो पुरुष । वीरा=पराक्रमी । समिया=सम्यग्प्रवृत्ति से चलने वाले । सहिया=ज्ञानादि सद्गुण सहित । सया जया=सर्वदा सत्संयम में उद्यमवंत । संघडदंसिणो=कल्याण की ओर दृढ़ लक्ष्य धारण करने वाले । आओवरया=पापकर्म से निवृत्त । अहा तहं लोयं=लोक को यथार्थ रूप से । उवेहमाणा=देखने वाले थे वे । पाईणं=पूर्वदिशा । पडिणं=पश्चिमदिशा । दाहिणं=दक्षिणदिशा । उईणं=उत्तरदिशा में रहे हुए भी । सच्चंसि=सत्य में । इय=इस प्रकार । परिचिट्ठिंसु=दृढ़ता से संलग्न रहे । वीराणं=वीरों के । समियाणं=समितों के । सहियाणं=ज्ञानादि सहितों के । सया जयाणं=सदा यत्नशील के । संघडदंसीणं=निरन्तर देखने वालों के । आओवरयाणं=पापकर्म से निवृत्त हुओं के । अहा तहं=यथावस्थित । लोयं=लोक को । उवेहमाणाणं=देखने वालों के । नाणं=ज्ञान को । साहिस्सामो=कहता हूँ । किं=क्या ऐसे पुरुषों के । उवाही=उपाधि । अत्थि=है ? पासगस्स=तत्त्वदर्शी के । न विज्जइ=नहीं है । नत्थि=नहीं है । त्ति बेमि=ऐसा मैं कहता हूँ ।

भावार्थ—जो साधक सचमुच वीर, सत्प्रवृत्ति में चलने वाले, ज्ञानादि गुणों में रमण करने वाले, सदा उद्यमशील, कल्याण की ओर लक्ष्य देने वाले, पाप से निवृत्त बने हुए और लोक को यथार्थ रूप से जानने वाले थे वे पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर यों सभी दिशाओं में रहकर भी सत्य में संलग्न रहे । उपर्युक्त गुणों से युक्त (वीर, समित, सहित, सदा यत्नशील, निरन्तरदर्शी, आत्मोपरत, यथार्थ रूप से लोक को जानने वाले) सत्पुरुषों का अभिप्राय मैं तुमसे कहता हूँ कि तत्त्वदर्शी पुरुषों के उपाधि नहीं रहती है ।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

विवेचन—सम्यक्त्व और निरवद्य तप का वर्णन कर दिया गया है। अब सूत्रकार इस सूत्र में उसका फल दिखलाते हैं। साथ ही इस सूत्र में सत्य की कड़कता और सत्य के पीछे लगे रहने की दृढ़ता भी बताते हैं।

संसार में भूत, वर्त्तमान और भविष्य काल में जो भी कर्मविदारण करने में वीर महापुरुष हुए हैं वे सभी सत्य—सम्यक्त्व से लगे रहे हैं। सत्य की प्राप्ति में ही उन्होंने अपना जीवन बिताया है। सत्य की शोध और सत्य की आराधना में ही उन्होंने पुरुषार्थ किया है। उन्हें जहाँ कहीं भी जिस रूप में सत्य मिला है वहां से उन्होंने उसे ग्रहण किया है। सत्य सर्व व्यापक है। उसका क्षेत्र अनन्त है। सत्याग्रही सभी जगह से सत्य पाने की कोशिश करता है उसे कोई भी संकुचित पक्ष बाँध नहीं सकता है। वह पूर्व पश्चिम, उत्तर अथवा दक्षिण यों सभी दिशाओं में रह कर भी सत्य में संलग्न रहता है। इसका अर्थ यह है कि जीवन की प्रत्येक स्थिति और प्रत्येक संयोग में सत्य साध्य किया जा सकता है। जिन्होंने सत्य को बराबर समझा है वे चाहे जैसे वातावरण में रह कर भी सत्य का पालन कर सकते हैं। सत्य की रक्षा के लिए वे अपना सर्वस्व होम देने के लिए तत्पर रहते हैं। प्राणों का मोह उन्हें सत्य से विचलित नहीं कर सकता है। ऐसे सत्य-साधक हँसते-हँसते कष्टों और विपत्तियों को सहन कर लेते हैं। लेकिन सत्य को नहीं छोड़ते। अरणक श्रावक की दृढ़ता उदाहरण के तौर पर विचारणीय एवं अनुकरणीय है। उसने सब कुछ सहन करने पर भी, देवता द्वारा विचलित करने के अनेकविध उपायों के किए जाने पर भी, प्राणान्त कष्ट दिये जाने पर भी अपना सत्य धर्म नहीं छोड़ा। संक्षिप्त कथानक इस प्रकार है।

एक बार अरणक श्रावक की इच्छा व्यापार के लिए समुद्र को पार करके विदेश में जाने की हुई। उसने शहर में ढिंढोरा पिटवाया कि—वह जहाज द्वारा परदेश में व्यापार के लिए जा रहा है जिस किसी की चलने की इच्छा हो वह जहाज पर आ सकता है। सब के खानपान की व्यवस्था वह करेगा और जिसके पास द्रव्य न होगा उसे व्यापारार्थ द्रव्य भी दिया जाएगा। इस घोषणा को सुनकर बहुत से लोग साथ चलने को आ गये। अरणक के इस ढिंढोरे पर विचार करने से मालूम होता है कि पहले के श्रावकों में अन्य जनों को अपनाने, उन्हें सहायता पहुँचाने और उन्हें साथ लेने की कितनी उदार भावना थी। इस तरफ वर्तमान श्रावकों का बिल्कुल लक्ष्य नहीं है अतएव उन पूर्वजों के चरित्र में से यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए।

यात्रा का निश्चित दिवस आ पहुँचा। सभी लोग जहाज पर चढ़ गए। नियत समय पर जहाज रवाना हुआ। चलते चलते जब जहाज बीच समुद्र में आया तब सहसा भयंकर तूफान आया। मेघ-गर्जना होने लगी। बिजलियां कड़कने लगीं। समुद्र एक दम क्षुब्ध हो गया। जहाज डोलने लगा। गेंद के समान वह ऊँचा और नीचा होने लगा। जहाज के सभी मनुष्य घबराने लगे और वे ईश्वर से प्रार्थना करने लगे। इसी समय आकाश में देव-वाणी हुई कि यह सब उत्पात मैंने किये हैं। अगर अरणक श्रावक अपना सत्य धर्म छोड़ दे तो अभी शान्ति कर देता हूँ। यह सुनकर सभी लोग अरणक की ओर देखने लगे। अरणक ने जवाब दिया कि चाहे जैसे विपत्ति के पहाड़ टूट पड़ें लेकिन अरणक सत्य धर्म को नहीं छोड़ सकता। चाहे सूर्य तपना छोड़ दे, चन्द्रमा शीतलता छोड़ दे, समुद्र मर्यादा तोड़ दे, अग्नि शीतल हो जाय, पानी में आग लग जाय लेकिन अरणक सत्य धर्म को नहीं छोड़ सकता। अरणक के ऐसे दृढ़ता पूर्ण वचनों को सुनकर देव फिर बोला—हे अरणक! तुम हृदय से भले ही सत्य धर्म को सत्य समझो लेकिन जिह्वा मात्र से कह दो कि धर्म झूठा है। मैं अभी शान्ति कर देता हूँ। नहीं तो यह उत्पात शान्त होने

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

वाला नहीं है। तुम सभी मनुष्यों के साथ इसी सागर में डूब मरोगे। अरणक ! जिद्द न करो, कह दो धर्म झूठा है, नहीं तो इतने मनुष्यों की हत्या का दोष तुम्हारे सिर होगा जहाज के लोग भी घबरा रहे थे। वे सभी यह चाहते थे कि अरणक धर्म को झूठा कह दे और शान्ति हो जाय। लोगों में से कई अरणक पर दबाव डाल रहे थे कि "कह दो न धर्म झूठा है-कहने से क्या हो जाता है? तुम्हारे इतने से कहने से शान्ति हो जाती है तो कहने में क्या हर्ज है? कई लोग अरणक को उसकी दृढ़ता के लिए गालियां दे रहे थे, कई ताने और उपालम्भ की वर्षा कर रहे थे लेकिन अरणक श्रावक जरा भी विचलित न हुए। उनके अन्तःकरण में धर्म के प्रति अंशमात्र भी भेद नहीं आया वरन् ऐसे समय में धर्म के प्रति उनकी श्रद्धा-उनका विश्वास और भी अधिक दृढ़ हो गया। उन्होंने लोगों के वचनों पर-लोकनिन्दा पर-ध्यान न दिया और पर्वत के समान निष्कंप-अडोल वृत्ति से देव को जवाब दिया कि हे देव, तुम्हें जो करना हो सो तुम करने में स्वतंत्र हो। मैं कदापि अपने मुँह से सत्य धर्म को मिथ्या नहीं कह सकता। जो जिह्वा सत्यधर्म को मिथ्या कहे उसे मुँह में रखकर क्या करूँगा?

अरणक के ऐसे निडर वचनों को सुनकर और अवधिज्ञान के द्वारा अरणक के विचारों में तनिक भी हीनता न आती देखकर तथा वर्धमान परिणामों को जानकर देवता दिव्य रूप धारण कर सन्मुख उपस्थित हुआ और अपने अपराध के लिए क्षमा प्रार्थना करने लगा। अरणक की धर्म-दृढ़ता की प्रशंसा करके और दो कुण्डल की जोड़ी भेंट करके देव चला गया। धर्म पर दृढ़ रहने से सर्व उपद्रव दूर हो जाते हैं।

अरणक श्रावक जिस तरह सत्य पर स्थिर रहे उसी तरह सच्चा सम्यक्त्वी, सच्चा सत्याग्रही अपने धर्म पर सदा अडोल रहता है। सच्चे सम्यक्त्वी में वीरता, अप्रमत्तता, सत्पुरुषार्थ, विवेक, पापभीरुता और आत्माभिमुखता ये गुण सहज ही प्रकट हो जाने चाहिए।

श्री सुधर्मास्वामी अपने शिष्य जम्बूस्वामी को लक्ष्य करके सभी जीवों को उपदेश करते हैं कि अतीत, अनागत और वर्त्तमान में जो महापुरुष हुए हैं, होंगे और हैं उन सभी का यही उपदेश है जो मैंने कहा है। तत्त्वदर्शी पुरुष को किसी प्रकार की उपाधि नहीं होती। उसके लिए नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव, सुखी, दुखी, दुर्भग, सुभग, पर्याप्त, अपर्याप्त इत्यादिक सांसारिक नाम-निर्देश नहीं हो सकता है। वह संसार की आधि-व्याधि और उपाधि से मुक्त हो जाता है। तत्त्वदर्शी को उपाधि नहीं रहती यह जानकर विकास-मार्ग में प्रवृत्ति करनी चाहिए।

—उपसंहार—

तपश्चरण में भी विवेक-सम्यग्ज्ञान की आवश्यकता रहती है। प्रत्येक कार्य में क्रम और विवेक रखने से सफलता प्राप्त होती है। तपश्चर्या का उद्देश्य केवल देह को कृश करना ही नहीं है लेकिन मर्कट के समान चञ्चल चित्तवृत्तियों पर काबू करना है। यह कार्य कठिन है अतएव इसके लिए सतर्क रहने की आवश्यकता है। तपश्चर्या द्वारा पूर्व कर्मों को जानकर वर्त्तमान कार्यों की शुद्धि पर लक्ष्य देना चाहिए।

सत्यनिष्ठा ही वीरता की कसौटी है। सत्य ही आनन्द-दाता है।

इति चतुर्थमध्ययनम्

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

लोकसार नाम पञ्चम अध्ययन

—प्रथमोद्देशकः—

(चारित्र-प्रतिपादन)

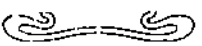

चतुर्थ अध्ययन में सम्यक्त्व का प्रतिपादन किया गया है। सम्यक्त्व के होने पर ही ज्ञान हो सकता है अतएव ज्ञान और सम्यक्त्व सहभावी हैं। जिस तरह रूप और रस सहचर हैं, रूप के बिना रस नहीं और रस के बिना रूप नहीं, जहाँ रूप है वहाँ रस है और जहाँ रस है वहाँ रूप है इसी तरह जहाँ सम्यक्त्व है वहाँ ज्ञान है और जहाँ ज्ञान है वहाँ सम्यक्त्व है। सम्यक्त्व के बिना ज्ञान नहीं और ज्ञान के बिना सम्यक्त्व नहीं। सम्यक्त्व और ज्ञान का फल चारित्र है और चारित्र ही प्रधानतः मोक्ष का अंग है अतएव इस अध्ययन में अब चारित्र का प्रतिपादन किया जाता है। "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" अर्थात्-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र मोक्ष के मार्ग हैं। सम्यक्त्व के वर्णन से दर्शन और ज्ञान का विवेचन चतुर्थ अध्ययन में हो चुका है अतएव अब पञ्चम अध्ययन में क्रमप्राप्त चारित्र का प्रतिपादन करते हैं।

इस अध्ययन का नाम लोक-सार रक्खा गया है। लोक-सार नाम क्यों दिया गया ? लोक-सार का क्या अर्थ है ? इस नाम-निर्देश का क्या उद्देश्य है ? इत्यादि प्रश्नों का विचार करना चाहिए। लोक-सार यह शब्द दो पदों से बना हुआ है—लोक और सार। चतुर्दशरज्ज्वात्मक लोक कहा गया है। इसमें नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव और सिद्ध गतियों का अन्तर्भाव हो जाता है। अथवा द्रव्य लोक जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल रूप से छह प्रकार का है और भावलोक औदयिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औपशमिक पारिणामिक और सामुदायिक रूप से छः प्रकार का है। अथवा सर्व द्रव्य-पर्यायात्मक लोक है। सार के दो भेद हैं—द्रव्यसार और भावसार। सार शब्द का अर्थ प्रधान तत्त्व है यथा-दूध का सार घी, द्विपद में सार जिनेश्वर देव, चतुष्पद में सार सिंह, अपद (वृक्षादि) में सार कल्पवृक्ष, अचित्त पदार्थों में सार वैडूर्यादि मणि। भावसार सामान्य रूप से कार्य की सिद्धि होने को कहा जाता है। जिस प्रकार कोई व्यक्ति व्यापार में प्रवृत्त हुआ और उसने उसमें इच्छित लाभ उपार्जित किया यह भावसार कहा जाता है लेकिन यह फलसिद्धि आत्यन्तिक और ऐकान्तिक नहीं होती। इसमें विविध प्रकार की बाधाएँ होने से यह निराबाध नहीं है अतएव यह भावसार नहीं समझना चाहिए अपितु जो आत्यन्तिक और ऐकान्तिक व निराबाध सुख रूप फल की साधना है वही भावसार है। सिद्धि की प्राप्ति ही सचमुच भावसार है। सिद्धि के लिए ज्ञान, दर्शन और चारित्र ही उपयोगी अंग हैं अतएव ये ही भावसार कहे जाते हैं और यहाँ सार शब्द से इन्हीं का ग्रहण समझना चाहिए। चारित्र ही मोक्ष का प्रधान अंग होने से वही लोक का सार है। इसमें चारित्र का प्रतिपादन किया गया है अतएव इस अध्ययन का नाम लोकसार रक्खा गया है। चारित्र प्रतिपादक अध्ययन का नाम लोकसार रखकर सूत्रकार यह सूचित करते हैं कि—संसार के प्राणी मोहान्धता के कारण कोई धन को सार समझ कर उसी की प्राप्ति में जीवन के जीवन बिता देते हैं, कोई

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

राज्य को सार समझ कर भयङ्कर लड़ाईयाँ लड़ता है और विश्वविजयी बनने की महत्वाकांक्षा रखता है। कोई यौवन से मदमाती तरुणियों को ही सार समझते हैं और विलास में डूबे रहते हैं, लेकिन वे लोग जिसे सार समझते हैं वह उन्हें धोखा दे देता है और इस प्रकार धन, राज्य और स्त्री आदि अपनी असारता प्रकट करते हैं। असार को सार समझने वाली दुनिया कितनी दुखी है! यही जग के दुखों का कारण है। सूत्रकार स्पष्ट निर्देश करते हैं कि राज्य, धन, स्त्री पुत्रादि परिवार ये सार-भूत नहीं हैं, ये असार, अशरण और अत्राता हैं। संयम ही लोक में सार है—शरण भूत है और त्राता है। कहा है:—

लोगस्स सारो धम्मो धम्मंपि य नाणसारियं बिंति ।
नाणं संजमसारं संजमसारं च निव्वाणं ॥

अर्थात्—समस्त लोक का सार धर्म है, धर्म का सार ज्ञान है, ज्ञान का सार संयम है और संयम का सार निर्वाण है। अतएव निर्वाण-प्राप्ति के लिए सद्धर्म का पालन करना चाहिए। प्रश्न होता है कि सद्धर्म क्या है? इसका उत्तर यह है कि—

वत्थुसहावो धम्मो ।

अर्थात्—वस्तु का स्वभाव धर्म है। जड़ वस्तुओं का और चेतन का धर्म निराला है। आत्मा अपने स्वभाव में रमण करे, वह परभाव-जड़ वस्तुओं-के प्रति आसक्ति न रखे-उनमें ममत्व-स्थापन न करे यही आत्मधर्म है। इस आत्मधर्म को प्राप्त करने के जो साधन हैं वे भी धर्म कहे जा सकते हैं। क्योंकि कार्यकारण में अभेद का उपचार किया जाता है। इसलिये आत्माभिमुख प्रवृत्ति कराने वाला और विषयों की अभिलाषा को मंद करने वाला ही धर्म है। ऐसा धर्ममय जीवन ही चारित्रमय जीवन है। अब सूत्र का प्रारम्भ होता है:—

आवंती केयावंती लोयंसि विप्परामुसंति अट्ठाए अणट्ठाए, एएसु चेव विप्परामुसंति, गुरू से कामा, तओ से मारंते, जओ से मारंते तओ से दूरे, नेव से अंतो नेव दूरे ।

संस्कृतच्छाया—*यावन्तः केचन लोके विपरामृशन्ति, अर्थायानर्थाय, एतेषु चेव विपरामृशन्ति । गुरवस्तस्य कामाः, तस्मात् सः मारान्तर्वर्त्ती, यतः स मारान्तर्वर्त्ती ततोऽसौ दूरे (मोक्षोपायात्) नैवासौ अन्तर्वर्त्तते नैव दूरे ।*

शब्दार्थ—लोयंसि=संसार में। आवंती=जितने। केयावंती=कितनेक। अट्ठाए=प्रयोजन के लिए। अणट्ठाए=बिना प्रयोजन से। विप्परामुसंति=षड्जीवनिकाय को पीडा पहुँचाते हैं वे। एएसु चेव=इन्हीं षड्जीवनिकायों में। विप्परामुसंति=पुनः पुनः जन्म लेते हैं। से=उस अज्ञानी को। कामा=शब्दादि विषय। गुरू=छोड़ने कठिन मालूम होते हैं। तओ=इसलिये। से=वह। मारंते=जन्म-मरण में फँसा रहता है। जओ=क्योंकि। से=वह। मारंते=मृत्यु और

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

जन्म में फँसा रहता है। तओ=इसलिये। से=वह। दूरे=मोक्ष से और उसके उपायों से दूर रहता है। से=वह। नेव=न तो। अंतो=वह विषयों के अन्दर है। नेव दूरे=और न विषयों से दूर है।

भावार्थ—इस संसार में जो कोई सप्रयोजन या निष्प्रयोजन षट्काय जीवों की हिंसा करते हैं वे उन्हीं जीवों की गतियों में जाकर उत्पन्न होते हैं और वहां अपने बांधे हुए कर्मों को भोगते हैं। ऐसे अतत्त्वदर्शी के लिए विषय भोगों का छोड़ना अति कठिन होता है। इसलिये वे मरण की परम्परा से नहीं छूट सकते और इसीलिय वे मोक्ष से या सुख से दूर रहते हैं। इससे यह होता है कि वे विषय सुख को न तो भोग सकते हैं और न, (चित्तवृत्ति का वेग विषयों की ओर होने से) उनसे दूर ही रह सकते हैं।

विवेचन—चारित्र का प्रतिपादन करते हुए सूत्रकार सर्व प्रथम हिंसा का दुष्परिणाम बतलाते हैं। ऐसा करने का आशय यह है कि चारित्र का सब दारमदार अहिंसा पर निर्भर है। अहिंसा की नींव पर ही चारित्र का चयन हो सकता है अतएव जो चारित्र-प्राप्ति का इच्छुक है उसे सर्व प्रथम हिंसा का त्याग करना चाहिए। षट्काय जीवों को पीड़ा पहुंचाते हैं वे प्राणी भी उसी तरह पीड़ा को प्राप्त करते हैं। षट्काय की विराधना करता है वह पुनः पुनः जो अनेकशः सूक्ष्म, बादर, अपर्याप्त आदि अनेकविध एकेन्द्रियादि योनियों में उत्पन्न होते हैं। अथवा जिन जीवों की हिंसा करता है उनकी योनि में उत्पन्न होकर अपने बाँधे हुए कर्मों का तत्तत्प्रकार से फल प्राप्त करता है।

हिंसा का उक्त दुष्परिणाम बताकर सूत्रकार दो बातों की ओर संकेत करते हैं—(१) जो लोग इसी वर्त्तमान भव को सब कुछ समझते हैं और भूत एवं भावी जन्मों को असत् समझ कर उनकी ओर दुर्लक्ष करते हैं और विषयों में लीन होकर आत्मद्रव्य का अभाव मानते हैं उनका मत इस कथन द्वारा तिरस्कृत करते हैं। (२) जो लोग आत्मा का पुनर्जन्म होना तो मानते हैं लेकिन यह मानते हैं कि पुरुष मर कर पुरुष ही होता है, स्त्री मर कर स्त्री ही होती है, पशु मर कर पशु ही होता है उनके मत का भी इससे निरास हो जाता है। आत्मा का अस्तित्व और उसका भावान्तरगमत प्रथम अध्ययन में सिद्ध किया जा चुका है। दूसरी मान्यता वाले भी केवल अपना अज्ञान प्रकट करते हैं। अगर ऐसा है कि जो जिस रूपमें है वह उसी रूप में रहेगा तो पुरुषार्थ का नाम ही उठ जाएगा। पुण्य, पाप, स्वर्ग, नरक सबका अभाव हो जायगा। फिर धर्म, कर्म सब निष्प्रयोजन हो जाएँगे। यह मानना नितान्त अज्ञान ही है। सूत्रकार ने स्पष्टरूप से चेतावनी दी है कि अगर हिंसा करोगे तो तुम भी हिंसित बनोगे। जो दूसरों की विराधना करता है वह स्वयं विराधित होता है। जो दूसरों को पीड़ा पहुंचाता है वह स्वयं भी पीड़ित होता है। अगर पृथ्वीकाय की हिंसा करोगे तो पृथ्वीकाय में जन्म लेना पड़ेगा और वहाँ दूसरों के द्वारा हिंसित होकर अपने कर्म का फल भोगना पड़ेगा। याद रखना चाहिए कि कर्म का शासन अविचल है, उसके अखण्ड नियमों में अपवाद नहीं है। वहाँ तो अदल इन्साफ है। जो जैसा करेगा उसे वैसा ही फल प्राप्त होगा इसमें कभी अव्यवस्था और संदेह नहीं हो सकता है। सूत्रकार यह कहकर भव्य जीवों को हिंसा से डराना चाहते हैं। यद्यपि शास्त्रकार किसी को डराते नहीं, वे डर को भगाने वाले हैं—वे भय का भंजन करने वाले हैं फिर भी वे प्राणियों को पाप का दुष्परिणाम बताकर पाप से डराते हैं। वस्तुतः यह डराना, डराना नहीं लेकिन उन्हें निर्भय करना है। धर्म और पुण्य से डराना, डराना है। पाप से डराना

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

निर्भय बनाना है। क्योंकि जो प्राणी पाप से—हिंसा से डरते हैं वे किसी की हिंसा नहीं करते। फलस्वरूप वे ऐसी स्थिति में पहुँच जाते हैं जहाँ कोई उनकी हिंसा नहीं कर सकता अर्थात् वे अजर-अमर हो जाते हैं। इसके विपरीत जो प्राणी हिंसा से नहीं डरते—नहीं शर्माते वे अपने पाप के कारण योनियों में जन्म-मरण करते हैं और दूसरों के द्वारा हिंसित होते हैं और सदा भयभीत बने रहते हैं कि कहीं मुझे न मार डाले। जो हिंसक है वह सदा भयभीत रहता है और जो अहिंसक है वह सदा निर्भय रहता है। हिंसा से डराकर अहिंसा का आचरण करने का उपदेश देना वस्तुतः प्राणियों को अभय बनाना है। अहिंसक प्राणियों को जन्म-मरण का भय नहीं रहता है।

जो दूसरे जीवों पर हिंसा का प्रयोग करता है वह पहले अपने आपकी (आत्मा की) हिंसा करता है। जो व्यक्ति जितनी अधिक हिंसा करता है उसकी आत्मा उतनी ही अधिक उपहत होती है। आत्माभिमुखता से जो जीव जितना दूर है वह दूसरे प्राणियों के साथ मैत्रीभाव रखने से भी उतना ही दूर है। आत्माभिमुखता जागृत होने पर प्राणी सभी प्राणियों के साथ मैत्रीभाव करता है। वह किसी की भी हिंसा नहीं कर सकता। जिसकी आत्मा विकारों द्वारा विकृत है वही जीवों की हिंसारूप आरम्भ कर सकता है। वह हिंसा चाहे प्रयोजन से—अर्थ, काम, धर्मादि के लिए की जाती हो चाहे विनोद और व्यसन के तौर पर बिना किसी प्रयोजन से की जाती हो लेकिन उसका परिणाम अति विषम होता है। वह प्राणी जन्म-मरण की परम्परा से मुक्त नहीं हो सकता है। वह ज्यों-ज्यों हिंसा करता है त्यों-त्यों अधिक स्वयमेव उपहत होता है अतएव तत्त्वदर्शी प्राणी हिंसा से सर्वथा अलिप्त रहते हैं।

अब सूत्रकार यह बताते हैं कि प्राणी हिंसा में प्रवृत्ति क्यों करते हैं ? हिंसा में प्रवृत्ति करने का कारण विकृत आत्मा का विषयाभिलाष रूप परिणाम है। राग-द्वेष से कलुषित आत्मा का पर पदार्थों में सुख मानना यही हिंसा का कारण है। आत्मा की वास्तविक ज्योति जब मन्द पड़ जाती है तब वह विकारों के द्वारा विकृत वातावरण में खिंच जाता है और बाह्य विषयों में सुख प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। ज्यों-ज्यों विषयों की ओर आत्मा खिंचता चला जाता है त्यों-त्यों आत्मभान से वह दूर होता जाता है। इसलिए वह अपने माने हुए मिथ्या सुख के लिए अन्य प्राणियों का वध करता है। शब्दादि विषयों में आसक्त बना हुआ जीव आरम्भ-अनारम्भ, हिंसा-अहिंसा का विचार नहीं करता है। शब्दादि विषयों में उन्हें सुख मालूम होता है लेकिन यह प्रतीयमान सुख वस्तुतः दुख है। सुखाभिलाषा से प्राणी दुख को मोल ले रहे हैं। कैसी मूढ़ता ? कैसी विपरीत बुद्धि ? आत्मा की उस विपरीत परिणति के कारण शब्दादि विषयों का त्याग उन्हें भारी मालूम पड़ता है। भान भूले हुए आत्मा शब्दादि विषयों में ही सुख ढूँढ़ने का प्रयास करते हैं लेकिन उन्हें विपरीत फल मिलता है। कामभोगों से रत रहने से और प्राणियों का उपमर्दन करने से वे संसाररूपी समुद्र में गोते खाते हैं, जन्म-मरण करते हैं, इस संसार चक्र में निरन्तर परिभ्रमण करते रहते हैं। अतएव वे मोक्ष से—शाश्वत सुख से सदा दूर रहते हैं। संसारवर्ती प्राणी जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक आदि से ग्रस्त हैं तदपि प्राणियों की बुद्धि का ऐसा विपरीत संक्रमण हो गया है कि इन्हीं में उन्हें सुख की झांकी दिखाई देती है। संसार का कोई भी जीव चाहे वह बाह्यदृष्टि से कितना ही सुखी क्यों न नजर आता हो, रोग-शोक से मुक्त नहीं है। भोग भोगते हुए भी उसे रोग की शंका बनी रहती है। कहीं मैं जल्दी न मर जाऊँ यह भय बना रहता है, कहीं ये विषयादिक मुझ से छीन न लिए जाएँ, मैं इनसे वञ्चित न हो जाऊँ इत्यादि भय उसे सदा सशंक बनाये रखते हैं जिससे वह न तो भोग ही भोग सकता है और न उसे छोड़ ही सकता है। जिस प्रकार कुत्ता हड्डी को चबा भी नहीं सकता और आसक्ति के कारण छोड़ भी नहीं सकता उसी तरह कामी जीव रोगादि की शंका से न तो भोग ही

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

भोग सकते हैं और न वे उससे दूर ही रह सकते हैं। चित्तवृत्तियों में भोगलालसा होने पर यदि बाह्य भोग के साधन न भी उपलब्ध हों तो भी वह व्यक्ति भोगों से दूर नहीं कहा जा सकता।

वस्तु का सच्चा भान जब तक न हो जाय तब तक किया हुआ या कराया हुआ त्याग फलीभूत नहीं होता। चारित्र, मात्र क्रिया रूप ही नहीं है लेकिन वास्तविक सत्य है। यह सत्य आत्मा से ही उद्-भूत होता है। आत्मा को जब अपने स्वरूप का भान होता है तब आत्म-बल प्रकट होता है और इस आत्म-बल के कारण ही आत्मा सच्चा त्याग कर सकता है। इसीलिए सबल का त्याग स्वाभाविक होता है जबकि बलात् किया हुआ या बिना समझे किया हुआ त्याग वस्तुतः त्याग नहीं है। आत्मानुभूति होना ही चारित्र है।

से पासइ फुसियमिव कुसग्गे पणुन्नं निवइयं वाएरियं एवं बालस्स जीवियं मंदस्स अविजाणओ, कूराइं कम्माइं बाले पकुव्वमाणे तेण दुक्खेण मूढे विप्परिआसमुवेइ, मोहेण गब्भं मरणाइ एइ, एत्थ मोहे पुणो पुणो।

संस्कृतच्छाया—*स पश्यति उदकबिन्दुमिव कुशाग्रे प्रणुन्नं निपतितं वातेनेरितमेवं बालस्य जीवितम् मंदस्याविजानतः, क्रूराणि कर्माणि प्रकुर्वमाणः तेन दुःखेन मूढो विपर्यासमुपैति, मोहेन गर्भं मरणादिमेति, अत्र मोहः पुनः पुनः।*

शब्दार्थ—से=वह तत्त्वदर्शी। पासइ=यह देखता है कि। कुसग्गे=कुश के अग्रभाग पर रहा हुआ। फुसियं=जल-बिन्दु। पणुन्नं=दूसरे बिन्दुओं के ऊपर पडने से। वाएरियं=वायु के द्वारा कम्पित होने से। निवइयं=गिरने का बहुत सम्भव है। एवं=इसी तरह। बालस्स=अज्ञानी। मंदस्स=अविवेकी। अविजाणओ=परमार्थ को न जानने वाले का। जीवियं=जीवन है। कूराइं=क्रूर। कम्माइं=कर्मों को। पकुव्वमाणे=करता हुआ। बाले=अज्ञानी। तेण=उस। दुक्खेण=दुख से। मूढे=मूढ बनकर। विप्परिआसं=विपरीतता को। उवेइ=प्राप्त करता है। मोहेण=अज्ञान के कारण। गब्भं=गर्भ को। मरणाइ=मृत्यु और जन्म को। एइ=प्राप्त होता है। एत्थ=इस संसार में। मोहे=मोह के कार्य गर्भ, मरणादि में। पुणो पुणो=पुनः पुनः पर्यटन करता है।

भावार्थ—तत्त्वदर्शी स्पष्ट रूप से यह जानता है कि जिस तरह तृण के अग्रभाग पर रहा हुआ जल-बिन्दु, पानी के दूसरे बिन्दुओं के ऊपर गिरने से अथवा वायु से कम्पित होकर शीघ्र नीचे गिरने वाला होता है उसी तरह अज्ञानी, अविवेकी और परमार्थ को न जानने वाले अज्ञों का जीवन अस्थिर है। ऐसा होते हुए भी अज्ञानी जीव क्रूरकर्म करते समय तो दुख नहीं करते हैं परन्तु जब उसका दुष्परि-णाम भोगना पड़ता है तब वे मूढ बन जाते हैं और खूब दुख पाते हैं परन्तु मोहान्धकार के कारण

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

उन्हें सन्मार्ग नहीं सूझता है और वे मोह की प्रबलता से गर्भ, मरणादि दुख के चक्र में पुनः पुनः पर्यटन करते हैं।

विवेचन—प्रथम सूत्र में विषयों की ओर जाती हुई वृत्ति को हिंसा का कारण कहा है और उसके द्वारा आध्यात्मिक मृत्यु किस तरह होती है और उसका कर्म और गति से क्या सम्बन्ध है यह बताया गया है अब इस सूत्र में यह बताया जाता है कि ऐसे अज्ञानीजनों का जीवन भी अस्थिर और क्षणभंगुर है। सूत्रकार ने अज्ञानियों के जीवन की क्षणभंगुरता दृष्टान्त द्वारा समझायी है। वह दृष्टान्त इस प्रकार है।

जिस प्रकार कुश के अग्रभाग पर रहा हुआ जल का बिन्दु दूसरे-दूसरे बिन्दुओं के ऊपर गिरने से और हवा के हल्के से झोंके से शीघ्र नीचे गिर जाता है ठीक इसी तरह अज्ञानियों का जीवन क्षण-भंगुर है। थोड़े ही क्षणों में वह समाप्त हो जाता है। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। यह शरीर एक पिंजरे के समान है। इसमें जीवरूपी हंस बंद है। पिंजरे के अनेक द्वार खुले हुए हैं। ऐसी दशा में कभी भी हंस उड़ सकता है। इसमें कोई अचरज नहीं करना चाहिए। अचरज तो इस बात का होना चाहिए कि वह अब तक उड़ क्यों नहीं गया!

मानवजीवन की क्षणभङ्गुरता का प्रत्यक्ष में अनुभव होता है। प्रतिदिन यह अनुभव में आता है कि कई मनुष्यों का जीवन आनन-फानन में समाप्त हो जाता है। एक व्यक्ति बैठे २ बातें कर रहा है, हास्य-विनोद में निमग्न है और दूसरे ही क्षण हृदय की गति रुक जाने से उसकी जीवन-लीला समाप्त हो जाती है। कई व्यक्ति बैठे २ ही लुढक जाते हैं, कई ठोकर लगते ही चल देते हैं। इस तरह इस जीवन की अस्थिरता सिद्ध ही है। आयुष्य का एक क्षण भी नहीं बढ़ाया जा सकता। अनन्त-शक्ति-सम्पन्न तीर्थङ्कर भी अपना या दूसरे का एक क्षण का असंख्यातवां भाग आयुष्य भी नहीं बढ़ा सकते। जीवन का कोई ठिकाना नहीं। कितने ही प्राणी गर्भ में ही मर जाते हैं, कितने ही जन्मते ही मर जाते हैं, कितने ही शैशव में ही प्रयाण कर देते हैं, कितनेक यौवन में चल देते हैं। क्या इस जीवन का एक क्षण का भी भरोसा किया जा सकता है? ऐसा क्षणभङ्गुर जीवन है तदपि प्रमादी और अज्ञानी प्राणी अपने बहुमूल्य जीवन को प्रमाद में ही पूरा कर देते हैं। वे नित्य नयी-नयी कल्पनाएँ करते हैं और आशाएँ बाँधते हैं। एक पल का भी भरोसा नहीं वहाँ कल अमुक करेंगे, परसों अमुक करेंगे, एक वर्ष बाद यह करेंगे, दस वर्ष बाद ऐसा करेंगे इस तरह वे मनोरथों के जञ्जाल में ही फँसे रहते और बिना प्रतीक्षा किए ही मृत्यु द्वार पर आ खड़ी हो जाती है। वे पाप की पोटली लादकर चल देते हैं।

यहाँ यह शंका की जा सकती है कि प्राणिमात्र का जीवन चञ्चल और क्षणभङ्गुर है। तीर्थङ्करों का जीवन भी इसी श्रेणी में है। वे भी अपना क्षणभर भी आयुष्य नहीं बढ़ा सकते फिर सूत्र में अज्ञानियों का जीवन चञ्चल है ऐसा क्यों कहा गया है? सामान्यतः क्यों नहीं कह दिया कि प्राणी मात्र का जीवन ओसबिन्दु के समान चञ्चल है? इसका समाधान यह है कि यद्यपि प्राणिमात्र का जीवन चञ्चल है तदपि जो ज्ञानी और विवेकी जन होते हैं वे तो स्वयं इस बात को समझते हैं कि जीवन चञ्चल है अतएव वे इस चञ्चल जीवन में आसक्ति नहीं रखते हैं और न इसकी अभिलाषा रखते हैं। अतएव उनके लिए कहने की आवश्यकता न समझ कर अज्ञानियों का ग्रहण किया गया है। अज्ञानी प्राणी ही अपने जीवन को बहुत महत्व देते हैं और वे अपने आपको अजर-अमर समझते हो इस तरह पाप-प्रवृत्ति में जुटे रहते हैं। इस-लिये उनको शिक्षा देने के लिए विशेषतः उनका ग्रहण किया गया है। दूसरी बात यह है कि ज्ञानीजन

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

अपनी मृत्यु से नहीं डरते लेकिन अज्ञानी प्राणी मृत्यु से सदा भयभीत और सशंकित रहते हैं। मृत्यु का भय भी मृत्युवत् ही है। अतएव उनकी पल-पल पर मृत्यु हो रही है और ज्ञानीजन जीवन में एक ही बार मरते हैं क्योंकि उन्हें भय नहीं होता इस अपेक्षा से अज्ञानियों का जीवन विशेष क्षण-भंगुर समझना चाहिए।

सूत्रकार ने बाल, मंद और अविजान तीन शब्द दिये हैं। जिस तरह बालक में ज्ञान नहीं होता उसी तरह जो अपने जीवन को अजर-अमर मानकर महत्व देता है वह भी ज्ञान शून्य होने से बाल है। सद् असत् का विवेक करने में कुशल न होने से मंद है और बुद्धिमंदता से परमार्थ को नहीं जानता है अतएव अविजान है।

उक्त तीन विशेषण वाला व्यक्ति अपने क्षुद्र जीवन की चञ्चलता पर ध्यान न देकर क्रूरकर्म करने में निमग्न रहता है। हिंसक कर्म करते हुए उसे संकोच और क्षोभ नहीं होता। वह नहीं विचारता कि मैं जिन्हें पीड़ा पहुँचा रहा हूँ वे भी मेरे ही समान सुखाभिलाषी हैं और वह यह भी नहीं ध्यान करता कि मेरे इन क्रूर कर्मों का परिणाम अति भयंकर होगा और वह मुझे ही भोगना पड़ेगा। वह बिना विचारे हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह तथा अठारह पापस्थानों का सेवन करता है—पुनः पुनः अधिकाधिक सेवन करता है। पाप करते समय वह आगा-पीछा नहीं सोचता। उसे उस पाप के दुष्परिणाम का ध्यान भी नहीं होता लेकिन उसके क्रूर कर्म जब उदय में आते हैं तो वह अत्यन्त वेदना का अनुभव करता है। वह उस दुख से मूढ़-किंकर्त्तव्य विमूढ़ हो जाता है। उसे कोई मार्ग नहीं सूझता। वह मोहान्धकार में भ्रमण करता है इसलिये उसे सन्मार्ग प्राप्त नहीं होता और वह व्याकुल होकर पुनः मोह और दुख के कारणों का ही आश्रय लेता है। अज्ञान के कारण वह भूल नहीं सुधारता और भूल को सुधारने का प्रयत्न करते हुए अधिक और अधिक भूल करता जाता है। वह दुख का शमन करना चाहता है लेकिन उसके लिए ऐसे उपायों का आश्रय लेता है जिससे दुख घटने के बजाय बढ़ जाते हैं। वह विपरीत बुद्धि के कारण दुख को शान्त करने के लिए दुख का ही सहारा लेता है। इसीका नाम अज्ञान है।

अज्ञानी प्राणी भूल करता है लेकिन वह भूल करते हुए भी उसे भूल नहीं समझता और उसके प्रति असावधान रहता है। भूल करना खराब है। लेकिन भूल करके उसके प्रति बेदरकार रहना अधिक खराब है। इसका कारण यह है कि वह भूल के स्वरूप को ही नहीं समझा। इसीका नाम अज्ञान। अज्ञानी भूल का परिणाम भोगते समय भी भूल का मूल नहीं जान पाता और अधिक भूल के चक्कर में पड़ जाता है।

साधक भूल का स्वरूप समझा है, यह तभी जाना जा सकता है जब वह दुबारा वैसी भूल न करे। कदाचित् पूर्व-संयोगों के कारण वह भूल कर भी लेता है तो उसके परिणाम को वह खुशी के साथ सहन कर लेता है। वह मूढ़ नहीं बन जाता है। जब तक भूल का मूल बराबर नहीं समझ में आता तब तक भूल दूर नहीं हो सकती इतना ही नहीं लेकिन भूल को समझे बिना सुधारने का प्रयत्न करना भूलों की परम्परा बढ़ाना है। अतएव साधकों को चाहिए कि वे भूल का मूल शोधें और मूल का निवारण करें। अज्ञानी प्राणी ऐसा नहीं करते हैं इसलिए वे गर्भ, जन्म और मरण की परम्परा से नहीं छूटते और पुनः पुनः संसार में परिभ्रमण करते हैं।

संसयं परिआणओ संसारे परिन्नाए भवइ, संसयं अपरियाणओ संसारे अपरिन्नाए भवइ।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

संस्कृतच्छाया—*संशयं परिजानतः संसारः परिज्ञातो भवति, संशयमपरिजानतः संसारोऽपरिज्ञातो भवति ।*

शब्दार्थ—संसयं=संशय को । परिआणओ=जानने वाले को । संसारे=संसार का स्वरूप । परिन्नाए=ज्ञात । भवइ=होता है । संसयं=संशय को । अपरियाणओ=नहीं जानने वाले को । संसारे=संसार का स्वरूप । अपरिन्नाए=ज्ञात नहीं । भवइ=होता है ।

भावार्थ—जो संशय को जानता है वह संसार के स्वरूप को जानता है । जिसने संशय को नहीं जाना वह संसार को भी नहीं जान सकता है ।

विवेचन—इसके पूर्ववर्ती सूत्र में यह कहा गया है कि अज्ञानी जीव अज्ञान के कारण भूल पर भूल करता जाता है । ऐसा क्यों ? इसका कारण इस सूत्र में बताया गया है कि उनमें भूल को समझने की सच्ची जिज्ञासा वृत्ति उत्पन्न नहीं होती । अथवा पूर्व सूत्र के साथ इसका सम्बन्ध यों जानना चाहिए कि "पहिले कहा गया है कि मोह के कारण प्राणी चतुर्गति रूप संसार कान्तार में भटकता है । इस पर यह प्रश्न होता है कि संसार में न भटकने का उपाय क्या है ? इसका उत्तर यदि यों दिया जाय कि मोह का नाश करने से जीव संसार में नहीं भटकता है तो पुनः प्रश्न होता है कि मोह का नाश कैसे किया जाय ? अगर यह कहो कि ज्ञान द्वारा मोह का नाश करना चाहिए तो स्पष्ट अन्योन्याश्रय दोष आता है। ज्ञान हो तो मोह का नाश हो और मोह का नाश हो तो ज्ञान प्राप्त हो । तो क्या जब तक विशिष्ट ज्ञान न हो जाय तब तक कर्म-शमन का उपाय न करना चाहिए ? इस प्रश्न का जवाब इसमें दिया गया है कि ज्ञान के बिना जिज्ञासा वृत्ति से भी प्रवृत्ति होती है अतएव अन्योन्याश्रय दोष का स्थान नहीं है । जानने की इच्छा होना जिज्ञासा है । वस्तु के स्वरूप को पहचानने की तमन्ना जागृत होने से तद्विषयक प्रवृत्ति-पुरुषार्थ-की जाती है । यह जिज्ञासा ही ज्ञान का कारण है ।

जिज्ञासा-बुद्धि के जागने के बाद जब तक निर्णय न हो जाय तब तक की-बीच की-स्थिति को संशय कहा जाता है । सूत्रकार कहते हैं कि जिसे इस प्रकार का संशय होता है वही संसार का ज्ञाता है और जिसे इस प्रकार का संशय नहीं होता है वह संसार का ज्ञाता नहीं हो सकता । यह कहकर सूत्रकार यह बताते हैं कि संशय ही ज्ञान का कारण होता है । ज्ञान के पूर्व इस प्रकार का संशय होना चाहिए । यह संशय ही आगे चल कर निर्णय का कारण होता है । जब तक पदार्थ के स्वरूप के विषय में संशय नहीं होता वहाँ तक उसके सम्बन्ध में प्रश्न नहीं हो सकता और प्रश्न के बिना उत्तर नहीं हो सकता इस प्रकार वहाँ अज्ञान ही रहता है । पदार्थ के विषय में संशय होने से तद्विषयक प्रश्न और उत्तर संभव हैं और उनके द्वारा उनका निर्णय होता है । इस तरह पदार्थ का ज्ञान होता है । तात्पर्य यह है कि संशय वाला आत्मा ही संसार का द्रष्टा बनता है । गौतमस्वामी आदि गणधर भी संशय के कारण ही संसार के द्रष्टा बने । शास्त्रकार ने गौतमस्वामी के लिए-जब वे भगवान से प्रश्न करते हैं-ये विशेषण लगाये हैं:- जायसंसए, संजायसंसए, उप्पण्णसंसए, समुप्पण्णसंसए । इनका अर्थ यह है कि प्रश्न करने से पहिले श्री गौतमस्वामी को पदार्थ के विषय में (ज्ञेय के विषय में) संशय उत्पन्न हुआ । संशय (जिज्ञासा) उत्पन्न होने के बाद उन्हें तत्त्व जानने का कुतूहल हुआ और विशिष्ट ज्ञानी सर्वज्ञ महावीर के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हुई और उनसे संशय का निर्णय करने के लिए वे प्रश्न पूछते हैं । कहने का आशय यह है कि संशय होने

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

से ही मनुष्य तत्त्वद्रष्टा बनता है। परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि संशय के पीछे उसका निश्चय जरूर होना चाहिए। संशय तभी ज्ञान रूप में बदलता है जब आत्मा को यह भान होता है कि मैंने जो कुछ जाना और समझा है उससे बाहर भी जानने योग्य है। "मैं पूर्ण नहीं हूँ-मेरा जानना और देखना मिथ्या और सत्याभासी भी हो सकता है" इस तरह की निरभिमान वृत्ति जागृत होती है तो किसी विशिष्ट ज्ञानी पर श्रद्धा होती है और उससे प्रश्न पूछकर निर्णय किया जाता है। तब संशय ज्ञान रूप में परिणत होता है। अन्यथा-जब तक निर्णय न हो तब तक वह घातक भी होता है।

जिस संशय के पीछे निर्णय नहीं है वह संशय त्याज्य है। वह आत्म-शान्ति का बाधक है अतएव कहा है कि "संशयात्मा विनश्यति" अर्थात्-शंकाशील आत्मा नष्ट होता है। इस कथन का अभिप्राय यह है कि संशय केवल बुद्धि का विषय है। उसका क्षेत्र बुद्धि तक ही ठीक है, वह हृदय को स्पर्श नहीं करना चाहिए। यदि हृदय शंकाशील हो जाय तो इससे हृदय की शक्ति क्षीण हो जाती है और केवल बुद्धि का साम्राज्य स्थापित हो जाता है। हृदय की शक्ति के बिना बुद्धि सच्चा निर्णय नहीं कर सकती। सत्यनिर्णय के अभाव में निश्चित प्रवृत्ति यानि वृत्ति नहीं होती है और उसके बिना सच्चा समाधान और शान्ति असंभव है। मतलब यह है कि तत्त्वनिर्णय के लिए जो संशय होता है वह तो ज्ञान का साधक है और जो संशय हृदय को डांवाडोल बना देता है वह त्याज्य है। संशय उत्पन्न होने के बाद उसका निर्णय अवश्यमेव कर लेना चाहिए। कई ज्ञेय पदार्थ प्रत्यक्ष होते हैं और कई परोक्ष होते हैं। जहाँ तक अपनी बुद्धि पहुँचती है वहाँ तक बुद्धि द्वारा निर्णय करना चाहिए और अन्य बातों का संयोग और अनुमानादि द्वारा भी निर्णय करना पड़ता है। हृदय और बुद्धि दोनों के समन्वय द्वारा संशय का निर्णय करना चाहिए। ऐसा निर्णय हृदय को शान्त, स्थिर और द्रष्टा बनाता है।

तात्पर्य यह है कि जो संशय पदार्थों के स्वरूप का निश्चय करने के लिए होता है वह तो ज्ञान का साधक है और उसके द्वारा संशयात्मा संसार का द्रष्टा बनता है और जो संशय अन्ततः निर्णय के रूप में नहीं बदलता वह हृदय को डांवाडोल बनाता है। अतएव वह हेय और त्याज्य है। वह संशय हृदय को जड़ करता है और जिज्ञासा रूप संशय परमज्ञानी की कोटि में पहुँचाता है।

जे छेए से सागारियं न सेवइ, कट्टु एवमवियाणओ बिइया मंदस्स बालया, लद्धा हुरत्था पडिलेहाए आगमित्ता आणविज्जा अणासेवणय त्ति बेमि।

संस्कृतच्छाया—*यश्छेकः स सागारिकं (मैथुनं) न सेवते, कृत्वैवमपलपतो द्वितीया मंदस्य बालता, लब्धानपि अर्थान् प्रत्युत्पेक्ष्य, आगम्याज्ञापयेदनासेवनतयेति ब्रवीमि।*

शब्दार्थ—जे=जो। छेए=कुशल है। से=वह। सागारियं=मैथुन का। न सेवइ=सेवन नहीं करता है। एवम्=इस तरह। कट्टु=करके। अवियाणओ=पूछने पर निषेध करता हुआ। मंदस्स=अज्ञानी की। बिइया=दूसरी। बालया=मूर्खता समझनी चाहिए। लद्धा=प्राप्त हुए। हुर्=भी। अत्था=कामभोगों का। पडिलेहाए=स्वरूप विचार कर व। आगमित्ता=जानकर। अणासेवणया=नहीं सेवन करने के लिए स्वयं प्रयत्न करे और। आणविज्जा=दूसरों को भी सेवन न करने का उपदेश दे। त्ति=ऐसा। बेमि=मैं कहता हूँ।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

भावार्थ—जो संसार के स्वरूप को जानने वाला साधक निपुण है, वह कभी मन, वचन, काया से स्त्री-संग आदि संसार के सम्बन्ध में नहीं फँसता है। हे आत्मार्थी जम्बू! वासना का सूक्ष्म असर जीवों पर दृढ़ रूप से होता है इसलिए कदाचित् वासनामय विकल्प आवें और भूल से बन्धनात्मक कार्य हो जाय तो उस भूल को शीघ्र सुधार लेना चाहिए परन्तु भूल को छिपाने का प्रयत्न न करना चाहिए ऐसा करने से दूना पाप लगता है। अतएव कामभोगों के साधनों को प्राप्त करके भी उनके परिणामों पर गहरा विचार करके और उन्हें दुखरूप जानकर स्वयं उनके सेवन से दूर रहे और दूसरों को उनका सेवन न करने का उपदेश दे।

विवेचन—पहिले के सूत्र में जिज्ञासा वृत्ति के लिए कहा गया है। जिसकी तत्त्व-जिज्ञासा जागृत हो गयी है वह संसार का द्रष्टा बन जाता है। वह अपने ज्ञान द्वारा बन्धनों को और उनसे मुक्त होने के उपायों को जान लेता है इसलिए फिर वह बन्धनों में फँसाने वाली कोई भी क्रिया नहीं करता है, यह इस सूत्र में कहा गया है।

जो संसार के यथार्थ स्वरूप का ज्ञाता है वह साधक कदापि, संसार संबंध में नहीं फँसता है। संसार के सम्बन्ध में जकड़ने वाला मुख्य रूप से पुरुष का स्त्री के प्रति आकर्षण है। इस आकर्षण के कारण ही संसार का विष वृक्ष फलता फूलता है। शास्त्रकार ने स्त्री-संग को मुख्य रूप से संसार रूपी महल का स्तम्भ माना है। इसे समस्त अधर्मों का मूल और महान् दोषों की वृद्धि करने वाला माना है। शास्त्रकार ने दशवैकालिक सूत्र में फरमाया है कि:—

मूलमेयमहम्मस्स महादोससमुस्सयं ।
तम्हा मेहुणसंसग्गं निग्गंथा वज्जयंति णं ॥

अर्थात्—मैथुन-सेवन अधर्म का मूल है और अनेक महान् दोषों का बढ़ाने वाला है, इसलिए बाह्य और आभ्यन्तर ग्रन्थि-परिग्रह को त्यागने वाले निर्ग्रन्थ मुनि उसका त्रिकरण-त्रियोग से-सर्वथा त्याग करते हैं।

अन्य पापों की अपेक्षा अब्रह्म को विशेष पाप का कारण बतलाया है इसका कारण यह है कि इस पाप की परम्परा अधिक काल तक और अधिक भयंकर रूप से चलती रहती है। इससे होने वाले अनर्थों की गणना नहीं हो सकती है। कामान्ध पुरुष को उचित अनुचित का भान नहीं रहता और वह अनेक दुष्प्रवृत्तियों में फँस जाता है। एक बार अनुचित प्रवृत्ति कर लेने पर अनेक विकराल अनुचित प्रवृत्तियों का आश्रय लेना पड़ता है इसलिए अब्रह्म को सभी पापों में गुरुता दी गई है। जो साधक संसार का स्वरूपद्रष्टा है वह तो नारी के संयोग को संसार का कारण मानता है अतएव वह स्त्री संसर्ग और कामविभूषा की ओर से पीठ फेर लेता है। जिसने स्त्री परिषह पर विजय प्राप्त कर ली है उसके लिए अन्य परीषह और उपसर्ग सहना सरल हो जाता है।

अनादिकालीन विषयवासना से वासित मन को इस वासना से सर्वथा मुक्त बनाने के लिए प्रबल पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है। ब्रह्मचर्य की साधना का मार्ग अति नाजुक है। इन्द्रियाँ चञ्चल हैं।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

साधक अपनी साधना में तनिक भी असावधान हुआ कि इन्द्रियाँ स्वच्छन्द हो जाती हैं और युग-युग की साधना का सर्वनाश कर डालती हैं। बड़े बड़े योगी और तपस्वी भी इन्द्रियों के आकर्षण से विचलित हो जाते हैं। ब्रह्मचर्य-साधना का मार्ग नाजुक और साथ ही विकट भी है। जो पशु दो-चार बार हरित धान्य से परिपूर्ण खेत में चर लेता है उसे फिर साधारण घास से संतोष नहीं होता। वह गोपालक की आँख बचाकर उसी खेत में दौड़ जाता है और वहीं जाकर धान्य भक्षण करता है। इस तरह दो-चार बार धान्य भक्षण करने से पशु में यह वासना घर कर लेती है तो अनादिकालीन मैथुन वासना से वासित मन को उस वासना से मुक्त करने के लिए कितनी शक्ति, कितनी जागरूकता और कितनी तल्लीनता की आवश्यकता है यह समझा जा सकता है। विषय-वासना का सूक्ष्म असर मन पर पड़ा हुआ होता है इससे यह मन अवसर पाते ही आत्मा को वासना के सागर में डुबो देता है। जिस तरह उजाड़ करने वाली गाय वध-बंधनादि क्लेश पाती है और अपने स्वामी को भी कष्ट पहुँचाती है उसी तरह मन के साथ आत्मा को भी इसलोक और परलोक में भयंकर यातनाएँ सहन करनी पड़ती हैं। जैसे उजाड़ करने वाली गाय के गले में ठेंगुर (मोटी-सी लकड़ी) डाल लिया जाता है जिससे वह शीघ्र इधर-उधर नहीं भाग सकती इस तरह मन को रोकने के लिए संयम और तप रूपी ठेंगुर डाल देना चाहिए ताकि वह विचारों की ओर न भाग सके। संसार-द्रष्टा साधक इसी तरह अपने मन पर विजय प्राप्त करता है।

अब्रह्म आदि संसार-सम्बन्ध का सर्वथा त्याग करने का उपदेश दे चुकने के बाद सूत्रकार यह बताते हैं कि कदाचित् पूरी सावधानी रखते हुए भी वासना का अन्तःकरण पर सूक्ष्म असर होने के कारण साधक कोई भूल कर बैठे तो क्या करना चाहिए? भूल हो जाने पर साधक का यह कर्त्तव्य है कि वह भूल का गोपन न करे। शास्त्रकार ने भूल करने की अपेक्षा भूल को छिपाने में अधिक दोष कहा है। अनुभव बताता है कि एक भूल को छिपाने के लिए सैकड़ों भूलों के चक्कर में फँसना पड़ता है। शास्त्रकार कहते हैं कि बाल-जीवों की कितनी अज्ञानता है जो वे एक भूल को छिपाने के लिए दूसरी और दूसरी को छिपाने के लिए तीसरी भूल करके भूलों की परम्परा बढ़ाते हैं।

चिकित्साशास्त्रियों का कहना है कि यदि उगते रोग को दबाया न जाय और उसे यों ही निभा लिया जाय तो वह शरीर को अत्यधिक पीड़ाकारी होता है और यदि रोग के होते ही उसका उपचार किया जाय तो वह नहीं बढ़ता है और शान्त हो जाता है। इसी तरह एक भी भूलरूपी रोग को यदि नष्ट न करके अन्दर ही गुप्त रखा जाय तो वह भयंकर फल देने वाला होता है। छोटी-सी भूल को भी निभा लेना आत्मा में रोग को बढ़ाना है। भूल एक प्रकार का फोड़ा है। उसे यदि काट कर न फेंका जाय तो वह शरीर के स्वस्थ अवयव को भी सड़ा देता है। इसी तरह भूल यदि न निकाली जाय तो वह अन्दर ही अन्दर भयङ्कर सड़ान पैदा करती है और परिणाम अति भयंकर होता है। प्रथम तो जागृत साधक प्रत्येक क्रिया खूब विचारपूर्वक करता है तो भी यदि भूल हो जाय तो वह भूल को छिपाता नहीं लेकिन उसका परिणाम भोगने के लिए तत्पर रहता है। वह एक-छोटी सी-भूल की भी उपेक्षा नहीं करता है। शास्त्रकार की दृष्टि से-भूल स्वीकार करना भूल को सुधारना है। जो साधक भूल करके उसे नहीं स्वीकार करता उसके सुधरने की गुँजाइश नहीं समझनी चाहिए। वह सदा भूलों में ही भटकता रहेगा। जो साधक मुमुक्षु है वह तो भूल को स्वीकार करके उसे सुधारता है और शुद्ध हो जाता है। भूल करके उसकी आलोचना करने वाला आराधक होता है और आलोचना न करने वाला विराधक होता है। यह समझ कर भूल का कदापि गोपन न करे।

ऊपर अब्रह्म सेवन का निषेध करके अब सूत्रकार यह बताते हैं कि साधक प्राप्त हुए विषयों को भी अपनी सूक्ष्म विवेकिनी बुद्धि द्वारा दुःखरूप जानकर स्वयं त्याग करता है और दूसरों को भी विषय का

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

सेवन न करने का उपदेश देता है। इस सूत्र से सूत्रकार ने यह बताया है कि वासना को रोकने के लिए बाह्य पदार्थों के त्याग और चित्त के आकर्षण को रोकने की आवश्यकता है। साधक इस भ्रम में न रहे कि "मैं तो अनासक्त रह सकता हूँ अतएव पदार्थों के त्याग की कोई आवश्यकता नहीं"। बाह्य पदार्थों के संसर्ग का त्याग साधना के लिए आवश्यक है। जो साधक निरासक्ति के अभिमान में बाह्य पदार्थों के संसर्ग में रहते हैं-उन पदार्थों के त्याग के प्रति बेदरकार रहते हैं वे प्रायः पतन को प्राप्त होते हैं। पतन भी दो प्रकार का होता है। एक तो सावधानी रखते हुए भी गिर जाना—दूसरा बिना सावधानी के चलने से गिरना। जो सावधानी पूर्वक चलता हुआ भी गिर जाता है तो उसके अंग को इतनी हानि नहीं पहुँचती जितनी असावधानी से चलते हुए गिर पड़ने से पहुँचती है। इसी तरह जो साधक संयम में सावधान है वह कदाचित् भूल कर बैठता है तो उसको विशेष हानि नहीं पहुँचती क्योंकि वह नम्रतापूर्वक भूल स्वीकार करके उसको सुधार लेता है। दूसरी तरह का साधक जो संयम के प्रति बेदरकार है वह भूल को भूल नहीं मानता। वह मिथ्याभिमान से ग्रस्त होता है अतएव उसका पतन गहरा होता है और उसका भयंकर परिणाम आता है। इसलिए साधक का यह कर्त्तव्य है कि वह प्राप्त कामभोगों के विषयों की मन से भी इच्छा न करे और चित्तवृत्ति पर उनका असर बिल्कुल न होने देवे। अपने चित्त को विषयों से बाहिर रखे। साधना की सफलता इसीमें है।

पासह एगे रूवेसु गिद्धे परिणिज्जमाणे, इत्थ फासे पुणो पुणो, आवंती केयावंती लोयंसि आरंभजीवी, एएसु चेव आरंभजीवी, इत्थ वि बाले परिपच्चमाणे रमइ पावेहिं कम्मेहिं असरणं सरणं ति मन्नमाणे।

संस्कृतच्छाया—*पश्यत एकान् रूपेषु गृद्धान् परिणीयमानान्, अत्र स्पर्शान् पुनः पुनः यावन्तः केचन लोके आरंभजीविनः, एतेषु चेव आरंभजीवी, अत्रापि बालः परिपच्यमानः रमते पापैः कर्मभिः, अशरणं शरणमिति मन्यमानः।*

शब्दार्थ—एगे=कितनेक। रूवेसु=रूपादि इन्द्रिय के विषयों में। गिद्धे=आसक्त बने हुए जीवों को। परिणिज्जमाणे=नरकादि दुर्गति में ले जाये जाते हुए। पासह=तुम देखो। आवंती=जितने। केयावंती=कितने। लोयंसि=लोक में। आरंभजीवी=सावद्य अनुष्ठान करने वाले हैं वे। अत्थ=यहाँ संसार में। पुणो पुणो=बार-बार। फासे=दुखों को भोगते हैं। आरंभजीवी=सावद्य अनुष्ठान करने वाले अन्यतीर्थिक साधु या शिथिलाचारी। एएसु चेव=गृहस्थों के समान ही दुख के भागी होते हैं। एत्थ वि=संयम अंगीकार करने पर भी। परिपच्चमाणे=विषयाभिलाषा से पीड़ित होकर। बाले=अज्ञानी जीव। असरणं=अशरण को। सरणं ति=शरण। मन्नमाणे=मानता हुआ। पावेहिं=पापकारी। कम्मेहिं=कार्यों से। रमइ=प्रसन्न होता है।

भावार्थ—हे भव्य जीवो! तुम रूपादि इन्द्रियों के विषयों में आसक्त बने हुए जीवों को नरकादि दुर्गतियों में ले जाये जाते हुए देखो। इस संसार में जितने कितनेक सावद्य अनुष्ठान करने वाले हैं

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

वे इस संसार में पुनः पुनः दुख का अनुभव करते हैं। जो साधु का वेश धारण करके भी सावद्य अनुष्ठान करते हैं वे गृहस्थों के समान ही दुख के भागी होते हैं। संयम अंगीकार कर लेने के बाद भी विषयाभिलाषा से पीड़ित प्राणी अशरण को शरण मानकर पापकर्मों में रमण करता है।

विवेचन—इस सूत्र में कामवासना का दुष्ट परिणाम कितनी दूर तक होता है यह बताया गया है। कामवासना से पीड़ित व्यक्तियों का आध्यात्मिक और शारीरिक बल नष्ट हो जाता है। वे कामों में गृद्ध बने हुए नरकादि स्थानों में जाते हैं। कामी व्यक्ति सावद्य कार्यों में प्रवृत्ति करके आरम्भ करता है और आरम्भ से पाप और पाप से जन्म-मरण का क्रम अविच्छिन्न रूप से चला जाता है। गीता में भी इस बात की निम्न श्लोकों में पुष्टि की गई है:—

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते ।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोभिजायते ॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात् स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥ **गीता अ. २ श्लोक ६२-६३**

अर्थात्—विषयों का चिंतन करने से पुरुष का विषयों में संग बढ़ता है। इस संग से यह वासना उत्पन्न होती है कि हमको विषयों की प्राप्ति हो और इस काम की तृप्ति में विघ्न होने से क्रोध की उत्पत्ति होती है, क्रोध से संमोह-अविवेक होता है। संमोह से स्मृतिभ्रम, स्मृतिभ्रम से बुद्धिनाश और बुद्धिनाश से सर्वस्व नाश हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि जो इन्द्रियों के रूपादि विषयों में गृद्ध हैं वे प्राणी आरम्भ में प्रवृत्ति करते हैं और कर्मों का बन्धन करके पुनः पुनः दुख के सागर में डूबते हैं। चाहे गृहस्थ हो अथवा त्यागी हो, जो कोई भी विषयों में आसक्ति रखते हैं वे दुख के भागी होते हैं। कोई त्यागी यह न मान ले कि मैंने तो एक बार त्याग मार्ग अंगीकार कर लिया है अब क्या ? मैं कर्मों से-पाप से लिप्त नहीं हो सकता। ऐसा मानकर अगर कोई वेषधारी त्यागी आसक्त बनकर सावद्य अनुष्ठान करता है तो वह भी दुख का भागी होकर संसार के जन्म-मरण के चक्र से नहीं छूट सकता है। कई व्यक्ति अर्हत्-प्रणीत संयम स्वीकार करके भी पुनः मोह के उदय से रागद्वेष से आकुल होकर, विषय-ताप से संतप्त होकर अशरण को शरण मानकर सावद्य प्रवृत्ति में रमण करने लग जाते हैं। वे भी इसी तरह परिणाम में दुख के भागी होते हैं। क्योंकि केवल वेशमात्र धारण करने से कोई त्यागी नहीं कहा जा सकता और पापकर्मों से नहीं बच सकता। वेशमात्र धारण करते वाला व्यक्ति बाह्य आरम्भ को रोकता हो तो भी वह आरम्भी कहा जाता है क्योंकि उसने आभ्यन्तर पापों का त्याग नहीं किया है। सच्चा त्यागी बाह्य और आभ्यन्तर उभय रूप से आरम्भ का त्याग करता है। श्रीभगवती सूत्र में आरम्भ-अनारम्भ का विषय चलता है। वहाँ अप्रमत्त संयमी को अनारम्भी कहा है और प्रमत्त संयमी के दो भेद किये हैं—शुभयोग वाले और अशुभयोग वाले। शुभयोग वालों को अनारम्भी और अशुभयोग वालों को आरम्भी कहा गया है। यहाँ योग का अर्थ "उपयोग" से लिया गया है। जो साधु उपयोग-यतना-वाले हैं वे अनारम्भी हैं और जो साधु हो गये हैं मगर यतना को भूले हुए हैं—जिन्होंने आरम्भ का त्याग तो कर दिया है मगर सावधान-जागरूक नहीं हैं वे आरम्भी हैं। इससे यह तात्पर्य निकलता है कि उपयोग युक्त आत्मा आरम्भ का भागी नहीं है और अनुपयुक्त

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

आत्मा–चाहे वह साधु हो या गृहस्थ–पाप का भागी है। अतएव साधुओं को अपनी साधना में यतनाशील होना चाहिए।

सूत्रकार ने इस सूत्र में आरम्भ-प्रवृत्ति का एक बड़ा भारी महत्त्व का कारण बताया है। वह है—अशरण को शरण मानना। संसार के प्राणी अपनी आत्मा की अनन्त शक्ति को भूल कर बाह्य पदार्थों की शरण में जा रहे हैं। उन्हें बाह्य पदार्थ–तन, धन, जन व यौवन शरण रूप प्रतीत होते हैं और उनके लिए ही वे अपना बहु मूल्य जीवन बिता देते हैं। उन्हें यह भान नहीं होता कि अपनी ही आत्मा में अनन्त शक्ति भरी हुई है, उसे ही प्रकट करने में सच्चा आनन्द है। संसारी प्राणियों की यह कितनी अज्ञानता है कि वे धन पाकर, सुन्दर तन पाकर, बृहत्परिवार पाकर या राज्य पाकर अपने आपको नाथ मानते हैं और दूसरों के नाथ बनना चाहते हैं। ज्ञानी की दृष्टि में ऐसे प्राणी अनाथ हैं। अनाथी मुनि ने राजा श्रेणिक को–जो सारे मगधदेश का सम्राट् था, अनाथ कहा है। समझने की बात है कि जो एक विशाल राज्य का स्वामी है उसे भी मुनि ने अनाथ क्यों कहा है? ज्ञानियों की दृष्टि में आत्म-स्वरूप ही सार तत्त्व है। उसे पाने से ही कोई नाथ हो सकता है। जिसने आत्मा का स्वरूप पा लिया वह नाथ हो जाता है, उसका नाथ कोई नहीं रहता। वह स्वयं त्रिलोकीनाथ हो जाता है। जिसने आत्मा को नहीं पहचाना वह सर्वोत्तम सार–रहित होने से अनाथ है।

संसार के प्राणी बाह्य पदार्थों को पाकर अपने आपको नाथ मानते हैं किन्तु यह अज्ञान है। नाथ तभी हुआ जा सकता है जब पदार्थ उसकी इच्छानुसार उसके वश में रहें। प्राणी अपने आपको पदार्थों का नाथ कहता है लेकिन पदार्थ उसकी आज्ञानुसार नहीं चलते। प्राणी चाहता है कि यह भोगोपभोग की सामग्री मुझ से कभी अलग न हो लेकिन ऐसा नहीं होता। पदार्थ अवधि पूर्ण होने पर उस प्राणी को छोड़कर चले जाते हैं। फिर प्राणी पदार्थों का नाथ कैसे रहा? वह तो पदार्थों का दास रहा जो उनके वश में पड़ा रहता है। प्राणी पदार्थों को अपना कहता है लेकिन पदार्थ उसकी आज्ञा नहीं मानते। वे उसकी इच्छा के विरुद्ध भी उससे अलग हो जाते हैं। प्राणी कहता है–यह घर मेरा है, यह मेरा धन है, यह मेरा राज्य है, यह मेरा पुत्र है लेकिन यह उसका भ्रम है। वह अभिमान करता है कि यह मेरी मोटर है, ये मेरे घोड़े हैं यह मेरे हाथी है–लेकिन क्या हाथी-घोड़े और मोटर आदि उसके हैं? नहीं। जो पदार्थ अपना है वह अपने से कभी अलग नहीं हो सकता। जो वस्तु अपने से अलग हो जाती है वह अपनी नहीं है। पर पदार्थों के साथ आत्मीयता का भाव स्थापित करना महान् भ्रम है। इसी भ्रम पूर्ण आत्मीयता के कारण जगत् अनेक कष्टों से पीड़ित है। अगर "मैं" और "मेरी" की मिथ्या धारणा मिट जाय तो जीवन में एक प्रकार की अलौकिक लघुता, निरुपम निस्पृहता और दिव्य शान्ति का उदय होगा।

प्राणी जब तक विषयों में–परपदार्थों में ममत्व रखता है तब तक वह अपना नाथ नहीं हो सकता। ज्यों ही सांसारिक बल का त्याग कर दिया जाता है त्यों ही आत्म-बल प्रकट होता है, वही भगवद्बल है। इसी बल से प्राणी नाथ बनता है। इस आत्मिक धन से सनाथ होने के कारण ही अनाथी मुनि श्रेणिक जैसे विशाल साम्राज्य के सम्राट् को अनाथ कह सके हैं उन्होंने स्पष्ट कहा है:—

अप्पणावि अणाहोसि सेणिया मगहाहिया।
अप्पणा अणाहो संतो कस्स णाहो भविस्ससि?॥

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

अर्थात्—हे मगधाधिप श्रेणिक ! तू स्वयं अनाथ है। तू मेरा नाथ बनने चला है लेकिन स्वयं अनाथ होकर किस दूसरे का नाथ कैसे बन सकता है ? राजा श्रेणिक आश्चर्य में पड़ जाता है और मुनि उसे उसकी अनाथता बतलाते हैं। राजा ने अनुभव किया कि वस्तुतः वह अनाथ है और मैं जिन्हें अनाथ समझता था वे मुनि नाथ हैं। इस पर से यह जाना जा सकता है कि वस्तुतः क्या शरण है और क्या अशरण है ?

अपना नाथ बनने के लिए यह आवश्यक है कि दुनिया की चीजों से अपने आपको नाथ न समझें। दुनियाँ के पदार्थों को शरण न मानें। हिन्दू धर्म में गज-ग्राह के युद्ध का वर्णन आता है। जब तक हाथी ने अपना बल लगाया तब तक वह बराबर मगर के द्वारा खिंचा जाता रहा। ज्यों ही उसने अपना बल छोड़कर प्रभु का-आत्मा का ध्यान किया त्यों ही उसमें ऐसा बल-आत्मबल प्रकट हुआ कि वह मगर के पंजे से छूट गया। हमारे मन रूपी हाथी को काम, क्रोध, मोहरूपी मगर अपनी ओर खींचता है। जब तक मनुष्य तन बल, धन बल और बाह्य बल का प्रयोग करता है तब तक वह खिंचता जाता है ज्यों ही वह आत्म-बल का प्रयोग करता है-बाह्य बल को त्यागता है त्यों ही मन इस कामक्रोधरूपी मगर से छूट जाता है। बाह्य पदार्थों की अशरणता और असारता को जानकर आत्म-बल प्रकट करना चाहिए। जो आत्म-भाव को छोड़कर परभावों में शरण मानता है वह पाप कार्यों में अधिक और अधिक फँसता जाता है। इससे यह फलित होता है कि सभी बलों की कुञ्जी आत्म-बल है। आत्म-बल के सामने अन्य बल सब तुच्छ हैं। आन्तरिक बल पर ही चरित्रगठन निर्भर है। जितना आत्मिक बल प्रकट होगा उतना ही चारित्र विकसित होगा। जितना आत्म-बल कम होगा और पदार्थों की आसक्ति होगी उतनी ही पामरता आएगी। बाह्य पदार्थों की अशरणता का अनुभव ही आत्म-बल का जनक होता है। आत्मिक बल के विकास के हेतु ही चारित्र आदि का प्रतिपादन किया है। अतएव बाह्य बल को त्यागने से ही-अशरण को शरणरूप न मानने से ही आत्मा आरम्भ से छूट सकता है। यही आत्म-विकास की कुञ्जी है।

इहमेगेसिं एगचरिया भवइ, से बहुकोहे, बहुमाणे, बहुमाये, बहुलोभे, बहुरए, बहुनडे, बहुसढे, बहुसंकप्पे, आसवसत्ती पलिउच्छन्ने उट्टियवायं पवयमाणे, मा मे केइ अदक्खू अन्नाणपमायदोसेणं, सययं मूढे धम्मं नाभिजाणइ, अट्टा पया माणव ! कम्मकोविया जे अणुवरया अविज्जाए पलिमुक्खमाहु आवट्टमेव अणुपरियट्टंति त्ति बेमि ।

संस्कृतच्छाया—*इहमेकेषां एकचर्या भवति, स बहुक्रोधः, बहुमानः, बहुमायी, बहुलोभः, बहुरतः, बहुनटः, बहुशठः, बहुसंकल्पः, आश्रवसक्तौ, पलितावच्छन्नः, उत्थितं वादं प्रवदन्, मा मां कंचन अद्राक्षुः अज्ञानप्रमादद्वेषेण, सततं मूढः धर्मं नाभिजानाति आर्ता प्रजाः हे मानव ! कर्मकोविदाः जेऽनुपरता अविद्यया परिमोक्षमाहु, आवर्तमेवानु परिवर्त्तते इति ब्रवीमि ।*

शब्दार्थ—इह=इस संसार में। एगेसिं=एक एक प्राणी। एगचरिया भवइ=अकेले विचरते हैं। से=वह। बहुकोहे=बहुत क्रोधी। बहुमाणे=बहुत मानी। बहुमाये=बहुत कपटी।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

बहुलोभे=बहुत लोभी। बहुरए=अनेक पापों में रत। बहुनडे=नट की तरह वेश बदलने वाला। बहुसढे=बहुत धूर्त। बहुसंकप्पे=दुष्ट अध्यवसाय वाला। आसवसत्ती=हिंसादि आस्रवों में गृद्ध। पलिउच्छन्ने=दुष्कर्मों से युक्त होकर भी। उट्ठियवायं=अपनी तारीफ का। पवयमाणे=बकवाद करते हुआ। मा मे केइ अदक्खु=कोई मुझे अकर्म करता न देख ले। अन्नाणपमायदोसेणं=अज्ञान और प्रमाद के दोष से। सययं=निरन्तर। मूढे=मूढ बना हुआ। धम्मं=धर्म को। नाभि जाणइ=नहीं समझता है। माणव=हे मनुष्य! जे=जो। अणुवरया=जो पापानुष्ठान से नहीं निवृत्त हुए हैं। अविज्जाए=अज्ञान से। पलिमुक्खं=मोक्ष का। आहु=कथन करते हैं। अट्टा पया=वे दुखी जीव। कम्मकोविया=कर्म करने में कुशल हैं। आवट्टमेव=संसार में ही। अणुपरियट्टंति=परिभ्रमण करते हैं। त्ति बेमि=ऐसा मैं कहता हूँ।

भावार्थ—हे जम्बू! कितने ही साधु स्वच्छन्द होकर अकेले विचरने लगते हैं। उनके दोष ही कहते हैं कि वे स्वच्छंदाचारी होकर एक चर्या करते हैं। वे बहुकोधी, बहुमानी, बहुकपटी, बहुलोभी, बहुपापी, बहुदंभी, बहुत वेष करने वाले, दुष्ट वासना वाले, हिंसक और कुकर्मी होते हुए भी "हम तो धर्म के लिए विशेष उद्यत हुए हैं" इस प्रकार बकवाद करते हुए "कोई पाप-सेवन करते हुए हमें न देख ले इस भय से अकेले विचरते हैं। वे अज्ञान और प्रमाद से निरन्तर मूढ बनकर धर्म को नहीं समझ सकते हैं। हे मनुष्यो! जो पाप के अनुष्ठान से निवृत्त नहीं हुए हैं और स्वयं अज्ञानी होते हुए भी मोक्ष की बात करते हैं वे दुखी प्राणी बेचारे कर्म करने में ही कुशल होते हैं, धर्म में नहीं; ऐसे जीव संसार के चक्र में ही परिभ्रमण करते हैं।"

विवेचन—इस सूत्र में एकलविहार का सख्त विरोध किया गया है। कई बार संयमी साधक अपनी भूल को समझ कर भी उसको नहीं सुधारना चाहता है और स्वच्छन्द बन जाता है। अन्य संयमी सहयोगियों के बीच रहने से उसकी स्वच्छन्दता में बाधा आती है इसलिये वह एक-चर्या करने लगता है अर्थात्-अकेला ही विचरने लगता है। उसकी यह एक-चर्या स्वच्छन्दाचार से प्रेरित होने के कारण अप्रशस्त है।

एक-चर्या (एकलविहार) दो प्रकार की है—प्रशस्त एक-चर्या और अप्रशस्त एक-चर्या। इनमें से प्रत्येक के दो भेद हैं—द्रव्य और भाव। द्रव्य से अप्रशस्त एक-चर्या का स्वरूप यह है—विषय की लालसा से या कषायों की तीव्रता के कारण एकाकी विहार करना। भाव से अप्रशस्त एक-चर्या नहीं हो सकती है क्योंकि भाव से एक-चर्या होना याने रागद्वेष से रहित होना। रागद्वेष से रहित होना अप्रशस्त नहीं है अतएव भाव से अप्रशस्त एक-चर्या संभव नहीं है। द्रव्य से प्रशस्त एक-चर्या-प्रतिमाधारी अथवा जिनकल्पी या संघादि के कार्य के निमित्त स्थविरकल्पी का अकेला विचरना है। भाव से प्रशस्त एक-चर्या तीर्थंकरों की होती है। तीर्थंकर संयम अंगीकार करते हैं तब से लगा कर जब तक केवलज्ञान उत्पन्न न हो वहाँ तक छद्मस्थ अवस्था में वे अकेले रहते हैं यह भाव से प्रशस्त एक-चर्या है। अन्य सबका एकलविहार अप्रशस्त है। अप्रशस्त द्रव्य एक-चर्या का उदाहरण टीकाकार ने इस प्रकार दिया है:—

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

पूर्व देश में धान्यपूरक नाम के सन्निवेश में यौवनवय में देवकुमार के समान सुन्दर किसी तापस ने ग्राम के दरवाजे के पास षष्ठभक्त (बेला) तप करना शुरू किया। दूसरे ने ग्राम के पास के पर्वत की गुफा में रहकर अष्टम भक्त (तेला) तप करना प्रारम्भ किया और आतापना लेने लगा। ग्राम के दरवाजे के पास रहे हुए तापस के गुणों से आकृष्ट होकर लोग उसकी आहारादि से सेवा करने लगे। जब लोग उसकी स्तुति करने लगे और आहारादि से उसका सन्मान करने लगे तब वह उन मनुष्यों से बोला कि मुझ से भी अधिक कठिन तप करने वाला पर्वत की गुफा में तप करके बैठा है। बार बार उसके कहने से लोग वहाँ गये और उस तापस की भी सेवा पूजा की। दूसरों का गुण-कीर्त्तन करना अति कठिन है परन्तु इस तापस में कैसा अद्वितीय गुण है कि यह दूसरों की तारीफ करता है यह समझ कर लोगों ने उसकी भी सेवा पूजा की। दोनों तापसों ने यश, पूजा और ख्याति के लिए अकेला रहना अच्छा समझा। आशय शुद्ध न होने से यह अप्रशस्त एक-चर्या है। इसी तरह अन्य भी उदाहरण समझे जा सकते हैं।

प्रतिमाधारी, जिनकल्पी, छद्मस्थ अवस्था में रहे हुए तीर्थङ्कर, एवं अत्यन्त आवश्यक संयोगों में संघादि के निमित्त स्थविरकल्पी का एकलविहार शुद्ध है क्योंकि वह शुद्ध आशय से किया जाता है। इनके अतिरिक्त का एकलविहार अनुचित है। वर्त्तमान काल के एकलविहार प्रायः कषाय-जन्य और प्रकृति की विषमता के कारण होता है। यह अप्रशस्त है। इससे स्वच्छन्दाचार को पोषण मिलता है और यह संयम की निर्मल साधना में विघ्न डालता है।

बहुत से एकलविहारी यह दलील पेश करते हैं कि हमारे सहयोगियों का आचार शिथिल है। हमसे यह सहन नहीं हो सकता। उनके साथ में रहकर हम आत्मा का उत्थान नहीं कर सकते अतएव विशेष रूप से धर्म-आराधन के लिए हम एकलविहार करते हैं। उनका यह कथन केवल वाग्जाल है। यह उनकी मायापूर्ण वचन-पद्धति है। दुनियाँ की खराबी से डर कर वे अलग रहते हैं यह तो केवल एक बहाना है। जो साधक स्वयं शुद्ध है वह चाहे जैसे वातावरण में अपने आपको शुद्ध रख सकता है। उपादान अगर निर्मल है तो निमित्त उसमें विकार नहीं पैदा कर सकते। अगर वह साधु स्वयं शुद्ध है तो उसे अन्य की भूलें देखकर उनसे अलग होने की कोई आवश्यकता नहीं है। सूत्रकार ने "उट्ठियवायं पवयमाणे" कह कर उसकी प्रगल्भता (अहंकार) व्यक्त की है। वह व्यक्ति मिथ्या अहंकार में फँस जाता है और मानता है कि मैं थोड़े ही दिनों में बड़ा महात्मा बन जाऊँगा, जो किसी ने नहीं किया वह मैं करूँगा। इसका नतीजा होता है केवल अधःपतन। विशेष दुख की बात तो यह है कि अकेला होने से उसे भूल सुधारने वाला मिलना भी कठिन है। एकान्तवास उन्हीं के लिए हितकर हो सकता है जिन्होंने अपनी वासनाओं और वृत्तियों पर पूरी विजय प्राप्त कर ली हो। अन्यथा एकान्तवास से घोर अनर्थ होते हैं और अनेक दुष्परिणाम निकलते हैं। एकान्त में प्राणियों को विशेष पाप करने का अवसर मिल जाता है। अनुभव यह बताता है कि एकान्त पापों को प्रेरणा देता है। वृत्तियों पर विजय पाने वाले महापुरुष ही इसके अपवाद हो सकते हैं।

सूत्रकार ने एक-चर्या करने वाले के दुर्गुणों का जो सूचन किया है वह मननीय है। एकलविहारी बहुत क्रोधी होता है। मनुष्यों द्वारा निन्दा की जाने पर वह अधिक क्रुद्ध हो जाता है। प्रायः कषायों की तीव्रता के कारण ही सहयोगी साधुओं के बीच वह नहीं रह सकता है। अतः उसका अकेला रहना उसकी क्रोधी प्रकृति का सूचक है। उसे जब कोई वन्दन करता है या आदर देता है तो उसे बहुत अहंकार आ जाता है अतएव वह बहुत मानी होता है। प्रच्छन्न रूप से दोषों का सेवन करता है अतएव मायावी

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

होता है। उसे विविध उपधियों का लोभ होता है अतएव वह लोभी है। वह बहुत आरम्भों में संलग्न रहता है। वह नट की तरह भोगों के लिए विविध वेश बना लेता है। अनेक तरह के ढोंग और आडम्बर दिखा कर लोगों को ठगता है। उसके अध्यवसाय सदा दुष्ट होते हैं। वह तरह २ के संकल्पों में पड़ा रहता है। ऐसा व्यक्ति हिंसादि आस्रवों में रत रहता है। वह कर्मों का बन्धन करता है। वह आरम्भ-सेवन करता है लेकिन गुप्तरूप से करता है। उसे सदा यह शंका बनी रहती है कि कहीं कोई मुझे पाप सेवन करता हुआ देख न ले। इसलिए वह गुप्तरूप से कार्य करता है और विशेष दोष का भागी होता है। वह अज्ञान और प्रमाद से निरन्तर मूढ़-किंकर्त्तव्यशून्य-होकर सच्चे धर्म के स्वरूप को नहीं समझ सकता है। वह संसार में परिभ्रमण ही करता रहता है। अतएव एकलविहार नहीं करना चाहिए।

जो प्राणी विषय-कषायादि से पीड़ित हैं, हिंसादि पाप-अनुष्ठान से निवृत्त नहीं हुए हैं वे अज्ञानी जीव मोक्ष की बातें करते हैं परन्तु उसके स्वरूप को नहीं समझ सकते हैं और न मोक्ष को पा सकते हैं। वे प्राणी केवल कर्मों का उपार्जन करने में ही कुशल होते हैं, धर्म में नहीं। धर्म को नहीं समझने के कारण वे दुखी होकर अरघट्टघटीयंत्र न्याय से संसार में परिभ्रमण करते ही रहते हैं। इससे सूत्रकार ने यह सूचित किया है कि मोक्ष की बातें करने से या मोक्ष का शास्त्र पढ़ लेने से मुक्ति नहीं मिल जाती। जो मोक्ष के अभिलाषी होकर भी, स्वच्छंद, प्रमादी, विषय एवं कषायों से पीड़ित हैं वे न संसार की आराधना कर सकते हैं और न मोक्ष की। वे त्रिशंकु के समान बीच में ही निराधार लटके रहते हैं। वे न इस पार के रहते हैं और न उस पार ही पहुँच सकते हैं। मध्य में ही गोते खाते हैं। यह विचार कर चारित्र को सार जानकर उसमें सदा सावधान-जागरूक और यतनाशील रहना चाहिए।

—उपसंहार—

इस उद्देशक में हिंसा का और काममोगों का निषेध करके चारित्र का प्रतिपादन किया गया है। विषयसुख की लिप्सा से आध्यात्मिक मृत्यु होती है और शारीरिक क्षय भी होता है। वासना का सूक्ष्म असर होने के कारण अगर साधक से कोई भूल हो जाय तो उसे छिपाकर पाप की परम्परा नहीं बढ़ानी चाहिए वरन् भूल का भान होने पर उसका परिणाम भोगने के लिए तय्यार रहना चाहिए। यह चरित्र-गठन का सरल मार्ग है। भूल का भान भी जिज्ञासा के बाद ही होता है। सच्ची जिज्ञासा से ही तत्त्व-निर्णय होता है। तत्त्वनिर्णय ही संयम का प्रेरक है। त्यागमार्ग अङ्गीकार करने मात्र से निरारम्भी नहीं हो सकते। उसमें उपयोग की और विवेक की आवश्यकता है। बाह्य पदार्थ अशरणरूप हैं यह समझने पर सच्चा आत्मबल प्रकट होता है। अन्ततः एकलविहार अनिष्टरूप होने से वर्जनीय है यह प्रतिपादित किया है। चारित्र ही लोक का सार है अतएव सावधान रहना चाहिए। ऐसा मैं कहता हूँ।

इति प्रथमोद्देशकः

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

लोकसार नाम पञ्चम अध्ययन

—द्वितीयोद्देशकः—

(चारित्र-विकास के उपाय)

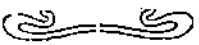

गत उद्देशक में चारित्र गठन की मीमांसा की गई है। चारित्रगठन का आधार आन्तरिक शक्ति है और आध्यात्मिक बल की अनुभूति होने से ही चारित्र का वास्तविक पालन शक्य होता है। मात्र वेश से अथवा तो विवेकशून्य क्रियाओं से चारित्र नहीं हो जाता है। चारित्र हृदय की वास्तविकता से ही उत्पन्न होता है यह पहिले उद्देशक में बतला दिया गया है। अब इस उद्देशक में आध्यात्मिक शक्तियों के विकास के उपाय बताते हैं:—

आवंती केयावन्ती लोए अणारंभजीविणो तेसु, एत्थोवरए तं झोसमाणे, अयं संधीति अदक्खू जे इमस्स विग्गहस्स अयं खणेत्ति अन्नेसी ॥

संस्कृतच्छाया—*यावन्तः केचन लोके अनारम्भजीविनः, तेषु, अत्रोपरतः तत् झोषयन् अयं संधिरिति अद्राक्षीत्, योऽस्य विग्रहस्यायं क्षणः इति अन्वेषी ।*

शब्दार्थ—लोए=लोक में। आवंती=जितने। केयावंती=कितने। अणारंभजीविणो=हिंसादि आरम्भ से रहित होकर शरीर का निर्वाह करते हैं वे। तेसु=गृहस्थों के पास से निर्दोष आहार लेकर अनारंभी जीवन चलाते हैं। एत्थोवरए=सावद्य प्रवृत्ति से दूर रह कर। तं=पूर्व दोषों को। झोसमाणे=क्षय करके। अयं संधि=यह अपूर्व अवसर है। त्ति=इस प्रकार। अदक्खू=विचार कर देखे। जे=जो। इमस्स=इस। विग्गहस्स=शरीर के। अयं खणे=वर्त्तमान क्षण का। अन्नेसी=अन्वेषण करता है वह सदा अप्रमत्त रहता है।

भावार्थ—इस संसार में जो साधक पाप-प्रवृत्ति से निवृत्त हुए हैं वे अपने शरीरादि का निर्वाह भी गृहस्थों के पास से आहारादि लेकर अनारंभी रहकर कर सकते हैं। हे साधक! सावद्य प्रवृत्ति से दूर रहकर पूर्वकर्मों को संयम द्वारा क्षय करके "यह अपूर्व अवसर प्राप्त है" ऐसा विचार कर संयम की तरफ दृष्टि रखनी चाहिए। यह शरीर और संयम के अनुकूल साधन बारबार नहीं मिलते हैं, इस बात का पुनः पुनः अन्वेषण करके अप्रमत्त रहना चाहिए।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

विवेचन—चारित्र के विकास के लिए पाप-प्रवृत्ति से सर्वप्रथम निवृत्त होना आवश्यक है। पाप-प्रवृत्ति से निवृत्त हुए बिना आत्मिक बल प्रकट नहीं हो सकता अतएव आरम्भ का त्याग करने का उपदेश दिया गया है। यहाँ यह आशंका की जा सकती है कि साधु तो आरम्भ का सर्वथा त्याग करते ही हैं। दीक्षा के प्रसंग पर ही त्रिकरण त्रियोग से आरम्भ का त्याग कर लिया जाता है तो पुनः आरम्भ-त्याग के उपदेश का क्या प्रयोजन है ? क्या दीक्षा अंगीकार करने पर भी आरम्भ हो सकता है ? इसका उत्तर यह है कि दीक्षा लेने के बाद भी अनुपयुक्त अवस्था हो सकती है। अनुपयुक्त दशा में आभ्यन्तर आरम्भ हो सकता है। उपयोग की शून्यता में अधर्म है और उपयोग में धर्म है। कहा है कि—

आदाणे निक्खेवे भासुस्सग्गे अ ठाणगमणाई ।
सव्वो पमत्तजोगो समणस्सवि होइ आरंभो ॥

अर्थात्—वस्तु को लेने में अथवा रखने में, बोलने में, स्थान पर स्थित रहने में अथवा गमन करने में और भी किसी भी क्रिया में यदि साधु प्रमाद (अनुपयोग) करता है तो वह आरम्भी है। उसे आरम्भ लगता है। यदि इन क्रियाओं को करते हुए वह अप्रमत्त है तो उसे आरम्भ नहीं लगता है। आरम्भ, उपयोग अथवा अनुपयोग पर निर्भर है। इसलिए साधु को प्रत्येक क्रिया में उपयोगयुक्त होना चाहिए ताकि आरम्भ का दोष न लगे।

दूसरी आशंका यह हो सकती है कि साधुओं को भी शरीर-निर्वाह के लिए आहार आदि पदार्थों की आवश्यकता होती ही है। उन्हें भी कुछ न कुछ कार्य करना ही पड़ेगा तो उससे उन्हें भी आरम्भ होगा ही। वे सर्वथा निरारम्भी कैसे हो सकते हैं ? अगर सर्वथा निरारम्भी रहें तो शरीर का निर्वाह किस प्रकार हो सकेगा ? इस आशंका का समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि गृहस्थादि अपने और अपने कुटुम्बियों के लिए आहारादि निष्पन्न करते हैं उसमें से निर्दोष रीति से आहारादि ग्रहण करने से साधुओं के शरीर का निर्वाह भी हो जाता है और उन्हें आरम्भ-जन्य पाप भी नहीं लगता है। जिस प्रकार भ्रमर पुष्पों में से थोड़ा-थोड़ा रस चूसता है इससे न तो फूल को पीड़ा ही पहुँचती है और न उसका काम ही रुकता है ठीक इसी तरह साधु भी गृहस्थों के घरों से थोड़ा-थोड़ा आहार ग्रहण करते हैं जिससे न तो गृहस्थों को पीड़ा पहुंचती है और न साधु का कार्य भी रुकता है।

पुनः प्रश्न होता है कि गृहस्थादि आरम्भ करते हैं और साधु उस आरम्भ से निष्पन्न आहारादि को ग्रहण करते हैं तो साधु को अनुमोदन का दोष क्यों नहीं लगता है ? इसका समाधान यह है कि साधु को उन आरंभों से बिल्कुल प्रयोजन नहीं रहता है। वह उन गृहस्थादि के द्वारा किए हुए आरम्भों से सर्वथा निर्लेप रहता है अतएव आरम्भ-जन्य दोष उन्हें नहीं लगता। जिस प्रकार कमल कीचड़ से उत्पन्न होता है और कीचड़ के आधार पर ही रहता है तदपि वह कीचड़ से निर्लेप रहता है उसी तरह साधु भी गृहस्थादि से निर्दोष रीति से आहारादि लेकर भी उससे निर्लेप रहता है अतएव वह आरम्भ से मुक्त रहता है। तात्पर्य यह है कि बिना आरम्भ किए ही शुद्ध जीवन बिताया जा सकता है। अतएव आरम्भरूप दूषित प्रवृत्ति से दूर रहकर पूर्वगत दोषों को साधना द्वारा नष्ट करना चाहिए। यह समझना चाहिए कि अभी जो सुअवसर प्राप्त हुआ है यह बार-बार नहीं मिलने वाला है। आर्यक्षेत्र में जन्म मिलना, सुकुल में पैदा होना, समग्र अविकल इन्द्रियों की प्राप्ति होना, उपदेश श्रवण करना, उस पर श्रद्धा होना, वैराग्य उत्पन्न होना और चारित्र की प्राप्ति होना असीम पुण्यपुञ्जों के उदय का परिणाम है। कोटिजन्म के पुराकृत कर्म

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

जब पुष्टीभूत होते हैं तभी यह अवसर प्राप्त होता है। यह जानकर इस प्राप्त अवसर का महत्त्व समझना चाहिए और उसका सदुपयोग करना चाहिए। निकला हुआ अवसर फिर कई गुणा परिश्रम करने पर भी हाथ नहीं आता। यह समझकर विषयादि प्रमादों में आसक्ति नहीं करनी चाहिए।

जो साधक इस औदारिक शरीर की भूत, वर्तमान और भावी पर्यायों का अन्वेषण करता है वह कदापि प्रमत्त नहीं हो सकता। यह शरीर क्षणभङ्गुर है; इसके लिए अपनी शाश्वत वस्तु की हानि नहीं करनी चाहिए। जो व्यक्ति शरीर पर आसक्त होकर आत्मा को भूल जाते हैं वे कांच की चमक से लुभाकर रत्न की ओर उपेक्षा करते हैं। सच्चा साधक शरीर को एक साधन मानता है और उसको साधन के समान ही महत्त्व देता है। वह साधन को साध्य मानने की भूल कदापि नहीं करता। जब तक शरीर संयम के पालन में सहायक होता है वहीं तक साधक उसका निर्दोष रीति से पालन करता है। यह औदारिक मानव शरीर भी बड़े पुण्योदय से ही प्राप्त होता है। इसका सदुपयोग करने से ही इस अमूल्य देह के मिलने का कुछ अर्थ हो सकता है। शरीर की पर्यायों का विचार कर, अमूल्य अवसर प्राप्त हुआ जानकर कदापि संयम में प्रमाद न करना चाहिए। यह कह कर सूत्रकार ने पूर्वाध्यासों के वश न होने की सूचना की है।

एस मग्गे आरिएहिं पवेइए, उट्ठिए नो पमायए, जाणित्तु दुक्खं पत्तेयं सायं, पुढो छंदा इह माणवा पुढो दुक्खं पवेइयं से अविहिंसमाणे अणवयमाणे, पुढो फासे विपणुन्नए एस समिया परियाए वियाहिए।

संस्कृतच्छाया—*एष मार्गः आर्यैः प्रवेदितः, उत्थितः न प्रमादयेत्। ज्ञात्वा दुःखं प्रत्येकं सातं, पृथक्छंदा इह मानवाः पृथग्दुःखं प्रवेदितं, अविहिंसन्, अनपवदन्, स्पृष्टः स्पर्शान् विप्रेरयेत्। एषः सम्यग्पर्यायः (शमितापर्यायः) व्याख्यातः।*

शब्दार्थ—एस=यह। मग्गे=मार्ग। आरिएहिं=तीर्थंकर देवों के द्वारा। पवेइए=कहा गया है। पत्तेयं=प्रत्येक प्राणी का। दुक्खं=दुख और। सायं=सुख भिन्न २। जाणित्तु=जानकर। उट्ठिए=प्रव्रजित होकर। नो पमायए=प्रमाद नहीं करना चाहिए। इह=इस संसार में। माणवा=मनुष्य। पुढो=भिन्न २। छंदा=अभिप्राय वाले हैं। पुढो दुक्खं=दुख भी प्रत्येक का भिन्न २। पवेइयं=कहा है अतः। से=वह मुनि। अविहिंसमाणे=किसी भी प्राणी की हिंसा न करते हुए। अणवयमाणे=मृषावाद नहीं बोलते हुए। पुढो=परीषह और उपसर्गों के आने पर। फासे=उन संकटों को। विपणुन्नए=सम्यक् सहन करके दूर करे। एस=ऐसा मुनि ही। समियापरियाए=उत्तम चारित्रशील। वियाहिए=कहा गया है।

भावार्थ—तीर्थंकर देवों ने यह मार्ग बताया है और यह भी समझाया है कि प्रत्येक प्राणी के सुख और दुख भिन्न २ होते हैं ऐसा जानकर संयमी साधक को साधना के मार्ग में जरा भी प्रमाद न करना चाहिए। इस संसार के प्राणियों के अभिप्राय भिन्न २ हैं और दुख भी पृथक् पृथक् हैं इसलिए

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

मुनि किसी प्रकार की हिंसा नहीं करता हुआ और मृषावाद नहीं बोलता हुआ संयम के मार्ग में आने वाले कठिन से कठिन संकटों को भी सम्यक् प्रकार से सहन करता है। ऐसा साधक ही चारित्रशील मुनि कहा जाता है।

विवेचन—पूर्ववर्ती सूत्र में अनारम्भी जीवन व्यतीत करते हुए अप्रमत्त होने का उपदेश दिया गया है। इस उपदेश को गणधरों ने ग्रथित किया है लेकिन समस्त उपदेश तीर्थङ्करों द्वारा उपदिष्ट है तो भी सूत्रकार ने इस उपदेश का विशेष महत्व समझाने के लिए, इस पर भगवान् तीर्थङ्कर देवों की छाप लगाई है। अर्थात् यह उपदेश स्वयं तीर्थंकर देवों का है, किसी सामान्य पुरुष का नहीं। अतएव त्रिकालदर्शी सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, प्रभु महावीर के इन वचनों पर अविचल श्रद्धा करके तदनुसार अपनी प्रवृत्तियों को आरम्भ और प्रमाद से रहित बनाना चाहिए।

सूत्रकार इस सूत्र में यह बताते हैं कि प्रत्येक प्राणी का सुख-दुख भिन्न भिन्न हैं। सुख और दुख की कल्पनाएँ सब की निराली निराली हैं। एक प्राणी जिस चीज में सुख की अनुभूति करता है दूसरा प्राणी उसी में दुख का अनुभव करता है। एक प्राणी जिस वस्तु के लिए लालायित रहता है दूसरा प्राणी उसे ही त्यागना चाहता है। एक प्राणी के लिए जो चीज बड़े महत्त्व की है वही वस्तु दूसरे के लिए तुच्छ है। उदाहरण के लिए बालकों के लिए खिलौने मनोविनोद की सब से बढ़िया चीज है लेकिन वे ही खिलौने बड़े आदमियों की दृष्टि में तुच्छ हैं। इससे तात्पर्य यह निकलता है कि वस्तु के अन्दर सुख दुख रहा हुआ नहीं है। अगर पदार्थों में सुख-दुख होता तो वह सभी को एक समान ही लगते लेकिन ऐसा नहीं होता। अतएव सिद्ध होता है कि सुख-दुख का आधार बाह्य पदार्थ नहीं लेकिन प्राणी की चित्तवृत्ति है। चित्तवृत्ति में यदि सुख की भावना है तो सुख और दुख की भावना है तो दुख मालूम होने लगता है। यही भावना का वैचित्र्य दुख-सुख की भिन्नता का कारण है। दूसरी बात यह है कि प्राणियों के पूर्वकृत कर्म भिन्न-भिन्न हैं अतएव उनके सुख-दुख भी भिन्न-भिन्न हैं। कारणों की भिन्नता से कार्य भिन्न २ होते ही हैं। बाहर के सुख-दुख भिन्न २ आशयों के कारण होते हैं। आशयों की भिन्नता का कारण कर्मों का तारतम्य है। कर्मों की विविधता और विचित्रता से ही सृष्टि का चक्र चल रहा है। प्रत्येक व्यक्ति भिन्न २ आकृति और साधन सामग्री रखता है इसका कारण भी प्राणियों के विभिन्न आशय हैं। संसार की यह विविधता ही कर्म सिद्धान्त के अविचल नियम और प्राकृतिक शक्ति के अस्तित्व की प्रतीति कराती है। सूत्रकार ने कहा है कि-प्रत्येक मनुष्य भिन्न २ आशय वाला है। यहाँ मनुष्य पद उपलक्षण है। इससे समस्त प्राणियों का ग्रहण होता है। मनुष्य मननशील है अतएव उसका मुख्यतः सूत्र में ग्रहण किया गया है। जो मुनि प्राणियों के विभिन्न आशयों को समझता है वह कदापि विषय कषाय और प्रमाद का सेवन नहीं करता है। जिस व्यक्ति को यह सच्ची प्रतीति हो जाती है कि जीव अपने किए हुए शुभ या अशुभ कर्मों के फल का भोक्ता है, शुभकर्मों का फल शुभ होता है, अशुभकर्मों का फल अशुभ होता है; वह अशुभकर्म करते हुए डरता है। जिसे कर्म के अविचल कायदे की प्रतीति नहीं होती वही व्यक्ति दूसरों को पीड़ा पहुँचाता है, असत्य भाषण करता है, चोरी करता है और कुशील एवं परिग्रह में फँसता है। ये कुकर्म करके वह समझता है कि मैंने दूसरे का बुरा किया और अपना भला किया लेकिन यह मात्र अपने विकृत मन को झूठा संतोष देना है। वस्तुतः कर्म के अखण्ड नियमानुसार जो हिंसा करता है वह स्वयं हिंसित (दण्डित) होता है, जो ठगता है वह स्वयं ठगा जाता है, जो अन्य को भोगता है वह स्वयं भुक्त होता है। ऐसा समझने वाला साधक हिंसा, मृषावाद, स्तेय, अब्रह्मचर्य एवं परिग्रहादि दोषों से मुक्त रहता है और संयम की शुद्ध आराधना करता है।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

संयम की आराधना करते हुए यदि परीषह और उपसर्ग आवें तो साधक सम्यक् प्रकार से उन्हें सहन करे। तनिक भी ग्लानि का अनुभव न करे। सच्चे संयमी को परीषह और उपसर्ग कष्टरूप नहीं प्रतीत होते हैं। संयमी अपनी दृष्टि ऐसी बना लेता है कि उसे परीषह और उपसर्ग बाधक नहीं लगते वरन् साधक लगते हैं। सामान्य प्राणी जिसे दुख समझता है उसे ज्ञानी-संयमी सुख मानता है और सामान्य दुनिया जिसे सुख समझती है उसे वह दुखरूप मानता है। संसारी प्राणी विषयों और धन को सुख मानता है और योगी साधक इन्हें दुख मानकर ठुकराता है। संयमी परीषहों को आत्मबल की कसौटी समझता है और बड़ी शान्ति के साथ उन्हें सहन करता है। वह संसार के प्राणियों के दुखों का विचार करता है। वह भ्रमण का चिन्तन करता है और सोचता है कि नरकादिस्थानों की बात छोड़कर यदि मनुष्य लोक को ही देखें तो मालूम हो जाता है कि मनुष्य कैसे २ और कितने दुखों को सहन करते हैं। वह संसार की और पुद्गलों की असारता का चिन्तन करता है और अपने दुखों की उनके दुखों से तुलना करता है। उसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि मुझे होने वाले दुखों की अपेक्षा संसारी प्राणियों के दुख बहुत अधिक हैं। वह अपने दुखों को व्याकुलतारहित होकर शान्त मन से सहन करता है मन में कदापि ग्लानि नहीं लाता। वही सच्चा चारित्र सम्पन्न मुनि है।

जे असत्ता पावेहिं कम्मेहिं उदाहु ते आयंका फुसंति, इति उदाहु धीरे ते फासे पुट्ठो अहियासइ, से पुव्विंपेयं पच्छापेयं भेउरधम्मं, विद्धंसणधम्ममधुवं अणिइयं असासयं चयावचइयं विप्परिणामधम्मं पासह एयं रूवसंधिं समुप्पेहमाणस्स इक्कायणरयस्स इह विप्पमुक्कस्स नत्थि मग्गे विरयस्स त्ति बेमि।

संस्कृतच्छाया—ये असक्ता पापेषु कर्मसु कदाचित् तान् आतङ्काः स्पृशन्ति इत्युदाहृतवान् धीरः तान् स्पर्शान् स्पृष्टः अध्यासयेत्—स (एवं भावयेत्) पूर्वमपि एतद् (दुःखं मया सोढव्यं) पश्चादप्येतद्, भिदुरधर्म, विध्वंसनधर्ममध्रुवमनित्यमशाश्वतं चयापचयिकं विपरिणामधर्मं पश्यतैनं रूपसंधिं, समुत्प्रेक्षमाणस्यैकायतनरतस्य इह विप्रमुक्तस्य नास्ति मार्गो विरतस्येति ब्रवीमि।

शब्दार्थ—जे=जो। पावेहिं कम्मेहिं=पापकर्मों में। असत्ता=आसक्त नहीं हैं। उदाहु=कदाचित्। ते=उनको। आयंका=रोग। फुसंति=स्पर्श करें तो। पुट्ठो=रोगों से स्पृष्ट होने पर। ते=उन। फासे=दुखों को। अहियासइ=समभाव से सहन करे। इति=इस प्रकार से। धीरे=धीर वीर तीर्थङ्करों ने। उदाहु=कहा है। से=वह ऐसा विचारे कि। पुव्विंपेयं=यह दुख पहिले भी मुझे ही सहन करना है। पच्छापेयं=बाद में भी मुझे ही सहन करना है। भिउरधम्मं=यह औदारिक शरीर भिदने वाला है। विद्धंसणधम्मं=विध्वंसन स्वभाव वाला है। अधुवं=अध्रुव-नियमरहित है। अणिइयं=अनित्य-परिवर्त्तनवाला। असासयं=अशाश्वत-उस उस रूप से नहीं टिकने वाला। चयावचइयं=बढ़ने घटने वाला। विप्परिणामधम्मं=नाशवान् है। एयं=इस। रूवसंधिं=देह के स्वरूप को और अवसर को। पासह=देखो-विचारो। समुप्पेहमाणस्स=इस प्रकार

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

देह स्वरूप को देखने वाले। इक्कायपण्णरयस्स=आत्मा के गुणों में रमण करने वाले। इह विप्पमुक्कस्स=शरीरादि में निरासक्त। विरयस्स=त्यागी साधक को। मग्गे नत्थि=संसार में परिभ्रमण का मार्ग नहीं रहता।

भावार्थ—जो साधक पापकर्म में प्रवृत्त नहीं है तो भी कदाचित् पूर्वकर्मों के उदय से कोई व्याधि या उपाधि आवे तो उसे शान्ति के साथ सहन करे ऐसा धीर-वीर तीर्थंकर देवों ने फरमाया है। साथ ही ऐसा विचार करना चाहिए कि यह मेरे कर्मों का उदय है अतएव आगे या पीछे मुझे यह दुख सहन करना ही है। यह औदारिक शरीर आगे या पीछे अवश्य छिन्न-भिन्न होने वाला है, विध्वंसन स्वभाव वाला है, अध्रुव, अनित्य, अशाश्वत, बढ़ने-घटने वाला और विनश्वर है। हे साधको! इस शरीर के स्वरूप का और प्राप्त सुअवसर का पुनः पुनः विचार करो। जो साधक देह के स्वरूप का द्रष्टा और अवसर का विचारक है, जो आत्मा के गुणों में रमण करने वाला है, जो शरीरादि में निरासक्त और त्यागी है उसके लिए संसार में भटकने का मार्ग नहीं है।

विवेचन—पूर्व के सूत्र में संयम के मार्ग में आने वाले कष्टों को समभाव से सहन करने का कहा गया है। इसी बात को इस सूत्र में विशेष स्पष्टरूप से कहा गया है। जो साधक कामभोग से सर्वथा अलिप्त हैं और तृण तथा मणि में जिसका समभाव है एवं जो पापकर्मों में रत नहीं है ऐसे साधकों को भी पूर्वकृत अशुभ कर्मों का उदय होने से रोग पीड़ित करते हैं। उन्हें भी जीवन का अन्त करने वाली शूलादि व्याधियाँ सताती हैं। ऐसे प्रसंगों पर भी साधकों को उन व्याधियों का समभाव से वेदन करना चाहिए ऐसा तीर्थङ्कर देवों का फरमान है। ऐसे प्रसंगों पर साधकों को यह विचारना चाहिए कि की कर्मों की शृङ्खला अविच्छिन्न रूप से चलती आती है। संसारी जीवों के लिए यह शृङ्खला त्रिकालाबाधित है। अर्थात् जब तक मोक्ष न प्राप्त हो वहाँ तक भूत, वर्त्तमान और भावी जन्मों में कर्म की शृङ्खला बराबर बनी रहती है। पुनर्जन्मों के कारण इस कर्मशृङ्खला पर आवरण पड़ जाता है इसलिए पिछले कर्मों का इस जीव को भान नहीं होता और जब वे कर्म अपना परिणाम बताते हैं तब यह प्राणी एकदम चौंक पड़ता है एवं निराश हो जाता है। परन्तु जिस व्यक्ति को कर्म के अखण्ड नियमों का भान होता है वह आकस्मिक रोग एवं संकटों से नहीं चौंकता है। वह इन्हें अपने ही कर्मों का फल समझता है और समभाव से वेदन करता है।

इस सूत्र में सूत्रकार ने इस आशंका का समाधान किया है कि जीव इस जन्म में धर्म का आचरण करते हैं और धर्म सुख का कारण है ऐसा भी कहा जाता है लेकिन फिर भी धर्मात्मा संसार में दुखी देखे जाते हैं और जो धर्म-कर्म में नहीं समझते हैं और पाप अनुष्ठान करते हैं वे सुखी देखे जाते हैं। इसलिए यह कैसे माना जाय कि धर्म सुख का और पाप दुख का कारण है? सूत्रकार ने इस आशंका का यों समाधान किया है कि धर्म, सुख का और पाप दुख का कारण है इसमें कोई अपवाद नहीं हो सकता। यह नियम स्वयंसिद्ध है। जो ऊपर आशंका की गई है वह पूर्वकर्म के स्वरूप को न समझने के कारण ही की गई है। अगर पूर्वकृत कर्म के स्वरूप को समझ लिया जाय तो यह शंका नहीं रहती। प्राणी इस वर्त्तमान भव में धर्माचरण करता है इसका परिणाम शुभ ही होता है। हो सकता है कि यह शुभ परिणाम इस भव में न दिखाई दे और आगे के भव में फल हो। इसी तरह वह धर्मात्मा व्यक्ति इस भव में दुखी दिखाई देता है यह उसके पूर्वजन्मों में किए हुए अशुभकर्मों का फल है।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

जो पापी अभी सुखी दिखाई देते हैं वह उनके पूर्वजन्म के सुकृत का परिणाम है। इस भव में किए जाने वाले अशुभकर्मों का फल इस भव में भी मिल सकता है और आगे के भवों में भी मिल सकता है। यह तो निश्चित और स्वयंसिद्ध सिद्धान्त है कि क्रिया का फल कर्त्ता को आगे या पीछे, इच्छा से या अनिच्छा से अवश्य ही प्राप्त होता है। कोई भी क्रिया कदापि निष्फल नहीं होती। क्रिया का फल चाहे साक्षात् मिले चाहे परोक्ष में मिले, फल अवश्य ही मिलता है। इसलिए प्रत्येक क्रिया को करते हुए उसके शुभाशुभ परिणाम को अवश्य विचार लेना चाहिए। कई प्राणियों को अपनी वर्त्तमानकाल की क्रियाओं की अच्छाई-बुराई का भी भान नहीं होता ऐसे प्राणियों को भूत और भविष्य के जन्मों की क्रियाओं के फल का भान न हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। प्राणी को भान हो अथवा न हो कर्म का सिद्धान्त तो अपना कार्य व्यवस्थितरूप से चलाता रहता है। वह सामान्य प्राणी से लगाकर देवाधिदेव तीर्थङ्कर को भी पूर्वकृत कर्म का फल देने में नहीं चूकता। जिन्हें चार घनघाति कर्मों के क्षय होने से केवलज्ञान उत्पन्न हो गया है उनके भी असाता वेदनीय का उदय सम्भव है। जैनधर्म में कर्म की मीमांसा अत्यन्त सूक्ष्म रूप से की गई है। आत्मा को अपने सहज स्वभाव से विकृति की ओर खींचने वाला कर्म ही है। अतएव कर्म की व्याख्या, कर्म का बन्ध और कर्म का मोक्ष इन सभी का इस दर्शन में बड़ी सूक्ष्मता और गहनता से विवेचन किया गया है। कर्मों का बन्ध चार तरह का माना गया है—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध।

प्रकृतिबंध—जैसे किसी मोदक का स्वभाव पित्तनाशक, किसी का वातनाशक, किसी का कफनाशक होता है उसी तरह किसी कर्म का स्वभाव आत्मा के ज्ञान गुण को, किसी का दर्शनगुण को आवरण करने का होता है। कर्म के इस विभिन्न स्वभाव को प्रकृतिबंध कहते हैं। इसके मूल भेद आठ हैं—(१) ज्ञानावरणीय (२) दर्शनावरणीय (३) वेदनीय (४) मोहनीय (५) आयुष्य (६) नाम (७) गोत्र (८) अन्तराय। इनकी १४८ या १५८ उत्तर प्रकृतियां हैं।

स्थितिबंध—जैसे कोई मोदक १५ दिन तक टिकता है, कोई मास भर तक टिक सकता है और कोई वर्ष भर भी रह सकता है। इसी तरह कोई कर्म आत्मा के साथ अन्तर्मुहूर्त तक कर्मरूप में रहता है और कोई कर्म सत्तर क्रोड़ाक्रोडी सागरोपम तक कर्म पर्याय में बना रहता है। काल की इस मर्यादा को स्थितिबंध कहते हैं।

अनुभागबन्ध—जैसे कोई मोदक अधिक मीठा होता है, कोई थोड़ा मीठा होता है, कोई तिक्त होता है कोई कटु होता है इसी प्रकार ग्रहण किए हुए कर्मों में से कोई कर्म तीव्र फल देता है, कोई मंद फल देता है, किसी का फल तीव्रतर और तीव्रतम होता है जब कि किसी का मन्दतर और मन्दतम होता है। शुभकर्मों का शुभरस होता है और अशुभकर्मों का अशुभरस होता है। कर्मरस की तीव्रता और मंदता को अनुभागबन्ध कहते हैं।

प्रदेशबन्ध—जैसे कोई मोदक एक छटांक का होता है, कोई आधा पाव का होता है, कोई पाव भर का होता है उसी तरह कोई कर्म-दल कम परिमाण वाला होता है कोई विशेष परिमाण वाला होता है। इस तरह कर्मदल के प्रदेशों की न्यूनाधिकता को प्रदेशबन्ध कहते हैं। प्रदेशबन्ध के चार भेद हैं। स्पृष्ट, बद्ध, निधत्त और निकाचित। जो कर्मप्रदेश आत्मा को स्पर्शमात्र करते हैं वे स्पृष्ट कहलाते हैं। जिस प्रकार कई सूइयाँ एक थाली में रख दी जाय तो उनमें जैसा परस्पर सम्बन्ध होता है वैसा आत्मा और कर्मप्रदेश का स्पर्श होना स्पृष्ट कर्मबन्ध कहलाता है। डोरे से बँधी-हुई सूइयों के सम्बन्ध के समान बद्ध

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

कर्मबन्ध है। कर्म-पुद्गलों को इकट्ठा करके धारण करना निधत्त कर्मबन्ध है। बिखरी हुई सूइयों को एक के ऊपर दूसरी आदि के क्रम से जमा देना निधत्त करना कहलाता है। निधत्त अवस्था में कर्मों में दो करण हो सकते हैं—उद्वर्तना और अपवर्तना करण। निधत्त अवस्था में कर्मों में परिवर्तन हो सकता है। कमस्थिति वाले और मंद रसवाले अधिकस्थिति वाले और तीव्ररस वाले, इसी तरह अधिकस्थिति वाले कमस्थिति वाले और तीव्ररस वाले मंदरस वाले बन सकते हैं। निधत्तकर्मों को ऐसा मजबूत कर देना कि जिससे वे एक दूसरे से अलग न हो सकें और जिनमें कोई भी करण फेरफार न कर सके इसे निकाचित करना कहते हैं। उदाहरणार्थ एकत्रित सूइयों को अग्नि में तपाकर हथौड़े से ठोक दिया जाय और आपस में इस प्रकार मिला दिया जाय कि वे एक दूसरे से अलग न हो सके। इसी तरह निकाचित कर्मों में किसी प्रकार का संक्रमण नहीं होता है। वे जिस रूप में बाँधे हैं उसी रूप में भोगने पड़ते हैं। इनमें अपवर्तना और उद्वर्तना करण नहीं हो सकता है। एकरोग साध्य होता है और एकरोग असाध्य होता है। असाध्य रोग में औषध का प्रभाव नहीं पड़ता इसी प्रकार निधत्त अवस्था तक तो उपाय हो सकता है परन्तु निकाचित अवस्था में कोई उपाय कारगर नहीं होता। निकाचित कर्म तो जिस प्रकार बांधे हैं उसी रूप में भोगने पड़ते हैं।

इस प्रकार कर्म के सिद्धान्त को समझ कर रोग आदि संकटों के समय शान्ति से काम लेना चाहिए। अव्याकुल चित्त से असाता वेदनीय के विपाक रूप दुख को सहन करना चाहिए। यह विचारना भी चाहिए कि कर्मों का फल आगे या पीछे मुझे अवश्य भोगना पड़ेगा ही। भोगे बिना छुटकारा नहीं है। अच्छा हुआ जो मेरा कर्ज यहीं चुक गया। इस प्रकार सनत्कुमार चक्रवर्त्ती के दृष्टान्त को लक्ष्य में रखकर देह की असारता का चिन्तन करना चाहिए।

सनत्कुमार चक्रवर्त्ती अपनी सुन्दरता के लिए बड़े विख्यात थे। स्वर्ग में भी उनकी सुन्दरता की प्रशंसा हुई। स्वर्ग से दो देवता उनको देखने के लिए आये। उन्होंने सनत्कुमार को स्नान करते समय देखा और उनके स्वरूप की सुन्दरता को देखकर आश्चर्यचकित हो गये। वे सनत्कुमार के रूप की प्रशंसा करने लगे। अपनी प्रशंसा सुनकर सनत्कुमार कहने लगे कि आप अभी क्या मेरा रूप देखते हैं, जब मैं वस्त्राभूषणों से अलंकृत होकर राजसिंहासन पर बैठूं उस समय मेरा स्वरूप देखिए। सनत्कुमार के आग्रह से वे देवता वहाँ ठहरे। यथासमय सनत्कुमार वस्त्रालंकारों से सुसज्जित होकर एवं पुरुषोचित शृङ्गारों से सुशोभित होकर सिंहासन पर बैठे। देवताओं को बुलाया गया। सनत्कुमार चक्रवर्त्ती का वह स्वरूप देखकर देवों ने सिर हिला दिया। चक्रवर्त्ती ने बड़े आश्चर्य से पूछा कि मेरे समान सुन्दर और कोई नहीं हैं। आपने भी स्नान करते हुए मुझे देखकर मेरे स्वरूप की तारीफ की और जब मैं उस समय से अधिक शृङ्गारों से सुसज्जित हूँ तब क्या कारण है कि आपने मुझे देखकर तिरस्कार सूचक सिर हिला दिया? क्या मेरा यह स्वरूप सुन्दर नहीं है? चक्रवर्त्ती के प्रश्न के उत्तर में देव ने उत्तर दिया कि राजन्! हमने पहले जो आपका स्वरूप देखा था वह कुछ और ही था और यह स्वरूप अब कुछ और ही है। पहिले का स्वरूप सुन्दर और स्वस्थ था इसलिए हमने भी प्रशंसा की थी लेकिन राजन्! अब यह रूप वैसा नहीं है। यद्यपि उस समय से इस समय आप विशेष शृङ्गारों से सज्जित हैं तदपि आपका स्वास्थ्य अब वैसा नहीं रहा। आपके शरीर में रोग के पुद्गल एकत्रित हो गये हैं। इन्होंने आपके सुन्दर शरीर की स्वस्थता का अपहरण कर लिया है, यही कारण है कि हमने आपके बाहर से सुन्दर एवं सुसज्जित शरीर को देखकर भी सिर हिला दिया।

देवता के इस उत्तर को सुनकर चक्रवर्त्ती आश्चर्य में डूब गये। सचमुच उन्हें मालूम होने लगा कि उनके शरीर में रोग उत्पन्न हो गए हैं। वे सोचने लगे कि अहो इस सुन्दर शरीर का यकायक यह भयंकर

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

परिणाम हो सकता है ! थोड़े ही क्षण पूर्व जो शरीर स्वस्थ एवं सुन्दर था तथा जिस पर मैं अभिमान करता था वही शरीर अब रोगों का घर हो गया है, यह कैसा आश्चर्य ! क्या यह इतना विनश्वर और इतना परिवर्तनशील है ? क्या यह इतना असार है ? विचारधारा में डूबते हुए उन्हें देह की असारता प्रतीत हुई। देह उन्हें रोगों का पिण्ड प्रतीत हुआ। अशुचिमय पदार्थों से भरे हुए देह पर उन्हें विरक्ति पैदा हुई और उन्होंने संयम स्वीकार करना चाहा। असार शरीर से संयम रूपी सार को पाना चाहा। अन्ततो गत्वा उन्होंने संयम अङ्गीकार किया और असार से सार पाया।

सनत्कुमार चक्रवर्त्ती के इस उदाहरण को लक्ष्य में रख कर साधकों को अपने देह के ममत्व को दूर करना चाहिए। जब तक देह का ममत्व दूर नहीं होता वहाँ तक आत्म-साधना नहीं हो सकती। अतएव सूत्रकार ने देह-ममता का त्याग करने का कहा है। आत्मा और देह का ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध है कि कई अज्ञानी जीव तो देह को ही आत्मा समझने की भूल कर बैठते हैं। जिन्हें देह और आत्मा की भिन्नता का भान होता है वे भी देह के ममत्व में फँस जाते हैं। यह ममत्व उन्हें धर्म की निर्मल आराधना नहीं करने देता।

जब तक अन्तःकरण में शरीर के प्रति ममत्वभाव विद्यमान रहता है तब तक विषयों का पूर्णरूप से त्याग नहीं किया जा सकता। शरीर पर घोर ममता-भाव होने से मनुष्य ऐसा व्यवहार करता है कि जिससे शरीर का पोषण होता हो। इसी से वह साताशील हो जाता है। तपश्चर्या आदि से विमुख हो जाता है और भोगोपभोग भोगने में मस्त हो जाता है। अतः आत्महितैषी प्राणियों को अपने शरीर से ममत्व हटाने का प्रयत्न करना चाहिए। शरीर-सम्बन्धी ममता हटाने का सहज उपाय उसके वास्तविक स्वरूप का चिन्तन करना है। शरीर इतना बीभत्स और मलिन है कि उसका विचार करने से विरक्ति अवश्य होती है। योगीजन शरीर की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश का चिन्तन करते हैं और अशुचित्व भावना के चिन्तन द्वारा शरीर के ममत्व का नाश करते हैं।

शरीर की उत्पत्ति रज और वीर्यरूप अशुचि पदार्थों के संयोग से होती है। शरीर को विविध प्रकार के अत्यन्त दूषित घृणाजनक मल का थैला कहा जा सकता है। ऊपर से मढ़े हुए चमड़े के चद्दर को अगर दूर कर दिया जाय तो शरीर का जो रूप दिखाई देने लगेगा वह कैसा बीभत्स और घृणाजनक है ! यह इसका असली स्वरूप है !! रक्त, मांस, हड्डी, मल-मूत्र का पिण्ड यह शरीर असार है। इसमें सार-तत्त्व नहीं है। अनेक खिड़कियों से भीतर का मल बाहर निकल कर मनुष्यों को भीतर के शरीर का स्वरूप दिखाता रहता है। फिर भी मोहान्ध मनुष्य उसे नहीं देखता। शरीर की अपावनता का इससे अधिक प्रमाण और क्या चाहिए कि इसमें जाकर अन्य पावन पदार्थ भी अपवित्र हो जाते हैं। षट्रस व्यंजन शरीर में जाकर क्या बन जाते हैं ? सुगन्धित आहार की शरीर में जाने पर क्या दशा हो जाती है ? इस शरीर के संयोगमात्र से प्रत्येक वस्तु अपवित्र हो जाती है। ऐसे अपवित्र देह पर मनुष्य ममताभाव रखता है। इसे कष्ट न होने पाए इस विचार से व्रत, उपवास आदि शुभ क्रियाएँ भी नहीं करता। इस असार शरीर पर वह सारभूत आत्महित एवं धर्म को न्यौछावर कर देता है यह ज्ञान का दिवाला है ! अज्ञान का अतिरेक है ! मोह की विडम्बना है ! घोर प्रमाद है !!

जिस तरह कमल जल में रहकर भी जल से लिप्त नहीं होता उसी तरह साधक भी शरीर का संयमार्थ पालन-पोषण करता हुआ भी उस पर ममत्व नहीं रखता। वह अध्यात्महित के लिए शरीर को एक साधनमात्र समझ कर उसका निर्वाह करता है। वह शरीर के लिए आत्महित को नहीं त्यागता।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

यह औदारिक देह अशुचि एवं व्याधि का पिण्ड होने के साथ ही साथ भिदुर, विध्वंसनशील, अध्रुव, अनित्य, अशाश्वत, चयापचय वाला और नाशवान् है। यह औदारिक नर-पिण्ड चाहे जिस तरह पुष्ट बनाया गया हो, विविध औषधि और रसायनों के द्वारा सुदृढ़ बनाया गया हो तदपि वह मिट्टी के कच्चे घड़े की तरह छिन्न-भिन्न होने वाला है अतएव भिदुरधर्म वाला है। इसके हाथ-पांव आदि अवयव विध्वंस को प्राप्त होते हैं अतएव विध्वंसनशील है। इस शरीर का कोई नियम नहीं है कि यह कब नष्ट होगा अतएव यह अध्रुव है। इसकी उत्पत्ति और विनाश होता है अतएव यह अनित्य है। यह शरीर एक रूप में कायम नहीं रहता है इसलिए अशाश्वत है। इस शरीर की वृद्धि और हानि होती है इसलिए यह चय-अपचय स्वभाव वाला है। इस शरीर की विविध अवस्थाएँ होती हैं अतएव यह विपरिणाम (विनाश) स्वभाव वाला है। ऐसे क्षणभङ्गुर शरीर पर कैसा ममत्व ! कैसी मूर्छा ! कैसा अहंकार !!

शरीर के वास्तविक-स्वरूप के चिन्तन द्वारा इस पर से आसक्ति हटानी चाहिए। सूत्रकार ने इस आसक्ति को हटाने के लिए ही यह उपदेश फरमाया है। शरीर सम्बन्धी ममता का परित्याग कर देने पर अन्य पदार्थों की ममता स्वतः नष्ट हो जाती है। शरीर की ममता ही अन्य पदार्थों की ममता का मूल है। मूल के उखड़ जाने पर वृक्ष स्थिर नहीं रह सकता। शरीर जड़ है, मैं चेतन हूँ; शरीर विनश्वर है, मैं अविनाशी हूँ; शरीर रूपी है, मैं अरूपी हूँ; शरीर मलिन है, मैं निर्मल हूँ इत्यादि विवेक-विचार से आत्मा और देह की भिन्नता का चिन्तन करना चाहिए। शारीरिक ममता के परित्याग का यह सुन्दर उपाय है। इस प्रकार रूप का और मिले हुए सुअवसर का विचार करने के लिए सूत्रकार फरमाते हैं। यह देह तो असार है और इससे सार निकालने का चारित्ररूप सुअवसर प्राप्त हुआ है अतः असार से सार प्राप्त करने में प्रमाद नहीं करना चाहिए।

जो साधक शरीर के स्वरूप का और प्राप्त सुअवसर का विचार करके आत्मा के ज्ञान और सुख रूप गुणों में रमण करता है वह निरासक्त त्यागी अनन्त-संसार में परिभ्रमण नहीं करता है, वह जन्म-मरण से मुक्त हो जाता है, वह मृत्युञ्जय बन जाता है। यह कह कर सूत्रकार ने यह बताया है कि देह स्वयं नाशवान् है अतएव देह से मिलने वाला सुख भी क्षणिक है। महत्त्व की बात यह दिखाई गई है कि सुख देना यह देह का विषय नहीं है। विषयासक्ति के कारण देह द्वारा जो सुख का अनुभव होता है वह सुख नहीं; सुखाभास है। इन्द्रियजन्य एवं देहजन्य सुखाभास को सुख मानना मूढ़ता है। ज्ञान, विज्ञान, एवं सुख देना यह आत्मा का धर्म है। अतएव आत्मा की ओर प्रवृत्त होना ही सच्चा सुख का मार्ग है।

आवंती केयावंती लोगंसि परिग्गहावंती, से अप्पं वा बहुं वा अणुं वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा एएसु चेव परिग्गहावंती एयमेव एगेसिं महब्भयं भवइ, लोगवित्तं च णं उवेहाए, एए संगे अवियाणओ। से सुपडिबद्धं सूवणीयं ति नच्चा पुरिसा परमचक्खू विपरिक्कमा, एएसु चेव बंभचेरं ति बेमि।

संस्कृतच्छाया—यावन्तः केचन लोके परिग्रहवन्तः तदल्पं वा बहु वा, अणु वा स्थूलं वा चित्तवद्वा अचित्तवद्वा परिग्रहवन्तः एतेषु चेव, एतदेवैकेषां महद्भयं भवति, लोकवित्तं (वृत्तं वा) चोत्प्रेक्ष्य,

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

एतान् संगानविजानतः तस्य सुप्रतिबद्धं सूपनीतामिति ज्ञात्वा पुरुष ! परमचक्षुः विपराक्रमस्व, एतेषु चैव ब्रह्मचर्यमिति ब्रवीमि ।

शब्दार्थ—आवंती=जितने । केयावंती=कितनेक । लोगंसि=लोक में । परिग्गहावंती=परिग्रह रखने वाले हैं । से=वह परिग्रह चाहे । अप्पं=अल्प हो । वा=अथवा । बहुं वा=बहुत हो । अणुं वा=सूक्ष्म हो अथवा । थूलं वा=स्थूल हो । चित्तमंतं वा=सचित्त हो अथवा । अचित्तमंतं वा=अचित्त हो । परिग्गहावंती=वे परिग्रहधारी । एएसु चेव=गृहस्थों के समान ही हैं । एयमेव=यह परिग्रह । एगेसिं=किन्हीं प्राणियों के लिए । महब्भयं=महान् भय का कारण । भवइ=होता है । लोगवित्तं च णं=आहारादि लोक संज्ञा को । उवेहाए=भयरूप जानकर छोड़ना चाहिए । एए=इन । संगे=द्रव्यभाव परिग्रह को । अवियाणओ=नहीं करने वाले । से=उस साधक का । सुपडिबद्धं=चारित्र सुदृढ़ है । सूवणीयं=ज्ञानादिगुण अच्छी तरह प्राप्त हुए हैं । ति=ऐसा । नच्चा=जानकर । पुरिसा=हे पुरुषो । परमचक्खू=दिव्य दृष्टि रखकर । विपरिक्कमा=संयम में पराक्रम करो । एएसु चेव=अपरिग्रही व दिव्यदृष्टि वाले साधकों को ही । बंभचेरं=ब्रह्मचर्य—आत्मा की प्राप्ति होती है । त्ति बेमि=ऐसा मैं कहता हूँ ।

भावार्थ—इस संसार में साधुवेश धारण करके भी कितनेक व्यक्ति थोड़ा या ज्यादा, छोटा या मोटा, सचित्त या अचित्त परिग्रह रखते हैं । वे साधु कहलाने पर भी गृहस्थों के समान ही हैं । यह परिग्रह कई जीवों को अधमगति में दुखरूप महा भय का कारण बनता है अथवा आहार, भय, मैथुन और परिग्रह रूप लोकसंज्ञा को भी भयरूप जानकर उससे दूर रहना चाहिए । जो साधक परिग्रह से व लोकसंज्ञा से दूर हैं उनकी साधना सच्ची है—उनको ज्ञानादिगुणों की प्राप्ति होती है । यह जानकर दिव्य दृष्टि धारण करो और वीर के मार्ग—संयम में पराक्रम करो । क्योंकि अपरिग्रही दिव्यदृष्टि वाले साधक को ही ब्रह्म—आत्मा की प्राप्ति हो सकती है ।

विवेचन—पहिले के सूत्र में कहा गया है कि सुख देने का स्वभाव आत्मा का है; बाह्य पदार्थों में सुख देने की शक्ति नहीं है । ऐसा होने पर भी मूढ़ प्राणी बाह्य वस्तुओं में सुख की मिथ्या कल्पना करके परिग्रह रखते हैं । यह परिग्रह महा भयरूप है यह प्रस्तुत सूत्र में कहा गया है । परिग्रह आत्मा को बांधने वाला एक भयंकर बन्धन है । इस बन्धन से बँधा हुआ प्राणी नरकादि अधम गतियों में जाता है और वहाँ भयंकर से भयंकर यातनाओं को भोगता है अतएव यह महा भयरूप कहा जाता है । ऐसा होते हुए भी संसारी प्राणियों के मोह की कैसी विडम्बना है कि वे भयरूप वस्तु को ही अज्ञान से शरणरूप मान बैठे हैं । मोह का मारा हुआ प्राणी दिन-रात धन जुटाने में लगा रहता है । येन केन प्रकारेण अधिक से अधिक द्रव्य-सञ्चय करना ही उसका ध्येय हो जाता है । वह धर्म-कर्म को खूँटी पर रख देता है और धनादि परिग्रह के लिए हिंसा, झूठ, चोरी एवं कपट जाल करता है । भयंकर से भयंकर कर्म करता हुआ भी नहीं सँकुचाता है । युद्ध लड़ना, डाका डालना, सट्टा एवं जूआ खेलना इसके लिए मामूली काम है ।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

वह बड़े-बड़े साहस इसी के लिए करता है। देशविदेशों में भ्रमण करता है, समुद्र यात्रा करता है, पर्वतों को लाँघता है एवं प्राण हथेली में लेकर भी धनादि के लिए प्रयत्न करता है। वह सदा परिग्रह के जाल में पड़ा हुआ आकुल-व्याकुल रहता है। यद्यपि लाख प्रयत्नों के बाद भी उसे उतना ही मिलता है जितना लाभान्तराय का क्षयोपशम होता है तदपि वह संतोष एवं साता से लाखों कोस दूर रहता है। आशाओं का कहीं पर अन्त नहीं होता। प्राप्त वस्तुओं में उसे संतोष नहीं मिलता। पर इन सब पदार्थों का अन्त में क्या परिणाम है? ये पदार्थ क्या अन्तकाल तक सुख देंगे? क्या कोई द्विपद—स्त्री, पुत्र, मित्र, दास-दासी इत्यादि किसी के साथ अन्त समय में जाते हैं? क्या हाथी, घोड़े, गाय, बैल आदि चौपद साथ जाते हैं? क्या आजीवन उपार्जित धनराशि में से कुछ भाग उसका साथ देता है? कुछ भी नहीं। सभी पदार्थ यहीं धरे रह जाते हैं। आत्मा के साथ न कोई आया है और न कोई जायगा। यह जीव इस बात को जानता है फिर भी मोह की प्रबलता के कारण उसे प्रतीति नहीं होती। मोह की मदिरा सचमुच अद्भुत है। इसके प्रभाव से जीव सत् असत् का भान अनादिकाल से भूला हुआ है। यह तो हुई सामान्य पुरुषों की बात। लेकिन कई त्यागी नाम धराने वाले भी परिग्रह के बन्धन से मुक्त नहीं हैं। सूत्रकार ने स्पष्ट फरमाया है कि जहाँ परिग्रह है वहाँ साधुता नहीं है।

परिग्रह चाहे अल्प—कोड़ी का भी हो, चाहे धन-धान्य हिरण्यादि का हो, चाहे वह अणु—सूक्ष्म हो अथवा स्थूल हो, (अणु दो प्रकार से हो सकता है—मूल्य से और प्रमाण से। मूल्य से अणु, तृण, काष्ठादि और प्रमाण से अणु वज्रमणि आदि। स्थूल भी दो प्रकार का—मूल्य से और प्रमाण से। मूल्य से और प्रमाण से उभयतः हाथी घोड़े आदि) पुत्र, स्त्री, दास दासी आदि सचित्त हो अथवा आभूषण मकान आदि हो-सभी तरह का—परिग्रह महाभय का कारण है। परिग्रह से नरकादि गति होती है और वहाँ दुख होता है, वह भयरूप है अतएव परिग्रह को कार्यकारण के अभेदोपचार से महाभय रूप कहा गया है।

यहाँ यह आशंका की जा सकती है कि परिग्रह मात्र भयरूप है तो साधु मुनिराज भी संयम के उपकरण रखते हैं, क्या वे भी परिग्रही हैं? उनका संयम के उपकरण रखना भी भयरूप है? अगर उनका उपकरण रखना भी परिग्रह है तो वे अपरिग्रही कैसे कहे जाते है? इसका समाधान यह है कि परिग्रह का अर्थ पदार्थ रखना नहीं लेकिन पदार्थों पर मूर्छा-ममता रखना है। शास्त्रकार ने मूर्छा को परिग्रह माना है। कहा भी है—"मुच्छा परिग्गहो वुत्तो नायपुत्तेण ताइणा" अर्थात्-ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर ने मूर्छा को परिग्रह कहा है। संयमी अपने संयम के उपकरणों में मूर्छा नहीं रखता अतएव धर्मोपकरण-धर्मसहायक होने से-परिग्रह के अन्तर्गत नहीं हैं। संयमी साधक अपने शरीर में भी ममत्व नहीं करते तो उपकरणों में ममत्व कैसे कर सकते हैं? परिग्रह का सम्बन्ध पदार्थ के त्याग या पदार्थ के रखने से नहीं है परन्तु आसक्ति—मूर्छा के त्याग एवं आसक्ति पर निर्भर है। एक व्यक्ति पदार्थों के बीच में रहता हुआ भी अपनी अनासक्ति के कारण अपरिग्रही कहा जा सकता है और एक व्यक्ति बाह्य पदार्थों को छोड़े हुए है लेकिन उसके हृदय में पदार्थों के प्रति आसक्ति है तो वह परिग्रही कहा जाता है। बाह्य पदार्थों का त्याग तो अनासक्ति को विकसित करने का एक सीधा सा उपाय है। जो पदार्थ-त्याग अनासक्ति को नहीं जन्म देता वह त्याग, त्याग नहीं कहा जा सकता। कई त्यागी नामधारी साधु बाह्य पदार्थों का त्याग तो कर देते हैं लेकिन उनके हृदय में उन पदार्थों के प्रति आकर्षण बना रहता है। वह परिग्रह के अन्तर्गत है। त्यागी का वेशमात्र पहनने से त्याग नहीं हो जाता या पदार्थों के छोड़ देने मात्र से त्याग नहीं आ जाता। त्याग तो निरासक्ति और निर्ममता से होता है। इसका अर्थ यह नहीं कि वेष का और पदार्थ त्याग का कोई महत्त्व नहीं है। निरासक्ति को प्रकट करने के लिए इनकी आवश्यकता है परन्तु इनका परिणाम

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

निरासक्ति के रूप में प्रकट होना चाहिए। निरासक्ति के ध्येय के बिना जो साधक धन कुटुम्बादि का त्याग भी करता है वह एक को छोड़कर दूसरी तरह के परिग्रह में फँस जाता है। अपरिग्रह वृत्ति में ही साधुता है। जहाँ परिग्रह-वृत्ति है वहाँ गृहस्थता है। त्यागी का वेश धारण करके भी जो परिग्रही हैं वे गृहस्थतुल्य ही हैं।

परिग्रह-वृत्ति और विषय-लालसा अधमगति के कारण। साथ हैं ही आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा और परिग्रहसंज्ञा की उत्कटता (तीव्रता) महाभयरूप है। सामान्य रूप से परिग्रह के अन्दर चारों संज्ञा का अन्तर्भाव किया जा सकता है क्योंकि वे भी परिग्रहरूप ही है। तात्पर्य यह है कि परिग्रह अधमगति का एवं संसार का कारण है अतएव मुमुक्षु साधक सच्चा सुख प्राप्त करने के लिए परिग्रह से सर्वथा दूर रहे। परिग्रह-वृत्ति से निर्भयता नहीं आ सकती और ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की सार्थकता नहीं हो पाती। जो साधक परिग्रह से मुक्त है वही चारित्रवान् है वही सच्चा ज्ञानी और दर्शनी है। निष्परिग्रहत्व से ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की पूर्णता होती है अतएव वही मुनि रत्नत्रय का सम्यक् आराधक हो सकता है जो परिग्रह से मुक्त हो। सूत्रकार अपरिग्रह का फल बताते हुए फरमाते हैं कि बाह्यदृष्टि को त्याग कर दिव्यदृष्टि से अवलोकन करो और समझो कि दिव्यदृष्टिसम्पन्न-आत्माभिमुख साधक को ही ब्रह्म की प्राप्ति होती है। ब्रह्मप्राप्ति, आत्मा प्राप्ति, मुक्ति या निर्वाण जो साधक का अन्तिम ध्येय है वह इसी मार्ग से साध्य है। परिग्रह-विरति एवं दिव्य-आत्मदृष्टि वाले साधक ही ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की परिपूर्ण साधना कर सकते हैं। वे ही निर्वाण के अधिकारी हैं।

से सुयं च मे अज्झत्थयं च मे बंधपमुक्खो अज्झत्थेव, इत्थ विरए अणगारे दीहरायं तितिक्खए, पमत्ते बहिया पास, अप्पमत्तो परिव्वए, एयं मोणं सम्मं अणुवासिज्जासि त्ति बेमि।

संस्कृतच्छाया—*तच्छ्रुतं च मया अध्यात्मं च मया बन्धप्रमोक्षः अध्यात्मन्येव। अत्र विरतोऽनगारः दीर्घरात्रं तितिक्षेत, प्रमत्तान् बहिर् पश्य अप्रमत्तः परिव्रजेत्, एतद् मौनं सम्यगनुवासयेः इति ब्रवीमि।*

शब्दार्थ—से=यह। सुयं च मे=मैंने सुना है। अज्झत्थयं च मे=मैंने आत्मा में अनुभव किया है कि। बंधपमुक्खो=बन्धन से छुटकारा। अज्झत्थेव=अपनी आत्मा से ही होता है। इत्थ=इस परिग्रह से। विरए=रहित। अणगारे=अनगार-साधु। दीहरायं=यावज्जीवन परिषह एवं उपसर्गों को। तितिक्खए=सहन करे। पमत्ते=प्रमादियों को। बहिया=धर्म से विमुख। पास=देख और। अप्पमत्तो=अप्रमत्त होकर। परिव्वए=संयम में विचरण करे। एयं मोणं=इस तीर्थंकर भाषित संयमानुष्ठान का। सम्मं=भलीभांति। अणुवासिज्जासि=पालन करे। त्ति बेमि=ऐसा मैं कहता हूँ।

भावार्थ—हे प्रिय जम्बू! यह मैंने भगवान् से साक्षात् सुना है और आत्मा में अनुभव किया है कि "बन्धन से मुक्त होना" यह कार्य आत्मा से ही हो सकता है इसलिए साधक परिग्रह से मुक्त

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

होकर साधना के मार्ग में आने वाले क्षुधा आदि परिषहों एवं संकटों को समभाव से सहन करे। प्रमादी जीवों को धर्म से पराङ्मुख समझ और स्वयं अप्रमत्त होकर संयम में पराक्रम करे। तीर्थंकरभाषित इस संयमानुष्ठान का यथार्थ रीति से पालन कर ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—इसके पहिले के सूत्र में ब्रह्म—आत्मप्राप्ति की बात कही गई है। प्रकृत सूत्र में यह बताया गया है कि आत्मप्राप्ति या मोक्षप्राप्ति बाहर से आने वाली नहीं है यह तो अपने आप में से प्रकट होगी। जो साधक ब्रह्म को—आत्मा को, ईश्वर को एवं निर्वाण को बाहर ढूँढते हैं वे निराश होते हैं। सचमुच यह अवस्था आत्मा की निजी अवस्था है और यह अन्दर से ही प्रकट हो सकती है। इसके लिए बाह्यदृष्टि का त्याग और अन्तर्दृष्टि की आवश्यकता रहती है।

कस्तूरी मृग की तरह जो साधक सुख को बाहर खोजने का निरर्थक परिश्रम करता है वह सदा निराश एवं असफल ही रहेगा। जो वस्तु जहाँ नहीं है उसे वहाँ ढूंढने के लिए चाहे जितने प्रयास कर लिए जायँ वह कदापि उस स्थल पर नहीं मिल सकती। इसी तरह जो सुख आत्मा में ही भरा है, जिस सुख का उद्गम स्थान आत्मा ही है वह सुख आत्मा के अतिरिक्त अन्यत्र कहाँ मिल सकता है? कहीं नहीं। अतएव बाह्यदृष्टि को छोड़ने और दिव्य अन्तर्दृष्टि से अवलोकन करने के लिए सूत्रकार ने फरमाया है।

संसार में देखा जाता है कि कृत्रिम धर्म के ठेकेदार रिश्वत लेकर स्वर्ग और मोक्ष के परवाने देते हैं और भोले प्राणी उनके परवाने और चिट्ठियों को प्राप्त कर लेते हैं और समझते हैं कि हमें स्वर्ग और मोक्ष में जाने का अधिकार हो गया। लेकिन यह उनकी अज्ञानता है। जिन परवाने देने वालों के जीवन हिंसक एवं कलुषित हैं वे बेचारे स्वयं मोक्ष को नहीं जानते। ऐसे अज्ञानियों के परवाने से मोक्ष कैसे हो सकता है? उनके परवाने की क्या कीमत हो सकती है? एक रद्दी कागज के टुकड़े से अधिक उन परवानों का कोई महत्व नहीं। मुक्ति और स्वर्ग की चिट्ठी दे देने की शक्ति किसी अन्य में नहीं है। आप्त पुरुष, सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी पुरुष ऐसा कहते हैं कि यह मार्ग निष्कंटक है। इस मार्ग पर चल कर हमने सुख एवं शान्ति प्राप्त की है। ऐसा कह देने के बाद उस मार्ग पर चलने या न चलने का काम तो साधक के स्वयं के हाथ में है। अगर वह उनके बताये हुए मार्ग पर चलता है तो कोई शक्ति उसे नहीं रोक सकती। वह अपने पुरुषार्थ से अपना साध्य सिद्ध कर लेता है।

बन्धन से छुटकारा पाना अपने आपके प्रयत्न से ही हो सकता है यह जानकर साधक संयम में अप्रमत्त होकर पराक्रम करे। इस मार्ग में आने वाले संकटों को समभाव से सहन करे। संकटों को दुख मानना अज्ञानता है। आत्माभिमुख बन कर सतत जागृत रहना चाहिए। जागृति—उपयोगमय जीवन ही धर्म है। उपयोग से शून्य जीवन बाह्य धार्मिक क्रियाओं के करने पर भी पापमय है। यह जानकर तीर्थंकर भाषित संयम के अनुष्ठान में साधक को सावधान रहना चाहिए।

इति द्वितीयोद्देशकः

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

लोकसार नाम पञ्चम अध्ययन

—तृतीयोद्देशकः—

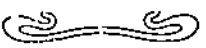

गत उद्देशक में चरित्रगठन एवं उसके उपायों का दिग्दर्शन कराया गया है। निष्परिग्रह-वृत्ति का वर्णन करते हुए यह कहा गया है कि "मूर्च्छा ही परिग्रह है"। कोई मूढ़ व्यक्ति इस कथन के गूढाशय को न समझ कर यह समझने की भूल न कर बैठे कि चाहे जितने पदार्थों का उपभोग करने की छूट है केवल उनमें मूर्छा नहीं होनी चाहिए। इसलिए इस उद्देशक में इस भ्रम का निवारण किया गया है और पदार्थ-त्याग की आवश्यकता बतायी गई है:—

आवंती केयावंती लोयंसि अपरिग्गहावंती, एएसु चेव अपरिग्गहावंती, सुच्चा वई मेहावी पंडियाण निसामिया, समियाए धम्मे आरिएहिं पवेइए, जहित्थ मए संधी झोसिए एवमन्नत्थ संधी दुज्झोसए भवइ, तम्हा बेमि नो निहणिज्ज वीरियं।

संस्कृतच्छाया—*यावन्तः केचन लोके अपरिग्रहवन्तः एतेषु चेव अपरिग्रहवन्तः (भवन्ति) श्रुत्वा वाचं मेधावी पण्डितानां निशम्य, समतया धर्मः आर्यैः प्रवेदितः यथाऽत्र मया संधिर्झोषितः एवमन्यत्र संधिः दुर्झोष्यो भवति तस्मात् ब्रवीमि नो निगूहयेत् वीर्यम्।*

शब्दार्थ—आवंती=जितने। केयावंती=कितनेक। लोयंसि=लोक में। अपरिग्गहावंती=निष्परिग्रही होते हैं वे। मेहावी=बुद्धिमान्। वई=तीर्थङ्कर देवों ने वचनों को। सुच्चा=सुनकर। पंडियाणं=गणधरादि के पास। निसामिया=शास्त्रश्रवण कर। अपरिग्गहावंती=सर्व प्रकार के पदार्थों का त्याग करके ही अपरिग्रही बनते हैं। आरिएहिं=तीर्थङ्करों द्वारा। समियाए=समता से। धम्मे=धर्म। पवेइए=कहा गया है। जहित्थ=जिस प्रकार यहाँ। मए=मैंने। संधि=कर्मों की सन्धि को। झोसिए=क्षीण की है। एवं=इस प्रकार। अन्नत्थ=दूसरी जगह। संधी=कर्म-सन्धि। दुज्झोसए=क्षीण होना कठिन। भवइ=है। तम्हा=इसलिए। बेमि=मैं कहता हूँ कि। वीरियं=अपनी शक्ति का। नो निहणिज्ज=गोपन न करना चाहिए।

भावार्थ—इस संसार में जो कोई (गृहस्थ अथवा साधु) निष्परिग्रही बनते हैं वे सब तीर्थंकर देव की वाणी को सुनकर अथवा गणधरादि महापुरुषों की शिक्षाओं का विचार करके विवेकी बनकर

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

सब प्रकार के पदार्थों का त्याग करके ही निष्परिग्रही बनते हैं। हे शिष्य ! तीर्थंकर देवों ने समता से (अथवा समता में) धर्म कहा है। उन्होंने यह भी कहा है कि हे साधको ! यहां जिस तरह मैंने कर्म क्षीण किये हैं उस तरह दूसरे मार्गों में कर्म क्षीण करना कठिन है। इसलिए मैं कहता हूँ कि अपनी शक्ति का गोपन नहीं करना चाहिए।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में निरासक्ति का दुरुपयोग न हो, साधक निरासक्ति के बहाने दम्भ, आडम्बर का सेवन न करे यह प्रतिपादन किया गया है। जो साधक यह अभिमान रखता है कि "मैं तो पदार्थों के बीच में रहकर भी निरासक्त रह सकता हूँ अतएव मुझे पदार्थों के त्याग की आवश्यकता नहीं है" वह साधक आत्मवंचना और दम्भ का सेवन करता है। अनुभव यह कहता है कि परिग्रह का सम्पर्क रखकर निष्परिग्रही नहीं बना जा सकता। अत्यन्त पराकाष्ठा पर पहुँचे हुए महात्मा विरलरूप से इसके अपवाद हो सकते हैं तदपि निष्परिग्रही बनने के लिए बाह्य पदार्थों का परिग्रह और उन पर होने वाला मोह और आकर्षण सर्वप्रथम छोड़ना चाहिए। जैसे कोई पुरुष अग्नि हाथ में लेकर ठंडक प्राप्त करना चाहे और ठंडक का जाप जपे तो भी उसे ठंडक नहीं प्राप्त हो सकती और वह उस अग्नि की ऊष्णता से नहीं बच सकता है उसी तरह जो साधक परिग्रह की अग्नि को साथ में रखकर निरासक्ति की ठंडक शोधना चाहते हैं वे अपने प्रयत्न में निष्फल होते हैं। अतएव निष्परिग्रही बनने के लिए बाह्य पदार्थों का त्याग अनिवार्य है। इसका अर्थ यह नहीं है कि पदार्थ के त्यागमात्र से ही निष्परिग्रही बना जा सकता है। आशय तो यह है कि पदार्थ-त्याग करने में निरासक्ति होनी चाहिए और निरासक्ति के लिए पदार्थ-त्याग होना चाहिए। इस अनेकान्त दृष्टि से आचार्य यह फरमाते हैं कि निरासक्ति (निष्परिग्रहीत्व) के लिए पदार्थ-त्याग की अनिवार्य आवश्यकता है।

ऊपर यह प्रतिपादन कर दिया गया है कि निष्परिग्रहीत्व के लिए पदार्थ-त्याग की आवश्यकता है। ऐसा होते हुए भी पदार्थ-त्याग की भावना पैदा होना कोई सहज काम नहीं है। इसका कारण यह है कि अनादिकाल से जीव का ऐसा अध्यास रहा है कि सुख इन बाह्य पदार्थों में ही रहा हुआ है। यह अनादि-कालीन मोह कैसे छूट सकता है ? इसका भी उत्तर सूत्रकार ने इस सूत्र में फरमाया है। सूत्रकार फरमाते हैं कि विवेक और विचार के द्वारा इस चिरकालीन अध्यास से मुक्ति हो सकती है। सत्यासत्य को परखने की बुद्धि जागृत होने पर अनादिकाल की असत्य को सत्य मानने की प्रवृत्ति छूट सकती है। परन्तु जहाँ तक विवेकबुद्धि जागृत नहीं होती वहाँ तक हिताहित समझने की भी योग्यता नहीं आती तो त्याग की भावना तो आ ही कैसे सकती है ? यह विवेकबुद्धि भी सद्विचार के बाद ही प्रकट होती है।

यहाँ विचार शब्द बड़े महत्व का है। हम सामान्य रूप से जिसको विचार समझते हैं वह विचार नहीं है। वह तो स्वच्छन्द मन का विकल्प जाल है। जो जीवन में अद्भुतता, नवीनता और दिव्य सृष्टि उत्पन्न करे वही विचार है। विचार उन्नति का कारण है। विकल्प पतन का कारण है। विचार और विकल्प का भेद मननीय है। जिस प्रकार तरङ्ग जल का ऊर्ध्वगमन है उसी तरह विचार-तरङ्ग अन्तःकरणरूपी जल का ऊर्ध्वगमन है। जिस तरह तरंगें समुद्र को आह्लादित करती हैं, उसी तरह विचार भी अन्तःकरण को आह्लादित करते हैं। सद्विचार का एक किरण जीवन को जगमगा सकता है। अनन्तकाल के अज्ञान और मोहरूपी अंधकार को वह बिखेर देता है। जीवन की जटिल गुत्थियों को वह सुलझा देता है। प्रत्येक कार्य के मूल से लगाकर परिणाम तक पहुँचने की शक्ति विचार में है। ऐसी

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

विचारधारा से ही विवेक जागृत होता है। विवेक से ही त्याग हो सकता है और त्याग से ही मुक्ति एवं निर्वाण है।

यह विचार-शक्ति भी सहज नहीं प्राप्त होती है। आप्त पुरुषों के सत्संग अथवा उनकी वाणी के श्रवण के बिना यह शक्ति सुलभ नहीं। अतएव सूत्रकार ने फरमाया है कि "सुच्चा वई पंडियाण निसामिया"। अर्थात्-तीर्थङ्कर देवों के वचन और गणधरादि आचार्यों के विधिनिषेधात्मक उपदेशों को सुनने से यह विचार और विवेक शक्ति प्रकट होती है। तीर्थङ्करादि आप्त पुरुष सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होते हैं। हृदय की शुद्धि के बिना सर्वज्ञता नहीं आ सकती। अतएव आप्त पुरुष निस्पृह, शुद्धहृदय एवं सत्यदृष्टा होते हैं। ऐसे आप्त पुरुषों की संगति जीवन का परिवर्तन कर देती है। शुद्धहृदय वाले संत का एक वाक्य भी हृदय को स्पर्श करता है और वह अनेक जीवों के कल्याण का कारण होता है। इसी आशय से सत्संग का महत्त्व है। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि सत्संग का अर्थ किसी व्यक्ति के प्रति मोह होना नहीं लेकिन संत पुरुषों के व्यक्तित्व-गुण-का आकर्षण ही सत्संग है। ऐसा सत्संग सैकड़ों भवों के मोह का निवारण करता है। अतएव सूत्रकार ने फरमाया है कि तीर्थंकरों अथवा तदुपदेश के उपदेष्टा आचार्यों के वचनों को मान्य करके मेधावी साधक, विचार एवं विवेक से सम्पन्न होकर विरति के मार्ग में, पदार्थों का त्याग करके अपरिग्रही बनते हैं।

ऊपर यह कहा गया है कि तीर्थङ्करों के वचनों को श्रवण करने से मेधावी पुरुष निष्परिग्रही बनते हैं। अब प्रश्न होता है कि जिन्हें निरावरण केवलज्ञान एवं केवलदर्शन उत्पन्न हो चुके हैं वे तीर्थंकर वचन-योग का किस समय प्रयोग करते हैं? इसका उत्तर यह है कि धर्मकथा के अवसर पर तीर्थंकर उपदेश प्रदान करते हैं। पुनः सहज शंका हो सकती है कि तीर्थंकर देवों ने किस प्रकार धर्म का निरूपण किया है इसका उत्तर स्वयं सूत्रकार फरमाते हैं कि—

समियाए धम्मे आरिएहिं पवेइए।

अर्थात्—आर्य तीर्थङ्कर देवों ने समता में (समता से) धर्म कहा है।

सर्वज्ञ पुरुषों ने समभाव की पराकाष्ठा का स्वयं अनुभव किया है इसीसे वे समभाव में धर्म है यह कह सके हैं। सत्य का अनुभवी ही सत्य को भलीभांति कह सकता है, अन्य नहीं। समता का अर्थ-शत्रुमित्र पर समभाव रखना—राग एवं द्वेष पर विजय पाना है। तीर्थङ्कर देवों ने इस समता की पराकाष्ठा प्राप्त की है—वे रागद्वेष को जीतकर वीतराग बन चुके हैं। कहा है—

जो चंदणेण बाहुं आलिंपइ वासिणा व तच्छेति।
संथुणइ जो अ णिंदति महेसिणो तत्थ समभावा॥

अर्थात्—जो चन्दन से भुजाओं पर लेप करता है और जो करवत या कुठार से भुजा को छेदता है, जो स्तुति करता है और जो निंदा करता है, दोनों पर महर्षि पुरुष समभाव रखते हैं। अहा! समभाव की पराकाष्ठा!!

समभाव का ज्यों ज्यों विकास होता है त्यों त्यों धर्म की आराधना होती जाती है। क्रमशः समभाव की सिद्धि के लिए साधना करते रहने से समता की पराकाष्ठा पर पहुँचा जा सकता है। वीतराग अवस्था ही साधना का साध्य है। अतएव समता की ओर ध्यान देकर—समता को लक्ष्य बनाकर प्रत्येक

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

किया की जानी चाहिए। सर्वत्र समभाव स्थापन करने का प्रयत्न करना चाहिए। दृष्टि में से राग एवं द्वेष रूप विकारों को सर्वथा निकाल देना चाहिए। राग एवं द्वेष के आवेश को नष्ट करना ही समता है एवं समता ही धर्म है।

पदार्थ-त्याग के निरूपण में "समता ही धर्म है यह कह कर सूत्रकार ने यह सूचित किया है कि त्याग भी समतापूर्वक ही किया जाना चाहिए। प्रायः करके पदार्थों के त्याग में दो भावनाएँ होती हैं—(१) पदार्थों के प्रति घृणा और (२) पदार्थों में सुख-दुख देने की शक्ति के न होने का अनुभव। पहिली भावना में वृत्ति में घृणा है। यह घृणा आज पदार्थों के प्रति है कल संयम के प्रति भी हो सकती है। अतएव घृणापूर्वक त्याग न होना चाहिए। घृणा एक प्रकार का आवेश है जो भिन्न दिशा भी ग्रहण कर सकता है। घृणा या आवेश में शुद्ध विवेक का अभाव होता है; ऐसे आवेशपूर्वक किये हुए त्याग में स्थिरता नहीं होती, धीरता नहीं होती अतएव साधना के लम्बे काल में उसके पतन की बहुत अधिक सम्भावना रहती है। अतएव त्याग का हेतु आवेश का शमन करने का होना चाहिए। आवेश का शमन गम्भीर विचारणा के बाद ही होता है। जब व्यक्ति को यह भान हो जाता है कि पदार्थों में सुख-दुख देने की शक्ति नहीं है। पदार्थ तो मात्र निमित्त हैं। मनुष्य की वृत्तियाँ ही अज्ञान से पदार्थों में सुख-दुख की कल्पनाएँ करती हैं। जिसे कोई वस्तु चाहिए उसे वह नहीं मिलती है तो उसे दुख होता है और मिलती है तो क्षणिक सुख होता है। परन्तु जिसे वस्तु ही नहीं चाहिए उसे वस्तु सम्बन्धी दुख या सुख हो ही कैसे सकता है? सुख और दुख का कारण मेरी कल्पना है यह समझने के बाद ही सच्चा त्याग उत्पन्न हो सकता है। सच्चे त्याग में आवेश नहीं होता लेकिन समता होती है। अतएव समतापूर्वक त्याग करना चाहिए।

"समियाए धम्मे पवेइए" इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि तीर्थङ्कर देव सभी प्राणियों को समान भाव से धर्म का उपदेश फरमाते हैं। वे जिस प्रकार जिस भाव से एक राजा या चक्रवर्ती को या इन्द्र को उपदेश देते हैं उसी भाव से एक तुच्छातितुच्छ प्राणी को भी उपदेश प्रदान करते हैं। इसीलिए कहा गया है कि "जहा तुच्छस्स कत्थइ तहा पुण्णस्स कत्थइ, जहा पुण्णस्स कत्थइ तहा तुच्छस्स कत्थइ"। जिस प्रकार सूर्य और चन्द्रमा की किरणें अभेदरूप से सर्वत्र गिरती हैं, वहाँ रंक और राव का भेद नहीं है; जिस प्रकार मेघ की धारा भेदभाव रहित सर्वत्र पड़ती है उसी तरह सर्वज्ञ तीर्थङ्कर देव की वचनधारा पात्र-भेद को ध्यान में न लेकर सर्वत्र समान रूप से बरसती है।

अथवा "समियाए" का संस्कृत रूप "शमितया" करने से यह अर्थ भी हो सकता है कि इन्द्रियों एवं मन के विकारों एवं कषायों के उपशम से तीर्थङ्कर देवों ने धर्म की प्ररूपणा की है।

सूत्रकार ने आगे चलकर इसी सूत्र में यह कहा है कि "तीर्थंकर भगवान् ने यह कहा है कि "मैंने जिस प्रकार से कर्म-सन्तति का विनाश किया है उसी तरह अन्यत्र अन्य रीति से कर्मसन्तति का विनाश कठिन है"। इसका आशय यह है कि तीर्थंकर देव अन्य मुमुक्षुओं को यह उपदेश करते हैं कि जिस मार्ग पर चलकर मैंने कर्मों का विनाश किया है उस मार्ग पर चलकर तुम भी अपने कर्मों का क्षय कर सकते हो। मैंने समभाव की साधना के द्वारा कर्म का विनाश किया है। इसी समता के द्वारा तुम भी अपने कर्मों को तोड़ सकते हो। समता का मार्ग ही तुम्हें शीघ्र और सरलता से तुम्हारे साध्य तक पहुँचावेगा। मेरे दृष्टान्त को अपनी दृष्टि के सामने रखकर तुम अपने मार्ग पर अविरल चलते रहो। मेरा दृष्टान्त तुम्हें अवलम्बन भूत हो सकता है लेकिन चलने का पुरुषार्थ तो तुम्हें स्वयं ही करना होगा। अपने पुरुषार्थ को गुप्त न रखो। सत्यजिज्ञासा एवं मुमुक्षुता होने पर जहाँ कहीं रहकर मोक्ष-मार्ग की आराधना की जा

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

सकती है लेकिन इसके लिए अपने बलवीर्य को गुप्त न रखना चाहिए। मुमुक्षु साधक अगर अपने बलवीर्य को छिपाये बिना मोक्ष-मार्ग पर चलता रहता है तो वह भी साध्य सिद्ध कर सकता है।

वीर्य को छिपाने का अर्थ है अपनी शक्ति को प्रतिहत करके अन्दर ही अन्दर रोक रखना, उसे प्रकट नहीं करना। प्राणी-मात्र में अनन्त शक्ति भरी है। परन्तु यह प्राणी उस शक्ति का अनुभव ही नहीं करता है और वह अपने आपको कमजोर मानकर संयोगों और निमित्तों के अधीन हो जाता है। जब तक प्राणी के विवेक-चक्षु नहीं खुलते तब तक वह स्वतंत्र रूप से कोई पुरुषार्थ नहीं करता। वह तो उसे जैसे संयोग एवं निमित्त मिलते हैं उन्हीं में जीता है। वह यह नहीं समझता कि निमित्त एवं संयोगों का सर्जन करना मेरे हाथ में है। यह वीर्योल्लास तब तक नहीं प्रकट होता जब तक विचारशक्ति एवं आत्मनिर्भरता न आ जावें। प्राणी अपनी मूढ़ता एवं क्रियाशून्यता के कारण अपने वीर्य को कुण्ठित करता है। लेकिन सूत्रकार फरमाते हैं कि शक्ति को कुण्ठित करना—वीर्य का गोपन करना-हानिकारक है। अपनी शक्ति का अनुभव करके पूरी शक्ति से अपने अङ्गीकृत मार्ग पर दृढ़ रहना चाहिए।

यह हो सकता है कि वृत्ति की शुद्धता या अशुद्धता के कारण वीर्य का सदुपयोग एवं दुरुपयोग हो। लेकिन इसकी अपेक्षा शक्ति को प्रकट नहीं करना अधिक हानिकारक है। जो साधक शक्ति का उपयोग करते हैं वे चाहे किसी समय उसका दुरुपयोग भी करते हों तो भी निमित्त शुद्ध मिलने पर वे उसका सदुपयोग कर सकते हैं। शक्ति का दुरुपयोग करने वाले प्रदेशी राजा, दृढ़प्रहारी और चिलाती, शुद्ध निमित्त के मिलते ही अपनी शक्ति का सदुपयोग करते हुए देखे गए हैं। इसीलिए कहा गया है कि "जे कम्मे सूरा ते धम्मे सूरा"। शक्ति को छिपाकर रखना—उसका उपयोग न करना—शक्ति को खोना है, निर्बल होना है और शक्ति को वासी करना है। शक्ति को प्रकट करना चेतना है-उत्साह है-स्फूर्ति है। अतएव सूत्रकार फरमाते हैं कि साधको! मेरे दृष्टान्त को सन्मुख रखो और अपनी शक्ति का सदुपयोग करते हुए आगे बढ़ते चलो। तुम अवश्य ही अपने साध्य पर पहुँचोगे।

तीर्थंकर प्ररूपित मार्ग, मोक्ष का सीधा और सरल मार्ग है। इस पर चलने वाला साधक शीघ्र मोक्ष प्राप्त करता है। तीर्थंकरों ने अपनी कठिन साधना और तपश्चर्या के द्वारा जो कुछ प्राप्त किया है वह उन्होंने संसार को वितरण किया है। उनका यह उदार आशय है कि जिस मार्ग पर चल कर हमने साध्य पाया है उसी मार्ग पर चल कर अन्य प्राणी भी मोक्ष-साध्य प्राप्त करें इसीलिये वे उपदेश प्रदान करते हैं। ऐसे परम कारुणिक, सकल प्राणियों के हितोपदेष्टा प्रभु महावीर ने यह फरमाया है कि जो साधक विवेक एवं विचार से युक्त होकर पदार्थों का त्याग कर अपरिग्रही बनते हैं और समतायोग की अराधना करते हैं वे शीघ्र ही निर्वाण प्राप्त कर सकते हैं।

जे पुव्वुट्ठाई नो पच्छानिवाई, जे पुव्वुट्ठाई पच्छानिवाई, जे नो पुव्वुट्ठायी नो पच्छानिवाई, सेऽवि तारिसिए सिया, जे परिन्नाय लोगमन्नेसयंति, एयं नियाय मुणिणा पवेइयं।

संस्कृतच्छाया—*यः पूर्वोत्थायी नो पश्चान्निपाती, यः पूर्वोत्थायी पश्चान्निपाती, यो नो पूर्वोत्थायी नो पश्चान्निपाती। सोऽपि तादृशः स्यात्, ये परिज्ञाय लोकमन्वेषयंति, एतत् ज्ञात्वा मुनिना प्रवेदितम्।*

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

शब्दार्थ—जे=जो। पुव्वुट्ठाई=पहले त्याग ग्रहण करते हैं और। नो पच्छानिवाई=पश्चात् भी पतित नहीं होते हैं। जे=जो। पुव्वुट्ठाई=पहिले त्याग ग्रहण करते हैं और। पच्छानिवाइ=बाद में पतित हो जाते हैं। जे=जो। नो पुव्वुट्ठायी=न तो पहिले त्याग ग्रहण करते हैं। नो पच्छानिवाइ=और न बाद में गिरते हैं। जे=जो। लोगं=लोक को। परिज्ञाय=जानकर, छोड़ कर। लोगं=पुनः लोक की। अन्वेसयंति=इच्छा करते हैं। से वि=वह भी। तारिसिए=ऐसे ही गृहस्थ तुल्य। सिया=है। एयं=यह। नियाय=केवलज्ञान द्वारा जानकर। मुणिणा=तीर्थङ्कर देव द्वारा। पवेइयं=कहा गया है।

भावार्थ—कितने ही व्यक्ति सिंह के समान प्रथम त्याग मार्ग अंगीकार करते हैं और उसी तरह अन्त तक पालते हैं—पतित नहीं होते है; कितने ही व्यक्ति प्रथम तो त्याग अंगीकार करते हैं और बाद में पतित हो जाते हैं। कितने ही प्रथम भी त्याग मार्ग अंगीकार नहीं करते हैं और पश्चात् पतित भी नहीं होते हैं। जो व्यक्ति संसार के पदार्थों को ज्ञ-परिज्ञा द्वारा जानकर प्रत्याख्यान-परिज्ञा द्वारा त्यागते हैं और पुनः उनकी इच्छा करते हैं वे भी गृहस्थ समान ही हैं यह केवलज्ञान द्वारा जानकर तीर्थंकर देवों ने प्रवेदित किया है।

विवेचन—पूर्ववर्ती सूत्र में पदार्थ-त्याग का निरूपण किया है। अब इस सूत्र में साधकों की योग्यता एवं विकास की तरतमता बताते हैं। संसार के प्राणियों के कर्म भिन्न भिन्न होते हैं अतएव उनका विकास भी भिन्न भिन्न है। प्रत्येक प्राणी की योग्यता और कार्य-शक्ति पृथक् पृथक् होती है। अतएव उनके प्रत्येक कार्य में तरतमता होती है। विकास की असंख्य श्रेणियाँ हैं इसीके अनुसार साधकों की भी उतनी ही श्रेणियाँ हो जाती हैं। तदपि वर्गीकरण के सिद्धान्त के अनुसार यहाँ चतुर्भङ्गी बताई गई हैं। यह चौभंगी इस प्रकार है:—

(१) पूर्वोत्थायी नो पश्चान्निपाती।
(२) पूर्वोत्थायी पश्चान्निपाती।
(३) नो पूर्वोत्थायी पश्चान्निपाती।
(४) नो पूर्वोत्थायी नो पश्चान्निपाती।

प्रथम भंग का अर्थ यह है कि कितने ही साधक संसार की असारता को जानकर धर्म की आराधना करने के लिए चारित्रमार्ग अङ्गीकार करते हैं और उसे यावज्जीवन यथावत् पालते हैं। वे सिंह के समान ही संसार से निष्क्रमण करते हैं और सिंह के समान ही दृढ़ता से संयम का पालन करते हैं। वे प्रबल भावना से प्रेरित होकर ही चारित्र स्वीकार करते हैं और तदनन्तर भी श्रद्धा संवेगादि द्वारा वर्धमान परिणाम रखते हुए जीवन पर्यन्त प्रबल भावना से ही यथावत् पालन करते हैं। इस भंग में गणधरादि का समावेश होता है। यह त्याग समझपूर्वक और सहज होता है।

द्वितीय भङ्ग का अर्थ यह है कि कोई कोई साधक प्रथम तो उज्ज्वल परिणामों से दीक्षा अङ्गीकार करते हैं लेकिन पश्चात् वे कर्म की परिणति से हीयमान परिणाम वाले होकर साधना से गिर जाते हैं। वे

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

त्याग में यावज्जीवन नहीं टिकते हैं। दीक्षा-प्रसङ्ग पर वर्धमान परिणाम होते हैं लेकिन बाद में परीषह एवं उपसर्गादि से व्याकुल होने से अथवा पूर्वाध्यासों की प्रबलता होने से संयम के प्रति अरुचि पैदा हो जाती है और ऐसे साधक प्रव्रज्या से पतित हो जाते हैं। ऐसे साधक प्रथम तो सिंह के समान वीरता के साथ संसार से निकलते हैं और पश्चात् मोहोदय से गीदड़ के समान कायर बन जाते हैं। पूर्वाध्यासों का असर मनोवृत्तियों पर बहुत अधिक पड़ा हुआ रहता है। यदि साधक अपनी संयम-साधना में जरा भी असावधान रहता है तो पूर्वाध्यासों को वेग मिल जाता है और वे साधक को पुनः संसार की ओर खींचते हैं। असावधान साधक बराबर संसार की ओर खिंचता चला जाता है। इसके लिए नन्दीषेण का दृष्टान्त वर्त्तमान है।

प्रायः यह देखा जाता है कि पतन जब शुरू होता है तो वह न जाने कहाँ जाकर रुकता है? पतनोन्मुख प्राणी का सब ओर से पतन होता है। ऊँचा चढ़ा हुआ व्यक्ति जब गिरता है तो उसे विशेष चोट लगती है और वह अधिक नीचे गिरता है। यही हाल संयम से गिरने वालों का है। संयम से पतित होने के साथ ही साथ कई व्यक्ति दर्शन-सम्यक्त्व से भी भ्रष्ट हो जाते हैं। यह उनके पतन की उत्कृष्टता है। इसके लिए गोष्ठामहिला का उदाहरण समझना चाहिए।

तृतीय भङ्ग अभाव रूप है अतएव सूत्र में उसका ग्रहण नहीं है। तीसरे भङ्ग का अर्थ है प्रथम उत्थित नहीं होते हैं और बाद में गिरते हैं। यह असंभव है। जिसका उत्थान नहीं उसका पतन क्या हो सकता है? पतन उसी का होता है जिसका प्रथम उत्थान हुआ हो। उत्थान के होने पर पतन की चिन्ता हो सकती है। सूर्य उदय होता है तो उसका अस्त भी होता है। जिसका उदय ही नहीं उसका अस्त क्या होगा? धर्मी के होने पर ही धर्म का विचार हो सकता है। जब धर्मी (गुणी) ही नहीं तो धर्म (गुण) कहाँ से हो सकता है? जिसने प्रव्रज्या अंगीकार नहीं की वह प्रव्रज्या से पतित कैसे होगा? अतएव यह तृतीय भंग असद् रूप होने से सूत्र में नहीं दिखाया गया है।

चतुर्थ भंग "नो पूर्वोत्थायी नो पश्चान्निपाती" है। इसका अर्थ यह है कि जिसने न तो संयम अंगीकार किया है और न जो संयम से पतित है। ऐसे गृहस्थ इत्यादिक अविरती हैं। सम्पूर्ण विरति के अभाव से गृहस्थ प्रथम भी उत्थित नहीं है और पश्चात् पतनशील भी नहीं है क्योंकि उत्थान के बाद ही पतन होता है।

जो अन्य शाक्यादि अपने आपको यति और साधु कहते हैं वे भी सावद्य अनुष्ठान करते हैं अतएव वे पूर्व भी उत्थान नहीं है और उत्थान के बिना पतन नहीं होता अतएव उनको इस चतुर्थभंग में समझना चाहिए। इसी तरह जो स्वतीर्थी हैं परन्तु शिथिलाचारी और पार्श्वस्थ (पासत्था) हैं वे भी गृहस्थतुल्य ही हैं। जिन्होंने लोक को (सांसारिक पदार्थों को) ज्ञ-परिज्ञा द्वारा जानकर एवं प्रत्याख्यान-परिज्ञा द्वारा छोड़ दिया है तदपि जो अपनी प्रतिज्ञा को भूलकर पुनः सांसारिक पदार्थों की इच्छा रखते हैं या गृहस्थों पर अनुचित और अनैषणीय रूप से आधाकर्म्म-आहारादि ग्रहण द्वारा आश्रित रहते हैं वे गृहस्थ ही है।

यहाँ यह शंका की जा सकती है कि गृहस्थों को नो पूर्वोत्थायी नो पश्चान्निपाती कहा सो तो ठीक है क्योंकि उन्होंने महाव्रतादि की प्रतिज्ञा नहीं की है लेकिन शाक्यादि इस चतुर्थभंग में कैसे आ सकते हैं क्योंकि वे तो दीक्षित होते हैं अतएव उन्हें पूर्वोत्थित क्यों न कहा जाय? इसका समाधान यह है कि शाक्यादि अन्यतीर्थी दीक्षित होते हैं उस समय भी वे पञ्चमहाव्रत अंगीकार नहीं करते। वे सर्वथा हिंसा

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

नहीं करने की प्रतिज्ञा नहीं लेते अतएव उस समय भी वे उत्थित नहीं हैं। दीक्षा के समय भी वे सावद्य अनुष्ठान का पूर्ण रूपेण त्याग करने की प्रतिज्ञा नहीं करते अतएव सावद्य अनुष्ठान होने की वजह से वे गृहस्थों के समान ही पूर्वोत्थित नहीं हैं। केवल साधु का वेष धारण करने से उत्थित नहीं कहा जा सकता। आस्रवद्वार उन कहलाने वाले साधुओं में तथा गृहस्थों में समानरूप से चालू हैं अतएव वे इसी भंग में समझे गये हैं। उदायी राजा को मारने वाले नापित ने कपट भाव से साधुवेष धारण किया था इससे वह उत्थित नहीं कहा जा सकता इसी तरह ये शाक्यादि भी वेष के धारक हैं; इनके सावद्य अनुष्ठान चालू हैं अतएव ये गृहस्थतुल्य समझे गये हैं।

उपरोक्त चतुर्भंगी से यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस त्याग में आन्तरिक बल, श्रद्धा और स्फूर्तिमय धीरता होती है वही त्याग सांगोपांग टिक सकता है। ऐसे समझपूर्वक किये हुए त्याग से ही इष्ट सिद्धि हो सकती है। साधकों को प्रथम भी सिंह के समान संसार से निष्क्रमण करना चाहिए और पश्चात् भी सिंह की तरह ही दृढ़ता से यावज्जीवन संयम का पालन करना चाहिए।

यह कथन तीर्थंकर देवों ने अपने केवलज्ञान द्वारा जानकर कहा है। अतएव तीर्थंकरों के वचनों पर अविचल श्रद्धा रखते हुए सिंह के समान वीर एवं धीर बनकर संयम की आराधना करनी चाहिए।

इह आणाकंखी पंडिए अणिहे, पुव्वावररायं जयमाणे, सया सीलं सुपेहाए सुणिया भवे अकामे अझंझे।

संस्कृतच्छाया—*इह आज्ञाकांक्षी पण्डितोऽस्निहः पूर्वापररात्रं यतमानः सदा शीलं सम्प्रेक्ष्य, सुश्रुत्वा भवेदकामः अझञ्झः।*

शब्दार्थ—इह=इस जैन शासन में। आणाकंखी=तीर्थंकर की आज्ञा का आराधक होने की इच्छा रखने वाला। पंडिए=सदसद् का विवेक करने वाला। अणिहे=आसक्ति रहित साधक। पुव्वावररायं=रात्रि के पहले और पिछले प्रहर में। जयमाणे=यतनाशील उपयोगमय होकर। सया=हमेशा। सीलं=शील को। सुपेहाए=मोक्षाङ्ग समझ कर उसका पालन करे। सुणिया=शील के लाभ और दुश्शील के परिणाम को सुनकर। अकामे=वासनारहित। अझंझे=लालसारहित। भवे=होना चाहिए।

भावार्थ—तीर्थंकर देव की आज्ञा का आराधक होने की इच्छा रखने वाले, आसक्तिरहित विवेकी साधक को रात्रि के प्रथम और अन्तिम प्रहर में उपयोगपूर्वक (मन वचन एवं काया की एक रूपता सहित) हमेशा शील (चारित्र) के लाभों को विचार कर उसका यथार्थ रीति से पालन करना चाहिए। सदाचार से लाभ और सदाचार के न पालने से होने वाली हानियों को सुनकर वासना और लालसारहित होना चाहिए।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में वासना और लालसा का त्याग करने के लिए कहा गया है। पूर्ववर्ती सूत्रों में निष्परिग्रही बनने के लिए पदार्थ-त्याग की आवश्यकता है और त्यागी बनने के पीछे भी सतत सावधानी रखने की आवश्यकता है अन्यथा पुनः पतन की सम्भावना रहती है—यह प्रतिपादित किया गया है। त्यागमार्ग अंगीकार करने के बाद भी कई साधक पुनः पतित हो जाते हैं यह पहिले के सूत्र में कहा गया है। यहाँ अब कारण बताते हैं कि क्योंकर साधक साधना से पतित हो जाते हैं ?

सूत्रकार फरमाते हैं कि प्रव्रज्या अंगीकार करने के पश्चात् भी सतत सावधानी की आवश्यकता होती है। साधक यह समझे कि प्रव्रज्या अंगीकार करने से ही उसका काम समाप्त नहीं हो जाता वरन् उसकी साधना का प्रारम्भ होता है। कई साधक यह समझते हैं कि हमने तो चारित्र स्वीकार कर लिया है अब हम सभी पापों से मुक्त हो गए और कृतार्थ हो गये। ऐसा समझ कर वे संयम में असावधान बनते हैं जिससे उनकी वृत्तियां पुनः जोर पकड़ लेती हैं और वे उनको संयम से बाहर खींच ले जाती हैं। इसलिए सूत्रकार फरमाते हैं कि जो साधक तीर्थंकर देव के उपदेशानुसार प्रवृत्ति करना चाहता है, जो सदसत् के विवेक से युक्त है और राग-द्वेषरहित-अनासक्त है वह रात्रि के प्रथम और अन्तिम प्रहर में आत्मचिन्तन करे और अपने कार्यों का अवलोकन करे। अपने चारित्र के सम्बन्ध में सूक्ष्मदृष्टि से विचार करे। ऐसा कहकर सूत्रकार सतत जागृत रहने का उपदेश करते हैं। बहुत बार निरासक्त और विवेकी साधक भी गाफिल हो जाते हैं क्योंकि राग-द्वेष का बीज अभी साधनावस्था में बिल्कुल नहीं जल गया होता है। अतएव प्रत्येक साधक को अपनी साधनावस्था में सतत जागृत रहना चाहिए। रात्रि के प्रथम और अन्तिम प्रहर में आत्मचिन्तन करने का सूत्रकार ने फरमाया है। इसी के अनुसार प्रतिक्रमण क्रिया करने की परिपाटी प्रचलित है। इससे यह समझा जा सकता है कि प्रतिक्रमण क्रिया का कितना अधिक महत्त्व है। वह साधक को—चाहे गृहस्थ हो या साधु—सतत जागृत रहने का संदेश देती है। प्रतिक्रमण जीवन की शुद्धि एवं जागृति का सर्वोत्कृष्ट साधन है। लेकिन प्रतिक्रमण के रहस्य को न समझने के कारण यह परिपाटी केवल परिपाटी रूप रह गयी है। इसका उच्च और उदार आशय निकल गया है यह शोचनीय है। प्रत्येक मुमुक्षु को प्रतिक्रमण की क्रिया का रहस्य समझना चाहिए और उसे अपने जीवन के अवलोकन और परिमार्जन के लिए अवश्यमेव करना चाहिए।

यहाँ पर रात्रि के प्रथम और अन्तिम प्रहर में यत्नशील—उपयोगमय रहने का कहा गया है इसका अर्थ यह नहीं कि अन्य समय यत्नशील न रहना चाहिए। बल्कि इसका अर्थ यह है कि दिवस और रात्रि का प्रत्येक क्षण जागृतिमय होकर बिताना चाहिए और रात्रि के प्रथम और अन्तिम प्रहर में रात्रि एवं दिवस के अपने सम्पूर्ण कार्यों और प्रवृत्तियों की विशेषरूप से समीक्षा करनी चाहिए। आज दिन में अथवा रात्रि में मैंने क्या क्या प्रवृत्तियाँ कीं। वे प्रवृत्तियां मेरे संयमी जीवन के अनुकूल हैं या नहीं ? उनसे मेरा कितना आत्मिक विकास हुआ ? कहीं मेरी प्रवृत्तियां ऐसी तो न रहीं कि जिनसे आत्मविकास में बाधा पहुंचे ? कहीं मैं वृत्तियों के आवेश में तो नहीं पड़ गया ? इत्यादि बातों का विचार करते हुए साधक को आत्म-दर्शन करना चाहिए। यह आत्मावलोकन करने के लिए रात्रि का प्रथम और अन्तिम प्रहर में विशेषतः चिन्तनशील एवं उपयोगमय रहने का सूत्रकार ने निर्देश किया है। वैसे तो संयमी की प्रत्येक क्रिया उपयोगमय ही होनी चाहिए।

सूत्रकार ने यहाँ साधक के तीन विशेषण कहे हैं—आणाकंखी, पंडिए, अणिहे। ये मनन करने योग्य हैं। प्रथम विशेषण में यह कहा है कि जो तीर्थंकर देव की आज्ञानुसार चलने की इच्छा रखता है

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

वही साधक चारित्र की आराधन कर सकता है। तीर्थंकर की आज्ञा में रहना अर्थात् चारित्रमय जीवन बिताना। अपने जीवन में सच्चारित्र्य सहज हो जाना चाहिए। ऐसा चारित्रमय जीवन जीना यही तीर्थङ्कर देव का उपदेश है। दूसरा विशेषण "पंडिए" है इसका अर्थ सत् असत् का विचार कर सकने वाला विवेकी होता है। तीसरे विशेषण का अर्थ रागरहित—अनासक्त है। तात्पर्य यह हुआ कि जो साधक विवेकी और अनासक्त है वही संयम की आराधना अखंड रूप से कर सकता है। विवेकी का अर्थ प्रत्येक क्रिया को करने के पहिले उसके परिणाम को सूक्ष्मता से विचार करने वाला है और अनासक्त का अर्थ क्रिया हो जाने के बाद उसके शुभ और अशुभ फल को बिना किसी ग्लानि या हर्ष के—समभाव से—सहन कर लेना होता है। निरासक्ति और विवेक का प्रत्येक क्रिया के साथ सम्बन्ध होना चाहिए। साधक प्रत्येक क्रिया को करने के पहिले उसकी उपयोगिता, उससे होने वाला स्व-पर का उपकार और उसके फल का अवश्यमेव विचार करता है। इस तरह क्रिया के हेतु और उसके परिणाम का विचार विवेक है और क्रिया हो जाने के बाद चाहे वह हेतु सिद्ध हो या न हो, चाहे उसका परिणाम सुन्दर आवे वा खराब तो भी अपने चित्त पर किसी प्रकार का असर न होने देने का नाम अनासक्ति है। जो साधक इस तरह विवेकी और निरासक्त होकर तीर्थंकर देव के उपदेशानुसार प्रवृत्ति करता है वही संयम की आराधना करता है।

सूत्रकार दूसरी बात यह फरमाते हैं कि शील (चारित्र) को मोक्षाङ्ग समझ कर और उसके लाभ को एवं शील के अभाव में होने वाली हानियों को सुनकर वासना और लालसा से रहित बनना चाहिए। जीवनरूपी महल के लिए चारित्ररूप चयन की आवश्यकता होती है। इससे जीवन रसमय, सुन्दर एवं अडोल बन सकता है। शील के भेद टीकाकार ने इस प्रकार किये हैं—(१) महाव्रत साधन (२) तीन गुप्तियों का पालन (३) पंचेन्द्रिय दमन (४) कषायनिग्रह। ये चार शील के प्रकार कहे हैं। इन्हें मोक्ष के अङ्ग समझ कर इनका पालन करना चाहिए। इनके पालन में निमेषमात्र का भी प्रमाद न करना चाहिए। जो सदाचार का पालन नहीं करते हैं वे नरकादि स्थानों में भयंकर यातनाएँ सहन करते हैं यह जानकर साधक को शील-पालन में तत्पर रहना चाहिए। शील (चारित्र) पालने के लिए वासना और लालसा का त्याग आवश्यक है।

पदार्थों के बाह्य आकार पर जो मोह जागता है इसका कारण वासना है और पदार्थों को पकड़ रखने का आग्रह होने का कारण लालसा है। यह पहिले प्रतिपादन किया जा चुका है कि पदार्थों में सुख-दुख देने की शक्ति नहीं है तदपि मोहान्ध प्राणी बाह्य पदार्थों में सुख का आरोप करके उन्हें प्राप्त करना चाहता है और प्राप्त पदार्थों को पकड़ कर रखना चाहता है। इसी में प्राणी की भूल है। यही अशान्ति का कारण है। जब तक वासना और लालसा बनी रहती है तब तक सदाचार का पालन लगभग अशक्य-सा है जितने अंश में मोह और परिग्रह छूटता है उतने ही अंश में सदाचार का पालन है। इस प्रकार काम और झंझा (लालसा) का निषेध करके मोहनीय का निषेध किया गया है। मोह का अभाव शील में प्रधान कारण है। अकाम और अझंझा बनने का उपदेश दिया गया है इससे उत्तर गुण के साथ मूलगुण का भी ग्रहण करना चाहिए। उत्तरगुण में सावधानी रखने का कहने से मूलगुण में सावधान होना स्वयं सिद्ध है।

इमेण चेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण बज्झओ, जुद्धारिहं खलु दुल्लहं।

संस्कृतच्छाया—अनेन चेव युध्यस्व किं तव युद्धेन बाह्यतः, युद्धार्हं खलु दुर्लभम्।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

शब्दार्थ—इमेण=इस आन्तरिक शत्रुदल से। चेव=ही। जुज्झाहि=युद्ध कर। बज्झओ=बाहर के। जुज्झेण=युद्ध से। किं ते=तुझे क्या प्रयोजन ? जुद्धारिहं=आत्मयुद्ध के योग्य सामग्री। दुल्लहं खलु=बार बार मिलनी कठिन है।

भावार्थ—हे साधको ! अपने आभ्यन्तर शत्रुओं के साथ ही युद्ध करो। बाहर के युद्ध से क्या मिलने वाला है ? आत्मयुद्ध करने के लिए जो औदारिक शरीरादि सामग्री अभी मिली है वह पुनः पुनः प्राप्त होनी दुर्लभ है।

विवेचन—इस सूत्र में अन्तर्दृष्टि और आत्मदर्शन करने की प्रेरणा की गई है। कोई मुमुक्षु प्रश्न करता है कि—मैंने जीव और शरीर की भिन्नता समझ ली, अपनी शक्ति या गोपन भी मैं नहीं करता, संयम में पराक्रम करते हुए मैंने अठारह हजार शीलांग का धारण एवं पालन भी किया, तीर्थंकरों की आज्ञानुसार प्रवृत्ति भी करता हूँ तदपि अब तक मेरे सकल कर्मों का लेप दूर नहीं हुआ इसलिये कोई ऐसा असाधारण उपाय बताइए जिससे मैं सकल कर्म कलङ्क से रहित हो जाऊँ—मैं आपके उपदेश के अनुसार करने के लिए तत्पर हूँ। अगर आप एक बार सिंह से भी युद्ध करने के लिए आदेश करेंगे तो मैं उसे भी सहर्ष अङ्गीकार करूँगा। मुझे किसी भी तरह कर्म-क्षय करना है, मैंने यह दृढ़ निश्चय कर लिया है। इसके लिए मैं कठिन से कठिन कार्य भी कर सकता हूँ आप मुझे कृपा करके मोक्ष का असाधारण कारण बताइये ताकि मैं शीघ्र निर्लेप बन जाऊँ। मुमुक्षु के इस प्रश्न का उत्तर इस सूत्र में दिया गया है कि—बाहर किसी से लड़ने की जरूरत नहीं है। हे साधक ! अगर तुझे मोक्ष की इतनी उत्कंठा है तो इसका एकमात्र उपाय यह है कि तू आत्मदर्शन कर और इसके फलस्वरूप तुझे जो आभ्यन्तर दुर्गुण प्रतीत हों उनके सामने क्रान्ति कर। उन्हीं आभ्यन्तर दुर्गुण—चोरों से युद्ध कर। ये ही युद्ध करने के योग्य हैं। बाहर युद्ध करने से तुझे कुछ भी नहीं प्राप्त होगा। अन्तर के काम, क्रोध, मद, लोभ, ईर्षा द्वेषादि शत्रुओं के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर। कर्म-सैन्य को पराजित करने के लिए आत्म-बल का पञ्चजन्य (शंख) फूँक। तेरे इस आत्मबल की हुँकार से कर्म-सेना दहल उठेगी और तुझे कर्मलेप से मुक्ति मिलेगी। तेरी आत्मा कर्म से स्वतंत्र होकर मोक्ष के अखंड शासन की अधिकारिणी बनेगी। अतएव आत्म-युद्ध कर।

बाह्य-संसार में यदा कदा भौतिक युद्ध होते हैं लेकिन आध्यात्मिक संसार में प्रतिपल युद्ध हुआ करता है। आत्मा की स्वाभाविक और वैभाविक शक्तियों में प्रतिक्षण संग्राम चलता रहता है। बाह्य-युद्ध में जब एक पक्ष पराजित हो जाता है तब युद्ध समाप्त होता है इसी तरह आध्यात्मिक संग्राम भी तभी पूर्ण होता है जब एक पक्ष पराजित होता है। जब आत्मा की वैभाविक शक्तियाँ बलवती होती हैं तब जीव को निगोद अवस्था में अनन्तकाल तक पड़ा रहना पड़ता है और जब स्वाभाविक शक्तियों की विजय होती है तब आत्मा सिद्धि-क्षेत्र का विशाल एवं अक्षय साम्राज्य प्राप्त करता है।

भौतिक युद्ध में पाई हुई विजय कालान्तर में पराजय का साधन बनती है लेकिन आध्यात्मिक युद्ध में वैभाविक शक्तियों पर सम्पूर्ण रूप से प्राप्त की हुई विजय चरम और परम विजय है। भौतिक युद्ध-विजय से एक शत्रु का दमन होता है तो दूसरे अनेक शत्रु पैदा होते हैं लेकिन आध्यात्मिक युद्ध में आन्तरिक शत्रुओं का विनाश कर देने पर संसार में उसका कोई शत्रु नहीं रहता। वह प्राणीमात्र के साथ मैत्रीभाव रखता है। भौतिकविजेता संसार में अन्याय और अत्याचार का उदाहरण उपस्थित करता है

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

जबकि आध्यात्मिक विजेता संसार में धर्म, नीति एवं सदाचार का आदर्श उपस्थित करके असंख्य प्राणियों के कल्याण का कारण बनता है। बाह्य संग्राम में विजय पाना सरल है लेकिन आन्तरिक शत्रुओं पर विजय प्राप्त करना कठिन है। क्योंकि आन्तरिक शत्रु इतने सूक्ष्म हैं और हृदय के ऐसे गुप्तस्थानों में जमे रहते हैं कि उनका भेदना कठिन हो जाता है। वे बाह्यस्थूल साधनों से नहीं भेदे जा सकते। उन्हें भेदने के लिए उतने ही सूक्ष्म साधनों की आवश्यकता है। इसलिए अगर मोक्ष के अविचल एवं शाश्वत सिंहासन पर आरूढ़ होने की तीव्र उत्कंठा है तो बहिर्दृष्टि का त्याग करके अन्तर्दृष्टि प्राप्त करो। उस अन्तर्दृष्टि द्वारा हृदय के अन्तरतम में छिपे हुए दुर्गुणों को पहचानो और उन पर विजय प्राप्त करो। यही आन्तरिक विजय तुम्हें मोक्ष के सिंहासन पर आरूढ़ करेगी।

यहाँ एक आशंका की जा सकती है कि युद्ध तो दो विरोधी वस्तुओं के विद्यमान होने पर हो सकता है। आत्मा तो एक ही है। तो एक ही वस्तु में युद्ध कैसे हो सकता है। दूसरी बात अपने आप में क्रिया का विरोध देखा जाता है। जैसे सुतीक्ष्ण तलवार अपने आपको नहीं काट सकती। तो आत्मा स्वयं कैसे युद्ध कर सकता है। इसका समाधान यह है कि यहाँ आत्मा की अवस्थाओं के साथ में भेद विवक्षा है। अर्थात् आत्मा में शुभ परिणति और अशुभ परिणति रूप दो वस्तुएँ स्वीकार की गई हैं। आत्मा (विकृत दशापन्न) में सात्विक प्रकृत्तियां और तामसिक प्रकृतियां विद्यमान हैं। तामसिक प्रकृतियों के विरुद्ध क्रान्ति करके सात्विक प्रकृतियों को वेग देना चाहिए। सात्विक प्रकृतियों और तामसिक प्रकृतियों के युद्ध का नाम ही आत्म-युद्ध है। ये इन्द्रियां और मन विषयसुख के अभिलाषी होकर तामसिक प्रवृत्ति करते हैं उन्हें रोक कर सन्मार्ग पर लगाने के लिए उनसे युद्ध करने की आवश्यकता है। आन्तरिक शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने पर सर्व प्रकार से सिद्धि हो जाती है। अतएव आत्म-युद्ध करना चाहिए। इसीसे मोक्ष है।

आगे चल कर सूत्रकार फरमाते हैं कि आत्म-युद्ध करने का अच्छा अवसर प्राप्त हुआ है। यह मानवीय औदारिक शरीर भाव-युद्ध करने के लिए अच्छा संयोग है। अन्य देहों में—योनियों में—भाव-युद्ध करने के अनुकूल साधन इतने नहीं हैं जितने मानव देह में विद्यमान हैं। इसीलिये इस मानव-देह की सर्वश्रेष्ठता कही गई है। मनुष्य जैसा मननशील—विवेकशील प्राणी दूसरा नहीं है। यह अनुपम मानव-देह प्राप्त कर--आत्म-युद्ध का अनुकूल वातावरण प्राप्त कर आत्म-युद्ध के लिए कटिबद्ध हो जाना चाहिए। इस भाव-युद्ध के योग्य शरीर को प्राप्त करके कोई २ उसी भव में सकल कर्मों का क्षय करके मोक्ष को प्राप्त करते हैं जिस तरह मरूदेवी माता ने मोक्ष प्राप्त किया। कोई सात या आठ भव में मोक्ष में जाते हैं यथा भरतादि। कोई अपार्ध पुद्गल परावर्तन में मुक्ति पाते हैं और कोई २ ऐसे व्यक्ति हैं जो इस अमूल्य अवसर को यों ही खो देते हैं। वे भाव-युद्ध में विजयी नहीं हो सकते अतएव वे कदापि सिद्ध नहीं होते यथा अभव्य जीव। इन सब बातों का विचार करके आध्यात्मिक संग्राम में विजय प्राप्त करना चाहिए।

जहित्थ कुसलेहिं परिन्नाविवेगे भासिए, चुए हु बाले गब्भाइसु रज्जइ, अस्सिं चेयं पवुच्चइ, रूवंसि वा छणंसि वा।

संस्कृतच्छाया—*यथाऽत्र कुशलैः परिज्ञाविवेकः भाषितः (स तथैव श्रद्धेय इति शेषः) च्युतो बालः गर्भादिषु रज्यते, अस्मिन् चेतत् प्रोच्यते रूपे वा क्षणे वा।*

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

शब्दार्थ—जहित्थ=जिस प्रकार से इस संसार में। कुसलेहिं=तीर्थङ्कर देवों द्वारा। परिन्नाविवेगे=अध्यवसायों की भिन्नता। भासिए=कही गई है उसे वैसे ही माननी चाहिए। चुए=धर्म से पतित होकर। बाले=अज्ञानी जीव। गब्भाइसु=गर्भ एवं जन्म-मरण में। रज्जइ=फँसते हैं। अस्सिं=इस जैन शासन में ही। चेयं=इस प्रकार। पवुच्चइ=कहा गया है कि। रूवंसि वा=जो रूप में गृद्ध हैं वे। छणंसि वा=हिंसा में प्रवृत्त होते हैं।

भावार्थ—तीर्थंकर देव ने जिस प्रकार अध्यवसायों की विचित्रता का विवेक समझाया है उसे उसी तरह स्वीकार करना चाहिए। कितने ही साधक धर्म को प्राप्त कर भी भ्रष्ट हो जाते हैं और गर्भादिक में दुख का अनुभव करते हैं। इस जिनशासन में ऐसा कहा गया है कि जो रूपादि विषयों में आसक्त होते हैं वे हिंसा में प्रवृत्त होते हैं।

विवेचन—ऊपर के सूत्र में आत्म-युद्ध और अन्तर्दृष्टा का कथन किया गया है। अन्तर्दृष्टि होने के लिए विवेक की आवश्यकता है। विवेकी का अर्थ बाह्य दुनिया के व्यवहार में कुशल होना नहीं है परन्तु आभ्यन्तर प्रवृत्तियों में कुशल होना है। विवेक-बुद्धि का झुकाव अन्तःकरण की ओर होता है। अतएव अन्तर्दृष्टा साधक बाह्य दुनियां की निन्दा स्तुति की परवा किए बिना ही केवल आत्माभिमुख होकर आत्मकल्याण के लिए ही क्रियाएँ करता है। जिन साधकों को अन्तर्दृष्टि प्राप्त नहीं है वे केवल लोक-दिखाव और लोकरंजन के लिए क्रियाएँ करते हैं अथवा लोक की निन्दा के भय से अथवा लोक की तारीफ प्राप्त करने के हेतु धार्मिक क्रियाएँ करते हैं। उन्हें आत्मा का जितना डर नहीं होता उतना लोक का भय होता है। परन्तु इस प्रकार की क्रियाएँ उतनी हितावह नहीं हो सकतीं क्योंकि इनका आशय शुद्ध नहीं है।

तीर्थंकर देवों ने अध्यवसायों की शुभाशुभता पर कर्मबन्धन की निबिड़ता या शिथिलता का आधार कहा है। अगर अध्यवसाय (परिणाम) अशुद्ध है तो चाहे जैसी क्रिया भी क्यों न की जाय वह अशुद्ध ही होगी। एवं शुद्ध परिणामों से की जाने वाली क्रिया कर्मबन्धन का कारण नहीं होती। यही बात अन्यत्र इन शब्दों में कही गई है कि—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

अर्थात्—मनुष्यों का मन ही (अध्यवसाय ही) बन्ध और मोक्ष का कारण है। डाक्टर रोगी के रोग को दूर करने के लिए उस पर शस्त्र-क्रिया करता है जिससे रोगी को पीड़ा तो पहुंचती है लेकिन डॉक्टर का आशय रोगी को पीड़ा पहुँचाने का नहीं वरन् पीड़ा को दूर करने का है अतएव डॉक्टर की प्रयुक्त शस्त्र-क्रिया कर्मबन्धन का कारण नहीं हो सकती। इसी तरह आचार्य शिष्यों को सन्मार्ग पर लाने के लिए उन्हें अनुशासित करते हैं इससे शिष्यों को मानसिक पीड़ा पहुँचती है—यद्यपि सच्चे शिष्यों को नहीं पहुँचनी चाहिए—तो भी आचार्य का अनुशासन कर्मबन्ध का कारण नहीं होता है। इसके विपरीत एक प्राणी पराधीन होने के कारण या अशक्त होने के कारण पाप-क्रिया नहीं करता लेकिन मन से वैसा करने की अभिलाषा और मनोरथ करता है तो भी वह घोर पाप का भागी होता है। इसके लिए तन्दुलमत्स्य का दृष्टान्त विचारणीय है। अध्यवसायों की प्रशस्तता और अप्रशस्तता क्या कर दिखाती है यह प्रसन्नचन्द्र राजर्षि के दृष्टान्त से समझा जा सकता है। उन्होंने अपने अप्रशस्त अध्यवसायों में सप्तम नरक के योग्य

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

पुद्गल एकत्रित कर लिए थे और कुछ ही क्षणों में उन्होंने अपने प्रशस्त अध्यवसायों के बल पर सकल घातिकर्मों का क्षय करके निरावरण केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त किया। यह भावनाओं की प्रबलता का परिणाम है। अतएव बाहर की ओर दृष्टि न रखकर प्रतिपल अपनी अन्तर्दृष्टि द्वारा अपनी वृत्तियों पर विजय प्राप्त करनी चाहिए। तीर्थंकर देवों ने अध्यवसायों की विचित्रता को कर्म-वैचित्र्य का कारण कहा है और कर्म-वैचित्र्य से जग-वैचित्र्य होता है। तीर्थंकरों के इन अध्यवसायों के विवेक को तथारूप से मान्य करना चाहिए। यह समझ (विवेक) जिनमें नहीं है वे साधना के मार्ग में बाल हैं। वे यथारूप से संयम का पालन नहीं कर सकते हैं। इससे यह फलित होता है कि शुद्ध अध्यवसायमय जीवन ही जीवन है। जीवन को टिकाना सरल है लेकिन जीवन जीना कठिन है। अन्तर्दृष्टि से जीवन जीने की कला आ सकती है।

ऊपर यह कहा गया है कि अध्यवसायों की अशुद्धि पर पतन रहा हुआ है। अब यहाँ यह कहा जाता है कि—प्रत्येक प्राणी उन्नति चाहता है; कोई पतन को नहीं चाहता फिर भी पतन का कारण क्या है? सूत्रकार महात्मा फरमाते हैं कि विषयासक्ति और हिंसा का गाढ़ सम्बन्ध है और ये ही पतन का कारण है। प्राणी यद्यपि विकास का अभिलाषी है तदपि वह अपनी मिथ्या धारणाओं से पदार्थों में अपना विकास देखता है लेकिन कहीं जड़ भी चेतन के विकास का कारण हो सकता है? पदार्थों में आसक्त होकर प्राणी हिंसादि पापकर्मों में प्रवृत्त होता है यही उसके पतन का कारण है। जहाँ आसक्ति-ममता है वहाँ हिंसा अवश्यमेव है। जो क्रिया विषयासक्तिपूर्वक की जाती है वह क्रिया हिंसात्मक है। इस बात को नहीं समझने वाले साधक पतन को प्राप्त करते हैं। जैनशासन में यह बात बड़े स्पष्टरूप से कही गई है। जैनदर्शन यह कहता है कि जहाँ ममता है वहाँ हिंसा अवश्यम्भावी है। जो साधक इसे नहीं समझते हैं वे संसार में गोते खाते हैं और विपरीत मार्ग पर चढ़ जाते हैं। साधकों की यह गम्भीर भूल ही उनके पतन का कारण होती है। पदार्थों में आसक्त होकर प्राणी संयम से पतित हो जाते हैं और गर्भ, जन्म, मरणादि के चक्र में फँस कर गम्भीर वेदनाओं का अनुभव करते हैं।

यहाँ "रूप" शब्द और "हिंसा" शब्द उपलक्षण हैं। रूप से पाँचों इन्द्रियों के विषय का ग्रहण समझना चाहिए और हिंसा से समस्त आस्रव-द्वार समझने चाहिए। इन्द्रिय विषयों में रूप प्रधान है और आस्रव द्वारों में हिंसा प्रधान है अतएव उनका यहाँ ग्रहण किया गया है।

जैनदर्शन में निरासक्ति एवं अहिंसा पर मुख्य भार दिया गया है। जो निरासक्त होता है वह किसी भी प्राणी को लेशमात्र भी पीड़ा नहीं पहुँचाता है। यही निरासक्ति का चिन्ह है। जहाँ वह बात नहीं देखी जाती वहाँ समझना चाहिए कि यह निरासक्ति नहीं लेकिन इसकी ओट में दम्भ है। इसी तरह वही साधक अहिंसक हो सकता है जो निरासक्त है। यों निरासक्ति और अहिंसा के गाढ़ सम्बन्ध को समझना चाहिए। जैनदर्शन की यह मुख्य विशेषता है।

से हु एगे संविद्धपहे मुणी, अन्नहा लोगमुवेहमाणे, इय कम्म परिण्णाय सव्वसो से न हिंसइ, संजमइ, नो पगब्भइ, उवेहमाणो पत्तेयं सायं वएणाएसी नारभे कंचणं सव्वलोए एगप्पमुहे विदिसप्पइन्ने निव्विण्णचारी अरए पयासु।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

संस्कृतच्छाया—*स एवैकः संविद्धपथः मुनिः, अन्यथालोकमुत्प्रेक्षमाणः, इति कर्म परिज्ञाय सर्वशः स न हिनस्ति, संयमयति न प्रगल्भते, उत्प्रेक्षमाणः प्रत्येकं सातं, वर्णादेशी नारभते कञ्चन (पापारम्भं) सर्वस्मिन् लोके, एकात्ममुखः, विदिक्प्रतीर्णः, निर्विण्णचारी, अरतः प्रजासु ।*

शब्दार्थ—से हु=वही । एगे=एक । मुणी=सच्चा मुनि है जो । लोगम्=संसार को । अन्नहा=मोक्षमार्ग से विपरीत प्रवृत्ति करते हुए व दुखी । उवेहमाणे=देखकर । संविद्धपहे=स्वयं मोक्षमार्ग पर भली प्रकार चलता रहता है । इय=इस कारण से । कम्म=कर्म को । सव्वसो=सर्वथा । परिण्णाय=जानकर । पत्तेयं सायं=प्रत्येक जीव के सुख-दुख को अलग २ । उवेहमाणो=देखता हुआ । से=वह । न हिंसइ=किसी की भी हिंसा नहीं करता है । संजमइ=संयम का पालन करता है । नो पगब्भइ=धृष्टता नहीं करता है । वण्णाएसी=यश का अभिलाषी । सव्वलोए=सब संसार में । कंचण=किसी तरह का । नारभे=आरंभ नहीं करता है । एगप्पमुहे=आत्माभिमुख होकर । विदिसपइन्ने=मोक्षातिरिक्त दिशा में न जाने वाला । पयासु=स्त्रियों में । अरए=गृद्ध न होता हुआ । निविण्णचारी=आरम्भ से उदासीन रहे ।

भावार्थ—वही साधक सचमुच मुनि है जो संसार को मोक्षमार्ग से विपरीत प्रवृत्ति करते हुए देखकर तथा उनके दुखों का विचार करके मात्र मोक्षमार्ग पर चला जाता है । ऐसा साधक कर्म के स्वरूप को जानकर "प्रत्येक जीव का सुख-दुख अलग अलग है" यह विचार कर किसी जीव को कष्ट नहीं पहुँचाता है, संयम मार्ग में प्रवृत्ति करता है, व धृष्टता का त्याग करता है । सुयश चाहने वाला मुनि संसार में किसी प्रकार की पापप्रवृत्ति नहीं करता है (अथवा सच्चा साधक यश कीर्ति की भावना से कोई क्रिया नहीं करता है) वह केवल मोक्ष की तरफ दृष्टि रखकर, इधर उधर नहीं भटकता है और स्त्रियों में गृद्ध नहीं होता हुआ सभी आरम्भों से उदासीन (दूर) रहता है ।

विवेचन—इस सूत्र में मोक्ष को ही साध्य मानकर उसी ओर प्रवृत्ति करने का उपदेश दिया गया है । पूर्व सूत्रों में अध्यवसायों की शुद्धि और अशुद्धि पर मोक्ष और बंध होना कहा गया है । सच्चे साधक के अध्यवसाय विशुद्ध ही होते हैं । वह जो क्रियाएँ करता है उसके मूल में शुद्ध आशय होता है । उसकी समस्त क्रियाएँ मोक्ष के उद्देश्य को लक्ष्य में रखकर ही होती हैं । वह शर्म, भय और लोक निन्दा या स्तुति से प्रेरित होकर क्रियाएँ नहीं करता । साधक जब साधना के मार्ग में आगे बढ़ जाता है तब उसे प्रतिकूल प्रसंगों की अपेक्षा अनुकूल प्रसंगों से विशेष सावधान रहने की आवश्यकता होती है । इसका कारण यह है कि साधना के फलस्वरूप उसे अनेक प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं; जनसमुदाय उसकी ओर आकर्षित होने लगता है । ऐसे समय पर मान, प्रतिष्ठा और अहंकार साधक को नीचे न गिरा दें इसके लिये विशेष सतर्क रहने की आवश्यकता है । उच्चकोटि पर पहुँचे हुए साधक भी अनुकूल संयोगों में अपने आप पर काबू न होने की वजह से पतन को प्राप्त हुए हैं । मान, प्रतिष्ठा और बड़ाई को सहन कराना—पचाना अति कठिन है । मान प्रतिष्ठा का भूत जब सवार हो जाता है तो साधक के आध्यात्मिक-जीवन

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

का सर्वनाश हो जाता है। अतएव साधक को मोक्ष के अतिरिक्त अन्य किसी लक्ष्य की ओर दृष्टिनिपात ही न करना चाहिए। साधक के लिए सबसे अच्छी बात यह है कि वह इच्छा मात्र का नाश करे—चाहे वह इच्छा अच्छी हो या बुरी। इच्छा कालान्तर में आसक्ति रूप में बदले बिना नहीं रहती। अतएव साधक इच्छा मात्र का निरोध करे। मोक्षदृष्टि के सिवाय उसकी दृष्टि और कहीं नहीं जानी चाहिए।

दुनियाँ के प्राणी मोक्षमार्ग से विपरीत प्रवृत्ति कर रहे हैं। वे विषय कषायादि से व्याप्त हैं और हिंसादि आरम्भों में प्रवृत्त हो रहे हैं अतएव दुख पा रहे हैं यह विचार कर साधक मोक्षमार्ग में ही प्रवृत्ति करे। दुनियाँ चाहे जिस ओर बहे, सच्चा साधक अपने निश्चित मोक्षमार्ग पर चलता ही रहता है। वह दुनियाँ की परवा नहीं करता। दूसरे दुनिया के मानवी अपनी मान पूजा व प्रतिष्ठा के लिए कार्य करते हों अथवा अपने अनुयायी—सेवक बढ़ाने में लगे हों तो भी वह साधक इन से लुब्ध और मुग्ध नहीं होता। वह दुनिया का अंध-अनुकरण नहीं करता वह तो अपने पुरुषार्थ से अपने मोक्षमार्ग पर अविचल चला करता है। ऐसा साधक ही सच्चा मुनि है। कहीं कहीं पर "संविद्धभये" ऐसा पाठ मिलता है इसका अर्थ यों समझना चाहिए कि हिंसादि आस्रवों से डर कर जो उनसे निवृत्त होता है वही मोक्षमार्ग का पथिक साधु है।

सच्चा साधक कर्म के स्वरूप को भलीभांति जानता है और उसके उपादान कारणों का विचार करके सर्वथा उनसे दूर रहता है। ज्ञ-परिज्ञा द्वारा कर्म व उसके उपादानों को जानता है और प्रत्याख्यान परिज्ञा द्वारा उन्हें त्यागता है। कर्म के स्वरूप का द्रष्टा साधक यह समझता है कि प्रत्येक प्राणी की कर्म-परिणति भिन्न-भिन्न है अतएव उनके आशय और उनसे होने वाले सुख-दुख सबके निराले-निराले हैं। प्रत्येक प्राणी अपने कर्मों के फल से सुखी है या दुखी। उसके कर्मों का फल उसे ही प्राप्त होता है। अन्य के सुख से अन्य सुखी और अन्य के दुख से अन्य दुखी नहीं होता है। प्रत्येक प्राणी अपने कर्म से स्वयं दुखी और सुखी होता है। प्रत्येक प्राणी साताभिलाषी है अतएव वह साधक किसी भी प्राणी को पीड़ा नहीं पहुँचाता है। न स्वयं हिंसा करता है, न करवाता है और न अनुमोदन करता है। वह संयमी जीवन व्यतीत करता है। अहिंसा और संयम उसके जीवन में पूर्णरूप से उतर जाते हैं। वह इस प्रकार उच्च स्थिति पर पहुंच जाता है तदपि वह अभिमान नहीं करता है, अपने को प्राप्त हुई ऋद्धि का या लब्धि का अथवा सुख के साक्षात्कार का प्रदर्शन नहीं करता। उच्चस्थिति पर आने पर सहज ही सामान्य प्राणी को अभिमान आ घेरता है। वह अपनी सम्पत्ति का, शक्ति का प्रदर्शन करने लगता है लेकिन यह अपूर्णता की निशानी है। इसलिए सूत्रकार फरमाते हैं कि वह साधक प्रगल्भता से दूर रहता है। अथवा प्रगल्भता से दूर रहने का अर्थ यह भी हो सकता है कि कदाचित् साधक से कोई दोष हो जाय तो वह उसे स्वीकार करके सुधार लेता है, धृष्टता नहीं करता है। दोष-सेवन करने पर वह बेशर्म नहीं होता लेकिन अपनी गलती पर अफसोस प्रकट करता है। यहाँ "हिंसा नहीं करता है" आदि उपलक्षण है इससे यह समझना चाहिए कि मोक्षदृष्टा साधक क्रोध नहीं करता, मान से दूर रहता है, माया और लोभ को पास नहीं आने देता।

अन्तर्दृष्टा साधक मोक्ष के निर्मल यश को चाहने वाला होता है अतएव वह दुनिया के यश की परवा न करते हुए किसी सावद्य प्रवृत्ति का आरम्भ नहीं करता है। "वण्णाएसी" शब्द का अर्थ यश को चाहने वाला होता है। सच्चा साधक दुनिया के यश को प्राप्त करने के लिए तपश्चर्या या संयमादि क्रिया नहीं करता है। उसका ध्येय लोक-स्तुति का होता ही नहीं है। जहाँ लोक-स्तुति की भावना है वहाँ बाह्य-दृष्टि शेष है। वहाँ अन्तर्दृष्टि नहीं समझनी चाहिए। जब बाह्यदृष्टि रहती है तब अन्तर्दृष्टि भुला दी जाती है। बहुत से उच्चकोटि के साधक भी इस कीर्ति-लोभ का संवरण नहीं करते लेकिन यह उनकी कमजोरी है। लोकयश प्राप्त करने की भावना आसक्ति का परिणाम है। लोकयश चाहना और निरासक्त होना ये दोनों

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

क्रियाएँ विरोधी हैं। सच्चा साधक लोकयश की कामना नहीं करता। वह तो मोक्ष के सिवाय और सभी कामनाओं का क्षय कर देता है। वह इधर-उधर कहीं नहीं भटकता। उसका मोक्ष—लक्ष्य सदा ध्रुव के समान उसकी दृष्टि के सामने रहता है। वह स्त्री आदि में आसक्त नहीं होता है और सावद्य अनुष्ठानों से उदासीन होता है।

इस प्रकार साधक बहिर्मुखता का त्याग करता है और अन्तर्दृष्टि का विकास करता है। मोक्ष के अतिरिक्त अन्य सभी मार्गों से वह अपनी दृष्टि फेर लेता है। जैसे ध्रुव कांटे की सूई सदा उत्तर की ही ओर रहती है उसी तरह उसकी दृष्टि भी सदा सर्वदा मोक्ष की ओर ही होती है।

से वसुमं सव्वसमन्नागयपन्नाणेणं अप्पाणेणं अकरणिज्जं पावकम्मं तं नो अन्नेसी जं सम्मंति पासहा तं मोणंति पासहा, जं मोणंति पासहा तं सम्मंति पासहा, न इमं सक्कं सिढिलेहिं अद्दिज्जमाणेहिं, गुणासाएहिं वंकसमायरेहिं पमत्तेहिं गारमावसंतेहिं। मुणी मोणं समायाए धुणे सरीरगं, पंतं लूहं सेवंति वीरा सम्मत्तदंसिणो एस ओहन्तरे मुणी तिण्णे मुत्ते विरए वियाहिए त्ति बेमि।

संस्कृतच्छाया—*स वसुमान् सर्वसमन्वागतप्रज्ञानेन आत्मना अकरणीयं पापकर्म तन्नान्वेषति, यत्सम्यगिति पश्यत तन्मौनमिति पश्यत, यन्मौनमिति पश्यत तत्सम्यगिति पश्यत, नेदं शक्यं शिथिलैः, आर्द्रीक्रियमाणैः, गुणास्वादैः वक्रसमाचारैः, प्रमत्तैः, अगारमावसद्भिः। मुनिः मौनं समादाय धुनीयात्शरीरकं, प्रान्तं, रूक्षं सेवन्ते वीराः सम्यक्त्वदर्शिनः। एष ओघन्तरः मुनिः तीर्णः मुक्तः विरतः व्याख्यात इति ब्रवीमि।*

शब्दार्थ—से=वह। वसुमं=संयम-धन वाला साधक। सव्वसमन्नागयपन्नाणेणं=सभी तरह से उत्तम प्रकार से ज्ञान प्राप्त की हुई। अप्पाणेणं=आत्मा से। अकरणिज्जं=नहीं करने योग्य। पावकम्मं=पापकर्म है। तं=उसे। नो अन्नेसी=नहीं करता है—दृष्टि भी नहीं डालता है। जं=जिसको। सम्मंति=सम्यक्त्व। पासहा=जानो। तं=उसे। मोणं=मुनिधर्म। पासहा=जानो। जं=जो। मोणंति=मुनिधर्म। पासहा=जानो। तं=उसे। सम्मंति=सम्यक्त्व। पासहा=जानो। सिढिलेहिं=धैर्यहीन। अद्दिज्जमाणेहिं=ममता से आर्द्र। गुणासाएहिं=विषयासक्त। वंकसमायरेहिं=मायावी। पमत्तेहिं=प्रमादी। गारमावसंतेहिं=घर में रहने वाले साधकों द्वारा। इमं=यह सम्यक्त्व या मुनित्व। न सक्कं=नहीं पाला जा सकता है। मोणं=मुनिधर्म को। समायाए=धारण करके। मुणी=मुनि। सरीरगं=शरीर को। धुणे=कसे-कृश करे। वीरा=वीर। समत्तदंसिणो=सम्यक्त्वदर्शी। पंतं=हल्का। लूहं=लूखा आहार। सेवंति=करते हैं। एस=ऐसा मुनि। ओहंतरे=संसार को तिरता है। तिण्णे=वह संसार-सागर से तीर्ण-तुल्य है। मुत्ते=मुक्त हो गया है। विरए=आरम्भ से मुक्त। वियाहिए=कहा गया है। त्ति बेमि=ऐसा मैं कहता हूँ।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

भावार्थ—ऐसे संयमी मुनि सभी तरह से पवित्र बोध को प्राप्त करके नहीं करने योग्य पापकर्म की ओर दृष्टि तक नहीं डालते हैं। जो सम्यक्त्व है वह मुनिधर्म है और जो मुनिधर्म है वह सम्यक्त्व है। ऐसा सम्यक्त्व अथवा मुनिधर्म, शिथिलाचारी धैर्यहीन, निर्बल मन वाले—ममता से आर्द्र, विषयासक्त, मायावी, प्रमादी और घर में रहने वाले (घर पर ममता रखने वाले) साधकों से नहीं पाला जा सकता है। सच्चे मुनि ही मुनिधर्म को अंगीकार करके शरीर को कसते—कृश करते हैं। ऐसे सत्यदर्शी वीर साधक हल्का और लूखा आहार करते हैं। ऐसे साधक ही संसार-समुद्र से पार होते हैं। सावद्य अनुष्ठान से विरत होने वाले साधक संसार से तिरे हुए और मुक्त कहे जाते हैं। ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—इस सूत्र में सूत्रकार मुनिधर्म की और सम्यक्त्व की एक रूपता का प्रतिपादन करते हैं। पहिले के सूत्र में लोककीर्ति की भावना का त्याग करने का कहा गया था। इसका अर्थ कोई साधक यह न समझ ले कि सदा सर्वदा दुनिया से निराला ही रहना। दुनिया जिस मार्ग पर चलती हो उससे ठीक उल्टे मार्ग पर चलना। सूत्रकार तो यह फरमाते हैं कि दुनिया के अनुकूल चलना या विपरीत चलना इससे कुछ प्रयोजन नहीं है। वास्तविक प्रयोजन तो सत्य से है। जहाँ सत्यदर्शीत्व है वहाँ मुनित्व है और जहाँ मुनित्व है वहाँ सत्यदर्शीत्व है। इस वाक्य में सूत्रकार ने समस्त उद्देशक का सार भर दिया है।

यहाँ सम्यक्त्व का अर्थ निश्चय सम्यक्त्व लेना चाहिए। वैसे चतुर्थ गुणस्थान में सम्यक्त्व पाया जाता है परन्तु वहाँ मुनिधर्म नहीं पाया जाता। अतएव सम्यक्त्व का अर्थ निश्चय समकित से है। जहाँ ऐसा सम्यक्त्व है वहाँ ज्ञान है और जहाँ ज्ञान है वहाँ विरति है क्योंकि ज्ञान का फल विरति (चारित्र) कहा गया है। ज्ञान और सम्यक्त्व (दर्शन) सहभावी है। ज्ञान के होने से दर्शन सम्यग्दर्शन है और सम्यग्दर्शन के होने से ज्ञान सुज्ञान है। इस प्रकार ज्ञान, दर्शन और चारित्र की एकरूपता समझनी चाहिए। इसी एकरूपता को लक्ष्य में रखकर यहाँ यह कहा है कि जहाँ सम्यक्त्व है वहाँ मुनिधर्म है और जहाँ मुनिधर्म है वहाँ सम्यक्त्व है। सच्चा साधक सत्यदृष्टि को सन्मुख रखकर ही क्रिया करता है। वह लोक-निन्दा से नहीं डरता और लोक-स्तुति की इच्छा नहीं करता। यद्यपि कई बार ऐसा होता है कि कई साधक लोकनिन्दा से डरकर भी संयम का पालन करते हैं। लोकनिन्दा का भय उन्हें साधना के मार्ग से गिरने से रोक लेता है और वे संयम का पालन करते रहते हैं लेकिन इसमें प्रामाणत्व नहीं है। वास्तविक संयम की आराधना वही है जो आत्मदृष्टि को लक्ष्य में रखकर ही की जाती है। अतएव सूत्रकार कहते हैं कि जहाँ आत्मज्ञान है वहाँ सम्यक्त्व है और जहाँ सम्यक्त्व है वहाँ मुनिधर्म है अतएव सम्यक्त्व—सत्यदर्शीत्व की ओर विशेष सावधान रहने की आवश्यकता है। ऐसा सत्यदर्शी साधक इस संसार में किसी भी अकरणीय पाप क्रिया की ओर दृष्टि भी नहीं डालता है। जिसने सत्यतत्त्व का बोध कर लिया है वह अवश्य ही आरम्भ से निवृत्त होता है। सत्यज्ञान की सार्थकता विरति से ही है। कहा भी है "णाणस्स फलं विरइ"।

सूत्रकार सम्यक्त्व एवं मुनित्व का अन्योन्याश्रय भाव बताने के बाद यह फरमाते हैं कि कैसा साधक इसका पालन कर सकता है और कौन इसका पालन नहीं कर सकता। जो साधक कमजोर दिल का है, जो संयम में धीरता नहीं रख सकता, जो स्त्री, पुत्र आदि के मोह से घिरा हुआ है, जो इन्द्रियों के विषय में आसक्त है, जो वक्रता एवं मायाचार का सेवन करता है, जो प्रमादी है और जो घर गृहस्थी के झंझटों में पड़ा हुआ है, जिसे घर आदि की ममता है वह साधक कदापि सम्यक्त्व का एवं साधुत्व का सम्यग् प्रकार से पालन नहीं कर सकता है। ऐसा साधक लोकदृष्टि को लक्ष्य में रखे तो ही वह कुछ कर

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

सकता है। ऐसे अपरिपक्व व्यक्तियों के लिए लोकदृष्टि आवश्यक है। जो व्यक्ति ऐसी स्थिति पर पहुँच गया है कि जो विवेक कर सकता है, अन्तःकरण की आवाज को समझ सकता है वही लोकदृष्टि की उपेक्षा कर सकता है। कच्चे व्यक्तियों के लिए लोकदृष्टि का विचार करना आवश्यक है। इसके विपरीत जो साधक धैर्यवान्, अनासक्त, कपटरहित, प्रपञ्चमुक्त और अप्रमत्त होते हैं वे ही इस सत्यदर्शीत्व और मुनित्व का सम्यक पालन कर सकते हैं।

जो साधक मुनिधर्म को अङ्गीकार करके कर्मरूप शरीर का धुनन करते हैं अथवा जो औदारिक शरीर का निग्रह करते हैं और शरीर का निग्रह करने के लिए आहार में पूरा संयम रखते हैं—लूखा सूखा भोजन करते हैं वे वीर समदर्शी पुरुष कर्म का विदारण करते हैं और संसार रूपी सागर को तैर जाते हैं। यहाँ सूत्रकार यह कहना चाहते हैं कि मुनिधर्म के पालन के लिए आहारादि पर पूरा संयम करना चाहिए। वैसे ही शरीर और इन्द्रियाँ अनादि वासना से वासित होने से विषयों की ओर दौड़ती हैं इस पर उन्हें यदि रस युक्त पोषक पदार्थों से पुष्ट बनाई जाय तो उनके आवेश का फिर क्या कहना? इन्द्रियों के आवेश के शमन के लिए आहार पर—स्वाद पर पूरा निग्रह रखना चाहिए। जो साधक स्वादेन्द्रिय को नहीं जीत सकते हैं वे साधना में निष्फल होते हैं। अतएव शरीरनिग्रह के लिए जो वीर साधक विगय-रहित हलका सात्विक आहार करते हैं वे संयम की भलीभांति रक्षा कर सकते हैं अतएव वे संसार से पार हो जाते हैं।

देह पर मोह और ममत्व जितने अंश में दूर हो उतने ही अंश में साधुता समझनी चाहिए। मोह और ममता दूर हो तो पाप-प्रवृत्ति से दूर रहा जा सकता है। जो पाप-प्रवृत्ति से दूर रहते हैं उन्हें महा-पुरुषों ने तीर्ण और मुक्त कहा है। यद्यपि वे अभी तक संसार में विद्यमान हैं, क्रियाशील हैं तदपि वे तीर्ण और मुक्त हैं ऐसा कहने का विशेष प्रयोजन है। वह प्रयोजन यह है कि जिन साधकों ने पापारम्भ प्रवृत्ति रोक दी है वे कर्मबन्ध के कारणों को—रागद्वेष आसक्ति को—दूर कर चुके हैं अतएव उन्हें कर्मबन्ध नहीं होता इसलिये वे तीर्ण हैं और मुक्त हैं। निकट भविष्य में ही वे मुक्त और तीर्ण होने वाले हैं इस अपेक्षा से भी ऐसा कहा जाता है। कर्मबन्ध वहीं तक होता है जबतक आसक्ति—रागद्वेष है। आसक्ति मिट जाने के बाद कर्मबन्ध नहीं है। जिस प्रकार मिट्टी का लौंदा गीला होने से दीवार पर चोंट जाता है लेकिन सूखा हुआ मिट्टी का गोला दीवार पर नहीं लगता और नीचे गिर जाता है इसी तरह निरासक्त साधक के आसक्तिरूप स्निग्धता न होने से कर्मबन्ध नहीं होता और जो आसक्त हैं वे कर्मबन्ध के भागी हैं। पापारम्भ से निवृत्त साधकों को आसक्ति नहीं होती अतएव वे संसार में विद्यमान होते हुए भी मुक्त हैं।

—उपसंहार—

इस उद्देशक में निरासक्ति का स्वरूप कहा गया है। पदार्थ-त्याग किए बिना निरासक्ति नहीं हो सकती। अपरिग्रही बनने के लिए पदार्थों का त्याग अवश्य करना चाहिए, पदार्थ त्याग भी समतापूर्वक किया जाना चाहिए और त्याग के बाद अगर अनासक्ति नहीं आई तो वह त्याग भी साधक नहीं होता। इस में साधक को अपनी शक्ति का गोपन न करने का कहा गया है। शीलरक्षा चारित्र रूपी महल की बुनियाद है। अध्यवसायों पर कर्मबन्ध का आधार है। वृत्तियों का विजेता सच्चा विजेता है। जहाँ आसक्ति है वहाँ कर्मबन्धन है। जगत की बाह्यदृष्टि का त्याग करना और अन्तर्दृष्टि का विकास करना चाहिए। जहाँ सत्य है वहाँ आत्मज्ञान है, जहाँ आत्मज्ञान है वहाँ साधुता है। ऐसा मैं कहता हूँ।

इति तृतीयोद्देशकः

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

लोकसार नाम पञ्चम अध्ययन

—चतुर्थोद्देशकः—

गत उद्देशकों मे चारित्र को विकसित करने वाले अङ्गों का प्रतिपादन किया गया है। अब इस उद्देशक में चारित्र-विघातक स्वच्छंदता का निषेध करते हैं। स्वच्छन्दता साधक जीवन के लिए भयानक रोग है। स्वच्छन्दता साधक के लिए घोर पतन है। यह प्रकृति की उच्छृङ्खलता से उत्पन्न होती है। आजकल के स्वतंत्रता के युग में प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्रता की बात करता है लेकिन स्वतंत्रता को बहुत कम लोग समझते हैं। स्वतंत्रता को समझने के लिए स्वतंत्रता और स्वच्छन्दता का भेद समझने की आवश्यकता है। स्वतन्त्रता गुण है और स्वच्छन्दता दुर्गुण है। स्वतन्त्रता में आत्मा के अधीन प्रकृति होती है जबकि स्वच्छन्दता में आत्मा प्रकृति के अधीन हो जाती है। स्वतन्त्रता में नियमितता, व्यवस्था और विवेक होता है जबकि स्वच्छन्दता में उच्छृङ्खलता, अव्यवस्था और जड़ता होती है अतएव स्वच्छन्दता पतन है और स्वतन्त्रता उत्थान है। इसी स्वच्छन्दता के कारण साधक अकेला विचरने लगता है। वह अपनी प्रकृति और कषायवृत्ति द्वारा एकल-विहार अङ्गीकृत करता है परन्तु सूत्रकार यहाँ एक-चर्या को संयम के लिए हानिकारक समझाते हैं। पात्र-भेद से इस नियम में अपवाद हो सकता है तथापि सामान्यरूप से एक-चर्या का निषेध करते हुए सूत्रकार फरमाते हैं:—

गामाणुगामं दूइज्जमाणस्स दुज्जायं दुप्परक्कंतं भवइ अवियत्तस्स भिक्खुणो।

संस्कृतच्छाया—*ग्रामानुग्रामं दूयमानस्य (विहरतः) दुर्यातं दुष्पराक्रान्तं भवति अव्यक्तस्य भिक्षोः।*

शब्दार्थ—अवियत्तस्य=अपरिपक्व। भिक्खुणो=साधु का। गामाणुगामं=एक ग्राम से दूसरे ग्राम। दूइज्जमाणस्स=अकेले विचरना। दुज्जायं=निन्दनीय विहार है और। दुप्परक्कंतं=यह एकाकी विचरण असुन्दर। भवइ=होता है।

भावार्थ—ज्ञान और वय से अपरिपक्व साधु यदि अकेला एक ग्राम से दूसरे ग्राम जावे या फिरे तो उनका यह जाना और विचरना असुन्दर है—योग्य नहीं है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में एकलविहार का प्रतिषेध किया गया है। साधना का मार्ग आसान नहीं है। इस मार्ग पर चलते हुए अनेक प्रकार के प्रलोभन और संकट सामने उपस्थित होते हैं। ये प्रलोभन और संकट साधक को साधना के मार्ग से भ्रष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। अगर साधक जरा भी गफलत करता है तो समझना चाहिए कि उसका पतन हुआ। ऐसे प्रसंगों पर जागृति की प्रेरणा करने वाले सहकारी की अनिवार्य आवश्यकता होती है। इसी आशय से प्राचीनकाल से गुरुकुल की प्रणालिका

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

चली आ रही है। त्यागी साधकों के लिए भी गुरु-शिष्य का व्यवहार इसी आशय से उपयोगी है। उनमें भी गच्छ, अथवा सम्प्रदाय के नाम से यह प्रणालिका प्रचलित है। दुनिया के प्रत्येक धर्म-प्रवर्त्तक ने इसी आशय से इस प्रणाली को अपनाया है और साधकों में प्रगति, जागृति और व्यवस्था बनी रहे इसी हेतु से तीर्थ, संघ आदि की स्थापना की है। इस संघ, तीर्थ या गच्छ का अवलम्बन लेकर साधना के मार्ग में आसानी से आगे बढ़ा जा सकता है। अतएव गच्छ के अन्तर्गत रहकर साधना करनी चाहिए।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि साधकों के विकास और योग्यता में तरतमता रहती है। सभी साधक समान नहीं होते। जिन साधकों का विकास अधिक हो गया है, जो उच्च अवस्था तक पहुँच गये हैं उनके लिए गच्छ आदि अवलम्बन की उतनी आवश्यकता नहीं रहती जितनी कि अन्य साधकों के लिए रहती है। इसी आशय से कल्प और अकल्प का जैनागमों में भेद किया गया है। विशिष्ट ज्ञानी तीर्थङ्कर मनः पर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी, चतुर्दशपूर्वधारी आदि उच्च अवस्था पर पहुंचे हुए महापुरुषों के लिए कल्प नहीं हैं। वे कल्पातीत होते हैं। लेकिन उनका उदाहरण सामने रखकर यदि सामान्य साधक भी कल्प का पालन न करे तो इसका परिणाम बुरा होता है। एक समर्थ व्यक्ति उच्च जाति की मात्रा (रसायन) का सेवन करता है और वह उसे हज़म करके कान्तिवान्, हृष्टपुष्ट और बलवान् होता है। उसे देखकर यदि कमजोर व्यक्ति भी अपनी शक्ति का विचार न करके मात्रा का सेवन करे तो वह मात्रा उसके शरीर के लिए घातक सिद्ध होगी। इसी तरह उच्च अवस्था पर पहुँचे हुए महात्माओं का अनुकरण—अन्धानुकरण करके कोई सामान्य साधक गच्छादि के कल्प को तोड़ता है तो उसके लिए यह पतन का कारण है। अतएव तीर्थङ्करों के या प्रतिमा-प्रतिपन्न महात्माओं का उदाहरण देकर जो साधक गच्छ से बाहर निकल कर स्वच्छंद विचरते हैं वे अवश्यमेव पतित होते हैं।

सूत्रकार ने "अवियत्तस्स" विशेषण दिया है। अर्थात् अपरिपक्व साधु का एकलविहार निन्दनीय है। अपरिपक्वता दो अपेक्षाओं से समझनी चाहिए। एक श्रुत-कृत अपरिपक्वता दूसरी वय-कृत अपरिपक्वता। जो साधु ज्ञान और वय में अपरिपक्व है उसकी एक-चर्या निषिद्ध है। जिसने आचार कल्पों का अध्ययन नहीं किया है वह स्थविरकल्पी (गच्छान्तर्वर्त्ती) साधु श्रुत से अव्यक्त है। जिनकल्पी साधु नवम पूर्व की तृतीय वस्तु तक का ज्ञाता न हो तो वह श्रुत से अव्यक्त है। अवस्था से अव्यक्त गच्छान्तर्वर्त्ती वह है जो १६ वर्ष से कम है और जिनकल्पी वह है जो ३० वर्ष से कम है। यहाँ चतुर्भङ्गी है।

(१) श्रुत तथा वय से अव्यक्त।
(२) श्रुत से अव्यक्त, वय से व्यक्त।
(३) श्रुत से व्यक्त, वय से अव्यक्त।
(४) श्रुत से व्यक्त, वय से व्यक्त।

प्रथम भंग में वर्त्तमान साधकों को एक-चर्या नहीं कल्पती है। श्रुत और वय दोनों से अव्यक्त साधक यदि अकेला विचरेगा तो वह संयम और आत्मा की विराधना करेगा। दूसरे भंग में वर्त्तमान साधुओं को भी एक-चर्या नहीं कल्पती है। वे वय से व्यक्त हैं किन्तु अगीतार्थ होने से संयम और आत्मा-दोनों की विराधना कर सकते हैं। तृतीय भंगापन्न साधुओं को भी एक-चर्या अकल्पनीय है। वे श्रुत से व्यक्त हैं किन्तु अवस्था से अपरिपक्व होने से पराभव को प्राप्त हो सकते हैं। चोर एवं कुलिंगियों से भय की शंका रहती है अतएव उन्हें भी एक-चर्या नहीं कल्पती है। चतुर्थ भंग में रहे हुए साधक श्रुत और वय

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

दोनों से व्यक्त हैं इस कारण वे सकारण एक-चर्या कर सकते हैं। जो प्रतिमाधारी साधु हैं या जो अभिग्रहधारी है और उद्यतविहारी हैं वे सकारण एक-चर्या कर सकते हैं लेकिन बिना कारण उन्हें भी एकचर्या करनी नहीं कल्पती है। अब एक-चर्या से होने वाले कतिपय दोषों का उद्भावन करते हैं:—

एक-चर्या करने वाला साधक संयम, आत्मा और प्रवचन की हीलना करता है। वह यथोचित रीति से समितियों का पालन नहीं कर सकता है। एकाकी विचरने वाला साधु यदि व्याधि से ग्रस्त हो जाय तो उसकी परिचर्या करने वाला कोई न होने से उसकी कैसी दशा होगी यह समझा जा सकता है। यदि पर-वश बना हुआ साधु गृहस्थों द्वारा सेवा या उपचार करवाता है तो वे गृहस्थ छःकाय के जीवों का उपमर्दन करके अनुपयोग से कार्य करने वाले होने से साधु को संयम में अनेक दोष लगते हैं। इससे संयम की हानि होती है। अगर साधु गृहस्थों से सेवा न करावे तो अन्य सहधर्मियों के अभाव से उसकी परिचर्या न हो सकेगी इस तरह आत्मविराधना का प्रसंग आता है। कदाचित् अतिसारादि व्याधियों के होने पर मल-मूत्रादि से वस्त्र या शरीर के भरे होने से प्रवचन की हीलना हो सकती है। जो गच्छ में रहते हैं उनको ये दोष नहीं लगते हैं। जो गच्छनिर्गत हैं उनके दोष इन गाथाओं में बताये गये हैं:—

साहम्मिएहिं सम्मुज्जएहिं एगागिओ अ जो विहरे।
आयंकपउरयाए छक्कायवहंमि आवडइ ॥
एगागिअस्स दोसा इत्थी साणे तहेव पडिणीए।
भिक्खऽवियोहि महव्वय तम्हा सविइज्जए गमणं ॥

अर्थात्—अपने समुद्यत सहधर्मियों के होते हुए भी जो एकाकी विहार करता है वह शरीर में रोगादि उत्पन्न होने पर षट्काय के जीवों के वध में भागी होता है। अकेले विचरने वाले को स्त्री, श्वान एवं अन्य विरोधियों से अनेक प्रकार के दुख उत्पन्न हो सकते हैं। उन्हें एषणा सम्बन्धी दोष लगते हैं और महाव्रतों में भी भंग पड़ने का संभावना रहती है अतएव अपने सहधर्मियों के साथ विचरना चाहिए। गच्छ में रहकर विचरने वाला समर्थ साधु अपने साथ अनेक साधुओं को उन्नत बना सकता है, अनेक शिथिल बने हुए को तार सकता है इस तरह वह स्व-पर तारक हो सकता है। अतएव गच्छ में रहकर संयम की निर्मल आराधना करनी चाहिए। यह प्रश्न हो सकता है कि गच्छान्तर्वर्त्ती साधु को सभी तरह के सहायक मिलते हैं तो कौन सहधर्मियों को छोड़कर एकाकी विहार करना पसन्द करेगा? जब कोई एकाकी विहार नहीं कर सकता है तो उसका प्रतिषेध क्यों किया जाय? किसी चीज की सम्भावना हो तो ही प्रतिषेध करना योग्य है? इसका उत्तर यह है कि कर्मपरिणति के कारण दुनिया में कुछ भी अशक्य नहीं है। कई मूर्ख ऐसे भी हैं जो—स्वच्छन्दता रूपी रोग के लिए औषधि तुल्य, दुखरूपी प्रवाह में डूबते हुओं के लिए सेतु-तुल्य और समस्त कल्याणों के आधाररूप गच्छ में रहते हुए प्रमाद से भूल करने पर आचार्यादि द्वारा अनुशासन करने पर गच्छ को छोड़कर अलग हो जाते हैं। वे गुरु के हितोपदेश पर ध्यान न देकर, सद्धर्म का विचार न करके, कषाय के दुष्परिणाम से आँख मींचकर, कुलमर्यादा को लांघ कर, भावी अनर्थों की अवगणना करके, क्रोध से स्वच्छन्दाचारी बनकर गच्छ से निकल जाते हैं। वे इस लोक और परलोक में दुख परम्परा को प्राप्त करते हैं। कहा है:—

जह सायरम्मि मीणा संखोहं सागरस्स असहंता।
णिंति तओ सुहकामी णिग्गयमित्ता विणस्संति ॥

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

एवं गच्छसमुद्द सारणवीईहि चोइया संता ।
खिप्पं तओ सुहकामी मीणा व जहा विणस्संति ॥

अर्थात्—जैसे समुद्र के संक्षोभ को नहीं सहन करने वाली मछलियाँ समुद्र से बाहर सुख पाने की इच्छा से आती हैं लेकिन वे किनारे की रेती में पड़ कर विनष्ट हो जाती हैं उसी तरह जो आचार्यादि के अनुशासन को नहीं सहन करते हुए, सुख की इच्छा से स्वच्छन्द होकर गच्छ से निकल जाते हैं वे निकलते ही मछलियों की तरह नाश को प्राप्त करते हैं। और भी कहा है:—

गच्छम्मि केइ पुरिसा सउणी जह पंजरंतरणिरुद्धा ।
सारण-वारण-चोइय, पासत्थगया परिहरन्ति ॥
जहा दियापोयमपक्खजायं, सवासया पक्खिउमणं मणागं ।
तमचाइया तरुणमपत्तजायं ढंकादि अव्वत्तगमं हरेज्जा ॥

जैसे शकुनि पक्षी पिंजड़े में बन्द रहता है तो वह हिंसा नहीं कर सकता है उसी तरह जो साधु गच्छ में रहते हैं वे आचार्यादि द्वारा स्मरण (अपराध की याद) और वारण (पाप से रोकना) से प्रेरणा किये जाने पर अपने शिथिल आचार को त्याग देते हैं और सुधर जाते हैं। जिस तरह पंखरहित पक्षी का बच्चा अपने घोंसले से बाहर आने के लिए प्रयत्न करता है तो उसे मयूर आदि उठा ले जाते हैं इसी तरह जो साधु श्रुत और वय से अव्यक्त हैं वे यदि गच्छ से निकल जाते हैं तो विनाश को प्राप्त करते हैं।

कल्पातीत पुरुषों का एकलविहार उनकी उच्च भूमिका के कारण योग्य है लेकिन उनका अनुकरण यदि सामान्य साधक करें तो विनाश को प्राप्त करते हैं। जिस प्रकार स्थूलिभद्र के समान उच्चकोटि पर पहुंचे हुए साधु वेश्या के यहाँ रहे और वे अपनी साधना में संक्षुब्ध और विचलित न हुए। लेकिन उनका अनुकरण करके एक साधु ने भी वैसा ही किया तो वह पतित हो गया। इसी तरह जो व्यक्ति अपनी शक्ति को देखे बिना अन्धानुकरण करता है वह हानि उठाता है।

इन्द्रियों और पदार्थों का आकर्षण बड़ा तीव्र होता है। इस पर एकान्त-वास तो इनको वेग देने वाला हो जाता है। उच्चकोटि के ऋषि मुनियों के लिए एकान्तवास जहाँ हितकर है वहीं साधारण व्यक्तियों के लिए वह पाप का उत्तेजक भी हो जाता है। एकान्तस्थान में विषयों और इन्द्रियों पर काबू करना कठिन है। एकान्तस्थान चोर को चोरी करने का अवसर देता है, कामियों को काम-वासना का अवसर देता है और दोषियों को दोष सेवन का अवसर देता है। यह स्वच्छन्दाचार का पोषण करता है। ये मन और इन्द्रियाँ चिरकाल से विषयों की ओर दौड़ने की अभ्यासी हैं अतएव वे अवसर पाकर उस ओर शीघ्र दौड़ जाती हैं। एकान्त और एक-चर्या उन्हें वेग देती है। अतएव साधकों के लिए एक-चर्या का निषेध किया गया है।

वयसा वि एगे बुइया कुप्पंति माणवा, उन्नयमाणे य नरे महया मोहेण मुज्झइ, संबाहा बहवे भुज्जो भुज्जो दुरइक्कमा अजाणओ अपासओ, एयं ते मा होउ, एयं कुसलस्स दंसणं, तद्दिट्ठीए, तम्मुत्तीए, तप्पुरक्कारे तस्सन्नी

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

तन्निवेसणे, जयं विहारी चित्तनिवाई पंथनिज्झाई, पलिवाहिरे, पासिय पाणे गच्छिज्जा ।

संस्कृतच्छाया—*वचसाऽपि एके उक्ताः कुप्यन्ति मानवाः, उन्नतमानश्च नरो महता मोहेन मुह्यति, संबाधा बहव्यः भूयो भूयो दुरतिक्रमा अजानानस्य, अपश्यतः, एतत् ते मा भवतु एतत् कुशलस्य दर्शनम्। तद्दृष्टिः, तन्मुक्तिः, तत्पुरस्कारः, तत्संज्ञी, तन्निवेशनः, यतनया विहारी, चित्तानिपाती, पथनिर्ध्यायी, पलिबाह्यः (अवग्रहाद् बहिर्वर्ती) दृष्ट्वा प्राणिनः गच्छेत् ।*

शब्दार्थ—एगे माणवा=कोई मनुष्य । वयसा वि=वचनमात्र से भी । बुइया=कुछ कहने पर । कुप्पंति=क्रोध करते हैं । उन्नयमाणे य=और अभिमानी । नरे=मनुष्य । महया मोहेण=महा मोह से । मुज्झइ=विवेक शून्य बनते हैं । अजाणओ=ऐसे अज्ञानी । अपासओ=अतत्त्वदर्शी को । भुज्जो भुज्जो=बारबार । बहवे=बहुत सी । संबाहा=बाधाएँ । दुरइक्कमा=दुर्लङ्घनीय हो जाती हैं । एयं=ऐसा । ते=तुम्हारे लिए । मा होउ=न हो । एयं=ऐसा । कुसलस्स=वीर जिनेश्वर का । दंसणं=अभिप्राय है । तद्दिट्ठीए=साधक गुरु की दृष्टि से देखना सीखे । तम्मुत्तीए=गुरु द्वारा उपदिष्ट निःसंगता–अनासक्ति से रहे । तप्पुरक्कारे=सभी कार्यों में गुरु को आगे करके—बहुमान करके विचरे । तस्सन्नी=गुरु में पूर्ण श्रद्धा रखे । तन्निवेसणे=गुरु के पास रहने वाला हो । जयं विहारी=यतना से विहरने वाला हो । चित्तनिवाई=गुरु के अभिप्राय का अनुसरण करके। पंथनिज्झायी=मार्ग अवलोकन करने वाला । पलिवाहिरे=गुरु के अवग्रह से बाहर रहने वाला हो–न अधिक दूर न अधिक पास रहने वाला हो । पाणे पासिय=गुरु के द्वारा कहीं भेजे जाने पर प्राणियों को देखता हुआ । गच्छिज्जा=यतना से चले ।

भावार्थ—कितने ही साधक केवल वचन द्वारा ज्ञानीजनों की हित शिक्षा मिलते ही क्रोधित हो जाते हैं । वे अभिमानी पुरुष महा मोह से विवेक शून्य बन कर गच्छ से अलग हो जाते हैं । ऐसे अज्ञानी और अतत्त्वदर्शी पुरुषों को पश्चात् अनेक विपत्तियां आती हैं जिनका उल्लंघन करना उनके लिए कठिन है । इसलिए हे शिष्य ! तुम्हारे लिए ऐसा न हो । यह वीर जिनेश्वर का अभिप्राय है । इसलिए साधक सदा गुरु की बताई हुई दृष्टि से अवलोकन करना सीखे, गुरु द्वारा उपदिष्ट निःसंगता–अनासक्ति का पालन करे, सद्गुरु को सभी स्थानों में बहुमान पूर्वक प्रधानता दे, गुरु में पूर्ण श्रद्धा रक्खे और सदा गुरु के पास में रहे । सदा यतना से विचरने वाला हो, गुरु के अभिप्रायों के अनुसार वर्ताव करने वाला हो, गुरु के कहीं जाने पर उनकी राह देखने वाला हो और गुरु के शरीर से साढ़े तीन हाथ दूर रहकर सदा छाया की भांति उनके साथ रहे । गुरु के द्वारा कहीं भेजे जाने पर यतनापूर्वक जीव-जन्तुओं को देखता हुआ जावे ।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

विवेचन—पूर्व के सूत्र में एक-चर्या का निषेध किया गया है। इस सूत्र के प्रारम्भ में यह बताया गया है कि साधक सहज मिलने वाली गच्छ की प्रेरणा छोड़कर क्यों अकेला विचरने लगता है। सूत्रकार फरमाते हैं कि—तप संयमादि अनुष्ठान में सीदाते हुए प्रमाद से स्खलित शिष्यों को जब गुरु हितशिक्षा (अनुशासन) देते हैं तब कितनेक परमार्थ को न समझने वाले शिष्य गुरु के अनुशासन को अपना अपमान समझ कर क्रुद्ध हो जाते हैं। वे सोचते हैं कि गुरु ने मुझे इतने साधुओं के बीच में क्यों उपालम्भ दिया ? मैंने क्या किया ? दूसरे भी तो ऐसा करते हैं; जब दूसरे ऐसा करते हैं तो मुझे वैसा करने का अधिकार क्यों नहीं है ? गुरु उनसे तो कुछ नहीं कहते हैं केवल मुझे ही कहते हैं ? धिक्कार है इस जीवन को ! इस प्रकार महामोह के उदय से बुद्धि के प्रकाश पर आवरण आ जाने से वे आचार-विचार का विचार न करके तथा भविष्य में क्या हाल होगा इत्यादि सोचे बिना गच्छ से अलग होकर स्वच्छन्दाचारी बन जाते हैं। वे अभिमान से ग्रसित हो जाते हैं। उनकी आत्मा पर वृत्तियों का वेग विजयी बन जाता है जिसके फलस्वरूप उनका वैराग्य, संयम और जिज्ञासा सब अकारथ हो जाते हैं। उनमें संकुचितता आ जाती है और अहंवृत्ति पैदा होती है। अहंकार का अर्थ है विराट् आत्मस्वरूप को छोटे से व्यक्तित्व में समा देना। ज्यों-ज्यों अहंकार बढ़ता है त्यों-त्यों प्राणी अपने आपको दुनिया से महान् समझता है, त्यों-त्यों वह अज्ञान की अन्धेरी खाई में डूबता जाता है। वह अभिमान के पर्वत पर चढ़ता है लेकिन यह नहीं जानता कि मैं गिरने पर चकनाचूर हो जाऊँगा। मिथ्याभिमान से ग्रसित होकर अनुशासन दिये जाने पर विचारता है कि—मैं जाति, कुल, बल, ज्ञान आदि से उन्नत हूँ—मेरा भी गुरु तिरस्कार करते हैं ! यों वह अपनी मूढ़ता से गच्छ से बाहर निकल जाता है अथवा गच्छ से बाहर निकलने पर किसी ऐरे-गेरे व्यक्ति ने उसकी तारीफ कर दी कि यह उच्च कुल में उत्पन्न हुए हैं, सुन्दर स्वरूप वाले हैं, बोलने में बड़े कुशल हैं, वक्ता हैं, सौभाग्यशील हैं इस प्रकार सच्ची-झूठी तारीफ सुनकर वह गर्व से फूल उठता है और चारित्र मोह के द्वारा विवेक-शून्य बनता है। जिस प्रकार समुद्र से निकली हुई मछली विनाश को प्राप्त करती है उसी तरह गच्छ से निकला हुआ स्वच्छन्दाचारी भयंकर दुखों को प्राप्त करता है। एक-चारी होकर वह ऐसे दुखों को वेदता है जिसकी उसने पहिले कल्पना भी नहीं की थी। वह व्यक्ति अनेक निमित्तों से उत्पन्न होने वाली वेदनाओं का अतिक्रमण नहीं कर सकता है। वह अज्ञानी और अतत्त्वदर्शी यह नहीं जानता कि यह वेदना तो मेरे स्वयं के ही कर्मों का फल है। दूसरे व्यक्ति तो निमित्तमात्र हैं। यह उच्च भावना न होने से उसे कष्ट सहन करना भारी हो जाता है। यह एक-चर्या का दुष्परिणाम है यह कहकर आचार्य शिष्य से कहते हैं कि हे शिष्य! तुम्हारा यह हाल न हो। श्रीमद् वीर जिनेश्वर ने यह अभिप्राय व्यक्त किए हैं। इन्हें समझ कर स्वच्छन्दाचार से निवृत्ति करनी चाहिए और सदा गुरुकुल में रहते हुए आचार्य की आराधना करनी चाहिए।

आचार्य की आराधना किस प्रकार करनी चाहिए ? सद्गुरु की सेवा, भक्ति या सत्संग कब फलित होता है ? इसकी स्पष्टता भी सूत्रकार ने बतायी है। गुरु के समीप में रहे और गुरु की आज्ञा न माने तो वह भी स्वच्छन्दाचार ही है। ऐसे गुरु के समीप में रहने वाले—गच्छ में रहने वाले भी स्वच्छन्दाचारी ही हैं। उनका गच्छ में रहना भी निरर्थक हैं। उनको इससे कुछ भी लाभ नहीं होता। गुरु के समीप रहकर किस प्रकार वर्ताव करना चाहिए सो सूत्रकार बताते हैं:—

(१) सद्गुरु के द्वारा बतायी हुई दृष्टि से अवलोकन करना यह गुरुभक्ति का प्रथम रूप है। अपनी दृष्टि को छोड़कर जब साधक गुरु की दृष्टि से ही देखता है तो वह इष्ट फल प्राप्त कर सकता है। जब तक व्यक्ति अपनी दृष्टि को काम में लेता है तब तक वह गुरु के प्रति पूर्ण समर्पण नहीं कर सकता। पूर्ण

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

समर्पण के बिना भक्ति नहीं होती। कई साधक अपनी बातों को साथ में लेकर गुरु की शोध करते हैं लेकिन वे इससे लाभ नहीं उठा सकते। गुरु की दृष्टि से देखना अर्थात् गुरु की आज्ञा का तथारूप से पालन करना है। गुरु जिसे हेय, उपादेय या उपेक्षणीय समझते हैं उसे उसी तरह हेय, उपादेय, उपेक्षणीय समझना चाहिए। (२) गुरु ने जिस निस्संगता का उपदेश दिया है उसे स्वीकार करके अनासक्त बनना चाहिए। (३) सद्गुरु को प्रत्येक कार्य में प्रधानता देनी चाहिए। अथवा सद्गुरु जो कुछ प्रदान करे उसे सहर्ष स्वीकार करे। गुरु शिक्षा दे या प्रायश्चित्त दे उसे सहर्ष—प्रकृति-प्रतिकूल होते हुए भी—स्वीकार करना चाहिए। (४) गुरुदेव की वाणी पर सम्पूर्ण श्रद्धा रख कर तदनुसार जीवन बनाना चाहिए। जितने अंश में गुरुदेव पर श्रद्धा होती है उतने ही अंश में गुरु का संग फलीभूत होता है। गुरु के समीप रहना, यतनापूर्वक समस्त क्रियाएँ करना, गुरु के मनोगत भावों को चेष्टादि द्वारा जानकर तदनुकूल वर्ताव करना और छाया के समान गुरु के साथ रहना, गुरु के कहीं चले जाने पर उनके आने की प्रतीक्षा करना, इस प्रकार गुरु की आराधना करनी चाहिए। साथ ही सूत्रकार यह फरमाते हैं कि उपयोगपूर्वक प्रत्येक क्रिया करनी चाहिए। गुरुभक्ति अंधी नहीं होनी चाहिए वरन् विवेक-पूर्वक होनी चाहिए। शिष्य की एक भी क्रिया गुरु की आज्ञा से बाहर नहीं होनी चाहिए और गुरु की एक भी आज्ञा शिष्य के एकान्त हितरहित नहीं होनी चाहिए। इस प्रकार गुरु और शिष्य का पारस्परिक सम्बन्ध पवित्र और निर्मल होना चाहिए।

से अभिक्कममाणे पडिक्कममाणे, संकुचमाणे, पसारेमाणे, विणिवट्टमाणे संपलिमज्जमाणे एगया गुणसमियस्स रीयओ कायसंफासं समणुचिन्ना, एगतिया पाणा उद्दायंति, इहलोगवेयणविज्जावडियं जं आउट्टिकयं कम्मं तं परिन्नाय विवेगमेइ, एवं से अप्पमाएण विवेगं किट्टइ वेयवी।

संस्कृतच्छाया—*सो अभिक्रामन् प्रतिक्रामन्, संकुचन्, प्रसारयन्, विनिवर्त्तमानः, संपरिमृजन् एकदा गुणसमितस्य, रीयमाणस्य कायसंस्पर्शं समनुचीर्णाः एके प्राणाः अपद्रान्ति, इहलोकवेदनवेद्यापतितं, यदाकुट्टीकृतं कर्म तत्परिज्ञाय विवेकमेति एवं तस्याप्रमादेन विवेकं कीर्त्तयति वेदावित्।*

शब्दार्थ—से=वह गुरु के उपदेशानुसार करने वाला साधु। अभिक्कममाणे=आते हुए, जाते हुए। पडिक्कममाणे=लौटते हुए। संकुचमाणे=अवयवों का संकोच करते हुए। पसारेमाणे=अवयवों को फैलाते हुए। विणिवट्टमाणे=समस्त अशुभ व्यापार से निवृत्त होते हुए। संपलिमज्जमाणे=रजोहरणादि से प्रमार्जन करते हुए सदा गुरु की अनुज्ञापूर्वक विचरे। एगया=कदाचित्। गुणसमियस्स=सद्गुणी। रीयमाणस्स=सभी क्रियाओं में उपयोगपूर्वक वर्ताव करने वाले साधु के। कायसंफासं=काया के स्पर्श में। समणुचिन्ना=आये हुए। एगतिया=कोई २। पाणा=प्राणी। उद्दायंति=प्राणरहित हो जाते हैं तो। इहलोगवेयणविज्जावडियं=उस पाप का इसी भव में अनुभव होकर क्षय हो जाता है। जं=जो। आउट्टिकयं कम्मं=कर्म आकुट्टिपूर्वक—

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

जानकर किया हुआ हो। तं परिण्णाय=उसे ज्ञ-परिज्ञा से जानकर। विवेगमेइ=प्रायश्चित्त द्वारा दूर करना चाहिए। एवं=इस प्रकार। से=उस कर्म का। विवेगं=क्षय। अप्पमाएण=अप्रमाद से होता है। वेयवी=ऐसा तीर्थङ्कर। किट्टइ=फरमाते हैं।

भावार्थ—गुरु-आराधक साधु, आते-जाते, लौटते, अवयवों का संकोच और फलाव करते, आरम्भ से निवृत्त होते और प्रमार्जनादि क्रिया करते हुए गुरु की अनुज्ञापूर्वक करे। कदाचित् गुणसम्पन्न मुनि के यतना से विविध क्रियाएँ करते हुए भी, शरीर के संस्पर्श से कोई जीव मरण प्राप्त करे अथवा कष्ट पावे तो उसका उसे इसी भव में वेदन योग्य कर्म का बंध पड़ता है। जो हिंसादि कार्य आकुट्टी-बुद्धि से—जानते हुए—किये जाते हैं वे आचार्यादि के पास से प्रायश्चित्त लेने से क्षय होते हैं। वह प्रायश्चित्त अप्रमत्त रूप से किया जाना चाहिए ऐसा तीर्थंकर देव का फरमान है।

विवेचन—गुरु की आराधना करने वाला साधक प्रत्येक कार्य गुरु की आज्ञापूर्वक ही करता है। वह अपना सर्वस्व गुरु को समर्पण कर देता है अतएव गुरु जैसा कहते हैं वैसा ही वह करता है। उठते, बैठते, चलते-फिरते, प्रमार्जन करते वह सदा गुरु-अनुज्ञा से उपयोग युक्त होता है। वह प्रत्येक क्रिया अप्रमत्त भाव से करता है। गुरु के आदेशानुसार क्रिया करने वाला साधक कर्म-मैल से लिप्त नहीं होता।

कई बार साधक पाप शब्द मात्र से भी इतनी हद तक भयभीत बन जाता है कि वह जीवन के विकास के लिए उपयोगी क्रियाएँ करता हुआ भी डरता है। प्रमार्जन आदि में भी हलन-चलन होता है अतएव उसमें भी उसे पाप का आभास होने लगता है। उसे हलन-चलन और क्रियामात्र में पाप दिखाई देने लगता है। तब वह पापभीरू विह्वल हो जाता है और उसे मार्ग नहीं सूझता। वह जड़तुल्य निष्क्रिय बन जाता है ऐसे समय में सद्गुरु देव उसे समझाते हैं कि वत्स! विह्वल न हो। पापरहित होने के लिए जड़तुल्य निष्क्रिय बनने की आवश्यकता नहीं है। पाप का सम्बन्ध शब्द से नहीं लेकिन मुख्यतः अध्यवसायों पर और गौणतः क्रियाओं पर उसका आधार है। अतएव पाप का विवेक समझो और अध्यवसायों को शुद्ध रखो। अध्यवसायों के शुद्ध होते हुए भी जो प्राणी का वध होता है उससे कर्मबन्ध अति सूक्ष्म होता है और वह भी उसी भव में क्षीण हो जाता है। अध्यवसायों से कर्मबन्ध में विचित्रता होती है। शैलेशी अवस्था में मशकादि (मच्छरादि) काया का संस्पर्श होने से प्राण त्यागते हैं तो भी वहाँ बन्ध का उपादान कारण योग नहीं है अतएव वहाँ कर्म-बन्ध नहीं होता। उपशान्तमोह, क्षीणमोह और सयोगी केवलियों के योग के कारण बन्ध तो पड़ता है लेकिन स्थिति का कारण कषाय न होने से वह समयमात्र का ही होता है। अप्रमत्त यति के जघन्य अन्तमुहूर्त और उत्कृष्ट क्रोडाक्रोडी सागरोपम का बन्ध होता है। प्रमत्तसंयत से अनाकुट्टि से जो अकस्मात् प्राणी का घात हो जाता है उससे जघन्य अन्तमुहूर्त और उत्कृष्ट क्रोडाक्रोड़ी सागरोपम का बन्ध होता है। अप्रमादी से प्रमादी के बन्ध की स्थिति विशेष है। यह कर्मबन्ध इसी भव में अनुभव में आ जाता है और क्षीण हो जाता है। तात्पर्य यह है कि प्रमत्तसंयत अनाकुट्टि (भूल से—अनजान से) से जो हिंसा करता है उसका फल इसी भव में प्राप्त हो जाता है और इसी भव में वह क्षीण हो जाता है। लेकिन जो कर्म आकुट्टिपूर्वक (आगमोक्त कारण के अतिरिक्त अन्य किसी कारण से) किया जाता है उसका क्षय आचार्यादि के पास प्रायश्चित्त लेने से होता है। साधक एक भूल करके उसे छिपाने का प्रयत्न न करे लेकिन उस भूल को गुरु के पास प्रकट करे और उसका दण्ड-प्रायश्चित्त

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

ले। ऐसा करने से वह उस पाप के बन्धन से मुक्त हो जाता है। कोई साधक एक भूल को छिपाने के लिए दूसरी भूल न करे इसका आचार्य ध्यान रखते हैं और भूल के मूल कारण को देखकर वे उसे दूर करने के लिए प्रायश्चित्त रूप औषधि प्रदान करते हैं। इस औषध द्वारा साधक का रोग दूर हो जाता है। इसलिए सत्पुरुष की आज्ञा का आराधक होना चाहिए। गुरु के द्वारा दिये गये प्रायश्चित्त को पुरस्कार समझना चाहिए। इससे मन में किसी प्रकार की ग्लानि का अनुभव न करना चाहिए। प्रायश्चित्त भूल सुधारने का अमोघ साधन है। ज्ञ-परिज्ञा द्वारा कर्म को जानकर शुद्ध रीति से प्रायश्चित्त द्वारा कर्म का अभाव करना चाहिए।

तीर्थंकर देव का कथन है कि अप्रमादभाव से कर्म का अभाव होता है। प्रायश्चित्त भी अप्रमत्त होकर करना चाहिए। जो भूल एक बार हो गई है और उसके लिए प्रायश्चित्त ले लिया गया है तो दुबारा वह भूल न होनी चाहिए। दुबारा भूल न होने पावे इसके लिए सावधान रहना ही अप्रमाद है। अन्यथा भूल करना और प्रायश्चित्त लेना, फिर भूल करना और प्रायश्चित्त लेना इससे कुछ लाभ नहीं है। इसीलिए सूत्रकार ने फरमाया है कि अप्रमत्तभाव से प्रायश्चित्त करना चाहिए। यह प्रायश्चित्त सकल कर्म का क्षय कर सकता है। सच्चे गुरु के समीप ही ऐसा प्रायश्चित्त हो सकता है अतएव सद्गुरु की आराधना करना आवश्यक एकलविहार और स्वच्छन्दाचार का त्याग करके सदा सत्पुरुष गुरुदेव के चरणों का अवलम्बन लेना चाहिए। इसीसे संयम की यथावत् आराधना हो सकती है।

से पभूयदंसी पभूयपरिन्नाणे उवसंते, समिए, सहिए, सयाजए, दट्ठुं विप्पडिवेएइ अप्पाणं किमेस जणो करिस्सइ ? एस से परमारामो जाओ लोगंमि इत्थीओ, मुणिणा हु एयं पवेइयं ।

संस्कृतच्छाया—*सः प्रभूतदर्शी, प्रभूतपरिज्ञानः, उपशान्तः, समितः, सहितः, सदायतः दृष्ट्वा विप्रतिवेदयति आत्मानं किमेष जनः कुर्यात् ? एषः स परमारामः याः लोके स्त्रियः, मुनिना एतत्प्रवेदितम् ।*

शब्दार्थ—से=वह। पभूयदंसी=दीर्घदर्शी। पभूयपरिन्नाणे=बहु ज्ञानी। उवसंते=कषायों का शमन करने वाला। समिए=पाँच समिति से युक्त। सहिए=ज्ञानादि गुणों से युक्त। सयाजए=सर्वदा यतनाशील मुनि। दट्ठुं=स्त्रियों को देखकर। अप्पाणं=अपने आपका। विप्पडिवेएइ=विचार करता है। एस जणो=यह स्त्रीजन। किं करिस्सइ=मेरा क्या कर सकती हैं? अथवा मुझे क्या सुख दे सकती हैं। जाओ=जो। लोगंमि=लोक में। इत्थीओ=स्त्रियाँ हैं। एस से=वे। परमारामो=चित्त को लुभाने वाली हैं। एयं=यह। मुणिणा=वीर प्रभु ने। पवेइयं=फरमाया है।

भावार्थ—हे आत्मार्थी जम्बू! दीर्घदर्शी, बहुज्ञानी, उपशांत, पवित्र वृत्ति वाला, सद्गुणी और सदा यत्नावान् साधु स्त्रियों को देखकर यह विचारे कि ये मेरा क्या कल्याण करने वाली हैं? (अथवा

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

मुझे क्या सुख देने वाली हैं अथवा मुझे क्या उपसर्ग करने वाली हैं ?) इस संसार में जो स्त्रियां हैं (स्त्रियों के प्रति मोह है) वे ही चित्त को लुभाने वाली हैं । उन्हें जानकर उनका त्याग करना चाहिए। यह हितशिक्षा प्रभु महावीर ने दी है (तू इसका चिन्तन कर)।

विवेचन—अब तक एक-चर्या का निषेध करके गुरु की आराधना करने का कहा गया है । एक-चर्या के पीछे प्रायः स्वच्छंदवृत्ति ही होती है। स्वच्छंदवृत्ति वाले व्यक्ति के दिल पर स्त्री-मोह और अन्य मोहक पदार्थों का असर पड़े बिना नहीं रहता अतएव यहाँ सूत्रकार स्त्री-मोह की मीमांसा करते हैं।

पहिले यह कहा जा चुका है कि लालसा और वासना ये दोनों संयमी साधक के लिए पतन की खाइयाँ हैं। साधक जरा भी गाफिल रहता है कि उसे लालसा और वासना आकर घेर लेती हैं। हिंसा का जन्म लालसा (लोभ) से है और मोह का जन्म वासना (कामविकार) से है। लालसा दिखाई देती है और वासना गुप्त रहती है अतएव वह ज्यादा भयंकर है। गुप्तरीति से ही वासना फलती फूलती है।

सूत्रकार ने यहाँ साधक के विशेषण लगाये हैं इसका भी कुछ आशय है। सूत्रकार यह कहना चाहते हैं कि जो दीर्घदृष्टा–बहुज्ञानी, उपशान्त, पवित्र आचरण वाला, सद्गुणी और यतनावान् साधक है वह भी यदि गाफिल होता है तो उसका भी पतन होने में देर नहीं लगती। ऐसी उच्च भूमिका पर पहुँचा हुआ व्यक्ति भी वासना का सम्पूर्ण क्षय जब तक न हो जाय तब तक किन्हीं निमित्तों के मिलने से गिर सकता है। वासना का अंकुर जब तक बना रहता है वहाँ तक वह आत्मा को स्त्री आदि मोहक पदार्थों की ओर खींचता है। साधक यदि प्रबल वैराग्य भाव से युक्त है तो यह अंकुर दबा रहता है लेकिन ज्यों ही साधक थोड़ा–सा प्रमाद करता है, भावनाओं में जरा भी शिथिलता आती है त्यों ही यह अंकुर फूलने फलने लगता है। इसलिए सूत्रकार फरमाते हैं कि सदा भावनाओं की प्रबलता से वासना को कार्यरूप में परिणत न होने देना चाहिए। मन चले जाने के बाद भी वह वासना क्रियारूप में न परिणत हो इसकी सूचना इसमें दी गई है। मन चञ्चल है इसलिये वह इधर उधर दौड़ सकता है। उसे वश में करने के लिए ही साधना है। लेकिन मन वश में न हो तो भी क्रियात्मक रूप से वासना का सेवन न करना चाहिए। इसका कारण यह है कि जो क्रियात्मक रूप को प्राप्त कर चुकी है वह क्रिया दृढ़ हो जाती है और उसके संस्कार अत्यन्त मजबूत हो जाते हैं। मन जब तक पदार्थों पर जाता है तब तक तो उसका दृढ़ अध्यास रूप परिणमन नहीं होता लेकिन जब क्रिया हो जाती है तो वह अध्यास दृढ़ हो जाता है और वह साधक को बारबार पीड़ा देता है। इसलिए सूत्रकार यह फरमाते हैं कि मन स्त्री आदि की ओर आकर्षित हो (मोहित हो) तब साधक को यह विचारना चाहिए कि इस वस्तु में मेरा कल्याण करने की शक्ति कितनी है ? ये स्त्रियाँ मेरा क्या उपकार कर सकती हैं ? अथवा ये मुझे क्या सुख देने वाली हैं ? मैं समदृष्टि हूँ, मैंने महाव्रत का भार उठा रक्खा है, मैंने शरद-ऋतु के चन्द्रमा के समान निर्मल कुल में जन्म लिया है, मैंने अकार्य न करने की प्रतिज्ञा ली है, मैंने सकल विषय-कषायों का त्याग करके संयम अङ्गीकार किया है इस प्रकार विचारों के बल से विषयों की ओर दौड़ते हुए मन का निग्रह करना चाहिए। वैराग्य की प्रबलता और सतत अभ्यास के द्वारा मन का निग्रह किया जा सकता है।

साधक को यह विचारना चाहिए कि लोक में जितनी स्त्रियाँ हैं (अर्थात् स्त्री के प्रति मोह है) वह चित्त को मोहित कर देने वाली हैं। अतएव उनके हास्य, विलास, अङ्गोपाङ्ग का निरीक्षण और उनकी चेष्टाओं की ओर साधकों को तनिक भी ध्यान न देना चाहिए। कदाचित् दृष्टि पड़ जाय तो उसका संहरण

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

कर लेना चाहिए। जिस प्रकार सूर्य की ओर दृष्टि पड़ते ही उसका संहरण कर लिया जाता है उसी तरह स्त्री की चेष्टाओं और अङ्गोपाङ्गों पर दृष्टि पड़ते ही उसे शीघ्र हटा लेनी चाहिए। सभी मोहक पदार्थों में स्त्री का मोह अति प्रबल होता है और यह मोह अति घातक होता है और आत्मा को बेभान कर देता है। स्त्री-मोह से मुग्ध बना हुआ आत्मा विकृति के हाथों बिक जाता है। वह गुलाम हो जाता है और स्वतंत्र चेतन जड़ के समान परतंत्र हो जाता है। आत्मा की इस दशा में भयंकर अधोगति होती है।

यद्यपि सम्पूर्ण वासना पर विजय पाना कठिन है तो भी साधक का यह कर्त्तव्य है कि वह इसको अपना लक्ष्य बनावे और धीरे २ अपने मन को ऐसा बना ले कि वह स्त्री आदि मोहक पदार्थों की ओर न जावे। मन पर पूरा काबू न भी हो तब भी क्रियात्मक रूप से वासना का सर्वथा त्याग करना ही चाहिए। क्रियात्मक वासना पर पूरा नियंत्रण रखा जायगा और मन पर विजय पाने का लक्ष्य बना रहेगा तो अवश्य ही मन पर विजय पाई जा सकती है और आत्मा वासना-मुक्त हो सकता है। इसके लिए आत्म-चिन्तन, बाह्य पदार्थों की असारता, स्त्री शरीर की अशुचि का चिंतन, मनन और निदिध्यासन की आवश्यकता है। विरक्त भावनाओं के प्रबल वेग के द्वारा वासना पर विजय पाई जा सकती है। अतएव साधक प्राणान्त तक वासना की क्रियात्मक वृत्ति पर पूरा नियंत्रण रखे और मन पर विजय पाने की कोशिश करे। मानसिक-वासना के विजय के लिए सूत्रकार उपाय बताते हैं:—

उब्बाहिज्जमाणे गामधम्मेहिं अवि निब्बलासए अवि ओमोयरियं कुजा अवि उड्ढं ठाणं ठाइज्जा, अवि गामाणुगामं दूइज्जिज्जा, अवि आहारं वुच्छिंदिज्जा अवि चए इत्थीसु मणं।

संस्कृतच्छाया—*उद्बाध्यमानः ग्रामधर्मैरपि निर्बलाशकः, अपि अवमौदर्यं कुर्यात्, अपि ऊर्ध्वस्थानं तिष्ठेत्, अपि ग्रामानुग्रामं विहरेत्, अप्याहारं व्यवच्छिन्द्यात् अपि त्यजेत् स्त्रीषु मनः।*

शब्दार्थ—**गामधम्मेहिं**=इन्द्रियविषयों से। **उब्बाहिज्जमाणे**=पीड़ित होने पर। **अवि**=कभी। **निब्बलासए**=निर्बल आहार करे। **अवि ओमोयरियं**=कभी अल्पाहार करे। **अवि उड्ढं ठाणं**=कभी ऊँचे स्थान पर रहकर। **ठाइज्जा**=कायोत्सर्ग से स्थित रहे। **अवि गामाणुगामं**=कभी एक ग्राम से दूसरे ग्राम। **दूइज्जिज्जा**=विहार कर दे। **अवि आहारं**=कभी आहार का। **वुच्छिंदिज्जा**=सर्वथा विच्छेद कर दे। **अवि**=किन्तु। **इत्थीसु**=स्त्रियों में। **मणं चए**=मन प्रवृत्त करना छोड़े।

भावार्थ—हे आत्मार्थी शिष्य! प्रयत्न करते हुए भी वासना के पूर्वाभ्यासों के कारण मुनि साधक विषयों से पीड़ित हो तो उसे (इन्द्रियों की उत्तेजना को कम करने के लिए) लूखा-सूखा आहार करना चाहिए, भूख से अल्प खाना चाहिए, एकस्थान पर खड़े होकर कायोत्सर्ग करना चाहिए, ग्रामान्तर में चले जाना चाहिए, इतना करने पर भी मन वश में न हो तो आहार का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए लेकिन स्त्री-संग में कभी न फँसना चाहिए—अब्रह्मचर्य-सेवन कदापि न करना चाहिए।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

विवेचन—इस सूत्र में सूत्रकार महात्मा वासना को वश में करने के प्रयोगों के सम्बन्ध में उपदेश फरमाते हैं। विषयोत्पादक पदार्थों का त्याग कर देने के बाद भी विषयों की जागृति होना सम्भव है। किन किन बाह्य और आभ्यन्तर कारणों द्वारा विषय-जागृति की सम्भावना रहती है इसका सूक्ष्म अवलोकन करने के बाद सूत्रकार फरमाते हैं:—विषयों की उत्तेजना का आहार के साथ भी बड़ा भारी सम्बन्ध है। "जैसा खावे अन्न वैसा होवे मन" यह लौकिक कहावत मननीय है। रसीला, स्वादिष्ट, अति मधुर, तिक्त, चरका, अति खट्टा और घृतादि संयुक्त आहार वृत्ति को उग्र बनाता है। विश्वामित्र, पराशर आदि वन में निवास करने वाले और वन के फल और पानी का आहार करने वाले भी विषयों से हार गये तो जो घृतादि संयुक्त गरिष्ठ आहार करते हैं उनका विषयों पर विजय पाना कितना कठिन है यह सहज समझा जा सकता है। अतएव सूत्रकार यहाँ वासना-विजय के लिए प्रथम लूखा और सूखा आहार करने का फरमाते हैं। लूखा-सूखा आहार भी प्रमाण से अधिक कर लिया जाता है तो वही विकार को उत्पन्न करने वाला होता है अतएव सूत्रकार अल्पाहार करने का फरमाते हैं। साधारण रीति से ३२ कौर आहार शरीर के लिए पर्याप्त समझा गया है। आहार, शरीर के उपयोग के लिए एक आवश्यक वस्तु है। शरीर के लिए आहार है नकि आहार के लिए शरीर। यह सादी बात हरेक समझ सकता है। तदपि पदार्थों के स्वाभाविक रस को तेल, मिरची, खटाई आदि के द्वारा विकृत बनाकर और रसमय पदार्थों से रसीला बनाकर खाना खाया जाता है इससे यह प्रतीत होता है कि खाना जीवन के लिए नहीं है परन्तु जीवन खाने के लिए है। इस तरह व्यय और पाप की मात्रा दोनों ही बढ़ती है और पर्याप्त परिश्रम के अभाव में उस पौष्टिक आहार का इन्द्रियों पर बहुत बुरा असर होता है इसलिए लूखा और अल्प भोजन प्रत्येक साधक के शरीर और मन—दोनों के आरोग्य के लिए उपयोगी है यह निर्विवाद है।

इसके बाद तीसरा प्रयोग एकस्थान पर रहकर कायोत्सर्ग करने का कहा गया है। यह प्रयोग शरीर को कसने के लिए है। शरीर को कसने से इन्द्रियों पर असर होता है और उनका वेग कम होता है। ये प्रयोग अत्यन्त उपयोगी हैं और साधक को बहुत बार पतन से बचा लेते हैं। इतना होने पर भी, इतने मात्र से वासना पर विजय नहीं हो पाती। इतना करने पर भी यदि वासना नहीं जाती है तो स्थानान्तर कर देना चाहिए। उस स्थान को छोड़कर अन्य स्थान पर चला जाना चाहिए। स्थान का भी बहुत प्रभाव पड़ता है। स्वाभाविक रीति से कोई स्थान ऐसा होता है जो पवित्र भावनाओं को जन्म देता है और कोई दूसरा स्थान ऐसा होता है जो विकारों को पोषण देता है। जहाँ त्यागी, तत्त्वचिन्तक महापुरुषों का प्रायः बहुत रहना हुआ हो वहाँ के निवासियों पर उसका अच्छा असर होता हुआ देखा गया है इसी तरह खराब वातावरण का भी असर पड़े बिना नहीं रहता। साधक को यदि यह मालूम दे कि यहाँ का वातावरण वासना को उत्तेजित करने वाला है तो उसको चाहिए कि वह स्थान का परिवर्तन करके अन्य स्थान पर चला जावे। इस दृष्टि से स्थानान्तर का प्रयोग लाभप्रद है।

साधु ग्रामानुग्राम अप्रतिबन्ध विहारी होते हैं तदपि चातुर्मास के चार मास उन्हें एक स्थान पर रहने की आज्ञा है। इसका कारण यह है कि चातुर्मास में जीवों की उत्पत्ति विशेष होने से उनकी अयतना की सम्भावना रहती है उससे बचने के लिए तथा ज्ञान-ध्यान तथा तप के लिए भी यह ऋतु अनुकूल होने से चातुर्मासार्थ एक स्थान पर रहने की जैनशास्त्र आज्ञा प्रदान करता है। चातुर्मास में विहार न करने की सूचना दी गई है परन्तु यहाँ चातुर्मास में भी विहार करने का कह दिया है इसके पीछे महान् हेतु है। जैनदर्शन के सभी नियमोपनियम हेतुपुरस्सर बनाए गए हैं। प्रत्येक नियम का हेतु बराबर समझ कर उसका पालन करना चाहिए; यही उसकी मर्यादा है।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

विषयों का ध्यान साधक के लिए जितना नुक्सान करने वाला है उतना वर्षाकाल का विहार नहीं। वर्षाकाल के विहार में जो दोष हैं उनसे अधिक दोष विषयों के ध्यान में हैं इस आशय से चातुर्मास में भी विहार कहा गया है।

इतने पर भी यदि वासना का क्षय न हो तो सूत्रकार यह फरमाते हैं कि आहार का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए। आहार-त्याग कर जीवन-डोरी को कम करना अच्छा है लेकिन अब्रह्म का सेवन करना योग्य नहीं है। अब्रह्म-सेवन से आत्मघात होती है। शरीरघात से आत्मघात भयंकर है। यहाँ यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि अन्य महाव्रतों में अशक्य परिहार की अवस्था में मर्यादित अपवाद को स्थान दिया गया है लेकिन ब्रह्मचर्य व्रत में ऐसा नहीं किया गया है। इसके लिए किसी भी अवस्था में किसी प्रकार का अपवाद नहीं है। अतएव मन, वाणी और काया से ब्रह्मचर्य की सर्वाङ्ग साधना करनी चाहिए। आगे भी सूत्रकार इसी सम्बन्ध में कहते हैं:—

पुव्वं दंडा पच्छा फासा, पुव्वं फासा पच्छा दंडा, इच्चेए कलहा संगकरा भवंति, पडिलेहाए आगमित्ता आणविज्जा अणासेवणाए त्ति बेमि। से नो काहिए, नो पासणिए, नो मामए, णो कयकिरिए, वइ गुत्ते अज्झप्प संवुडे परिवज्जइ सया पावं एयं मोणं समणुवासिज्जासि त्ति बेमि।

संस्कृतच्छाया—*पूर्वं दण्डाः पश्चात्स्पर्शाः, पूर्वं स्पर्शाः, पश्चात् दण्डाः, इत्येते कलहासङ्करा भवंति, प्रत्युपेक्षया, ज्ञात्वाऽऽज्ञापयेदात्मानमनासेवनयेति ब्रवीमि। स न कथां कुर्यात्, न पश्येत्, न ममत्वं कुर्यात्, न कृतक्रियो भूयात्, वचनगुप्तः अध्यात्मसंवृतः, परिवर्जयेत् सदा पापं एतन्मौनं समनुवासयेरिति ब्रवीमि।*

शब्दार्थ—पुव्वं=विषय सेवन के पहिले। दंडा=बहुत से पाप करने पड़ते हैं और संकट भोगने पड़ते हैं। पच्छा फासा=बाद में भोगे भोग जाते हैं। पुव्वं=अथवा पहिले विषय सेवन करे तो। पच्छा दंडा=पश्चात् दंड भोगने पड़ते हैं। इच्चेए=ये स्त्रियाँ। कलहासंगकरा=कलह-रागद्वेष को उत्पन्न करने वाली हैं। पडिलेहाए=यह देखकर। आगमित्ता=यह जानकर। आणविज्जा=अपने आपको आज्ञा करे कि। अणासेवणाए=स्त्रीसंग का सेवन न करे। त्ति बेमि=ऐसा मैं कहता हूँ। से=यह स्त्रीसंग-त्यागी। नो काहिए=स्त्रियों की कथा न करे। नो पासणिए=उनके अवयवों को न देखे। नो मामए=उनमें ममत्व न करे। नो कयकिरिए=स्त्रियों की सेवा न करे। वइगुत्ते=स्त्रियों से बातचीत करने में अति मर्यादित रहना चाहिए। अज्झप्पसंवुडे=अपने मन पर पूरा नियंत्रण करके। सया पावं=सदा पाप का। परिवज्जइ=त्याग करे। एयं मोणं=इस प्रकार मुनिभाव की। समणुवासिज्जासि=बराबर साधना करे। त्ति बेमि=ऐसा मैं कहता हूँ।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

भावार्थ—हे आत्मार्थी शिष्य ! कामभोगों में फँसने के पहिले विविध पापों में फँसकर संकट भोगने पड़ते हैं तब कामभोगों का भोग हो सकता है (चेतन को बेचे बिना विकार की तृप्ति नहीं)। अथवा पहिले कामभोग का सेवन करे तो पीछे पाप का सेवन और संकट का भोग करना पड़ता है। स्त्री-संसर्ग कलह—रागद्वेष को उत्पन्न करने वाला है यह बात भली प्रकार से जानकर—विचार कर मुमुक्षु साधक इससे सदा दूर रहे। इसका सेवन न करे। स्त्रीसंग के त्यागी मुनि को स्त्रियों की कथा-वार्ता (शृंगार कथा) नहीं करनी चाहिए, स्त्रियों के अवयवों को नहीं देखना चाहिए, उनमें ममत्व न करना चाहिए, उनकी वैयावृत्य न करनी चाहिए, उनके साथ बातचीत अत्यन्त मर्यादित करनी चाहिए इस तरह अपने मन पर पूरा नियंत्रण करके पाप से सदा दूर रहना चाहिए और मुनिभाव का सम्यक् पालन करना चाहिए।

विवेचन—इस सूत्र में यह बताया गया है कि काम-वासना क्यों अधमता का कारण है और क्यों इसका सर्वांश से त्याग करने का सूत्रकार प्रबल कथन करते हैं। सूत्रकार इस का इतना निषेध करते हैं इसीसे इसकी भयंकरता समझ लेनी चाहिए। काम-वासना पर विजय पाना अति दुष्कर है। कहा भी है—

मत्तेभकुम्भदलनेभुवि सन्ति शूराः, केचित्प्रचण्डमृगराजवधेऽपि दक्षाः ।
किन्तु ब्रवीमि बलिनां पुरतः प्रसह्य कन्दर्प-दर्प-दलने विरला मनुष्याः ॥

अर्थात्—संसार में बड़े २ शूरवीर हैं जो मदोन्मत्त हाथी के गण्डस्थल का विदारण कर सकते हैं, कई ऐसे भी वीर हैं जो विकराल अयाल वाले सिंह का भी वध कर सकते हैं। लेकिन समस्त बलवानों के सामने, मैं यह कहता हूँ कि काम के अहंकार को चूर करने वाले संसार में विरले हैं। जो योद्धा अपने आपको शक्तिशाली और अजेय मानते हैं वे भी स्त्री के मोह से कायर होते हुए देखे जाते हैं। काम पर विजय पाने वाला ही सच्चा महावीर है। काम की उत्पत्ति मन से होती है अतएव काम का नाम मनोज भी है। अगर मन के संकल्पों पर विजय प्राप्त कर ली जाय तो काम उत्पन्न ही नहीं हो सकता। कहा भी है:—

काम ! जानामि ते रूपं संकल्पात् किल जायसे ।
न त्वां संकल्पयिष्यामि ततो मे न भविष्यसि ॥

अर्थात्—हे काम ! मैं तेरा रूप जानता हूँ कि तू संकल्प से उत्पन्न होता है परन्तु मैं तेरा संकल्प ही नहीं करूँगा तो तू उत्पन्न ही कैसे होगा ? अतएव संकल्पों पर विजय प्राप्त करनी चाहिए। संकल्प-जात काम इतने लुभावने और भयंकर हैं कि ये आत्मा को बेभान कर देते हैं। विषय-वासना का वेग जब तक चित्त पर असर करता है तब तक आत्मा दास बनी रहती है। आत्मा को बेचकर के ही काम का सेवन किया जा सकता है। जब तक वासना का असर चित्त पर बना रहता है तब तक साधक साधना में कभी सफल नहीं हो सकता। जिस तरह एक म्यान में दो तलवार नहीं रह सकती उसी तरह चित्त में विकार और संस्कार एक साथ नहीं रह सकते। संस्कारी जीवन पर ही जीवन का आधार है और काम-विकार संस्कार का नाश करता है इसीलिये सूत्रकार अब्रह्म-क्रिया का इतना सख्त निषेध करते हैं।

सूत्रकार अब्रह्म क्रिया को पतन का कारण और पाप की परम्परा का हेतु समझते हैं। काम-सेवन के पहिले अथवा पीछे भयंकर पापकर्मों में फँसना पड़ता है और पापक्रिया में फँसने से उनके भयंकर परिणाम-संकट भोगने पड़ते हैं। अब्रह्म सेवन के कटु परिणाम इस लोक में भी भोगने पड़ते हैं और परलोक

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

में भी सहने पड़ते हैं। अब्रह्म-प्रवृत्त व्यक्ति को अर्थार्जन करना पड़ता है और उसके निमित्त पाप की श्रेणी बढ़ती जाती है इसीलिए काम को पतन का मूल कहा है। काम से क्रोध, क्रोध से संमोह, संमोह से स्मृति-विभ्रम, स्मृतिविभ्रम से बुद्धिनाश और बुद्धिनाश से पतन; इस प्रकार काम के पीछे समस्त पतन-श्रेणी का आरम्भ होता है इसलिए यह क्रिया अति दूषित है अतएव सर्वप्रथम त्याज्य है।

सूत्रकार आगे यह बताते हैं कि विषय-वासना पर विजय पाने की इच्छा रखने वाला साधक यदि वासना के निमित्तों को खुले रख कर साधना करने बैठे तो वह निष्फल होता है। ऐसे साधक को विकारी निमित्तों से सदा बचकर रहना चाहिए। जैसे खेत की रक्षा करने के लिए किसान खेत के चारों चारों ओर बाड़ लगा देता है उसी प्रकार ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए शास्त्रकारों ने बाड़ों का विवेचन किया है।

(१) जिस प्रकार जहाँ बिल्ली रहती है वहाँ चूहे का रहना विनाश का कारण है इसी तरह जिस मकान में स्त्री हो वहाँ ब्रह्मचारी का रहना उसके ब्रह्मचर्य के पतन का कारण है अतएव स्त्री वाले मकान में ब्रह्मचारी साधक को नहीं रहना चाहिए।

(२) जिस प्रकार नीबू, इमली आदि खट्टे पदार्थों का नाम लेने से मुँह में पानी भर आता है इसी तरह स्त्री के हाव-भाव, शृङ्गार विलास आदि की चर्चा करने से विकार उत्पन्न हो जाता है अतएव ब्रह्मचारी को स्त्री सम्बन्धी कथा-वार्ता नहीं करनी चाहिए।

(३) जिस प्रकार चावलों के पास कच्चे नारियल रहने से उसमें कीड़े पड़ जाते हैं, अथवा आटे में भूरा कोला रखने से उसमें विकृति आ जाती है अथवा पोदीने का अर्क, अजवायन का सत्व और कपूर को एकत्र करने से सब द्रवित हो जाते हैं इसी तरह स्त्री, पुरुष एक ही आसन पर बैठे तो शारीरिक घनिष्ठता से ब्रह्मचर्यभङ्ग हो जाता है अतएव ब्रह्मचारी को स्त्री के साथ एक आसन पर नहीं बैठना चाहिए और घनिष्ठता भी नहीं बढ़ानी चाहिए।

(४) जैसे सूर्य की ओर टकटकी लगाने से नेत्रों की हानि होती है उसी प्रकार स्त्री के अंगोपाङ्ग की ओर स्थिरदृष्टि से देखने से ब्रह्मचर्य को हानि पहुँचती है। अतएव ब्रह्मचारी स्त्री के अङ्गोपाङ्गों को न देखे। दृष्टि पड़ते ही उसका संहरण कर लेना चाहिए।

(५) जैसे मेघ की गर्जना से मयूर का चित्त चञ्चल हो उठता है उसी तरह पर्दे की या दीवाल की ओट में स्त्रीपुरुष के कामुकता पूर्ण शब्दों को सुनने से अन्तःकरण चञ्चल हो उठता है अतएव ब्रह्मचारी को ऐसे शब्द न सुनना चाहिए। हास्य, रुदन, गीत आदि भी नहीं श्रवण करने चाहिए।

(६) ब्रह्मचारी को अपने पूर्व के भोगे हुए कामभोगों का स्मरण नहीं करना चाहिए। ऐसा करने से ब्रह्मचर्य का विनाश होता है। इसके लिए जिनरक्षित और जिनपाल का उदाहरण है अथवा वृद्धा और छाछ का भी दृष्टान्त है। एक बार किसी वृद्धा के यहाँ कुछ पथिक छाछ पीकर चले गये। पश्चात् बुढिया ने छाछ देखी तो उसमें सांप निकला। छह मास के बाद वे ही पथिक जब उस वृद्धा के यहाँ ठहरे तो उन्हें जीवित देखकर वृद्धा बहुत प्रसन्न हुई। उसने पथिकों से कहा—बेटा ! तुम्हें जीवित देखकर मुझे बहुत प्रसन्नता होती है क्योंकि जब तुम पहिले यहाँ आये और तुमने छाछ पी थी उसमें मरा हुआ सांप निकला था। मैं तुम्हें जीवित देखकर बड़ी खुश हूँ। वृद्धा की यह बात सुनते ही पथिक सब मर गये। इससे यह सिद्ध होता है कि पहिले भोगे हुए भोग का स्मरण भी भयंकर होता है अतएव पूर्व के कामभोगों का स्मरण नहीं करना चाहिए।

(७) जैसे सन्निपात के रोगी के लिए मिष्टान्न आदि पदार्थ हानिकारक हैं इसी तरह से सदा सरस और पौष्टिक आहार करने से ब्रह्मचर्य को हानि पहुँचती है अतएव ब्रह्मचारी सरस आहार न करे।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

(८) जैसे एकसेर की हँडिया में सवासेर खिचड़ी पकाने से हँडिया फूट जाती है उसी तरह मर्यादा से अधिक आहार करने से ब्रह्मचर्य का भंग हो जाता है।

(९) जैसे दीन दरिद्र के पास चिन्तामणि नहीं ठहरता उसी प्रकार स्नान, मंजन, शृङ्गार आदि के द्वारा आकर्षक रूप बनाने से ब्रह्मचर्य नहीं ठहरता।

सूत्रकार ने इसके पहिले के और इस सूत्र में नव ही वाड़ों का कथन कर दिया है। ब्रह्मचारी को अपने ब्रह्मचर्य की रक्षा इन वाड़ों के पालन द्वारा अवश्यमेव करनी चाहिए। ब्रह्मचर्य का पालन स्त्री-साधक और पुरुष-साधक दोनों के लिए अनिवार्य है। स्त्री-साधक के लिए पुरुष-शरीर का मोह उसी तरह हानि कारक है जिस तरह पुरुष साधक के लिए स्त्री का मोह। ब्रह्मचर्य साधना का मार्ग अति नाजुक है अतएव अपने मन पर पूरा नियंत्रण रखते हुए बाधक निमित्तों से सदा दूर रहना चाहिए।

बहुत से व्यक्ति ऐसे देखे गये हैं जो ब्रह्मचर्य के पालन के लिए स्त्रियों की निन्दा करते हैं; कई लोग "नारी नरक की खान" "नागिन सी नारी जानी" ऐसा कहते हैं परन्तु यह कथन तो दोनों पर लागू होता है। जिस तरह पुरुष के लिए "नारी नरक की खान है" उसी तरह स्त्री के लिए "नर नरक की खान" है। जिस तरह पुरुष के लिए नारी नागन है उसी तरह स्त्री के लिए पुरुष काला नाग है। वस्तुतः अगर विचारा जाय तो न स्त्रियां बुरी हैं और न पुरुष बुरे हैं। पुरुषों में रहा हुआ स्त्री के प्रति मोह और स्त्रियों में रहा हुआ पुरुषों के प्रति मोह खराब है। पदार्थ स्वयं दूषित नहीं है परन्तु उसके पीछे रही हुई वासना बुरी है। पदार्थ तो मात्र निमित्त हैं। सूत्रकार ने विकारोत्तेजक कथा न करने, विकारोत्तेजक दृश्य न देखने, ममत्व न रखने आदि का कहकर निमित्तों की ओर मन भी न जाने देने का कहकर मन, वचन और कर्म द्वारा निमित्तों से दूर रहने का कहकर आत्माभिमुख बनने का कहा है। इससे यह सिद्ध होता है कि निमित्तों का असर हुए बिना रहता नहीं है अतएव ब्रह्मचर्य के उपासक को बाह्य बाधक निमित्तों से दूर रहना चाहिए और इस तरह मुनिभाव का आराधक होना चाहिए।

—उपसंहार—

इस उद्देशक में स्वच्छन्दवृत्ति का निरोध करके गुरु के अनुशासन में रहने की शिक्षा दी गई है। जो साधक गुरु के अनुशासन को नहीं सह कर स्वच्छन्दाचारी और एकलविहारी हो जाता है वह संयम की बराबर साधना नहीं कर सकता है। गुरुकुल में रहने वाले साधक को भी गुरु-आज्ञा का यथातथ्य पालन करते हुए सतत सावधान रहना चाहिए। सद् गुरुदेव के चरण-शरण में सर्वस्व अर्पण करके अहंकार का लय करने वाला साधक पूर्ण विकास कर सकता है।

लालसा और वासना दोनों ही चित्तवृत्ति के विकार हैं। विकार और संस्कार एकत्र नहीं रह सकते हैं। भोगों से भोग की तृप्ति नहीं होती लेकिन भोगों को उत्तेजना मिलती है। अतएव विषयों की ओर जाते हुए मन का नियंत्रण करना चाहिए। प्राणान्त होने पर भी अब्रह्म का सेवन कदापि न करना चाहिए। जिसका मन और जिसकी इन्द्रियाँ चञ्चल हैं वह साधक यदि निमित्तों की तरफ असावधानी रखता है तो वह मन और देह दोनों के द्वारा पतन को प्राप्त होता है। अतएव ब्रह्म के बाधक निमित्तों से सदा सावधान रहना चाहिए। स्त्रीमोह आत्मा का घातक है—नरक का द्वार है अतएव वासना और मोह पर विजय प्राप्त करना चाहिए।

इति चतुर्थोद्देशकः

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

लोकसार नाम पञ्चम अध्ययन

—पञ्चमोद्देशकः—

गत उद्देशक में एक-चर्या का निषेध करके गुरु निश्रित रहने का उपदेश दिया गया था। अब इस उद्देशक के प्रारम्भ में सूत्रकार यह फरमाते हैं कि आचार्य और महर्षि साधक कैसे होते हैं? ह्रद (जलाशय) की उपमा द्वारा सूत्रकार आचार्य और महर्षियों की गम्भीरता, पवित्रता, उदारता और स्वरूपमग्नता का दिग्दर्शन कराते हुए प्रत्येक साधक को यह उच्च भूमिका प्राप्त करने की प्रेरणा करते हैं। यह अवस्था प्राप्त करने के लिए आत्म-श्रद्धा—अखण्ड विश्वास की जागृति होना आवश्यक है। विकल्पों का नाश और सत्पुरुषों के अनुभव, आगमवचन और विवेकबुद्धि के समन्वय से शुद्ध श्रद्धा उत्पन्न होती है। श्रद्धा का स्थान हृदय है। श्रद्धारहित क्रिया निष्प्राण होती है। अतएव शुद्ध श्रद्धा की जागृति की प्रेरणा इस उद्देशक में की गई है। सूत्रकार ह्रद की उपमा के द्वारा ही सूत्र प्रारम्भ करते हैं:—

से बेमि तंजहा अवि हरए पडिपुण्णे समंसि भोमे चिट्ठइ उवसंतरए सारक्खमाणे, से चिट्ठइ सोयमज्झगए से पास सव्वओ गुत्ते, पास लोए महेसिणो जे य पन्नाणमंता पवुद्धा आरम्भोवरया सम्ममेयंति पासह कालस्स कंखए परिव्वयंति त्ति बेमि।

संस्कृतच्छाया—*तद् ब्रवीमि तद्यथा अपि ह्रदः प्रतिपूर्णः समे भूभागे तिष्ठति, उपशान्तरजः सारक्षन्, स तिष्ठति स्रोतो मध्यगतः, स पश्य सर्वतो गुप्तः, पश्य लोके महर्षयः ये च प्रज्ञानवन्तः, प्रबुद्धाः, आरम्भोपरता सम्यगेतत्पश्यत, कालस्य काङ्क्षया परिव्रजन्ति इति ब्रवीमि।*

शब्दार्थ—से बेमि=मैं कहता हूँ। तं जहा=यथा। अवि हरए=कोई जलाशय। पडिपुण्णो=जल से भरा हुआ। समंसि भोमे=समान भूभाग पर। उवसंतरए=मलिनता को दूर करे—स्वच्छ। सारक्खमाणे=सुरक्षित। चिट्ठइ=रहता है। स=इसी तरह आचार्य। सोयमज्झगए=ज्ञान रूप स्रोत के मध्य में रहे हुए। सव्वओ=सभी तरह से। गुत्ते=गुप्तियों से गुप्त। चिट्ठइ=रहते हैं। से पास=यह तू देख। लोए=लोक में अन्य भी। महेसिणो=महर्षि साधु हैं। पास=उन्हें देख। जे य=जो। पन्नाणमंता=विशेष ज्ञानवान् हैं। पवुद्धा=सम्यग्श्रद्धान वाले हैं। आरम्भोवरया=सावद्य अनुष्ठान से निवृत्त हैं। कालस्स कंखाए=समाधि मरण की इच्छा रखते हुए। परिव्वयंति=

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

संयम में विचरण करते हैं। सम्ममेयंति=यह भले प्रकार से। पासह=देख। त्ति बेमि=ऐसा मैं कहता हूँ।

भावार्थ—अहो साधको! जैसे किसी समतल भूभाग पर निमल जल से भरा हुआ, जलचर प्राणियों की रक्षा करता हुआ, अथवा जलचरों द्वारा सुरक्षित स्वच्छ सरोवर होता है उसी तरह आचार्यादि महर्षि साधक ज्ञान रूपी जल से भरे हुए, निर्दोष क्षेत्रों में रह कर, कषायादि को उपशांत करके, जीवों की रक्षा करते हुए, ज्ञान रूपी प्रवाह को बहाते हुए, इन्द्रियादि के गोपन से सुरक्षित होते हैं यह तुम देखो। यही नहीं कितनेक मुनि भी विवेकवन्त, श्रद्धालु और आरम्भ से निवृत्त होकर, समाधि मरण की अभिलाषा रखते हुए सतत पुरुषार्थ करते हैं, वे भी जलाशय के समान होते हैं।

विवेचन—इस सूत्र में जलाशय से आचार्य की संतुलना की गई है। जलाशय के कतिपय गुणों के साथ आचार्य के गुणों की समानता दिखाई गई है। सूत्र में आया हुआ "अपि" शब्द विभिन्न भंग को सूचित करता है। सरोवर के भी विभिन्न भंग (प्रकार) हैं—एक सरोवर ऐसा होता है जिसमें से पानी निकलता रहता है और दूसरी ओर से पानी आता भी रहता है। जैसे-सीता, सीतोदा नदी के प्रवाह के जलकुण्ड। एक सरोवर ऐसा होता है जिसमें पानी निकलता है परन्तु पानी आता नहीं है जैसे-पद्महृद। एक सरोवर ऐसा होता है जिसमें पानी आता ही है निकलता नहीं है जैसे लवणोदधि। एक ऐसा होता है जिसमें न पानी आता है और न पानी निकलता है ऐसे जलाशय मनुष्य लोक से बाहर हैं। आचार्य श्रुत की अपेक्षा प्रथम भंग में हैं। जैसे-सीता, सीतोदा नदी के जलकुण्ड में जल आता भी है और निकलता भी है उसी तरह आचार्य श्रुत का ग्रहण भी करते हैं और श्रुत का दान भी करते हैं। वे श्रुत-सागर में से नवीन-नवीन रत्न ग्रहण करते हैं और दूसरे शिष्यों और श्रोताओं को श्रुत का उपदेश प्रदान करते हैं अतएव श्रुत का प्रवेश और निर्गम दोनों हैं। साम्परायिक कर्म की अपेक्षा आचार्य द्वितीय भंग में हैं। द्वितीय भंग में निर्गम है। लेकिन प्रवेश नहीं है। आचार्य के कषायादि कर्म निकलते हैं—क्षीण होते हैं लेकिन कषायोदय के अभाव से नवीन कर्म का प्रवेश नही हैं। आलोचना की अपेक्षा से आचार्य तृतीय भंग में हैं। तृतीय भंग में प्रवेश है लेकिन निर्गम नहीं है। आचार्य आलोचना श्रवण करते हैं लेकिन अन्य के सामने प्रकट नहीं करते। आचार्य इतने गम्भीर होते हैं कि वे किसी की आलोचना सुनकर उसको किसी अन्य के सामने प्रकट नहीं करते। कुमार्ग की अपेक्षा चतुर्थ भंग में प्रवेश और निर्गम दोनों नहीं है। आचार्य कुमार्ग में प्रवेश नहीं करते। प्रवेश ही नहीं तो निर्गम कैसे हो सकता है अतएव इस अपेक्षा से चतुर्थ भंग में है। इन चार भंगों में से यहाँ प्रथम भंग अपेक्षित हैं। स्थविरकल्पी एवं श्रुत के आदाता व उपदेष्टा आचार्य के लिए यह ह्रद का दृष्टान्त है।

जिस प्रकार सरोवर निर्मल जल से भरा होता है, उसमें सभी ऋतुओं में उत्पन्न होने वाले कमल सुशोभित होते हैं, उसी तरह आचार्य ज्ञानरूपी जल से भरे होते हैं। यहाँ पूरे भरे हुए होते हैं यह कहकर उनकी गम्भीरता का कथन किया है जो पूर्ण होता है वह गम्भीर होता है वह, छलकता नहीं है। आचार्य भी ज्ञान से भरपूर है अतएव पूर्ण अनुभवी हैं जिससे वे बाहर छलकते नहीं हैं। जिस प्रकार सरोवर में कमल शोभा देते हैं उसी तरह आचार्य में पांच प्रकार का आचार, आठ प्रकार की सम्पदा† और छत्तीस

†आयार सुअ सरीरे वयणे वायणा मई पओगमई। एए सुसंपया खलु अट्ठविआ संगह परिण्णा।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

गुण शोभा देते हैं। जैसे सरोवर समान भूभाग पर स्थित होता है इससे उसमें जल का प्रवेश और निर्गम सदा होता रहता है इससे वह कदापि सूखने नहीं पाता है और उसमें सुखपूर्वक प्रवेश हो सकता है और सुख से ही उसमें से निकला जा सकता है इसी तरह आचार्य भी ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र के समान मार्ग में स्थित होते हैं, ज्ञानादि का प्रवाह सतत चालू रहता है अतएव उसका कभी अन्त नहीं आता। आचार्य से सुखपूर्वक प्रश्न कर सकते हैं और सुखपूर्वक समाधान पा सकते हैं अतएव आचार्य में उत्तर और अवतार भी होता है। आचार्य की प्रकृति ऐसी मधुर होती है—उनमें ऐसा मिठास होता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी शंकाओं का उनसे समाधान पा सकता है। सरोवर में मिठास है और सैकड़ों व्यक्ति अपनी तृषा उससे शान्त करते हैं। इसी तरह आचार्य की मिठास से सैकड़ों व्यक्ति उनकी ज्ञान-गंगा के बहते प्रवाह के जल से अपनी ज्ञानपिपासा शान्त करते हैं।

जिस प्रकार सरोवर अपनी निर्मलता में—अपने स्वरूप में-मग्न रहता है, उसमें कदाचित् विजातीय रज आकर उसे मैला बनाना चाहती है तो वह अपनी निर्मल एवं अमोघ शक्ति द्वारा उसे नीचे दबा देता है और अपनी निर्मलता बनाए रखता है उसी प्रकार आचार्य अपनी आत्मा की निर्मल ज्योति में तल्लालीन रहते हैं इस पर भी यदि मोहनीयादि कर्म उनकी स्वच्छता में बाधा उपस्थित करने आते हैं तो वे अपनी शक्ति द्वारा उन्हें परास्त करके नीचे दबा देते हैं और अपनी स्वच्छता-सहजता कायम रखते हैं। जिस प्रकार सरोवर स्वयं पवित्र होता है और दूसरों को भी पवित्र बनाता है उसी तरह आचार्य स्वयं पवित्र—दोषरहित होते हैं और वे दूसरे अपवित्र आत्माओं को भी पवित्र बनाते हैं। उनकी पवित्रता किसी से अभड़ा जाय ऐसी कृत्रिम नहीं है। सरोवर में अपवित्र व्यक्ति भी अवगाहन (स्नान) करता है इससे सरोवर अपवित्र नहीं हो जाता अपितु सरोवर अपनी पवित्रता से अपवित्र को भी पवित्र करता है। इसी तरह आचार्य अपवित्र को भी पवित्र बनाते हैं।

जिस प्रकार सरोवर असंख्य जलचर प्राणियों की रक्षा करता है अथवा इन जलचर प्राणियों द्वारा स्वयं सुरक्षित रहता है इसी प्रकार आचार्य अनेक जीवों को सदुपदेश देकर नरकादि से बचाते हैं अथवा हिंसा से सर्वथा निवृत्त होने से स्वयं सुरक्षित रहते हैं। जो दूसरों को पीड़ा पहुँचाता है वह स्वयं पीड़ित होता है। जो दूसरों को मारता है वह स्वयं मरता है। जो दूसरों की रक्षा करता है वह स्वयं सुरक्षित होता है।

आचार्य के लिए "सोयमज्झगए" यह विशेषण दिया गया है। इसका कारण यह है कि आचार्य श्रुत (आगम) का आदान और प्रदान करते हैं। जिस प्रकार ह्रद में पानी आता भी है और निकलता भी है इसी तरह यद्यपि आचार्य ज्ञान के भण्डार होते हैं और हजारों प्राणी उनके ज्ञान की मधुरिमा कर अनुभव कर सकते हैं तदपि वे नित्य-नवीन अनुभव करने की जिज्ञासा रखते हैं।

जिस प्रकार सरोवर अपने चारों ओर के किनारों की मर्यादा को ध्यान में लेकर स्वरूप में स्थित रहता है। वह मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता है। वह कभी अपने विजातीय दृश्यों पर लुब्ध नहीं होता। उसके आस-पास स्थलभूमि होती है तो भी वह उससे घृणा या द्वेष नहीं करता इसी तरह आचार्य भी अपनी मर्यादा का कभी उल्लंघन नहीं करते। वे दुनिया में अधम, नीच, पापी कहाने वाले व्यक्तियों पर भी क्षोभ नहीं लाते। दुनिया का वातावरण उन्हें लुब्ध नहीं कर सकता। इनका औदार्य, इनकी निरासक्ति और स्वरूप-मग्नता विलक्षण होती है।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

ऊपर जो बात आचार्य के लिए कही गई है वही बात अन्य महर्षि साधकों के लिए भी लागू हो सकती है। आचार्य के अतिरिक्त अन्य भी विवेकी (ज्ञानवान्) जागृत (श्रद्धालु) आरम्भ-क्रिया से निवृत्त साधक जलाशय के समान निर्मल, उदार, सहज, निरासक्त और स्वरूप-मग्न हो सकते हैं। इनका संसर्ग पापी को भी संत बना सकता है। ये पुण्य के पुञ्ज हैं और जगत् के वातावरण को पवित्रता से भर देने वाले हैं। ये साधक मृत्यु की लेशमात्र भी परवाह नहीं करते हैं। जो प्राणी कर्त्तव्य-भ्रष्ट मार्ग-पतित होते हैं वे ही मृत्यु से घबराते हैं। ऐसे साधक मृत्यु का सहर्ष स्वागत करते हैं—ऐसे पुरुष मुक्ति का मार्ग तय करते जाते हैं और दूसरों को भी प्रेरणा करते जाते हैं।

महर्षि साधकों की और सरोवर की तुलना करके सूत्रकार सभी साधकों को यह कहना चाहते हैं कि तुम भी इनका—सरोवर और महर्षियों का—लक्ष्य सामने रखकर अपने जीवन का विकास करो। "सम्ममेयंति पासह" कह कर सूत्रकार ने यह सूचित किया है कि अपनी विवेकबुद्धि से प्रत्येक कार्य का अवलोकन करना चाहिए। सुधर्मास्वामी कहते हैं कि हे जम्बू ! मेरे कहने से ही तू इस तत्त्व को न मान लेकिन अपनी कुशाग्र बुद्धि द्वारा इस पर सम्यग् विचार कर और तत्पश्चात् उसे स्वीकार कर। इससे यह फलित होता है कि श्रद्धा रखनी चाहिए किन्तु वह श्रद्धा अन्ध न हो। अपनी विवेक-बुद्धि, आगम के वचन और सत्पुरुषों के अनुभव के समन्वय द्वारा श्रद्धा करनी चाहिए।

वितिगिच्छासमावन्नेणं अप्पाणेणं नो लहइ समाहिं, सिया वेगे अणुगच्छंति, असिया वेगे अनुगच्छंति, अणुगच्छमाणेहिं अणणुगच्छमाणे कहं न निव्विज्जे तमेव सच्चं नीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं।

संस्कृतच्छाया—*विचिकित्सासमापन्नेनात्मना नो लभते समाधिं। सिताः वैके अनुगच्छन्ति, असिता वा एके अनुगच्छन्ति, अनुगच्छद्भिः अननुगच्छन् कथं न निर्विद्येत ? तदेव सत्यं निःशङ्कम् यज्जिनैः प्रवेदितम्।*

शब्दार्थ—वितिगिच्छासमावन्नेणं=फल होगा या नहीं ऐसी शंका रखने वाले। अप्पाणेणं=आत्मा को। समाहिं=समाधि। नो लहइ=नहीं मिलती है। एगे=एक एक। सिया वा=गृहस्थ भी। अणुगच्छन्ति=आचार्य के वचनों को समझ सकते हैं। असिया वेगे=अथवा कोई साधु भी। अणुगच्छंति=आचार्य के वचन को समझ सकते हैं। अनुगच्छमाणेहिं=समझने वालों के साथ रहने पर व उनके समझाने पर। अणणुगच्छमाणे=अगर कोई साधक तत्त्व नहीं समझ सकता है तो। कहं न निव्विज्जे=उसे खेद क्यों न हो ? तमेव=वही। सच्चं=सत्य है। नीसंकं=शङ्कारहित है। जं=जो। जिणेहिं=जिनेश्वर देवों ने। पवेइयं=प्रवेदित किया है।

भावार्थ—हे जम्बू ! जो साधक "फल होगा या नहीं" इस प्रकार संशय रखता है वह समाधि को प्राप्त नहीं कर सकता है। महापुरुष आचार्यों के वचनों को एक-एक गृहस्थ समझ सकते हैं, एक-एक

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

मुनि समझ सकते हैं परन्तु कदाचित् कोई साधक अपने कर्मोदय से तत्त्वदर्शी पुरुषों के साथ रहता हुआ भी तत्त्व नहीं समझ सकता है तो उसे खेद क्यों न हो ? अवश्य होता ही है। परन्तु (ऐसे प्रसंग पर अन्य विचक्षण साधु को चाहिए कि उस दुखी साधक से यह कहे) जिनेश्वर देवों ने जो प्रवेदित किया है वही सत्य है, वही निश्शंक है (इस प्रकार तुझे श्रद्धा रखनी चाहिए)।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में श्रद्धा जागृत करने के लिए कहा गया है। श्रद्धा बिना ज्ञान नहीं और ज्ञान बिना शान्ति नहीं। सम्यग्दर्शन (श्रद्धा) के बिना सम्यग्ज्ञान नहीं हो सकता। सच्चे ज्ञान के बिना समाधि दुर्लभ है। सभी प्राणी समाधि के इच्छुक हैं अतएव उन्हें श्रद्धा करनी चाहिए। श्रद्धा के अभाव में प्राणी संशय के जाल में फँसा रहता है और "संशयात्मा विनश्यति" संशय वाला व्यक्ति विनाश को प्राप्त करता है। संशय रूपी शल्य जब हृदय में चुभता रहता है तो वह बुद्धि को भ्रान्त बनाकर जीवन को विनाश के मार्ग में ले जाता है। संदेह की आग जब हृदय में भड़क उठती है तो मनुष्य की निर्णायक शक्ति उसमें भस्म हो जाती है और वह मनुष्य को किंकर्त्तव्यविमूढ़ बना देती है। संशय के अंकुर का यदि निवारण न कर लिया जाय तो वह बढ़कर हृदय में इतना अंधकार भर देता है कि आत्मा का सहज प्रकाश उसमें कहीं विलीन हो जाता है।

यद्यपि "क्रिया कोई निष्फल नहीं होती" यह प्रकृति का अटल नियम है तदपि प्राणी अपने अज्ञान के द्वारा इस कुदरत के कानून के विषय में शंकाशील बनता है। "मैं इतनी कठिन तपश्चर्या करता हूँ—इतनी उग्रता से संयम का पालन करता हूँ परन्तु न जाने इसका फल मुझे मिलेगा या नहीं ? इस प्रकार की शंका करना विचिकित्सा है। यह विचिकित्सा मन की वृत्ति की एक तरंग है। यह एक विकल्प मात्र है। विकल्प का भूत जब तक सिर पर सवार रहता है तब तक शान्ति की आशा करना भ्रम मात्र है। अन्य प्राणियों की अपेक्षा मानव में अन्तःकरण का विकास और बुद्धि ये दो तत्त्व विशेष रूप से हैं। इन दो तत्त्वों को पाकर मनुष्य को ज्यादा संस्कृत होना चाहिए था लेकिन प्रायः मनुष्यों का बहुत बड़ा भाग इन दो साधनों के दुरुपयोग से अधिक विकृत हुआ दिखाई देता है। इसका कारण भी मानसिक विकल्प है। कई व्यक्ति विकल्प को विचार और चिंतन का रूप देते हैं लेकिन यह भूल है। विचार एवं चिन्तन में निर्णय होता है जब कि विकल्प में निर्णय नहीं होता। यह विकल्प ही श्रद्धा का सबसे बड़ा आवरण है—बाधक है।

श्रद्धा का अर्थ है—विश्वास। अनुभवी पुरुषों का अनुभव, शास्त्रीय वचन और अपनी विवेकबुद्धि इन तीनों का समन्वय करने पर जो सत्य प्रतीत हो उस पर अटल विश्वास होना ही श्रद्धा है। श्रद्धा में विवेक-बुद्धि और हृदय दोनों को अवकाश है। ऐसी श्रद्धा अंध श्रद्धा नहीं हो सकती।

श्रद्धा के बिना कोई भी कार्य सफल नहीं हो सकता। छोटे से कार्य से लगाकर महान् से महान् कार्य श्रद्धा के बिना नहीं हो सकता। छोटे से कार्य के पीछे भी अगर श्रद्धा नहीं है तो वह कार्य प्राणरहित देहवत् होता है। एक वैज्ञानिक अपनी प्रयोगशाला में श्रद्धा के साथ ही प्रवेश करता है तो वह कुछ अन्वेषण कर सकता है। अगर वह कार्य करते हुए शंकाशील बना रहे तो कभी भी कार्य सम्पन्न नहीं कर सकेगा। वैद्य अगर चिकित्सा और निदान करते हुए शंकाशील ही रहता है तो वह चिकित्सा करने में कभी सफल नहीं हो सकता। एक व्यापारी अगर व्यापार करते हुए सदा शंकित ही रहता है तो वह

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

व्यापार में सफल नहीं हो सकता। विद्यार्थी अगर यही सोचता रहे कि मुझे ज्ञान चढ़ेगा या नहीं तो वह कभी विद्वान् नहीं हो सकता। अपने आप में श्रद्धा रखते हुए जो पुरुषार्थ करता है वही सफलता प्राप्त करता है। श्रद्धा प्रत्येक कार्य का प्राण है। नीरस से नीरस विषय में भी श्रद्धा रस का संचार कर देती है। अतएव प्रत्येक साधक को अपनी साधना पर पूरा विश्वास रखते हुए आगे बढ़ना चाहिए। संशय के झूले पर झूल कर डाँवाडोल न होना चाहिए। संशय का अन्तिम परिणाम नाश के सिवाय अन्य नहीं हो सकता। विचिकित्सा के द्वारा कलुषित अन्तःकरण वाला साधक ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप समाधि नहीं प्राप्त कर सकता।

गृहस्थ साधक और संयमी साधक दोनों के लिए यह संशय समानरूप से त्याज्य है। गृहस्थ साधक भी महापुरुषों के वचनों को समझ सकता है और यथाशक्ति उसका अनुसरण कर सकता है। संयमी साधक भी महापुरुषों के वचनों को समझ कर आचरण कर सकता है यह कहकर सूत्रकार ने अगारधर्म और अनगारधर्म का सूचन किया है। कई बार ऐसा बनता है कि गृहस्थ साधक महापुरुषों के वचन और तत्त्वों को समझ सकता है और रात-दिन महापुरुषों के संग में रहने वाला साधु कर्मोदय के कारण तत्त्व को नहीं समझ सकता है। अन्य सहयोगी साधुओं और गृहस्थों को तत्त्व समझते हुए देखकर और स्वयं को तत्त्व नहीं समझ में आने के कारण कोई साधु खेद को प्राप्त किए बिना नहीं रह सकता। उसे दुख होना स्वाभाविक है। वह सोचने लगता है कि "मैं भव्य भी हूँ या नहीं? मुझ में संयम है या नहीं? क्योंकि आचार्य इतना स्पष्ट फरमाते हैं कि अन्य सहयोगी साधु और गृहस्थ भी समझ लेते हैं लेकिन मैं नहीं समझ सकता हूँ"। इस प्रकार जब कोई साधक ग्लानि का अनुभव करता हो उस समय आचार्य अथवा अन्य सहयोगी उसके निराशामय जीवन में उत्साह और आशा का संचार करने के लिए कहते हैं कि हे साधो! खेद न करो। तुम भव्य हो, तुम्हें भव्य-अभव्य की भावना उत्पन्न हुई है यही तुम्हारी भव्यता का प्रमाण है। जो अभव्य आत्मा होता है उसे इस प्रकार की भावना ही नहीं हो सकती। तुमने चारित्र-मार्ग अङ्गीकार किया है यह सम्यक्त्व के बिना नहीं हो सकता। बारह प्रकार के कषाय का उपशम, क्षयोपशम या क्षय होने पर चारित्र की प्राप्ति होती है वह चारित्र तुमने पाया है। समझाने पर भी जो पदार्थ का स्वरूप तुम्हारी समझ में नहीं आता इसका कारण ज्ञानावरणीय कर्म का गाढ़ आवरण है अतएव तुम्हें श्रद्धान रूप सम्यक्त्व का अवलम्बन लेना चाहिए। यह दृढ़ विश्वास रक्खो कि:—

तमेव सच्चं नीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं।

जो जिनेश्वर देवों ने प्रवेदित किया है वह निस्संदेह सच्चा ही है। वह त्रिकाल में अन्यथा नहीं हो सकता। यह दृढ़ विश्वास रक्खो और विचिकित्सा को दूर करो। अवश्यमेव तुम्हारे कर्म दूर होंगे और तुम्हें निर्मल ज्ञान की प्राप्ति होगी।

अनन्त ज्ञानियों ने अपने ज्ञान में जैसा देखा है वैसा ही प्ररूपित किया है। उन्होंने अतीन्द्रिय, सूक्ष्म तथा व्यवहित पदार्थों का भी स्वरूप बताया है। यह हो सकता है कि महा ज्ञानियों का वह कथन छद्मस्थों को बराबर समझ में नहीं आ सके तदपि यह विश्वास रखना चाहिए कि वे वचन तथ्य ही हैं। हमारी बुद्धि में नहीं आते इसीसे वे शंका-योग्य नहीं है। जिनेश्वर जो कहते हैं सत्य ही है, निश्शंक ही है यह दृढ़ विश्वास रखना चाहिए। यह श्रद्धा कल्याण-साधिका है।

यहाँ यह आशंका की जाती है कि क्या साधु को भी विचिकित्सा हो सकती है जिसका यहाँ निषेध किया जाता है? इसका समाधान यह है कि जो संसारवर्ती हैं, जिन्हें मोह का उदय हो सकता है,

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

उनको लिए क्या नहीं हो सकता है। अर्थात् मोह सब कुछ करा सकता है। मोह के उदय से यति को भी शंका, कांक्षा, वितिगिच्छा हो सकती है। आगम में कहा है:—

अत्थि णं भंते ! समणा वि निग्गथा कंखामोहणिज्जं कम्मं वेदेंति ? हंता अत्थि। कहन्नं समणा वि निग्गंथा कंखा मोहणिज्जं कम्मं वेयंति ? गोअमा ! तेसु तेसु नाणन्तरेसु, चरित्तन्तरेसु संकिय कंखिय, विइगिच्छासमावन्ना भेयसमावन्ना कालुससमावन्ना, एवं खलु गोयमा ! समणा वि निग्गंथा कंखामोहणिज्जं कम्मं वेदेंति तत्थालंबणं तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं। से णूणं भंते एवं मणं धारेमाणे आणाए आराहए भवइ ? हंता गोअमा ! एवं मणं धारेमाणे आणाए आराहए भवइ।

इस आगम वाक्य में श्री गौतमस्वामी भगवान् महावीर से प्रश्न करते हैं कि हे भगवान् ! श्रमण निर्ग्रन्थ कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करते हैं ? भगवान् फरमाते हैं कि हाँ गौतम ! वेदन करते हैं। फिर गौतमस्वामी प्रश्न करते हैं कि हे भगवान् ! वे कैसे वेदते हैं ? भगवान् फरमाते हैं हे गौतम ! ज्ञान के विषय में और चरित्र के विषय में शंका, कांक्षा, विचिकित्सा करते हुए, भेद को प्राप्त करके कलुषित परिणाम वाले बनते हैं। हे गौतम ! इस प्रकार वे कांक्षामोहनीय का वेदन करते हैं। उनके लिए यह अवलम्बन है कि वे यह विचारें कि जो जिनेश्वरों ने कहा है वही निश्शंक है—सत्य है। इस पर गौतमस्वामी पुनः प्रश्न करते हैं कि हे भगवान् ! इस प्रकार विचारने वाला आज्ञा का आराधक होता है ? भगवान् फरमाते हैं कि हाँ गौतम ! ऐसा मन में दृढ़ विश्वास रखने वाला आज्ञा का आराधक होता है।

इससे यह फलित होता है कि यति को भी यह विचिकित्सा हो सकती है और उसका निवारण करने का उपाय भी इसमें बता दिया गया है। और भी यह विचारना चाहिए कि:—

वीतरागा हि सर्वज्ञा मिथ्या न ब्रुवते क्वचित्।
यस्मात्तस्माद्वचस्तेषां तथ्यं भूतार्थदर्शनम्॥

अर्थात्—वीतराग और सर्वज्ञ कदापि मिथ्या भाषण नहीं कर सकते क्योंकि मिथ्याभाषण का कोई कारण ही नहीं है (मिथ्याभाषण के कारण दो ही हैं—(१) अज्ञान (२) राग-द्वेष परिणाम)। इस कारण जिनेश्वर के वचन सत्यार्थ के प्ररूपक हैं। साधन को यह दृढ़ विश्वास रखना चाहिए। यह श्रद्धा भवसागर से पार करने वाली है।

सद्धिस्स णं समणुन्नस्स संपव्वयमाणस्स समियंति मन्नमाणस्स एगया समिया होइ १ समियंति मन्नमाणस्स एगया असमिया होइ २ असमियंति मन्नमाणस्स एगया समिया होइ ३ असमियंति मन्नमाणस्स एगया असमिया होइ ४ समियंति मन्नमाणस्स समिया वा असमिया वा समिया होइ उवेहाए ५ असमियंति मन्नमाणस्स समिया वा असमिया वा असमिया होइ उवेहाए ६।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

संस्कृतच्छाया—*श्रद्धावतः समनुज्ञस्य संप्रव्रजतः सम्यगिति मन्यमानस्य एकदा सम्यग्भवति ? सम्यगिति मन्यमानस्य एकदा असम्यग्भवति २ असम्यगिति मन्यमानस्य एकदा सम्यग्भवति ३ असम्यगिति मन्यमानस्य एकदा असम्यग्भवति ४ सम्यगिति मन्यमानस्य सम्यग्वा असम्यग्वा सम्यग्भवति उत्प्रेक्षया ५ असम्यगिति मन्यमानस्य सम्यग्वा असम्यग्वा असम्यग्भवत्युत्प्रेक्षया ॥*

शब्दार्थ—सड्ढिस्स णं=श्रद्धालु । समणुन्नस्स=महापुरुषों द्वारा समझाये हुए। संपव्वयमाणस्स=त्यागमार्ग अंगीकार करते समय । समियं ति=जिनभाषित सत्य ही है ऐसा । मन्नमाणस्स=मानने वाले साधक की श्रद्धा । एगया=कदाचित् । समिया=अन्त तक सम्यग् । होइ=होती है ? समियंति मन्नमाणस्स=पहिले सम्यग् मानने वाले की श्रद्धा । एगया=कभी । असमिया होइ=खराब हो जाती है २ । असमियंति मन्नमाणस्स=पहले जिनभाषित को असम्यग् मानने वाले की श्रद्धा । एगया=कभी-पश्चात् । समिया होइ=सम्यक् हो जाती है ३ । असमियंति मन्नमाणस्स=पहिले असम्यग् मानने वाले की । एगया=बाद में भी । असमिया होइ=असम्यग् ही रहती है ४ । समियंति मन्नमाणस्स=जिनभाषित सत्य ही है ऐसा मानने वाले के । समिया वा=सम्यग् अथवा । असमिया वा=असम्यग् दिखने वाले तत्त्व । उवेहाए=विचारणा द्वारा । समिआ होइ=सम्यग् परिणमते हैं । असमियंति मन्नमाणस्स=जिसकी श्रद्धा ही दूषित है उसको । समिया वा=अच्छे या । असमिया वा=बुरे । उवेहाए=असम्यग् विचारणा से । असमिया होइ= असम्यग् रूप ही परणमते हैं ।

भावार्थ—हे जम्बू ! महापुरुषों द्वारा वस्तु स्वरूप समझ कर श्रद्धालु बने हुए बहुत से साधक दीक्षा अंगीकार करते समय "जिनभाषित ही सत्य है" ऐसा मानते हैं परन्तु उनमें से बहुत थोड़े ही इस श्रद्धा को अन्त तक टिका रखते हैं; कितनेक पहिले श्रद्धालु होते हैं और बाद में शंकाशील बन जाते हैं २ कितनेक शुरु में दृढ़ श्रद्धालु नहीं होते हैं परन्तु बाद में शुद्ध श्रद्धा वाले बनते हैं ३ कितनेक कदाग्रही पहिले और बाद में भी अश्रद्धालु ही बने रहते हैं ४ जिस साधक की श्रद्धा पवित्र है उसे अच्छे या बुरे (सम्यग् अथवा असम्यग्) सभी तत्त्व सम्यग् विचारणा से सम्यग् रूप ही परिणमते हैं ५ और जिस साधक की श्रद्धा दूषित होती है उसे अच्छे या बुरे सभी तत्त्व असम्यग् रूप ही परिणमते हैं (इस प्रकार परिणामों की विचित्रता होती है) ।

विवेचन—पूर्ववर्ती सूत्र में विचिकित्सा का त्याग करने का उपदेश दिया गया था अब इस सूत्र में परिणामों की विचित्रता के अनुसार श्रद्धा और सन्देह को लेकर विभिन्न भङ्गों का दिग्दर्शन कराते हैं ।

श्रद्धा अन्तःकरण का विषय है । हृदय ही श्रद्धा का स्थान है । जो श्रद्धा बाह्य आडम्बर, राग या मोह द्वारा आती है वह सच्ची श्रद्धा नहीं है । ऐसी श्रद्धा लम्बे काल तक टिक भी नहीं सकती है । श्रद्धा

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

आवेशयुक्त भावना से नहीं आती; लेकिन विवेकबुद्धि द्वारा जब श्रद्धा उत्पन्न होती है तो ही वह अन्त तक टिकती है। सूत्रकार ने यहाँ श्रद्धालुओं के चार भंग बताये हैं और अन्तिम दो में उपसंहार किया है। वे भंग इस प्रकार हैं:—

(१) प्रथम श्रद्धालु और पीछे भी श्रद्धालु।
(२) प्रथम श्रद्धालु और पीछे अश्रद्धालु।
(३) प्रथम अश्रद्धालु और पीछे श्रद्धालु।
(४) प्रथम अश्रद्धालु और पीछे भी अश्रद्धालु।

प्रथम भंग में वे हैं जो महापुरुषों द्वारा वस्तु का स्वरूप समझ कर उस पर श्रद्धा करके जो साधक प्रव्रजित हुए हैं, जो "जिनभाषित सत्य ही है" यह श्रद्धा रखते हैं और शंका, कांक्षा, विचिकित्सा नहीं करते हुए अपनी श्रद्धा को उत्तरोत्तर बढ़ाते हुए अन्त तक अपनी श्रद्धा कायम रखते हैं। तीर्थंकर-भाषित वचनों में उन्हें शंका नहीं होती। द्वितीय भङ्ग में वे हैं जो प्रव्रज्या के अवसर पर तो शुद्ध श्रद्धा वाले थे बाद में न्याय शास्त्र का अभ्यास करते हुए हेतु दृष्टान्त को कुत्सित रूप से ग्रहण करके अथवा ज्ञेयतत्त्व की गहनता और सूक्ष्मता के कारण व्याकुल होकर मिथ्यात्व के उदय से शुद्ध श्रद्धा का त्याग कर देते हैं। जैसे कि जैनदर्शन सर्वनयात्मक है। उसके सिद्धान्तानुसार वस्तु अनन्तधर्मात्मक है। अतएव प्रत्येक वस्तु में नित्यधर्म, अनित्यधर्म आदि अनेक धर्म भिन्न-भिन्न अपेक्षा से रहे हुए है। इस तत्त्व को न समझ कर मोह के उदय से वह शंका करने लगता है कि एक ही वस्तु नित्य और अनित्य कैसे हो सकती है। नित्य और अनित्य दोनों ही विरुद्ध धर्म हैं, ये एक दूसरे का परिहार करके ही रह सकते हैं; जो नित्य है वह अनित्य कैसे और जो अनित्य है वह नित्य कैसे? इस प्रकार के विचार से वह शंकाशील हो जाता है लेकिन वह यह नहीं विचारता कि भिन्न-भिन्न अपेक्षा से नित्य-अनित्य धर्म एक ही वस्तु में रह सकते हैं इसमें कोई विरोध नहीं है। विरोध तो तब होता जब एक ही अपेक्षा से नित्य भी कहते और उसी अपेक्षा से अनित्य भी कहते। भिन्न भिन्न विवक्षा की अपेक्षा ऐसा कहने में विरोध नहीं है। जैसे पितृत्व और पुत्रत्व दोनों विरोधी धर्म हैं किन्तु एक ही व्यक्ति में भिन्न २ अपेक्षा से दोनों धर्म पाये जाते हैं। एक व्यक्ति अपने पिता का पुत्र है और अपने पुत्र का पिता है इस तरह वह किसी का पुत्र है और किसी का पिता है भला इस कथन में क्या विरोध हो सकता है? इसी तरह द्रव्य की अपेक्षा एक ही पदार्थ नित्य है और पर्याय की अपेक्षा अनित्य है इसमें क्या विरोध हो सकता है? इस तरह का विचार न करके मोह के उदय से एक-एक साधक बाद में अपनी श्रद्धा दूषित कर लेते हैं।

तृतीय भंग में यह कहा गया है कि कई साधक ऐसे हैं कि जिन्हें प्रव्रज्या के अवसर पर तो 'जिन प्रवचन ही सत्य है' ऐसी दृढ़ प्रतीति नहीं होती लेकिन बाद में अनुभव प्राप्त होने पर वे सम्यग् श्रद्धा वाले हो जाते हैं। जैसे पहिले तो उन्हें शंका होती है कि शब्द पौद्गलिक कैसे हो सकता है? यह शंका गुरु आदि के उपदेश द्वारा, मिथ्यात्व के परमाणुओं के उपशम द्वारा दूर हो जाती है। उन्हें मालूम हो जाता है कि शब्द पौद्गलिक ही है। अगर ऐसा न हो तो शब्द—जोरदार शब्द—के श्रवण से कर्णेन्द्रिय का उपघात नहीं हो सकता। यह देखा जाता है कि जोर के शब्द के श्रवण से बालकों की सुनने की शक्ति का उपघात हो जाता है। अगर शब्द पौद्गलिक न हो और अमूर्त्त हो तो आकाश की तरह कर्णेन्द्रिय पर उसका असर नहीं होना चाहिए। ऐसा होता है अतएव शब्द पौद्गलिक है इस प्रकार पहिले की शंका दूर होने से बाद में उनकी श्रद्धा शुद्ध बनती है।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

चौथे भंग में ऐसे साधक हैं जिन्हें पहिले भी शंका बनी रहती है और बाद में भी बनी रहती है। उनकी शंका का समाधान नहीं होता। वे कदाग्रही ही बने रहते हैं। जैसे आगम में कहा गया है कि परमाणु एक समय में चौदह राजू प्रमाण लोक के एक छोर से दूसरे छोर पर जा सकता है। यह कथन अति सूक्ष्म और छद्मस्थ के अगोचर है। मानवीय कर्मावृत्त बुद्धि इस बात को नहीं समझ सकती। अतएव वह साधक यह कहता है कि यह बात बुद्धि को नहीं जँचती अतएव ऐसा नहीं हो सकता। इसलिये वह शुरु से अन्त तक इसी बात पर अड़ा रहता है। वह यह नहीं सोचता कि मानव कर्मों से लिप्त है। उसकी बुद्धि परिमित है। अनन्तज्ञानियों ने अपने ज्ञान और अनुभव के बाद यह प्ररूपित किया है अतएव यह झूठ नहीं हो सकता। मेरी बुद्धि की अल्पता से मुझे यह समझ में नहीं आता। ऐसा विचार नहीं करता है इसलिए वह शुरु से आखिर तक शंकाशील ही बना रहता है।

इस प्रकार चार भंग बताकर अब आगे सूत्रकार उपसंहार करते हुए परमार्थ का प्रकाशन करते हैं। सूत्रकार यह फरमाते हैं कि जिसकी श्रद्धा शुद्ध होती है वह वस्तु को चाहे सम्यग् या असम्यग् रूप से ग्रहण करें लेकिन वह सम्यग् विचारणा के द्वारा उसे सम्यग् रूप में ही परिणमाता है। जिसे यह दृढ़ श्रद्धा होती है कि जिनेश्वर देव के वचन असत्य नहीं हो सकते वह साधक भले ही तत्त्व को अच्छी तरह समझ सके या न भी समझ सके तो भी वह उसको सत्य रूप में ही परिणमाता है कदाचित् उसने वस्तु को जिस रूप में मानी है उस रूप में वह न भी हो तो भी उसकी विचारणा सत्य है अतएव वह सम्यग् ही है। जिस प्रकार उपयोगपूर्वक ईर्यापथ शोधते हुए साधु के द्वारा कोई जीव वध को प्राप्त हो जाय तो भी वह बन्ध का कारण नहीं है। इसी तरह जिसकी श्रद्धा शुद्ध है वह व्यक्ति कदाचित् असत्य स्वरूप भी ग्रहण करता है तो वह अपनी सम्यग्भावना के द्वारा उसे सम्यग् बना लेता है। जिसका आशय शुद्ध होता है वह असत्य को भी सत्य रूप में बदल लेता है। यह बात गहन और अनुभवगम्य है। साधक को अपने आशय की शुद्धता पर ध्यान देना चाहिए। साधक दशा में ज्ञान की अपूर्णता रहती है अतएव यह सम्भव है कि कई बार जो असत्य जँचता हो वह सत्य हो सकता है और जो सत्य जँचता है वह असत्य हो सकता है। सत्यासत्य का पूर्ण निर्णय तो सम्पूर्ण ज्ञानी ही कर सकते हैं। अतएव साधक को आशय की शुद्धि पर विशेष लक्ष्य देना चाहिए। इसका अर्थ यह नहीं है कि वह आँख मींचकर हरेक बात को मान ले, सत्य-असत्य का अपनी बुद्धि से माप न निकाले। अवश्य साधक सत्य-असत्य की परीक्षा करे, अपनी विवेकबुद्धि से काम ले लेकिन वह यह न करे कि जो मैंने समझा है वही सच्चा है। वह अपने ज्ञान को प्रामाणिक ही मानकर दूसरे को एकदम मिथ्या न कह दे। वह अपने अनुभव पर अन्तिम सत्य की छाप न मार दे। तात्पर्य यह है कि साधक जहाँ तक अपनी बुद्धि की दौड़ है वहाँ तक उससे काम ले और जहाँ बुद्धि काम न दे वहाँ उसे 'जिन प्ररूपित तत्त्व मिथ्या नहीं है' इस श्रद्धा से काम ले। इस तरह बुद्धि और श्रद्धा के सम्मिश्रण से साधक आगे बढ़ता चला जायगा?

आगे के भंग में सूत्रकार यह बताते हैं कि जिसकी श्रद्धा खराब है वह चाहे सत्य को सत्यरूप में भी कदाचित् ग्रहण करे तो भी असद् विचारणा के कारण वह असत् रूप ही है। मिथ्यादृष्टि का ज्ञान भी अज्ञान ही है। तत्त्वार्थ सूत्र में भी यह कहा गया है:—

सदसतोरविशेषाद् यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत्।

अर्थात्—जिस तरह पागल व्यक्ति कभी सत् को सत् भी कह देता है और असत् को असत् भी कह देता है, वह माता को माता कहता है और स्त्री को स्त्री कहता है। लेकिन उसका यह कथन विवेकपूर्वक

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

नहीं होता। समझपूर्वक नहीं होता। वह आज माता को माता कहता है कभी वह माता को स्त्री कहने लगता है। कभी वह स्त्री को स्त्री कहता है तो कभी वह स्त्री को माता भी कहने लगता है। इसलिए उसका सच्चा ज्ञान भी पागलपन ही समझा जाता है। उसी तरह मिथ्यादृष्टि बाह्य पदार्थों को उसी रूप में जानता है—वह सोने को सोना जानता है, घर को घर जानता है तो भी उसको सत् और असत् का विवेक नहीं होता अतएव उसका ज्ञान भी अज्ञान ही कहा जाता है। मिथ्यादृष्टि का आशय अशुद्ध होता है अतएव सत्य को भी अपनी अशुद्ध विचारणा द्वारा असत्य बना लेता है।

यह विचार कर मिथ्यारूप का त्याग करना चाहिए। शंका, कांक्षा, विचिकित्सा का त्याग कर शुद्ध श्रद्धारूप सम्यग्दर्शन का अवलम्बन लेना चाहिए। सम्यग्दर्शन ही मोक्ष का कारण है। कहा है:—

नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विणा न होंति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो नत्थि अमुक्खस्स निव्वाणं ॥

अर्थात्—सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान नहीं हो सकता, ज्ञान के बिना चारित्र नहीं हो सकता, चारित्र के बिना कर्म से मुक्ति नहीं हो सकती, कर्ममुक्ति के बिना निर्वाण नहीं हो सकता।

इससे यह फलित होता है कि सम्यग्दर्शन के बिना समस्त ज्ञान और चारित्र शून्य है। सम्यग्दर्शन होने पर ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र हो सकते हैं। अतएव मोक्षरूपी महल पर चढ़ने के लिए सम्यग्-दर्शन प्रथम सोपान है। विवेकी मुमुक्षुओं को अपनी श्रद्धा को शुद्ध बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। इसी पर साधना की सफलता या असफलता का दारमदार है। सूत्रकार ने इसीलिए श्रद्धा पर इतना भार दिया है। जिनवचन पर पूरी श्रद्धा रखना भवसागर से पार हो जाना है। यह श्रद्धा ही मोक्षदायिनी है।

उवेहमाणे अणुवेहमाणं बूया—उवेहाहि समियाए, इच्चेवं तत्थ संधी झोसिओ भवइ, से उट्ठियस्स ठियस्स गइं समणुपासह, इत्थवि बालभावे अप्पाणं नो उवदंसिज्जा।

संस्कृतच्छाया—*उत्प्रेक्षमाणः अनुत्प्रेक्षमाणं ब्रूयाद उत्प्रेक्षस्व सम्यक्तया, इत्येवं तत्र संधिर्झोषितः भवति, स तस्योत्थितस्य, स्थितस्य गतिं समनुपश्यत अत्रापि बालभावे आत्मानं नोपदर्शयेत्।*

शब्दार्थ—उवेहमाणे=सम्यग् विचारवान् पुरुष। अणुवेहमाणं=अविचारशील को। बूया=ऐसा कहे। समियाए=तू सम्यक् रूप से। उवेहाहि=विचार कर। इच्चेव=इसी तरह। तत्थ=संयम में प्रवृत्ति से ही। संधि=कर्म का। झोसिओ भवइ=नाश होता है। से=उस। उट्ठियस्स=जागृत श्रद्धाशील की। ठियस्स=पासत्थ—शिथिलाचारी की। गइं=गति को। समणुपासह=बराबर देखो। इत्थवि=इस। बालभावे=बालभाव में। अप्पाणं=अपनी आत्मा को। नो उवदंसिज्जा=स्थापित न करे।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

भावार्थ—हे साधको ! जो विचारवान् श्रद्धालु साधक हैं उन्हें चाहिए कि जो असत्य दृष्टि वाले और अविचारी हैं उन्हें इस प्रकार सत्यविचारणा के लिए प्रेरित करें कि हे पुरुषो ! सत्य की ओर दृष्टि करो क्योंकि सत्य की ओर प्रवृत्ति करने से ही कर्म का—संसार का सम्पूर्ण क्षय हो सकता है। हे साधको ! श्रद्धावान् और गुरुकुल में रहने वाले साधकों की उत्तम गति और पदवी को देखो और शिथिलाचारी पार्श्वस्थों की अधम गति को बराबर देखो। यह जानकर अपने आपको बालजनाचरित असंयम में स्थापन न करो।

विवेचन—पहले श्रद्धालुओं के भंग का वर्णन करके अब सूत्रकार यहाँ यह कहते हैं कि जो श्रद्धालु हैं—जागृत हैं उनका दूसरों के प्रति क्या कर्त्तव्य हो जाता है। जो जागृत है उसका कर्त्तव्य यह है कि वह दूसरों को भी जागृति की प्रेरणा करे। जो जागृत है उस पर दूसरों को जागृत करने की जवाबदारी भी है। जो साधक आगम के रहस्य का वेत्ता है, यथास्थित पदार्थ का ज्ञाता है, जो सम्यग् असम्यग् का निर्णय करने में विचक्षण है वह दूसरों को—गड़रिये के प्रवाह के समान लकीर के फकीरों को—इस प्रकार समझावे कि हे साधको ! सत्य की ओर प्रवृत्ति करो। जिस प्रकार सरोवर किसी की तृषा को शांत करने के लिए उसके पास नहीं जाता है किन्तु जो तृषातुर होकर उसके पास आता है उसकी वह शीतल जल से प्यास बुझाता है इसी प्रकार जो व्यक्ति शंकाओं और विकल्पों को लेकर जागृत साधक के पास आता है तो उसका कर्त्तव्य है कि वह उसकी शंकाओं का समाधान करे। उसकी उलझी हुई समस्या को सुलझावे। अनुभवी साधक इतने उदार होते हैं कि वे दूसरों को भी अपनी जागृति का प्रसाद चखाते हैं।

यह निश्चित बात है कि सत्य की ओर प्रवृत्त हुए बिना कर्म का अन्त नहीं हो सकता। अतएव हे साधको ! अगर कर्मक्षय करके संसार का अन्त करना चाहते हो तो सत्य की ओर—संयम की ओर—प्रवृत्ति करो। अनुभवी-साधक अन्य को यह उपदेश करते हैं कि देखो जो साधक श्रद्धाशील हैं एवं गुरुकुल में रहने वाले हैं वे ज्ञान, दर्शन और चारित्र में निष्प्रकम्प बनते हैं, ज्ञान के भण्डार बनते हैं और सकल संसार के यश के भागी होते हैं। परलोक में भी स्वर्ग और अपवर्ग रूप उत्तम गति को प्राप्त करते हैं इसके अतिरिक्त जो विकल्पों में पड़े रहकर शंकाशील होते हैं—संयम में सीदाते हैं शिथिलाचारी होते हैं वे अधम गति और अधम अवस्था को प्राप्त करते हैं। इन दोनों स्थितियों का विचार करके जो तुम्हें रुचे उस मार्ग पर चलो। अनुभवियों का काम अन्य को जागृत—सूचित कर देने का है। उसके अनुसार प्रवृत्ति करना या न करना यह तो उस व्यक्ति के हाथ की बात है। अनुभवी अन्य को सत्य की चेतावनी कर देते हैं वे यह आग्रह नहीं करते कि तुझे यह मानना ही पड़ेगा। मानना या न मानना यह तो व्यक्ति का काम है। महानुभाव अनुभवी पुरुष सत्य से लाभ और असत्य से हानि—ये दोनों बात जगत् के सामने रख देते हैं। जिसे जो पसन्द आवे ले ले।

इतना कह देने के बाद सूत्रकार यह बताते हैं कि दूसरों को समझाने जाते हुए साधक कहीं स्वयं गफ़लत में न पड़ जाय। इसलिए उसको वे सावधान करते हैं कि—देखना ! सावधान रहना। अश्रद्धालुओं को समझाने जाते हुए स्वयं श्रद्धा को न खो बैठना। अन्य शंकाशील प्राणी जैसे असंयम का आचरण करते हैं उस तरह तू भी असंयम में न फँस जाना। बाल-अज्ञानी-जीवों की भांति असदनुष्ठान न करने लगना। इससे यह प्रतीत होता है कि अनुभवी साधक स्वयं श्रद्धाशील होता है और विशेष श्रद्धा के साथ वह अन्य को भी इस मार्ग पर लाता है।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

तुमंसि नाम सच्चेव जं हंतव्वं ति मन्नसि, तुमंसि नाम सच्चेव जं अज्जावेयव्वं ति मन्नसि, तुमंसि नाम सच्चेव जं परियावेयव्वं ति मन्नसि, एवं जं परिघित्तव्वं ति मन्नसि, जं उद्दवेयव्वं ति मन्नसि, अंजू चेय पडिबुद्धजीवी तम्हा न हंता न वि घायए, अणुसंवेयणमप्पाणेणं जं हंतव्वं नाभिपत्थए ।

संस्कृतच्छाया—*त्वमेव नाम स एव यं हन्तव्यमिति मन्यसे, त्वमेव नाम स एव यमाज्ञापयितव्यमिति मन्यसे, त्वमेव नाम स एव यं परितापयितव्यमिति मन्यसे एवं यं परिगृहीतव्यमिति मन्यसे, यम् अपद्रावयितव्यमिति मन्यसे, ऋजुश्चैतस्य प्रतिबुद्धजीवी, तस्माच्च हन्ता न पि घातकः, अनुसंवेदनमात्मना यत् हन्तव्यं नाभिप्रार्थयेत् ।*

शब्दार्थ—जं=जिसे । हंतव्वं ति='हन्तव्य है' ऐसा । मन्नसि=तू मानता है । सच्चेव=वह । तुमंसि नाम=तू ही है । जं अज्जावेयव्वं मन्नसि=जिसे तू आज्ञा करने योग्य समझता है । तुमंसि नाम सच्चेव=वह तू ही है । जं परियावेयव्वं मन्नसि=जिसे तू परिताप पहुँचाना चाहता है । तुमंसि नाम सच्चेव=वह तू ही है । जं परिघित्तव्वं मन्नसि=जिसे तू अपने वश में रखना चाहता है वह तू ही है । जं उद्दवेयव्वं ति मन्नसि=जिसे तू प्राण रहित करना चाहता है वह तू ही है । अंजू चेव=सरल स्वभावी साधु ही । पडिबुद्धजीवी=यह समझ कर जीवन बिताते हैं । तम्हा=इसलिए । न हंता=वह किसी को नहीं मारते हैं । न विघायए=किसी का घात नहीं करते हैं । अणुसंवेयणमप्पाणेणं=जो हिंसा करते हैं उसका फल वैसा ही पीछा भोगना पड़ता है । जं=इसलिए । हंतव्वं नाभिपत्थए=किसी की भी हिंसा का इरादा न रक्खे ।

भावार्थ—अहो आत्मन् ! जिसे तू मारने का विचार कर रहा है वह तो तू स्वयं है, जिस पर तू हुकूमत चलाने का विचार करता है वह भी तू स्वयं ही है, जिसे तू दुखी करना चाहता है वह तू स्वयं है, जिसे तू पकड़ना चाहता है वह तू स्वयं है, जिसे तू मार डालना चाहता है वह भी तू स्वयं ही है, यह विचार कर । सचमुच इस समझ से ही सत्पुरुष सभी जीवों के साथ मैत्रीभाव कर सकते हैं । यह समझ कर किसी भी जीव को नहीं मारना चाहिए क्योंकि दूसरों को मारने का या पीड़ा पहुँचाने का परिणाम उसके कर्त्ता को उसी तरह भोगना पड़ता है यह जानकर किसी भी प्राणी को मारने या पीड़ा पहुँचाने का इरादा तक नहीं करना चाहिए ।

विवेचन—इसके पहिले के सूत्र में बालभाव में न फँसने की चेतावनी दी गई है । जो बालक जैसे विवेक से विकल हैं वे ही प्राणी हिंसादि में प्रवृत्त होते हैं । सच्चा श्रद्धालु एवं जागृत आत्मा कभी भी अन्य प्राणी की हिंसा नहीं कर सकता क्योंकि वह जानता है कि आत्म-हनन के बिना हिंसा नहीं हो सकती । जो हिंसा करता है या जो हिंसा करने की भावना करता है वह अपनी आत्मा की हिंसा करता है ।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

यहाँ सूत्रकार फरमाते हैं कि "अहो साधक, जिसे तू हन्तव्य समझता है वह तू स्वयं है।" इसका यह अर्थ फलित होता है कि जो दूसरे जीवों की हिंसा करता है उसे समझना चाहिए कि वह दूसरों की हिंसा नहीं करता किन्तु अपनी हिंसा कर रहा है। जहाँ वृत्ति में हिंसा की भावना जगी वहाँ समझना चाहिए कि आत्मा की हिंसा हुई। प्रत्येक प्राणी का विश्व के प्राणियों के साथ गाढ सम्बन्ध रहा हुआ है। किसी भी प्राणी को यह हक नहीं हो सकता कि वह अन्य किसी को पीड़ा पहुँचाने का विचार भी कर सके। जो हिंसा करने का विचार करता है वह भले ही हिंसा कर सके या न कर सके किन्तु वह अपनी खुद की हिंसा तो कर ही डालता है।

अथवा इस सूत्र का अर्थ यह करना चाहिए कि हे आत्मन्! जब तू किसी को मारने का विचार करता हो तब यह विचार कर कि यह तू स्वयं है। अर्थात् अपनी आत्मा के समान उसे देख। जैसे तू स्वयं सुख का अभिलाषी है, जीवन का इच्छुक है, दुख का द्वेषी है और मरने से डरता है उसी तरह यह प्राणी भी सुखाभिलाषी है, दुख का द्वेषी है, जीवन का इच्छुक है और मरने से भय खाता है। यह मेरे समान ही जिन्दा रहना चाहता है यह समझ कर किसी जीव की हिंसा न कर।

इस सूत्र का यह भी अर्थ किया जा सकता है कि हे आत्मन्! जिसे तू हन्तव्य मानता है वह तू है। आत्मा अनादिकाल से विकल्पों के जाल में फँसकर अनात्म में आत्मा का भान कर रहा है। बाह्य वस्तुओं में आत्म-बुद्धि कर रहा है इसलिए तू का अर्थ बहिरात्मभाव। यह बहिरात्मभाव रूप "तू" ही हन्तव्य है। इस बहिरात्मभाव का विनाश कर। अन्य कोई हन्तव्य नहीं है तेरा भ्रान्त "तू पन" या अहं-पन ही हन्तव्य है। इसका जब विनाश होगा तब ही सच्चा व्यक्तित्व-आत्मभान प्रकट होगा।

जो बात हन्तव्य के लिए कही गई है वही हुकूमत करने, संताप देने, पकड़ने और प्राणरहित करने के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिए; अर्थात् जिसे तू हनने योग्य, आज्ञा करने योग्य, संताप देने योग्य, अपने वश में रखने योग्य और मार डालने योग्य समझता है वह तू स्वयं है। अन्य कोई नहीं।

जो सच्चे साधु—सत्पुरुष होते हैं वेही इस तत्त्व को समझ कर अहिंसक जीवन जीते हैं। वे प्रत्येक प्राणीमात्र के साथ मैत्रीभाव धारण करते हैं। यह समझ कर आत्मौपम्य को लक्ष्य में रखकर किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चहिए, नहीं करानी चाहिए और न अनुमोदन देना चाहिए। जो प्राणी किसी की हिंसा करते हैं उन्हें समझ लेना चाहिए कि उस हिंसा का कटु फल उस हिंसक को उसी तरह भोगना पड़ेगा। क्रिया अपने कर्त्ता को अवश्य फल देती है। यह निश्चित समझ कर किसी भी प्राणी की हिंसा करने का अभिप्राय तक न रखना चाहिए। हिंसा करना अपनी हिंसा करना है।

कई व्यक्ति यह शंका करते हैं कि आत्मा तो नित्य है, अच्छेद्य है, अभेद्य है, अचल है, सनातन है; इसे शस्त्र नहीं छेद सकते, अग्नि नहीं जला सकती, पानी नहीं गला सकता, हवा नहीं सुखा सकती, यह शाश्वत है और अविनाशी है तो उसकी हिंसा—प्राणातिपात कैसे हो सकती है? जिस तरह अमूर्त्त आकाश का छेदन-भेदन नहीं हो सकता उसी तरह आत्मा का छेदन-भेदन भी शक्य नहीं है फिर हिंसा में पाप बताकर उसका निषेध क्यों किया जाता है? इसका समाधान यह है कि यहाँ हिंसा का अर्थ आत्मा का व्यापादन नहीं है लेकिन शरीर का व्यापादन है। आत्मा का आधारभूत शरीर है। शरीर में आत्मा चिरकाल से रहता आया है अतएव यह शरीर इसे बहुत प्रिय लगता है। इसका उससे वियोजीकरण करना हिंसा है। द्रव्य प्राणों का हनन करना या पीड़ा पहुँचाना हिंसा है। हिंसा की व्याख्या भी यही है—

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा । (तत्त्वार्थसूत्र)

प्राण दस कहे गए हैं:—

पञ्चेन्द्रियाणि त्रिविधं बलं च, उच्छ्वासनिःश्वासमथान्यदायुः ।
प्राणा दशैते भगवद्भिरुक्तास्तेषां वियोजीकरणं तु हिंसा ॥

अर्थात्—श्रोत्रेन्द्रिय प्राण, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, स्पर्शनेन्द्रिय प्राण, मन बल प्राण, वचन बल प्राण, काय बल प्राण, उच्छ्वास निश्वास प्राण, आयु प्राण ये दस प्राण भगवान् ने कहे हैं। इनका पृथक् करना हिंसा है। इन दस प्राणों को पीड़ा पहुँचाना भी हिंसा है। संसार स्थित आत्मा अमूर्त्त (सर्वथा) नहीं है अतएव वह आकाश की तरह निर्विकार नहीं है। आत्मा को ये प्राण उसी तरह प्रिय हैं जिस तरह चिरकाल से एक मकान में रहने पर वह मकान प्रिय लगने लगता है। कोई व्यक्ति जबरन् जब किसी का प्यारा मकान छुड़वाता है तो उसे दुख अवश्य होता है इसी तरह शरीर आत्मा का अति प्रिय मकान है उसे कोई जबरन् छुड़ाता है तो आत्मा को कष्ट का अनुभव होता है। यह कष्ट पहुँचाना हिंसा है। हिंसा करने के पहिले प्रत्येक प्राणी को अपने समान समझना चाहिए इससे हिंसा का विचार कम होता जायगा। प्रत्येक विवेकी मुमुक्षु को हिंसा से सर्वथा बचना चाहिए।

जे आया से विन्नाया, जे विन्नाया से आया, जेण वियाणइ से आया, तं पडुच्च पडिसंखाए एस आयावाई समियाए परियाए वियाहिए त्ति बेमि ।

संस्कृतच्छाया—य आत्मा स विज्ञाता, यो विज्ञाता स आत्मा, येन विजानाति स आत्मा, तं प्रतीत्य प्रतिसंख्यायते, एष आत्मवादी, सम्यक्तया पर्यायः व्याख्यात इति ब्रवीमि ।

शब्दार्थ—जे=जो। आया=आत्मा है। से=वही। विन्नाया=जानने वाला विज्ञाता है। जे विन्नाया=जो विज्ञाता है। से आया=वही आत्मा है। जेण=जिस ज्ञान के द्वारा। वियाणइ=वस्तु का स्वरूप जाना जाता है। से=वह ज्ञान। आया=आत्मा है। तं=उस ज्ञान को। पडुच्च=आश्रित कर-लेकर। पडिसंखाए=आत्मा की प्रतीति होती है। एस=यह सम्बन्ध जानने वाला। आयावाई=आत्मवादी है ऐसे साधकों का। परियाए=संयमानुष्ठान। समियाए=सम्यग्। वियाहिए=कहा गया है। त्ति बेमि=ऐसा मैं कहता हूँ।

भावार्थ—जो आत्मा है वही जानने वाला विज्ञाता है, जो विज्ञाता है वही आत्मा है। जिसके द्वारा वस्तु का स्वरूप जाना जाता है वही ज्ञान आत्मा का गुण है। उस ज्ञान के आश्रित ही आत्मा की प्रतीति होती है। जो आत्मा और ज्ञान के इस सम्बन्ध को जानता है वही आत्मवादी है और उसका संयमानुष्ठान सम्यग् कहा गया है।

विवेचन—इस सूत्र में आत्मा और ज्ञान का अभेद बताया गया है। यह अभेद धर्म और धर्मी की अभेद विवक्षा से है। आत्मा धर्मी है और ज्ञान उसका धर्म है। ज्ञानमय ही आत्मा है। आत्मा का

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

लक्षण ही उपयोग है। उपयोग ज्ञानात्मक ही होता है। यहाँ ज्ञान और आत्मा का अभेद बताया गया है इससे कोई यह शंका कर सकता है कि अगर ज्ञान और आत्मा अभिन्न है तो एक ही वस्तु होना चाहिए ज्ञान और आत्मा की भिन्न प्रतीति नहीं होनी चाहिए। इसका समाधान यह है कि यहाँ अभेद बताया गया है, ऐक्य नहीं। ज्ञान और आत्मा—धर्म और धर्मी में अभेद है, ऐक्य नहीं है अतएव यह शंका निर्मूल है।

आत्मा का लक्षण ज्ञान है। अर्थात् ज्ञान ही आत्मा का असाधारण गुण है। आत्मा को छोड़कर अन्यत्र ज्ञान नहीं रह सकता। अतएव ज्ञान ही आत्मा का स्वरूप है।

नैयायिक और वैशेषिक लोग ज्ञान को आत्मा का स्वरूप नहीं मानते। उनके मत के अनुसार ज्ञान भिन्न वस्तु है और आत्मा भिन्न वस्तु है। वे ज्ञान और आत्मा को सर्वथा भिन्न मानते हैं। उनके मत के अनुसार जीव जब मुक्त होता है तब बुद्धि आदि नव धर्मों का (बुद्धि, सुख, दुख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार) आत्यन्तिक विनाश हो जाता है। यदि जीव को और ज्ञान को अभिन्न माना जाय तो मुक्त दशा में ज्ञान का नाश होने पर आत्मा का भी नाश हो जायगा। यह उचित नहीं है अतएव ज्ञान और आत्मा को भिन्न २ मानना चाहिए।

वैशेषिक और नैयायिकों का यह कथन युक्तिसंगत नहीं है। अगर ज्ञान को आत्मा से सर्वथा भिन्न माना जायगा तो ज्ञान से आत्मा को पदार्थ बोध ही नहीं होगा। कल्पना कीजिये कि—जिनचन्द्र किसी वस्तु को जानता है तो इससे ज्ञानचन्द्र का अज्ञान दूर नहीं होता क्योंकि जिनचन्द्र का ज्ञान, ज्ञानचन्द्र से सर्वथा भिन्न है। तात्पर्य यह हुआ कि जो ज्ञान जिससे सर्वथा भिन्न होता है उससे उसको ज्ञान नहीं हो सकता। अगर ऐसा न माना जाय तो एक व्यक्ति के ज्ञान से सभी के अज्ञान की निवृत्ति हो जानी चाहिए फिर जो संसार के व्यक्तियों में ज्ञान की तरतमता देखी जाती है वह नहीं हो सकती सबका ज्ञान तुल्य हो जायगा, सभी ज्ञानी हो जायंगे—सिद्धों के ज्ञान से सभी ज्ञाता हो जायंगे तो ज्ञानोपार्जन का प्रयत्न ही नष्ट हो जायगा। मगर ऐसा नहीं हो सकता। प्रत्येक व्यक्ति अपने ज्ञान द्वारा ही अपने अज्ञान को नष्ट कर सकता है। दूसरे के ज्ञान से हमें वस्तु का बोध नहीं हो सकता क्योंकि उसका ज्ञान हमारी आत्मा से सर्वथा भिन्न है। इसी तरह यदि हमारा ज्ञान हमारी आत्मा से भी सर्वथा भिन्न है तो वह हमें भी ज्ञान कैसे करा सकता है? इसलिए यह मानना चाहिए कि हमारा ज्ञान हमारी आत्मा से सर्वथा भिन्न नहीं है लेकिन आत्मा का ही स्वरूप है।

यहाँ वैशेषिक कहते हैं कि आत्मा और ज्ञान भिन्न भिन्न तो हैं लेकिन वे समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध हैं अतएव जो ज्ञान जिस आत्मा में समवाय सम्बन्ध से रहता है वह ज्ञान उसी आत्मा को पदार्थ का बोध करा देगा। दूसरी आत्मा को नहीं। यह उनका कथन भी निर्मूल है। समवाय सम्बन्ध, नित्य सम्बन्ध को कहते हैं। अर्थात् जो सम्बन्ध अनादि से है वह समवाय है। यह समवाय वैशेषिकों के मत से नित्य और सर्वव्यापक है। उनके मत में आत्मा भी सर्वव्यापक है। इससे प्रत्येक आत्मा के साथ ज्ञान का समवाय सम्बन्ध सरीखा होगा। जैसे आकाश नित्य और व्यापक है तो उसका सम्बन्ध सभी के साथ है इसी तरह समवाय का सम्बन्ध भी सभी के साथ है फिर प्रतिनियत ज्ञान का नियामक कौन होगा? अतएव यही मानना चाहिए कि आत्मा ज्ञानस्वरूप ही है।

शंका—आत्मा और ज्ञान में कर्त्ता और करण का भाव है। जैसे मैं ज्ञान से जानता हूँ यहाँ "मैं" से ज्ञाता मालूम होता है और "ज्ञान" करण मालूम होता है। जिसमें कर्तृकरण भाव सम्बन्ध होता है वे

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

परस्पर भिन्न होते हैं। जैसे सुथार कुठार (कुल्हाड़ी) से काटता है इस वाक्य में सुथाररूप कर्त्ता और कुठाररूप करण भिन्न-भिन्न मालूम होते हैं। ज्ञान और आत्मा में भी यह सम्बन्ध है अतएव वे भिन्न-भिन्न ही होने चाहिएं।

समाधान—जहाँ कर्तृकरण भाव सम्बन्ध है वहाँ भिन्नता ही होती है ऐसा कोई नियम नहीं है। एक ही वस्तु में कर्तृकरण भाव देखा जाता है। जैसे देवदत्त अपने आपको अपनी आत्मा से जानता है। यहाँ एक ही देवदत्त कर्त्ता भी है और करण भी है। साँप अपने आपको अपने द्वारा लपेटता है। यहाँ लपेटने वाला भी सर्प है, लपेटा जाने वाला भी सर्प है और करण भी सर्प है। इस तरह एक ही पदार्थ से कर्तृ-करण भाव सम्बन्ध हो सकता है। अतएव ज्ञान और आत्मा की अभिन्नता में कोई दोष नहीं है। ज्ञान ही आत्मा का स्वरूप है यह सिद्ध हुआ।

ज्ञान स्वरूप से ही आत्मा की प्रतीत होती है। जो ज्ञाता है वह आत्मा ही है। अन्य कोई ज्ञाता नहीं। ज्ञान रूप असाधारण गुण ही आत्मा को सिद्ध करता है। आत्मा ज्ञानमय है इसलिए वह ज्ञाता कहलाता है। इस सम्बन्ध को जो जानता है वही यथार्थ आत्मवादी है। उसका ही संयम-अनुष्ठान सम्यग् कहा गया है। सूत्र में आया हुआ "विज्ञाता" शब्द मननीय है। विज्ञान का अर्थ प्रायः भौतिक ज्ञान से लिया जाता है लेकिन यहाँ यह अर्थ नहीं है। विज्ञान शब्द का यौगिक अर्थ है—वि याने विशेष, ज्ञान अर्थात् जानना। अर्थात्-ऊपरी रूप से जो मालूम होता है उससे विशेष-गहराई से जानना विज्ञान कहलाता है। वस्तु को जानना विज्ञान नहीं है लेकिन वस्तु के स्वरूप को-धर्म को-जानना विज्ञान है। स्वरूप-ज्ञान होते ही बाह्यदृष्टि लुप्त हो जाती है और आत्माभिमुखता प्रकट हो जाती है। आत्मा में ही उसे सकल जगत् के ज्ञान का मूल प्राप्त होता है। जिस तरह विद्यार्थी दो चार या बीस पच्चीस सवाल हल कर ले इससे वह सभी सवाल हल नहीं कर सकता लेकिन जिस तरह विद्यार्थी ने सवाल की मूल रीति (चाबी) सीख ली है वह प्रत्येक सवाल हल कर सकता है इसी तरह जिसे आत्मज्ञान हो गया है वह मूलरीति प्राप्त कर लेता है। उसे अन्य ज्ञान की आवश्यकता नहीं रहती। अन्य ज्ञान उसके लिए सहज हो जाता है। यह विज्ञाता शब्द का रहस्य है।

—उपसंहार—

इस उद्देशक में सरोवर के समान निर्मल, उदार, गम्भीर और स्वरूपमग्न होने का कहा गया है। जिस आत्मा ने यह स्वरूपमग्नता प्राप्त कर ली है वह मृत्यु की परवाह नहीं करता। उसे अखण्ड विश्वास होता है कि जो मेरा है वह कोई नहीं छीन सकता और जो छीना जा सकता है वह मेरा नहीं है। इस अटल श्रद्धा के बिना सच्चा ज्ञान नहीं हो सकता और सच्चे ज्ञान के बिना शान्ति नहीं मिल सकती। सत्पुरुषों के अनुभव एवं वचन, आगम और अपनी विवेकबुद्धि इन तीनों के समन्वय से जो प्राप्त हो वही श्रद्धा है। ऐसी श्रद्धा की जागृति के बिना कल्याण नहीं हो सकता। विकल्प श्रद्धा के शत्रु हैं। जहाँ तक विकल्पों के भ्रम जाल में जीव भटकता है वहाँ तक श्रद्धा नहीं हो सकती। श्रद्धा के बिना सभी क्रियाएँ निष्प्राण हैं। शुद्ध श्रद्धा होने पर असम्यग् भी सम्यग् रूप में परिणत होता है। जो बाह्यरूप से—जागृत है वह अन्दर से सुप्त है। अर्थात्-जो बाह्य जगत् के विकल्पों में पड़ा हुआ है वह आध्यात्मिक दृष्टि से सोया हुआ है। अतएव अन्तर्जागृत बनना चाहिए। श्रद्धा जागृति का कारण है। शुद्ध श्रद्धालु—आत्म-विश्वासी बनो।

इति पञ्चमोद्देशकः

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

लोकसार नाम पञ्चम अध्ययन

—षष्ठ उद्देशकः—

पञ्चम उद्देशक में आचार्य को ह्रद की उपमा देकर उनके गुणों का वर्णन किया गया है। ऐसे सद्-गुण सम्पन्न आचार्य का आश्रय लेकर साधकों को अपनी साधना को सफल करना चाहिए। जो ऐसे आचार्य के सम्पर्क में रहता है, उनकी सम्यग् आराधना करता है वह साधक कुमार्ग से बचता है और राग तथा द्वेष को क्षीण करता हुआ अपना उद्देश्य सफल करता है। अतएव इस उद्देशक में आज्ञा की आराधना का फल दिखाया जाता है। आज्ञानुवर्त्ती होने का उपदेश देते हुए सूत्रकार कहते हैं:—

अणाणाए एगे सोवट्ठाणा आणाए एगे निरुवट्ठाणा, एयं ते मा होउ, एयं कुसलस्स दंसणं, तद्दिट्ठीए, तम्मुत्तीए, तप्पुरकारे, तस्सन्नी, तन्निवेसणे, अभिभूय अदक्खू अणाभिभूए पभू निरालंबणयाए जे महं अबहिमणे।

संस्कृतच्छाया—*अनाज्ञायामेके सोपस्थानाः, आज्ञायामेके निरुपस्थानाः, एतत् ते मा भवतु, एतत् कुशलस्य दर्शनम्, तद्दृष्टिः तन्मुक्तिः, तत्पुरस्कारः तत्संज्ञी, तन्निवेशनः अभिभूयाद्राक्षीत्, अनभिभूतः प्रभुः निरालम्बनतायाः, यो महान् अबहिर्मनाः।*

शब्दार्थ—एगे=कितनेक साधक। अणाणाए=आज्ञा से विपरीत। सोवट्ठाणा=उद्यम करने वाले होते हैं। एगे=कितनेक साधक। आणाए=आज्ञा में। निरुवट्ठाणा=निरुद्यमी होते हैं। एयं=यह हाल। ते=तेरा। मा होउ=न हो। एयं=यह। कुसलस्स=जिनेश्वर का। दंसणं=अभिप्राय है। तद्दिट्ठीए=गुरु की दृष्टि से देखने वाला। तम्मुत्तीए=गुरु के द्वारा उपदिष्ट निर्लोभ वृत्ति से चलने वाला। तप्पुरक्कारे=गुरु को सर्वत्र प्रधानता देने वाला। तस्सन्नी=गुरु में पूर्ण श्रद्धा रखने वाला। तन्निवेसणे=गुरुकुल में रहने वाला साधक। अभिभूय=परीषह उपसर्गों को व कर्मों को जीतकर। अदक्खू=तत्त्व का द्रष्टा बनता है। जे महं=जो महान् पुरुष। अबहिमणे=सर्वज्ञोपदेश से जरा भी बाहर नहीं जाता है वह। अणभिभूए=किसी से पराभव नहीं पाता है और। निरालंबणयाए=निरालम्बन भावना भाने में। पभु=समर्थ होता है।

भावार्थ—कितनेक साधक पुरुषार्थी होते हैं लेकिन वे आज्ञा के आराधक नहीं होते; कितनेक आज्ञा के अनुकूल प्रवृत्ति करने में निरुद्यमी होते हैं। हे मुने! ये दोनों ही बातें अयोग्य हैं; तेरा यह

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

हाल न हो, यह वीर प्रभु का दर्शन (अभिप्राय) है। इसलिए जो पुरुष सदा गुरु की दृष्टि से देखने वाला हो, गुरु द्वारा उपदिष्ट मुक्ति को स्वीकार करने वाला हो, गुरु का बहुमान करने वाला हो, गुरु पर पूर्ण श्रद्धा करने वाला हो, गुरुकुल में निवास करता हो वह पुरुष कर्मों को जीतकर तत्त्वदृष्टा बनता है। ऐसा तत्त्वदर्शी महापुरुष जिसका मन सर्वज्ञोपदेश से बाहर नहीं जाता है वह कभी किसी से पराभूत नहीं होता है और वह निरावलम्बी रहने में समर्थ होता है।

विवेचन—इस सूत्र में आज्ञा की आराधना का फल बताते हुए गुरुदेव की आज्ञा में रहने की प्रेरणा की गई है। अखंड श्रद्धा के साथ अखंड पुरुषार्थी भी होना चाहिए।

कितनेक साधक ऐसे होते हैं कि जो पुरुषार्थ तो करते हैं लेकिन उनका पुरुषार्थ सम्यक् मार्ग का नहीं होता। अपने मनोवेग को वे अपनी स्वच्छन्द वृत्ति के अनुसार कुमार्ग में प्रवृत्त करते हैं। वे स्वेच्छाचार से विपरीत मार्ग पर चलने में उद्यम करते हैं। वे सद्-असत् के ज्ञान से विकल होते हैं तदपि अभिमान से ग्रस्त होकर अपने आपको सर्व ज्ञाता मानते हैं और सावद्य-निरवद्य का विचार किए बिना इच्छा के अनुसार प्रवृत्ति करते हैं। कितनेक साधक ऐसे होते हैं जो स्वच्छन्दाचारी और कुमार्गगामी नहीं होते लेकिन जिनेन्द्र देव की आज्ञा के पालन में आलसी, प्रमादी व निरुद्यमी होते हैं। दोनों प्रकार के साधक आराधक नहीं हो सकते। प्रथम प्रकार के साधक में पुरुषार्थ है लेकिन वहाँ पुरुषार्थ का दुरुपयोग है। दूसरे प्रकार के साधक में पुरुषार्थ की शक्ति है तदपि वह सद्-अनुष्ठान में सीदाता है अतएव अशक्त बनता है। वह अपनी शक्ति का गोपन करता है। ये दोनों अवस्थाएँ हानिकारक हैं। कुमार्ग में उद्यम और सन्मार्ग में प्रमाद करना, दोनों ही दुर्गति के कारण हैं। गुरुदेव शिष्य को सावधान करते हैं कि हे शिष्य ! ये दोनों प्रकार की अवस्थाएँ तेरी न हो। तू इन दोनों अवस्थाओं से बचकर रहना। कुमार्ग में उद्यम और सन्मार्ग में निरुद्यम करके अपना अहित न करना। "यह मेरा कथन नहीं है लेकिन वीर जिनेश्वर ने यह कहा है" यह कहकर श्री सुधर्मास्वामी इस कथन को अधिक प्रबल रूप प्रदान करते हैं। इस कथन की गुरुता को बढ़ाते हैं। अब सूत्रकार आज्ञा के आराधन का फल बताते हैं।

जो साधक गुरु की दृष्टि से देखता है अर्थात्-गुरु ने पदार्थों का जैसा स्वरूप बताया है उसी रूप से पदार्थों को देखता है, गुरु के द्वारा कही हुई निरासक्ति का पालन करता है, गुरु को सर्वत्र प्रधानता देता है, गुरु पर सम्पूर्ण श्रद्धा रखता है, गुरुकुल में ही रहता है इस प्रकार जो गुरु की आराधना करता है वह परीषह-उपसर्गों पर अथवा ज्ञानावरणीयादि कर्मों पर विजय प्राप्त करके तत्त्वदर्शी—आत्मदृष्टा बनता है। यहाँ गुरु के पास में रहने मात्र से गुरु का आराधक होना नहीं कहा है किन्तु गुरु के आदेश और उपदेश का तथारूप पालन करने को गुरु की आराधना करना कहा है यह लक्ष्य में रखना चाहिए। गुरु की आराधना से आत्मदर्शन पाया हुआ महापुरुष सर्वत्र श्लाघनीय होता है और आत्म-सिद्धि को प्राप्त कर लेता है।

इससे आगे चलकर सूत्रकार यह बताते हैं कि जिस महापुरुष ने अपने मन पर पूर्ण विजय प्राप्त कर ली है, जिसका मन वीतराग की आज्ञा से अंशमात्र भी बाहर प्रवृत्ति नहीं करता है वह पुरुष कहीं किसी से पराभव नहीं पा सकता। वह कैसे भी सुन्दर या असुन्दर निमित्तों से विचलित नहीं हो सकता। ऐसा साधक निरालम्बन होने में समर्थ होता है। अर्थात्-ऐसे मनोविजेता को फिर किसी के अवलम्बन की

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

अपेक्षा नहीं रहती। वह स्वयं दूसरों का अवलम्बन बन जाता है। ऐसा व्यक्ति यह निरालम्बन भावना भाने में समर्थ होता है कि तीर्थंकर की आज्ञा के सिवाय अन्य कोई भी अवलम्बन नहीं हो सकता। संसार-सागर में डूबते हुए व्यक्ति के लिए तीर्थंकर की आज्ञा ही अवलम्बन है। इसके सहारे ही प्राणी भवसागर से पार हो सकते हैं। आज्ञाराधन का फल भवसागर से पार हो जाना है।

पवाएणं पवायं जाणेज्जा, सहसम्मइयाए, परवागरणेणं अन्नेसिं वा अन्तिए सोच्चा।

संस्कृतच्छाया—*प्रवादेन प्रवादं जानीयात्, सहसम्मत्या, परव्याकरणेन, अन्येषामन्तिके श्रुत्वा।*

शब्दार्थ—पवाएणं=आचार्य-परम्परा के उपदेश से। पवायं=सर्वज्ञ के उपदेश को। सहसम्मइयाए=जातिस्मरण ज्ञान द्वारा। परवागरणेणं=सर्वज्ञों के अनुभवी वचनों द्वारा। अन्नेसिं=अन्य महापुरुषों से। सोच्चा=सुनकर। जाणेज्जा=जानना चाहिए।

भावार्थ—गुरु-परम्परा के उपदेश से सर्वज्ञ के उपदेशों का ज्ञान करना चाहिए (अथवा सर्वज्ञ के उपदेश को दृष्टिबिन्दु में रखते हुए अन्य तीर्थियों के प्रवाद की परीक्षा करनी चाहिए।) यह प्रवाद तीन प्रकार से जाना जा सकता है—जातिस्मरण ज्ञान द्वारा (२) सर्वज्ञ के वचनों द्वारा (३) अन्य महापुरुषों के वचनामृतों के श्रवण के द्वारा।

विवेचन—पूर्ववर्त्ती सूत्र में आज्ञा की आराधना करने का कहा गया है। यह कहने पर यह प्रश्न हो सकता है कि तीर्थङ्करों की आज्ञा क्या है? किस आज्ञा की आराधना करने से भवपरम्परा का पार पाया जा सकता है? उस आज्ञा को जानने का उपाय क्या है? इन प्रश्नों का उत्तर इस सूत्र में दिया गया है।

सूत्रकार फरमाते हैं कि प्रवाद को प्रवाद से जानो। अर्थात् सर्वज्ञ तीर्थंकर देवों की क्या आज्ञा है? उनका क्या उपदेश है? यह बात आचार्य-परम्परा के उपदेश से समझनी चाहिए। अर्थात् सर्वज्ञ प्रभु जब साक्षात् विराजमान नहीं होते हैं तब उनके उपदेश का विस्तार और प्रकाश करने वाले आचार्य होते हैं। वे गीतार्थ आचार्य सर्वज्ञ के उपदेशों की व्याख्या करते हैं। उन गीतार्थ आचार्यों के उपदेश के द्वारा वीतराग की आज्ञा को जानकर उसकी आराधना करनी चाहिए। सर्वज्ञ तीर्थङ्कर भगवान के उपदेश आचार्य-परम्परा से ही वर्त्तमान में उपलब्ध होते हैं। आचार्य-परम्परा ही सर्वज्ञ के उपदेश को जब तक उनका शासनकाल रहता है तब तक टिकाती है।

टीकाकार ने "प्रवाद को प्रवाद से जानो" इसका यह भी अर्थ किया है कि सर्वज्ञ के उपदेश को दृष्टि-बिन्दु में रखकर अन्यवादियों के वाद की परीक्षा करो। इसका आशय यह है कि किसी बात को केवल किसी के आग्रह से न मानो किन्तु अपनी विवेक बुद्धि से उसकी जाँच करो। अगर जाँच करने पर तुम्हें वह योग्य प्रतीत हो तो उसका ग्रहण करो। किसी के बाह्य आडम्बर को देखकर या अणिमा आदि बाह्य ऐश्वर्य को देखकर उसके वचन पर विश्वास न कर लेना चाहिए क्योंकि यह बाह्य ऐश्वर्य और आडम्बर तो मायावी और इन्द्रजालियों में भी देखा जाता है। किसी के वचनों को प्रमाणभूत मानने के

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

उसके वचनों की परीक्षा करनी चाहिए। जो वचन युक्तियुक्त प्रतीत हों उनका ग्रहण करना चाहिए। यह ध्यान में लेकर जिन-प्रवाद और अन्य प्रवाद की परीक्षा करनी चाहिए। जब दो वस्तुएँ होती हैं तो दोनों की परीक्षा करने से ही उनकी अच्छाई और बुराई का पता लग सकता है। अतएव प्रवादों की परीक्षा करनी चाहिए। जो प्रवाद युक्तियुक्त लगे उसको अङ्गीकार करना चाहिए। कहा भी है:—

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः॥

अर्थात्—मेरा न तो वीर जिनेश्वर में अनुराग है और न कपिल आदि अन्य तीर्थियों पर द्वेष है। मगर जिनके युक्तिसंगत वचन हैं उनका ग्रहण करना ही चाहिए।

प्रवादों की परीक्षा करते हुए यह सत्य सामने आता है कि पदार्थ अनेक-धर्मात्मक हैं। उनमें नित्यधर्म, अनित्यधर्म, मूर्त्तधर्म, अमूर्त्तधर्म, जड़धर्म, चेतनधर्म आदि २ अनेक धर्म पाये जाते हैं। वस्तु के समस्त धर्मों को जानने से ही उसका जानना कहा जा सकता है। वस्तु के एक अंश को जानने से वह वस्तु पूर्ण नहीं जानी जा सकती है। अतएव वस्तु को अनेक दृष्टिबिन्दुओं से जानने के लिए प्रयत्न करना है। जो वस्तु को एक ही दृष्टिबिन्दु से जानता है और उसे उसी रूप में कह कर उसके अन्य धर्मों का तिरस्कार कर देता है वह वस्तु के सच्चे स्वरूप के साथ अन्याय करता है। वह वस्तु के वास्तविक समग्र रूप को न जानकर केवल उसके अंश को ही वस्तु मान लेता है। यह ठीक नहीं हो सकता। यही बात अन्य वादों के विषय में भी है। बौद्ध दर्शन वाले वस्तु को एकान्त विनश्वर, क्षणविध्वंसी मानते हैं। वे केवल वस्तु की वर्त्तमान पर्याय को ही ग्रहण करते हैं उसकी भूत और भविष्य की पर्याय की अवहेलना करते हैं। अगर बौद्ध दर्शन के क्षणवाद को ही मान लिया जाय तो संसार का सारा व्यवहार ही ठप जाता है, कार्य और कारण की परम्परा ही नहीं बन सकती है। कार्य और कारण एक ही क्षण में नहीं हो सकते हैं। जिस क्षण में कारण होता है उसके इतर क्षण में कार्य होता है। पदार्थ एक ही क्षण में नष्ट हो जाता है तो कार्यकारण भाव कैसे बन सकता है? इसी तरह पुण्य, पाप, धर्म, अधर्म भी निष्फल हो जाते हैं क्योंकि जो धर्म करता है वह आत्मा तो नष्ट हो जाता है और दूसरा उत्पन्न होता है वह उसका फल प्राप्त करता है तो कृत-प्रणाश और अकृत-कर्म-भोग दोष का प्रसंग आता है। जिसने धर्म किया उसको तो फल न मिल सका और वह नष्ट हो गया और जिसने नहीं किया उसे उसका फल मिला यह कृत-प्रणाश और अकृत-कर्मभोग है। साधारण-सी बात है कि उत्पन्न होते ही जो घड़ा सर्वथा नष्ट हो जाता है उसमें जल नहीं ठहर सकता है। घट में जलधारण की क्रिया देखी जाती है इसलिए यह मानना चाहिए कि घट सर्वथा क्षणविध्वंसी नहीं किन्तु कियत्कालस्थायी है। इस तरह एकान्त क्षणिकवाद युक्तिसंगत नहीं है। अगर क्षणवाद के साथ द्रव्य रूप से पदार्थ का स्थायित्व माना जाय तो कोई दोष नहीं है। इसी तरह एकान्त नित्यवाद भी दूषित है।

सांख्यदर्शन कूटस्थ नित्य पक्ष को मानता है। एकान्त नित्यपक्ष भी युक्तिसंगत नहीं है। अगर पदार्थों को नित्य ही माने जांय तो जो उनमें परिवर्त्तन देखा जाता है वह नहीं बन सकता। पदार्थों में परिवर्त्तन होता है यह बात प्रत्यक्ष है। जो पदार्थ नित्य है उसमें प्रवृत्ति और निवृत्ति नहीं हो सकती। पदार्थों में निवृत्ति और प्रवृत्ति देखी जाती है। आत्मा को यदि सर्वथा नित्य ही माना जायगा तो वह सदा एकरूप ही रहेगा। जो सुखी है वह पापकर्म करते हुए भी सुखी ही बना रहेगा, जो दुखी है वह धर्माचरण करने पर भी दुखी ही बना रहेगा। तो प्राणी मुक्त होने के लिए जो पुरुषार्थ करते हैं वह सब निष्फल होगा। सभी

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

प्रयत्नशून्य हो जाएँगे क्योंकि जो जैसा है वह उसी रूप में रहने वाला है तो प्रयत्न का क्या प्रयोजन हो सकता है ? अतएव एकान्त नित्यपक्ष भी युक्तिसंगत नहीं।

इसी तरह नैयायिक-वैशेषिक ईश्वर को जगत् का उत्पन्न करने वाला मानते हैं। उनका मानना है कि "अज्ञो जन्तुरनीशः स्यादात्मनः सुखदुःखयोः। ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं श्वभ्रमेव च" अर्थात्—यह जीव अपने सुख-दुख को स्वयं भोगने में असमर्थ है, वह ईश्वर से प्रेरित हुआ स्वर्ग अथवा नरक में जाता है। विचार करने पर यह बात भी युक्त नहीं प्रतीत होती। ईश्वर कृतकृत्य है, उसे कुछ करना शेष नहीं है फिर वह संसार की रचना में क्यों पड़ता है यह विचारने योग्य है। अगर वह कृतकृत्य है और उसे अभी कुछ करना शेष है तो वह ईश्वर नहीं हो सकता। इन्द्रधनुष, आदि पदार्थ स्वयं उत्पन्न होते हुए देखे जाते हैं। घट-पट आदि पदार्थों को पैदा करने वाले कुम्हार और जुलाहे स्पष्ट प्रतीत होते हैं फिर उन्हें ईश्वर-रचित कैसे कहा जा सकता है ? ईश्वर कर्तृवादी आत्मा को कर्त्ता तो मानते हैं लेकिन भोक्ता नहीं मानते। यह बात प्रतीति से विरुद्ध है। न्याय तो यह है जो कर्त्ता है वही फल का भोक्ता होना चाहिए। जो विष का भक्षण करेगा वह स्वयं ही मरेगा, ईश्वर क्या करेगा ? इस विषय में पहिले कहा जा चुका है। सृष्टि अपने स्वभाव से ही चली आ रही है। कर्म-वैचित्र्य इसकी विचित्रता का कारण है। इस प्रकार वैशेषिकों की यह मान्यता भ्रमपूर्ण है।

इसी तरह बार्हस्पत्यों (चार्वाकों—नास्तिकों) का आत्मा का निषेध करना और स्वर्ग, नरक, पुण्य, पाप आदि का अभाव कहना भी निरा अज्ञान है। वे भूतवादी "ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्" इस सिद्धान्त के मानने वाले हैं। इनका निराकरण करने की आवश्यकता ही नहीं है। जिनके लिए मिथ्या ही सम्यग् है, अधर्म ही धर्म है उनके लिए अधर्म क्या हो सकता है ?

इस तरह समस्त वादों की परीक्षा करते हुए यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि जिस दर्शन में अनेकान्त दृष्टि है वही सत्य-पूर्ण दर्शन है। इसलिए अर्हन्त के द्वारा उपदिष्ट प्रवाद ही युक्तिसंगत है। यह जानकर उसको ग्रहण करना चाहिए। यह बात तीन तरह से जानी जा सकती है—अपने पूर्व भवके संस्कारों से भी यह ज्ञान हो सकता है। तीर्थङ्करों के प्रवचन से और तीसरा महापुरुषों के वचनामृत के श्रवण से यह दृढ़ प्रतीति हो सकती है। इसलिए आत्मदर्शन करने के लिए अपने अनुभव का और महापुरुषों के वचनों का समन्वय करना चाहिए। गुरु की शरण में रहने का यही प्रयोजन है कि आत्मदर्शन हो। केवल गुरु के शरण से ही आत्मदर्शन नहीं हो जाता किन्तु अपना अनुभव और विवेक भी साथ होना चाहिए। ये तीन आत्मदर्शन के उपाय हैं।

निद्देसं नाइवट्टेज्जा मेहावी सुपडिलेहिया सव्वओ सव्वण्णा सम्मं समभिण्णाय इह आरामं परिण्णाय अल्लीणे गुत्ते परिव्वए निट्ठियट्ठी वीरे आगमेण सया परक्कमेज्जासि त्ति बेमि।

संस्कृतच्छाया—*निर्देशं नातिवर्तेत मेधावी सुप्रत्युप्रेक्ष्य सर्वतः सर्वात्मना सम्यग् समभिज्ञाय इह आरामं परिज्ञाय आलीनो गुप्तश्च परिव्रजेत्, निष्ठितार्थी वीरः आगमेन सदा पराक्रमेथा इति ब्रवीमि।*

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

शब्दार्थ—मेहावी=बुद्धिमान् साधक। सव्वओ=सभी प्रकार से द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव से। सव्वप्पणा=सामान्य विशेष रूप से—सभी रूप में। सुपडिलेहिया=विचार करके। सम्मं=सम्यग्-यथार्थ। समभिण्णाय=जानकर। निद्देसं=सर्वज्ञ की आज्ञा का। नाइवट्टेज्जा=उल्लंघन न करे। आरामं=संयम को। परिण्णाय=स्वीकार करके। अल्लीणगुत्ते=जितेन्द्रिय होकर। परिव्वए=संयम में प्रवृत्ति करे। निट्ठियट्ठी=मोक्षार्थी। वीरे=वीर। सया=हमेशा। आगमेण=शास्त्रों का अवलम्बन लेकर। पराक्कमेज्जासि=पराक्रम करे। त्ति बेमि=ऐसा मैं कहता हूँ।

भावार्थ—बुद्धिमान् साधक, यह सब सभी क्षेत्र से, सभी तरह से, विवेक-पूर्वक जांचकर उसमें से सत्य को ग्रहण करके सर्वज्ञ देवों की आज्ञा का उल्लंघन न करे। संयम को सच्चा आराम मानकर जितेन्द्रिय होकर प्रगति करे। मोक्षार्थी वीर साधक सर्वज्ञ-प्रणीत आचार-विचार व शास्त्रों का अवलम्बन लेकर संयम में सतत पुरुषार्थ करे ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—पहिले जो प्रवादियों के प्रवाह की समीक्षा की गई है उसको सम्यग् रूप से समझ कर तथ्य को अङ्गीकार करने की प्रेरणा इस सूत्र में की गई है। सूत्रकार यह नहीं कहते हैं कि "मैं जैसा कहता हूँ उसको तुम बिना विचारे मान लो"। वे स्पष्ट फरमाते हैं कि समस्त वादों को अपने सामने रक्खो, उन पर विचार करो, उनकी परस्पर तुलना करो, परीक्षा करो और तुम्हारी बुद्धि को जो न्याययुक्त जँचे उसको स्वीकार करो। बिना समझे हुए, किसी के आग्रह या दबाव से जो चीज स्वीकार की जाती है वह पच नहीं सकती—अधिक काल तक टिक नहीं सकती। जहाँ तक साधक वस्तु का स्वरूप, क्षेत्र, काल और भाव समझने की योग्यता जागृत नहीं करता वहाँ तक वह किसी चीज को स्वीकार भी करे तो भी उसका परिणाम जैसा आना चाहिए वैसा संतोषप्रद नहीं आता। अतएव सूत्रकार यह कहते हैं कि अन्य प्रवाद और जैन प्रवाद को द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से सामान्य और विशेष रूप से समझो और समझने के बाद जो सत्य प्रतीत हो उसको स्वीकार करो। यह जैनदर्शन की उदारता है। यहाँ यह भी बताया गया है कि जो बुद्धिमान् और निस्पृह होते हैं वे "तेरा और मेरा" का भेद नहीं रखते हैं। उन्हें सत्य का आग्रह होता है। जो सच्चा है वह उनका है न कि जो उनका है वह सच्चा है। तत्त्वदर्शी साधक सभी बातों का विचार करके सर्वज्ञ की आज्ञा का उल्लंघन न करे।

इस सूत्र में सूत्रकार ने यह कहा है कि आराम—संयम ही सच्चा आराम है (सुख है), भोगों में आराम नहीं है। भोग में आराम है—मजा है—आनन्द है यह बात अनुभव से असत्य है और भोग के संयम में आराम है वह अनुभव सत्य है। बहुत बार जो पदार्थों की प्राप्ति में सुख का भास होता है उसका कारण वह पदार्थ या उस पदार्थ का भोग नहीं है लेकिन उसके लिए जो प्रयत्न किया गया है और उसकी प्राप्ति की जो उमङ्ग थी उसका सुख प्रतीत होता है। पदार्थ-प्राप्ति की तरङ्ग में जो सुख देखा जाता है वह उसकी प्राप्ति होने के पश्चात् नहीं दिखाई देता। पदार्थ का भोग आनन्द नहीं देता बल्कि आनन्द को एक क्षण में लूट लेता है। यह बात बहुत मननीय है। संयम ही सच्चा सुख का स्थान है यह अनुभव तभी होगा जब जगत् की "लकीर के फकीर" की बात को छोड़कर स्वतंत्र बुद्धि से अवलोकन करना आएगा।

दूसरी बात सूत्रकार यहाँ यह कहते हैं कि अनुभवी पुरुष-सर्वज्ञ या तीर्थङ्कर जब साक्षात् विद्यमान न हों तब उनके वाक्यों को उसी तरह स्वीकार करना चाहिए। शास्त्र सर्वज्ञ देव के प्रतिनिधि हैं।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

आगमों की-शास्त्रों की आज्ञा ही सर्वज्ञ की आज्ञा है। उसके अनुसार प्रवृत्ति करनी चाहिए। अपनी बुद्धि की अपूर्णता से शास्त्रों के विषय में यदि किसी प्रकार के विकल्प या तर्क उठते हों तो उनका जिज्ञासा बुद्धि से समाधान ढूंढना चाहिए। "आर्षं संदधीत न तु विघटयेत्" अर्थात्-महर्षियों के वचनों की संगति कर लेनी चाहिए. लेकिन उनका भङ्ग नहीं करना चाहिए। इस सिद्धान्त के अनुसार अपनी जिज्ञासा बुद्धि के द्वारा तर्कों और विकल्पों का शमन करना चाहिए। साधकों में ऐसा भी देखा जाता है कि वे पहिले पहिले तो जिज्ञासा बुद्धि रखते हैं बाद में समाज के बीच उनका स्थान हो जाता है तो वे बाह्यवृत्ति वाले बन जाते हैं। उनकी अन्तरवृत्ति और जिज्ञासा-बुद्धि मन्द हो जाती है और लोकैषणा की भावना बढ़ जाती है। यह साधकों के लिए हानिकारक है। इसलिए सूत्रकार कहते हैं कि मोक्षार्थी और वीर साधकों को सर्व प्रथम यह विचारना चाहिए कि उनका पुरुषार्थ योग्य मार्ग में है या नहीं ? अगर विचार करते हुए यह प्रतीति हो कि उनका पुरुषार्थ कामना से प्रेरित है तो उनका कर्त्तव्य हो जाता है कि वे कामना का त्याग करें और वीतराग की आज्ञा में निष्काम होकर पुरुषार्थ करें। उसके लिए सतत जागृति की आवश्यकता है।

उड्ढं सोया अहे सोया तिरियं सोया वियाहिया, एस सोया वि अक्खाया जेहिं संगं ति पासहा। आवट्टं तु पेहाए इत्थ विरमिज्ज वेयवी, विणइत्तु सोयं निक्खम्म एस महं अकम्मा जाणइ पासइ पडिलेहाए नावकंखइ इह आगइं गइं परिन्नाय, अच्चेइ जाइमरणस्स वट्टमग्गं विक्खायरए।

संस्कृतच्छाया—*ऊर्ध्वं स्रोतांसि, अधः स्रोतांसि, तिर्यक् स्रोतांसि व्याहितानि, एतानि स्रोतांसि व्याख्यातानि, यैः सङ्गमिति पश्यत। आवर्तं तु, उत्प्रेक्ष्य अत्र विरमेद् वेदवित्, विनेतुं स्रोतः निष्क्रम्य एषः महान् अकर्म्मा जानाति पश्यति, प्रत्युपेक्ष्य नाकाङ्क्षति इह आगतिं गतिं च परिज्ञाय अत्येति जातिमरणस्य वर्त्म (मार्ग) व्याख्यातरतः।*

शब्दार्थ—उड्ढं=ऊपर। सोया=कर्म आने के द्वार। अहे=नीचे। सोया=कर्म के द्वार। तिरियं=तिर्छीदिशा में। सोया=कर्म के द्वार। वियाहिए=रहे हुए हैं। एए=ये। सोया=प्रवाह के समान होने से स्रोत। वि अक्खाया=कहे गये हैं। जेहिं=जिनके द्वारा। संगं ति=प्राणियों की आसक्ति होती है-या कर्मसंग होता है यह। पासहा=देखो। आवट्टं=कर्मबन्ध के चक्र को। तु=पुनः। पेहाए=देखकर। वेयवी=आगम का ज्ञाता। इत्थ=कर्मबन्ध से। विरमिज्जा=दूर रहे। सोयं=कर्मास्रव के प्रवाह को। विणइत्तु=बंद करने के लिए। निक्खम्म=प्रव्रज्या लेकर। एस महं=जो महापुरुष। अकम्मा=घातिकर्म से रहित होकर। जाणइ=सब जानता है। पासइ=सब देखता है। पडिलेहाए=परमार्थ का विचार करके। नावकंखइ=पूजादि की अभिलाषा नहीं करता है। इह=संसार के। आगइं गइं=आगति को, गति को। परिन्नाय=जानकर।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

जाइमरणस्स=जन्म-मरण के। वट्टमग्गं=मार्ग को। अवेइ=पार कर लेता है। विक्खायरए=और मोक्ष में विराजमान हो जाता है।

भावार्थ—इस समस्त संसार में, ऊंची नीची और तिर्छी दिशा में सर्वत्र कर्मबन्धन के कारण (पाप का प्रवाह) रहे हुए हैं। जहां जहां जीव की आसक्ति है वहां वहां कर्म का बन्धन समझो। कर्म के चक्र को देखकर बुद्धिमान् संसार के विषयों को दूर से ही त्यागे। जो कोई महापुरुष कर्म के प्रवाह को क्षीण करने के लिए त्यागमार्ग स्वीकार करते हैं वे अकर्म्मा (घातिकर्म का क्षय करके) होकर सर्वज्ञ और सर्वदृष्टा बनते हैं वे किसी प्रकार की आकांक्षा (पूजादि की इच्छा) नहीं करते हैं। परमार्थ का विचार करके और संसार के आवागमन को जानकर जन्म-मरण के मार्ग को वह पार कर लेता है और मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

विवेचन—सूत्रकार महात्मा फरमाते हैं कि संसार में सर्वत्र पाप के प्रवाह विद्यमान हैं। जिस प्रकार वैज्ञानिकों के सिद्धान्तानुसार "ईथर" नाम का तत्त्व सर्वत्र वायु मण्डल में व्याप्त है इसी तरह पाप का प्रवाह भी सर्वत्र व्याप्त है। ऊर्ध्व दिशा में, अधो दिशा में और तिर्यग्दिशा में सर्वत्र पाप का सरोवर प्रवाहित है। भावदिशा की अपेक्षा ऊर्ध्व दिशा में वैमानिक देव रहते हैं। वहाँ वैमानिक देवांगना सम्बन्धी विषयाभिलाष विद्यमान है। अधो-दिशा में भवनपति देवों की विषयाभिलाषा, तिर्यक् दिशा में मनुष्य और तिर्यञ्च की विषयाभिलाषा आदि कर्मास्रव के स्रोत विद्यमान हैं। लौकिक प्रज्ञापक दिशा की अपेक्षा ऊर्ध्व दिशा में अर्थात् पर्वतों के शिखरादि, अधोदिशा में नदी के किनारे गुफा आदि तथा तिर्यग्दिशा में बाग-बगीचे आदि विषयोपभोग के स्थान कर्मास्रव स्रोत हैं। विषयाभिलाषा आदि पाप अनेक भवों से अभ्यस्त होने से इनके द्वारा जीव कर्म पुद्गलों को ग्रहण करता रहता है। जिस प्रकार जल का सरोवर सदा बहता है इसी प्रकार पाप-द्वारों से कर्मरूपी जल सदा आता रहता है इसलिए इन्हें भी स्रोत कहा गया है। प्रति-पल और प्रति आकाश प्रदेश पर कर्मास्रव के कारण विद्यमान हैं। इसलिए साधक को सतत सावधान रहना चाहिए। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि प्रति क्षेत्र पर कर्म के उपार्जन के कारण विद्यमान हैं तो कोई जीव मुक्त नहीं होना चाहिए क्योंकि सर्वत्र कर्म के आस्रव के कारण विद्यमान हैं? इस शंका का समाधान स्वयं सूत्रकार करते हैं कि कर्मास्रव के कारण सर्वत्र विद्यमान हैं तदपि जहाँ जीव की आसक्ति होती है वहीं कर्म आकर चिपक जाते हैं। अन्यथा नहीं। राग-द्वेष रूप परिणति जहाँ है वहाँ कर्मबन्ध है। जहाँ आर्द्रता—स्निग्धता (आसक्ति) है वही बन्ध है। कर्म का प्रवाह सर्वत्र होने पर भी जो साधक अपने द्वारों को खुले नहीं रखते उनमें कर्म के पुद्गल प्रवेश नहीं कर सकते। जिसका चित्त खुला रहता है—जिसके द्वार खुले रहते हैं वहीं कर्म पुद्गल प्रवेश कर जाते हैं। इसलिए चाहे जैसी अवस्था पर पहुँचे हुए व्यक्ति को भी अपनी आसक्ति—राग-द्वेष परिणति पर पूरी दृष्टि रखनी चाहिए। चित्तवृत्ति पर पूरी चौकी करने से व सदा सावधान रहने से कर्मबन्ध नहीं होता है।

सतत जागृति के कारण को बताने के पश्चात् सूत्रकार अब जागृति का फल बताते हुए फरमाते हैं कि जो महापुरुष रागद्वेष, विषय और कषाय के भाव चक्र को भलीभांति ज्ञ-परिज्ञा से जानकर और प्रत्याख्यान-परिज्ञा द्वारा छोड़ते हैं वे प्रव्रजित होकर घातिकर्मों का क्षय करके सर्वज्ञ और सर्वदृष्टा बन जाते हैं। वे अकर्म्मा बन जाते हैं; उन्हें कर्म का बन्धन नहीं होता। क्योंकि कर्मबन्धन का कारण ही चला

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

जाता है। ऐसा साधक सब कुछ देखता है, सब कुछ जानता है लेकिन वह आकर्षण—मोह के वश में नहीं होता। वह केवल-दृष्टा होता है। जो तत्त्व मोहित करता है वह (वासना) उसमें नहीं होता। अतएव उसकी प्रत्येक क्रिया सहज होती है इसलिए स्वाभाविक दशा में कर्म का बन्धन नहीं हो सकता। इसलिए उस साधक को अकर्म्मा कहा गया है।

आवागमन के चक्र को जानकर वह साधक परमार्थ का चिन्तन करता है और आकांक्षाओं से दूर रहता है। वह सब कुछ देखता है, जानता है लेकिन वह इच्छा नहीं करता है। अकर्म्मा हो जाने पर केवलज्ञान और केवलदर्शन उत्पन्न हो जाते हैं और वे समस्त संसार के पूज्य हो जाते हैं। देवाधिपति इन्द्र उनके चरणों की उपासना करने में अपना अहोभाग्य मानता है। सम्राट्, चक्रवर्त्ती, नर, अमर आदि द्वारा वह पूजनीय हो जाता है तदपि वह परमार्थ-ज्ञाता उस पूजा को भी औपाधिक मानता है। वह उस अवस्था में भी निरपेक्ष रहता है। उसे पूजा की भी कामना नहीं रहती। वह संसार के स्वरूप को जानकर, विषयों से सर्वथा निरपेक्ष होकर जन्म-मरण के मार्ग को पार कर लेता है। वह मोक्ष में विराजमान हो जाता है और आत्म स्वरूप को पा जाता है। शरीर उसके आत्मविकास का साधनमात्र होता है। जब विकास की पराकाष्ठा हो जाती है तो शरीर कृतकृत्य होकर आत्मा से पृथक् हो जाता है। यह स्वाभाविक ही है। इस तरह शरीर और कर्म से मुक्त होकर आत्मा सिद्ध, बुद्ध और शुद्ध बन जाती है।

सव्वे सरा नियट्टंति, तक्का जत्थ न विज्जइ, मई तत्थ न गाहिया, ओए, अप्पइट्ठाणस्स खेयन्ने, से न दीहे न हस्से न वट्टे न तंसे न चउरंसे, न परिमंडले, न किण्हे न नीले न लोहिए न हालिद्दे न सुक्किल्ले, न सुरभिगंधे, न दुरभिगंधे, न तित्ते न कडुए, न कसाए, न अंबिले, न महुरे, न कक्खडे, न मउए, न गुरूए, न लहुए, न सीए न उण्हे, न निद्धे, न लुक्खे, न काऊ, न रुहे, न संगे, न इत्थी न पुरिसे, न अन्नहा, परिन्ने सन्ने, उवमा न विज्जए अरूवी सत्ता अपयस्स पयं नत्थि। से न सद्दे, न रूवे, न गंधे, न रसे, न फासे इच्चेव त्ति बेमि।

संस्कृतच्छाया—*सर्वे स्वराः निवर्त्तन्ते, तर्को यत्र न विद्यते, मतिस्तत्र न ग्राहिका, ओजः, अप्रतिष्ठानस्य खेदज्ञः, स न दीर्घो, न ह्रस्वो, न वृत्तो, न त्र्यस्रो, न चतुरस्रो, न परिमण्डलो, न कृष्णो, न नीलो, न लोहितो, न हारिद्रो, न शुक्लो, न सुरभिगन्धो, न दुरभिगन्धो, न तिक्तो, न कटुको, न कषायो, नाम्लो न मधुरः, न कर्कशः, न मृदुः, न लघुः, न गुरुः, न शीतो, नोष्णो, न स्निग्धो, न रूक्षो, न कायवान्, न रुहः, न संगः, न स्त्री, न पुरुषः, नान्यथा, परिज्ञः, संज्ञः, उपमा न विद्यते, अरूपिणी सत्ता, अपदस्य पदं नास्ति। स न शब्दः, न रूपः, न गन्धः, न रसः, न स्पर्शः इत्येतावन्तः इति ब्रवीमि।*

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

शब्दार्थ—सव्वे=सभी। सरा=शब्द। नियट्टंति=निवृत्त हो जाते हैं, असमर्थ हो जाते हैं। तक्का=तर्क। जत्थ न विज्जइ=वहाँ नहीं है। मई=बुद्धि से। तत्थ न गाहिया=उसका ग्रहण नहीं हो सकता। ओए=अकेला कर्ममलरहित प्रकाश रूप। अपइट्ठाणस्स=समग्र लोक का। खेयन्ने=ज्ञाता है। से=वह मुक्तात्मा। न दीहे=न दीर्घ है। न हस्से=न छोटा है। न वट्टे=न गोल है। न तंसे=न त्रिकोण है। न चउरंसे=न चौरस है। न परिमंडले=न मंडलाकार है। न किण्हे=न काला है। न नीले=न नीला है। न लोहिए=न लाल है। न हालिद्दे=न पीला है। न सुक्किले=न सफेद है। न सुरभिगंधे=न सुगन्ध वाला है। न दुरभिगंधे=न दुर्गन्ध वाला है। न तित्ते=न तीखा है। न कडुए=न कडुआ है। न कसाए=न कषैला है। न अंबिले=न खट्टा है। न महुरे=न मधुर है। न कक्खडे=न कर्कश है। न मउए=न मृदु है। न गुरूए=न भारी है। न लहुए=न हलका है। न सीए=न ठंडा है। न उण्हे=न उष्ण है। न निद्धे=न स्निग्ध है। न लुक्खे=न रुक्ष है। न काउ=न शरीर वाला है। न रूहे=न पुनः जन्म-मरण करने वाला है। न संगे=न आसक्ति वाला है। न इत्थी=न स्त्री है। न पुरिसे=न पुरुष है। न अन्नहा=न नपुंसक है। परिन्ने=वह ज्ञाता है। सन्ने=सम्यग् ज्ञाता है। उवमा न विज्जइ=उसके लिए उपमा नहीं है। अरूवी सत्ता=वह अरूपी सत्ता वाले हैं। अपयस्स=वह अवस्थारहित है अतएव। पयं णत्थि=उसको कहने वाला शब्द नहीं है। से=वह। ण सद्दे=न शब्द रूप है। न रूवे=न रूपवान् है। न गन्धे=न गन्ध रूप है। न रसे=न रसरूप है। न फासे=न स्पर्श रूप है। इच्चेव=इतने ही वस्तु के भेद हैं ये उसमें नहीं है अतएव अवाच्य है। त्ति बेमि=ऐसा मैं कहता हूँ।

भावार्थ—हे मोक्षार्थी जम्बू! मुक्तात्मा का स्वरूप बताने के लिए कोई भी शब्द समर्थ नहीं है, तर्क की वहां गति नहीं है, बुद्धि वहां तक नहीं जाती, कल्पना नहीं हो सकती। हे शिष्य! वह मुक्तात्मा सकलकर्मरहित सम्पूर्ण ज्ञानमय दशा में विराजमान है। वह मुक्त जीव न लम्बा है, न छोटा है, न गोल है, न त्रिकोण है, न चौरस है, न मंडलाकार है, न काला है, न नीला है, न लाल है, न पीला है, न सफेद है, न सुगन्ध वाला है, न दुर्गन्ध वाला है, न तीखा है, न कडुआ है, न कसैला है, न खट्टा है, न मीठा है, न कठोर है, न सुकुमार है, न भारी है, न हल्का है, न ठंड है न गर्म है, न स्नि ध न रुक्ष है, न शरीरधारी है, न पुनर्जन्मा है, न आसक्त है, न स्त्री है, न पुरुष है, न नपुंसक है, वह ज्ञाता है परिज्ञाता है, उसके लिए कोई उपमा नहीं वह अरूपिणी सत्ता वाला है, अवस्थारहित है अतएव उसका वर्णन करने में कोई शब्द समर्थ नहीं ह। वह शब्दरूप, रूपरूप, गंधरूप, रसरूप और स्पर्शरूप, नहीं है। (इतने ही वाच्य वस्तु के भेद हैं। इनका निषेध कर देने से मुक्त जीव अवाच्य है)।

विवेचन—इस सूत्र में मुक्तात्मा की दशा का वर्णन किया गया है। यह अवस्था ऐसी है कि इसका वर्णन शब्दों द्वारा नहीं हो सकता। शब्दों की वहाँ गति नहीं है, तर्क वहाँ तक नहीं दौड़ती, कल्पनाएँ

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

वहाँ तक नहीं उड़ती और बुद्धि वहाँ तक नहीं पहुँचती। वह दशा मात्र अनुभव गम्य है। जिस प्रकार गूंगा आदमी गुड़ खाकर उसके रस का आस्वादन करता है लेकिन वह उसका वर्णन नहीं कर सकता। वह रस का अनुभव करता है। इसी तरह यह अवस्था अनुभवगम्य है। गूंगे के गुड़ की तरह यह अवाच्य है।

वह मुक्त अवस्था अनिर्वचनीय है। शास्त्र, आगम, वेद, पुराण श्रुति ये सभी "नेति नेति" कह कर उसके वर्णन में असमर्थता व्यक्त करते हैं। सर्वज्ञ और सर्वदृष्टा भी उसका वर्णन नहीं कर सकते। यह विषय वाणी से अगोचर, कल्पनातीत और बुद्धि से परे है। यह सहज आनन्द केवल अनुभव-वेद्य है।

वाच्य वस्तु में आकार, वर्ण, गन्ध, रूप, रस और स्पर्श होते हैं। मुक्त अवस्था में न आकार है, न वर्ण है, न गन्ध है, न रस है, न स्पर्श है, अतएव वह अवाच्य है। वह शुद्ध चैतन्य रूप, ज्योतिर्मय और सहजानन्द में लीन है।

वाच्य-वाचक का सम्बन्ध रूप, रस, गन्ध, स्पर्श वाले विषय में ही होता है। यह विषय मुक्तावस्था में नहीं है अतएव शब्द-प्रवृत्ति नहीं है। न केवल शब्द की ही प्रवृत्ति नहीं है लेकिन ऊहापोह रूप तर्क की भी वहाँ प्रवृत्ति नहीं है। इसका कारण यह है कि वह अवस्था विकल्पातीत है इसलिए मनोव्यापार रूप औत्पादिकी आदि चारों प्रकार की बुद्धि उसको नहीं जान सकती। मुक्त अवस्था में जीव सकल-कर्म कलङ्क से रहित होता है। वह एकरूप होता है। सूत्रकार ने "अपडिट्ठाणस्स खेयन्ने" यह पद दिया है। इसका एक अर्थ यह होता है कि—अप्रतिष्ठान अर्थात् मोक्ष (प्रतिष्ठान का अर्थ है रहना—जहाँ औदारिक शरीर आदि कोई शरीर न हो या जहाँ कर्म न हो वह अप्रतिष्ठान इस व्युत्पत्ति से अप्रतिष्ठान का अर्थ मोक्ष होता है) उसके खेदज्ञ अर्थात् निपुण। तात्पर्य यह हुआ कि मोक्ष के स्वरूप के ज्ञाता हैं। अप्रतिष्ठान नामक नरक भी है। वह लोक के अधोभाग की सीमा है। उसके ज्ञाता हैं अर्थात् समस्त लोक नाड़ी के स्वरूप के ज्ञाता हैं। दोनों ही अर्थों से यह प्रकट होता है कि सिद्ध आत्मा सम्पूर्ण ज्ञानमय है। वह सिद्धात्मा लोकान्त के एक कोस के छठे भाग क्षेत्र में अनन्त ज्ञान दर्शन युक्त अवस्थित है। शब्द, कल्पना बुद्धि, और तर्क की वहाँ गति क्यों नहीं है इसका कारण यह है कि वहाँ संस्थान (आकार) नहीं है। मुक्त जीव न बड़ा है न छोटा है न गोल है, न त्रिकोण है, न चौरस है। यह कहकर संस्थान का निषेध किया। न काला है, न नीला है, न लाल है, न पीला है, न सफेद है यह कहकर वर्ण का निषेध किया। न सुगन्ध वाला है न दुर्गन्ध वाला है यह कहकर गन्ध का निषेध किया। इसी तरह न तिक्त है यावत् न मधुर है यह कहकर रस का निषेध किया। न कर्कश है यावत् न रूक्ष है यह कहकर स्पर्श का निषेध किया। वह वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श तथा आकार से रहित है अर्थात् अमूर्त है। "न काउ" कहकर यह सूचित किया कि मुक्त जीव लेश्यारहित है अथवा देहरहित है। वेदान्तवादी कहते हैं कि "एक एव मुक्तात्मा तत्कायमपरे क्षीण क्लेशा अनुप्रविशन्ति आदित्यरश्मयः इवांशुमन्तः"। अर्थात्-जिस प्रकार सूर्य की किरणें सूर्य में प्रविष्ट हो जाती हैं उसी प्रकार एक ही मुक्तात्मा के शरीर में दूसरे मुक्त होने वाले जीव प्रविष्ट हो जाते हैं। इसका अर्थ यह है कि वेदान्ती मुक्तात्मा के शरीर होना मानते हैं। लेकिन ऐसा नहीं है। शरीर एक प्रकार की उपाधि है और मुक्त जीव उपाधिरहित है अतएव वह सशरीरी नहीं हो सकता। यह बताने के लिए कहा है कि मुक्त जीव देहरहित है।

अरुहेः—मुक्त जीव पुनर्जन्मा नहीं है। उनके कर्मरूपी बीज दग्ध हो चुके हैं अतएव उससे भवरूपी अंकुर नहीं उत्पन्न होता है। मोक्ष में गया हुआ जीव पुनः संसार में जन्म नहीं लेता। क्योंकि जन्म-मरण के चक्र से छूटने का नाम ही तो मोक्ष है। अगर पुनः जन्म होना शेष रह गया तो मुक्ति ही क्या हुई ?

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

इससे मुक्त जीव अपुनरावृत्ति वाले हैं। इस कथन से अवतारवादियों का खण्डन समझना चाहिए। कई तीर्थी यह मानते हैं कि जब दुनिया में पाप बढ़ जाता है और अपने धर्म की हानि होती है तब ईश्वर पुनः संसार में अवतार लेता है लेकिन यह मान्यता बुद्धिसंगत और ग्राह्य नहीं है क्योंकि जब कारणों का नाश हो जाता है तो कार्य का भी नाश होता है। यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है। मुक्त अवस्था में ऐसा कोई कारण नहीं है जिससे पुनर्जन्म रूप कार्य हो। जिस प्रकार बीज के अत्यन्त दग्ध होने पर उससे अंकुर उत्पन्न नहीं हो सकता इसी प्रकार कर्मरूपी बीज के जल जाने पर पुनः भवरूपी अंकुर कैसे फूट सकता है? कहा भी है—

दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं प्रादुर्भवति नांकुरः।
कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवांकुरः॥

श्लोक का भाव ऊपर दिया जा चुका है। अतएव मुक्त जीव पुनर्जन्मरहित हैं। यही मानना चाहिए। जहाँ जन्म है वहाँ मरण अवश्यंभावी है। अगर ईश्वर का जन्म माना जाता है तो उसका मरण भी मानना चाहिए। जहाँ जन्म-मरण है वहाँ ईश्वरत्व कैसे सम्भव है? यह विचारणीय है।

मुक्ति में रहा हुआ जीव सभी प्रकार के संग से रहित है। वह अमूर्त्त है अतएव संगरहित है। वह न स्त्री है, न पुरुष है, न नपुंसक है। यह शरीर होने पर संभव है, मुक्ति में शरीर ही नहीं अतः यह लिंग भेद भी नहीं है। मुक्त जीव परिज्ञाता है। वह आत्मा के समस्त प्रदेशों से जानता है और देखता है अतएव वह संज्ञ—ज्ञानदर्शन युक्त है।

शिष्य प्रश्न करता है कि हे गुरुदेव! मुक्तात्माओं का स्वरूप यदि नहीं जाना जा सकता है तो आप किसी उपमा द्वारा उनका स्वरूप बताने की कृपा करें। शिष्य की इस प्रार्थना के उत्तर में सद्गुरु कहते हैं कि हे शिष्य! मुक्तात्माओं का स्वरूप बताने के लिए कोई उपमा नहीं है। क्योंकि सदृश वस्तु से ही उपमा दी जा सकती है। मुक्तात्मा के ज्ञान और सुख की तुल्यता करने वाला अन्य नहीं है अतएव यह अनुपमेय है—अजोड़ है—अद्वितीय है मुक्तात्माओं की सत्ता अरूपी है। वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, आकार आदि की कोई अवस्था वहाँ नहीं है अतएव उसके वाचक शब्द की गति नहीं है इसलिए "अपयस्स पयं णत्थि" यह कहा गया है। वह मुक्तात्मा वर्णादि से रहित है अतएव इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं है। इसलिए कहा गया है कि वह अनिर्वचनीय है—अनुभवगम्य है। जो साधक आसक्तिरहित हो जाता है वह ऐसी स्थिति को प्राप्त करता है।

—उपसंहार—

जो सच्चा पुरुषार्थी और श्रद्धालु होता है वह वीतराग की आज्ञा का आराधक होता है। भोगों में सुख नहीं है लेकिन संयम में सुख है। निरासक्त पुरुष अकर्मा बन जाता है वह मोक्ष को प्राप्त करता है। मुक्तात्मा की दशा अनिर्वचनीय और अनुभवगम्य है। मुक्तात्मा वीतराग हैं अतएव संसार के कार्यकरण से असम्बद्ध होने से अवतार धारण नहीं करते हैं। आसक्ति—राग-द्वेष परिणति से रहित होना ही सार पाना है। जो अनासक्त है वह लोक का सार प्राप्त करता है।

इति पञ्चमाध्ययनम्

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

धूत नाम षष्ठ अध्ययन

—प्रथमोद्देशकः—

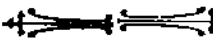

गत पञ्चम अध्ययन में लोक के सार भूत संयम और मोक्ष का प्रतिपादन किया गया है। साथ ही साथ लोक में से उक्त सार खींचने के लिए साधकों को प्रेरणा की गई है। यह भी साथ ही समझना चाहिए कि जब तक चित्तवृत्ति मलिन है तब तक वह सार खींचने में सर्वथा असमर्थ है। अतएव लोकसार को खींचने के लिए और खींचने के बाद उसको पचाने के लिए चित्त की अनिवार्य रूप से शुद्धि होनी ही चाहिए। अतएव इस अध्ययन में चित्तशुद्धि के उपाय सूत्रकार बताते हैं।

इस अध्ययन का नाम धूत है। धूत का अर्थ है—धुन डालना या धो डालना। जिस प्रकार वस्त्र की मलिनता को दूर करने के लिए उसे धोया जाता है उसी तरह आत्मा की मलिन वृत्ति के परिशोधन के लिए उस पर लगे हुए कर्म-मैल को धो डालना चाहिए। निर्युक्तिकार ने कहा है—

दव्वधुयं वत्थाइ भावधुयं कम्म अट्ठविहं।

अर्थात्—वस्त्रादि को धोना—उसका मैल दूर करना द्रव्य धूत है और आत्मा पर लगे हुए आठ कर्मों को धुनना—कर्ममैल को धोना—उसे दूर करना भावधूत है। भावधूत से ही यहाँ अभिप्राय है अतएव निर्युक्तिकार उसको विशेष स्पष्ट करते हैं:—

अहियासित्तुवसग्गे दिव्वेमाणुस्सए तिरिच्छे य।
जो विहुणइ कम्माइं भावधुयं तं वियाणाहि॥

अर्थात्—जो देव, मनुष्य और तिर्यञ्च सम्बन्धी उपसर्ग को दृढ़ता से सहन करके संसार रूपी वृक्ष के बीजभूत आठ प्रकार के कर्मों को धुनता है, उन्हें दूर करता है वह भावधूत समझना चाहिए। क्रिया और कारक के अभेद की अपेक्षा कर्म का धुनना भावधूत है।

यहाँ यह और ध्यान में रखना चाहिए कि जैसे वस्त्र पर कोई अन्य रंग चढ़ाने के लिए उस वस्त्र पर चढ़े हुए पहिले वाले रंग को और मैल को धो डालना जरूरी होता है तभी अच्छा रंग चढ़ सकता है। अन्यथा नवीन रंग जैसा चढ़ना चाहिए वैसा नहीं चढ़ता। उसमें चमक नहीं आती। इसी तरह चित्त पर संयम और मोक्ष का रंग चढ़ाने के लिए पहिले के अभ्यासों को और मलिनता को दूर करना होगा तभी नये संस्कार अच्छी तरह जम सकेंगे। अगर ऐसा न किया जायगा तो पहिले के संस्कार नवीन संस्कारों में बाधा डाले बिना नहीं रह सकेंगे। अतएव पूर्वग्रह, पूर्वाभ्यास से मलिन चित्त-पट को शुद्ध बनाने की अनिवार्य आवश्यकता है। जिस प्रकार जिस पट्टी पर पहिले अक्षर लिखे हुए हैं उस पट्टी पर दूसरे स्पष्ट अक्षर पहिले के अक्षरों को मिटाये बिना नहीं लिखे जा सकते हैं। स्पष्ट अक्षर लिखने के पहिले पट्टी को धोकर साफ करने की आवश्यकता है इसी तरह चित्तरूपी पट्टी पर संयम के अक्षरों को लिखने के

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

लिए उस पर पहिले लिखे हुए संसार सम्बन्धी अध्यास और दोषों को मिटाने की पूर्ण आवश्यकता है। ऐसा करने से ही संयम की स्पष्टतया आराधना हो सकती है। अतएव पूर्वाभ्यासों के त्याग के लिए उपदेश फरमाते हुए सूत्रकार कहते हैं:—

ओबुज्झमाणे इह माणवेसु आघाइ से नरे, जस्स इमाओ जाइओ सव्वओ सुपडिलेहियाओ भवंति, आघाइ से नाणमणेलिसं, से किट्टइ तेसिं समुट्ठियाणं निक्खित्तदंडाणं समाहियाणं पन्नाणमंताणं इह मुत्तिमग्गं। एवं (अवि) एगे महावीरा विप्परिक्कमंति, पासह एगे अवसीयमाणे अणत्तपन्ने।

संस्कृतच्छाया—*अवबुध्यमानः इह मानवेषु आख्याति स नरः, यस्य इमाः जातयः सर्वतः सुप्रत्युपेक्षिता भवन्ति, आख्याति स ज्ञानमनीदृशम्, स कीर्त्तयति तेषां समुत्थितानां, निक्षिप्तदण्डानां, समाहितानां, प्रज्ञानवतां इह मुक्तिमार्गम्। एवमप्येके महावीरा विपराक्रमन्ते, पश्यत एकान् अवसीदतः अनात्मप्रज्ञान्।*

शब्दार्थ—ओबुज्झमाणे=संसार के समस्त पदार्थों को अपने केवलज्ञान द्वारा जानकर। से नरे=वे नररत्न तीर्थङ्कर। इह माणवेसु=संसार के मनुष्यों को। आघाइ=धर्मोपदेश देते हैं। जस्स=जिनको। इमाओ=ये। जाइओ=एकेन्द्रियादि जातियाँ। सव्वओ=सभी तरह से। सुपडिलेहियाओ=ज्ञात। भवंति=होती हैं। से=वह श्रुतकेवली आदि भी। अणेलिसं=अनुपम। नाणं=ज्ञान का। आघाइ=उपदेश करते हैं। से=वह तीर्थङ्करादि। तेसिं=उन। समुट्ठियाणं=धर्म के लिए उत्साही बने हुए। निक्खित्तदंडाणं=आरम्भ से निवृत्त हुए। समाहियाणं=सावधान बने हुए। पन्नाणमंताणं=समझदार साधकों को। इह=इस मनुष्य लोक में। मुत्तिमग्गं=मोक्ष का मार्ग। किट्टइ=बताते हैं। एवमवि=ऐसा होते हुए भी। एगे=कितनेक। महावीरा=महावीर ही। विप्परिक्कमंति=संयम में पराक्रमी बनते हैं। एगे=कितनेक। अणत्तपन्ने=आत्मभान से रहित होकर। अवसीयमाणे=संयम-मार्ग पर लथड़ाते हुए-सीदाते हुए साधकों को। पासह=देखो।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष इस जगत् के मानवों में सच्चे नररत्न हैं वे यथार्थ तत्त्व को अपने केवलज्ञान द्वारा जानकर जनकल्याण के लिए उपदेश प्रदान करते हैं। इसी तरह एकेन्द्रियादि जातियों को (जन्म-मरण को) भलीभांति जानने वाले केवली और श्रुतकेवली भी अनुपम बोध देते हैं। यद्यपि ज्ञानी पुरुष, त्यागमार्ग में उत्साही बने हुए, हिंसक क्रियाओं से निवृत्त बने हुए बुद्धिमान् और सावधान सुपात्र साधकों को मुक्ति का मार्ग बताते हैं तो भी उनमें जो महावीर हैं वे ही उसे पचा कर पराक्रमी बनते हैं बाकी बेचारे बहुत से संयम स्वीकार करके भी आत्म-भान को भूलकर लथड़ाते हुए दृष्टिगोचर होते हैं—यह तुम देखो।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

विवेचन—इस सूत्र में तीर्थङ्कर और श्रुतकेवली के यथार्थ धर्मोपदेश की सर्वोत्कृष्टता का निरूपण किया गया है। तीर्थङ्कर स्वयं पहिले प्रबल पुरुषार्थ और दीर्घ तपश्चरण के द्वारा केवलज्ञान प्राप्त करते हैं और सम्पूर्ण जगत् का पूरा-पूरा अनुभव प्राप्त कर लेने के पश्चात् एकान्त जनकल्याण की भावना से प्रेरित होकर देशना का दान करते हैं। इससे यह सूचित किया गया है कि जो पूरा अनुभवी हो, आगम-निगम का वेत्ता हो वही उपदेश देने योग्य है। अपूर्ण और अल्प अनुभव वाला अगर उपदेश देने लगता है तो वह गलत मार्ग पर भी जनता को ले जा सकता है। इससे अहित की सम्भावना रहती है। तीर्थङ्कर केवलज्ञान प्राप्त हो जाने के बाद ही देशना देते हैं इसमें यही आशय रहा हुआ है।

सूत्रकार ने "माणवेसु" यह पद दिया है। यह उपलक्षण है। तीर्थंकर देव, मनुष्य और तिर्यञ्च की बारह प्रकार की पर्षदा के बीच समवसरण में विराजमान होकर उपदेश फरमाते हैं। फिर भी 'माणवेसु' यह पद दिया है इसका विशेष प्रयोजन है। वह यह है कि प्रायः मनुष्य ही देशना श्रवण कर चारित्र-मार्ग अङ्गीकार कर सकते हैं अतएव मानव-योनि की महत्ता इससे ध्वनित की गई है। देशना श्रवण करके देव प्रत्याख्यान नहीं करते और तिर्यञ्च सर्वविरतित्व अङ्गीकार नहीं कर सकते हैं। रहे मनुष्य—वे ही मुख्यतया मनन करने वाले होने से धर्मोपदेश के योग्य है अतएव "माणवेसु" यह पद दिया गया है।

इस सूत्र में दिया गया "नरे" शब्द भी सहेतुक है। तीर्थंकर अपने स्वाभाविक मानव-देह से ही उपदेश फरमाते हैं। वे मानव हैं और मानव होकर ही अपने प्रबल पुरुषार्थ से उन्होंने ईश्वरत्व और सर्वज्ञत्व प्राप्त किया है। यह इससे प्रकट होता है। उनको प्रारम्भ से ही काल्पनिक ईश्वर नहीं माना लिया गया है। दूसरी बात नरदेह से उनका उपदेश बिल्कुल सहज है। अन्य तीर्थिकों में से शाक्य आदि ने भींत के अन्दर से भी धर्मकथा प्रकट होती है यह माना है। अर्थात्-भींत उपदेश करती है यह उनकी मान्यता है। अथवा औलूक्य मत वाले यह मानते हैं कि उलूक के रूप में उनके प्रवर्त्तक ने धर्मोपदेश दिया। ऐसी अस्वाभाविकता जैनदर्शन में नहीं है।

तीर्थंकर देव ने अपने प्रबल पुरुषार्थ से पूर्णज्ञान और ठोस अनुभव प्राप्त किया। तदन्तर उन्होंने धर्मदेशना प्रदान की इसलिए उन्होंने संसार को अनमोल-अजोड़-अनुपम ज्ञान प्रदान किया है। उनका ज्ञानमय उपदेश रूढिगत मानस वाले व्यक्ति पचा भी नहीं सकते; उसमें नवीनता और अन्तःकरण को प्रेरणा करने की शक्ति है। तीर्थंकर जो कुछ कहते हैं उसमें जनकल्याण के सात्विक हेतु के सिवाय अन्य कोई हेतु नहीं होता। अतएव उनके उपदेशों को पचाने की और उसके अनुसार आचरण करने की शक्ति पैदा करनी चाहिए। तीर्थंकर देव के अतिरिक्त जिन्होंने विशिष्ट ज्ञान प्राप्त किया है, जो एकेन्द्रियादि जातियों के सम्यक् प्रकार से ज्ञाता हैं ऐसे श्रुतकेवली, अवधिज्ञानी, मनःपर्यायज्ञानी, जातिस्मरण ज्ञान वाले और आगम के पारगामी भी अनुपम रीति से दुनिया को ज्ञान देते हैं। यह ज्ञान आध्यात्मिक कल्याण करने वाला है अतएव अनुपम और अजोड़ है।

आगे चलकर सूत्रकार ने यह बताया है कि अनुभवी पुरुष किन्हें उपदेश देते हैं। जो व्यक्ति पात्र हैं उन्हें ही उपदेश देना हितकर होता है। अपात्र को उपदेश देना अहितकर होता देखा गया है। जो साधक द्रव्य और भाव से उत्थित हैं, धर्म के प्रति उमङ्ग रखने वाले हैं—जो आरम्भ से निवृत्त हैं, समाहित आत्मा वाले हैं अर्थात्-समाधिवन्त हैं ऐसे सुपात्र व्यक्ति धर्मकथा के योग्य हैं। अनुभवी पुरुष इन्हें मुक्तिमार्ग का उपदेश देते हैं। ऐसा होते हुए भी सूत्रकार फरमाते हैं कि जो महा पराक्रमी होते हैं वे ही

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

उस मार्ग में पराक्रम करते हैं। यहाँ यह सूचित किया है कि त्याग भी वीर ही कर सकते हैं। शक्ति के बिना मुक्ति नहीं। शक्तिमान् ही मोक्ष मार्ग पर चल सकता है। वही उस मार्ग को तीर्थंकर के उपदेश को पचा सकता है। शक्ति-सम्पन्न को ही मोक्ष का मार्ग बताया जा सकता है। वही इसका अधिकारी है। मिष्टान्न पौष्टिक और सुन्दर है लेकिन वह तन्दुरुस्त के लिए ही। बीमार के लिए मिष्टान्न हानिप्रद है। त्याग भी सिंहनी के दूध के समान है जो सोने के पात्र में ही टिक सकता है। वीर ही त्याग के उपदेश को पचा सकता है और उस पर अमल कर सकता है। वीर का अर्थ है आत्मभान वाला व्यक्ति—जिसमें आत्म-विश्वास कूट-कूट कर भरा हो। जिसे आत्म-भान और आत्म-विश्वास नहीं उसका त्याग केवल भाररूप है। त्यागरुचि, अहिंसा, विवेकबुद्धि और समाधि की इच्छा ये चार गुण जिसमें हैं वही मुक्तिमार्ग का आराधक हो सकता है। महावीर के इस मार्ग का वीरों द्वारा ही अनुसरण किया जा सकता है। पराक्रमी साधक ही इस पर चलते हुए अपना लक्ष्य प्राप्त करते हैं। कायर और आत्मभान को भूलकर बाह्य संसार के पदार्थों से मुग्ध बने हुए व्यक्ति इस मार्ग में ठोकरें खाते हैं और लथडाते हैं वे अपना लक्ष्य नहीं पा सकते। अतएव वीरतापूर्वक वीर के इस त्यागमार्ग का अनुसरण करना चाहिए।

से बेमि से जहावि कुम्मे हरए विणिविट्ठचित्ते पच्छन्नपलासे उम्मग्गं से नो लहइ भंजगा इव सन्निवेसं नो चयंति एवं एगे अणेगरूवेहिं कुलेहिं जाया रूवेहिं सत्ता कलुणं थणंति नियाणओ ते न लभंति मुक्खं।

संस्कृतच्छाया—*सोऽहं ब्रवीमि तद्यथा च कूर्मो ह्रदे विनिविष्टचित्तो पलाशप्रच्छन्नः उन्मार्गं (उन्मज्यम्) न लभते। वृक्षा इव सन्निवेशं न त्यजन्ति एवमेके अनेक रूपेषु कुलेषु जाता रूपेषु सक्ता करुणं स्तनन्ति निदानतस्ते न लभन्ते मोक्षम्।*

शब्दार्थ—से बेमि=मैं कहता हूँ। से जहावि=कि जैसे कोई। कुम्मे=कछुआ। हरए=किसी विशाल तालाब में। विणिविट्ठचित्ते=गृद्ध होकर। पच्छन्नपलासे=शैवाल से आच्छादित हो जाने से। उम्मग्गं=बाहर आने का मार्ग। से=वह। नो लहइ=नहीं पाता है। भंजगा इव=वृक्षों के समान। सन्निवेसं--अपने स्थान को। नो चयंति=नहीं छोड़ते हैं। एवं=इसी भाँति। एगे=कितनेक व्यक्ति। अणेगरूवेहिं=विविध प्रकार के। कुलेहिं=कुलों में। जाया=उत्पन्न होते हैं। रूवेहिं सत्ता=इन्द्रियों के रूपादि विषयों में आसक्त होकर। कलुणं=करुण। थणंति=विलाप करते हैं। नियाणओ=वे कर्म से। मुक्खं=छुटकारा। न लभंति=नहीं पा सकते हैं।

भावार्थ—जिस प्रकार शैवाल से आच्छादित किसी जलाशय में किसी कछुए ने दैवयोग से एक विवर में से मुँह बाहर निकाला। उसने बाहर का सुन्दर दृश्य देखा। वह पुनः अन्दर गया और अपने सम्बन्धियों में आसक्त होकर उन्हें वह दृश्य दिखाने के लिए लाया इतने में वह विवर शैवाल से आच्छादित हो गया। अब उसे बाहर आने का मार्ग मिलना अति कठिन है। इसी प्रकार संसार रूपी जलाशय में

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

आसक्ति रूपी शैवाल का गाढ आच्छादन है उससे बाहर निकलने का मार्ग उस आसक्त जीवात्मा को प्राप्त होना कठिन है। जिस प्रकार वृक्ष शीत, उष्णता, वर्षा आदि सहन करते हुए भी अपने स्थान को नहीं छोड़ सकते हैं इसी प्रकार जीव अनेक कुलों में उत्पन्न होते हैं और विविध प्रकार के विषयों में आसक्त बनते हैं और उन्हें नहीं छोड़ सकते हैं। आसक्ति का दुष्परिणाम भोगना पड़ता है तब वे बेचारे करुण रुदन करने लग जाते हैं परन्तु दुख के निदान भूत अपने कर्मों से नहीं छूट सकते हैं।

विवेचन—पहिले के सूत्र में आत्ममान वाला व्यक्ति ही संयम की आराधना कर सकता है यह कहा गया है। इस पर जिज्ञासु शिष्य प्रश्न करता है कि हे गुरुदेव! आत्ममान भूलने पर पहिले के जो संयम के संस्कार रहते हैं वे कहाँ चले जाते हैं जिससे साधक का एकदम पतन हो जाता है? सद्गुरु देव शिष्य के प्रश्न के उत्तर में फरमाते हैं कि हे शिष्य! जो साधक आत्ममान खो देता है वह बाहर के पदार्थों में आसक्ति करने लग जाता है। ऐसे आसक्त जीव के संयम के संस्कार ऐसे समय में नष्ट हो जाते हैं—नीचे दब जाते हैं, उन पर आसक्ति का आवरण पड़ जाता है। यह बात दृष्टान्त द्वारा समझायी जाती है:—

एक विशाल सरोवर है। वह शैवाल (काझी) के घन और कठोर आवरण से आच्छादित है। उस सरोवर के बीच में एक छिद्र था जिसमें से सिर्फ एक कछुए की गर्दन बाहर आ सकती थी। दैवयोग से एक कछुआ अपने साथियों से अलग पड़ जाने से व्याकुल होता हुआ इधर-उधर अपनी ग्रीवा को फेंकता हुआ उस विवर के पास आया और भवितव्यता से उसने अपनी गर्दन उस छेद से बाहर निकाली तो उसे शरदृऋतु के चन्द्रमा की चांदनी से क्षीरसागर के प्रवाह के समान सुशोभित, तारागणों से जगमगायमान आकाश के दर्शन हुए। ऐसा सुहावना दृश्य देखकर वह बड़ा प्रसन्न हुआ। उसके मन में यह विकल्प उठा कि मेरे सहचारी मित्रों ने और मैंने पहिले कभी ऐसा सुहावना दृश्य नहीं देखा। कैसा अच्छा हो यदि मैं उनको लाकर यह स्वर्ग के समान सुख देने वाला दृश्य दिखलाऊँ। यह संकल्प करके वह उस दृश्य का आनन्द न लेते हुए पुनः अन्दर गया और अपने मित्रों और स्वजनों को ढूंढने लगा। उनसे मिलने पर वह उनको लेकर पुनः उस विवर के पास आना चाहता है लेकिन वह विवर तो शैवाल से आच्छादित हो गया। अब वह कछुआ उस छेद को ढूँढने के लिए इधर-उधर खूब भटकता है लेकिन वह छेद को नहीं प्राप्त करता है; आखिर सरोवर की विस्तीर्णता से थककर वहीं विनाश को प्राप्त हुआ। इस दृष्टान्त का अभिप्राय यह है कि यह संसार एक विशाल जलाशय है। इसमें जीवरूपी कछुआ है। संसार रूपी जलाशय कर्मरूपी घन शैवाल से आच्छादित है। भवितव्यता नियोग से कर्म शैवाल में एक छोटासा छेद हो गया (अकामनिर्जरा करते हुए पुण्यनियोग से ऐसा होता है) जिससे मनुष्य क्षेत्र, सुकुल में उत्पत्ति और सम्यक्त्वरूपी सुन्दर नभस्तल के दर्शन हुए। ऐसा होने पर ज्ञातिजन का अथवा विषयोपभोग का मोह जागृत होने से उस सम्यक्त्व का आनन्द न लेकर यह जीव पुनः कर्म के शैवाल से आच्छादित हो जाता है। जिस प्रकार उस कछुए ने सुन्दर आकाश के दर्शन का सुयोग मिलने पर भी ज्ञातिजनों में आसक्त होकर उसका लाभ न उठाया उसी तरह यह जीवात्मा सम्यक्त्व अथवा चारित्र को प्राप्त करके पुनः मोह के उदय से—पदार्थों के मोह से अथवा सम्बन्धियों के व्यामोह से उस संयम का आनन्द नहीं उठा सकता है और प्राप्त अवसर को गँवा देता है। यह अवसर खो देने पर फिर इस अपार संसार में ऐसा सुअवसर पुनः पुनः कहाँ प्राप्त हो सकता है?

इसका तात्पर्य यह है कि त्यागमार्ग स्वीकार कर लेने पर भी सतत सावधानी रखने की आवश्यकता है। पूर्व अभ्यासों का प्रभाव अनन्त जन्मों से आत्मा पर पड़ा हुआ है वह सहज ही एकदम नष्ट

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

नहीं हो जाता है। उसे अनेक निमित्तों द्वारा पोषण मिला करता है। जहाँ तक सद्ज्ञान और संयम के दृढ़ संस्कार चित्त पर स्थापित नहीं हो जाते हैं वहाँ तक जीवात्मा को उसके पूर्व संस्कार खींचते रहते हैं। साधक यदि जरा भी असावधान और बेखबर रहते हैं तो वे पूर्व संस्कारों से खिंच कर गिर पड़ते हैं और बुरी चोट खाते हैं। इसलिए प्रति क्षण जागृत रहना चाहिए। पूर्वसंस्कारों को वेग न मिले इसके लिए पूरी चौकी करनी चाहिए। प्रत्येक क्रिया विवेकबुद्धि—आत्मभान को जागृत रखकर करनी चाहिए। ऐसा करने से बहुत से पतन के द्वारों से बचा जा सकता है। अपने कार्यों पर और वृत्तियों पर सतत दृष्टि रखने से पतन का अवसर ही नहीं प्राप्त होता है। अब सूत्रकार एक दूसरा उदाहरण बताते हैं:—

जिस प्रकार वृक्ष शीत, आतप, वर्षा आदि के अनेक कष्ट उठाते हैं लेकिन वे अपने स्थान को नहीं छोड़ सकते हैं। छोड़ने की इच्छा होते हुए भी छोड़ने में असमर्थ होते हैं। इसी प्रकार संसारी जीव संसार में अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक कष्ट उठाते हैं लेकिन वे धर्माचरण के योग्य होते हुए भी इन्द्रियों के विषयों में आसक्त होकर अपना गृहवास नहीं त्याग सकते हैं। वे इन्द्रियों और स्वजनों में इतने गृद्ध होते हैं कि वे भयंकर से भयंकर दुख उठाते हैं लेकिन उनका त्याग नहीं करते हैं। वे इस प्रकार की आसक्ति का दुष्परिणाम क्या होगा इस बात का विचार नहीं करते हैं। इस प्रकार की आसक्ति का दुष्परिणाम सामने उपस्थित होता है तब वे रुदन करते हैं—विलाप करते हैं—हा तात! हा माता! हा दुर्दैव! यह अचिन्तित, घोर दुख मुझे क्यों भोगना पड़ा है! अथवा विषयों में आसक्त होकर कर्मों का उपार्जन करके जीव नरक की वेदनाओं का अनुभव करते हुए विलाप करते हैं। इतना विलाप करते हुए भी वह अज्ञानी यह नहीं जानता कि इस दुख का कारण मैं स्वयं हूँ। मेरे ही दुष्कर्मों का यह परिणाम है। यह निदान नहीं कर सकने से वे प्राणी दुख के उपादान कारण कर्मों से छूट नहीं सकते। इस प्रकार पूर्वग्रहों की तीव्रता के कारण साधक आसक्ति से दूर नहीं रह सकते। इसका परिणाम भयंकर पतन है।

साधना के मार्ग में आ जाने के बाद भी यह पूर्वग्रह पीछा नहीं छोड़ते। ये ग्राह के समान आत्मा को ग्रसित करने के लिए मुँह खोले खड़े रहते हैं। इसलिए सुधर्मास्वामी फरमाते हैं कि साधक को पहिले पूर्वग्रह का त्याग करना चाहिए। पूर्वग्रह का अर्थ है पहिले की दृष्टि की पकड़। यह पकड़ अनेक तरह की हो सकती है; कुल परम्परा की पकड़, मान्यता की पकड़, व्यवहार की पकड़, सम्प्रदाय की पकड़ इत्यादि इसके अनेक रूप हैं। सूत्रकार ने वृक्ष की उपमा देकर बताया है कि—जैसे वृक्ष दुख से घबरा कर स्थान छोड़ना चाहता है तो भी वह नहीं छोड़ सकता, इसी तरह आसक्ति के दुखद परिणाम से घबराकर साधक उसे छोड़ने की इच्छा करता है लेकिन वैसा प्रसंग आने पर पुनः वैसी ही गलती करने लगता है। इस प्रकार साधक साधना के मार्ग में जुड़ जाने के बाद भी पूर्वग्रहों के कारण व्यक्तिगत और समाजगत हानि कर बैठता है। साम्प्रदायिक पकड़ के कारण समाज का बड़ा भारी अहित हो रहा है। साम्प्रदायिक पकड़ जनकल्याण के सुन्दर बुरखे के नीचे रहने से जनता को आकर्षित कर सकती है और उसे गलत मार्ग पर ले जा सकती है। पूर्वग्रह के विषय में यहाँ इतना कहा गया है इसका कारण यह है कि ये संयम की साधना में विशेष रूप से बाधा डालते हैं। अनुभवियों ने इसका अनुभव किया है इसलिए वे इससे बचने के लिए और सतत सावधान रहने के लिए सूचित करते हैं।

अह पास तेहिं कुलेहिं आयत्ताए जाया—गंडी अहवा कोढी रायंसी अवमारियं। काणियं झिमियं चेव कुणियं खुज्जियं तहा। उदरिं च पास

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

मूयं च सूणियं च गिलासणिं । वेवइं पीढसप्पिं च सिलिवयं महुमेहणिं सोलस एए रोगा अक्खाया अणुपुव्वसो । अह णं फुसंति आयंका फासा य असमंजसा । मरणं तेसिं संपेहाए उव्वायं चवणं च नच्चा परियागं च संपेहाए तं सुणेह जहा तहा । संति पाणा अंधा तमंसि वियाहिया तमेव सइ असइं अतिअच्च, उच्चावए फासे पडिसंवेएइ बुद्धेहि एयं पवेइयं ।

संस्कृतच्छाया—अथ पश्य तेषु कुलेषु आत्मत्वाय जाता । गण्डी अथवा कुष्ठी, राजांसी, अपस्मारः । आक्षिरोगः, जाड्यता, चेव कुणिः, कुब्जी, उदरी च पश्य मूकं, च शूनत्वं भस्मकम् । वेपनं पीठसर्पित्वं श्लीपदं मधुमेहिनं । षोडशाप्येते रोगा आख्याता अनुपूर्वशः, अथ स्पृशंति आतङ्का स्पर्शाश्च असमञ्जसाः, मरणं तेषां सम्प्रेक्ष्योपपातं च्यवनं च ज्ञात्वा परिपाकं च सम्प्रेक्ष्य तं शृणुत यथा तथा सन्ति प्राणिनः अन्धा तमसि व्याख्याताः तामेव सकृद् असकृद् अतिगत्योच्चावचान् स्पर्शान् प्रतिसंवेदयति बुद्धैरेतत् प्रवेदितम् ।

शब्दार्थ—अह=अथ । तेहिं कुलेहिं=उन-उन भिन्न कुलों में । आयत्ताए=अपने २ कर्मों का फल पाने के लिए । जाया=जीव उत्पन्न होते हैं उन्हें तू । पास=देख । गंडी=गण्डमाला का रोगी । अदुवा=अथवा । कोढी=कुष्ठरोगी । रायंसी=राज्य यक्ष्मा-क्षय रोगी । अवमारियं=अपस्मार मूर्छा मृगी आदि का रोगी । काणियं=आँख से काणा या चक्षु रोगी । झिमियं=जड़ता का रोगी । चेव=और । कुणियं=लूला, लँगड़ा । तहा=तथा । खुज्जियं=कुबड़ा । उदरिं=पेट का रोगी । मूयं च=और मूँक-गूँगा । सूणीयं=सोजन का रोग । गिलासणिं=भस्मक रोग अतिक्षुधा का रोग । वेवइ=कंपरोग । पीठसप्पिं=पीठ के झुक जाने का रोग । सिलिवयं=पांव की कठोरता होना-संकोच न कर सकना । महुमेहिणिं=मधु मेह-प्रमेह का रोगी । अणुपुव्वसो=इस प्रकार । एए=ये । सोलस रोगा=सोलह रोग । अक्खाया=कहे गये हैं । अह णं=और भी । आयंका=शूलादिक व्याधियाँ । असमंजसा=अनियमित । फासा=गाढ़ प्रहारादि दुख । फुसंति=स्पर्श करते हैं । तेसिं=उनका । मरणं=मरण । संपेहाए=देखकर । उव्वायं=देवों का जन्म लेना । चवणं=फिर से मरना । नच्चा=जानकर । परियागं=कर्म के फल को । संपेहाए=देखकर कर्म के नाश में दृष्टि रखना चाहिए । सुणेह जहा तहा=हे शिष्य ! यह भी सुन कि । पाणा=प्राणी । अंधा=ज्ञानचक्षु रहित होकर अन्ध के समान । तमंसि=अन्धकार वाले नरकादि स्थानों में रहते हैं । वियाहिया=यह कहा गया है । तामेव=वहाँ । सइं=एक बार । असइं=बार-बार । अतिअच्च=जाकर । उच्चावए=अतिदारुण । फासे=दुखों का । पडिसंवेएइ=वेदन करते हैं । एयं=यह । बुद्धेहिं=तीर्थङ्करों द्वारा । पवेइयं=कहा गया है ।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

भावार्थ—हे जम्बू ! इधर दृष्टि फेंक—इन भिन्न-भिन्न योनियों में और भिन्न २ कुलों में जीव अपने कर्मों का फल भोगने के लिए उत्पन्न होते हैं। ऐसे आसक्त जीवों को शारीरिक रोग उत्पन्न होते हैं—किसी को कंठमाला का रोग होता है, किसी को कोढ निकलती है, किसी को क्षय रोग होता है, किसी को अपस्मार (मृगी, मूर्छा) होता है, किसी को आंख का रोग होता है, किसी को शरीर-जड़ता का रोग होता है, किसी के हाथ-पांव विकल होते हैं, किसी को कुबडापन का रोग, किसी को भस्मक (अतिक्षुधा) रोग, किसी को कंप रोग तो किसी को पीठ झुक जाने का रोग होता है किसी के हाथ-पांव ऐसे कठोर हो जाते हैं कि वे संकुचित नहीं किए जा सकते, किसी को प्रमेह रोग इस प्रकार सोलह राजरोग होते हैं और इसके सिवाय अन्य भी शूल आदि पीड़ा और घाव आदि भयंकर दर्द होते हैं जिससे अन्त में मृत्यु भी हो जाती है। इसके सिवाय जहां रोग का नाम नहीं है ऐसे देव भी जन्म-मरण करते हैं। इसलिए कर्मविपाक को जानकर कर्मों को दूर करना चाहिए। और भी कर्मों का फल कहता हूँ सो सुनो—कर्मवशात् जीव अंधे—ज्ञानचक्षुरहित होकर घोर अंधकारमय (नरकादि) स्थानों में बार-बार जन्म लेते हैं और दारुण दुख का अनुभव करते हैं ऐसा अनुभवी पुरुषों ने कहा है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में दुख और कर्म का कार्यकारण भाव दिखाया गया है। न केवल दुख का ही बल्कि समस्त सृष्टि का कारण कर्म है। दुनियाँ की इस नाट्यशाला में जो विविध दृश्य दिखाई देते हैं, जो विविध आकृतियाँ, विभिन्न साधन-सामग्री तथा विविध जीव योनियां दिखाई देती हैं इसका कारण कर्म ही है। ईश्वर को इसका कारण मानना युक्ति से परे है। जीव अपने कर्मों की पकड़ से ही विभिन्न एकेन्द्रियादि योनियों में उत्पन्न होते हैं। जो कुछ होता है वह अपने कर्मों का ही फल है। आकस्मिक कुछ नहीं होता है अतएव पूर्वकृत कर्मों का फल भोगते हुए रुदन करने की अपेक्षा अपने वर्त्तमान के कार्यों पर सावधानी पूर्ण रखनी चाहिए। भावी शुद्धि अपने ही हाथों में हैं। यह लक्ष्य में रखकर वर्त्तमान दशा पर रुदन करने की अपेक्षा भविष्य की शुद्धि के लिए वर्त्तमान में जागृत रहना अधिक उत्तम है।

सूत्रकार फरमाते हैं कि जो क्रिया वासना और पूर्वाभ्यासों के वश में होकर की जाती है उसका फल अति भयंकर होता है। मानसिक वेदनाओं के अतिरिक्त शारीरिक वेदनाएँ भी ऐसी क्रियाओं के कर्त्ता को पीड़ित करती हैं। आसक्ति और भोग रोगरूप में परिणत होते हैं। भोग में रोग का सदा भय रहता ही है। जीव के दुष्कर्मों के कारण जीव के शरीर में सोलह प्रकार के महारोग उत्पन्न हो जाते हैं। सोलह रोगों के नाम इस प्रकार हैं:—(१) कंठमाला (२) कोढ़ (३) राजयक्ष्मा-क्षय (४) अपस्मार-मूर्छा, मृगी (५) नेत्ररोग (६) शरीर की जड़ता—इतना भारीपन कि चलने में भी तकलीफ हो (७) लूला लंगडा होना (८) कुब्ज-कुबड़ा होना (९) उदररोग-जलोदरादि (१०) मूक पन-(११) सोजन-शोथ (१२) भस्मक रोग (१३) कम्पन (१४) पीठ का झुक जाना (१५) श्लीपद—पांव का कठिन—संकोच न हो सके ऐसा—हो जाना (१६) मधुमेह-प्रमेह। इनका विशेष स्वरूप वैद्यक ग्रन्थों से समझना चाहिए।

उपर्युक्त सोलह रोगों के सिवाय भी शूलादिक प्राणघातक व्याधियाँ और शस्त्रादि के घाव और गिर पड़ने से होने वाले जख्म इत्यादि अनेक दुख समय-असमय पर प्राणियों को पीड़ित करते हैं। विविध रोगों से ग्रसित होकर जीव भयंकर यातनाएँ पाता है और आखिर मृत्यु को प्राप्त करता है। मरकर भी

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

नरकादि स्थानों में अति दारुण वेदनाएँ भोगता है। अतएव कर्मविपाक को जानकर उससे मुक्त होने का उपाय एवं प्रयत्न करना श्रेयस्कर है।

कोई भी कार्य कारण के बिना नहीं हो सकता। छोटे से छोटा कार्य भी कारणों की अपेक्षा रखता है। चतुर्गति रूप संसार कार्य का कारण कर्म ही है। कर्म के वैचित्र्य से ही जीव चारगति एवं चौरासी लाख जीवयोनि में जन्म-मरण करता है और विविध दुखों को भोगता है। नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव ये चार गतियाँ हैं। इन चारों गतियों में जीव विभिन्न कष्टों और यातनाओं का अनुभव करता है।

नरक गति में जो दुख एवं यातनाएँ हैं वे अकथनीय हैं—शब्दों द्वारा उनका वर्णन नहीं हो सकता। तदपि उस महान् भयंकरता का आंशिक ज्ञान हो सके और उसे सुनकर प्राणी पापों से विरक्त हो इस हेतु से यत्किञ्चित् उसका वर्णन करते हैं। नरक में दो प्रकार की वेदनाएँ हैं—परमाधार्मिक देव द्वारा दी जाने वाली और दूसरी नारकी जीव परस्पर एक दूसरे को दुख देते हैं वह वेदना। वहाँ जो क्षेत्र-जन्य वेदना है उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। नारक के दुखों का अंशमात्र वर्णन नीचे के श्लोकों में किया है—

छिद्यन्ते कृपणाः कृतान्तपरशोस्तीक्ष्णेन धारासिना,
क्रन्दन्तो विषवीचिभिः परिवृताः संभक्षणव्यापृतैः।
पाट्यन्ते करकचेन दारुवदसिना प्रच्छिन्नबाहुद्वयाः,
कुम्भीषु त्रपुपानदग्धतनवो मूषासु चान्तर्गताः॥

अर्थात्—वे नारकी जीव यमराज के कुठार के समान तीक्ष्ण तलवार की धारा के द्वारा छेदे जाते हैं, विष से भरे हुए काटने के लिए व्यापार करते हुए कुत्तों के समान देवद्वारा दुख पाने से क्रन्दन करते हैं। जैसे करवत के द्वारा लकड़ी चीरी जाती है वैसे वे जीव चीरे जाते हैं, उनकी दोनों भुजाएँ काट दी जाती हैं। कुम्भियों में डालकर गरम गरम शीशा उन्हें पिलाया जाता है। जैसे सोनार सोने को मूष में डालकर पकाता है वैसे वे बेचारे कुम्भियों में पकाये जाते हैं।

भृज्यन्ते ज्वलदम्बरीषहुतभुक्ज्वालाभिराराविणो,
दीप्ताङ्गारनिभेषु वज्रभवनेष्वङ्गारकेषूत्थिताः।
दह्यन्ते विकृतोर्ध्वबाहुवदनाः क्रन्दन्त आर्तस्वनाः,
पश्यन्तः कृपणा दिशो विशरणास्त्राणाय को नो भवेत्॥

अर्थात्—वे बेचारे नारकी जीव जलते हुए अम्बरीष (भाड़) की अग्नि की ज्वाला में भुँजे जाते हैं जैसे भड़भूँजा चना भूंजता है। वे नारकी जीव जलते हुए अंगारों के समान गर्म वज्र के भवनों में खड़े किये जाते हैं। वहाँ वे हाथ और मुँह को ऊँचा करके करुण आवाज से रोते हुए जलते हैं। वे बेचारे नारकी जीव शरणरहित होकर इधर उधर अपने बचाने वाले को देखते हैं लेकिन उन्हें कोई इस वेदना से बचाने वाला नहीं है। उन्हें कोई शरण देने में समर्थ नहीं है। कर्मावरण से आवृत्त नारकी जीवों की वेदना का जरा सा हाल सुनते ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं, शरीर थर्रा उठता है, अंग-अंग कांपने लगता है तो जो ऐसी वेदनाएँ भोगते हैं उनकी क्या दशा होगी? लेकिन साथ ही यह विचारना चाहिए कि इस अवस्था को उन्होंने अपने हाथों से ही उत्पन्न की है। उन्हें कोई दूसरा पीड़ा नहीं पहुँचाता है लेकिन

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

उनके किए हुए अति भयंकर दुष्कर्म ही उन्हें यह यातनाएँ देते हैं। यह जानकर दुष्कर्मों से निवृत्त होना चाहिए। अगर हम यह चाहते हैं कि ऐसी दुखमय स्थिति को हम प्राप्त न हों तो ऐसे दुष्कर्मों से बचकर रहना चाहिए। नारकी जीव ऐसी दुखमय स्थिति में मरना पसन्द करते हैं लेकिन वे वहाँ अपनी स्थिति को पूर्ण करने के पहिले मर भी नहीं सकते हैं। वहाँ की उत्कृष्ट स्थिति तैंतीस सागरोपम की है। जिस नारकी जीव की जितनी स्थिति है उसे उतने समय तक वह दुखद अवस्था भोगनी ही पड़ती है। नरकगति में चार लाख जीवयोनि है और पचीस लाख कुलकोटि (कुलकोड़ी) हैं।

इसी प्रकार तिर्यञ्चगति में भूख, प्यास, शीत, आतप, परतंत्रता आदि भयंकर वेदनाएँ हैं। वहाँ भी सुख का लेशमात्र भी नहीं है। कहा भी है:—

क्षुत्तड्हिमात्युष्णभयादितानां, पराभियोगव्यसनातुराणां ।
अहो तिरश्चामति दुःखितानां सुखानुषङ्गः किल वार्तमेतत् ॥

अर्थात्—तिर्यञ्चगति के जीव, भूख, प्यास, शीत, गर्मी, भय आदि से पीड़ित हैं, सदा परवश रहने से विभिन्न दुख से दुखी हैं। ऐसे तिर्यञ्चगति के जीवों को सुख तो लेशमात्र भी नहीं है।

तिर्यञ्चगति में पृथ्वीकाय की सात लाख योनियाँ हैं और बारह लाख कुलकोटि हैं। अप्काय की सात लाख योनियाँ और सात लाख कुलकोटि हैं। अग्निकाय की सात लाख योनियाँ और तीन लाख कुलकोटि हैं। वायुकाय की सात लाख योनियाँ और सात लाख कुलकोड़ी हैं। प्रत्येक वनस्पतिकाय की दस लाख योनियाँ और साधारण वनस्पति काय की चौदह लाख योनियाँ हैं। दोनों प्रकार के वनस्पति काय की अट्ठावीस लाख कुल कोड़ी हैं। इस प्रकार पांच स्थावरों में यह जीव अनन्तकाल तक स्वपर-काय शस्त्रद्वारा छेदन भेदन आदि विभिन्न यातनाएँ सहन करता है। द्वीन्द्रिय जीवों की दो लाख योनियाँ और सात लाख कुलकोड़ी हैं। त्रीन्द्रिय जीवों की दो लाख योनियाँ और आठ लाख कुलकोडी हैं। चतुरिन्द्रिय जीवों की दो लाख योनियाँ और नव लाख कुलकोडी हैं। तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय की चार लाख योनियाँ हैं। इनमें जलचर की साढे बारह लाख, पक्षियों की बारह लाख, चौपदों की दस लाख, उरपरिसर्प की दस लाख, भुजपरिसर्प की नव लाख कुलकोडी हैं। इन विविध योनियों और कुलों में विविध यातनाएँ स्पष्ट ही हैं।

इसी तरह मनुष्य गति में भी अनेक प्रकार के दुख हैं। गर्भ के दुख, जन्म के दुख, बाल्यकाल के दुख, युवावस्था के दुख और वृद्धावस्था के दुख अपरिमित हैं। आधि, व्याधि और उपाधियों का अन्त ही नहीं है। संसार में कोई मनुष्य सुखी नहीं है। किसी को धन के अभाव का दुख, किसी को जन (परिवार) के अभाव का दुख है। कहीं पर धन है तो पुत्रादि परिवार के अभाव से वह संतप्त है। कहीं पुत्रादि का परिवार है तो धन का अभाव है। किसी के धन-जन भी हैं तो तन्दुरुस्त तन का अभाव है। संसार में सभी तरह के सुख कहीं नहीं हैं अतएव वहाँ भी मनुष्य दुख से संतप्त रहता है। कहा है:—

दुःखं स्त्रीकुक्षिमध्ये प्रथममिहभवे गर्भवासे नराणां,
बालत्वे चापि दुःखं मललुलिततनुस्तीव्रपयःपानमिश्रम् ।
तारुण्ये चापि दुःखं भवति विरहजं वृद्धभावोप्यसारः,
संसारे रे मनुष्या ! वदत यदि सुखं स्वल्पमप्यस्ति किञ्चित् ॥

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

अर्थात्—मनुष्य भव में जन्म लेने पर पहिले स्त्री के गर्भाशय में रहना पड़ता है, जन्म होने पर बचपन में मलमूत्र से शरीर भरा रहता है, पीने के लिए केवल मां का दूध ही है। युवावस्था में स्त्री पुत्र माता पिता आदि के वियोग का दुख होता है। वृद्धावस्था तो असार है ही। हे मनुष्यो! अगर संसार में अल्पमात्र भी सुख हो तो बोलो। मनुष्य भव में पुण्य फलरूप थोड़ा-बहुत प्रतिभास रूप सुख है वह भी त्याज्य है क्योंकि वह दुखमिश्रित है। जिस प्रकार दूध के कटोरे में थोड़ा-सा विष मिला हुआ हो तो वह दूध भी अपेय हो जाता है इसी तरह संसार का स्वल्प सुख दुखमिश्रित है अतएव वह सुख भी त्याज्य है। मनुष्य की चौदह लाख जीवयोनि और बारह लाख कुलकोडी हैं।

सामान्य मनुष्य यह समझता है कि देवलोक में तो सुख ही सुख है। वहाँ दुख का क्या काम? लेकिन यह बात ठीक नहीं। देवताओं को यद्यपि भूख, प्यास, धन और शारीरिक रोग और वृद्धावस्था का दुख नहीं है तदपि वहाँ ईर्षा, द्वेष, मत्सर और च्यवन आदि के दुख विद्यमान हैं। देवता, दूसरे अधिक ऋद्धि वाले देवता को देखकर ईर्षा करता है और इससे उसे संताप होता है। अपना च्यवनकाल मालूम होने पर उसे बहुत दुख होता है। देवगति में चार लाख योनियाँ और छब्बीस लाख कुलकोड़ी हैं।

इस प्रकार चतुर्गति रूप संसार में पड़े हुए जीव विविध प्रकार के कुलों एवं योनियों में अपने किए हुए दुष्कर्मों का फल भोगते हैं। प्राणी विवेकरूपी चक्षु से रहित होकर अन्ध बने हुए नरकादि अन्धकारमय स्थानों में जाते हैं। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय आदि भाव अन्धकार में भटकते हुए प्राणी विभिन्न दुखों का अनुभव करते हैं। यह जिनेश्वर देवों ने फरमाया है।

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जीव के दुख उसके ही किए हुए कर्मों के परिणाम हैं। आगमों में कर्म के मुख्य तीन विभाग किए गये हैं:—(१) संचित (२) प्रारब्ध और (३) क्रियमाण। जो कर्म एकत्रित कर लिए गये हैं लेकिन अभी उदय में आने योग्य न हों वे संचित कर्म कहलाते हैं। जो उदय में आने वाले कर्म हैं वे प्रारब्ध कहलाते हैं—जिन्हें हम भावी कहते हैं। जो कर्म वर्तमान में किये जा रहे हैं वे क्रियमाण कहलाते हैं। क्रियमाण कर्म ही संचित और प्रारब्ध रूप में परिणत होते हैं। अतएव अपने वर्त्तमान कार्यों पर पूरा लक्ष्य देना चाहिए। तथा भूतकाल के किए हुए कर्मों के फल को समभाव से सहन करने की सहिष्णुता प्रकट करनी चाहिए। ये दो साधन हैं जिनके द्वारा कर्मोंसे लड़ा जा सकता है। जो व्यक्ति भूल करके उसका परिणाम भोगते समय रोता है—विलाप करता है वह भूल को दूर करने के बदले और दूसरी भूल करता है। तात्पर्य यह है कि भूतकाल के कर्मों के फल को शान्ति से सहन करना और वर्त्तमान के कार्यों पर पूरी सावधानी रखना चाहिए। इससे कर्म के दुखद परिणामों से बचा जा सकता है।

संति पाणा वासगा, रसगा, उदए, उदएचरा, आगासगामिणो पाणा पाणे किलेसंति, पास लोए महब्भयं बहुदुक्खा हु जन्तवो, सत्ता कामेसु माणवा, अबलेण वहं गच्छन्ति सरीरेणं पभंगुरेणं, अट्टे से बहुदुक्खे इह बाले पकुव्वइ, एए रोगा बहू नच्चा आउरा परियावए नालं पास, अलं तवेएहिं, एयं पास मुणी! महब्भयं नाइवाइज्ज कंचणं।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

संस्कृतच्छाया—*सन्ति प्राणिनः वासकाः, रसगाः, उदके, उदकचरा आकाशगामिनः, प्राणिनः (अपरान्) प्राणिनः क्लेशयन्ति । पश्य लोके महद्भयं । बहुदुःखा खलु जन्तवः, सक्ताः कामेषु मानवाः, अबलेन वधं गच्छन्ति शरीरेण प्रभंगुरेण, आर्त्तः स बहुदुःखः इति बालः प्रकरोति, एतान्रोगान् बहून् ज्ञात्वा आतुराः परितापयेयुः नालं पश्य अलं तव एभिः, एतत्पश्य मुने ! महद्भयं नातिपातयेत् कञ्चन ।*

शब्दार्थ—वासगा=शब्द कर सकने वाले द्वीन्द्रियादि । रसगा=कटु-तिक्त आदि रस को जानने वाले संज्ञी जीव । उदए=जलकाय के जीव । उदए चरा=जलचर जंतु । आगासगामिणो=आकाश में विचरने वाले पक्षी । पाणा संति=इत्यादि प्राणी हैं । पाणा=ये प्राणी । पाणे=एक दूसरे प्राणियों को । किलेसंति=दुख देते रहते हैं । लोए महब्भयं=इसलिए लोक में महाभय प्रवर्तित होता है । पास=हे शिष्य ! तू देख । जन्तवो=प्राणियों के । बहुदुक्खा=दुख की कोई सीमा नहीं है । माणवा=मनुष्य । कामेसु=विषयभोगों में । सत्ता=आसक्त हैं । अबलेण=बलरहित निःसार । पभंगुरेण=क्षणभंगुर । सरीरेण=शरीर के लिए । वहं गच्छन्ति=अन्य जीवों को मार कर स्वयं वध को प्राप्त होते हैं । बाले=विवेकहीन । अट्टे=व्याकुल होकर । बहुदुक्खे=बहुत दुख पाने वाले । इह=इस प्रकार । पकुव्वइ=करते हैं । एए रोगा=इन उत्पन्न हुए रोगों को । बहू=बहुत जानकर । आउरा=आतुर होकर । परियावए=बहुत जीवों की हिंसा करता है । नालं पास=हे शिष्य ! ऐसा करने पर भी वे रोग को मिटाने में समर्थ नहीं हैं । अलं तवेएहिं=तुम ऐसी प्रवृत्ति न करना । मुणी=हे मुने । एयं महब्भयं=इस हिंसा को महाभय रूप । पास=समझो । कंचणं=और किसी की । नाइवाइज्ज=हिंसा न करनी चाहिए ।

भावार्थ—इस संसार में द्वीन्द्रियादि, संज्ञी, जलकाय के जीव, जलचर जन्तु तथा पक्षी परस्पर एक दूसरे को पीड़ा पहुँचाते रहते हैं । इससे संसार में महाभय प्रवर्तित हो रहा है । संसार में फँसे हुए प्राणियों के दुख की कोई सीमा नहीं है । यह जानकर भी मूढ मनुष्य कामभोगों में आसक्त बना हुआ है । वह अपने निःसार क्षणभंगुर शरीर के सुख के लिए पापकर्म करके स्वयं दुखी होता है । अपनी विवेकहीनता के कारण बहुत दुख पाने वाले अज्ञानी जीव जब अपने कर्म के फलस्वरूप रोग उत्पन्न होते हैं तब खूब चिन्तातुर बनकर (दुख का कारण न ढूँढते हुए) अन्य जीवों को परिताप पहुँचाते हैं (औषधि के लिए प्राणी-वध करते हैं) । परन्तु ऐसा करने पर भी (कर्मोदय से) रोग तो मिटते ही नहीं । इसलिए हे मुने ! तू ऐसी प्रवृत्ति न करना । (अपने स्वार्थ के लिए दूसरे को पीड़ा पहुँचाना महाभयंकर है) मुनि साधक दूसरों को पीड़ा हो ऐसी प्रवृत्ति कभी न करे ।

विवेचन—इस सूत्र में सूत्रकार यह बताते हैं कि संसारी जीवों ने इस संसार को अत्यन्त भयंकर स्थान बना रक्खा है । संसारी जीव अपनी हिंसक वृत्ति के द्वारा एक दूसरे को पीड़ा पहुँचाते हैं ।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

"जीवो जीवस्य भक्षकः" एक जीव दूसरे जीव को अपना भक्ष्य मानता है। इसी कारण से संसार में वैरभावना बढ़ती है। तिर्यञ्च प्राणी अज्ञानता के कारण एक दूसरे को अपना भक्ष्य समझते हैं। अतएव चूहा और बिल्ली, सर्प और नकुल, सिंह और मृग आदि में जन्मजात वैर देखा जाता है। यह ध्यान रखना चाहिए कि इसका कारण अज्ञान ही है। वास्तविक-दृष्टि से विचारा जाय तो जीव, जीव का भक्षक नहीं है लेकिन जीव जीव का रक्षक और सहायक हो सकता है। अपनी हिंसक-बुद्धि के कारण और अज्ञान के कारण प्राणी एक दूसरे को क्लेश पहुँचाता है इससे संसार में सर्वत्र भय व्याप्त हो रहा है। जो हिंसा करता है वह कदापि निर्भय नहीं रह सकता। अहिंसक ही निर्भय है और साथ ही जो निर्भय है वही अहिंसक हो सकता है। यह खूब विचारणीय है।

मनुष्य प्राणी अपनी बुद्धि और अपनी विशिष्ट शरीर-रचना के कारण सभी प्राणियों में अपना सबसे ऊँचा स्थान रखता है। वह अगर चाहे तो स्वयं निर्भय बन सकता है और दूसरों को भी निर्भय बना सकता है। लेकिन अगर मनुष्य के कार्य देखे जांय तो वे पशुओं की अपेक्षा अधिक भयंकर हैं। दुनिया को आज पशुओं का इतना भय नहीं है जितना मनुष्यों का भय है। हिंसक जन्तुओं ने जगत् को इतना भयावना नहीं बनाया जितना कि मनुष्य ने बनाया। यही कारण है कि आज मनुष्य निर्भय नहीं है और वह अपने आप भय का पुतला खड़ा करके उस पुतले से स्वयं डर कर शोर मचाता है। मनुष्य में हिंसावृत्ति आयी और वह पशुओं से भी ज्यादा हिंसक बना। जितनी हिंसावृत्ति बढ़ती है उतना ही भय बढ़ता है। इसी भय से प्राणी अपनी रक्षा के लिए, विशाल मकान, तलघर, शस्त्र, सेना आदि जमा करता है और इस तरह सुरक्षित बनना चाहता है लेकिन वह ज्यों-ज्यों रक्षा का प्रयत्न करता है त्यों-त्यों वह अधिक सशंकित बनता है, कायर और पामर बनता है। कायर और पामर बनकर वह विशेष पाप-प्रवृत्ति करता है। इसलिए सूत्रकार ने फरमाया है कि—यह संसार अत्यधिक भय का स्थान बना हुआ है और संसार में फँसे हुए प्राणियों के दुखों की कोई सीमा नहीं है। इससे सूत्रकार यह सूचित करते हैं कि दुख दुष्कर्मों का परिणाम है। ज्यों-ज्यों दुष्कर्म बढ़ते हैं त्यों-त्यों दुख बढ़ता है।

यह जानता हुआ भी प्राणी विषयों में आसक्त बना रहता है। यह कितनी मूढ़ता है। विषयभोगों का परिणाम इतना अनिष्ट होता है, इससे नरकादि स्थानों में जन्म लेना पड़ता है। यह जानकर भी प्राणी भोगों में अति आसक्ति के कारण अपने निस्सार और क्षणभङ्गुर शरीर को सब कुछ समझ लेता है। उसकी पुष्टि के लिए विविध जीवों को परिताप पहुंचाता है। वह यह नहीं सोचता कि जिस शरीर के लिए मैं अन्य को पीड़ा पहुंचाता हूँ वह शरीर तो लाख प्रयत्न करने पर भी नष्ट होने वाला ही है। वह स्वभावतः विनश्वर एवं क्षणभङ्गुर है। ऐसे विनश्वर देह को टिकाने के लिए अन्य चैतन्य सम्पन्न प्राणियों को परिताप पहुँचाना कितना भयंकर है? आसक्ति के कारण और पूर्वकृत दुष्कर्मों के कारण जब शरीर में रोग उत्पन्न हो जाते हैं तब वह अत्यन्त आकुल-व्याकुल हो जाता है। वह इसे आकस्मिक विपत्ति समझता है लेकिन यह नहीं जानता कि यह तो मेरे ही बोये हुए बीज का परिणाम है। यह रोगरूपी वृक्ष मेरे ही बोये हुए बीज का फल है। यह नहीं जानकर वह एकदम घबरा जाता है और भान भूलकर उस बीमारी को दूर करने के लिए औषधियाँ और चिकित्साएँ करता है और इस प्रकार और कतिपय प्राणियों को पीड़ा देता है। ऐसा कार्य करने से भी वे पीड़ाएँ कम नहीं होती हैं। कर्मजन्य व्याधियों का उपचार सामान्य औषधियों से होना शक्य नहीं है। जब कर्म दूर हटेंगे तो ही व्याधियाँ जाएँगी। अन्यथा सैकड़ों औषधियाँ करने पर भी कर्मजन्य व्याधियाँ दूर नहीं हो सकतीं। सूत्रकार त्यागी साधकों को सूचित करते हैं कि हे साधको! तुम ऐसी पापमय चिकित्सा के प्रपञ्च में न फँसो। जिससे अन्य प्राणियों को परिताप

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

पहुंचता है ऐसी कोई भी प्रवृत्ति न करो। संसार के अज्ञानी प्राणी तो दुख के निदान को नहीं समझते हैं इसलिए दुख के निवारण के उपाय करते हुए नवीन दुख खड़े कर लेते हैं। वे यह नहीं समझते हैं कि रोग, दुख ये बाहर से नहीं आते वरन् इसका कारण मैं स्वयं ही हूँ। हे साधको! तुम इसको विचारो और अन्तर्युद्ध करो। बाहर से जो वैरी दिखाई देते हैं वे वस्तुतः वैरी नहीं है। जो बाहर से दिखने वाले वैरियों को मारता है वह अपने आप को मारता है। वैर का शमन वैर से नहीं होता है। वैर का शमन प्रेम से होता है। सभी दुखों से छूटने का उपाय विश्वबन्धुत्व है। यह भावना जब बढ़ती है—फलती-फूलती है तो साधक फूल के समान लघु, सुकोमल, सुगन्धमय और आकर्षित बन जाता है। यह सब तभी शक्य है जब भोगों की आसक्ति—शरीर की आसक्ति दूर हो और आत्मदर्शन करने की उमङ्ग जागृत हो। मुनि साधक शरीर एवं विषयों में आसक्ति नहीं रखते हैं अतएव वे कर्म से रहित होकर शाश्वत सुख प्राप्त करते हैं।

आयाण भो सुस्सूस ! भो धूयवायं पवेयइस्सामि–इह खलु अत्तताए तेहिं तेहिं कुलेहिं अभिसेएण अभिसंभूया, अभिसंजाया, अभिनिव्वुडा अभिसंवुड्ढा अभिसंबुद्धा अभिनिक्कंता अणुपुव्वेण महामुणी।

संस्कृतच्छाया—*आजानीहि भोः शुश्रूषस्व ! भोः धूतवादं प्रवेदयिष्यामि–इह खलु आत्मतया तेषु तेषु कुलेषु अभिषेकेणाभिसंभूताः, अभिसंजाता, अभिनिर्वृत्ताः, अभिसंवृद्धा, अभिसम्बुद्धाः अभिनिष्क्रान्ता अनुपूर्वेण महामुनिः।*

शब्दार्थ—भो=हे शिष्य ! सुस्सूस=सुनो। आयाण=समझो। भो=हे शिष्य ! धूयवादं=कर्म से रहित होने का उपाय। पवेयइस्सामि=मैं तुम्हे कहूँगा। इह खलु=इस संसार में। अत्तत्ताए=स्वकृत कर्म की परिणति से। तेहिं तेहिं कुलेहिं=उन उन कुलों में। अभिसेएण=शुक्र रज के संयोग से। अभिसंभूया=गर्भ में उत्पन्न हुए। अभिसंजाया=गर्भ में वृद्धि को प्राप्त हुए। अभिनिव्वुडा=शरीर के अवयवादि बन चुकने पर उत्पन्न हुए। अभिसंवुड्ढा=वृद्धि को प्राप्त कर बड़े हुए। अभिसम्बुद्धा=धर्मकथादि श्रवण से जागृत हुए। अभिनिक्कंता=त्यागमार्ग में प्रव्रजित हुए। अणुपुव्वेण=क्रमशः। महामुणी=महामुनि हुए।

भावार्थ—हे शिष्य ! ध्यान पूर्वक सुनो और समझो। मैं तुम्हें कर्मों का क्षय करने का उपाय बताता हूँ—इस संसार में कतिपय जीव अपने किये हुए कर्मों का फल भोगने के लिए भिन्न-भिन्न कुलों में माता-पिता के रज-वीर्य से गर्भरूप में उत्पन्न हुए, वृद्धि को प्राप्त हुए, जन्म-धारण किया, क्रमशः परिपक्व वय के बने और प्रतिबोध पाकर त्यागमार्ग अंगीकार करके अनुक्रम से महामुनि बने।

विवेचन—शिष्य गुरुदेव से प्रश्न करता है कि हे गुरुदेव आपने चित्तशुद्धि के अनेक उपायों का वर्णन किया है परन्तु सबसे सरल और सर्वोत्तम उपाय क्या है सो कृपा करके समझाइये। यह सुनकर गुरुदेव बोले कि हे शिष्य ! मैं तुझे कर्मों के निवारण का उपाय बताता हूँ सो ध्यानपूर्वक सुन और

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

समझ। कर्मनिवारण करने का सबसे अच्छा उपाय त्यागमार्ग है। इस मार्ग पर चलकर अनेक व्यक्ति महामुनि हो गये और सर्वज्ञ-सर्वदृष्टा बन गये।

सूत्रकार ने इस सूत्र में जीव की उत्पत्ति से लेकर महामुनित्व प्राप्ति तक का क्रम बताया है। यह जीव अपने किये हुए कर्मों का फल भोगने के लिए अनेक भिन्न भिन्न उच्च-नीच कुलों में उत्पन्न होता है। ऐसा जीव माता-पिता के रजवीर्य के संयोग से गर्भ में उत्पन्न होता है, वृद्धि को प्राप्त करता है और जन्म-धारण करता है, परिपक्व वय का होता है, प्रतिबोध प्राप्त करता है, प्रव्रज्या अङ्गीकार करता है और महामुनि बन जाता है।

सूत्रकार ने सूत्र में दो बार "भोः" शब्द का प्रयोग करके शिष्य को विशेष सावधान किया है। आशय यह है कि—"गुरु कहते हैं कि मैं तुझे महत्त्वपूर्ण बात सुनाता हूँ इसलिए तू उसे सावधानीपूर्वक सुन। सूत्र में आया हुआ 'अत्तताए' शब्द भी सहेतुक है। उसका अर्थ यह है कि यह जीव स्वकृत कर्म के फल का भोग करने के लिए उत्पन्न होता है। इस कथन से ईश्वर-कर्तृत्व का और भूतवादी चार्वाकों के मत का खण्डन किया गया है। ईश्वर कर्तृवादी यह मानते हैं कि प्राणियों को जन्म देने वाला और मारने वाला—सृष्टि रचने वाला और प्रलय करने वाला ईश्वर है लेकिन यह मान्यता ठीक नहीं है। सूत्रकार कहते हैं कि जीव स्वयं अपने कर्म से उत्पन्न होता है। कर्तृत्ववाद का पहिले खण्डन किया जा चुका है। इसी तरह भूतवादी चार्वाक यह मानते हैं कि "आत्मा नामक कोई तत्त्व नहीं है। पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश ये पांच भूत जब शरीर रूप में परिणमते हैं तब जीव उसमें पैदा हो जाता है और जब ये पांचों भूत बिखर जाते हैं तब जीव मर जाता है। मर जाने पर उसका अभाव हो जाता है। मरने पर दूसरी गति में जाता है और पुनर्जन्म होता है यह ठीक नहीं।" चार्वाकों का यह कथन नितान्त भ्रमपूर्ण है। आत्मा का अस्तित्व और उसका भवान्तरगमन अन्यत्र सिद्ध कर दिया गया है। सूत्रकार कहते हैं कि अपने पूर्वकृत कर्मों का फल भोगने के लिए जीव जन्म धारण करता है। इससे पूर्वजन्म और पुनर्जन्म की सिद्धि होती है।

सूत्रकार ने "अभिसंभूया, अभिसंजाया, अभिनिव्वुडा" पद दिए हैं। टीकाकार ने इसका खुलासा इस प्रकार किया है। गर्भ में जीव की स्थिति इस प्रकार होती है:—

सप्ताहं कललं विद्यात्ततः सप्ताहमर्बुदम्।
अर्बुदाज्जायते पेशी पेशीतोऽपि घनं भवेत्॥

अर्थात्—माता-पिता का संयुक्त रज-वीर्य जब गर्भरूप में परिणमता है तब सात दिन तक वह कललरूप होता है। बाद के सात दिन तक अर्बुदरूप रहता है। अर्बुद से पेशी होती है और पेशी से घन होता है। (कलल, अर्बुद, पेशी आदि तरलता की तरतम अवस्था है) जहाँ तक गर्भस्थ जीव कललरूप होता है वहाँ तक अभिसंभूत, पेशीरूप तक अभिसंजात और हाथ-पांव आदि अवयव बनने पर अभिनिवृत्त कहलाता है।

इस समग्र सूत्र का आशय यह है कि त्यागमार्ग ही कर्मों से मुक्त होने का सर्वोत्तम उपाय है। त्याग से जीव फूल के समान लघुभूत हो जाता है। त्याग से जीव कर्मों का त्याग कर देता है। त्याग समझपूर्वक होना चाहिए यह बताने के लिए सूत्रकार ने "अभिसंबुद्धा" कहने के बाद "अभिनिक्कंता"

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

कहा है। योग्यतापूर्वक किया हुआ त्याग ही अन्त तक टिक सकता है। बिना समझे हुए, आवेशवश अथवा संयोगों से परवश बनकर लिया हुआ त्याग सच्चा त्याग नहीं है। त्याग का उद्देश्य निरासक्ति का है। रागद्वेष की परिणति से मुक्त होने के लिए—तत्प्रकार के पदार्थों से परे रहना त्याग है। त्याग के बाद अनासक्त अवस्था आनी चाहिए। अनासक्ति के लिए त्याग आवश्यक है। भोग के साधनों के बीच में रहते हुए निरासक्त रह सकना किसी उच्च भूमिका पर पहुँचे हुए व्यक्ति के लिए भले ही संभव है। सभी के लिए यह असंभव है। अतएव त्यागमार्ग का उपदेश दिया गया है। यह कर्मनिवारण का सरल उपाय है।

तं परिक्कमंतं परिदेवमाणा मा चयाहि इय ते वयंति–छंदोवणीया, अज्झोववन्ना अक्कंदकारी जणगा रुयंति, अतारिसे मुणी (ए य) ओहं तरए जणगा जेण विप्पजढा। सरणं तत्थ नो समेइ कहं नु नाम से तत्थ रमइ ? एयं नाणं सया समणुवासिज्जासि त्ति बेमि।

संस्कृतच्छाया—तं पराक्रममाणं परिदेवमानाः मा परित्यज इति ते वदन्ति, छंदोपनीताः अभ्युपपन्नाः, आक्रन्दकारिणो जनका रुदन्ति। न तादृशो मुनि ओघं तरति जनकाः येन अपोढाः, शरणं तत्र नो समेति कथन्नु नाम स तत्र रमते ? एतज्ज्ञानं सदा समनुवासयेरिति ब्रवीमि।

शब्दार्थ—परिक्कमन्तं=संयम अङ्गीकार करते समय। तं=उसको। ते जणगा=पिता आदि स्वजन। परिदेवमाणा=विलाप करते हुए। इय वयंति=इस प्रकार कहते हैं। छंदोवणीया=हम तेरे अभिप्राय के अनुसार करने वाले हैं—अज्झोववन्ना=तेरे साथ इतना प्रेम करते हैं। मा चयाहि=तू हमें मत छोड़। अक्कंदकारी=इस प्रकार आक्रन्दन करते हुए। रुयंति=रोते हैं–वे कहते हैं। जेण=जिसने। जणगा=अपने माता-पिताओं को। विप्पजढा=छोड़ दिये हैं। अतारिसे मुणी=वह मुनि नहीं कहा जाता। णय ओहं तरए=वह संसार को नहीं तैर सकता। तत्थ=ऐसे वचनों की। सरणं नो समेइ=शरण में नहीं जाता है। कहं नु नाम=कैसे। से=वह। तत्थ=संसार में। रमइ=रम सकता है। एयं नाणं=इस ज्ञान का। सया=हमेशा। समणुवासिज्जासि=पालन करना चाहिए। त्ति बेमि=ऐसा मैं कहता हूँ।

भावार्थ—जब वीर पराक्रमी पुरुष त्यागमार्ग पर जाने के लिए तैयार होते हैं तब उनके माता-पिता आदि स्वजन शोक करते हुए, आक्रन्दन करते हुए कहते हैं। हम तेरी इच्छानुसार चलने वाले और तुझ से इतना स्नेह रखते हैं इसलिए तू हमें मत छोड़। जो माता-पिता को छोड़ देता है वह आदर्श मुनि नहीं हो सकता और ऐसा मुनि संसार से पार नहीं हो सकता—ऐसे वचनों को सुनकर परिपक्व वैराग्य वाला साधक उनकी बात को नहीं स्वीकार करता है। (आत्मविकास की दृढ प्रतीति होने से) वह मोहजन्य संसार-सम्बन्ध में रम नहीं सकता है। इस ज्ञान की सदा उपासना करना सीखना चाहिए।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

विवेचन—जब सच्चा वीर व पराक्रमी साधक त्यागमार्ग स्वीकार करने के लिए तय्यार होता है तब उसकी सच्ची कसौटी होती है। सांसारिक सम्बन्ध से बंधे हुए उसके माता, पिता, स्त्री, पुत्र आदि विलाप करते हुए, करुण क्रन्दन करते हुए उसे इस प्रकार कहते हैं कि—हम तेरी इच्छानुसार चलते हैं तुझ से इतना प्रेम करते हैं तू हम सबको छिटका कर क्यों दीक्षा अङ्गीकार करता है? जो व्यक्ति अपने माता-पिता को छोड़ देता है—उनके कथन की अवगणना करता है वह सच्चा मुनि भी नहीं हो सकता है और संसार समुद्र को पार नहीं कर सकता। इसलिए तुम गृहस्थाश्रम में ही रहकर धर्मध्यान करो और दीक्षा अङ्गीकार मत करो। हमने तुम्हें पाल-पोस कर बड़ा किया है अब तुम हमें छोड़ते हो क्या यह धर्म कहा जा सकता है? इसलिए हमारे कथन को स्वीकार करके तुम गृहस्थाश्रम में रहो। ऐसे प्रलोभनात्मक वचनों को सुनकर सच्चा वैराग्य सम्पन्न त्यागमार्ग का पथिक विचलित नहीं हो सकता है। वह यह मानता है कि यह मोह और स्वार्थ-जन्य वचन हैं। जिस प्रकार वृक्ष के गिर जाने पर पक्षीगण क्रन्दन करते हैं, उनका क्रन्दन स्वार्थमय है इसी तरह स्वजनों का यह कथन भी स्वार्थप्रेरित है। स्वजनों का यह मोह है—वास्तविक प्रेम नहीं। मोह में विवेक नहीं होता वहाँ वासना का वास है। प्रेम में विवेक होता है, जागृति होती है, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का भान होता है। अगर स्वजनों के हृदय में मेरे प्रति प्रेम है तो वे मुझे मेरा कल्याण करते हुए नहीं रोक सकते। उनका रोकना ही उनके मोह को सूचित करता है। माता-पुत्र का, पिता-पुत्र का, पति-पत्नी का इत्यादि सम्बन्ध कर्त्तव्य-सम्बन्ध मात्र होने चाहिए। यह सम्बन्ध मोह-सम्बन्ध न होना चाहिए। मोह-सम्बन्ध पतन का कारण है। यह सोचकर वह सच्चा विरक्त आत्मा उनके वचनों में मुग्ध नहीं होता है। वह अपने स्वजनों के मोह को दूर करने की कोशिश करता है। उन्हें समझाता है। उन्हें प्रेम और मोह का भेद बताता है।

यहाँ एक प्रश्न हो सकता है कि माता-पिता आदि बड़ों की आज्ञा-पालन करना पुत्र का धर्म है। माता-पिता दीक्षा लेने से रोकते हैं तो पुत्र को उनकी आज्ञा माननी चाहिए या नहीं? इस प्रश्न का समाधान यह है कि बड़ों की वही आज्ञा मान्य करनी चाहिए जो कर्त्तव्यमार्ग में बाधक न हो। बड़े वही हैं जिन्हें अपने कर्त्तव्य का और दूसरे के कर्त्तव्य का बराबर ध्यान हो। अगर बड़े अपने कर्त्तव्य को चूकते हैं तो उनकी आज्ञा का भंग करने में दोष नहीं है। भक्त प्रह्लाद का पिता हिरण्यकशिपु भगवान् का द्रोही था। वह प्रह्लाद को ईश्वर का नाम न लेने की आज्ञा करता था लेकिन प्रह्लाद ने उसकी आज्ञा न मानी क्योंकि वह आज्ञा कर्त्तव्यमार्ग से भ्रष्ट करने वाली थी। इससे यह सिद्ध हुआ कि कर्त्तव्यमार्ग पर जाते हुए अगर कोई रोकता है तो उसकी आज्ञा न मानना ही धर्म है। माता-पिता अगर पुत्र की भावना और सच्चे वैराग्य को जानते हुए भी अपने स्वार्थ या मोह के कारण त्यागमार्ग स्वीकार करने से रोकते हैं तो वे अपने कर्त्तव्य से चूकते हैं। दीक्षार्थी का यह कर्त्तव्य है कि वह अपने त्याग और विरक्त भावना की छाप डालकर अपने माता-पिता को संतुष्ट करे और त्यागमार्ग अङ्गीकार करे। त्यागमार्ग स्वीकार करने वाले साधक के दिल में माता-पिता आदि स्वजनों के प्रति घृणा नहीं होती। घृणापूर्वक—आवेश के साथ लिया हुआ त्याग आवेश के कम होते ही विरम जाता है। सच्चे साधक को किसी के भी प्रति घृणा नहीं होती। वह तो मोह को जीतना चाहता है। वह प्रेम करता है—मोह नहीं। वह साधक मोहयुक्त संसार-सम्बन्ध का त्याग करना चाहता है। वह मोहमय संसार में नहीं फँस सकता है। उसे आत्मा के चैतन्य की झाँकी दिखाई देती है वह भला जड़ चीजों में कैसे मुग्ध हो सकता है? जिसे चिन्तामणि रत्न प्राप्त हो गया है वह भला कांच के टुकड़ों से कैसे लुब्ध-लुब्ध हो सकता है। वह आत्मस्वरूप में रमण करता है। ऐसा साधक त्याग-मार्ग की सम्यग् आराधना कर सकता है। वह मोह का विजेता बनकर मुक्ति प्राप्त करता है। त्याग ही

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

मोक्ष का सर्व श्रेष्ठ और सरल उपाय है। इसकी विवेकपूर्वक आराधना करनी चाहिए।

—उपसंहार—

आत्मा के संशोधन के लिए और त्यागमार्ग की साधना के लिए पूर्वग्रहों का त्याग अनिवार्य है। पूर्वग्रहों के त्याग के बिना हृदयशुद्धि नहीं होती। हृदयशुद्धि हुए बिना त्याग और संयम के प्रति प्रेम, उत्साह और स्फुरणा नहीं हो सकती। जो कुछ दुख, व्याधि और संकट आते हैं इसका कारण अपने स्वयं के कर्म ही हैं। दुख को भोगे बिना छुटकारा नहीं अतएव धैर्य से सहन करना चाहिए और भावी जीवन की शुद्धि के लिए वर्त्तमान के सुधार पर लक्ष्य देना चाहिए।

नश्वर शरीर और अन्य पदार्थों की आसक्ति के कारण जीव, जीव का भक्षक हो रहा है इसलिए संसार का वातावरण भय से भरा हुआ है। सब प्राणी आकुल-व्याकुल हो रहे हैं। इस अवस्था से बचने के लिए अहिंसा का अवलम्बन लेना चाहिए। अहिंसा भगवती की आराधना से जीव, जीव का भक्षक न होकर रक्षक हो जाता है। इससे भय का नाश होकर सर्वत्र अभय व्याप्त हो सकता है। निर्भय बनने और दूसरों को निर्भय बनाने के लिए अहिंसा की आराधना करनी चाहिए। यही कर्म-धुनन का मार्ग है।

इति प्रथमोद्देशकः

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

धूत नाम षष्ठ अध्ययन

—द्वितीयोद्देशकः—

प्रथम उद्देशक में कर्म-विपाक बताकर कर्म-रहित बनने के लिए गृहस्थाश्रम का त्याग करके प्रव्रजित होने का कहा गया है। प्रव्रज्या भी तभी सफल होती है जब कर्म-धुनन के लिए सतत जागृत रहा जाय। पूर्वग्रहों का त्याग और प्रव्रज्या-स्वीकार शक्ति के जागृत हुए बिना नहीं हो सकते। इसका कारण यह है कि अनन्त भवों के अभ्यास से जीव की परिणति जड़ पदार्थ की ओर अधिक रही है इस कारण जड़ में जैसे स्थिति-स्थापक अवस्था है वैसी ही स्थिति-स्थापक अवस्था जीव में पैदा हो गयी है। इसका नतीजा यह हुआ कि जीव में नवीन मार्ग, नवीन विचार और नवीन अन्वेषण के प्रति उत्साह नहीं रहा और वह अपनी जैसी अच्छी-बुरी अवस्था में है उसी में पड़े रहने से संतोष मान लेता है। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय यावत् तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय और असंज्ञी मनुष्य आदि के भवों में तो नवीन कुछ कर सकने का वातावरण नहीं होता और ऐसा करने की शक्ति भी नहीं होती लेकिन यह वर्त्तमान-प्राप्त मानव-देह और आर्य क्षेत्र तो ऐसे अनुकूल संयोग हैं कि जीव नवीन सर्जन कर सकता है। ऐसी बुद्धि और ऐसे ही पुरुषार्थ के लिए साधन सामग्री उसे प्राप्त हुई है। परन्तु स्थिति-स्थापकता के रूढ संस्कारों के कारण मानवसमुदाय का एक बड़ा भाग इसका लाभ नहीं उठाता है। वह जैसे कुल में, जैसी स्थिति में और जिस धर्म में जन्म लेता है उसी में रहकर परम्परागत संस्कारों के अनुसार अपना जीवन व्यतीत करता है। कुछ नवीन करने की तमन्ना उसमें नहीं होती। साधक को त्यागमार्ग में आने की भावना तभी होती है जब वह यह समझता है कि दुनियाँ जो चाह रही है और कर रही है उससे मुझे कुछ नवीत करना है। वह अपनी विवेक-बुद्धि के अनुसार विचार करके त्यागमार्ग में जुड़ जाता है। त्यागमार्ग में आ जाने के बाद कैसा वर्ताव रखना चाहिए यह सूत्रकार इस उद्देशक में बताते हुए फरमाते हैं:—

आउरं लोगमायाए चइत्ता पुव्वसंजोगं हिच्चा उवसमं वसित्ता बंभचेरंसि वसु वा अणुवसु वा जाणित्तु धम्मं अहातहा अहेगे तमचाइ कुसीला वत्थं पडिग्गहं कंबलं पायपुंछणं विउसिज्जा, अणुपुव्वेण अणहियासेमाणा परीसहे दुरहियासए, कामे ममायमाणस्स इयाणिं मुहुत्तेण वा अपरिमाणाए भेए, एवं से अंतराएहिं कामेहिं आकेवलिएहिं अवइन्ना चेए।

संस्कृतच्छाया—*आतुरं लोकमादाय त्यक्त्वा पूर्वसंयोगं हित्वा उपशमं, उषित्वा ब्रह्मचर्ये वसुर्वा अनुवसुर्वा ज्ञात्वा धर्मं यथातथा अथैके तं पालयितुं न शक्नुवन्ति कुशीलाः, वस्त्रं पतद्ग्रहं, कम्बलं, पादपुञ्छनकं*

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

व्युत्सृज्य, अनुपूर्वेण अनधिसहमानाः परीषहान् दुरधिसहनीयान्, कामान्, ममायमाणस्स इदानी मुहूर्तेण वा अपरिमाणाय भेदः एवं सः आन्तरायिकैः कामैः आकेवलिकैः अवतृप्तश्चेते ।

शब्दार्थ—लोगं=संसार को । आउरं=आतुर । आयाए=जानकर । पुव्वसंजोगं=पूर्व-संयोग को । चइत्ता=त्याग कर । उवसमं=उपशम । हित्वा=धारण कर । बंभचेरं=ब्रह्मचर्य में । वसित्ता=रहकर । वसु वा=साधु अथवा । अणुवसु वा=गृहस्थ श्रावक । अहातहा=यथातथ्य । धम्मं=धर्म को जानकर । अहेगे=तदनन्तर कोई । कुसीला=धर्मपालन में अशक्त, कुशील । तमचाइ=उस धर्म का पालन नहीं कर सकते हैं । दुरहियासए=असह्य । परीसहे=परीषहों को । अणुपुव्वेण=क्रमशः । अणहियासेमाणे=नहीं सहन करते हुए । वत्थं=वस्त्र । पडिग्गहं=पात्र । कंबलं=कम्बल । पायपुञ्छणं=रजोहरण को । विउसिज्जा=छोड़कर । कामे=भोगों की । ममायमाणस्स=इच्छा करके स्वीकारते हुए के । इयाणिं=अभी । मुहुत्तेण वा=अथवा थोड़े समय बाद । अपरिमाणाए=अनन्तकाल के लिए । भेए=शरीर का भेद हो जाता है (पंचेन्द्रियत्व का भेद) एवं=इस प्रकार । से=वह भोगाभिलाषी । अंतराएहिं=विघ्न से भरपूर । आकेवलिएहिं=अतृप्तिकारक । कामेहिं=कामभोग के कारण । एते=ये । अवइज्झा=संसार में भटकते रहते हैं ।

भावार्थ—इस संसार को दुखमय जानकर, माता-पिता आदि स्नेहीजनों के पूर्वसंयोग (मोहमय सम्बन्ध) को छोड़कर, उपशम भाव धारण करके, ब्रह्मचर्य पूर्वक रहते हुए कितनेक (निरागी या सरागी) साधक मोह का उदय होने से सदाचार को छोड़ देते हैं और असह्य परीषहों को अनुक्रम से सहने में असमर्थ होते हुए वस्त्र, पात्र, कम्बल, रजोहरण आदि मुनिलिंग का त्याग करके भ्रष्ट होकर कामभोगों में अत्यन्त आसक्त होते हैं । परन्तु थोड़े ही समय में इस क्षणभंगुर शरीर से अलग होने पर ऐसे कामियों को अनन्तकाल तक यह पंचेन्द्रियत्वादि सामग्री मिलना कठिन हो जाता है । इस तरह वे बेचारे दुखमय कामभोगों से अतृप्त रहकर संसार में भटकते रहने वाले हैं ।

विवेचन—शास्त्रकार फरमाते हैं कि केवल साधना के मार्ग में जुड़ जाने से काम नहीं समाप्त हो जाता है । साधना के स्वीकार के बाद पल-पल पर वृत्तियों और विकल्पों से सावधान रहना चाहिए । बहुत से साधक यह बात बिल्कुल भूल जाते हैं । साधना के पहिले उनमें जो तत्त्व-जिज्ञासा, पुरुषार्थ-वृत्ति और जागरूकता होती है वह धीरे-धीरे कम होती जाती है । जैसे-जैसे साधक शिथिल होता है त्यों-त्यों पूर्व सम्बन्ध और पूर्व के विषयों की वासना का जहर उस पर असर करता जाता है । ऐसे समय में साधक जागृत होने के बजाय विशेष प्रमादी बन जाता है और वह आन्तरिक पतन का मार्ग खोल देता है और ऊपर से संयम और त्याग का आडम्बर प्रदर्शित करता है । ऐसा साधक भले ही अन्य की दृष्टि में त्यागी और वीर समझा जाता हो लेकिन वास्तविक दृष्टि से वह कायर और पामर बनता जाता है और भयंकर पतन के मुख में गिर जाता है इसलिए साधना का मार्ग स्वीकार करने पर दृढ़ता का बख्तर धारण करना चाहिए । वृत्तियों के द्वन्द्व युद्ध में दृढ़ता रूपी कवच की अनिवार्य आवश्यकता है ।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

जो योद्धा यह कवच धारण नहीं करता वह शत्रुओं के बाणों से बिंधकर नष्ट हो जाता है।

सूत्रकार यही फरमाते हैं कि साधक प्रथम तो संसार के मनुष्यों को कामातुर और दुखातुर जानकर माता-पिता आदि के पूर्वसंयोग को त्याग कर, शान्ति पाने के लिए साधना के मार्ग में प्रवेश करके ब्रह्मचर्य का अनुष्ठान करते हैं परन्तु मोह का उदय होने से वे कायर बनकर सदाचार को छोड़ देते हैं। प्रथम साधना स्वीकार करते समय उनकी आत्मा जागृत और दृढ़ होती है जो चित्त-वृत्तियों को दबा देती है लेकिन बाद में जागृति कम हो जाय तो दबी हुई वृत्तियों को वेग मिलता है और वे विद्रोह कर उठती हैं जिससे साधक पतित हो जाता है। यहाँ पूर्वाध्यासों की प्रबलता का सूचन करके सतत जागृत रहने का उपदेश दिया गया है।

सूत्र में आये हुए "वसु" और "अणुवसु" शब्द विचारणीय हैं। वसु का अर्थ है द्रव्य। संयम रूपी द्रव्य यहाँ विवक्षित है। वस्तु और तत्स्वामी के अभेद की अपेक्षा वसु का अर्थ है संयमी। अणु का अर्थ है छोटा। अर्थात्-देशअंश रूप से जो संयमी है वह अणुवसु। इसके अनुसार यह सूत्र गृहस्थ साधक, त्यागी साधक दोनों के लिए लागू होता है। गृहस्थ साधकों और त्यागी साधकों का उद्देश्य एक ही होता है। इनमें इतना अन्तर है कि गृहस्थों का त्याग, शक्ति की अल्पता से मर्यादित होता है और त्यागी साधकों का त्याग शक्ति की विशेषता से पूर्ण त्याग होता है।

ऐसा होते हुए भी जब "पुत्रादि के सम्बन्ध को छोड़ कर" यह पद सामने आता है तब यह संदेह होता है कि यह बात गृहस्थों के लिए कैसे घट सकती है? इसका समाधान यह है कि इस पद का अर्थ गृहस्थ साधकों के पक्ष में यह करना चाहिए कि माता, पिता, पुत्र आदि के पूर्व के मोह-सम्बन्ध को छोड़कर सद्धर्म अङ्गीकार करते हैं। यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि मोह सम्बन्ध और कर्त्तव्य सम्बन्ध भिन्न-भिन्न वस्तु हैं। मोह-सम्बन्ध अनिष्टकारक है अतएव गृहस्थ साधक मोह सम्बन्ध को छोड़ता है। कर्त्तव्य सम्बन्ध साधना के मार्ग में विशेष बाधक नहीं होता। गृहस्थ का त्याग मर्यादित होता है अतएव कर्त्तव्य-सम्बन्ध उसमें बाधा उपस्थित नहीं करता। गृहस्थ अगर सम्बन्धियों में मोह-सम्बन्ध रखता है तो वह श्रावक धर्म का पालन नहीं कर सकता। अतएव मोह-सम्बन्ध का त्याग करने का कहा गया है। आज-कल बहुत से लोग स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध अर्थात्-केवल शरीरभोग सम्बन्ध समझते हैं और माता-पिता और पुत्र का सम्बन्ध भरणपोषण करने का ही समझते हैं लेकिन वस्तुतः यह सम्बन्ध स्वार्थी और मोहजन्य है। गृहस्थ को भी श्रावकधर्म स्वीकार करने के पहले इस मोह-सम्बन्ध का त्याग करना चाहिए।

टीकाकार ने "वसु अणुवसु" का अर्थ करते हुए यह लिखा है:—

वसु-द्रव्यं तद्भूतः—कषाय कालिकादिमलापगमाद्वीतरागः इत्यर्थः' तद्विपर्ययेणानुवसु सराग इत्यर्थः, यदि वा वसुः-साधुः अनुवसुः श्रावकः।

अर्थात्-वसु का अर्थ रागरहित और अनुवसु का अर्थ रागसहित अथवा वसु यानी साधु और अनुवसु यानी श्रावक। टीकाकार ने इसके प्रमाण में यह श्लोक लिखा है—

वीतरागो वसुर्ज्ञेयो जिनो वा संयतोऽथवा।
सरागो ह्यनुवसुः प्रोक्तः स्थविरः श्रावकोऽपि वा॥

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

इस श्लोक में वीतराग, जिन और संयत को वसु तथा सरागी स्थविर और श्रावक को अनुवसु कहा गया है। इस पर से यह स्पष्ट हो जाता है कि साधना का मार्ग त्यागी और गृहस्थ दोनों प्रकार के साधकों के लिए खुला हुआ है। "आगारधम्मे" और "अणगारधम्मे" का भी यही प्रयोजन है।

सूत्रकार यहाँ यह कह रहे हैं कि पहले जागृत होकर त्याग करने पर भी जब विचारों और परिणामों में शिथिलता आ जाती है तो साधक अपने त्याग के उद्देश्य को भूलकर पूर्व आवेशों के वश में होकर साधना का मार्ग छोड़ देते हैं। कोटिभव दुर्लभ मनुष्य-जन्म को प्राप्त कर, संसार रूपी समुद्र को तैरने के लिए अलभ्य सम्यक्त्व रूपी नाव को पाकर और मोक्षरूपी तरु के लिए बीजभूत चारित्र को प्राप्त करके, मोह के उदय से कार्याकार्य का विचार न करके, भोगों में चित्तवृत्ति को लगाकर इन्द्रियों की लोलुपता से और अनेक भव के अभ्यास से विषयों को मधुर जानकर कई साधक साधना के मार्ग से भ्रष्ट हो जाते हैं। पतन के दो मुख्य कारण हैं—(१) त्याग के उद्देश्य का विस्मरण और (२) पूर्वाभ्यासों के वेग को जीतने की दृढ़ता का अभाव। साधक यह भूल जाता है कि मैंने किस आशय से त्याग किया है और मैंने क्या त्याग किया है।

त्याग का आशय भूला दिया जाने से साधक त्याग का अर्थ पदार्थ का त्याग करने लगता है और अन्दर ही अन्दर पदार्थ के प्रति मोह करने लगता है। वास्तविक त्याग तो पदार्थ या विषयों के प्रति मोह को दूर करना है। यह भूलकर जब साधक अन्दर ही अन्दर पदार्थों और विषयों से मोह करने लगता है तो वह मोह दम्भ और आडम्बर का सेवन कराता है। आखिर परिणाम यह होता है कि वह भोग में आसक्त हो जाता है और भोगों में सुख है यह पूर्वसंस्कार प्रबल हो जाते हैं। दोनों कारणों से वह संयम के उपकरण वस्त्र, पात्र, कम्बल रजोहरण आदि छोड़कर पतित हो जाता है। संयम के मार्ग में आने वाले परीषहों को नहीं सह सकने के कारण और मोह से परवश होकर मोक्षमार्ग का त्याग कर देते हैं। भोगों में आसक्ति के कारण वह साधक त्यागमार्ग छोड़ देता है लेकिन उसकी गति "उभयतो भ्रष्टः" वाली होती है। त्यागमार्ग छोड़ देने पर उसकी आसक्ति और प्रबल हो जाती है और वह भोगों में तल्लालीन हो जाता है। इसका परिणाम यह आता है कि अति आसक्ति के कारण वह न तो भोग का आनन्द उठा सकता है क्योंकि अतृप्ति बनी रहती है और त्यागी तो वह रहता ही नहीं है। इसके लिए कुण्डरीक का उदाहरण दृष्टि के सामने रखना चाहिए। कुण्डरीक ने प्रथम प्रव्रज्या अंगीकार की और मोह के उदय से और पूर्व भोगे हुए कामभोगों के स्मरण से वह एकदम विचलित हो गया और अपने भाई पुण्डरीक नृप के पास आया और उससे पुनः राज्य और भोगसामग्री की याचना की। पुण्डरीक ने अपने भाई को स्थिर करने का प्रयत्न किया लेकिन कुण्डरीक अत्यन्त मोह में फँस चुका था। आखिर पुण्डरीक ने त्यागमार्ग स्वीकारा और कुण्डरीक को राज्य सौंपा। पुनः राज्य और भोग की सामग्री प्राप्त करके कुण्डरीक इतना गृद्ध हो गया कि एक अहोरात्रि में ही कामवासना से अतृप्त होकर नरक का अतिथि बना। यह औदारिक देह आगे पीछे नष्ट होने वाली है इसका विचार न करके प्राणी भोगों में आसक्ति करता है और शरीर-भेद को प्राप्त करता है। भोगों में अत्यन्त आसक्ति आयुष्य को क्षीण करने वाली है। सूत्रकार ने "अपरिमाणाए भेदे" (अनन्तकाल के लिए भेद हो जाता है) यह कहके यह सूचित किया है कि ऐसे भोगों में गृद्ध बने हुए प्राणी इस नर-देह को छोड़कर पुनः अनन्तकाल तक इस देह को नहीं पाते हैं। वे अन्य नीच गतियों में भटकते रहते हैं। अनन्तकाल तक वे सुरदुर्लभ मानवदेह से वञ्चित रहते हैं। यहाँ तक कि पंचेन्द्रियत्व की प्राप्ति उन्हें अनन्तकाल तक नहीं होती। आगे सूत्रकार यह प्रतिपादन करते हैं कि भोग भोगने से कभी शांत नहीं होते। ज्यों ज्यों भोग भोगे जाते हैं त्यों त्यों भोगेच्छा बढ़ती जाती है। भोग नहीं भोगे जाते

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

लेकिन वे भोगियों को भोग लेते हैं। कहा है—"भोगा न भुक्ताः वयमेव भुक्ताः।" जिस तरह अग्नि में घी डालने से अग्नि शान्त नहीं हो सकती उसी तरह भोग भोगने से शान्त नहीं हो सकते। इसलिए भोगी प्राणी भोगों से अतृप्त होकर ही मृत्यु को प्राप्त करते हैं। उनकी स्थिति "इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः" वाली हो जाती है। इसलिए सूत्रकार यह फरमाते हैं कि पूर्वाध्यासों के वश में नहीं होना चाहिए। साधकों को अपनी ली हुई प्रतिज्ञा का व अपने त्याग के उद्देश्य का बराबर ध्यान रखना चाहिए और प्राणान्त तक अपनी ली हुई प्रतिज्ञा पर अविचल टिके रहने का दृढ़ संकल्प करना चाहिए।

अहेगे धम्ममादाय आयाणप्पभिइसु पणिहिए चरे, अप्पलीयमाणे दढे सव्वं गिद्धिं परिन्नाय एस पणए महामुणी, अइअच्च सव्वओ संगं न महं अत्थि त्ति इय एगो अहं, अस्सिं जयमाणे इत्थ विरए अणगारे सव्वओ मुण्डे रीयंते, जे अचेले परिवुसिए संचिक्खइ ओमोयरियाए।

संस्कृतच्छाया—*अथैके धर्ममादाय आदानप्रभृतिषु प्रणिहिताश्चरेयुः अप्रलीयमाना दृढाः, सर्वां गृद्धिं परिज्ञाय एषः प्रणतः महामुनिः, अतिगत्य सर्वतः सङ्गं न ममास्ति इति इह एकोऽहं अस्मिन्यतमानः, अत्र विरतः अनगारः सर्वतो मुण्डो रीयमाणः यः अचेलः पर्युषितः संतिष्ठतेऽवमौदर्ये।*

शब्दार्थ—अहेगे=कितनेक साधक। धम्मं=धर्म को। आदाय=स्वीकार करके। आयाणप्पभइसु=धर्मकरण में अथवा दीक्षा के प्रारम्भ से ही। पणिहिए=सावधान होकर। अप-लीयमाणे=प्रपञ्च में नहीं फँसते हुए। दढे=दृढ़ होकर। चरे=धर्म का पालन करते हैं। सव्वं=सब। गिद्धिं=आसक्ति को। परिन्नाय=जानकर व छोड़कर। पणए=संयम में रत रहते हैं। एस=वह। महामुणी=महा मुनि हैं। सव्वओ=सब तरह से। संगं=प्रपञ्च को। अइअच्च=छोड़कर। न महं अत्थि=मेरा कोई नहीं है। इय एगो अहं=मैं अकेला हूँ यह विचार कर। अस्सिं=इस प्रवचन में। विरए=सावद्य अनुष्ठान से विरत होकर। जयमाणे=दश प्रकार की समाचारी में यतना करते हुए। अणगारे=अनगार। सव्वओ मुण्डे=द्रव्यभाव से मुण्डित होकर। रीयंते=संयम में विचरते हुए। जे अचेले=जो अचेल होकर। परिवुसिए=संयम में उद्यतविहारी हो। ओमोयरियाए=मिताहारी। संचिक्खइ=रहते हैं।

भावार्थ—कितनेक भव्यपुरुष धर्म को प्राप्त करके त्याग अंगीकार करके प्रथम ही से धर्मकरण में सावधान रहकर किसी प्रकार के प्रपंच में नहीं फँसते हुए व्रत में दृढ रहकर धर्म का पालन करते हैं। जो पुरुष सभी तरह की आसक्ति को दुखमय जानकर उससे दूर रहते हैं वे ही संयमी महामुनि हैं। इसलिए साधक सभी प्रपचों को दूर करके "मेरा कोई नहीं है और मैं अकेला हूँ" यह एकान्त भावना रखकर पापक्रिया से निवृत्त होकर संयम में उपयोगपूर्वक यत्न करते हुए सब प्रकार से मुंडित होकर

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

अचेल (वस्त्रादि में अपरिग्रही) हो संयम में उत्साहयुक्त रहकर परिमित आहार लेकर सहज तपश्चरण करता रहे ।

विवेचन—पूर्वसूत्र में प्रमत्त साधु के पतन का वर्णन किया गया है। अब इस सूत्र में अप्रमत्त अनगार की सम्यग् रूप से संयम की साधना होती है यह बताते हैं। सूत्रकार यह फरमाते हैं कि जो साधक प्रव्रज्या अङ्गीकार करते समय से ही जागृत रहते हैं वे ही अन्त तक संयम का पालन करके संसार-समुद्र से पार होते हैं। जो साधक विशुद्ध परिणाम रखते हुए वस्त्रपात्रादि उपकरणों को स्वीकार करके धर्मकरण में सावधान रहते हैं, परीषहों को सहन करते हैं वे सर्वज्ञोपदिष्ट धर्म का पालन करते हैं। जो साधक भोगों में लीन नहीं होता है, भोगों की इच्छा तक नहीं करता है वह संयम में दृढ़ रहता है। काम-विकार को जीते बिना संयम साध्य नहीं है। यह समझ कर जो साधक भोगवासना की इच्छा का क्षय करता है वह साधना में स्थिर रहकर निरासक्ति को अपने जीवन में उतारता है।

सभी दुखों का मूल आसक्ति है। आसक्ति को छोड़कर निरासक्ति प्राप्त करनी चाहिए। ज्यों-ज्यों आसक्ति जाती है त्यों-त्यों दुख हटता जाता है और सुख प्रकट हो जाता है। जो आसक्ति के अनिष्ट परिणाम को जानकर उससे दूर रहता है वही साधक सच्चा संयमी और महामुनि है यह कहकर सूत्रकार यह सूचित करते हैं कि जैनदर्शन गुण की पूजा में मानता है। वह व्यक्ति-पूजा को महत्व नहीं देता है। वह वेश को, बाह्य क्रिया-काण्ड को महत्व नहीं देता है। जो साधक जितने अंश में निरासक्त रहता है और गुणों की आराधना करता है वह उतना ही पूज्य है और महत्वशाली है। इसका अर्थ कोई यह न समझ ले कि क्रिया अनावश्यक है। क्रिया की अनुपयोगिता समझ कर कोई क्रिया-शून्य बनने की मूर्खता न कर बैठे इसलिए सूत्रकार यहाँ चार रचनात्मक उपाय बताते हैं जिनसे त्याग की आराधना होती है। वे चार उपाय ये हैं:

(१) एकान्त भावना—साधक को यह भावना करनी चाहिए कि संसार में मेरा कोई नहीं है; मैं अकेला हूँ। इस प्रकार एकान्त भावना से साधक का मोह क्षीण होता है। स्वजनों और कुटुम्बियों के प्रति मोह-सम्बन्ध के संस्कार जागृत नहीं हो सकते हैं। इससे साधक को साधना के मार्ग में प्रबल पुरुषार्थ के लिए प्रेरणा मिलती है। साधक को यह आत्मनिर्भरता आ जाती है कि मैं ही मेरा उद्धार-कर्त्ता हूँ। मोह-सम्बन्ध के क्षय के लिए और आत्मनिर्भरता के लिए साधक को एकत्व भावना का चिन्तन करना चाहिए। यह प्रथम रचनात्मक कार्य है जो साधक को साधना में दृढ़ करता है।

(२) उपयोगमय जीवन—साधक की प्रत्येक क्रिया ध्येय-युक्त होनी चाहिए। साधक का ध्येय मोक्ष-प्राप्ति का है। जो क्रिया मोक्षमार्ग की साधिका हो वही क्रिया साधक करता है। अर्थात्-साधक मोक्षमार्ग के अनुकूल क्रियाएँ ही करता है। जो क्रिया मोक्षमार्ग में बाधक है ऐसी कोई क्रिया वह नहीं करता। एकान्त मोक्षाभिलाषा से ही उसकी प्रत्येक क्रिया होनी चाहिए। साधक अपनी क्रियाओं में सदा उपयोगशील होता है। जो साधक उपयोगपूर्वक क्रिया करता है वह साधना में दृढ़ बना रहता है। उपयोग ही धर्म है। पापक्रिया का कारण अनुपयोग दशा है। उसका त्याग कर उपयोगमय जीवन बिताना चाहिए।

(३) वैराग्य भावना—साधक को वैराग्यभाव धारण करना चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि उसे विरक्त-अनासक्त होना चाहिए। किसी भी पदार्थ में या सम्बन्ध में उसे राग-स्थापन न करना

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

चाहिए। जहाँ राग है वहाँ द्वेष है और इस तरह पाप—परम्परा वहाँ विद्यमान है। अतएव साधक को विरक्तभाव रखने चाहिए। विरक्त आत्मा सब तरह की पापक्रिया से निवृत्त होता है। वह पर पीड़ाकारी कोई क्रिया नहीं करता है। वह पदार्थों का उपयोग करता है—उपभोग नहीं करता। पदार्थों के उपभोग में राग—आसक्ति होती है। साधक को राग का नाश करना है अतएव वह प्रत्येक पदार्थ का उपयोगमात्र करता है। साधक को निरन्तर इस भावना का चिन्तन करते रहना चाहिए। यह भावना संयम में दृढ़ता उत्पन्न करती है।

(४) द्रव्यभाव अचेलकता अथवा मुण्डन—साधक द्रव्य से अचेल और द्रव्य से मुण्डित होता ही है लेकिन भाव से अचेल और भाव से मुण्डित होना उतना ही आवश्यक है। साधक अत्यन्त अल्प वस्त्र धारण करता है तदपि वस्त्रों में तो क्या शरीर तक में उसका मोह नहीं होना चाहिए। वस्त्र होते हुए भी निर्मोह अवस्था से साधक अचेल ही होता है। यह तो हुई द्रव्य अचेलकता की व्याख्या। अपनी वृत्तियों को नहीं छिपाते हुए उन्हें असली रूप में प्रकट करना वृत्ति की अचेलकता है। यही भाव अचेलकता है। इसका तात्पर्य यह है कि बाह्य आडम्बर और बाह्य लोक की प्रशंसा प्राप्त करने के लिए अपनी वृत्तियों को बनावटी रूप से प्रदर्शित करना साधक का कर्त्तव्य नहीं है। यह लोकैषणा दंभ और पाखण्ड का पोषण करती हुई आत्मा को मलिन बनाती है। साधक का तो यह फर्ज है कि अपनी वृत्ति जिस स्वरूप में है उसी रूप में शुद्ध हृदय से जगत् के सामने रक्खे। उसमें आडम्बर को स्थान न होना चाहिए। इस तरह साधक द्रव्य एवं भाव से अचेलक रहे। साथ ही साधक सिर के बालों को निकाल कर मुण्डित बने। इससे शरीर की सुन्दरता के प्रति निरपेक्षता सूचित की है। साधक अपने शरीर पर मोह नहीं रखता अतएव शरीर की सुन्दरता से उसे कोई प्रयोजन नहीं है अतएव वह द्रव्य से मुण्डन करता है। साथ ही भावमुण्डन विशेष आवश्यक है। वृत्तियों पर रहे हुए मलिन संस्कारों को निकाल देना भावमुण्डन है। जब तक साधक को अपने दोषों का भान न हो वहाँ तक वह दोषों को दूर नहीं कर सकता है। भावमुण्डन की क्रिया अति आवश्यक है। इसके अभाव में बहुत से साधक अपनी वृत्तियों को दंभ और आडम्बर से सजाकर जगत् के सामने रखते हैं। इससे लोग आकर्षित होते हैं। साधक को मान, प्रतिष्ठा और पूजा मिलती है परन्तु इससे साधक की आत्मा का हनन होता है। अतएव साधक को चाहिए कि वह दंभ के आवरण को चीर कर फेंक दे।

ये चार रचनात्मक उपाय साधक को साधना में स्थिर करने वाले और दृढ़ता देने वाले हैं। सूत्रकार ने ऊनोदरी—परिमिताहार करने की सूचना की है। इसका कारण यह है कि आहार और संयम का बहुत कुछ सम्बन्ध है। आहार भी संयम के ऊपर असर डालता है। त्यागियों का आहार और भोगियों का आहार भिन्न भिन्न होना चाहिए। साधक को परिमित आहार करना चाहिए और वह भी आहार सात्विक होना चाहिए। जो आहार वृत्तियों को उत्तेजित करने वाला हो ऐसा—राजसी और तामसी-आहार से साधक को बचना चाहिए। इस तरह इस सूत्र में साधना में दृढ़ रहने के उपायों का दिग्दर्शन कराया गया है। उन पर साधक को अमल करना चाहिए।

से आकुट्टे वा हए वा लुंचिए वा पलियं पकत्थ अदुवा पकत्थ अतहेहिं सद्दफासेहिं इय संखाए एगयरे अन्नयरे अभिन्नाय तितिक्खमाणे परिव्वए

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

जे य हिरी जे य अहिरिमाणा । चिच्चा सव्वं विसुत्तियं फासे समियदंसणे एए भो णगिणा वुत्ता जे लोगंसि अणागमणधम्मिणो ।

संस्कृतच्छाया—*स आकुष्टो वा हतो वा लुञ्चितो वा पलिअं (कम) प्रकथ्य अथवा प्रकथ्यातथैः शब्दस्पर्शैश्चेति सङ्ख्याय एकतरान् अन्यतरान् अभिज्ञाय तितिक्षमाणः परिव्रजेत ये च हारिणो ये च अहारिणः । त्यक्त्वा सर्वां विस्रोतसिकां स्पर्शान् स्पृशेत् समितदर्शनः, भो एते नग्ना उक्ता ये लोके अनागमनधर्माणः ।*

शब्दार्थ—पलियं=प्रथम के निन्दित कामों को उद्देश्य करके । पकत्थ=निन्दा करके । अदुवा=अथवा । अतहेहिं=असत्य । सद्दफासेहिं=शब्दों और दुखों द्वारा । आकुट्ठे=वचन द्वारा आक्रोश किये जाने पर । हए वा=अथवा मारे जाने पर । लुञ्चिए वा=अथवा बाल खींचे जाने पर । इय=यह मेरे स्वकृत कर्म का फल है यह । संखाए=यह विचार कर । एगयरे=अनुकूल । अन्नयरे=प्रतिकूल । जे य हिरी=जो मन को लुभाने वाले । जे य अहिरिमाणा=जो मन को अनिष्ट लगने वाले परीषह हैं उन्हें । अभिन्नाय=जानकर । तितिक्खमाणे=भलीभांति सहन करते हुए । परिव्वए=संयम में विचरे । सव्वं=सब प्रकार की । विसुत्तियं=परीषहजन्य ग्लानि को । चिच्चा=दूर करके । समियदंसणे=सम्यग्दृष्टि । फासे=परीषहों को सहन करे । जे=जो । लोगंसि=लोक में । अणागमदंसिणो=गृहवास में पुनः नहीं फँसते हैं । एए=वे ही । भो=हे शिष्य । नगिणा=मुनि । वुत्ता=कहे गए हैं ।

भावार्थ—कदाचित् कोई पुरुष मुनि की उसके पहिले के किए हुए निन्दित कामों को लक्ष्य करके अथवा चाहे जैसे असभ्य शब्द बोलकर मिथ्या आरोप द्वारा निन्दा करने लगे अथवा मुनि के अंगों पर प्रहार करे अथवा बाल खींचे तब मुनि उसे अपने किए हुए कर्मों का फल उदय में आया हुआ जानकर ऐसे प्रतिकूल और अनुकूल मनोहारी और अनिष्ट परीषहों को भलीभांति सहन करे । परीषह जन्य ग्लानि को दूर करके शुद्ध श्रद्धा रखते हुए उपसर्ग व परीषहों को सहन करे । जो व्यक्ति गृहवास का त्याग करके पुनः उसमें नहीं फँसते हैं वे ही सच्चे मुनि हैं ।

विवेचन—प्रकृतसूत्र में ग्राम-कण्टकों को सहन करने का उपदेश दिया गया है । साधना के मार्ग में परीषह और उपसर्ग रूप संकट उपस्थित होते हैं । बहुत से साधक परीषह और उपसर्गों से व्याकुल होकर साधना का मार्ग छोड़ देते हैं । ऐसे व्यक्तियों को स्थिर एवं अविचल बनाने के लिए सूत्रकार यहाँ फरमाते हैं कि कदाचित् संयमी साधकों को कोई असंस्कारी पुरुष उपसर्ग दे—उनकी निन्दा करे, गाली दे, मारे तो भी साधकों को चाहिए कि उसे समभाव से सहन करें । परीषहों को अपने कर्म का उदय जानकर सहन करें । परीषह का अर्थ है स्वेच्छा से स्वजन्य और परजन्य कष्ट का होना जबकि उपसर्ग का अर्थ है अन्य द्वारा होने वाले कष्ट । ये दोनों प्रकार के संकट संयम के मार्ग में उपस्थित होते हैं ।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

संयमी साधक देश-विदेशों में विहार करते हैं। उनके जीवन में ऐसे भी प्रसंग उपस्थित होते हैं जब कि दूसरे लोग उनकी निन्दा करते हैं। उन पर क्रोध करते हैं। संयम स्वीकार करने के पहिले के दोषों को कह कह कर साधु की भर्त्सना करने वाले व्यक्ति मिलते हैं। कोई साधु को देखकर यह कहते हैं कि "यह तो धूर्त है, ठग है, बहुरूपिया है, चोर है, पारदारिक है।" इस प्रकार पूर्व के किये हुए पापों के कारण कोई व्यक्ति साधु की निन्दा करे अथवा अन्य असत् आरोपों के द्वारा साधु की अवहेलना करे अथवा क्रोध और ईर्षावश साधु पर प्रहार करे—ताड़न करे अथवा साधु के बालों को खींचे या अन्य किसी प्रकार का अपमान करे तब साधु को क्या करना चाहिए यह इस सूत्र में बताया गया है।

सूत्रकार फरमाते हैं कि ऐसे प्रसंग पर साधु को क्रोध न करना चाहिए। सामने वाला व्यक्ति क्रोध करता है—आक्रोश करता है यह उसके अज्ञान का फल है। साधु भी यदि उस अज्ञानी के व्यवहार पर क्रोध करने लगे तो ज्ञानी और अज्ञानी में अन्तर क्या रह जाता है? अज्ञानी पुरुष क्रोध के वास्तविक कारण को न समझने से और क्रोध के फल को न जानने से क्रोध करता है। साधु तो ज्ञानी होते हैं। वे यह समझते हैं कि दूसरे यदि मेरी निन्दा करते हैं, मुझे ताड़न करते हैं या मेरा अपमान करते हैं तो इसमें दूसरे का दोष नहीं है। यह तो मेरे ही किये हुए पापकर्मों के फल का उदय है। दूसरे तो बेचारे निमित्त-मात्र हैं। उन पर वृथा क्रोध क्यों करना चाहिए? वास्तव में उपसर्ग करने वाले तो मेरे कर्म ही हैं। उन कर्मों का विनाश करना ही मेरा कर्त्तव्य है। समभाव से कर्मों का विनाश होता है अतएव शान्ति के साथ मुझे मेरे कर्म का फल भोगना चाहिए। आगम में कहा है:—

पावाणं च खलु भो कडाणं कम्माणं पुव्वि दुच्चिन्नाणं दुप्पडिक्कंताणं वेदयित्ता मुक्खो, नत्थि अवेय-इत्ता, तवसा व झोसइत्ता।

अर्थात्—पहिले के दुश्चीर्ण और दुष्पराक्रान्त पापकर्मों का फल भोगने से अथवा तपश्चर्या द्वारा उनका क्षय करने से मोक्ष होता है। कर्मफल के भोग के बिना मोक्ष नहीं है। यह साधकों को सदा विचारना चाहिए और ऐसे प्रसङ्गों पर समभाव रखना चाहिए।

यह प्रचलित लोकनीति है कि "शठे शाठ्यम् समाचरेत्" अर्थात्-शठ के साथ शठता का व्यवहार करना चाहिए। धर्मशास्त्र इसका विरोध करता है। जो लोग शठ के साथ शठ बनकर शठता का वर्त्ताव करते हैं वे जगत् को शठता से मुक्त नहीं कर सकते वरन् शठता की वृद्धि में सहायक होते हैं। बुराई को दूर करने के लिए बुराई अङ्गीकार नहीं करनी चाहिए। बुराई से बुराई नहीं मिट सकती। इसी तरह क्रोध करने वाले पर क्रोध करने से क्रोध दूर नहीं होता। साधु तो स्वयं बुराई से बचते हैं और दूसरों को भी बुराई से बचाते हैं। वे बुराई का आश्रय कदापि नहीं लेते। आगम में यह कहा गया है:—

पंचहिं ठाणेहिं छउमत्थे उप्पन्ने उवसग्गे सहइ खमइ तितिक्खइ अहियासेइ तंजहा—जक्खाइट्ठ अयं पुरिसे १ उम्मायपत्ते अयं पुरिसे २ दित्तचित्ते अयं पुरिसे ३ ममं च णं तब्भवेअणीयाणि कम्माणि उदिन्नाणि भवंति जएणं एस पुरिसे आउसइ बंधइ तिप्पइ पिट्टइ परितावेइ ४ ममं च णं सम्मं सहमाणस्स जाव अहियासेमाणस्स एगंतसो कम्मणिज्जरा हवइ ५। पंचेहिं ठाणेहिं केवली उदिन्ने परीसहे उवसग्गे जाव अहियासेज्जा—जाव ममं च णं अहियासेमाणस्स बहवे छउमत्था समणा निग्गंथा उदिन्ने परीसहोवसग्गे सम्मं सहिस्संति जाव अहियासिस्संति।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

अर्थात्—छद्मस्थ साधु पांच कारणों से उत्पन्न उपसर्गों को सहन करते हैं, क्षमाभाव रखते हैं, क्रोध नहीं करते हैं—वे समझते हैं कि उपसर्ग करने वाला व्यक्ति क्रोधरूपी यक्ष से ग्रस्त है १ यह उन्माद प्राप्त है—पागल है २ यह अहंकारी है ३ मेरे कर्म इस तरह उदय में आने वाले थे सो आये हैं जिससे यह पुरुष मुझे निन्दित वचन कहता है, मुझे बांधता है, संताप देता है, ताडन करता है ४ मैं यदि इन उपसर्गों को समभाव से सहन करूँगा तो मेरे कर्मों की एकान्त निर्जरा होगी ५ इन पांच कारणों से छद्मस्थ साधु उपसर्ग सहन करते हैं। केवली भी उपर्युक्त पांच कारणों से ही उपसर्ग सहन करते हैं वे यह सोचते हैं कि मैं समभाव से उपसर्ग सहन करूँगा तो बहुत से छद्मस्थ श्रमण-निर्ग्रन्थ मेरे उदाहरण को सामने रखकर आये हुए परीषह और उपसर्गों को समभाव से सहन करेंगे।

इस आगम-वाक्य पर पूरा विचार करना चाहिए। साधक को यदि कोई आक्रोश-ताडन करे तो यह विचारना चाहिए कि यह पुरुष क्रोधरूपी पिशाच का शिकार हो रहा है अतएव यह अज्ञानी दया-पात्र है। इस पर मुझे क्रोध नहीं करना चाहिए। अगर मैं क्रोध करता हूँ तो मैं भी इसकी श्रेणी में सम्मिलित हो जाता हूँ। यह विचार कर समभाव से साधु उपसर्ग एवं परीषह सहन करे।

निन्दा या स्तुति, लाभ या अलाभ, सुख या दुख, मान या अपमान, इन दोनों स्थितियों में समभाव रखना यह अति कठिन काम है। लेकिन कठिन समझ कर छोड़ देने से काम नहीं चलेगा। आखिर इस स्थिति पर पहुँचने से ही मुक्ति है। इस कठिन कार्य को सतत साधना एवं पुरुषार्थ से सरल बनाना चाहिए इसीलिए सूत्रकार यह कहते हैं कि यह कार्य कठिन है इसलिए इसके लिए विशेष सावधान रहना चाहिए। अनुकूल एवं प्रतिकूल उपसर्गों में समभाव प्राप्त करना चाहिए। आपत्ति को पार कर लेना इतना कठिन नहीं जितना प्रलोभन—अनुकूल उपसर्ग—को पार करना कठिन है। प्रबल प्रलोभनों के आने पर भी आत्म-लक्षी साधक साधना से विचलित नहीं होता है। ऐसा ही साधक अपने साध्य की सिद्धि सांगोपांग कर सकता है। जिसने समभाव-योग की साधना की है वह साधक तो किसी भी आपत्ति को आपत्ति गिनता ही नहीं है। इसका कारण यह है कि वह प्रकृति के अबाधित नियमों का ज्ञाता होता है। वह जानता है कि अगर मेरे कर्म इसी तरह के हैं तो मुझे इसी तरह इनका फल भोगना पड़ेगा। चाहे मैं खुशी से सहन करूँ चाहे रोते रोते—मुझे सहन जरूर करना पड़ेगा। वह विचार होने से वह परीषह-उपसर्गों से घबराता नहीं है। दुनियाँ उसकी निन्दा करती है तो वह उसकी परवाह नहीं करता क्योंकि लोकैषणा से वह दूर रहता है। वह तो आत्मा का लक्ष्य रखकर ही कार्य करता है न कि लोक—बाह्यलोक का। अतएव वह परीषहों और उपसर्गों के आने पर ग्लानि नहीं लाता है और उन्हें शुद्ध श्रद्धा के साथ सहन करता है।

जो व्यक्ति परीषहों को सहन करते हैं, निष्किञ्चन हैं वे ही निर्ग्रन्थ भाव-नग्न कहे गये हैं। जो साधना का मार्ग अङ्गीकार किया है उसे विघ्न बाधाओं से डरकर छोड़ देना कायरता है। उत्तम पुरुष कार्य को प्रारम्भ करके बाधाओं के डर से उसे नहीं छोड़ते हैं। कहा भी है—

प्रारभ्य चोत्तमजना न परित्यजन्ति।

जिस साधक ने समझपूर्वक आसक्ति का त्याग किया है वह साधक परीषह और उपसर्गों से भयभीत होकर साधना का मार्ग नहीं त्याग सकता है। वह अपनी वृत्तियों को इधर उधर नहीं दौड़ने देता है। वह पूर्वाध्यासों के सामने दृढ़ता से टिका रहता है। ऐसी दृढ़ता वाला साधक ही साधना को सांगोपांग सफल कर सकता है।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

आणाए मामगं धम्मं एस उत्तरवाए इह माणवाणं वियाहिए, इत्थोवरए तं झोसमाणे आयाणिज्जं परिन्नाय परियाएण विगिंचइ, इह एगेसिं एगचरिया होइ तत्थियरा इयरेहिं कुलेहिं सुद्धेसणाए सव्वेसणाए से मेहावी परिव्वए सुब्भि अदुवा दुब्भि अदुवा तत्थ भेरवा पाणा पाणे किलेसंति ते फासे पुट्ठो धीरे अहियासिज्जासि त्ति बेमि ।

संस्कृतच्छाया—*आज्ञया मामकं धर्मं, एष उत्तरवाद इति मानवानां व्याख्यातः । अत्रोपरतः तज्झोषयन् आदानीयं परिज्ञाय पर्यायेण विवेचयति, इहैकेषां एकचर्या भवति तत्रेतरे इतरेषु कुलेषु शुद्धषणया सर्वैषणया स मेधावी परिव्रजेत् सुरभिः अथवा दुरभिः अथवा भैरवा प्राणिनः (अपरान्) प्राणिनः क्लेशयन्ति, तान् स्पर्शान् स्पृष्टो धीरोऽति सहस्वेति ब्रवीमि ।*

शब्दार्थ—आणाए=आज्ञा के अनुसार चलने में । मामगं=मेरा । धम्मं=धर्म है । इह माणवाणं=मनुष्यों के लिए । एस=यह । उत्तरवाए=कैसा श्रेष्ठ फरमान । वियाहिए=कहा गया है । एत्थोवरए=संयम में लीन होकर । तं झोसमाणे=कर्मों को खपाते हुए । आयाणीयं=कर्म के स्वरूप को । परिन्नाय=जानकर । परियायेणं=साधु-पर्याय के द्वारा । विगिंचइ=कर्म को दूर करना चाहिए । इह=इस प्रवचन में । एगेसां=किन्हीं साधकों की । एगचरिया=एकचर्या । भवइ=होती है । तत्थेयरा=सामान्य साधुओं से विशेष-प्रतिमाधारी । इयरेहिं कुलेहिं=भेदभाव-रहित अन्तप्रान्त कुलों में से । सुद्धेसणाए=शुद्ध एषणा द्वारा । सव्वेसणाए=आहार, ग्रास आदि एषणा से । से मेहावी=वह बुद्धिमान् । परिव्वए=संयम में विचरण करे । सुब्भि=वह आहार सुगन्धयुक्त हो । अदुवा=अथवा । दुब्भि=दुर्गन्धयुक्त हो । अदुवा=अथवा । तत्थ=एकलविहार में । भेरवा=भयङ्कर । पाणा=प्राणी । पाणे=अन्य प्राणियों को । किलेसंति=क्लेश देते हों तब । ते फासे=उन दुखों को । पुट्ठो=स्पृष्ट होने पर । धीरे=धैर्यवान् । अहियासिज्जासि=सहन करे । त्ति बेमि=ऐसा मैं कहता हूँ ।

भावार्थ—हे शिष्य ! तीर्थंकर देव ने कहा है कि आज्ञा के आराधन में ही मेरा धर्म है—(मेरी आज्ञा को लक्ष्य में रखकर मेरा धर्म पालना चाहिए) । अहो जम्बू ! यह मनुष्यों के लिए कैसा सुन्दर फरमान है । इसलिए बुद्धिमान् साधक संयम में लीन रहकर कर्मनाश के हेतु से धर्म-क्रिया का आचरण करता रहे । कर्म के स्वरूप को जानकर धर्मक्रिया करने से ही कर्मक्षय होता है । हे जम्बू ! कितनेक प्रतिमाधारी साधक महर्षि एकाकी विचरने की प्रतिज्ञा वाले होते हैं । ऐसे साधक उच्चनीच का भेद न रखते हुए अन्तप्रान्त कुलों में से शुद्धभिक्षा द्वारा आहार प्राप्त करे और वह आहार सुन्दर-सुगंधित

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

हो अथवा दुर्गन्ध वाला हो उसमें रागद्वेष न करते हुए उसका उपयोग करे। साथ ही एकाकी अवस्था में जंगली पशुओं द्वारा कोई उपद्रव हो तो उसे धैर्य पूर्वक सहन कर लेना चाहिए। ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—इस सूत्र के प्रारम्भ में सूत्रकार स्वार्पण की भावना का निर्देश करते हैं। सूत्रकार फरमाते हैं कि तीर्थङ्कर देव का यह फरमान है कि आज्ञा से धर्म का पालन करना चाहिए। इस कथन में गम्भीर आशय है। साधक दुनिया में प्रत्येक धर्म की भिन्न भिन्न मान्यताओं, व्यक्तियों के भिन्न २ अभिप्रायों, विभिन्न मतों, गच्छों और मार्गों को देखकर असमंजस में पड़ जाता है। वह निर्णय नहीं कर पाता कि कौन सच्चा और कौन झूठा है। वह शंकाओं और विकल्पों से घिर जाता है। विकल्पों के कारण उसकी बुद्धि कुण्ठित हो जाती है। दुनिया का प्रत्येक कथित धर्म यह दावा करता है कि उसका मान्य पथ ही श्रेष्ठ है। उसके मान्य आगम ही सच्चे हैं। दुनिया में जितने आगम हैं वे सब परस्पर विरोधी हैं। एक पूर्व की ओर जाता है एक पश्चिम की ओर। तब साधक गड़बड़ में पड़ जाता है। किसी ने कहा भी है:-

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणं।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः॥

अर्थात्—तर्क अस्थिर है, शास्त्र भिन्न भिन्न हैं, कोई ऐसा मुनि नहीं जिसके वचन प्रमाणभूत हों। धर्म का तत्त्व अंधेरे में है अतएव उसी मार्ग पर चलना चाहिए जिस पर बहुत लोग चलते हों अथवा बड़े लोग चलते हों।

उपर्युक्त कथन, कहने वाले की विवेक-बुद्धि के अभाव को सूचित करता है। जो व्यक्ति विवेकशील है वह सत्य-असत्य की भिन्नता कर सकता है। वह अनेक परीक्षाओं द्वारा सत्य का विवेक कर सकता है। जब व्यावहारिक भलाई-बुराई का निर्णय अपने अनुभव से हो सकता है तो धार्मिक बुराई-भलाई की पहचान क्यों नहीं हो सकती? तर्क के लिए यह कहा गया है कि वह अस्थिर है। लेकिन तर्क वहीं तक अस्थिर है जब तक उसका लक्ष्य निश्चित न हो। लक्ष्य के निश्चित हो जाने पर तर्क उसमें सहायक होता है। तर्क का लक्ष्य क्या है? उसे कहाँ पहुँच कर स्थिर हो जाना चाहिए? वस्तुतः तर्क का लक्ष्य वीतराग और सर्वज्ञ के तत्त्व होने चाहिए। उन तत्त्वों को बुद्धिगम्य बनाने में ही तर्क की सार्थकता है। साधना और अनुभव के द्वारा वीतराग सर्वज्ञ द्वारा प्ररूपित तत्त्वों का निश्चय हो सकता है। वीतराग देव ने अनेकान्त दृष्टिबिन्दु से वस्तु स्वरूप का उदारतापूर्ण निरीक्षण किया है अतएव उनके वचन—उनकी आज्ञा, उनके प्ररूपित आगम यथार्थ तत्त्व के प्रतिपादक हैं और सत्य-पथ के प्रदर्शक हैं।

इसलिए सूत्रकार इस सूत्र में वीतराग की आज्ञा पर श्रद्धान रखने का उपदेश करते हैं और तदनुसार प्रवृत्ति करने की प्रेरणा करते हैं। विकल्पों और बुद्धि के तर्क-वितर्क में न फँसकर वीतराग की आज्ञा के प्रति स्वार्पण कर देने का मार्ग साधक के लिए अति सरल मार्ग है। बुद्धि के जञ्जाल में न पड़कर जो व्यक्ति इस श्रद्धा के साथ-कि जिनेश्वर देव अन्यथा कहने वाले नहीं हैं-वे सत्य ही कहते हैं-वीतराग की आज्ञा के प्रति अपना सर्वस्व अर्पण कर देते हैं वे भावना-प्रधान साधक अपना ध्येय सिद्ध कर लेते हैं। ज्ञानी पुरुष अपने सत्य अनुभव के आधार पर ही उपदेश फरमाते हैं। इसलिए ऐसे सत्पुरुषों की आज्ञा साधक के लिए परम अवलम्बन बन सकती है यह निस्संदेह है। ऐसे पुरुषों की आज्ञा की अधीनता में कुछ खोना नहीं पड़ता वरन् सर्वस्व प्राप्त होता है। आज्ञा की आराधकता आने पर साधक पुष्प के समान पापभार से लघुभूत हो जाता है। गीता में भी श्री कृष्ण ने अर्जुन से यही कहा है कि—

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।

हे अर्जुन ! सब कुछ छोड़कर ईश्वरार्पण हो जा । मेरी (ईश्वर की) शरण में आ जा । इससे तू सब पापकर्मों से मुक्त हो जायगा ।

जब तक हृदय में अभिमान का शल्य शेष है वहाँ तक अर्पणता आती ही नहीं है । दुनिया का सामान्य मनुष्य भी अपने आपको "मैं कुछ हूँ" यह समझता है । जब यह अहंवृत्ति दूर हो तब अर्पणता आ सकती है । जब तक अहंवृत्ति है वहाँ तक अर्पणता केवल ढोंग है । इससे कोई यह न समझ ले कि इसमें व्यक्तित्व का नाश हो जाता है । अर्पणता से व्यक्तित्व का नाश नहीं लेकिन व्यक्तित्व का सच्चा भान प्रकट होता है । उसे यह ज्ञान हो जाता है कि संसार का प्रत्येक व्यक्ति इस संसाररूपी महासागर का एक अविभक्त जलबिन्दु है । जलबिन्दु को समुद्र में मिलने से दुख नहीं होता लेकिन वह इस अर्पणता में ही सुख और महत्त्व मानता है । जिन्हें व्यक्तित्व का भान नहीं है लेकिन व्यक्तित्व की ओट में जो अभिमान रखते हैं वे अपने आपको महान् समझ कर अलग रहना चाहते हैं । उनका अहंत्व जड़ चीजों से जन्म लेता है इसलिए यह शल्य का काम करता है । इसका त्याग करना चाहिए । अहंवृत्ति से प्रेरित होकर मनुष्य अपनी बुद्धि का दम भरता है और जो चीजें उसकी बुद्धि में न आईं उसका सर्वथा त्याग-निषेध करने का साहस कर बैठता है । वह यह नहीं जानता कि उसका ज्ञान सम्पूर्ण नहीं है । वह अपने जिस ज्ञान पर अभिमान करता है, जिन इन्द्रियों पर वह इतराता है वह सब अपूर्ण हैं । इन्द्रियों से परे ऐसी बहुतसी वस्तुएँ हैं जिनका उसे ज्ञान नहीं होता । इन्द्रियों और मन के ज्ञान की परिधि अति संकीर्ण है । ऐसी स्थिति में मनुष्य अपनी बुद्धि का दम भरे यह कहाँ तक ठीक है ? मनुष्य का इन्द्रियजन्य ज्ञान विशाल महासागर के एक जलबिंदु के समान भाग को भी नहीं जानता । फिर भी मनुष्य इतना गर्वीला हो जाता है कि अपनी अक्षमता को अस्वीकार करने के बदले एक जलकण को ही सागर कहने लगता है और उस बिन्दु के अतिरिक्त और अपार जलराशि के अस्तित्व का अपलाप कर देता है क्योंकि वह उसके ज्ञान से परे है । ऐसे मनुष्य कूप-मण्डूक हैं । साधक को ऐसी अहंवृत्ति का त्याग करना चाहिए ।

जो व्यक्ति आत्म-कल्याण के इच्छुक हैं उन्हें सर्वज्ञ तीर्थङ्कर देव की आज्ञा के प्रति पूर्ण अर्पणता कर देनी चाहिए । उनकी आज्ञा के अनुसार प्रवृत्ति करने में उनकी आज्ञा की अर्पणता है । इसलिए जो साधक संयम में लीन होकर कर्म के स्वरूप को जानकर श्रमण-पर्याय अङ्गीकार करके कर्म को दूर करता है वह आज्ञा की आराधना करता है । महापुरुषों के उपदेशों का पालन ही उनकी आज्ञा की आराधना है । समझपूर्वक क्रिया करने से ही कर्म-क्षय होता है यह भी इससे ध्वनित होता है ।

आज्ञा की आराधकता का कथन करते हुए सूत्रकार एकचर्या की चर्या करते हैं इसका कुछ आशय है । प्रतिमाधारी मुनि नियत काल के लिए अकेले विचरते हैं । पहिले एकलविहार को निषिद्ध कह दिया है । प्रतिमाधारी की एकलचर्या आज्ञा बाहर नहीं है यह सूचित करने के लिए सूत्रकार ने यहाँ यह एकचर्या कही है । जो साधक वृत्ति एवं प्रकृति की स्वच्छंदता से एकचर्या करते हैं वे ही दोष के पात्र हैं । प्रतिमाधारी मुनि क्रिया की उत्कृष्टता के लिए और प्रतिमा की विधि को पूर्ण करने के लिए एकचर्या करते हैं । जो एकचर्या दोषजन्य एवं स्वच्छंदताजन्य है वह दूषित है । प्रतिमाधारियों की एकचर्या प्रशंसनीय है । प्रतिमाधारी मुनियों का आचार भी सूत्रकार बताते हैं कि वे शरीर से बिलकुल निरपेक्ष होते हैं । वे उच्चनीच के भेद के बिना गृहस्थ कुलों से निर्दोष आहार ग्रहण करते हैं और निर्दोष रीति से ही उसका

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

उपयोग करते हैं। जहाँ उपयोग की भावना है उपभोग की नहीं वहाँ "यह चीज अच्छी है या यह चीज बुरी है" यह बात उत्पन्न नहीं हो सकती। जैसा भी आहार प्राप्त हो चाहे वह सुन्दर हो या असुन्दर वह साधक रागद्वेषरहित उसका उपयोग करे। इसी तरह एकचर्या में जंगल में रहते हुए भयंकर शब्द सुनाई पड़े—राक्षसों के अट्टहास सुनाई पड़ें या सिंहादि के उपसर्ग हों तो वह साधक धैर्य से उन्हें सहन करता है। वह विचलित नहीं होता है। इस प्रकार इस उद्देशक में पूर्वाभ्यासों का परिहार और आज्ञा की आराधना का कथन किया गया है।

—उपसंहार—

संयम की दृढ़ता के लिए पूर्वाभ्यासों का त्याग अनिवार्य है। नियमों की बाड द्वारा संयम रूपी क्षेत्र की रक्षा करनी चाहिए। एकान्तभावना, उपयोगमय जीवन, वैराग्यभावना, वृत्ति की अचेलकता और मुण्डन इन चार उपायों से साधना में दृढ़ रहना चाहिए। स्वार्पण का मार्ग कल्याण का सरल मार्ग है। मानत्याग के बिना आज्ञा की आराधना शक्य नहीं है।

ज्ञानी पुरुषों के वचनों को समझ कर मन, वचन और व्यवहार को तदनुकूल बनाने में ही वीतराग की आज्ञा का आराधन है।

इति द्वितीयोद्देशकः

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

धूत नाम षष्ठ अध्ययन

—तृतीयोद्देशकः—

धूत अध्ययन के पूर्व के दो उद्देशकों में पूर्वग्रहों का परिहार और कर्म का धुनन तथा आज्ञा के प्रति स्वार्पणता का वर्णन करने के बाद अब सूत्रकार तृतीय उद्देशक में देह-दमन की आवश्यकता बताते हैं। कर्म-धुनन के लिए शरीर-धुनन और उपकरण की अल्पता की अनिवार्यता होती है। वृत्तियों को वश में करने के लिए शारीरिक तप की कम महत्ता नहीं है। शारीरिक तपश्चर्या आध्यात्मिक उन्नति में महत्त्व पूर्ण स्थान रखती है। शारीरिक तप का उद्देश्य विषयों पर विजय प्राप्त करना है। इस उद्देश्य से जो देह का दमन किया जाता है वह संयम का पोषण करता है और कर्मदलिकों के पुञ्ज को भस्म करता है। अतएव सूत्रकार साधक के लिए देहदमन करने का विधान करते हुए कहते हैं:—

एयं खु मुणी आयाणं सया सुयक्खायधम्मे विहूयकप्पे निज्झोसइत्ता, जे अचेले परिवुसिए तस्स णं भिक्खुस्स नो एवं भवइ—परिजुण्णे मे वत्थे वत्थं जाइस्सामि, सुत्तं जाइस्सामि, सूइं जाइस्सामि, संधिस्सामि सीविस्सामि उक्कसिस्सामि वुक्कसिस्सामि परिहिस्सामि पाउणिस्सामि अदुवा तत्थ परिक्कमंतं भुज्जो अचेलं तणफासा फुसंति, सीयफासा फुसंति, तेउफासा फुसंति, दंसमसगफासा फुसंति, एगयरे अन्नयरे विरूवरूवे फासे अहियासेइ, अचेले लाघवं आगममाणे, तवे से अभिसमन्नागए भवइ।

संस्कृतच्छाया—*एतत् मुनिः आदानं सदा स्वाख्यातधर्मा विधूतकल्पः निर्झोषयित्वा योऽचेलः पर्युषितः तस्य भिक्षोः नैतद् भवति—परिजीर्णे मे वस्त्रे, वस्त्रं याचिष्ये, सूत्रं याचिष्ये, सूचीं याचिष्ये, सन्धास्यामि, सेविष्यामि, उत्कर्षायिष्यामि व्युत्कर्षायिष्यामि, परिधास्यामि, प्रावरिष्यामि, अथवा तत्र पराक्रममाणं भूयः अचेलं तृणस्पर्शाः स्पृशन्ति, शीतस्पर्शाः स्पृशन्ति, तेजः स्पर्शाः स्पृशन्ति, दंशमशकस्पर्शाः स्पृशन्ति, एकतरान् अन्यतरान् विरूपरूपस्पर्शानधिसहते, अचेलः लाघवं सदा आगमयन् तपः तस्य अभिसमन्वागतं भवति।*

शब्दार्थ—सुयक्खाय धम्मे=पवित्रता से धर्म का पालन करने वाला। विहूयकप्पे=आचार का अनुष्ठान करने वाला। मुणी=मुनि। एयं आयाणं=इस प्रकार कर्म के उपादान

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

वस्त्रादि को। निज्झोसइत्ता=त्याग कर। जे अचेले=जो अचेल। परिवुसिए=रहता है। तस्स=उस। भिक्खुस्स=भिक्षु को। नो एवं भवइ=ऐसी चिन्ता नहीं होती है। मे वत्थे=मेरा वस्त्र। परिजुण्णे=जीर्ण हो गया है। वत्थं जाइस्सामि=मैं वस्त्र की याचना करूँगा। सुत्तं=डोरा। जाइस्सामि=मांगूँगा। सूइं जाइस्सामि=सूई की याचना करूँगा। संधिस्सामि=साँधूँगा। सीविस्सामि=वस्त्र सीऊँगा। उक्कसिस्सामि=दूसरा वस्त्र जोड़ूँगा। वुक्कसिस्सामि=जीर्ण वस्त्र निकाल कर कम करूँगा। परिहिस्सामि=वस्त्र पहिनूँगा। पाउणिस्सामि=वस्त्र से शरीर ढाँकूँगा। अदुवा=अथवा। तत्थ=संयम में। परिक्कमंतं=पराक्रम करते हुए। अचेलं=वस्त्ररहित साधक को। भुज्जो=पुनः। तणफासा=तृणस्पर्श के दुख। फुसन्ति=आते हैं। सीयफासा फुसन्ति=ठंड के दुख आते हैं। तेउफासा फुसन्ति=आतप-गर्मी के दुख स्पर्श करते हैं। दंसमसगफासा फुसन्ति=डाँस मच्छर के दुख आते हैं। एगयरे=तृणस्पर्श दंसमशकादि अविरूद्ध। अन्नयरे=शीतोष्णादि विरोधी परीषहों में से कोई एक। विरूवरूवे=विविध प्रकार के। फासे=दुख। अचेले=वस्त्ररहित साधक। लाघवं=कर्मों की लघुता को। आगममाणे=समझ कर। अहियासेइ=सहन करता है। से=उसको। तवे=तप। अभिसमन्नागए=प्राप्त। भवइ=होता है।

भावार्थ—शुद्धधर्म का आचरण करने वाला और आचार का पालन करने वाला मुनि धर्मोपकरण के सिवाय सब उपाधि का त्याग करता है। जो मुनि अल्प वस्त्र रखता है अथवा सर्वथा वस्त्ररहित रहता है उसे इस प्रकार की चिन्ता नहीं होती कि यह वस्त्र जीर्ण हो गया है अब नया वस्त्र लाना है, वस्त्र को सीने के लिए डोरा लाऊँगा, सूई लाऊँगा वस्त्र सांधूंगा, सीऊँगा, दूसरा वस्त्र जोड़ूंगा, इसको कम करूंगा, इसे पहिनूंगा अथवा इससे शरीर ढांकूंगा। इस प्रकार वस्त्ररहित बने हुए मुनि को कभी तृण-स्पर्श के दुख प्राप्त होते हैं, कभी शीत के कभी आतप के, कभी डांस मच्छर के इत्यादि विविध प्रतिकूल परीषह आते हैं उनको वह वस्त्ररहित मुनि कर्म-भार से लघुभूत होना मानकर सहन करता है इस प्रकार उसको तप की प्राप्ति होती है (वह तपस्वी कहा जाता है)।

विवेचन—सूत्रकार इस सूत्र में अचेलकता के उपलक्षण से साधक के लिए धर्मोपकरण के अतिरिक्त सब पदार्थों का त्याग करना आवश्यक है यह प्रतिपादित करते हैं। सु-आख्यात धर्म का पालन करने वाला व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं को अत्यन्त कम करता है। वह अति आवश्यक पदार्थों—जिनके बिना काम न चल सकता हो-के सिवाय किसी भी चीज का उपयोग नहीं करता है। वह किसी प्रकार का वस्तु-संग्रह नहीं कर सकता है। जिसने कर्म के अविचल नियम को समझा है वह संग्रह को अनावश्यक मानता है। उसको किसी भी वस्तु का संग्रह करने की आवश्यकता नहीं रहती। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि जिसने अपनी आवश्यकताएँ कम की हैं उसने ही धर्म को समझा है। धर्म किसी विशेष स्थान या समय के लिए ही नहीं है लेकिन उसका सम्बन्ध जीवनव्यापी है। जीवन की प्रत्येक क्रिया धर्ममय ही होनी चाहिए। धर्मात्मा की आवश्यकताएँ सचमुच आवश्यकताएँ ही हैं। वह आवश्यकताएँ

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

अन्य सामान्य प्राणियों की आवश्यकताओं के समान अमर्यादित नहीं होतीं। कई व्यक्ति यह कहते हैं कि पुण्ययोग से हमें भोग्य पदार्थ प्राप्त हुए हैं उनका हम उपभोग क्यों न करें ? हमें जो वस्तु प्राप्त है उसका उपभोग करने का हमारा हक है। परन्तु यह कथन योग्य नहीं है। मनुष्यों को यह समझना चाहिए कि वे पदार्थों के मालिक नहीं है वरन् मात्र विनिमय करने वाले हैं। यह समझ कर प्रत्येक व्यक्ति को मर्यादित वस्तुओं का ही उपयोग करना चाहिए। आज मनुष्यों की धनसंग्रह और पदार्थों की मालिकी की भावना इतनी असीम और अमर्यादित रूप से बढ़ गयी है कि जिसके कारण संसार में अशान्ति, भय और दुख के ही दृश्य दिखाई देते हैं। संयमी साधक, सामान्य मनुष्य प्राणियों की भूमिका से बहुत ऊँचा उठा रहता है अतएव उसकी जवाबदारी विशेष है। इसलिए संयमी साधक, संग्रह तो दूर रहा, पदार्थमात्र का त्याग करता है। धर्मोपकरणों को साधन के रूप में स्वीकार करता है लेकिन उन पर भी ममत्वभावना नहीं रखता। इस बात को समझाने के लिए सूत्रकार ने यहाँ अचेलक भावना का वर्णन किया है।

जितनी उपधि कम होती है उतनी ही उपाधि कम होती है जितनी उपधि अधिक होती है उतनी ही उपाधि बढ़ती है यह निर्विवाद बात है। जो व्यक्ति उपधि का त्याग करता है वह विविध प्रपञ्चों से मुक्त हो जाता है। साधक अपने शरीर में ममत्व नहीं रखता है तो वह अन्य पदार्थों में ममत्व बुद्धि कैसे कर सकता है ? साधक संयम में रहता हुआ आवश्यक वस्त्रादि साधन की तौर पर रखता है लेकिन उसे इस प्रकार की चिन्ता नहीं होती है कि मेरा वस्त्र जीर्ण हो गया है, मैं वस्त्ररहित हो जाऊँगा, मेरे शरीर की रक्षा के लिए अथवा शीत, आतप से व्याकुल होने पर वस्त्राभाव के कारण क्या करूँगा ? इसलिए श्रावक के पास से नया वस्त्र याचूंगा अथवा जीर्ण वस्त्र को सीने के लिए सूई-डोरा याचूँगा, सूई-डोरा मिलने पर जीर्ण वस्त्र को सांधूँगा, सीऊँगा, छोटा होने पर दूसरा वस्त्र-खण्ड जोड़ूँगा अथवा बड़ा होने पर वस्त्रखण्ड निकालूंगा, इस प्रकार तैयार होने पर पहिनूंगा उससे शरीर ढांकूंगा। इस प्रकार के अध्यवसाय संसारभीरू धर्मप्रवण साधक के हृदय में नहीं होते हैं। वह आसक्तिरहित साधक इस चिन्ता से सर्वथा मुक्त रहता है।

यहाँ "अचेले" शब्द में अल्प के अर्थ में नञ् समास हुआ है। अर्थात्-अति आवश्यक और अति अल्प वस्त्रधारी साधक को इस प्रकार की वस्त्र सम्बन्धी चिन्ता नहीं होती है अथवा यह सूत्र जिनकल्पी की अपेक्षा से समझना चाहिए। सर्वथा वस्त्ररहित साधक को वस्त्र सम्बन्धी चिन्ता कदापि नहीं होती। जिनकल्पी साधक पाणि-पात्र होते हैं। वे पात्र का भी त्याग करते हैं और हाथ में ही भोजन ग्रहण करते हैं। वे पात्रादि सात प्रकार के नियोग से रहित होते हैं। वे मुखवस्त्रिका और रजोहरण रखते हैं। ऐसे जिनकल्प वाले साधक को वस्त्रादि सम्बन्धी चिन्ता नहीं होती। धर्मी के अभाव में धर्म कैसे हो सकता है ? वस्त्र का ही अभाव है तो तत्सम्बन्धी जीर्णता, सांधना, सीना आदि का विचार हो ही कैसे सकता है ? जो जिनकल्पी नहीं है और स्थविर कल्पी हैं वे पात्रादि नियोग से युक्त होते हैं और यथाकल्प वस्त्र धारण करते हैं। ऐसे कल्पानुसार वस्त्रधारी साधक वस्त्र की जीर्णता होने पर भी ऐसी चिन्ता नहीं करते। इस तरह दोनों तरफ अर्थ की सुसंगति समझनी चाहिए।

वर्त्तमान समय में "अचेल" शब्द के अल्पमात्र और निर्वस्त्र इस प्रकार के दो अर्थों में से एक के आग्रह के कारण भगवान् महावीर का अखंड शासन दो भागों में विभक्त हुआ दिखाई देता है। ये दो भाग श्वेताम्बर और दिगम्बर नाम से विख्यात हैं। प्राचीन काल में जिनकल्पी मुनिवर वनवासी या गुफावासी होते थे। वे वसतियों से दूर रहकर आत्म-साधना करते थे। आजकल तो जैनमुनि वसति में

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

रहते हैं इसलिए सर्वथा निर्वस्त्र रहना लोकजीवन की दृष्टि से अव्यावहारिक लगता है। तदपि किसी प्रकार का आग्रह रखना ठीक नहीं है। समन्वयदृष्टि से इसका विचार करना चाहिए। सूत्रकार के 'अचेल' शब्द के पीछे जो भावना छिपी है वह विचारणीय है। अल्प वस्त्र अथवा निर्वस्त्र दोनों के अन्दर उपाधि घटाने का उद्देश्य है। यदि यह उद्देश्य फलित होता तो साधन के रूप में यथाकल्प वस्त्र हों तो भी बाधाजनक कुछ नहीं होता और यदि यह उद्देश्य फलित नहीं होता हो तो निर्वस्त्र रहने में कोई विशेषता नहीं मालूम होती। असली उद्देश्य आसक्ति को नष्ट करना है। आवश्यक वस्त्र यदि ममत्व भावरहित होकर केवल संयमोपकरण मानकर रक्खे जाय तो आत्मिक-विकास में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। अगर आसक्ति नहीं घटी है तो निर्वस्त्र अवस्था में भी आत्मिक विकास नहीं हो सकता। वस्त्र में अथवा वस्त्रों के त्याग में मुक्ति नहीं है परन्तु कषायों के त्याग में मुक्ति है। वस्त्र और निर्वस्त्र के उद्देश्य को भूलकर एकान्त पक्ष के आग्रह में पड़कर वर्त्तमान जैनसमाज कषाय की वृद्धि करके अपना अहित कर रही है। इससे विचारशील को दुख हुए विना नहीं रहता। भगवान् महावीर का अनेकान्त सिद्धान्त विश्व के सभी तत्त्वों का समन्वय करता है वहाँ जैनसमाज का यह पक्षाग्रह अवश्य शोचनीय है।

अचेलकता का कथन करने के बाद अब सूत्रकार अचेलकदशा में होने वाले परीषहों (संकटों) को समभाव से सहन करने का उपदेश फरमाते हैं। अचेल साधक को कदाचित् तृण की शय्या पर सोने का प्रसंग प्राप्त हो तब तृण शरीर में चुभें अथवा वस्त्राभाव से ठंड लगे या गर्मी से त्राण न हो सके अथवा खुले शरीर को डाँस, मच्छर आदि कांटे इत्यादि प्रतिकूल उपसर्ग प्राप्त हो तो मुनि साधक उन्हें शान्ति से सहन करे। यहाँ नग्नता (अल्पवस्त्रता) की कसौटी है। नग्न साधक देहाध्यास से परे हो जाता है। देहाध्यास से परे होने में ही नग्नता की सफलता है। वस्त्रों को त्याग देने पर शरीर को ठंड, गर्मी या दंश-मशकादि से बचाने के लिए कृत्रिम उपाय काम में लिए जांय तो वह वस्त्रत्याग निरुपयोगी और कृत्रिम समझना चाहिए। नग्न हो जाने में विशेषता नहीं है किन्तु नग्नता को सहज साध्य बनाने में विशेषता है। यद्यपि नग्नता प्रकृति के अधिक अनुकूल है तदपि केवल नग्नतामात्र से प्रकृति के अनुकूल नहीं बना जा सकता। प्रकृति के अनुकूल बनने वाले की प्रत्येक क्रिया में प्रकृति की अनुकूलता रहती है। प्रकृति के अनुकूल बनने के लिए देह के ममत्व को छोड़ना पड़ता है। जो साधक देह पर के ममत्व को जीत लेता है उसको नग्नता सहज हो जाती है। वह प्रतिकूल परीषहों को परीषह नहीं जानता। परीषहों के उपस्थित होने पर उसे दुख नहीं होता। वह देहाध्यास से परे हो जाता है इसलिए शान्ति के साथ वह परीषहों से क्रीड़ा करता है। वह सहज तपस्वी होता है। वह परीषहों का प्रतिकार नहीं करता। वह उन्हें कर्मभार से मुक्त होने का साधन मानता है। वह साधक द्रव्य और भाव से लघुभूत हो जाता है। बाह्य उपाधि के अभाव से द्रव्य से लघु और कर्मभार से छूटने से भाव से लघु होता है। वह निश्चल भाव से साधना में स्थित होता है। वह सहज तपस्वी समझा जाता है।

जहेयं भगवया पवेइयं तमेव अभिसमिच्चा सव्वओ सव्वत्ताए सम्मत्त-मेव समभिजाणिज्जा, एवं तेसिं महावीराणं चिररायं पुव्वाइं वासाणि रीय-माणाणं दवियाणं पास अहियासियं।

संस्कृतच्छाया—यथेदं भगवता प्रवेदितं तदेवाभिसमेत्य सर्वतः सर्वात्मना सम्यक्त्वमेव समभिजा-नीयात्। एवं तेषां महावीराणां चिररात्रं पूर्वाणि वर्षाणि रीयमाणानां द्रव्याणां पश्यातिसोढम्।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

शब्दार्थ—जहेयं=जिस प्रकार। भगवया=भगवान् ने। पवेइयं=फरमाया है। तमेव=उसको। अभिसमिच्चा=जानकर। सव्वओ=सभी प्रकार से। सव्वत्ताए=पूर्णरूप से। सम्मत्तमेव=सम्यक्त्व के ही। समभिजाणिज्जा=अभिमुख वर्ताव करे। एवं=इस प्रकार। तेसिं महावीराणं=उन महावीर पुरुषों ने। चिररायं=बहुत समय तक। पुव्वाइं=पूर्वों तक। वासाणि=वर्षों तक। रीयमाणाणं=संयम में रहकर। दवियाणं=भव्य पुरुषों ने। अहियासियं=जो कष्ट सहन किए हैं वे। पास=तू देख।

भावार्थ—भगवान् ने जिस आशय से जो कहा है उसे उसी तरह स्वीकार करके सभी तरह से, पूर्णरूपेण, पवित्रभाव से वर्ताव करना चाहिए। इस तरह पहले कई महावीर पुरुषों ने बहुत समय तक-पूर्वों तक-वर्षों तक संयम का पालन करके जो परीषह सहन किए हैं उनकी ओर हे शिष्य! तू दृष्टि फेंक।

विवेचन—पूर्ववर्त्ती सूत्र में उपकरण-लाघव से कर्मलाघव होने का कहा गया है और इस तरह लघुभूत होने में जो परीषह प्राप्त हों उन्हें सहन करने की प्रेरणा की गई है। श्री सुधर्मास्वामी इस कथन की विशेष महत्ता प्रकट करने के लिए यह फरमाते हैं कि यह कथन मैं नहीं कहता लेकिन साक्षात् सर्वज्ञ, सर्वदृष्टा प्रभु महावीर का यह अनुभवपूर्ण फरमान है। प्रभु के उपकरण-लाघव के इस कथन को हृदयंगम करके सब तरह से लघुभूत होकर विचरना चाहिए। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से लघुभूत होना चाहिए। द्रव्य की अपेक्षा से आहार और उपकरणों की लघुता रखनी चाहिए। क्षेत्र की अपेक्षा सर्वत्र ग्राम नगरादि में लघुभूत होकर विचरना चाहिए। काल की अपेक्षा दिवस और रात्रि में और भाव की अपेक्षा से कृत्रिमता को त्याग कर पवित्र भाव से लघुभूत होकर प्रभु के कथन के आशय को बराबर समझ कर शुद्धभाव अथवा समभावपूर्वक आचरण करना चाहिए। सूत्रकार ने "सम्मत्त" शब्द दिया है इसका टीकाकारने यह स्पष्टीकरण किया है:—

प्रशस्तः शोभनश्चैव एकः सङ्गत एव च।
इत्येतैरुपसृष्टस्तु भावः सम्यक्त्वमुच्यते॥

अर्थात्—कल्याणकारी, शुभ और एकान्त संगत (हितकारी) भाव सम्यक्त्व तत्त्व है। इस शुद्धभाव रूप सम्यक्त्व को ज्ञ-परिज्ञा से जानना और आसेवन परिज्ञा से आचरण करना चाहिए। शुद्धभाव वाला अचेलक साधक अपनी क्रिया की उत्कृष्टता का अभिमान न करे और अन्य एक दो या तीन यथाकल्प वस्त्र रखने वाले की निन्दा न करे। जो व्यक्ति अन्य की निन्दा करता है वह शुद्धभाव नहीं रख सकता है। साधक को आत्म-विशुद्धि से प्रयोजन है, अन्य की निन्दा से नहीं। कहा भी है:—

जो वि दुवत्थातिवत्थो एगेण अचेलगो व संथरइ।
ण हु ते हीलन्ति परं सव्वेऽपि य ते जिणाणाए॥१॥
जे खलु विसरिसकप्पा संघयणधिइयादिकारणओ पप्प।
णावमन्नइ ण य हीणं अप्पाणं मन्नइ तेहिं॥२॥

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

सव्वेवि जिणाणाए जहाविहिं कम्मखवणअट्ठाए ।
विहरंति उज्जया खलु सम्मं अभिजाणइ एवं ॥३॥

अर्थात्—जो एक वस्त्र वाला है, जो दो वस्त्र रखने वाला है, जो तीन वस्त्र रखने वाला है, वह भी जिनेन्द्र देव की आज्ञा में है अतएव एक दूसरे की हीलना-निन्दा न करनी चाहिए। शरीर-संहनन और धैर्य आदि कारणों के कारण सचेलक अचेलक आदि भिन्न-भिन्न कल्प कहे गये हैं अतएव अधिक शक्ति वाला सर्वथा वस्त्ररहित रहे लेकिन वह अपने आपको ऊँचा और दूसरे वस्त्रधारियों को नीचा समझ कर उनकी हीलना न करे। इसी तरह जो वस्त्राधारी हैं वे अपने आपको इससे हीन न समझे। सभी साधक कर्मक्षय करने के लिए जिनाज्ञा में उद्यत होकर विचरते हैं इस प्रकार शुद्ध भाव रखने चाहिए। एक दूसरे की अवहेलना-अपमान न करना चाहिए। कैसा सुन्दर उपदेश है! कैसा उदार जिनेन्द्र देव का शासन है। पर साथ ही वर्त्तमान काल के साधकों का पारस्परिक व्यवहार अति शोचनीय है। कहाँ तो प्रभु महावीर का यह उदार-व्यवहार करने का उपदेश? और कहाँ आज के साधु मुनिराजों की "हम उत्कृष्ट क्रिया पात्र तुम ढीले पासत्थे" के झूठे आधार पर वैमनस्यवर्द्धक प्रवृत्ति? यह विचारणीय है। सच्चा साधक कभी दूसरे की निन्दा नहीं कर सकता। वह अकृत्य करने वाले को हित-बुद्धि से शिक्षा देता है लेकिन उससे घृणा नहीं करता। निन्दा घृणापूर्वक ही होती है। तीर्थंकर देव के उपदेश को भलीभांति विचार करके उसका सेवन करना चाहिए।

अब सूत्रकार यह फरमाते हैं कि यह कथन अशक्यानुष्ठानरूप नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि यह केवल आदर्श ही आदर्श नहीं है परन्तु यह आदर्श व्यावहारिक है। इस कथनानुसार प्रवृत्ति करना असंभव नहीं है। बहुत से लोग बहुत बड़े आदर्श की बात करते हैं लेकिन व्यवहाररूप में-क्रियात्मकरूप में कुछ नहीं करते वह आदर्श निरुपयोगी है। भगवान् का कथन इस प्रकार अव्यवहार्य नहीं है अथवा कोई यह कहे कि ज्वर को दूर करने के लिए तक्षकनाग के मस्तक में रहे हुए मणि को प्राप्त करो तो उसका यह कथन अशक्य अनुष्ठान है। अर्थात्-यह कार्य नहीं हो सकता। भगवान् का उपदेश इस प्रकार का अशक्य अनुष्ठान रूप नहीं है। अनेक महावीरों ने इस उपदेश के अनुसार प्रवृत्ति की है। अनेक वीर पुरुषों ने यावज्जीवन, बहुत वर्षों तक, अनेक पूर्वों तक संयम का पालन किया है और संयम के मार्ग में आने वाले अनेक परीषहों को सहन किया है। "पूर्व" यह एक जैन पारिभाषिक संज्ञा है। ७०,५६०००००००००० वर्षों का एक पूर्व होता है। भगवान् ऋषभदेव से लगाकर दसवें तीर्थंकर श्री शीतलनाथ भगवान् के समय तक पूर्व के आधार पर आयुष्य होते थे उसकी अपेक्षा से "पूर्व" का कथन है। श्रेयांसनाथ भगवान् से वर्ष संख्या की प्रवृत्ति समझनी चाहिए।

सूत्रकार शिष्य को परीषह-सहन के लिए प्रेरणा करते हुए कहते हैं कि महा समर्थ पुरुषों को भी कष्ट सहन करने पड़ते हैं। किये हुए कर्मों का फल समर्थ पुरुषों को भी सहन करना पड़ता है। कर्म अपने कर्त्ता को फल दिए बिना नहीं छोड़ते। अतएव कर्म करते समय ही उसके फल का विचार करना चाहिए। जीव प्रसन्नता के साथ कर्म बाँधते हैं और फल भोगते समय रोते हैं। यह उनकी अज्ञानता है। कष्ट के समय जीव को यह विचारना चाहिए कि मैंने हँसते २ कर्म बाँधे अतएव हँसते २ ही उनका फल भी भोगना चाहिए। सुख और दुख अपने कर्म का परिणाम है यह जानकर अन्य को दोष नहीं देना चाहिए। अपने कर्म का फल जानकर परीषहों को सम्यक् भाव से सहन करना चाहिए। महावीर पुरुषों के आदर्श को सन्मुख रखकर कष्ट सहन करना चाहिए।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

आगयपन्नाणाणं किसा बाहवो भवंति पयणुए य मंससोणिए, विस्सेणिं कट्टु परिन्नाय एस तिण्णे मुत्ते विरए वियाहिए त्ति बेमि ।

संस्कृतच्छाया— *आगतप्रज्ञानानां कृशाः बाहवः भवन्ति, प्रतनुके च मांसशोणिते, विश्रेणीं कृत्वा परिज्ञाय, एष तीर्णो मुक्तो विरतो व्याख्यात इति ब्रवीमि ।*

शब्दार्थ—आगयपन्नाणाणं=ज्ञानसम्पन्न साधकों की । बाहवो=भुजाएँ । किसा= पतली । भवंति=होती हैं । मंस सोणिए=मांस और खून । पयणुए=बहुत कम होता है । विस्सेणिं कट्टु=रागद्वेष कषाय रूप संसार की श्रेणीको नष्ट करके । परिन्नाय=समदृष्टि से तत्त्व जान-कर वर्तते हैं इसलिए । एस=ऐसे साधक । तिण्णे=संसार समुद्र से तिरे हुए । मुत्ते=बन्धन से मुक्त । विरए=पापों से निवृत्त । वियाहिए=कहे गये हैं । त्ति बेमि=ऐसा मैं कहता हूँ ।

भावार्थ—ज्ञानसम्पन्न साधकों की भुजाएँ पतली होती हैं । उनके शरीर में मांस और खून अति अल्प होता है । वे रागद्वेष और कषाय रूप संसार श्रेणीका समभाव से विनाश करके उच्च क्षमादि गुण धारण करते हैं । ऐसे मुनि संसार समुद्र से तिरे हुए, भवबन्धन से मुक्त और पापकर्म से निवृत्त कहे गये हैं ऐसा मैं कहता हूँ ।

विवेचन—ऊपर के सूत्र में परीषहों को सहन करने का उपदेश दिया गया है । परीषहों को सहन करने वाला साधक शरीर से मोह नहीं रखता है अतएव शरीर की सेवाशुश्रूषा बराबर नहीं होती है इस-लिए यह स्वाभाविक है कि उस गीतार्थ साधक का शरीर कृश हो । परीषह-सहन और तपश्चरण द्वारा उसका शरीर कृश हो जाता है । शरीर का पोषण पौष्टिक सरस भोजन द्वारा होता है और गीतार्थ तपस्वी साधक सरस आहार को छोड़कर अन्तप्रान्त आहार करता है । ऐसा रूक्ष आहार रसरूप में परिणत नहीं होता, उसका केवल खल भाग ही बनता है । इसके अभाव में रक्त, मांस आदि की उत्पत्ति नहीं हो सकती । इसलिए यह सहज ही है कि उसके रक्त और मांस अति अल्प हो । अचेल होने के कारण तृण-स्पर्श आदि परीषहों के कारण शारीरिक कष्ट होने से उसका शरीर कृश हो जाता है और धीरे २ खून और मांस अति अल्प हो जाते हैं । यह कहकर सूत्रकार ने यह ध्वनित किया है कि ज्ञानी साधकों के लिए भी देहदमन और तपश्चरण की अति आवश्यकता होती है । इसका अर्थ कोई यह न समझने की मूर्खता करे कि जो शरीर से दुबला पतला है वही मोक्ष का अधिकारी है । इस कथन का तात्पर्य यह है कि मोक्षार्थी साधक को शरीर शुश्रूषा का मोह नहीं होता । तपश्चर्या उसके लिए सहज हो जाती है । ऐसे महर्षि का शरीर जैसा कृश होता है वैसे ही उसके कषाय भी कृश होने चाहिए । उसमें क्षमादि गुणों का विकास होना चाहिए । तपश्चर्या का उपदेश करते हुए "आगतप्रज्ञानानां" (ज्ञानी) यह विशेषण देकर सूत्रकार यह सूचित करते हैं कि तपश्चर्या विवेक-बुद्धि पूर्वक होनी चाहिए । तपश्चर्या का उद्देश्य वृत्तियों का दमन करने का है । तपश्चर्या करके भी अगर क्रोध और मान आदि कषायों की वृद्धि देखी जाय तो वह अविवेकमय तपश्चरण कहा जायगा । ऐसे तप से और ऐसे कष्ट सहन से विशेष आध्यात्मिक लाभ नहीं होता । तपश्चर्या की सफलता देह-दमन के साथ ही कषायों के दमन से होती है । तपस्वी साधक में क्रोध

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

और मान न होना चाहिए। समत्व भाव द्वारा उसे राग-द्वेष तथा कषायरूप भव-संतति के कारणों को नष्ट करना चाहिए। तपस्वी साधक अपने उत्कृष्ट तप का अभिमान करके अन्य साधकों की निन्दा न करे। गच्छ में सभी तरह के साधक होते हैं। कोई जिनकल्पी, कोई प्रतिमाधारी स्थविरकल्पी, कोई मासक्षपण करने वाला, कोई अर्द्धमासक्षपण करने वाला, कोई अति दीर्घ तप करने वाला, कोई अल्प तप करने वाला और कोई नित्यभोजी भी होता है। इन सभी को तीर्थंकर की आज्ञा में विचरते हुए जानकर किसी की निन्दा न करनी चाहिए। जिनकल्पी अथवा प्रतिमाधारी कोई साधक छह मास तक अभिग्रहादि के कारण भिक्षा प्राप्त न करे तो उस तप का अभिमान करके नित्यभोजी साधक से यह न कहे कि "तू तो नित्य खाने वाला है, तूने तो खाने के लिए ही सिर मुँडाया है"। विवेकी गीतार्थ साधु इस प्रकार दूसरों की हीलना नहीं कर सकता है। वह सभी को समदृष्टि से देखता है। तपश्चर्या की सफलता राग-द्वेष और कषाय के क्षय करने में ही है। कषायों को कृश करना ही तप का उद्देश्य है।

जो साधक इस तरह कषायों का क्षय करने के साथ तपश्चरण करते हैं वे भवसन्तति का क्षय कर देते हैं इसलिए वे संसार-सागर से पार हो चुके हैं। वे कर्म और भवबन्धनों से मुक्त हो जाते हैं और सर्व-सावद्य अनुष्ठान से विरत हो जाते हैं। ऐसे साधकों को संसार में रहते हुए भी तीर्ण और मुक्त कहा गया है इसका कारण यह है कि वे आन्तरिक शत्रुओं पर विजय पा चुके हैं। आन्तरिक शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर लेने पर संसार का क्रम नष्ट हो जाता है—जन्म-मरण की परम्परा नष्ट हो जाती है। वे मुक्त और तीर्ण तुल्य हैं। उनके रागादि दूर हो जाते हैं। राग-द्वेष ही संसार के निर्माता हैं। इनका अभाव होने से संसार में रहने पर भी ऐसे गीतार्थ साधकों को तीर्ण, मुक्त और विरत कहा गया है।

सूत्र में आये हुए "बाहवो" शब्द का अर्थ (बाहवः) भुजाएँ करके ऊपर का अर्थ किया गया है। "बाहवो" का दूसरा संस्कृतरूप "बाधाः" भी हो सकता है। तात्पर्य यह होता है कि जो साधक प्रज्ञावान् होता है वह महान् परीषहों के आने पर भी उस पीड़ा को अल्प मानता है। शारीरिक पीड़ा होने पर भी उसे मानसिक पीड़ा नहीं होती क्योंकि वह समझता है कि मैं तो कर्म-क्षय करने के लिए निकला हूँ। कष्ट उठाए बिना कर्मों का फल कैसे भोगा जा सकता है? वह अपने आपको ही दुख का कारण मानता है। वह दूसरों को दोष नहीं देता। इसलिए उसे मानसिक संताप नहीं होता। इस प्रकार परीषह-सहिष्णु साधक भवसागर से पार, कर्मबन्धन से मुक्त और सर्वथा कर्म से निर्लेप हो जाते हैं।

विरयं भिक्खुं रीयन्तं चिरराओसियं अरई तत्थ किं विधारए ? संधेमाणे समुट्ठिए, जहा से दीवे असंदीणे एवं से धम्मे आरियपदेसिए, ते अणवकंखमाणा पाणे अणइवाएमाणा दइया मेहाविणो पंडिया, एवं तेसिं भगवओ अणुट्ठाणे जहा से दियापोए एवं ते सिस्सा दिआ य राओ य अणुपुव्वेण वाइय त्ति बेमि ।

संस्कृतच्छाया—विरतं भिक्षुं रीयमाणं चिररात्रोषितमरतिस्तत्र किम् विधारयेत् ? संदधानः समुत्थितः, यथा सः द्वीपः असन्दीनः एवं स धर्मः आर्यप्रदेशितः, तेऽनवकाङ्क्षन्तः प्राणिनोऽनतिपातयन्तः

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

दयिता मेधाविनः पण्डिताः, एवं तेषां भगवतोऽनुष्ठाने यथा स द्विजपोतः एवन्ते शिष्या दिवा रात्रिञ्च अनुपूर्वेण वाचिता इति ब्रवीमि ।

शब्दार्थ—विरयं=पापकर्म से निवृत्त । चिरराओसियं=लम्बे समय में संयम पालते हुए । रीयन्तं=अप्रशस्त भावों से निकल कर प्रशस्त भावों में रमण करने वाले । भिक्खुं=साधु को । तत्थ अरइ=संयम में अरति । किं विधारए=क्या चलित कर सकती है ? समुट्ठिए=यह साधक जागृत होकर । संधेमाणे=सदा शुभ अध्यवसायों की श्रेणियों पर चढ़ता जाता है । से=वह । असंदीणे=पानी से न ढँक सकने वाले । दीवे जहा=द्वीप के तुल्य है । से=वह । आरियपदेसिए=तीर्थङ्कर भाषित । धम्मे=धर्म भी । एवं=इस प्रकार द्वीप तुल्य है । ते=वे साधक । अणवकंखमाणा=भोगों की इच्छा नहीं करते हुए । पाणे अणइवाएमाणा=प्राणियों की हिंसा नहीं करते हुए । दइया=सर्वलोक के प्रियपात्र होकर । मेहाविणो=बुद्धिमान् । पंडिया=पंडित पद प्राप्त करते हैं । जहा=जिस प्रकार । से दियापोए=पक्षी का बच्चा पक्षियों द्वारा सावधानी से पाला-पोषा जाता है । एवं=इसी प्रकार । ते सिस्सा=वे शिष्य । दिआ अ राओ अ=दिनरात । अणुपुव्वेण=यथाक्रम । तेसिं भगवओ=उन भगवान् महावीर के । अणुट्ठाणे=धर्म में । वाइया=शिक्षित किये जाते हैं । त्ति बेमि=ऐसा मैं कहता हूँ ।

भावार्थ—हे जम्बू ! जो असंयम से निवृत्त हैं और बहुत लम्बे समय से संयम में रम रहे हैं तथा उत्तरोत्तर शुभ अध्यवसायों पर चढ़ने वाले हैं उन साधकों को संयम में उत्पन्न अरति क्या विचलित कर सकती है ? अर्थात् नहीं कर सकती । क्योंकि ऐसा साधक सदा जागृत रहकर उत्तरोत्तर शुभ अध्यवसायों की श्रेणियों पर चढ़ता जाता है इसलिए वह पानी से कदापि व्याप्त न होने वाले द्वीप के समान है । तीर्थंकर-भाषित धर्म भी ऐसे ही द्वीपतुल्य है । मुनि साधक भोगों की इच्छा नहीं करते हुए, जीव-हिंसा न करते हुए सर्वलोक के प्रियपात्र बनकर मर्यादा में रहकर पंडित पद प्राप्त करते हैं । जिस प्रकार पक्षी अपने बच्चे को सावधानी पूर्वक पाल-पोष कर समर्थ बनाते हैं इसी प्रकार जो शिष्य अभी भगवान् के धर्म में अच्छी तरह रमे नहीं हैं उन्हें आचार्यादि समर्थ साधक, दिनरात सावधानी पूर्वक शिक्षा देकर धर्म में कुशल बनाते हैं । (इस तरह वे शिष्य भी शिक्षा पाकर संसार को तैर सकने में समर्थ होते हैं) ।

विवेचन—परीषहों और संकटों के कारण कई साधकों को संयम में अरति (ग्लानि) उत्पन्न हो जाती है । वे जिस मुमुक्षुता और वैराग्यवृत्ति से प्रेरित होकर संयम स्वीकार करते हैं वह संकटों के उपस्थित होने पर अधीरता के कारण लुप्तप्राय हो जाती है । जिस प्रकार स्वच्छ वस्त्र पर काला दाग लगने से उसकी स्वच्छता नष्ट हो जाती है उसी तरह चित्तवृत्ति पर जब संकटों से उत्पन्न हुई ग्लानि का असर हो जाता है तो वह संयम की पवित्रता का नाश कर देती है । जो साधक लम्बे काल से संयम का पालन करते चले आ रहे हैं उन्हें भी कदाचित् इन्द्रियों की चञ्चलता और प्रबलता से अथवा मोह-शक्ति की

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

विचित्रता से संयम में अरति उत्पन्न हो जाती है। इन्द्रिय-ग्राम अति प्रबल होते हैं। ये इन्द्रियाँ जरा से निमित्त को पाकर उत्तेजित हो जाती हैं और चिरसंचित संयम का नाश कर डालती हैं। बड़े बड़े ज्ञानी और उच्चस्थिति पर पहुँचे हुए व्यक्ति भी कर्मपरिणति के कारण पतित होते देखे गये हैं। कहा है:—

कम्माणि णूणं घणचिक्कणाइं गरुयाइं वइरसाराइं।
णाणट्ठिअंपि पुरिसं पंथाओ उप्पहं णिति ॥

अर्थात्—कर्म निश्चित ही अति घन, चिकने और वज्र के समान भारी हैं। ये ज्ञानी पुरुष को भी सन्मार्ग से हटाकर उन्मार्ग में ले जाते हैं। कर्म परिणति अति विचित्र है लेकिन जो साधक पाप से विरत हैं, चिरकाल से संयम में रत हैं और निरन्तर शुभ अध्यवसाय वाले होते हैं उन्हें अरति उत्पन्न नहीं हो सकती है। संयम में उन्हें ग्लानि नहीं होती है।

विरत, भिक्षु, चिरसंयमी और उत्तरोत्तर प्रशस्त भावों में रमण करने वाले साधक को क्या अरति उत्पन्न हो सकती है? यह सूत्रकार ने प्रश्न उपस्थित किया है। सूत्रकार ने यह दृढ़ अनुभव व्यक्त किया है कि ऐसे सुयोग्य साधक को कदापि ग्लानि नहीं हो सकती। सूत्रकार यह प्रतीति देते हैं कि ऐसे साधक को कोई प्रलोभन या संकट के प्रसंग स्पर्श नहीं कर सकते। स्पर्श करने पर भी उसे विचलित नहीं कर सकते। उक्त विशेषणों वाला साधक इतनी उच्चकोटि पर पहुँचा हुआ होता है कि उस पर अच्छे या बुरे प्रसंगों का असर नहीं पड़ सकता। ऐसा साधक समता की ऐसी श्रेणी पर पहुँचा हुआ होता है कि उस पर परीषह अपना प्रभाव नहीं डाल सकते। परीषहों में साधक की जो वृत्ति रहती है उस पर से उसके विकास का माप निकाला जा सकता है। जो साधक जितना आगे बढ़ा हुआ होता है वह उतना ही सहिष्णु और अविचल होता है। जो साधक संयम में सदा जागृत है और संयम के उत्तरोत्तर कण्डकों को स्पर्शता हुआ प्रशस्त भावों की श्रेणी पर चढ़ता जाता है और यथाख्यात चारित्र के अभिमुख बढ़ता जाता है वह स्वयं तो ग्लानि का अनुभव करता ही नहीं है पर दूसरों को भी ग्लानि से बचाता है और उन्हें शरण रूप होता है। इसलिए सूत्रकार ने उसे द्वीप की उपमा प्रदान की है।

द्वीप दो तरह के होते हैं—(१) द्रव्यद्वीप और (२) भावद्वीप। द्रव्यद्वीप आश्वासन द्वीप है। अर्थात् समुद्र में भटकते हुए व्यक्तियों को आश्वासन देने वाला द्वीप होता है। द्वीप को प्राप्त करके समुद्र में भटकते हुए मल्लाह एवं यात्री शान्ति प्राप्त करते हैं इसी तरह सदा जागृत साधक, अन्य साधकों के लिए आश्वासन रूप होता है अतएव वह भी द्वीप तुल्य है। द्रव्य द्वीप भी दो प्रकार के हैं—सन्दीन और असन्दीन। जो द्वीप पक्ष में या महीने में समुद्र में आने वाले ज्वार भाटे से जलव्याप्त हो जाता है वह सन्दीन द्वीप है। जो द्वीप समुद्र के जल से कभी भी व्याप्त नहीं होता वह असन्दीन द्वीप कहलाता है। जैसे सिंहल द्वीप। यहाँ अविचल रहने वाले साधक को असन्दीन द्वीप की उपमा दी गई है। जिस प्रकार असंदीन द्वीप समुद्र में चाहे जैसा तूफान आवे अथवा समुद्र का जल कितना ही क्यों न बढ़ जावे लेकिन वह कभी जल-मग्न नहीं होता है इसी तरह ऐसे साधक पर चाहे जैसे संकट आवें तो भी वह उन संकटों से विचलित नहीं होता है। द्वीप जिस प्रकार पानी के बीच में रहता हुआ भी अपना और दूसरों का रक्षण बराबर कर सकता है इसी तरह ऐसे साधक के आसपास चारों तरफ संसार के अनेक रंगराग के प्रलोभन और संकट खड़े होते हैं तो भी जल में कमल के समान निर्लेप रहकर वे स्वयं अविचल रहते हैं और दूसरों को स्थिर करने में प्रेरक होते हैं।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

कई आचार्य भाव द्वीप की व्याख्या इस प्रकार करते हैं—भावद्वीप सम्यक्त्व है। द्वीप को प्राप्त करके प्राणी आश्वासन पाते हैं इसी तरह सम्यक्त्व की प्राप्ति से संसार परीत हो जाता है अतएव मुमुक्षु प्राणी सम्यक्त्व की प्राप्ति से आश्वासन पाते हैं। यह सम्यक्त्व औपशमिक क्षायोपशमिक आदि रूप से तो सन्दीन भावद्वीप है और क्षायिक समकित असन्दीन भाव द्वीप है।

"दीवे" इस प्राकृत शब्द का संस्कृतरूप दीप भी होता है। इसलिए परीषहों में अविचल रहने वाले साधक को दीप की उपमा भी सुघटित होती है। जिस प्रकार दीप पदार्थों को प्रकट करने में निमित्त-भूत होता है इसी तरह ऐसा साधक अन्य प्राणियों को हेय उपादेय का तत्त्व समझाता है। दीप स्वयं प्रकाश रूप होता है और अन्य को प्रकाशित करता है इसी तरह ऐसा साधक स्वयं परीषहों और उपसर्गों से विचलित नहीं होता और अन्य को भी अपने उपदेश द्वारा विचलित नहीं होने देता है। दीप का अर्थ प्रकाश दीप समझना चाहिए। सूर्य, चन्द्र, मणि आदि असन्दीन दीप हैं और विद्युत्, उल्का आदि सन्दीन दीप हैं। यहाँ सूर्य-चन्द्रादि असन्दीन दीप की उपमा समझनी चाहिए। जिस प्रकार सूर्य और चन्द्रमा जगत् का उपकार करते हैं अतएव वे जगत् के लिए आश्वासनरूप हैं इसी तरह ऐसा गुणविशिष्ट साधक भी अन्य साधकों के लिए आश्वासनरूप होता है।

अथवा ज्ञान ही भावदीप है। श्रुतज्ञानादि सन्दीन भावदीप हैं और केवलज्ञान असन्दीन भावदीप है। इसे प्राप्तकर प्राणी अवश्यमेव आश्वासन पाते हैं। परीषहों में अविचल रहने वाला साधक उक्त कारणों से असन्दीन द्वीप या दीप तुल्य है।

अब सूत्रकार यह प्ररूपणा करते हैं कि तीर्थंकर-भाषित जैन धर्म भी द्वीप तुल्य है। जिस प्रकार द्वीप समुद्र में नौका या जहाज आदि के भङ्ग हो जाने पर अनेक प्राणियों के लिए शरण रूप होता है और यों भी अनेक जीवों को आश्रय देता है इसलिए वह आश्वासनरूप है इसी तरह यह जैनधर्म भी संसार में डूबते हुए अनेक जीवों को आश्वासन देने वाला है, उनके लिए त्राण और शरणरूप होता है। इसका अवलम्बन लेकर अनन्त प्राणी संसार से पार हुए हैं। जिस प्रकार द्वीप जलादि से व्याप्त नहीं होता है—समुद्र के ज्वारभाटे का उस पर प्रभाव नहीं पड़ता है इसी तरह यह तीर्थंकर-भाषित धर्म, कष, ताप, छेद और निर्घटना (ताड़न) रूप परीक्षा से परीक्षित सत्य स्वर्ण है। इस पर अन्य तीर्थियों के कुतर्कों का प्रभाव नहीं पड़ सकता है। जिस प्रकार कसौटी पर कसने से, अग्नि में तपाने से, काटने से और घड़ने से स्वर्ण की परीक्षा होती है इसमें उत्तीर्ण होने से वह खरा स्वर्ण कहा जाता है इसी तरह जैनधर्म विविध दृष्टिबिन्दुओं से परीक्षा करने पर भी सत्य ही है। यह धर्म नैसर्गिक और विश्वव्यापी है। जैसे द्वीप अनेक संतप्त प्राणियों को आश्वासन देता है इसी तरह जिनभाषित धर्म भी इतना ही आश्वासन देने वाला है। वह पीड़ित, पतित और दलितों को भी आश्रय देता है। धर्म की यह उदारता और व्यापकता धर्मिष्ठ कहाने वाले व्यक्तियों के लिए विचारणीय है।

इस आर्यभाषित जैनधर्म के आराधक कैसे होते हैं यह सूत्रकार फरमाते हैं कि—इस धर्म का अनुष्ठान करने वाले साधक भोगलालसा का सर्वथा त्याग करते हैं और किसी प्राणी को पीड़ा नहीं पहुँचाते हैं। वे सर्वजनों के प्रियपात्र होते हैं। ऐसे मर्यादा में रहने वाले पण्डित साधक इस आर्य प्ररूपित धर्म का सम्यग् पालन करते हैं यह कहकर सूत्रकार ने यह सूचित किया है कि जितनी वासनाएँ मन्द होंगी उतनी ही अहिंसा जीवन में उतरती जायगी। अहिंसा—विश्वबन्धुत्व ही धर्म का फल है। अहिंसक साधक ही जैनधर्म के सच्चे आराधक हैं। ऐसे साधक ही पण्डित कहे गये हैं।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

जो अपरिपक्व साधक अभी सम्यग् विवेक के अभाव से इस रहस्य को नहीं समझ सके हैं और जो अभी जागृत नहीं हुए है उन्हें जागृत और प्रौढ साधक द्विज-पोत (पक्षी के बच्चे) के समान सावधानी पूर्वक समर्थ बनावें यह सूत्रकार फरमाते हैं। जिस प्रकार पक्षी गर्भ-प्रसव काल से लगाकर अण्ड रूप में और बाद में भिन्न २ अवस्थाओं में भी अपने बालक का सावधानी पूर्वक वहाँ तक पालन करते हैं जहाँ तक वह उड़ने में समर्थ नहीं हो जाता। इसी तरह आचार्य भी शिष्य को प्रव्रज्या देकर उसी समय से समाचारी के उपदेश और पठनपाठन द्वारा जब तक वह गीतार्थ न हो जाय तब तक उस की पालना करे। उसे शास्त्रीय ज्ञानद्वारा परिकर्मित बनावे ताकि वह भी संसार-समुद्र से पार हो सके।

अपरिकर्मित साधक साधना के विकट पंथ में कष्टों और परीषहों से व्याकुल हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में प्रौढ साधकों का यह कर्त्तव्य है कि वे ऐसे साधकों की ग्लानि को दूर करे और उनमें नव-चेतनता का सञ्चार करे। धर्मिष्ठ साधकों का जीवन परोपकार के लिए अर्पित हो जाता है। इनकी प्रत्येक क्रिया जगत् के हित के लिए ही होती है। राहभूलों के प्रति ये पिता के तुल्य वत्सलता रखते हैं। उन्हें प्रयत्न के साथ सन्मार्ग पर लाते हैं और उन्हें भी ऐसे समर्थ कर देते हैं कि वे भी संसार से पार हो जाते हैं। आचार्य को शिष्य के कल्याण के लिए प्रयत्न करना चाहिए और शिष्य को सदा आचार्य की आज्ञा में ही रहना चाहिए। इस प्रकार के व्यवहार से दोनों की संयमयात्रा मोक्ष को प्राप्त करके निर्विघ्न पूर्ण हो जाती है।

—उपसंहार—

इन्द्रियों और वृत्तियों पर विजय प्राप्त करने के लिए देहदमन की आवश्यकता है। देहदमन के लिए उपकरणों की लघुता होनी चाहिए। ज्यों-ज्यों उपकरण घटेंगे त्यों-त्यों उपाधि और पाप दूर हटेंगे। बाह्य अचेलकता और मुण्डन के साथ आभ्यन्तर अचेलकता और मुण्डन—हृदयशुद्धि आवश्यक है। जितना देहाध्यास छूटता है उतना ही जीवन नैसर्गिक बनता है। देहदमन का उद्देश्य कषायों को कृश करना है। ऐसा संयम ही मोक्ष का कारण होता है।

इति तृतीयोद्देशकः

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

धूत नाम षष्ठ अध्ययन

—चतुर्थोद्देशकः—

(गौरव-परित्याग)

गत तृतीय उद्देशक में शरीर एवं उपकरण-धुनन का उपदेश दिया गया है। जो व्यक्ति आराम-प्रिय (सुख-लम्पट) होता है वह उक्त प्रकार का देहदमन नहीं कर सकता। सातागौरव, ऋद्धिगौरव और रसगौरव का परिहार किये बिना देहदमन अशक्य है और देहदमन के बिना वृत्तियों पर विजय प्राप्त करना दुष्कर है। अतएव इस अध्ययन में गौरवत्रिक के परिहार का उपदेश दिया जाता है।

साधना का मार्ग बड़ा विकट है। साधना के मार्ग पर चलना फूलों की शय्या पर सोने के समान सरल नहीं है। साधना का पंथ घनी झाड़ियों से घिरे हुए वन की भांति अटपटा है। काम-क्रोध आदि हिंसक जन्तुओं के आक्रमण से बचने के लिए सतत सावधान रहना पड़ता है। इस वन में मान्यता और सिद्धान्तों की कई टेढ़ीसेढ़ी पगदंडियाँ फूटती हैं जिनमें पथिक असमंजस में पड़ जाता है तदपि उसको उनमें से अपना मार्ग शोधना ही पड़ता है। उस मार्ग पर चलते हुए सत्पुरुषों के शिक्षामय वचन साता-प्रियता के कारण कण्टक के समान उसके खुले पैरों में चुभते हैं। इस प्रकार साधना का मार्ग विकट है। वह अनेकों संकटों से भरा हुआ है। इस मार्ग पर सफलतापूर्वक चलने के लिए सद्गुरु रूप पथप्रदर्शक की आवश्यकता होती है। जिस व्यक्ति ने सद्गुरुदेव रूप पथप्रदर्शक की शरण स्वीकार की है वह इधर उधर नहीं भटकता हुआ इस मार्ग को पार कर लेता है। कई साधक अभिमान के आवेश में गुरुदेव की शरण नहीं स्वीकार करते अथवा शरण लेकर उद्धत हो जाने से नहीं पचा सकते। अहंकार ऐसे साधकों की बुद्धि को विकृत बना देता है। ऐसे उद्धत शिष्य साधना के मार्ग में इतस्ततः भटकते फिरते हैं परन्तु आगे नहीं बढ़ पाते। यहाँ ऐसे ही गौरव से गर्वित शिष्यों का उल्लेख करते हुए सूत्रकार फरमाते हैं:—

एवं तै सिस्सा दिया य राओ य अणुपुव्वेण वाइया तेहिं महावीरेहिं पन्नाणमन्तेहिं तेसिमन्तिए पन्नाणमुवलब्भ हिच्चा उवसमं फारुसियं समाइयंति, वसित्ता बंभचेरंसि आणं तं नो त्ति मन्नमाणा।

संस्कृतच्छाया—*एवन्ते शिष्या दिवा च रात्रौ चानुपूर्वेण वाचितास्तैर्महावीरैः प्रज्ञानवद्भिः तेषा-मन्तिके प्रज्ञानमुपलभ्य त्यक्त्वोपशमं पारुष्यं समाददति, उषित्वा ब्रह्मचर्ये आज्ञां तां नो इति मन्यमा ः।*

शब्दार्थ—एवं=इस प्रकार। तेहिं=उन। महावीरेहिं=वीर। पन्नाणमंतेहिं=विद्वान् गुरुदेव के द्वारा। दिआ य राओ य=दिन और रात। अणुपुव्वेण=क्रमशः। वाइया=शिक्षित

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

किये हुए। ते सिस्सा=वे शिष्य। तेसिमन्तिए=उनके पास से। पन्नाणं=ज्ञान। उवलब्भ=प्राप्त करके। उवसमं=शान्तभाव को। हिच्चा=छोड़कर। फारुसियं=कठोरता को। समाइयंति=ग्रहण करते हैं। बंभचेरंसि=संयम में। वसित्ता=रहकर। तं आणं=तीर्थङ्कर देव की आज्ञा को। नो इति मन्नमाणा=नहीं मानते हैं-अथवा गुरु की आज्ञा को तीर्थङ्कर की आज्ञा नहीं मानते हैं।

भावार्थ—हे जम्बू! पूर्वोक्त रीति से वीर और विद्वान् गुरुदेव दिनरात सतत शिक्षा देकर शिष्यों को तैयार करते हैं। उनमें से कितनेक शिष्य गुरुदेव से ज्ञान प्राप्त करके, शान्तभाव को छोड़कर अभिमानी, स्वेच्छाचारी और उद्धत बन जाते हैं। तथा कतिपय शिष्य प्रथम तो संयम में उत्साहपूर्वक सम्मिलित होते हैं परन्तु बाद में सत्पुरुषों की आज्ञा का अनादर करके सुख-लम्पट होकर विविध विषयों की जाल में फसते हैं।

विवेचन—गत उद्देशक के उपसंहार में सूत्रकार ने द्विज-पोत (पक्षी के बच्चे) के उदाहरण के द्वारा अपरिपक्व साधकों को समर्थ और प्रौढ़ बनाने के लिए आचार्य सतत पुरुषार्थ करें यह निरूपण किया है। तदनुसार आचार्य शिष्यों को दिन और रात में यथाक्रम प्रथम और चतुर्थ प्रहर में कालिकसूत्र और अस्वाध्यायकाल को छोड़कर सकल अहोरात्र उत्कालिकसूत्र का अध्ययन करवाते हैं। वे आचारादि शास्त्रों का अध्ययन करते हुए कूर्म की तरह इन्द्रियों का गोपन करना चाहिए, युग (धूसरा) प्रमाण भूमि देखते हुए गति करनी चाहिए इत्यादि शिक्षाएँ प्रदान करते हैं। पांच प्रकार के ज्ञान में से श्रुतज्ञान का ही आदान-प्रदान हो सकता है, अन्य चार ज्ञानों का नहीं। शेष चार ज्ञान "ठप्पाइं ठवणिज्जाइं" कहे गये हैं क्योंकि उनका आदान-प्रदान नहीं हो सकता। विशिष्ट ज्ञानसम्पन्न और महावीर आचार्यादि एकान्त उपकार बुद्धि और सहज वत्सलता के कारण शिष्यों को श्रुतज्ञान का उपदेश करते हैं और शिष्य भी आचार्यादि गुरुजनों से शिक्षा ग्रहण करते हैं। इनमें से कतिपय शिष्य आचार्यादि से ज्ञान प्राप्त करके उसे पचाने में असमर्थ होते हैं। ज्ञान को नहीं पचा सकने के कारण वे अभिमानी, स्वच्छन्दाचारी और उद्धत बन जाते हैं। ज्ञान का फल उपशम है। ज्ञान से कषायों की उपशान्ति होनी ही चाहिए। ज्ञान से विनय पैदा होना चाहिए। परन्तु जिस प्रकार ऊँची मात्रा हजम होने पर बल और स्वास्थ्यवर्द्धक होती है परन्तु वही हजम न होने पर विपरीत परिणाम देती है। वह हानिकारक होती है और नवीन रोग को उत्पन्न करती है। इसी तरह जो साधक ज्ञान को नहीं पचा सकते हैं उनके लिए गुरु आदि से प्राप्त किया हुआ ज्ञान-रसायन अभिमानरूपी रोग को उत्पन्न करने वाला हो जाता है। ऐसे साधकों को ज्ञान का अजीर्ण हो जाता है। वस्तुतः अनुभव बिना ज्ञान पचता नहीं है। इसीलिए अनुभवी पुरुषों ने जिज्ञासु की योग्यता देखकर ही ज्ञान देने का कथन किया है। जिस प्रकार कुशल वैद्य रोगी की पाचन-शक्ति की परीक्षा करने के बाद ही मात्रादि पौष्टिक औषधि देता है उसी तरह जिज्ञासु की योग्यता की परीक्षा के बाद ही उच्चकोटि का ज्ञान उसे देना चाहिए। इसी दृष्टिबिन्दु को लक्ष्य में रखकर ही इस श्रेणी के साधकों के लिए अमुक प्रकार का वाचन, अमुक प्रकार का संग, अमुक प्रकार का खान-पान आदि की नियमबद्धता सूचित की गई है। इन नियमों का पालन करना ही उनके लिए हितकर होता है।

ऐसे अभिमानी शिष्य उपशम भाव का त्याग करते हैं। उपशम दो प्रकार का है—(१) द्रव्य उपशम और (२) भाव उपशम। रज आदि मलिन जल में फिटकरी आदि या कतक वनस्पति के डालने

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

देने से जल के अन्दर रही हुई रज नीचे बैठ जाती है और जल निर्मल हो जाता है यह द्रव्य उपशम है। भाव उपशम ज्ञान, दर्शन व चारित्र के भेद से तीन प्रकार का है। आक्षेपणी आदि धर्मकथा के द्वारा जो शान्ति प्राप्त होती है वह ज्ञानोपशम है। इसी प्रकार शुद्ध श्रद्धान रूप दर्शन द्वारा जो उपशम प्राप्त होता है वह दर्शनोपशम है जैसे श्रेणिक राजा ने अपनी दृढ़ श्रद्धा के कारण देवता को भी श्रद्धालु बनाया। क्रोधादि का उपशम और विनय, नम्रता आदि की प्राप्ति चारित्रोपशम है। इस प्रकार उपशम भाव को छोड़कर क्रोधी और मानी शिष्य ज्ञानसागर के एक बिन्दु को पाकर अति गर्वित हो जाता है। वह अनन्त ज्ञानियों के वचनों का तिरस्कार करने में नहीं हिचकता। वह अपने आपको ही अनन्त ज्ञानी मानकर गुरुदेव की हीलना करने लगता है और कहता है कि गुरुदेव की बुद्धि तो कुण्ठित है। मैं जैसा अर्थ कहता हूँ वही सही है। इस प्रकार थोड़े से अक्षरों के ज्ञान से वह अपने आपको अनन्त ज्ञानी मानकर अपनी क्षुद्रता का आविर्भाव करता है। जिस प्रकार कुक्कड़े का बच्चा मोती को जवार का दाना समझ कर लेने जाता है परन्तु पास में आने पर उसे छोड़ देता है अर्थात् वह मोती की कदर नहीं कर सकता है इसी तरह क्षुद्र साधु गम्भीर सूत्र के परमार्थ को नहीं समझने से उसे तुच्छ समझता है। परन्तु कुक्कड़े के मोती को फेंक देने से मोती का मूल्य कम नहीं होता। इसी तरह क्षुद्र व्यक्ति अगर शास्त्रों के महत्त्व को नहीं समझ सकता तो इससे शास्त्रों का महत्त्व कम नहीं होता। ऐसे तुच्छाभिमानी साधकों की दशा त्रिशंकु के समान हो जाती है। गुरु की आज्ञा उन्हें कण्टक तुल्य प्रतीत होती है इसलिए न तो वे संयम का आनन्द ले सकते हैं और न संसार का। वे गुरु के अनुशासन को बंधन मानते हैं लेकिन इससे वे अपनी प्रवृत्तियों के बन्धन में जकड़ा जाते हैं जिससे उद्धत बनकर विपरीत प्रवृत्ति में पड़ जाते हैं। ऐसे साधकों का ज्ञान केवल वाचालता के रूप में परिणत होता है। यद्यपि वे अन्य लोगों को अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, विनय, आज्ञापालन आदि का सुन्दर भाषा में उपदेश करते हैं लेकिन स्वयं क्रियात्मक रूप से अपने जीवन में नहीं उतारते। ऐसे साधक लोगों की दृष्टि में भले ही त्यागी और संयमी मालूम होते हों लेकिन वे आत्म-सम्मान नहीं पा सकते। आखिर उनका पतन होता है।

कई साधक इस कोटि के होते हैं कि वे प्रथम तो उत्साहपूर्वक संयम स्वीकार करते हैं परन्तु पश्चात् वे साताभिलाषी हो जाते हैं और उन्हें संयम के नियमोपनियम बंधन रूप मालूम होने लगते हैं। ऐसे साधक संयम के प्रति असावधान हो जाते हैं और शरीर का तथा अन्य विषयों का मोह जागृत हो जाता है। इसके कारण वे वीतराग की आज्ञा की अवगणना कर देते हैं और सुखलम्पट हो जाते हैं। साधकों के लिए जो उत्सर्ग और अपवाद मार्ग का कथन किया गया है उसके आशय को न समझ कर वे उत्सर्गमार्ग को छोड़कर अपवाद का शरण लेते हैं। तात्पर्य यह है कि इस श्रेणी के साधकों ने त्याग और तप का वास्तविक अर्थ नहीं समझा। प्रथम तो किसी आवेशवश अथवा संयोगों से बाधित होकर त्याग-मार्ग स्वीकार कर लेते हैं परन्तु बाद में आवेग के शान्त होने से पुनः पदार्थों के प्रति उनका मन दौड़ने लगता है। ऐसे साधक वीतराग की आज्ञा का पालन नहीं करते हैं। प्रथम वर्णित साधकों में और इनमें यह अन्तर है कि उनमें अभिमान और उद्दण्डता होती है, इनमें साताप्रियता होती है। पहली कोटि के साधकों की अपेक्षा ये शीघ्र सुसाध्य हैं। ये दोनों अवस्थाएँ हेय हैं।

अधायं तु सुचा निसम्म, समणुन्ना जीविस्सामो एगे निक्खमंते असंभवंता विडज्झमाणा कामेहिं गिद्धा अज्झोववन्ना समाहिमाघायमझोसयंता

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

सत्थारमेव फरुसं वयंति। सीलवंता उवसंता संखाए रीयमाणा असीला अणुवयमाणस्स बिइया मंदस्स बालया।

संस्कृतच्छाया—*आख्यातमेव श्रुत्वा निशम्य, समनोज्ञा जीविष्यामः एके निष्क्रम्य असंभवन्तो विदह्यमानाः कामैर्मूर्छिता अध्युपपन्नाः समाधिमाख्यातमजोषयन्तः शास्तारं परुषं वदन्ति। शीलवन्तः उपशान्ताः संख्यया रीयमाणाः अशीला अनुवदतः द्वितीया मंदस्य बालता।*

शब्दार्थ—आघायं=जिनभाषित तत्त्व कहे जाने पर। सुच्चा=सुनकर। निसम्म=समझ कर। समणुन्ना=माननीय होकर। जीविस्सामो=जीवन व्यतीत करेंगे ऐसा विचार कर। एगे=कतिपय। निक्खमंते=दीक्षा लेकर। असंभवंता=मोक्षमार्ग में नहीं चलते हुए। कामेहिं=कामेच्छा से। विडज्झमाणा=जलते हुए। गिद्धा=सुख में मूर्छित होकर। अज्झोववन्ना=विषयों का ध्यान करके। आघायं=जिनभाषित। समाहिं=समाधि को। अजोसयंता=नहीं पाते हुए। सत्थारमेव=शिक्षा देने वाले को ही। फरुसं=कठोर वचन। वयंति=बोलते हैं। सीलमंता=चारित्रसम्पन्न। उवसंता=शान्त क्षमावंत। संखाए=विवेक से। रीयमाणा=वर्ताव करते हुए मुनियों को। असीला=कुशील। अणुवयमाणस्स=कहने वाले। मंदस्स=मूर्ख की। बिइया=दूसरी। बालया=अज्ञानता है।

भावार्थ—कुशील के दुष्परिणाम व जिनभाषित तत्त्व कहे जाने पर उसे सुनकर भी कतिपय व्यक्ति "अपन सभी के माननीय होवेंगे" ऐसा विचार कर दीक्षा धारण करते हैं इसलिए मोक्षमार्ग में नहीं चलते हुए, कामों से जलते हुए, सुख में मूर्छित होकर विषयों में मन करके तीर्थंकर भाषित समाधि को नहीं पाते हुए हितशिक्षा देने वाले की निन्दा करने लगते हैं। तथा कितनेक स्वयं भ्रष्ट होते हुए दूसरे सुशील और क्षमावंत तथा विवेक से वर्तते हुए मुनियों को भ्रष्ट कहते हैं ऐसे शिथिलाचारी अज्ञानियों की सचमुच दूनी मूर्खता समझनी चाहिए।

विवेचन—पूर्व सूत्र में साधकों की दो कोटियाँ बताने के बाद अब शास्त्रकार और इस विषय में फरमाते हैं कि कितने ही व्यक्ति इस श्रेणी के होते हैं जो त्याग और संयम को आत्मकल्याण के लिए नहीं स्वीकार करते परन्तु त्यागियों के त्यागबल और चारित्र सम्पन्नता की प्रतिष्ठा, पूजा और सन्मान देखकर वे उसे प्राप्त करने के लिए ललचाते हैं। हम भी ऐसा वेश धारण करके जनसमुदाय के माननीय व पूजनीय होवेंगे इस आशय से वे त्यागमार्ग स्वीकार करते हैं। उनका आशय ही मूल से अशुद्ध है तो उसके फल की सुन्दरता की आशा ही कैसे की जा सकती है? जो त्याग रुचिपूर्वक नहीं स्वीकार किया जाता है वह भला कैसे टिक सकता है? अन्तःकरण के सच्चे वैराग्य से ही त्याग पच सकता है। लेकिन इस श्रेणी के साधक को पदार्थों के प्रति विरक्ति और अनासक्ति पैदा नहीं होती। वह हृदय से पदार्थों की अभिलाषा करता है परन्तु मान प्रतिष्ठा के लोभ से वह ऊपरी दृष्टि से उनका त्याग करता है। हृदय में जो आग

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

धधक रही है उसे बाहर से ढाँक देने से क्या शान्ति मिल सकती है ? ऐसे साधक त्यागमार्ग स्वीकार तो कर लेते हैं परन्तु वे मोक्षमार्ग में नहीं चल सकते। उन्हें आत्मकल्याण की इच्छा नहीं है लेकिन लोकैषणा की तमन्ना रहती है अतएव वे ख्याति प्राप्त करने के लिए ही प्रयत्न करते हैं। इसी कीर्ति की कामना से वे न्याय, व्याकरण, साहित्य और शास्त्रों का ज्ञान करते हैं। ज्ञान सीखने का उद्देश्य आत्मिक-जागृति करना है लेकिन उनका उद्देश्य ज्ञान प्राप्त कर अपनी विद्वत्ता का प्रभाव दूसरों पर डालने का होता है। वे अपनी विद्वत्ता से दूसरों को प्रभावित करने के लिए सुन्दर एवं आकर्षक शैली से व्याख्यान करते हैं। जनता का मनोरंजन करना ही उनके उपदेश एवं भाषणों का उद्देश्य होता है। ऐसा करके वे भले ही बाह्य प्रतिष्ठा प्राप्त कर लें लेकिन वस्तुतः यह भयंकर पतन है। लोकैषणा से प्रेरित होकर इस कोटि के साधक ऐसे २ कृत्य भी करते हैं जो त्यागियों के मार्ग को कलंकित करने वाले होते हैं। आत्मा का उन्हें भान नहीं होता अथवा भान होता है तो यश की कामना से उस भान की अवहेलना करते हैं इसलिये संयम के नियमोपनियम उन्हें बन्धन रूप मालूम होते हैं। वे बाह्य प्रदर्शन के लिए ही उनका पालन करते हैं या पालन करने का आडम्बर करते हैं। वास्तविक रीति से वे त्याग को नहीं अपनाते। साधक अवस्था या त्यागमार्ग उत्तरदायित्व से पूर्ण है। ऐसे उत्तरदायित्व पूर्ण मार्ग में ऐसे साधकों का मिल जाना अति अनिष्ट-कारक होता है। ऐसे मानलोलुपी साधु समाज को विकारों की ओर ले जाते हैं।

इस प्रकार के साधक मोक्षमार्ग में रमण नहीं कर सकते हैं। वे कामवासनाओं, इच्छाओं और विषयसुखों में आसक्ति रखते हैं इसलिए जिनभाषित विधि विधान का सेवन नहीं करते हैं। जब आचार्यादि ऐसे साधकों को शिक्षारूप में कुछ कहते हैं तो वे शिक्षा देने वाले की ही निन्दा करने लग जाते हैं। वे आचार्यादि गुरुजनों को कहते हैं कि—आप इस सूत्र का अर्थ बराबर नहीं समझते हैं—मैं जैसा जानता हूँ वैसा कौन अन्य जानता है ? इत्यादि नाना प्रकार से वे शिक्षादाताओं की अवहेलना करते हैं।

उपर्युक्त श्रेणी के साधक केवल गुरुजनों की ही अवहेलना नहीं करते परन्तु अन्य सदाचारी, सुशील और क्षमावन्त साधकों की भी निन्दा करते हैं। अपनी पूजा, प्रतिष्ठा और सन्मान बनाए रखने के लिए वे दूसरों की निन्दा करते हैं, दूसरों को भ्रष्टाचारी और शिथिलाचारी कहकर अपने दोष ढाँकने की व्यर्थ चेष्टा करते हैं। यह कितनी जघन्यता और निकृष्टता का कार्य है। अपनी जमी हुई प्रतिष्ठा कहीं चली न जाय, सच्चे त्यागियों के त्याग का सन्मान करके लोग कहीं हमें छोड़ न दें हमारा सन्मान कम न हो जाय इस भय से वे सुशील, उपशांत, विवेकपूर्वक संयम का पालन करने वाले एवं सद्गुणी साधकों की निन्दा करने लगते हैं लेकिन इससे उनका उद्देश्य पूर्ण नहीं होता। विवेकी पुरुष जान लेते हैं कि दूसरों की निन्दा करने वाला व्यक्ति स्वयं दयापात्र है। वह स्वयं अपने दोष को प्रकट करता है। सूत्रकार फरमाते हैं कि यह महान् अज्ञानता है। ऐसे विवेकहीन बालक सचमुच द्विगुण अपराध के भागी होते हैं। स्वयं चारित्रहीन हैं यह प्रथम दुर्गुण है इस पर चारित्र सम्पन्न की अवहेलना करना दूसरा अपराध है। ऐसे अपराधी सचमुच दया के पात्र हैं। उनके सामने जब कोई सदाचारियों की प्रशंसा करता है तो वे उसका अपलाप करते हैं। ऐसे साधक निकृष्ट श्रेणी के कहे जा सकते हैं। ये मोक्षमार्ग की आराधना नहीं कर सकते हैं। उनका त्याग केवल नाममात्र और दम्भ है। विवेकी साधकों को यह लक्ष्य में रखकर लोकैषणा का त्याग और परनिन्दा का परिहार करना चाहिए।

नियट्टमाणा वेगे आयारगोयरमाइक्खंति, नाणब्भट्ठा दंसणलूसिणो, नममाणा वेगे जीवियं विप्परिणामंति, पुट्ठा वेगे नियट्टंति जीवियस्सेव कारणा,

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

निक्खंतंपि तेसिं दुन्निक्खंतं भवइ, बालवयणिज्जा हु ते नरा, पुणो पुणो जाइं पकप्पिंति अहे संभवंता विद्दायमाणा अहमंसीति विउक्कसे उदासीणे फरुसं वयंति, पलियं पकथे अदुवा पकथे अतहेहिं तं वा मेहावी जाणिज्जा धम्मं ।

संस्कृतच्छाया—*निवर्त्तमाना वैके आचारगोचरमाचक्षते, ज्ञानभ्रष्टाः दर्शन विध्वंसिनो, नमन्तो वैके जीवितं विपरिणामयन्ति । स्पृष्टा वैके निवर्त्तन्ते जीवितस्यैव कारणात् निष्क्रान्तमपि तेषां दुर्निष्क्रान्तं भवति । बालवचनीयाः ते नराः पुनः पुनः जातिं प्रकल्पयंति अधः सम्भवन्तो विद्वांसो वयमिति मन्यमानाः व्युत्कर्षयेयुः उदासीनान् परुषं वदन्ति पलितं (अनुष्ठानं) प्रकथयेत् अथवा प्रकथयेत् तथ्यैः, तं वा मेधावी जानीयात् धर्मम् ।*

शब्दार्थ—एगे=कितनेक साधक । नियट्टमाणा=संयम से निवृत्त होते हुए भी । आयारगोयरं=संयम का आचार गोचर । आइक्खंति=बराबर कहते हैं । नाणब्भट्ठा=ज्ञान से भ्रष्ट । दंसणलूसिणो=दर्शन से भ्रष्ट । नममाणा=आचार्यादि को नमस्कार करते हुए भी । एगे=एक साधक । जीवियं=संयमित जीवन को । विप्परिणामंति=विकृत कर देते हैं । पुट्ठा वेगे=कितनेक साधक परीषहों के आने पर । जीवियस्सेव करणा=असंयमित जीवन के लिए । नियट्टंति=संयम से निवृत्त हो जाते हैं । तेसिं=उनका । निक्खंतंपि=संयम लेना भी । दुनिक्खंतं=खराब है । ते नरा हु=वे व्यक्ति इस कारण । बालवयणिज्जा=साधारण पुरुषों द्वारा भी निन्दित होते हैं । पुणो-पुणो=बार-बार । जाइं=जन्म को । पकप्पिंति=धारण करते हैं । अहे=नीचे । संभवंता=होकर भी । विद्दायमाणा=अपने आपको विद्वान् मानते हुए । अहमंसि त्ति="मैं ही हूँ" इस प्रकार । विउक्कसे=अपनी तारीफ करते हैं । उदासीणे=जो साधक राग-द्वेषरहित है उनको । फरुसं=कठोर शब्द । वयंति=बोलते हैं । पलियं=पूर्व के कार्यों का । पकथे=कथन करते हैं । अदुवा=अथवा । अतहेहिं=असत्य वचनों द्वारा । पकथे=उनकी निन्दा करते हैं । मेधावी=बुद्धिमान् । तं धम्मं=धर्म को । जाणिज्जा=भलीभांति जाने ।

भावार्थ—कितनेक साधक स्वयं शुद्ध संयम पाल नहीं सकते हैं परन्तु वे शुद्ध आचार-गोचर का कथन करके दूसरों को शुद्ध संयम पालने की प्रेरणा करते हैं । परन्तु जो साधक यह कहते हैं कि हम जो पालते हैं वही शुद्ध संयम है दूसरा नहीं, वे मूढ़ साधक ज्ञान और दर्शन से भ्रष्ट होते हैं । बाह्य दृष्टि से वे आचार्यादि को नमस्कार करते हैं परन्तु तो भी ऐसे साधक शुद्ध संयम से दूर हैं । कतिपय साधक परीषहों से डरकर असंयमित जीवन के लिए (मौजमजा करने के लिए) संयम से भ्रष्ट हो जाते हैं । ऐसे व्यक्तियों का घर छोड़कर प्रव्रज्या लेना भी धिक्कार रूप है । जो संयम से भ्रष्ट होकर भी अपनी विद्वत्ता का अभिमान करने वाले "हम ही विद्वान् हैं" ऐसा दम भरने वाले अपने शिक्षादाताओं को और

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

अपने विरक्त उदासीन साथियों की पूर्व के दोषों से अथवा झूठे वचनों से निन्दा करने लग जाते हैं वे साधारण व्यक्तियों के द्वारा धिक्कार पाते हैं और बहुत लम्बे समय तक संसार में परिभ्रमण करते हैं। इसलिए बुद्धिमान् साधक यह सब विचार कर धर्म के सच्चे स्वरूप को समझे।

विवेचन—स्वयं भ्रष्ट होते हुए भी अन्य सदाचारियों की निन्दा करने वाले अज्ञानियों की द्विगुण मूर्खता है यह पूर्व सूत्र में प्रतिपादित किया जा चुका है। अब सूत्रकार इससे विपरीत वृत्ति वाले साधकों की चर्चा करते हैं:—कतिपय साधक इस श्रेणी के होते हैं जो तथाविध कर्म परिणति के कारण स्वयं विशुद्ध रीति से संयम का पालन नहीं कर सकते हैं परन्तु वे अपनी कमजोरी प्रकट कर देते हैं। वे यह स्वीकार करते हैं कि आचारगोचर तो इस प्रकार का है परन्तु हम वैसा पालन नहीं करते हैं। वे अपनी निर्बलता को स्वीकार कर लेते हैं। वे इस प्रकार प्रगल्भता प्रदर्शित नहीं करते हैं कि हम जो करते हैं वही सही है। दोषों का सेवन करते हुए भी अपने आपको विशुद्ध संयमी कहकर वे दूसरी अज्ञानता सूचित नहीं करते हैं। शिथिलाचारी होकर भी कई अपने आपको आचार-सम्पन्न मानकर यह प्ररूपणा करते हैं कि जो हम करते हैं वही आचारमार्ग है। यह दुःषमकाल है, इसमें बलादि की हानि होती है इसलिए उत्सर्गमार्ग का यथाविधि पालन नहीं हो सकता है। कहा भी है:—

नात्यायतं न शिथिलं यथा युञ्जीत सारथिः।
तथा भद्रं वहन्त्यश्वा योगः सर्वत्र पूजितः॥

अर्थात्—जिस प्रकार सारथी रथ के घोड़ों की लगाम को न तो अधिक खींचता है और न ढ़ीली छोड़ देता है लेकिन मध्यमरीति से अश्वों को हाँकता है इसी तरह न तो अधिक उत्कृष्ट चारित्र का पालन करना चाहिए और न चारित्र में अधिक शिथिलता लानी चाहिए। मध्यममार्ग से संयम की पालना करनी चाहिए। इस प्रकार अपवाद मार्ग का आश्रय लेकर शिथिलाचार का पोषण करते हैं। अवसर्पिणी काल और दुःषम आरे के बहाने वे अपने दुर्गुणों और कमजोरियों पर पर्दा डालने की कोशिश करते हैं। लेकिन यह उनकी प्रगल्भता को सूचित करता है। ऐसे व्यक्तियों का सुधार शक्य नहीं होता है।

प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार जिन साधकों की चर्चा कर रहे हैं वे साधक यद्यपि विशुद्ध संयम का पालन नहीं करते हैं तदपि वे विशुद्ध आचार के प्रति श्रद्धा रखते हैं। वे दूसरों को शुद्ध आचार के पालन के लिए प्रेरणा करते हैं। वे विशुद्ध आचार वालों के प्रति बहुमान धारण करते हैं। ऐसे साधकों का सुधार बहुत शीघ्र हो जाता है क्योंकि वे अपने दोषों को स्वीकार करते हैं। दोषों को स्वीकार करने वाला साधक बहुत शीघ्र सन्मार्ग पर आ जाता है। इसके विपरीत जो व्यक्ति दोष करके उसे स्वीकार नहीं करके छिपाने की कोशिश करता है उसके सुधार की कोई आशा नहीं की जा सकती है। दोष करने की अपेक्षा दोष को छिपाने का प्रयत्न करना अधिक अपराध है—यह विशेष हानिकारक है।

जो साधक दोषों का सेवन करते हुए भी दोषों का समर्थन करते हैं और अपने ही कर्मों की सराहना करते हैं वे चारित्र से तो भ्रष्ट होते ही है लेकिन साथ ही साथ शुद्ध ज्ञान और दर्शन से भी भ्रष्ट हो जाते हैं। अपने दोषयुक्त कार्यों को निर्दोष सिद्ध करने के लिए वे सूत्रों की अन्यथा प्ररूपणा करते हैं और इस प्रकार जिनभाषित तत्त्वों के विरुद्ध अपने वचन-आडम्बर का प्रयोग करते हैं। ऐसा करते हुए वे स्वयं दर्शन से भ्रष्ट होते हैं और दूसरों को भी शंका उत्पन्न करके सम्यक्त्व से पतित करते हैं।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

इस कोटि के साधक यद्यपि व्यवहार दृष्टि से आचार्य एवं गुरुजनों को नमस्कार करते हैं और बाह्य आचार का पालन करते हैं तदपि वे भाव विनय से रहित होने से तथा वस्तुतः संयम में रक्त न होने से संयम से हीन ही है। संयम से हीन होते हुए भी हम ही सर्वोत्कृष्ट चारित्र के पालन करने वाले हैं ऐसी प्रगल्भता करके वे सत्य का खून करते हैं। ऐसे साधक असाध्य रोगी के समान होते हैं। ये ज्ञान, दर्शन और चारित्र तीनों से भ्रष्ट होते हैं।

कतिपय साधक इस कोटि के होते हैं जो साधना के मार्ग में आने वाले अनेक अनुकूल प्रतिकूल उपसर्ग एवं परीषहों के उपस्थित होने पर व्याकुल होकर साधना से पतित हो जाते हैं। ऐसे साधक साता के गवेषी होते हैं। शरीर के प्रति उनका मोह नष्ट नहीं होता है और पदार्थों के प्रति आकर्षण भी कम नहीं होता है। इसलिए कष्टों के आने पर वे अत्यन्त व्याकुल हो जाते हैं और यह विचारते हैं कि संयम के मार्ग में तो अनेक कष्ट आते हैं इससे अच्छा तो यही है कि गृहस्थाश्रम में रहकर सुखमय जीवन व्यतीत करें। ऐसे साधकों को अभी सच्चे सुख की प्रतीति नहीं हुई होती है इसलिए वे संयमी जीवन से घबराकर असंयमी जीवन स्वीकार कर लेते हैं। कतिपय साधक लोकलज्जा से डरकर संयमी वेश का त्याग तो नहीं करते हैं लेकिन संयम के प्रति उनका रस कम हो जाता है और किसी भी तरह वे संयम के वेश में असंयम-सा जीवन व्यतीत करते हैं। जिस प्रकार गलित अश्व बिना रुचि के गाड़े को किसी प्रकार खींचते हैं इसी प्रकार ऐसे साधक बिना रुचि एवं रसके किसी प्रकार से संयम का बाह्यरीति से पालन करते हैं। त्याग में तन्मयता न होने के कारण उनका जीवन नीरस और शुष्क बन जाता है। ऐसे साधक व्यक्तिगत या समाजगत किसी प्रकार का हितसाधन नहीं कर सकते। जिन्हें त्याग में रस नहीं मालूम होता उनका गृहवास त्यागना और न त्यागना एक समान है। उनका प्रव्रज्या लेना भी अयोग्य है। प्रव्रज्या स्वीकार करके ज्ञान, दर्शन, चारित्र, मूलगुण, उत्तरगुण आदि में दोष लगाना प्रव्रज्या को कलंकित करना है। ऐसे साधक साधारण पुरुषों से भी धिक्कार पाते हैं तथा जन्म-मरण की परम्परा की वृद्धि करते हैं।

कई साधक "हम ही ज्ञानी हैं" इस प्रकार के अभिमान में आकर दूसरों को नीचे मानकर पतन के मार्ग में जाते रहते हैं। वे थोड़े से अक्षरों के ज्ञान से अपने आपको महाज्ञानी समझकर आचार्यादि की अवहेलना करने लगते हैं और बोलते हैं कि हम बहुश्रुती हैं, आचार्य क्या जानते हैं? इस प्रकार मानोन्नत होकर रस एवं साता गौरव के वशवर्ती होते हुए आत्म-श्लाघा करते हुए नहीं थकते हैं। मैं ही ज्ञानी हूँ, मैं ही चारित्रवान हूँ, मैं ही ऊँचा हूँ, मैं ही ज्ञाति कुल सम्पन्न हूँ इस प्रकार का या अन्य किसी प्रकार का मिथ्याभिमान साधकों में रह जाय तो यह स्थिति अति अधम है। ऐसे साधकों को जब उनके सहयोगी शुद्ध आचार वाले साधक कुछ शिक्षारूप में कहते हैं तो वे उन्हें धुत्कारते हैं और तिरस्कार करते हुए बोलते हैं कि "तुम अपने आपको सुधारो फिर दूसरों को उपदेश देना"। अन्य भी रीति से—सहयोगी के पूर्व के कार्यों को कहकर—जैसे तू तो तृणहारा है आदि अतथ्य आरोपों द्वारा उनकी भर्त्सना करने लग जाते हैं। ऐसे साधक सबसे अधम हैं। वे बहुत काल तक जन्म-मरण करेंगे और और हट्टघटीयन्त्र के समान संसार में भटकते रहेंगे। उपसंहार करते हुए सूत्रकार फरमाते हैं कि बुद्धिमान् साधक धर्म के रहस्य को यथार्थ रीति से जाने। ऐसा जानकर सूत्रकार यह सूचित करते हैं कि अनेकान्तदृष्टि से सभी धर्मों, मतों और सम्प्रदायों को देखना चाहिए। सच्चा जिन प्ररूपित जैनधर्म किसी का तिरस्कार नहीं करता। उस जैनधर्म के अनेकान्तरूपी महासागर में सभी धर्म-नदियाँ मिल जाती हैं। दुनिया में धर्म के नामपर धार्मिक जनून कट्टरता का प्रचार हो रहा है यही कारण है कि इस कृत्रिम धर्म के नाम पर खून की नदियाँ बहायी गई है और मनुष्य मनुष्य में सहज होने वाले प्रेम में जहर डालकर

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

उनके बीच में भेद की दीवाल खड़ी की गई है। धार्मिक कट्टरता के कारण मानव-संस्कृति का विनाश हुआ है। यह कट्टरता अनिष्टरूप है। इसलिए सूत्रकार ने कहा है कि धर्म के रहस्य को यथार्थ जानो। धर्म के रहस्य को जानने वाला साधक साधना की सम-विषम श्रेणियों को पार करता हुआ मोक्षमार्ग की ओर बढ़ता जाता है।

अहम्मट्ठी तुमंसि नाम बाले आरंभट्ठी अणुवयमाणे हण पाणे, घायमाणे हणओ यावि समणुजाणमाणे घोरे धम्मे, उदीरिए उवेहइ णं अणाणाए एस विसन्ने वियद्दे वियाहिए त्ति बेमि।

संस्कृतच्छाया—*अधर्मार्थी त्वमसि नाम बाल आरम्भार्थी अनुवदन् जहि प्राणिनः घातयन् घ्नतश्चापि समनुजानानः, घोरो धर्म्म उदीरितः, उपेक्षते अनाज्ञया, एषः विषण्णो वितर्दो व्याख्यातः इति ब्रवीमि।*

शब्दार्थ—आरंभट्ठी=सावद्य आरम्भ में प्रवृत्त होकर। हण पाणे=प्राणियों की हिंसा करो ऐसा। अणुवयमाणे=हिंसावाद का समर्थन करते हुए। घायमाणे=हिंसा कराते हुए। हणओ यावि समणुजाणमाणे=हिंसा करते हुए की अनुमोदना करते हुए। तुमंसि नाम=तुम। बाले=अज्ञानी हो। अहम्मट्ठी=और अधर्म के अभिलाषी हो। घोरे धम्मे=दुरनुचर-कठिन धर्म। उदीरिए=जिनेश्वर देवों ने कहा है ऐसा समझ कर। उवेहइ=उसकी उपेक्षा करते हैं। अणाणाए=और तीर्थङ्कर की आज्ञा के बाहर होकर स्वेच्छा से प्रवृत्ति करते हैं। एस=ऐसे साधक। विसन्ने=कामभोग में मूर्छित। वियद्दे=हिंसा में तत्पर। वियाहिए=कहे गए हैं। त्ति बेमि=ऐसा मैं कहता हूँ।

भावार्थ—संयम में अस्थिर मन वाले साधकों को सत्पुरुष इस प्रकार उपदेश देते हैं कि हे पुरुष! तू सचमुच मूर्ख है। तू अधर्म को धर्म मान रहा है। हिंसावृत्ति से तू छोटे बड़े जीवों की हिंसा कर रहा है, "अमुक को मारो" इस प्रकार हिंसा का उपदेश कर रहा है, हिंसक की अनुमोदना कर रहा है। तू अज्ञान है, तू अधर्म का अर्थी है। हे साधक! ज्ञानी पुरुषों ने कायरों द्वारा दुरनुचर धर्म की प्ररूपणा की है परन्तु तू उनकी आज्ञा का भंग करके उत्तम कोटि के धर्म की उपेक्षा कर रहा है इसलिए तू मोह से मूर्छित और हिंसा में तत्पर हुआ दिखाई देता है ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—ऊपर के सूत्रों में साधना की सम और विषम श्रेणियों का प्रतिपादन किया गया है। संयम के मार्ग में साधक क्यों आगे नहीं बढ़ सकता है? साधक को क्या २ जटिलताएँ और बाधाएँ उपस्थित होती हैं? साधक क्यों त्याग को नीरस मानने लगता है? परीषहों में व्याकुल क्यों हो जाता है? इत्यादि प्रश्नों का उत्तर आगे के सूत्रों में दिया जा चुका है। उसका सार यह है कि साधक त्याग के वास्तविक स्वरूप को समझे बिना, बिना किसी विशेष लक्ष्य के, आवेशवश अथवा संयोगों के वश त्याग

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

मार्ग में सम्मिलित हो जाते हैं। उनका पदार्थों के प्रति मोह, सुखलम्पटता के प्रति रुचि और संसार का आकर्षण बने रहते हैं उनमें वैराग्य की भावना बलवती नहीं हुई होती है। यही कारण है कि थोड़े काल के व्यतीत होने पर उनका आवेश ठंडा हो जाता है और उनका मन तथा उनकी इन्द्रियाँ विषयों और पदार्थों की ओर दौड़ने लगती हैं इसलिए वे साधना में अति कष्टों का अनुभव करने लगते हैं और असंयमित जीवन में आनन्द मानने लगते हैं। इस प्रकार के साधकों को संयम में स्थिर करने के लिए सत्पुरुष गुरुदेव उन्हें उपदेशामृत का पान कराते हैं। सत्पुरुषों की दृष्टि कितनी अमीमय होती है! इनके हृदय में कितनी अनुकम्पा होती है! इनके वचनों में कैसी मधुरिमा होती है! पर-कल्याण की भावना से प्रेरित होकर वे चञ्चल चित्त वाले साधकों को उपदेश करते हैं कि—हे साधको! तुम सुखलम्पट बनकर अथवा अभिमान प्रसित होकर प्राणियों की हिंसा में प्रवृत्त होते हो, हिंसामय उपदेश देते हो, आधाकर्मी आहारादि लेकर पचनपाचनादि क्रिया में प्रवृत्त हिंसा करने वालों को अनुमोदन देते हो यह तुम्हारी बालता है। तुम दूसरों को यह उपदेश देते हो कि शरीर से ही धर्म किया जा सकता है। शरीर धर्म का साधन है इसलिए बड़े यत्न से इसका पालन करना चाहिए। ऐसा कहकर तुम शरीर सुख के अभिलाषी बन जाते हो और आत्म-सुख को विसरा देते हो। वस्तुतः यह तुम्हारी अज्ञानता है शरीर का पालन वहीं तक करना चाहिए जब तक वह संयम में बाधाकारी न हो। तुम तो शरीर सुख के लोलुपी बनकर आत्मा का भान भूल जाते हो और हिंसा का समर्थन करते हो। ऐसा करके तुम अपनी अधर्म भावना को प्रकट करते हो। तुमने धर्म और अधर्म का विवेक ही नहीं समझा है।

"तीर्थङ्कर देवों ने जिस धर्म की प्ररूपणा की है वह कायरों द्वारा दुरनुचर है। इस मार्ग पर वीर पुरुष ही प्रयाण कर सकते हैं। तुम इस वीरों के धर्म को बराबर नहीं समझते हुए कायर बन रहे हो और उस सद्धर्म की उपेक्षा कर रहे हो। वीतराग की आज्ञा का भंग करके तुम स्वेच्छाचार में प्रवृत्त हो रहे हो। तुम्हारी यह प्रवृत्ति सूचित करती है कि तुम कामभोगों में आसक्ति रखते हो, तुम्हारी इन्द्रियों को विषयों की ओर जाते हुए रोकने में तुम असमर्थ हो और तुम्हें अभी सांसारिक सुखों की कामना है जिसके कारण तुम इस प्रकार सावद्य अनुष्ठान में प्रवृत्ति करते हो। यह याद रखना चाहिए कि तुम्हारी ऐसी प्रवृत्तियों का परिणाम अति अनिष्ट रूप में आवेगा। इसलिए यह सब विचार करके वीतराग प्ररूपित धर्म के आशय को बराबर समझ कर तदनुसार प्रवृत्ति करना चाहिए। इसी में कल्याण, मंगल और सच्चा सुख रहा हुआ है। जिस सुख को तुम सुख समझ रहे हो वह वास्तव में दुख रूप है। हे साधको तुम बुद्धिमान् हो इसलिए विचारपूर्वक श्रुत और चारित्रमय धर्म को समझो और तदनुकूल प्रवृत्ति करो।

किमणेण भो! जणेण करिस्सामित्ति मन्नमाणे एवं एगे वइत्ता मायरं पियरं हिच्चा नायओ य परिग्गहं वीरायमाणा समुट्ठाए अविहिंसा सुव्वया दंता पस्स दीणे उप्पइए पडिवयमाणे वसट्टा कायरा जणा लूसगा भवंति, अहमेगेसिं सिलोए पावए भवइ, से समणो भवित्ता विब्भंते विब्भंते पासहेगे समन्नागएहिं सह असमन्नागए नममाणेहिं अनममाणे विरएहिं अविरए दविएहिं अदविए अभिसमिच्चा पंडिए मेहावी निट्ठियट्ठे वीरे आगमेणं सया परिक्कमिज्जासि त्ति बेमि।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

संस्कृतच्छाया—*किमनेन भो ! जनेन करिष्यामि, इति मन्यमाना एवमेके उदित्वा मातरं पितरं हित्वा ज्ञातीन् च परिग्रहं वीरायमाणाः समुत्थाय अविहिंसा सुव्रताः दान्ताः पश्य दीनान् उत्पतितान् प्रतिपततः वशार्त्ताः कातरा जनाः लूषका भवन्ति । अथमेकेषां श्लोको पापको भवति, विभ्रान्तो विभ्रान्तः पश्य यूयं एके समन्वागतैः सह असमन्वगतान् नममानैः अनममानान्, विरतैरविरतान् द्रव्यैरद्रव्यान् अभिसमेत्य पंडितो मेधावी निष्ठितार्थी वीरः आगमेन सदा पराक्रामयेरिति ।*

शब्दार्थ—एगे=कितनेक व्यक्ति । भो=हे पुरुष ! । किमणेण जणेण=माता-पितादि जनों से क्या । करिष्यामि=करूंगा । एवं=इस प्रकार । वइत्ता=कहकर । मायरं=माता को । पियरं=पिता को । नायओ=ज्ञातिजनों को । य परिग्गहं=और धन-धान्यादि परिग्रह को । हिच्चा=छोड़कर । वीरायमाणा=वीर के सदृश । समुट्ठाए=प्रव्रजित होते हैं । अविहिंसा=अहिंसक । सुव्वया=श्रेष्ठ व्रतधारी । दंता=जितेन्द्रिय होकर । उप्पइए=संयम पर चढ़े हुए भी पुनः । पडिवयमाणे=गिरते हैं । दीणे=और दीन बनते हैं सो । पश्य=तू देख । वसट्टा=इन्द्रियों के वश होने से दुखी । कायरा=सत्वहीन । जणा=मनुष्य । लूसगा=व्रतों के विध्वंसक । भवन्ति=होते हैं । अथ=अनन्तर । एगेसिं=किन्हीं की । सिलोए पावए भवइ=अपकीर्ति होती है कि । से समणो भविच्चा=वह साधु होकर । विब्भंते विब्भन्ते=भ्रष्ट होने वाला जा रहा है । पासह=देखो देखो । एगे=कोई साधक । समन्नागएहिं सह=उग्र-विहारियों के साथ रहता हुआ भी । असमन्नागए=प्रमादी होता है । नममाणेहिं=विनयवानों के साथ रहकर । अनममाणे=अविनीत होता है । विरएहिं=विरत पुरुषों के साथ रहकर भी । अविरए=अविरत होता है । दविएहिं=पवित्र पुरुषों के साथ रहकर भी । अदविए=अपवित्र होता है । अभिसमिच्चा=यह जानकर । पंडिए=पण्डित । मेहावी=बुद्धिमान् । निट्ठियट्ठे=विषय-वाञ्छा का त्यागी । वीरे=वीर साधक । आगमेन=सर्वज्ञ प्रणीत उपदेश के अनुसार । सया=सदा । परिक्कमिज्जासि=पराक्रम करे । त्ति बेमि=ऐसा मैं कहता हूँ ।

भावार्थ—कतिपय साधक त्यागमार्ग में प्रवजित होते समय प्राप्त भोगसम्बन्धों को "इनसे मुझे क्या सुख मिलने वाला है ? यह मानकर माता, पिता, ज्ञातिजन, धनदौलत इत्यादि को त्याग कर पराक्रम से दीक्षा धारण करते हैं और अहिंसा और व्रतों का पालन करते हैं तथा जितेन्द्रिय भी बनते हैं परन्तु पश्चात् (आवेग कम होने पर) संयम पर चढकर भी कायरता से संयम से पतित हो जाते हैं । हे शिष्य ! जो विषय और कषायों के वश होकर दुष्ट संकल्प किया करते हैं और जो सत्वहीन हैं वे संयम की विराधना करें और व्रतों का भंग करे तो क्या आश्चर्य की बात है ? संयम से भ्रष्ट होने वालों की दुनिया में अपकीर्ति होती है । लोग कहते हैं कि—अरे देखो यह साधु बनकर फिरसे गृहस्थ बन गया है । हे शिष्य ! कतिपय साधक ऐसे भी हैं जो उग्र विहारी साधकों के संसर्ग में रहकर भी आलसी होते हैं, विनीत साधकों के सम्पर्क में रहकर भी अविनीत रहते हैं, विरत आत्माओं साथ रहकर भी पापप्रवृत्ति में

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

पड़े रहते हैं और पवित्र पुरुषों के संसर्ग में रहकर भी अपवित्र बने रहते हैं। इसलिए आत्मार्थी जम्बू! यह सब रहस्य जानकर मर्यादाशील, पंडित, मोक्षार्थी और वीर साधक सदा जिनभाषित आगम के अनुसार पराक्रम करें ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—इस सूत्र के प्रारम्भ में सूत्रकार ऐसे साधकों की चर्चा करते हैं जो सही समझपूर्वक नहीं लेकिन आवेश-वश पदार्थों का तिरस्कार कर त्यागमार्ग स्वीकार कर लेते हैं। वास्तविक त्याग तो वह है जो समझपूर्वक—सत्यासत्य के विवेक के बाद—किया जाता है। किसी के सुन्दर शब्दों से प्रभावित होकर अथवा तिरस्कार-पूर्वक यह कहकर कि "इन पदार्थों में सुख नहीं है" जो त्याग किया जाता है वह अस्थिर होता है। विवेक-बुद्धि के बाद जो सहज वैराग्य उत्पन्न होता है वही स्थायी होता है। तिरस्कारपूर्वक पदार्थों को त्यागने वाला कालान्तर में पतित होता है यह सूत्रकार इस सूत्र में बताते हैं।

कतिपय साधक प्रव्रज्या लेते समय वैराग्य से रंगे रहते हैं। वे यह समझते हैं कि माता, पिता, स्त्री, पुत्र, धन-दौलत आदि से मुझे सुख मिलने वाला नहीं है। ये मुझे शरण देने वाले नहीं है। रोगादि के समय अथवा कर्मपरिणति के फल को भोगने के समय ये मुझे सहायता नहीं कर सकते हैं। यह जानकर वे माता-पिता आदि का एकदम त्याग कर देते हैं और वीर के समान त्यागमार्ग स्वीकार कर लेते हैं। यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि एकदम आवेश से स्वीकारा हुआ यह त्यागमार्ग तत्त्वातत्त्व के विवेक के बाद नहीं उत्पन्न हुआ है लेकिन यह भावना के आवेश से स्वीकारा हुआ है अतएव भावनाओं की दिशा बदलते ही त्याग की भी दिशा बदल जाती है। ऐसे साधक वीर के समान दीक्षा लेते हैं—व्रतों का पालन करते हैं, अहिंसा को धारण करते हैं और इन्द्रियों को जीतने की कोशिश भी करते हैं परन्तु काल-प्रवाह के साथ उनकी भावनाओं का वेग कम हो जाता है और वैराग्य का रङ्ग उड़ जाता है। इसका कारण यह है कि वह रङ्ग ऊपर ही चढ़ा था। वह तन्मयता-एकरूपता नहीं पा सका था अतएव कारणों के मिलने पर वह रङ्ग चला जाता है। वैराग्य-रङ्ग के जाते ही वह साधक जो पहिले सिंह के समान थे—गीदड़ के समान कायर बन जाते हैं। वे इन्द्रियों और कषायों के वश में पड़ जाते हैं और दीन हो जाते हैं। दीन बनकर वे संयमरूपी पर्वत की चोटी से धरातल पर गिर पड़ते हैं।

इन्द्रियों एवं कषायों के अधीन बने हुए साधकों को दुष्ट संकल्प नहीं छोड़ते हैं। ऐसे साधक सदा अनिष्ट अध्यवसायों के शिकार बने रहते हैं। वे उन दुष्ट संकल्पों को रोकने की शक्ति गँवा बैठते हैं। इसलिए वे सत्वहीन—कायर बन जाते हैं और विषयों के दास बनकर व्रतों का भंग कर देते हैं एवं संयम से पतित हो जाते हैं। यहाँ यह शंका हो सकती है कि विषय और कषायों का सम्बन्ध वृत्ति के साथ है और वृत्तियों का क्षय सम्पूर्ण वीतरागता प्राप्त हो तभी होता है तो वहाँ तक संयम और त्याग क्या संभव नहीं है? इसका समाधान यह है कि यद्यपि वृत्तियों का सम्पूर्ण क्षय तो वीतरागता प्राप्त होने पर ही होता है तदपि जब तक यह दशा प्राप्त न हो तब तक भले ही वृत्तियाँ बनी रहें परन्तु उन वृत्तियों पर आने वाले दुष्ट विकल्पों को रोकने का बल तो जरूर उत्पन्न करना चाहिए। साधक यदि दुष्ट विकल्पों के प्रति असावधान रहे तो वे ऐसा असर उत्पन्न करते हैं जिससे साधक विषयों की ओर खिंचता चला जाता है और अन्त में पतित हो जाता है। इससे यह सार निकलता है कि शारीरिक पतन के पहले कई बार मानसिक पतन हो जाता है। मानसिक और वाचिक पतन के बाद ही कायिक पतन होता है। इसलिए मन के विकल्पों पर पूरी चौकसी रखनी चाहिए। मन में उत्पन्न होने वाले विकल्पों का प्रतिकार न करने से ही

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

संयम से भ्रष्ट होने का प्रसंग आता है। जो साधक मन के अश्व को बे-लगाम छोड़ देते हैं वे अवश्य सन्मार्ग से भ्रष्ट होते हैं।

जो व्यक्ति प्रथम तो सिंह के समान उत्थित होते हैं और बाद में शृगाल के समान कायर बन कर साधना का मार्ग छोड़ देते हैं वे उभयतः भ्रष्ट होते हैं। वे न संयम के मार्ग में रहते हैं और न संसार में सुख से रह सकते हैं। इसके लिए कुण्डरीक का दृष्टान्त विचारणीय है। दीक्षा छोड़ने के बाद वह अल्प समय में ही मृत्यु को प्राप्त हुआ। ऐसे लोग साधारण जनों के द्वारा भी निन्दित होते हैं। दुनिया में उनकी अपकीर्ति होती है। दुनिया कहती है कि यह पहिले साधु था। साधु होकर यह पुनः भोगों की अभिलाषा से गृहस्थी बन गया है। यह अविश्वसनीय है। इसने अपने कुल की लज्जा खो दी है। यह निर्लज्ज है। इत्यादि रूप से यह प्राकृत पुरुषों द्वारा भी गर्हित होता है।

इसके बाद सूत्रकार यह बताते हैं कि किन्हीं साधकों का उपादान ही इतना अशुद्ध होता है कि वे संयम में सफल नहीं हो सकते। ऐसे साधकों पर सत्पुरुषों की संगति का भी असर नहीं पड़ता है। ऐसे साधक उग्र-विहारियों के संसर्ग में रहने पर भी प्रमादी बने रहते हैं, विनीतों के सम्पर्क में भी अविनीत बने रहते हैं, विरतात्माओं के संग में भी अविरत होते हैं और पवित्र पुरुषों के समागम में भी अपवित्र बने रहते हैं। उपादान की शुद्धि पर सब निर्भर है। उपादान शुद्ध होने पर ही निमित्त कारण सफल होते हैं। इस कोटि के साधक दयापात्र हैं। सचमुच पापियों से घृणा करने से पाप कम नहीं होते हैं लेकिन पाप बढ़ते हैं इसलिए पापात्माओं के प्रति भी सहज प्रेम प्रदर्शित करना चाहिए। पापों से घृणा होनी चाहिए पापी से नहीं। यह भी ध्यान में रखने योग्य बात है।

उपर्युक्त सब बातों के रहस्य को समझ कर पण्डित, मर्यादाशील और मोक्षार्थी धीर साधक अपने पराक्रम को शास्त्रोक्त मार्ग की ओर लगावे। आगमानुसार पुरुषार्थ करके साधक अपने साध्य को सिद्ध कर सकते हैं। इस तरह वे सकल कर्मों का धुनन करके मोक्ष के अविचल सिंहासन पर आरूढ़ हो जाते हैं।

—उपसंहार—

साधना का मार्ग बड़ा विषम है। इसमें अनेक सम-विषम अवस्थाएँ सामने आती हैं। इन अवस्थाओं को पार करके वही व्यक्ति इस पथ पर प्रयाण करता हुआ लक्ष्य को प्राप्त करता है जो संकटों और प्रलोभनों में नहीं फँसता हुआ अडोल पर्वत के समान अचल व धैर्य गुण-सम्पन्न होकर लक्ष्य की ओर बढ़ता जाता है। साधना में सिद्धि प्राप्त करने के लिए गौरवत्रिक का त्याग अनिवार्य होता है। जो व्यक्ति सातागौरव, ऋद्धिगौरव और रसगौरव से गर्वित होता है वह पतन को निमन्त्रित करता है। गौरव का धुनन करने से और समता-योग की सिद्धि करने से साधना सफल होती है और लक्ष्य की प्राप्ति होती है।

इति षष्ठमध्ययनम्

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

धूताख्य षष्ठ अध्ययन

—पञ्चम उद्देशकः—

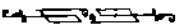

गत उद्देशक में कर्मों का धुनन करने के लिए तीन प्रकार के गौरव का परित्याग करने का उपदेश दिया गया है। जब तक सत्कार-पुरस्कार आदि की भावना अन्तःकरण में बनी रहती है तब तक गौरव-त्रय का सम्पूर्ण परिहार नहीं किया जा सकता है। इसलिए इस उद्देशक में मानापमान का विचार साधक के हृदय में नहीं रहना चाहिए, यह प्रतिपादित किया जाता है। साथ ही कर्म-धुनन की परिपूर्णता उपसर्ग-सहन के बिना नहीं हो सकती अतएव उपसर्ग-सहिष्णुता और सत्कार-विधूनन की शिक्षा देते हुए सूत्रकार यह उद्देशक इस प्रकार आरम्भ करते हैं:—

से गिहेसु वा गिहंतरेसु वा, गामेसु वा गामंतरेसु वा, नगरेसु वा नगरंतरेसु वा, जणवएसु वा जणवयंतरेसु वा, गामनयरंतरे वा गामजणवयंतरे वा नगरजणवयंतरे वा, संतेगइया जणा लूसगा भवंति अदुवा फासा फुसंति ते फासे पुट्ठे वीरो अहियासए।

संस्कृतच्छाया—स गृहेषु वा गृहान्तरेषु वा, ग्रामेषु वा ग्रामान्तरेषु वा, नगरेषु वा नगरान्तरेषु वा, जनपदेषु वा जनपदान्तरेषु वा, ग्रामनगरान्तरे वा, ग्रामजनपदान्तरे वा, नगरजनपदान्तरे वा सन्त्येके जनाः लूषकाः भवन्ति अथवा स्पर्शाः स्पृशन्ति, तान् स्पर्शान् स्पृष्टो वीरोऽध्यासयेत्।

शब्दार्थ—से=वह मुनि। गिहेसु वा=घरों में या। गिहंतरेसु वा=घरों के आसपास। गामेसु वा गामंतरेसु वा=गांवों में या ग्रामों के आसपास। नगरेसु वा नयरंतरेसु वा=नगरों में या नगरों के आसपास। जणवएसु वा जणवयंतरेसु वा=प्रान्तों में या प्रान्तों के आसपास। गामनयरन्तरे वा=ग्राम और नगर के बीच में। गामजणवयंतरे वा=ग्राम और प्रान्त के बीच में। नगरजणवयंतरे वा=नगर और प्रान्त के बीच में। एगइया जणा लूसगा भवन्ति=एक-एक मनुष्य जो त्रास देने वाले होते हैं। संति=वे विद्यमान रहते हैं। अदुवा=अथवा। फासा फुसन्ति=दुख आ पड़ते हैं। पुट्ठो=उनसे स्पृष्ट होने पर। वीरो=वीर-धीर। ते फासे अहियासए=उन दुखों को सहन करे।

भावार्थ—मुनि साधक को भिक्षा के लिए जाते हुए घरों में या घरों के आसपास, ग्रामों में या ग्रामों के आसपास, नगरों में या नगरों के आसपास, प्रान्तों में या प्रान्तों के आसपास, ग्राम और नगर

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

के बीच में, ग्राम और प्रान्त के बीच में, अथवा नगर और प्रान्त के बीच में विहार करते हुए कोई-कोई मनुष्य त्रास दें–उपसर्ग करें या अन्य किसी तरह के संकट आ पड़ें तो धीर-वीर साधक अक्षुब्ध होकर समभावपूर्वक सहन करे।

विवेचन—गौरवत्रय का परित्याग कर ममतारहित और अकिञ्चन रूप से ग्रामानुग्राम विचरण करने वाले मुनि को विविध परिस्थितियों का अनुभव करना पड़ता है। संसार में विभिन्न प्रकृतियों और रुचियों के लोग रहते हैं। भिक्षा आदि के निमित्त से मुनि साधक को उनके सम्पर्क में आना पड़ता है। ऐसी स्थिति में अनेक सम-विषम, अनुकूल-प्रतिकूल प्रसंगों के उपस्थित होने की सदा सम्भावना बनी रहती है। इसलिए ऐसे प्रसंगों में मुनि साधक दृढ़ता धारण करे, वह अपने निर्धारित मार्ग से विचलित न हो जाय, यह इस सूत्र में उपदेश दिया गया है।

मुनि साधक कहीं एक स्थान पर तो रहता नहीं है। वह अपनी कल्प-मर्यादा के अनुसार ग्रामों में, नगरों में, प्रान्तों में या इनके अन्तरालों में विचरण करता रहता है इसलिए अप्रतिबन्ध विहारी मुनि को विविध उपसर्ग-परीषहों का अनुभव करना होता है। उपसर्गों के डर से या स्थानमोह से या अन्य किसी तरह की आसक्ति के कारण एक स्थान पर ही जमा रहना साधना के लिए बाधक है। सूत्रकार का अभिप्राय यह मालूम होता है कि वे साधक के लिए अप्रतिबन्ध विहार को संयम का अनिवार्य अङ्ग समझते हैं इसलिए उन्होंने सूत्र में विचरण-स्थानों का अलग २ निर्देश किया है। सच्चे संयमी साधक को ग्राम, नगर, प्रान्त और देश में अप्रतिबन्ध विचरण करना चाहिए और इस प्रकार विचरते हुए जो कष्ट उठाने पड़ें उन्हें अविचल होकर समभाव से सहन करना चाहिए।

उपसर्ग करने वाले प्रायः मनुष्य ही होते हैं अतः सूत्र में 'जण' पद दिया गया है। नैरयिक जीव तो उपसर्ग दे नहीं सकते हैं। देव और तिर्यञ्चकृत उपसर्ग कभी-कभी होते हैं परन्तु मनुष्यकृत उपसर्ग तो साधना के मार्ग में प्रायः पद-पद पर हुआ करते हैं। इसलिए 'जण' पद दिया है। अथवा 'जन' शब्द से देव, मनुष्य और तिर्यञ्च तीनों का ग्रहण कर लेना चाहिए।

उपसर्ग देने के कारणों के मूल में रही हुई भावना का विश्लेषण करके अनुभवियों ने दिव्य-उपसर्ग के चार कारण बताये हैं। हास्य, प्रद्वेष, विमर्श और पृथक् विमात्रा इन चार हेतुओं से देव सम्बन्धी उपसर्ग होते हैं। कोई यक्ष या व्यन्तरी या और कोई भी देव अपने हास्य-विनोद के कारण दूसरों को कष्ट पहुँचाते हैं। कोई द्वेष से प्रेरित होकर कष्ट देते हैं जैसा कि तापसी का रूप बनाकर व्यन्तरी ने माघ मास की भयङ्कर शीत वाली रात्रि में भगवान् के शरीर पर अपनी जटाओं से झरते हुए पानी का सिञ्चन किया। कोई-कोई देव परीक्षा के लिए भी उपसर्ग देते हैं। वे यह देखना चाहते हैं कि यह दृढ़धर्मा है या नहीं? कभी २ हास्य, विद्वेष और विमर्श तीनों के कारण उपसर्ग दिये जाते हैं जैसा कि संगम देव ने भगवान् महावीर को उपसर्ग दिये।

मनुष्य सम्बन्धी उपसर्ग के चार कारण बताये गये हैं—हास्य, प्रद्वेष, विमर्श और कुशील प्रतिसेवना। प्रथम तीन पूर्ववत् हैं। चतुर्थ कारण का अभिप्राय यह है कि कई व्यभिचारी या व्यभिचारिणी नर-नारी कुशील सेवन के लिए भी साधु-साध्वी को या गृहस्थ साधक को उपसर्ग देते हैं।

तिर्यञ्च योनिक उपसर्गों के भय, प्रद्वेष, आहार और अपत्यसंरक्षणरूप चार कारण बताये गये हैं। किसी भी कारण से देव, मनुष्य और तिर्यञ्च सम्बन्धी उपसर्ग होने पर अथवा अन्य किसी तरह के

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

संकट के उपस्थित होने पर मुनि साधक जरा भी विचलित न हो। वह पहाड़ की तरह अडोल रहकर परीषह-उपसर्गों को सहन करे। वह यह समझे कि ये उपसर्ग देने वाले अपनी वृत्तियों के अधीन होकर ऐसा करते हैं इसमें इन बेचारों का क्या दोष ? मेरे कर्मों का ही ऐसा परिणाम है यह समझ कर किसी पर द्वेष या रागभाव न लाता हुआ, समतापूर्वक कष्ट सहन करना ही मुनिसाधक का कर्त्तव्य है। कोई पूजे या मारे, कोई सत्कार करे या तिरस्कार करे, भिक्षा आदि मिले या न मिले, अनुकूल परिस्थिति हो या प्रतिकूल हो, सच्चा साधक कभी राग-द्वेष के वश नहीं होता, उस पर उसका अच्छा या बुरा असर नहीं होता। उसकी दृष्टि तो सत्य, संयम की ओर ही रहती है अतः वह प्रत्येक परिस्थिति से सत्य और संयम के साधक अंशों को ही ग्रहण करता है। वह धीर-धीर साधक समभावपूर्वक उपसर्गों को सहन करता हुआ प्रगति के पथ पर प्रयाण करता रहता है।

ओए समियदंसणे, दयं लोगस्स जाणित्ता पाईणं, पडीणं, दाहिणं, उदीणं आइक्खे, विभए किट्टे वेयवी। से उट्ठिएसु वा, अणुट्ठिएसु वा, सुस्सूसमाणेसु पवेयए संतिं विरइं उवसमं, निव्वाणं सोयं अज्जवियं मद्दवियं लाघवियं अणइवत्तियं। सव्वेसिं पाणाणं, सव्वेसिं भूयाणं, सव्वेसिं सत्ताणं, सव्वेसिं जीवाणं अणुवीइ भिक्खू धम्ममाइक्खिज्जा।

संस्कृतच्छाया—ओजः समितदर्शनः, दयां लोकस्य ज्ञात्वा प्राचीनं प्रतीचीनं, दक्षिणमुदीचीनमाचक्षीत कीर्त्तयेद्वेदवित्। स उत्थितेषु वा, अनुत्थितेषु वा शुश्रूषमाणेषु वा प्रवेदयेत् शान्तिं, विरतिं, उपशमं, निर्वाणं, शौचं, आर्जवं, मार्दवं, लाघवमनतिपत्य। सर्वेषां प्राणिनाम्, सर्वेषां भूतानां, सर्वेषां सत्वानां, सर्वेषां जीवानामनुविचिन्त्य भिक्षुः धर्ममाचक्षीत।

शब्दार्थ—ओए=रागद्वेष रहित। समियदंसणे=सम्यग्दृष्टि या समदृष्टि। वेयवी=शास्त्रों का ज्ञाता मुनि। लोगस्स दयं जाणित्ता=प्राणियों पर दया करके। पाईणं=पूर्व। पडीणं=पश्चिम। दाहिणं=दक्षिण। उदीणं=उत्तर दिशा में रहे हुए जीवों को। आइक्खे=धर्मोपदेश दे। विभए=धर्म के विभाग बतावे। किट्टे=धर्म का कीर्त्तन करे। से=वह मुनि। सुस्सूसमाणेसु=धर्म सुनने के अभिलाषी व सेवा-शुश्रूषा करने वाले। उट्ठिएसु वा अणुट्ठिएसु वा=साधुओं और गृहस्थों को। संतिं=शान्ति। विरइं=विरति-त्याग। उवसमं=क्षमा। निव्वाणं=निर्वाण, मुक्ति। सोयं=शौच-पवित्रता। अज्जवियं=सरलता। मद्दवियं=कोमलता। लाघवियं=लघुता-निष्परिग्रहता का। अणइवत्तियं=आगम-मर्यादा उल्लंघन न करके। पवेयए=उपदेश दे। भिक्खू=भिक्षु मुनि। अणुवीइ=विचार कर। सव्वेसिं पाणाणं=सब प्राणियों को। सव्वेसिं भूयाणं=सब भूतों को। सव्वेसिं सत्ताणं=सब सत्वों को। सव्वेसिं जीवाणं=सब जीवों को। धम्ममाइक्खिज्जा=धर्म का कथन करे।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

भावार्थ—आगमों का ज्ञाता, सम्यग्दृष्टि और राग-द्वेषरहित (मध्यस्थ) मुनि साधक पूर्व, पश्चिम, दक्षिण तथा उत्तर दिशा में रहे हुए जीवों को अनुकम्पा बुद्धि से धर्मोपदेश प्रदान करे, उसकी योग्यतानुसार धर्म के विभिन्न विभागों को बतावे और धर्म की वास्तविकता समझावे। वह मुनि सद्बोध श्रवण करने के अभिलाषियों को चाहे वे मुनि हों अथवा गृहस्थ हों सबको अहिंसा, त्याग, क्षमा, मुक्ति, सरलता, कोमलता तथा निष्परिग्रहता आदि का यथार्थरूप से--आगममर्यादा का उल्लंघन न करते हुए बोध प्रदान करे। मुनि (स्व-पर उपकार का) विचार कर सब प्राणियों, भूतों, सत्वों और जीवों को धर्म का स्वरूप कहे।

विवेचन—सामान्यदृष्टि से देखने पर मुनि का जीवन और उसकी साधना केवल आत्म-कल्याण के लिए है, यह प्रतीत होता है परन्तु वस्तुतः मुनि की साधना एकान्ततः अपने लिए ही नहीं होती है। उसमें आत्म-कल्याण के साथ पर-कल्याण की भावना ओत-प्रोत होती है। मुनि की साधना में प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से किसी का अहित न हो इतना ही नहीं अपितु सबके कल्याण का उच्चतम आदर्श होता है। जिस प्रकार सरोवर में उठी हुई एक लहर सारे सरोवर को तरङ्गित करती हुई किनारे तक पहुँचती है उसी प्रकार व्यक्ति की क्रिया का प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव समष्टि पर पड़ता है। मुनि की जीवन-चर्या का प्रभाव भी इतर व्यक्तियों पर अवश्य होता है। अतः मुनि भी एकान्त आत्मा का ही हितसाधक नहीं हो सकता। वह अन्य व्यक्तियों के हित को भी अपने दृष्टिबिन्दु में अवश्य रखता है। इसलिए अपनी साधना के फलस्वरूप उसे जो धर्मज्ञान और अनुभव प्राप्त होता है उसे वह दूसरों के सन्मुख रखता है और उस मार्ग पर चलने की उन्हें प्रेरणा देता है। मुनि का उपदेश-प्रदान पर-कल्याण की उदात्त भावना से ही होता है। इस सूत्र में सूत्रकार ने उपदेशक की योग्यता, उपदेश देने योग्य विषय और उपदेश-श्रवण के अधिकारियों का वर्णन किया है।

उपदेशक पर बड़ा भारी उत्तरदायित्व रहता है। उसके उपदेश से अनेक व्यक्ति अपने जीवन के गन्तव्य मार्ग का निर्णय करते हैं अतः यदि उपदेशक ज्ञानी और अनुभवी न होकर छिछला और अल्पज्ञ होता है तो उसके उपदेश से जनता के गलत मार्ग पर चले जाने की सम्भावना रहती है। इसलिए जैसे-वैसे व्यक्ति को उपदेशक का उत्तरदायित्व पूर्ण कार्य करने का साहस नहीं करना चाहिए। उपदेशक के लिए ज्ञानी, अनुभवी, मानस-शास्त्र का अभ्यासी और देश-काल को समझने की योग्यता वाला होना आवश्यक है। उसे स्व-पर शास्त्रों का गहरा अभ्यास होना चाहिए। उसकी दृष्टि विशाल और सम्यक् होनी चाहिए। उसकी बुद्धि राग-द्वेष से परे होनी चाहिए। उसकी भावनाओं में मध्यस्थवृत्ति होनी चाहिए। इतने गुणों की आराधना करने के पश्चात् ही उपदेशक की जवाबदारी स्वीकार करने का साहस करना चाहिए। पूरी योग्यता के बिना उपदेश देने लग जाने से प्रवचन की हीलना और शास्त्रों की आशातना होने का भय रहता है। इसलिए सूत्रकार ने विशेषणों के द्वारा उपदेशक मुनि की योग्यता का कथन किया है।

सूत्रकार ने सूत्र में चारों दिशाओं का निर्देश किया है। इसका तात्पर्य यह हो सकता है कि चारों दिशाओं में रहे हुए जीवों को धर्म का उपदेश देना चाहिए। धर्म सूर्य के प्रकाश के समान व्यापक है इसलिए वह अमुक के लिए है और अमुक के लिए नहीं है ऐसा नहीं होना चाहिए। प्राणिमात्र धर्म का आश्रय लेने का अधिकारी है। धर्म में किसी प्रकार का पक्षपात नहीं हो सकता। प्रत्येक जाति का, प्रत्येक देश का, प्रत्येक वर्ग का और प्रत्येक स्थिति का व्यक्ति धर्मश्रवण और धर्म की आराधना करने का हकदार

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

है। उसमें स्त्री या पुरुष का, धनी या निर्धन का, रंक या राव का, सबल या निर्बल का भेद बाधक नहीं हो सकता। धर्म के द्वार संसार के सब प्राणियों के लिए खुले हैं। विवेकी मुनि पक्षपात से रहित होकर सब जीवों को यथायोग्य धर्मामृत का दान करे। मुनि उपदेश के बदले में किसी चीज की कामना नहीं करता। वह केवल दया और उपकार से प्रेरित होकर निष्काम भाव से उपदेश देता है।

सूत्रकार ने "विभए" पद के द्वारा यह बताया है कि मुनि, धर्म के विभागों का प्रतिपादन करे। इसका अभिप्राय यह है कि सब व्यक्तियों की पात्रता और योग्यता एकसी नहीं होती। सबका सामर्थ्य और समझ-शक्ति एकसी नही होती। अतः जिस व्यक्ति की जैसी भूमिका है, जो जिस प्रकार के उपदेश के योग्य है, जिसमें जिस प्रकार के उपदेश को पचाने और अंगीकार करने की शक्ति है उसे उसी प्रकार के धर्म का कथन करे। जिस प्रकार वैद्य रोगी का निदान करने के पश्चात् उसे योग्य औषधि देता है इसी प्रकार कुशल उपदेशक सामने वाले की पात्रता को देखकर तदनुकूल उपदेश देता है। इसलिए सूत्रकार ने धर्म के विभिन्न विभागों का उपदेश देने का कहा है।

नागार्जुनीय वाचना में ऐसा पाठ भेद है—**जे खलु समणे बहुस्सुए बब्भागमे आहरणहेउकुसले धम्मकहालद्धिसम्पन्ने खेत्तं कालं पुरिसं समासज्ज केऽयं पुरिसे कं वा दरिसणमभिसम्पन्नो एवंगुण-जाइए पभू धम्मस्स आघवित्तए**। जो श्रमण बहुश्रुत और आगमों का ज्ञाता, दृष्टान्त एवं हेतुओं में निपुण, उपदेशलब्धिसम्पन्न, क्षेत्र, काल, पुरुष आदि को समझने वाला, "यह कौन पुरुष है किस मत का मानने वाला है" आदि को जान लेने वाला है वही धर्मोपदेश देने का समर्थ अधिकारी है।

धर्म का स्वरूप बड़े सुन्दर ढंग से सूत्रकार ने प्रदर्शित किया है। धर्म किसी मजहब, पन्थ, बाह्याचार या क्रियाकाण्डों का नाम नहीं है अपितु अहिंसा, शान्ति, क्षमा, मार्दव, सरलता, त्याग, अपरिग्रहत्व, पवित्रता आदि ही धर्म है। केवल बाह्य कर्मकाण्डों को और अपने २ पन्थों को ही धर्म समझ लेने की संकुचितता का त्याग करना चाहिए। मिथ्या आडम्बर, अन्धश्रद्धा, रूढि और आग्रह के कारण धर्म का असलीरूप छिप-सा गया है। अतः धर्म के प्रति दुनिया के एक बहुत बड़े वर्ग की अश्रद्धा होती जा रही है। वस्तुतः सत्यधर्म के बिना एक क्षण भी जीवित नहीं रहा जा सकता है इसलिए धर्म की आवश्यकता का कोई भी विवेकी व्यक्ति इन्कार नहीं कर सकता। रूढि और अन्धश्रद्धामय धर्म के प्रति उपेक्षा हो तो कोई अचरज नहीं। सूत्रकार ने धर्म का जो स्वरूप बताया है वही सत्य है, सनातन है, हितकर है और मुक्तिप्रदाता है। अहिंसा, त्याग, सरलता, कोमलता, क्षमा, पवित्रता और अपरिग्रहमय धर्म के प्रचार से ही सुख-शान्ति का आस्वादन किया जा सकता है। इस उदार एवं व्यापक धर्म से ही दुनिया की अशान्ति का अन्त आ सकता है। इस धर्मोपदेश से वैरवृत्ति और लोलुप मनोवृत्ति की समाप्ति हो सकती है और दुनिया में सच्ची शान्ति का साम्राज्य स्थापित हो सकता है।

इस प्रकार के धर्म का उपदेश—चाहे साधु हो या गृहस्थ—प्रत्येक जिज्ञासु व्यक्ति को दिया जा सकता है। संसार के समस्त छोटे-बड़े प्राणियों को इस उपदेशामृत का पान कराना मुनि साधक का कर्त्तव्य है। मुनि साधक विवेकपूर्वक और विचारपूर्वक आगम-मर्यादा का उल्लंघन न करता हुआ उपदेश-प्रदान करे। ऐसा करने से वह आत्मकल्याण के साथ जगत्-कल्याण का साधन कर सकता है।

अणुवीइ भिक्खू धम्ममाइक्खमाणे नो अत्ताणं आसाइज्जा, नो परं आसाइज्जा नो अन्नाइं पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं आसाइज्जा से अणासायए

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

अणासायमाणे वज्झमाणाणं पाणाणं भूयाणं जीवाणं सत्ताणं जहा से दीवे असंदीणे एवं से भवइ सरणं महामुणी ।

संस्कृतच्छाया—अनुविचिन्त्य भिक्षुर्धर्ममाचक्षाणो नात्मानमाशातयेत् न परमाशातयेत् नो अन्यान् प्राणिनः भूतान् जीवान् सत्वानाशातयेत्, सोऽनाशातकः अनाशातयन् वध्यमानानां प्राणिनां भूतानां जीवानां सत्वानां यथा स द्वीपोऽसन्दीनः एवं स भवति शरणं महामुनिः ।

शब्दार्थ—भिक्खू=मुनि । अणुवीइ=विचार कर । धम्ममाइक्खमाणे=धर्म का उपदेश देते हुए । नो अत्ताणं आसाइज्जा=अपनी आत्मा की आशातना न करे । नो परं आसाइज्जा=दूसरों की भी आशातना न करे । अन्नाइं पाणाइं जाव सत्ताइं नो आसाइज्जा=अन्य प्राणी, भूत, जीव और सत्वों की आशातना न करे । से अणासायए=वह स्वयं आशातना न करता हुआ । अणासायमाणे=दूसरों से आशातना नहीं करता हुआ । वज्झमाणाणं पाणाणं जाव सत्ताणं= मारे जाने वाले प्राणियों यावत् सत्वों के लिए । जहा से दीवे असंदीणे=जैसे जल से लिप्त न होने वाला असंदीन द्वीप है । एवं से भवइ सरणं महामुणी=इस तरह वह महा मुनि शरणभूत होता है ।

भावार्थ—पूर्वापर विचारपूर्वक धर्मोपदेश देता हुआ मुनि यह ध्यान रक्खे कि वह उपदेश देते हुए अपनी आत्मा की आशातना न करे, दूसरे की आत्मा की आशतना न करे और अन्य किसी प्राणी, भूत, जीव और सत्व की आशातना न करे । इस तरह स्वयं आशातना न करने वाला और दूसरों से आशातना न करने वाला वह महा मुनि वध्यमान प्राणी, भूत, जीव और सत्वों के लिए असंदीन द्वीप की तरह शरणभूत होता है ।

विवेचन— पूर्व सूत्र में पर-कल्याण के लिए मुनि को उपदेश-प्रदान करने के लिए कहा गया है । अब इस सूत्र में सूत्रकार त्यागी मुनि के लिए उपदेश-प्रदान की मर्यादा का विधान करते हैं । कहीं उपदेश देने के पीछे लगकर वह त्यागी साधक अपने संयम की साधना को प्रति असावधान न हो जाय इसलिए सूत्रकार ने यहाँ उपदेश देने की मर्यादा का कथन किया है ।

त्यागी मुनि को यह कदापि नहीं भूल जाना चाहिए कि उसका प्रधान कर्त्तव्य संयम की साधना है । उपदेश-प्रदान तो उसका सहायक अंग है । इसलिए उपदेश देते हुए अपनी आत्मा का अहित न हो इस पर पूरा लक्ष्य रखना चाहिए । इस रीति से और इस मर्यादा में रहकर उपदेश दिया जाना चाहिए कि जिसके द्वारा उसकी मूल संयम-साधना में किसी प्रकार की बाधा न पहुँचे । अपनी मूल वस्तु को ठेस पहुँचा कर दूसरे को उपदेश देना ठीक नहीं है । इसलिए इस तरह और इस रीति का उपदेश प्रदान करे जिससे उसकी साधना में किसी तरह का विघ्न न हो । अपने दैनिक संयम-कृत्यों में और कालानुकाल की जाने वाली क्रियाओं में भंग या विक्षेप डालकर उपदेश नहीं देना चाहिए ।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

उपदेशक मुनि को यह लक्ष्य में रखना चाहिए कि वह इस प्रकार का उपदेश कभी न दे जिससे दूसरे की आत्मा को आघात या ठेस पहुँचती हो। दूसरे की आशातना करने वाली भाषा का कभी उपयोग नहीं करना चाहिए। साथ ही किसी भी प्राणी, भूत, जीव और सत्व को हानि न पहुँचे, उसकी आत्मा को पीड़ा न हो और किसी का भी अहित न होता हो ऐसा ही उपदेश देना चाहिए।

त्यागी साधक को ऐसी संयत भाषा में उपदेश देना चाहिए जिससे किसी प्राणी का आरम्भ-समारम्भ भी न हो और किसी को अन्तराय भी न लगे। कूप-जलाशय-निर्माण आदि मिश्रपक्ष का न तो सर्वथा विधान ही करना चाहिए और न सर्वथा निषेध ही करना चाहिए। विधि-निषेध से बचते हुए संयतभाषा में यथार्थतत्त्व निरूपण करना चाहिए।

उपदेश देने में विवेक रखना चाहिए, इसका आशय यह नहीं समझ लेना चाहिए कि मुनि साधक पूर्ण त्याग का ही उपदेश दे सकता है। पूर्वसूत्र में यह कहा जा चुका है कि श्रोता की योग्यता के अनुसार उपदेश दिया जाना चाहिए। सम्पूर्ण त्याग का उपदेश देना अच्छा है परन्तु जिसमें यह उपदेश पचाने की शक्ति नहीं है उसे तो क्रमिक विकास का मार्ग ही बतलाना हितकर है।

जो साधक इस प्रकार किसी का अहित न करता हुआ विवेकपूर्वक उपदेश-प्रदान करता है वह असन्दीन द्वीप की तरह दुखी और संतप्त जीवों के लिए शरणभूत होता है। जिस तरह द्वीप, समुद्र में भटकने वाले नाविकों और यात्रियों के लिए आश्वासन रूप होता है इस तरह ज्ञानी और अनुभवी महामुनि साधना के मार्ग में दूसरों को स्थिर करते हैं और उन्हें आराम देते हैं। ऐसे मुनि अहिंसा के उपदेश के द्वारा वध्यमान प्राणियों को शान्ति देते हैं और मारने वालों के विचारों में परिवर्त्तन कर उन्हें भी पाप से बचाते है इस तरह वे दोनों के लिए शरणभूत होते हैं। जैसे असन्दीन द्वीप अपने चारों ओर समुद्र से घिरे होने पर भी कभी जल से व्याप्त नहीं होता इसी तरह सच्चा मुनि संसार के सम्पर्क में रहता हुआ भी उससे अलिप्त बना रहता है और द्वीप की तरह दूसरे प्राणियों के लिए शरणरूप-आधाररूप बनता है। वह स्वयं उच्च और उच्चतर स्थिति पर पहुँचता जाता है और दूसरों को भी क्रमशः ऊँचा चढ़ाने का प्रयास करता जाता है। इस तरह सच्चा साधक आत्मलक्षी प्रवृत्ति करता हुआ मर्यादापूर्वक उपदेश-दान के द्वारा पर-कल्याण का भी साधन करता जाता है।

एवं से उट्ठिए ठियप्पा अणिहे अचले चले अबहिल्लेसे परिव्वए। संखाय पेसलं धम्मं दिट्ठिमं परिनिव्वुडे। तम्हा संगं ति पासह गंथेहिं गढिआ नरा विसन्ना कामक्कंता तम्हा लूहाओ नो परिवित्तसिज्जा; जस्सिमे आरंभा सव्वओ सव्वप्पयाए सुपरिन्नाया भवन्ति जेसिमे लूसिणो नो परिवित्तसंति, से वंता कोहं च माणं च मायं च लोभं च एस तुट्टे वियाहिए त्ति बेमि।

संस्कृतच्छाया—एवं स उत्थितः स्थितात्मा, अस्निहः, अचलः, चलः, अबहिर्लेश्यः परिव्रजेत्। संख्याय पेशलं धर्मं दृष्टिमान् परिनिर्वृतः। तस्मात् संगं पश्यत—ग्रन्थैर्ग्रथिताः नराः विषण्णाः कामाक्रान्ताः तस्मात् रूक्षात् नो परिवित्रसेत्। यस्येमे आरम्भाः सर्वतः सर्वात्मना सुपरिज्ञाताः भवन्ति

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

येऽस्मिन् लूषिणो नो परिविचसन्ति ? स वान्त्वा क्रोधञ्च मानञ्च मायाञ्च लोभञ्च एष तुट्टः व्याख्यातः इति ब्रवीमि ॥

शब्दार्थ—एवं से=इस प्रकार वह मुनि। उट्ठिए=सावधान होकर। ठियप्पा=मोक्ष-मार्ग में आत्मा को स्थित करने वाला। अणिहे=राग-द्वेष रहित। अचले=परीषहों से चञ्चल न होने वाला। चले=एक स्थान पर न रहकर विचरण करने वाला। अबहिल्लेसे=संयम से बाह्य विचार न करने वाला। परिव्वए=संयमानुष्ठान में विचरण करे। पेसलं धम्मं=पवित्र धर्म को। संखाय=जानकर। दिट्ठिमं=सद् अनुष्ठान वाला साधक। परिनिव्वुडे=मुक्त हो जाता है। तम्हा=इसलिए। संगं ति पासह=धन-धान्य आदि की आसक्ति के फल को विवेक बुद्धि से देखो। गंथेहिं गढिया विषण्णा नरा=आसक्ति में फँसे हुए व डूबे हुए मनुष्य। कामकंता=काम-भोगों से पीड़ित होते हैं। तम्हा=इसलिए। लूहाओ न परिविचसिज्जा=संयम से नहीं डरना चाहिए। जेसिमे लूसिणो नो परिविचसंति=हिंसकवृत्ति वाले जिन पाप कार्यों को करते हुए डरते नहीं है। इमे आरंभा=ये आरंभ। जस्स सव्वओ सव्वप्पयाए=जिसने सब प्रकार से सर्वथा। सुपरिन्नाया भवन्ति=जानकर छोड़ दिए हैं। से कोहं जाव लोभं च वंता=वह क्रोध, मान, माया और लोभ को छोड़कर। एस तुट्टे वियाहिए त्ति बेमि=कर्म-बन्धन से मुक्त हो जाता है ऐसा मैं कहता हूँ।

भावार्थ—संयम में सावधान रहने वाला साधक मोक्षमार्ग में आत्मा को स्थित करने वाला (स्थितप्रज्ञ), इच्छाओं का निरोध करने वाला, परीषहादि से विचलित न होने वाला और संयम से बाहर कभी नहीं जाने वाला (सतत संयम के अभिमुख रहने वाला हो) और एक स्थान में नहीं रहता हुआ ग्रामानुग्राम विचरण करता हुआ संयम का पालन करे। जो मुनि इस पवित्र धर्म को जानकर सदनुष्ठान का आचरण करते हैं वे मुक्त-से हो जाते हैं। आसक्ति के स्वरूप और विपाक का विवेक बुद्धि से अवलोकन करो। आसक्ति में फँसे और डूबे हुए मनुष्य कामनाओं से पीड़ित हो रहे हैं इसलिए आसक्त न बनो और संयम से भयभीत न होओ। अविवेकी और हिंसकवृत्ति वाले लोग जिन पापकर्मों को करते हुए नहीं डरते हैं उन सब आरम्भ आदि से ज्ञानीजन दूर रहते हैं और क्रोध, मान, माया और लोभ को छोड़ देते हैं। ऐसे साधक कर्म-बन्धन से मुक्त हो जाते हैं। ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—पर-कल्याण के लिए उपदेश-प्रदान आदि बाह्य प्रवृत्तियाँ करते हुए त्यागी मुनि कहीं बाह्य प्रवृत्तियों में ही न फँस जाय और कहीं उसमें उपदेशादि के बदले में किसी वस्तु को पाने की लालसा जागृत न हो जाय या वह लोक-संसर्ग में ही रागान्ध न हो जाय इसलिए यहाँ पुनः त्यागी साधु को सावधान करने के लिए उसके गुणों का वर्णन किया गया है।

'उट्ठिए' विशेषण से यह बताया गया है कि वह मुनि परोपकार की प्रवृत्तियों को करते हुए भी अपनी मूल वस्तु चारित्र से प्रति सदा जागृत रहे। संयम के प्रति अंशमात्र भी उपेक्षा न करे। 'ठियप्पा'

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

विशेषण से मुनि की स्थितप्रज्ञता का सूचन किया गया है। स्थितप्रज्ञ मुनि लाभ या अलाभ में, मान में या अपमान में, क्रिया के शुभ फल में या अशुभ फल में, हर्ष में या शोक में, समभाव रखने वाला होता है। वह किसी कामना या लालसा से प्रेरित होकर उपदेशादि प्रवृत्तियाँ नहीं करता। अर्थात् वह फल की कामना से कोई क्रिया नहीं करता। यद्यपि कर्म-सिद्धान्त का यह नियम है कि क्रिया का फल कर्त्ता को अवश्य प्राप्त होता है तदपि जो निष्काम होकर क्रिया करता है वह उस क्रिया के होने वाले शुभ या अशुभ फल को पचा सकता है। अशुभ फल से उसे शोक या शुभ फल से उसे हर्ष नहीं होता। वह तो कर्त्तव्य-भावना से क्रिया करता जाता है, फल से उसे कोई मतलब नहीं रहता। यही स्थितप्रज्ञता या निरासक्ति है।

'अणिहे' विशेषण से मुनि को राग-भाव न करने का संकेत किया गया है। परोपकार के लिए प्रवृत्ति करते हुए मुनि किसी के साथ राग-बन्धन में न बँध जाय इसका विशेषरूप से ध्यान रखना चाहिए। राग-भावना संयम की प्रबल बाधिका है। किसी के प्रति राग पैदा हो जाने से अनर्थों की परम्परा बढ़ जाती है। इसलिए मुनि को सर्वथा निर्लिप्त होकर ही परोपकार की प्रवृत्तियाँ करनी चाहिए। इस ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है।

'अचले' विशेषण से मुनि की दृढ़ता का सूचन किया गया है। लोक-संसर्ग में आने पर अनेक अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों का अनुभव करना पड़ता है। उनमें मुनि अपनी चित्तवृत्तियों को चञ्चल न बनाता हुआ संयम में दृढ बना रहे।

'चले' विशेषण से यह सूचित किया है कि मुनि एक ही स्थान पर स्थित न हो जाय और ग्रामानुग्राम विचरता रहे। एक ही स्थान पर रहने से मोह, आसक्ति आदि विकारों की अधिक सम्भावना रहती है। इनसे बचने के लिए तथा सत्यधर्म का प्रचार करने के लिए मुनि को बहते हुए जल की तरह स्वच्छ होकर विचरते रहना चाहिए। 'अणइल्लेसे' विशेषण देकर सूत्रकार ने यह बताया है कि मुनि कभी ऐसा विचार या संकल्प तक न करे जो संयम से बाहर ले जाने वाला हो। वह सदा संयमाभिमुख ही बना रहे। इन गुणों से युक्त मुनि प्रवृत्ति और निवृत्ति के स्वरूप को यथार्थ रूप से जानकर सदनुष्ठान रूप प्रवृत्ति में प्रवृत्त रहता है। इससे आत्म-कल्याण और जनकल्याण की साधना में सामञ्जस्य बना रहता है।

जो साधक धर्म के स्वरूप को जानकर सदनुष्ठान रूप प्रवृत्ति करते रहते हैं वे मुक्त हो जाते हैं। सदनुष्ठान में प्रवृत्ति वस्तुतः निवृत्ति ही है। निवृत्ति का अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि सब क्रियाओं को छोड़कर आलसी या अकर्मण्य बना जाय। अशुभ-क्रियाओं से निवृत्ति और सत्क्रियाओं में प्रवृत्ति यही चारित्र है। जो व्यक्ति निवृत्ति की ओट में सत्प्रवृत्ति से दूर रहने की कोशिश करते हैं वे आलस्य और जड़ता को वेग देते हैं। संयममार्ग की साधना में सत्प्रवृत्ति बाधक नहीं परन्तु साधक है। अतः संयमी को सदा सत् प्रवृत्ति में प्रवृत्त रहना चाहिए। ऐसा करने से वह पापकर्मों से बचकर मुक्त हो जाता है।

सत्प्रवृत्ति के बहाने कई साधक प्रपञ्चों में फँस जाते हैं। इस प्रकार के प्रपञ्चों में न फसने के लिए सूत्रकार ने पुनः पुनः कहा है कि आसक्ति और उसके परिणामों को विवेक-बुद्धि से देखो और उनसे बचते रहो।

अनेक व्यक्ति लौकिक-कामनाओं से प्रेरित होकर साधु के संसर्ग में आते हैं और अपनी भक्ति बता कर स्वार्थ की पूर्ति करना चाहते हैं। मुनि का यह कर्त्तव्य है कि वह किसी प्रकार भी उनके साथ राग-बन्धन में न फँसे। इस विश्व में धन-दौलत या अन्य विषयों में आसक्त बने हुए जीव कामनाओं से

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

पीड़ित हो रहे हैं इसलिए विवेकी-साधु कामना के वश न हो और संयम में सावधान रहे। असंयम में भय है। संयम में भय नहीं है। अतः संयम से भयभीत न होता हुआ सदा उसमें लीन बना रहे।

अविवेकी और हिंसकवृत्ति वाले व्यक्ति पापकर्मों को करते हुए नहीं डरते हैं। इससे अविवेक और हिंसकवृत्ति पाप एवं दुख के कारण हैं यह बताया गया है। जिसने इन पापकर्मों का त्याग कर दिया है और क्रोधादि कषायों पर विजय प्राप्त की है वह मोहनीय कर्म को दूर करके संसार-सन्तति को तोड़ देता है। वह कर्मबन्धन से मुक्त होकर सिद्ध-बुद्ध हो जाता है।

कायस्स वियाघाए एस संगामसीसे से हु पारंगमे मुणी, अविहम्ममाणे फलगावयट्ठी कालोवणीए कंखिज्ज कालं जाव सरीरभेउ त्ति बेमि।

संस्कृतच्छाया—कायस्य व्याघातः एष सङ्ग्रामशीर्षम् स पारगामी मुनिः अविहन्यमानः फलकवदयतिष्ठते कालोपनीतः काङ्क्षेत् कालं यावत् शरीरभेदः, इति ब्रवीमि॥

शब्दार्थ—कायस्स वियाघाए=शरीर-नाश के भय पर विजय पाना। एस संगाम-सीसे=यही संग्राम का अग्रभाग है। से हु पारंगमे मुणी=वही संसार का पार पाने वाला मुनि है। अविहम्ममाणे=कष्टों से नहीं डरते हुए। फलगावयट्ठी=लकड़ी के पाटिये की तरह अचल रहते हुए। कालोवणीए=मृत्यु का समय आने पर। जाव सरीरभेओ=जब तक शरीर जीव से भिन्न न हो जाय तब तक। कालं कंखिज=मृत्यु का स्वागत करने की अभिलाषा रक्खे।

भावार्थ—देह-नाश के भय पर विजय प्राप्त करना यह (आत्मिक) संग्राम का अग्रभाग है। जो मुनि मृत्यु से घबराता नहीं है वही संसार का पार पा सकता है। मुनि साधक आने वाले कष्टों से नहीं डरते हुए लकड़ी के पाटिये की तरह अचल रहे और मृत्यु काल आने पर जब तक जीव और शरीर भिन्न २ न हो जाय तब तक मृत्यु का स्वागत करने के लिए सहर्ष तैयार रहे। ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में आध्यात्मिक वीरता की कसौटी बताई गई है। जिस प्रकार बाह्य वीरता की कसौटी रण-मैदान के अग्र मोरचे पर होती है उसी तरह आत्मिक वीरता की कसौटी मृत्युकाल के उपस्थित होने पर होती है। जिस तरह सच्चा शूरवीर विरोधी के शास्त्रास्त्रों के प्रहार की परवाह न करता हुआ संग्राम के अग्रभाग पर डटा रहता है उसी तरह आध्यात्मिक वीर भी अन्तरङ्ग शत्रुओं के साथ युद्ध करता हुआ शरीर की परवाह न करता हुआ दृढ़ता के साथ मैदान में डटा रहता है। बाह्य वीरता में किसी प्रकार के प्रलोभन या आकांक्षा का आवेश रहता है परन्तु आत्मिक वीरता में किसी प्रकार का प्रलोभन या कामना नहीं रहती। प्रलोभनों और कामनाओं को पर विजय पाने के लिए ही आध्यात्मिक संग्राम में शूरवीर सेनानी झूझते हैं। यही सच्ची शूरवीरता है।

मुनि की साधना की कसौटी उसकी मृत्युकालीन दृढ़ता है। जिस मुनि ने अपने शरीर का मोह सर्वथा छोड़ दिया होता है वही उस समय मृत्यु का दृढ़ता से सामना कर सकता है। सचमुच वही मुनि संसार का पार पा सकता है जिसने मृत्यु के भय पर विजय पा ली है। वही मृत्युञ्जय बनकर अपना परम साध्य सिद्ध कर लेता है।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

प्रायः विश्व का प्रत्येक प्राणी मृत्यु से डरता है। सैकड़ों, हजारों और लाखों व्यक्तियों को अपनी भुजाओं से कंपा देने वाला वीर योद्धा भी मृत्यु के नाम से धूज उठता है। संसार का दुखी से दुखी व्यक्ति भी जीना पसन्द करता है और मृत्यु से डरता है। इसका कारण यह है कि मनुष्य या अन्य प्राणी यह समझ बैठे हैं कि उन्हें जिस चीज की चाह है वह इस जीवन के रहते-रहते ही मिलने वाली है। उस चीज की प्राप्ति की आशा में वे सब दुख सहकर भी जीना चाहते हैं। जब तक उनकी आशा पूर्ण नहीं होती तब तक वे मृत्यु से भेंट करना नहीं चाहते। परन्तु मृत्यु कब इस बात का विचार करती है कि यह व्यक्ति मुझे चाहता है या नही ? वह तो बिना बुलाये ही आने वाले अतिथि के समान है। वही व्यक्ति मृत्यु से भयभीत नहीं होता जिसे किसी तरह की आशा और कामना नहीं होती।

सच्चा मुनि शरीर को संयम का साधन समझता है। वह उसे कभी अपनी चीज नहीं मानता। जब तक उससे संयम का साधन होता है तब तक वह अनासक्त होकर आहारादि से उसका निर्वाह करता है और जब वह समझ लेता है कि अब यह साधन काम देने लायक नही है तो उसे छोड़ देता है। उसे शरीर पर ममता नहीं होती। उसे अपने आत्मस्वरूप में ममता होती है इसलिए अपनी मूल वस्तु की रक्षा के लिए वह बाह्य शरीर का भी बलिदान करने को तत्पर रहता है। वह प्राणों की बाजी लगा देता है पर अपने चारित्र में दोष नहीं लगा सकता। शरीर पर से जब ममता हट जाती है तब सच्ची आध्यात्मिकता जागृत होती है। ऐसे आध्यात्मिक वीर को मृत्यु का भय नहीं हो सकता। मृत्यु का समय आने पर वह काष्ट की तरह निश्चल रहकर सब दुखों को सहन कर लेता है और जब तक देह और आत्मा भिन्न २ नहीं हो जाते तब तक दृढ़तापूर्वक प्रसन्नता के साथ मृत्यु का स्वागत करता है। ऐसा करते हुए वह कर्मों को धुन डालता है और मृत्युञ्जय बन जाता है। यही धूत अध्ययन का सार है।

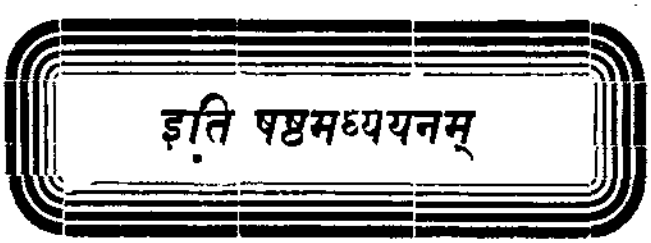

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

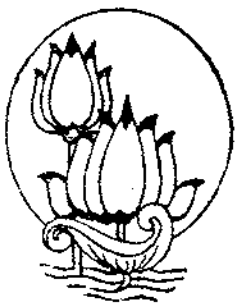

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

महापरिज्ञा-नाम सप्तमम् अध्ययनम्

—व्युच्छिन्नम्—

आचारांग जैसे महाशास्त्र का यह अनमोल अध्ययन काल के कराल गाल में चला गया है यह हमारे लिए खेद का विषय है। इसके विषय में यह कहा जाता है कि जब वीर संवत ९८० में देवर्धिक्षमा-श्रमण गणिवर ने सूत्रों को पुस्तकारूढ किये तब इस अध्ययन में अनेक चमत्कारी विद्याओं का उल्लेख होने से सर्वसाधारण के हाथ में उनके आ जाने से हानि की सम्भावना से उसका लेखन स्थगित रखा। कुछ भी हो, हमारा यह दुर्भाग्य है कि ऐसा अमूल्य अध्ययन हमारी दृष्टि से सर्वथा विलुप्त हो गया। इसके लिए संवेदना प्रकट करने के सिवाय और क्या किया जा सकता है?

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

विमोक्ष नाम अष्टम अध्ययन

—प्रथमोद्देशकः—

सप्तम महापरिज्ञा अध्ययन विच्छिन्न हो गया अतएव छठे धूत अध्ययन के साथ ही इसका सम्बन्ध समझना चाहिए। धूत अध्ययन में गौरवत्रिक का, शरीर का, उपकरणों का और कर्म का धुनन करने का कहा गया है तथा निस्संगता का प्रतिपादन किया गया है। निस्संग विहारी साधक को विविध परीषह और उपसर्गों को सहन करना होता है। मारणान्तिक उपसर्ग होने पर भी कायरता न लाकर मेरु के समान निश्चल होकर अन्तिम दम तक साधना के मार्ग में आगे प्रगति करते रहने की प्रेरणा करने के उद्देश्य से यह विमोक्ष अध्ययन कहा गया है।

विमोक्ष का अर्थ परित्याग है। निर्युक्तिकार ने विमोक्ष का प्रतिपादन करते हुए इस प्रकार कहा है—

कम्मयदव्वेहि समं संजोगो होइ जो उ जीवस्स।
सो बंधो नायव्वो तस्स विओगो भव मुक्खो॥

अर्थात्—जीव का कर्म-द्रव्यों के साथ जो संयोग होता है वह बन्ध है। उस बन्ध का छूट जाना मोक्ष है। बन्धन से छूटने का नाम मोक्ष है। इससे मोक्ष, बन्धपूर्वक होता है यह सूचित होता है। जिसका बन्धन नहीं उसका मोक्ष कैसे हो सकता है? जो बँधता है वही छूटता है। अतएव मोक्ष का स्वरूप बताने के पहिले निर्युक्तिकार ने बन्ध का कथन किया है और बन्ध के क्षय को विमोक्ष कहा है।

बन्ध-क्षय को मोक्ष बतलाकर निर्युक्तिकार ने अन्यवादियों द्वारा माने हुए दीपनिर्वाण तुल्य मोक्ष का निषेध किया है। निर्युक्तिकार ने मोक्ष का स्वरूप बतलाकर यह भी दिखाया है कि जो इस प्रकार के मोक्ष को प्राप्त करता है वह भक्त-परिज्ञा, इङ्गितमरण और पादपोपगमन रूप तीन प्रकार के मरण में से किसी भी मरण से सदा के लिए अजर-अमर हो जाता है। कार्य में कारण का उपचार करने से भक्त-परिज्ञादि मरण भी विमोक्ष कहा जा सकता है।

निर्युक्तिकार के इस कथन से विमोक्ष का अर्थ परित्याग समझना चाहिए। प्रश्न होता है कि साधक दीक्षा अङ्गीकार करते समय बाह्य-पदार्थों का त्याग कर देता है इसके पश्चात् और क्या उसे छोड़ना रह जाता है? इसका समाधान यह है कि बाह्य पदार्थों को त्यागने के बाद भी कुसंस्कारों को मिटाने और वृत्तियों पर विजय प्राप्त करने के लिए और भी कई बातों का त्याग करना पड़ता है। कतिपय बातों का उल्लेख तो धूत अध्ययन में किया गया है अब अन्य उपयोगी त्याग के लिए सूत्रकार सूचन करते हैं।

इस अध्ययन के प्रथम उद्देशक में कुसंग-परित्याग का वर्णन किया गया है। साधु अथवा गृहस्थ के जीवन पर संगति का प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता। संगति का जीवन के निर्माण में बहुत महत्त्व पूर्ण स्थान है। संगति नन्दन वन के समान सुखदायिनी और किंपाकफल के समान दुखदायिनी भी हो

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

सकती है। सत्संगति नन्दन वन के समान शुभ है और कुसंगति किंपाकफल अनिष्ट परिणाम लाती है अतएव कुसंग परित्याग का उपदेश करते हुए सूत्रकार फरमाते हैं:—

से बेमि समणुन्नस्स वा असमणुन्नस्स वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा वत्थं वा पडिग्गहं वा कम्बलं वा पायपुंछणं वा नो पादिज्जा नो निमंतिज्जा नो कुज्जा वेयावडियं परं आढायमाणे त्ति बेमि ।

संस्कृतच्छाया—*स ब्रवीमि समनोज्ञस्य वा असमनोज्ञस्य वा अशनं वा पानं वा खादिमं वा स्वादिमं वा वस्त्रं वा पतद्ग्रहं वा कम्बलं वा पादपुञ्छनं वा नो प्रदद्यात्, नो निमंत्रयेत् न कुर्यात् वैयावृत्यं परमादरवानिति ब्रवीमि ।*

शब्दार्थ—से बेमि=वही मैं कहता हूँ कि। समणुन्नस्स=समनोज्ञ अथवा। असमणुन्नस्स वा=असमनोज्ञ को। असणं वा=भोजन। पाणं वा=पानी। खाइमं वा=मेवा-मिष्टान्नादि। साइमं वा=लवंगादि स्वादिम। वत्थं वा=वस्त्र। पडिग्गहं=पात्र। कम्बलं=कम्बल। पायपुञ्छणं=रजोहरण। परं=अत्यन्त। आढायमाणे=आदरपूर्वक। नो पदिज्जा=न देवें। नो निमंतिज्जा=निमंत्रणा न करे। वेयावडियं=वैयावृत्य। नो कुज्जा=न करे।

भावार्थ—हे जम्बू! मैं कहता हूँ कि मनोज्ञ वेष वाले (जैन साधु) परन्तु शिथिलाचारी और असमनोज्ञ (परमत के) साधुओं को अशन, पान, खादिम, स्वादिम, वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादपुंछण (रजोहरण) इत्यादि आदरपूर्वक न दे तथा इसके लिए निमत्रण भी न दे और न उनकी सेवा शुश्रूषा ही करे।

विवेचन—इस सूत्र में कुसंग-परित्याग को लक्ष्य में रखकर श्री सुधर्मास्वामी अपने आत्मार्थी शिष्य जम्बूस्वामी से कहते हैं कि सदाचारी साधक को स्वमत के शिथिलाचारी साधु और अन्य मत के शाक्यादि साधुओं को अशन, वस्त्रादि न देने चाहिए, इनके द्वारा निमंत्रण भी न देना चाहिए और न उनकी सेवा-भक्ति ही करनी चाहिए।

साधारण दृष्टि से यह कथन जैनधर्म की विश्व-व्यापकता का बाधक दिखाई देता है। जैनधर्म अति उदार और व्यापक धर्म है। उसमें प्राणिमात्र आश्रय पा सकता है। उसकी छत्रछाया में विश्व का प्रत्येक प्राणी धर्म की आराधना कर सकता है। ऐसे उदार एवं विश्वव्यापी धर्म में ऐसी संकुचितता क्यों होनी चाहिए? यह प्रश्न प्राथमिक विचारणा के समय उठता है। परन्तु सूक्ष्मदृष्टि से विचारने पर यह प्रतीत होता है कि यह कथन संकुचितता की दृष्टि से नहीं वरन् आत्मार्थी सदाचारी अनगार साधक के निर्मल चारित्र की रक्षा के निमित्त समझना चाहिए। गृहस्थ साधक और अनगार साधक के नियम भिन्न-भिन्न होते हैं। दोनों के आचार एक समान नहीं होते हैं। गृहस्थ साधक अल्पत्यागी हैं जब कि अनगार साधक पूर्ण त्यागी हैं। त्याग के इस भेद के कारण उनके नियमोपनियम में पर्याप्त भेद है और रहना चाहिए। अनगार साधक विश्व की समग्र वस्तुओं पर से अपना ममत्व हटा लेते हैं अतएव वे भिक्षावृत्ति

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

द्वारा अपनी जरूरी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं अतएव उनके लिए दान जैसी कोई चीज रहती ही नहीं है। जो संयमी व्यक्ति स्वयं के लिए आवश्यक वस्तुएँ भी अन्य से प्राप्त करता है, उसके लिए अन्य को देना योग्य नहीं हो सकता। दान देने के लिए आवश्यकता से अधिक ग्रहण करना भिक्षु साधक का कर्त्तव्य नहीं है अतएव भिक्षु साधक के लिए दान धर्म अनावश्यक है। दाता से त्यागी अधिक श्रेष्ठ है और उच्चतर है। इस आशय को नहीं समझकर कतिपय जैन नामधारी दया दान के द्वेषी "साधु के लिए दान का निषेध है" इस बहाने गृहस्थ के लिए भी दान देने में एकान्त पाप की प्ररूपणा करते हैं और गृहस्थ के लिए भी दान का निषेध करते हैं परन्तु यह उनकी अज्ञानता है। यह ध्यान में रखना चाहिए कि गृहस्थ और त्यागी का आचारकल्प निराला-निराला है। जो बात साधु के लिए अकल्पनीय है वह गृहस्थ के लिए कल्पनीय हो सकती है और जो गृहस्थ के लिए कल्पनीय है वह साधु के लिए अकल्पनीय हो सकती है। अतएव साधुकल्प में दान का निषेध होने के बहाने श्रावक के लिए भी दान का निषेध करना निरी अज्ञानता ही है क्योंकि साधु और गृहस्थ के आचारकल्प पृथक् २ हैं।

सूत्रकार ने समनोज्ञ और असमनोज्ञ पद दिये हैं। इसका वृत्तिकार ने इस प्रकार स्पष्टीकरण किया है—समनोज्ञो दृष्टितो लिङ्गतो न तु भोजनादिभिस्तद्विपरीतस्त्वसमनोज्ञः। अर्थात्-जो धर्म और लिङ्ग की अपेक्षा संभोगी हों वे समनोज्ञ और जो इसके विपरीत अन्य धर्म और अन्य लिङ्ग के हों वे असमनोज्ञ। निर्युक्तिकार ने यह कहा है कि लिङ्ग समान होते हुए भी आचार समान न हो वे समनोज्ञ और जो स्वच्छंदाचारी हों, चारित्र, तप और विनय में समान न हों वे असमनोज्ञ हैं। समनोज्ञ और असमनोज्ञ साधुओं को वस्त्र, पात्रादि आदरपूर्वक देने का निषेध करने का प्रयोजन यह है कि इस प्रकार आदान-प्रदान करने से संसर्ग और परिचय बढ़ता है और शिथिल आचार वालों के परिचय से संयम के पालन में क्षति अवश्य पहुँचती है अतएव ऐसे शिथिलाचारियों के संसर्ग से बचने के लिए यह निषेध किया गया है। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि जो व्यक्ति संयम में शिथिल है वह उस वस्तु का दुरुपयोग भी कर सकता है और आवश्यकता न होने पर भी केवल संग्रहबुद्धि से उसे ले लेता है। यह अनिष्टकारक है अतएव यह निषेध किया गया है।

सूत्रकार ने "आदरपूर्वक" शब्द दिया है। इसका तात्पर्य यह है कि साधु, अन्य ऐसे साधुको कोई भी अपनी सामग्री परिचय बढ़ाने के लिए न दे। साधुसंस्था में भी साधुओं में परस्पर वात्सल्य तो आवश्यक है परन्तु यह वात्सल्य आचार व चारित्र में संभोगी साधुओं के साथ होना चाहिए। समान शील वाले साधुओं का यह कर्त्तव्य है कि वे परस्पर एक दूसरे को आवश्यक वस्तु प्रदान करें और दूसरी तरह भी वैयावृत्य करे। लेकिन यह केवल वात्सल्य के कारण होना चाहिए। वत्सलता से ही साधुसंस्था निभ सकती है और प्रेममय जीवन बिता सकती है।

यहाँ जो निषेध किया गया है वह कुसंग परित्याग को लक्ष्य में रखकर किया गया है। शिथिलाचारियों के साथ संसर्ग और परिचय बढ़े ऐसा आदान-प्रदान न करना चाहिए। इस सूत्र का यह आशय है। यह आशय जैनधर्म की उदारता का बाधक नहीं वरन् पोषक है।

धुवं चेयं जाणिज्जा असणं वा जाव पायपुंछणं वा लभिया नो लभिया, भुञ्जिया नो भुञ्जिया, पंथं विउत्ता, विउकम्म विभत्तं धम्मं जोसेमाणे समेमाणे चलेमाणे पदिज्जा वा निमंतिज्ज वा कुज्जा वेयावडियं परं अणाढायमाणेत्तिबेमि।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

संस्कृतच्छाया—ध्रुवं चैतज्जानीयात्, अशनं वा यावत्पादपुञ्छनं वा लब्ध्वा वाऽलब्ध्वा वा, भुक्त्वा वाऽभुक्त्वा, पन्थानं व्यावर्त्य व्युत्क्रम्य विभक्तं धर्म्म जुषन् समागच्छन् गच्छन् प्रदद्याद्वा निमन्त्रयेद्वा कुर्याद्वैयावृत्त्यं परमनादियमाणः इति ब्रवीमि।

शब्दार्थ—धुवं चेयं=यह निश्चित। जाणिज्जा=समझो कि। असणं=अशन। वा=अथवा। जाव=यावत्। पायपुञ्छणं वा=रजोहरण। लभिया=प्राप्त करके। नो लभिया=न पाकर भी। भुञ्जिया=भोगकर। नो भुञ्जिया=न भोगकर। पंथं=मार्ग को। विउत्ता=छोड़कर। विउक्कम्म=गृहादि को लांघकर (अवश्य पधारे ऐसा)। विभत्तं=भिन्न। धम्मं=धर्म को। जोसेमाणे=आचरने वाले। समेमाणे=आते हुए। चलेमाणे=जाते हुए। पाइज्जा वा=देने लगे। निमंतिज्ज वा=देने का निमंत्रण करे। वेयावडियं कुज्जा=वैयावृत्य करे तो। परं=अत्यन्त। अणाढायमाणे=अनादर करे उसे स्वीकार न करे। त्ति बेमि=ऐसा मैं कहता हूँ।

भावार्थ—कदाचित् असंयमी अन्य भिक्षु सच्च साधकों को इस प्रकार कहें कि हे मुनियों! यह निश्चित समझो कि तुम्हें आहारादि यावत् रजोहरणादि मिले अथवा न मिले, तुमने उसका भोग किया हो अथवा न भोग किया हो तो भी तुम हमारे यहां आना। रास्ता टेढ़ा हो अथवा मार्ग में घर आदि हो तो उन्हें लांघकर—चक्कर लगाकर भी जरूर पधारना इस प्रकार विभिन्न धर्म के पालने वाले (विपरीत आचार वाले) शिथिल साधु आते हुए अथवा जाते हुए कुछ देने लगें, या देने का निमन्त्रण करें अथवा किसी प्रकार का वैयावृत्य करें तो सदाचारी साधकों का यह कर्त्तव्य है कि वे उसे स्वीकार न करें ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—पूर्ववर्ती सूत्र में शिथिलाचारी स्वतीर्थीय अथवा अन्यतीर्थीय साधु वेशधारी को आदरपूर्वक परिचय वृद्धि के लिए अशनादिक देने का निषेध किया गया था। अब कुसंग परित्याग के आशय को विशेष पुष्ट करने के आशय से इस सूत्र में उनसे दी जाने वाली वस्तुओं को ग्रहण करने का निषेध करते हैं। शिथिलाचारियों को देना जैसे उनके साथ परिचय बढ़ाने का कारण होता है उसी तरह उनसे आदान करना भी उनके साथ परिचय बढ़ाने का कारण होता है। अतएव ऐसे शिथिलाचारियों से आदान-प्रदान करना मुनि साधक के लिए वर्जित है।

प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार यह बता रहे हैं कि साधक स्वयं शिथिलाचारियों को अशनादिक न दे लेकिन कदाचित् वे शिथिलाचारी ही न माँगते हुए देने का प्रयत्न करते हुए इस प्रकार कहने लगें कि "हे मुनिओ! आप यह निश्चित समझें कि हमारे यहाँ से खानपान आदि सभी वस्तुएँ आपको मिल सकती हैं अतएव आपको दूसरी जगह से मिले अथवा न मिले, आपने भोजन किया हो अथवा न किया हो, आप हमारे स्थान पर अवश्य पधारें। अन्यत्र आपको मिले तो विशेष लाभ के लिए और न मिले तो उन्हें पाने के लिए आप अवश्यमेव हमारे यहाँ आवें। हमारा स्थान मार्ग में ही है और न हो तो भी क्या? जरा चक्कर लगा करके भी आप पधारने का कष्ट करें।" इस रीति से प्रलोभन देकर वे चारित्रहीन साधु आते

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

हुए अथवा जाते हुए कुछ देने लगे अथवा, देने का निमंत्रण करें या अन्य कोई वैयावृत्य करे तो सच्चा साधक उसे स्वीकार न करे और उनके संसर्ग से सदा बचता रहे।

सम्यक्त्व रूप दर्शन की और चारित्र की शुद्धि के लिए यह आवश्यक है कि चारित्रहीन व्यक्तियों के साथ एवं उनके साथ सम्पर्क छोड़ दिया जाय। चारित्रहीन व्यक्तियों का संसर्ग सदाचारियों के लिए अति भयंकर होता है। जब तक साधक सत्य में पूर्ण स्थिरता न प्राप्त कर ले तब तक संसर्ग दोष उसे मार्ग से पतित कर दे ऐसी सम्भावना रहती है। इस सम्भावना से बचने के लिए सूत्रकार ने ऐसे शिथिलाचारियों व चारित्रहीन व्यक्तियों के साथ आदान-प्रदान करने का निषेध किया है। अशन, वस्त्र, पात्रादि का परस्पर में लेना और देना परिचय को बढ़ाता है और यह परिचय साधना के लिए भयंकर होता है इसलिए सदाचारी साधक को ऐसे संग से सदा दूर रहना चाहिए।

यहाँ यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि साधक को निन्द्य संग से बचाने के लिए ही यह सूत्र है। इस सूत्र का आशय कोई यह न समझे कि यह पतित अथवा शिथिलाचारियों की निन्दा करने लगे अथवा उनके साथ द्वेषभाव रखे। सच्चे साधक के हृदय में तो दोषी के लिए भी दया और प्रेम का भाव रहना चाहिए। उसे निन्दा और द्वेष के प्रपञ्च में पड़ कर अपनी आत्मा को मलिन न करनी चाहिए। उसे अपनी रक्षा के लिए उनके साथ का त्याग करना चाहिए—उनके साथ संसर्ग न रखना चाहिए लेकिन इसका अर्थ यह नहीं होता है कि उनके साथ असद्-व्यवहार किया जाय। इस बात को लक्ष्य में रखकर कुसङ्ग से बचते हुए संयम की निर्मल आराधना करनी चाहिए।

इहमेगेसिं आयारगोयरे नो सुनिसंते भवति ते इह आरंभट्ठी अणुवयमाणा हण पाणे, घायमाणा, हणओ यावि समणुजाणमाणा अदुवा अदिन्नमाययंति अदुवा वायाउ विउज्जंति तं जहा–अत्थि लोए, नत्थि लोए, धुवे लोए, अधुवे लोए, साइए लोए, अणाइए लोए, सपज्जवसिए लोए, अपज्जवसिए लोए सुकडेत्ति वा दुक्कडेत्ति वा कल्लाणेत्ति वा पावेत्ति वा साहुत्ति वा असाहु त्ति वा, सिद्धित्ति वा असिद्धित्ति वा, निरएत्ति वा अनिरएत्ति वा।

संस्कृतच्छाया—इहकैषामाचारगोचरो नो सुनिशान्तो भवति। ते इहारम्भार्थिनो ऽनुवदन्ते (यथा) जहि प्राणिनः घातयन्तो घ्नतश्चापि समनुजानन्तः अथवा अदत्तमाददति, अथवा वाचो वियुञ्जन्ति तद्यथा—अस्ति लोकः, नास्ति लोकः, ध्रुवो लोकः, अध्रुवो लोकः, आदिको लोकः, अनादिको लोकः, सपर्यवसितो लोकः, अपर्यवसितो लोकः, सुकृतमिति वा, दुष्कृतमिति वा, कल्याण इति वा, पाप इति वा साधुरिति वा ऽसाधुरिति वा सिद्धिरिति वा असिद्धिरिति वा, नरक इति वा ऽनरक इति वा।

शब्दार्थ—इहं=इस मनुष्य लोक में। एगेसिं=एक-एक को। आयारगोयरो=आचार-सम्बन्धी विषय। सुनिसंते=अच्छी तरह ज्ञात। नो भवति=नहीं होता है। ते=वे। इह=इस लोक

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

में। आरंभट्ठी=आरम्भ करने वाले। अणुवयमाणा=आरम्भ में धर्म कहने वाले। हण पाणे=प्राणियों को मारो ऐसा कहकर। घायमाणा=दूसरों से हिंसा कराते हैं। हणओ यावि=और हिंसा करते हुए का। समणुजाणमाणा=अनुमोदन करते हैं। अदुवा=अथवा। अदिन्नमाययंति=अदत्तादान करते हैं। अदुवा=अथवा। वायाउ विउज्जंति=विभिन्न तरह के वचन बोलते हैं। तं जहा=वह इस प्रकार। अत्थि लोए=लोक है। नत्थि लोए=लोक नहीं है। धुवे लोए=लोक नित्य है। अधुवे लोए=लोक अनित्य है। साइए लोए=लोक सादि है। अणाइए लोए=लोक अनादि है। सपज्जवसिए लोए=लोक अन्तवाला है। अपज्जवसिए लोए=लोक अनन्त है। सुकडेत्ति वा=यह अच्छा किया। दुकडेत्ति वा=यह खराब किया। कल्लाणेति वा=यह कल्याण रूप है। पावेत्ति वा=यह पापरूप है। साहुत्ति वा=यह अच्छा है। असाहुत्ति वा=यह खराब है। सिद्धित्ति वा=सिद्धि है। असिद्धित्ति वा=सिद्धि नहीं है। निरएत्ति वा=नरक है। अनिरएत्ति वा=नरक नहीं है।

भावार्थ—हे जम्बू! कई साधक ऐसे होते हैं जिन्हें यह भलीभांति प्रतीत नहीं होता कि आचरणीय क्या है? ऐसे साधक आरम्भार्थी होकर अन्य अधर्मियों का अनुकरण करके "प्राणियों को मारो" ऐसा कहकर अन्य द्वारा हिंसा करवाते हैं और हिंसा करते हुए का अनुमोदन करते हैं, नहीं दिया हुआ (अदत्त) ग्रहण करते हैं और इस प्रकार के विभिन्न विभिन्न भ्रममूलक वचन बोलते हैं—कोई कहते हैं "लोक है" कोई कहते हैं "लोक नहीं है"। कोई कहते हैं "लोक नित्य है" कोई कहते हैं "लोक अनित्य है, कोई कहते हैं "लोक की आदि है" कोई कहते हैं "लोक अनादि है, कोई कहते हैं "लोक का अन्त (प्रलय) होता है" कोई कहते हैं "लोक का अन्त कभी नहीं होता"। कोई कहते हैं कि "यह अच्छा किया" उसीको दूसरे कहते हैं "यह खराब किया"। कोई कहते हैं "यह कल्याण रूप है" उसीको दूसरे पापरूप बतलाते हैं। जिसको कोई "साधु" कहते हैं उसे ही कोई "असाधु" बताते हैं। कोई कहते हैं "सिद्धि है" कोई कहते हैं कि सिद्धि नहीं है। कोई कहते हैं "नरक है" जब कि कतिपय कहते हैं कि नरक नहीं है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार बताते हैं कि कुसंग का परित्याग क्यों करना चाहिए? अपरिपक्व साधक पर संगति का बड़ा भारी प्रभाव पड़ता है। अपरिपक्व—अनुभव हीन साधक को यह भी भलीभांति ज्ञात नहीं होता है कि उसका आचार क्या है? आचरणीय क्या है? क्या ग्राह्य है और क्या अग्राह्य है? ऐसी अवस्था में साधक का संगति के प्रवाह में बह जाना साधारण सी बात है, अगर संगति अच्छी हुई तो उसका साध्य सिद्ध हो सकता है और यदि संगति खराब हुई तो उसका बुरा प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता है। ऐसा साधक आत्म-लक्ष्य को भूलकर अन्धानुकरण करने लग जाता है और वास्तविक मार्ग से पतित होता है। इस पतन की सम्भावना को दूर करने के आशय से अधर्मी के संसर्ग का त्याग करने को कहा गया है। अधर्मी, शिथिलाचारी तथा केवल नामधारी साधकों के

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

संसर्ग से तथा उनके अन्धानुकरण से सच्चे परन्तु अनुभवशून्य साधक में क्या क्या दोष पैदा हो जाते हैं इसका दिग्दर्शन सूत्रकार स्वयं कर रहे हैं। साधना के मार्ग में हिंसा, परिग्रह और कदाग्रह ये तीन भयंकर दुर्गुण हैं कुसंग से ये तीनों दोष उस साधक में उत्पन्न हो जाते हैं। वह साधक उनका अंधानुकरण करके स्वयं हिंसा करने लगता है, अन्य से आरम्भ करवाता है और आरम्भ करते हुए का अनुमोदन करने लगता है। संसार में अनेक पंथ, मत, मज़हब प्रचलित हैं। अनेक पंथ के नायक सावद्य आरम्भमय उपदेश देते हैं। उनका अनुकरण करके अपरिपक्व साधक भी वैसा करने लगता है। वे जैसे अदत्त वस्तु ग्रहण कर लेते हैं उसी तरह वह भी करने लगता है। वे लोग अपने वचन-चातुर्य से अपनी बातों को सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं। अपने माने हुए पक्ष को ही सम्पूर्ण सत्य मानने की धृष्टता करते हैं। उनके संग से साधक में भी यह दुर्गुण प्रवेश पा सकता है और वह सम्यग्दर्शन से पतित हो सकता है। अतएव यह संग त्याज्य नहीं हो सकता।

सूत्रकार ने प्रथम व्रत के बाद तृतीय व्रत का कथन किया है तत्पश्चात् द्वितीय व्रत का। इसका क्या कारण है? ऐसा करने का प्रयोजन यह है कि प्रथम और तृतीय व्रत में अल्पवक्तव्यता है अर्थात् संक्षेप में इनका कथन किया है और दूसरे व्रत के विषय में अधिक वक्तव्यता है अतएव प्रथम व तृतीय व्रत का पहिले निर्देश किया गया है।

सूत्रकार ने इस सूत्र में विभिन्न वादों की चर्चा की है। विश्व के रंगमंच पर विविध वाद, दर्शन, धर्म और मान्यताओं की असंख्य श्रेणियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। सूत्रकार ने उस समय के प्रचलित मुख्य २ वादों और मान्यताओं का सूत्र में निर्देश किया है। उस समय के प्रचलित वादों का इन चार विभागों में समावेश किया गया है—(१) क्रियावादी (२) अक्रियावादी (३) अज्ञानवादी और (४) विनयवादी। विस्तृत रीति से इन्हीं चार के तीन सौ त्रेसठ भेद जैन-दर्शन में कहे गए हैं।

टीकाकार ने वर्त्तमान काल में सुप्रसिद्ध षड्दर्शनों की मान्यता के रूप में इस सूत्र को घटित किया है। वह इस प्रकार है:—

अत्थि लोए—स्थावर और जंगम, चर और अचर उभयरूप यह लोक है। इस पृथ्वी पर नव खण्ड और सात समुद्र ही हैं। कोई कहते हैं कि इस पृथ्वी के समान अनेक पृथ्वियाँ ब्रह्माण्ड के जल में रही हुई हैं। जीव अपने कर्मों का फल भोग करते हैं, परलोक है, पुण्य-पाप हैं, बन्ध-मोक्ष हैं, पांच महाभूत हैं इत्यादि यह मान्यता वेदान्त के एक पक्ष द्वैतमत की है।

नत्थि लोए—चार्वाक मत की यह मान्यता है कि यह दृश्यमान जगत् इन्द्रजाल और माया है। वस्तुतः कुछ नहीं है। जो कुछ दृष्टिगोचर होता है वह स्वप्न के तुल्य मिथ्या है। परलोक नहीं है तो पुण्य-पाप और बन्ध-मोक्ष कैसे हो सकते हैं, परलोक के अभाव में उसमें गमनागमन करने वाला आत्मा कैसे संभव है? जो चैतन्य दिखाई देता है वह भूतों (पृथ्वी, अप्, तेऊ, वायु और आकाश) का परिणाम है। पांच भूतों के संयोग से ही चैतन्य की अभिव्यक्ति होती है और भूतों की विघटना से ही चैतन्य का लय हो जाता है। जिस प्रकार मादक द्रव्यों से मदशक्ति प्रकट होती है उसी तरह भूतों से चैतन्य उत्पन्न होता है अथवा प्रकट होता है। वे कहते हैं:—

भौतिकानि शरीराणि, विषयाः करणानि च।
तथापि मन्दैरन्यस्य तत्त्वं समुपदिश्यते॥

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

यथायथा ऽर्थाश्चिन्त्यन्ते विविच्यन्ते तथातथा ।
यद्येतत्स्वयमर्थेभ्यो रोचते तत्र के वयम् ॥

अर्थात्—शरीर, पदार्थ, इन्द्रियाँ आदि सर्व भौतिकदृश्य हैं। सब भूतों का विकार ही है तदपि मन्द अन्य लोक और आत्मा का कथन करते हैं। जैसे-जैसे पदार्थों का विचार करते हैं वैसे-वैसे वे अभाव-रूप मालूम होते हैं। अगर पदार्थों को यह शून्यता ही रुचती है तो हम क्या करें? यह मान्यता चार्वाक दर्शन-नास्तिक परम्परा की है।

ध्रुवे लोए—यह मान्यता सांख्यदर्शन की है। लोक नित्य ही है। इसका कभी उत्पाद और विनाश नहीं होता। केवल आविर्भाव और तिरोभाव होता है। जो वस्तु असत् है वह कदापि उत्पन्न नहीं हो सकती और जो सत् है वह कदापि नष्ट नहीं हो सकती। उनका कथन इस प्रकार है:—

नासतो जायते भावो नाभावो जायते सतः ।

अर्थात्—असत् कभी उत्पन्न नहीं होता और सत् का कभी अभाव नहीं होता है। अतएव यह लोक सदा नित्य ही है।

अधुवे लोए—यह लोक अनित्य ही है यह मान्यता बौद्धदर्शन की है। बौद्ध यह मानते हैं कि प्रत्येक पदार्थ क्षणिक ही है। पदार्थों का स्वभाव ही क्षण-विध्वंसी है। कोई विनाश का कारण नहीं है। अगर पदार्थ क्षणविध्वंसी न हो तो उसका कभी नाश न होना चाहिए। जिसका स्वभाव प्रथमक्षण में ही विनश्वर है नहीं तो वह विनाश के कारणों के आने पर भी नष्ट नहीं हो सकता। अगर घट विनश्वर स्वभाव वाला नहीं है तो वह मुद्गरादि के प्रहार से भी नष्ट नहीं होना चाहिए। किन्तु वह नष्ट होता है। यह नष्ट होने का स्वभाव पहिले से ही है अतएव यह सिद्ध हुआ कि पदार्थ क्षणिक ही उत्पन्न होता है। प्रतिक्षण पदार्थ नष्ट हो रहा है और नवीन उत्पन्न हो रहा है। यह लोक प्रतिक्षण नवीन उत्पन्न होने और नष्ट होने के कारण अनित्य ही है। नित्य पदार्थ कोई क्रिया नहीं कर सकता अतएव लोक अनित्य ही है।

साइए लोए—इस लोक की आदि है। जिसकी आदि होती है उसका बनाने वाला भी कोई होता है। लोक की रचना के विषय में विविध मान्यताएँ दृष्टिगोचर होती हैं। कोई मानते हैं कि यह लोक देव द्वारा उत्पन्न हुआ है। कोई कहते हैं यह लोक ईश्वर द्वारा बनाया गया है। कोई कहते हैं प्रधान (प्रकृति) द्वारा इस लोक की रचना हुई है। महर्षि मनु का कथन है कि जगत् की आदि में अकेला स्वयंभू ही था। वह अकेला ही रमण कर रहा था। दूसरे किसी की इच्छा हुई। उसने ज्यों ही यह विचार किया कि दूसरी वस्तु शक्ति उत्पन्न हो गई। उसके पश्चात् जगत् बन गया। यह चराचर समस्त विश्व अण्डे से उत्पन्न हुआ है। वे कहते हैं कि:—

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥

अर्थात्—सृष्टि के पहिले यह जगत् अन्धकार से व्याप्त था, अज्ञात और लक्षणहीन था। वह विचार से बाहर और अज्ञेय था, चारों ओर से सोया हुआ सा-शान्त था। संसार तब सब पदार्थों से शून्य था। तब ब्रह्मा ने पानी में एक अण्डा उत्पन्न किया। अण्डा धीर-धीरे बढ़ता हुआ बीच में से फट गया। उसके दो भाग हो गए। एक से ऊर्ध्वलोक बन गया और दूसरे से अधोलोक की उत्पत्ति हो गई।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

तदनन्तर दोनों भागों में प्रजा की उत्पत्ति हुई। इस तरह पृथ्वी, अग्नि, जल, आकाश, समुद्र, पर्वत, नदी आदि की सृष्टि हुई।

कई लोग इस सृष्टि की रचना का क्रम इस प्रकार बताते हैं:—

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥१॥
तस्मिन्नेकार्णवीभूते नष्टस्थावरजंगमे ।
नष्टामरनरे चैव प्रनष्टोरगराक्षसे ॥२॥
केवलं गह्वराभूते महाभूतविवर्जिते ।
अचिन्त्यात्मा विभुस्तत्र शयानस्तप्यते तपः ॥३॥
तस्य तत्र शयानस्य नाभेः पद्मं विनिर्गतम् ।
तरुणरविमण्डलनिभं हृद्यं काञ्चनकर्णिकम् ॥४॥
तस्मिन्पद्मे तु भगवान् दण्डी यज्ञोपवीतसंयुक्तः ।
ब्रह्मा तत्रोत्पन्नस्तेन जगन्मातरः सृष्टाः ॥५॥

अर्थात्—जगत्-रचना के पहिले संसार शून्य था। समुद्ररूप बना हुआ था। स्थावर और जंगम देवता, मनुष्य, नाग और राक्षस आदि का नाश था। केवल गह्वर (पोलार) के आकार का, मूर्तों रहित था। ऐसे शून्य में अचिन्त्य आत्मा विभु (ईश्वर) सोया हुआ तप करता था। उस सोये हुए ईश्वर की नाभि से एक कमल उत्पन्न हुआ। वह कमल प्रभात के सूर्य के समान था तथा स्वर्ण की कर्णिका वाला था। उस कमल से दण्ड धारण करने वाले, यज्ञोपवीत पहिने हुए भगवान् ब्रह्मा उत्पन्न हुए। उन ब्रह्मा ने जगन्माता बनायीं। उनसे लोक उत्पन्न हुआ।

इस तरह लोक की आदि और रचना के विषय में विभिन्न कल्पनाएँ की गई हैं। उक्त सभी वादी लोक की आदि मानते हैं।

अणाइए लोए—कई वादी लोक को अनादि मानते हैं। सांख्य भी लोक को अनादि ही कहते हैं। जो सत् है वह उत्पन्न ही नहीं होता। यह सृष्टि-प्रवाह अनादिकालीन है। यह सृष्टि किसने बनायी? यह प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होना चाहिए क्योंकि जो सत् है वह सदा सत् रहता है उसे उत्पन्न ही क्या होना है और जो असत् है वह उत्पन्न नहीं हो सकता। यह लोक सत् है अतएव यह अनादि ही है। इसकी आदि (पूर्वावस्था) नहीं प्रतीत होती अतएव आदिरहित है।

सपज्जवसिए लोए—कई प्रवादी कहते हैं कि यह लोक सान्त है। प्रलय के समय सभी वस्तुओं का विनाश होता है। प्रलय काल में सृष्टि का सर्वथा नाश हो जाता है अतएव लोक सान्त है।

अपज्जवसिए लोए—कई वादी कहते हैं कि यह लोक अपर्यवसित है। इस लोक का सर्वथा नाश कभी नहीं होता। जो वस्तु सत् है उसका आत्यन्तिक विनाश कदापि नहीं हो सकता। वह किसी न किसी रूप (पर्याय) में अवश्य बनी ही रहेगी। वे कहते हैं "न कदाचिदनीदृशं जगत्" अर्थात् यह संसार

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

कभी नया नहीं होता। इसका अर्थ यह है कि संसार सदा बना रहता है। कोई भी समय ऐसा नहीं आता जब कि संसार किसी रूप में विद्यमान न हो। अतएव लोक अनन्त (अन्तरहित) है।

उक्त वादियों में जो लोक की आदि मानते हैं वे लोक को सान्त भी मानते हैं और जो वादी लोक को अनादि मानते हैं वे इसे अनन्त स्वीकार करते हैं। कतिपय वादी क्षर और अक्षर उभयरूप लोक मानते हैं। जैसा कि वे कहते हैं:—

द्वावेव पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।

अर्थात्—लोक में क्षर (विनाशी) और अक्षर (अविनाशी) दोनों ही पुरुष हैं। सभी भूत क्षर है और जो कूटस्थ है वह अक्षर कहा जाता है।

ऊपर लोक के विषय में प्रवादियों की विभिन्न मान्यताएँ बतायी गई हैं। इसके बाद सूत्रकार आत्मा के विषय में वादियों में विभिन्न प्रवादों का निर्देश करते हैं। यहाँ आत्मा का अर्थ आत्म-क्रिया से है। एक ही क्रिया को एक वादी शुभकार्य मानता है, दूसरा वादी उसे ही अशुभ मानता है, एक वादी जिसे कल्याण रूप मानता है उसी क्रिया को दूसरा वादी पापरूप कहता है। उदाहरण के लिए एक व्यक्ति ने सर्व आरम्भ-परिग्रह का त्याग करके प्रव्रज्या अङ्गीकार की। इस प्रव्रज्या स्वीकार करने को एक वादी कहता है कि यह बहुत अच्छा किया जो सर्वसङ्ग का त्याग करके महाव्रत स्वीकार किये। इसी को दूसरा कहता है कि "तुमने बहुत बुरा किया जो मृगलोचना स्त्री का त्याग किया। सन्तति उत्पन्न किए बिना ही प्रव्रज्या लेना पाप है। तुम गृहस्थाश्रम के पालन में असमर्थ होने से ही साधु बने हो। यह अच्छा नहीं है। इस प्रकार एक ही क्रिया के विषय में ये वादी विवाद करते हैं। अपने मनमाने कथनों द्वारा पाप-पुण्य की व्याख्या करते हैं। कतिपय वादी कहते हैं कि मोक्ष है। कोई कहते हैं कि मोक्ष नहीं है। कतिपय वादी नरक के अस्तित्व को सिद्ध करते हैं जबकि कई वादी नरक का निषेध करते हैं।

इस प्रकार सूत्रकार ने विविध दर्शन, मत, सम्प्रदाय और धर्मों की मान्यताओं का दिग्दर्शन कराया है। ये मान्यताएँ परस्पर विरोधी हैं अतएव दर्शनों, धर्मों, मतों और पन्थों में सर्वदा विवाद होता रहता है। लेकिन वास्तविक एवं तात्त्विक दृष्टि से विचार किया जाय तो यह प्रतीत होगा कि ये सभी सत्यरूपी सूर्य की प्रकट या अप्रकट रश्मियाँ हैं। जब इनका समन्वय किया जाता है तभी ये पूर्ण सत्य को स्पर्श कर सकती है, अन्यथा नहीं। सूर्य की एक किरण को ही पूर्ण सूर्य समझ लेना जैसे अज्ञानता है उसी तरह अन्यदृष्टियों का अपलाप करके अपने मनमाने तत्त्व को ही सम्पूर्ण सत्य मान लेना भी गहरी अज्ञानता ही है। जब कोई व्यक्ति अपने माने हुए पक्ष में ही पूर्ण सत्यता का आरोप करता है तब उसमें रहा हुआ आंशिक सत्य भी दूषित हो जाता है।

जैनदर्शन का स्याद्वाद सिद्धान्त विश्व के समस्त धर्मों, दर्शनों और मतों का समन्वय कर देता है। वह समस्त वादों का निराकरण कर देता है। जिस प्रकार एक निपुण न्यायाधीश परस्पर विवाद करते हुए वादी एवं प्रतिवादी का न्यायसंगत फैसला देकर उनके विवाद का शमन करता है, इसी तरह जैनदर्शन का स्याद्वाद सिद्धान्त सभी वादियों के विवाद का अन्त कर देता है। जिस प्रकार एक न्यायी पिता अपने सभी पुत्रों पर एक समान दृष्टि रखता है वह किसी पर न्यूनाधिक बुद्धि नहीं रखता। इसी तरह स्याद्वाद सभी दृष्टियों को समरूप से स्वीकार करता है। इस तरह जैन धर्म के इस सिद्धान्त में सभी

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

दृष्टियों का समावेश ठीक तरह हो जाता है जैसे नदियों का समुद्र में। उक्त वादियों के मतों की अपूर्णता का कारण बताते हुए सूत्रकार कहते हैं:—

जमिणं विप्पडिवन्ना मामगं धम्मं पन्नवेमाणा इत्थवि जाणह अकस्मात् एवं तेसिं नो सुयक्खाए धम्मे नो सुपन्नते धम्मे भवइ। से जहेयं भगवया पवेइयं आसुपन्नेण जाणया पासया अदुवा गुत्ती वओगोयरस्स त्ति बेमि।

संस्कृतच्छाया—*यदिदं विप्रतिपन्नाः मामकं धर्मं प्रज्ञापयन्तः (स्वतो नष्टाः, परानपि नाशयन्ति) अत्रापि जानात "अकस्मात्" एवं तेषां न स्वाख्यातो धर्मो न सुप्रज्ञापितो धर्मो भवति। तद्यथेदं भगवता प्रवेदितमाशुप्रज्ञेन जानता पश्यता अथवा गुप्तिर्वाग्गोचरस्येति ब्रवीमि।*

शब्दार्थ—जमिणं=इस प्रकार जो। विप्पडिवन्ना=विवाद करते हैं तथा। मामगं=अपने माने हुए। धम्मं=धर्म को ही। पन्नवेमाणा=सत्य प्ररूपित करते हुए स्वयं नष्ट होते हैं और अन्य को भी नष्ट करते हैं। इत्थवि=इस विवाद के विषय में भी। जाणह=तुम यह समझो कि यह। अकस्मात्=हेतुरहित है। एवं=इस प्रकार। तेसिं=उनका। धम्मे=धर्म। नो सुयक्खाए=न तो भलीभांति कहा हुआ। नो सुपन्नते धम्मे=और न सुप्ररूपित धर्म। भवइ=होता है। से जहेयं=जैसा कि। आसुपन्नेणं=शीघ्र प्रज्ञा वाले। जाणया=सर्वज्ञानी। पासया=सर्वदर्शी। भगवया=भगवान् द्वारा। पवेइयं=प्रवेदित किया गया है। अदुवा=अथवा। वओगोयरस्स=वचन-गोचर की। गुत्ति=गुप्ति करनी चाहिए।

भावार्थ—इस प्रकार ये वादी अपने अपने धर्म को ही सत्य मानकर उसे ही मोक्ष दाता सिद्ध करने का कदाग्रह करते हैं और पारस्परिक निन्दा करते हुए स्वय डूबते हैं और दूसरे मन्दबुद्धि वालों को भी डुबाते हैं। ऐसे एकान्तवादियों का प्रसंग मिलने पर उन्हें यह प्रत्युत्तर देना चाहिए कि "तुम्हारा यह कथन हेतुरहित है"। इस प्रकार उन वादियों का एकान्त कथन रूप धर्म सु-आख्यात और सुप्ररूपित धर्म नहीं है। सु-आख्यात और सुप्ररूपित धर्म वही है जो आशुप्रज्ञ, सर्वज्ञानी एवं सर्वदर्शी भगवान् महावीर ने प्ररूपित किया है। (जो साधु बुद्धिमान् और समथ हों उन्हें वादियों के कदाग्रह को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए परन्तु यदि कोई हेतु फलित न होता हो तो) उन्हें मौन रहना चाहिए।

विवेचन—ऊपर के सूत्र में विविध मतों एवं दर्शनों की मान्यता का कथन करने के बाद सूत्रकार यहाँ यह बताते हैं कि उनकी एकान्तवाद की मान्यता सत्य से दूर है और प्रमाणरहित है।

ये वादी अपने माने हुए धर्म को सत्य समझते हैं और उसे अनेक कुयुक्तियों द्वारा प्रमाणित करने की चेष्टा करते हैं। इतना ही नहीं वरन् वे दूसरों को भी यह ठसा देने की कोशिश करते हैं कि उनका

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

माना हुआ धर्म ही सच्चा है और इसीसे मुक्ति प्राप्त हो सकती है। अपने धर्म की सचाई सिद्ध करने के लिए वह दूसरे धर्मों की निन्दा करते हैं। इस निन्दा के मार्ग के द्वारा वे अपना धर्मप्रचार करते हैं परन्तु ऐसा करने वाले स्वयं सत्य से पतित होते हैं और असत्य प्ररूपणा द्वारा भोले प्राणियों को पथभ्रष्ट करते हैं। ऐसे कदाग्रही प्रचारक स्वयं डूबते हैं और दूसरों को डुबाते हैं।

कदाचित् ऐसे एकान्त दुराग्रही वादियों का प्रसंग प्राप्त हो तो उनके दुराग्रह को मिटाने के लिए और उन्हें सत्य स्वरूप समझाने के लिए स्वपरहितार्थी साधक को उनके साथ वार्त्तालाप करना चाहिए और उन्हें समझाना चाहिए कि तुम्हारा यह एकान्त कथन निर्हेतुक है। एकान्त कथन की सचाई को सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण नहीं है। उदाहरण के लिए पूर्व सूत्र में वर्णित वादों की अति संक्षिप्त मीमांसा उपयोगी होगी।

प्रथम "अत्थि लोए" को ही लीजिए। इसका अर्थ है लोक विद्यमान है। यदि यह कथन अवधारण रहित हो तो ठीक है लेकिन इसमें जब एकान्त का दुर्गुण मिल जाता है और उसके साथ "ही" लग जाता है तो यह कथन मिथ्या हो जाता है। अवधारण रूप "ही" लग जाने पर "लोक है ही" यह रूप बन जाता है। अब विचारणीय यह है कि यदि लोक को सर्वथा अस्ति रूप ही स्वीकार किया जाय तो वह सर्वथा अस्ति ही रहेगा—तो अलोक की अपेक्षा भी लोक अस्तिरूप मानना पड़ेगा। लोक में जैसे लोकत्व का अस्तित्व है इसी तरह अलोक का भी अस्तित्व मानना होगा क्योंकि लोक सर्वथा अस्तिरूप स्वीकार किया जाय तो उसमें अलोक का नास्तित्व कैसे घट सकता है? लोक में अलोक का नास्तित्व नहीं घटित होने पर लोक अलोक हो जायगा। यह वादी प्रतिवादी दोनों को इष्ट नहीं हैं। इसलिए लोक को एकान्त अस्तिरूप मानना युक्तिसंगत नहीं है। प्रत्येक वस्तु स्व द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा अस्तिरूप है और पर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा नास्तिरूप है। जिस प्रकार घट घटत्व रूप से अस्तिरूप है परन्तु पट की अपेक्षा नास्तिरूप है। यदि ऐसा न माना जाय और घट को सर्वथा अस्ति रूप ही माना जाय तो वह पटरूप भी हो जायगा। उससे पटरूप अर्थ क्रिया भी होनी चाहिए लेकिन ऐसा नहीं होता। इसलिए प्रत्येक वस्तु में अस्ति और नास्ति उभय धर्म भिन्न २ अपेक्षा से मानने चाहिए। ऐसा माने बिना वस्तु-तत्त्व की संसिद्धि ही नहीं हो सकती है।

उक्त रीति से ही "नत्थि लोए" के सम्बन्ध में भी समझ लेना चाहिए। यदि लोक को केवल नास्ति रूप ही माना जाय तो लोक के स्वरूप का ही अभाव हो जाता है। वस्तु को यदि उसके स्वरूप की अपेक्षा से भी नास्ति रूप माना जाय तो वह वस्तु ही नहीं सिद्ध होती। उदाहरणार्थ—घट में पट की नास्ति है इसी तरह घट में यदि घट की भी नास्ति हो तो वह घट कैसे रह सकता है? घट-साध्य अर्थक्रिया उससे कैसे हो सकती है? इसी तरह लोक यदि सर्वथा नास्ति रूप ही है तो घट पटादि रूप लोक का भी अभाव हो जायगा। यह प्रत्यक्ष-बाधित है और अनिष्ट है। इसलिए एकान्त नास्ति रूप भी नहीं हो सकता है। लोक को स्वरूप की अपेक्षा अस्तिरूप और पररूप की अपेक्षा नास्ति रूप मानना ही युक्तिसंगत है।

लोक को एकान्त नास्तिरूप कहने वाले वादी से पूछना चाहिए कि तुम लोक का नास्तित्व सिद्ध करने के लिए बोल रहे हो तो तुम स्वयं अस्ति रूप हो या नास्ति रूप? यदि अस्ति रूप हो तो लोकान्तर्वर्ती हो या लोकबहिर्वर्ती? यदि लोक के अन्दर हो तो लोक का अभाव कैसे सिद्ध हो सकता है? यदि लोक बाहर हो तो खर-विशाण-वत् तुम असिद्ध होते हो तो उत्तर किसको दिया जाय? इस तरह एकान्त नास्तित्व भी सिद्ध नहीं होता इसीलिए कहा है—

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

सर्वमस्ति स्वरूपेण पररूपेण नास्ति च ।

अर्थात्—सर्व पदार्थ स्वरूप से अस्ति रूप हैं और पररूप से नास्ति रूप हैं।

नास्तिक वाद की प्ररूपणा करने वाले आत्मा, स्वर्ग, नरक, पुण्य, पाप आदि का अभाव मानते हैं। वे आत्मा को स्वीकार नहीं करते और पंच भूतों के समुदाय से चैतन्य का आविर्भाव मानते हैं। उनका यह मानना युक्तिसंगत नहीं है। भूत जड़ हैं अतएव उनका कार्य चैतन्य रूप नहीं हो सकता है। पृथक् पृथक् भूत में चैतन्य नहीं है तो वह समुदाय में कैसे हो सकता है ? जैसे बालुका के एक कण में तेल नहीं है तो वह बालुका के समुदाय में भी नहीं है। मृतक शरीर में पाचों भूतों की सत्ता है तदपि वहाँ चैतन्य नहीं होता अतएव यह मानना चाहिए कि चैतन्य भूतों का कार्य नहीं है। चैतन्य गुण वाला आत्मा ही है। इस प्रकार आत्मा का अस्तित्व पहले प्रतिपादित किया जा चुका है। आत्मा की सिद्धि हो जाने पर स्वर्ग, नरक, पुण्य और पाप की सत्ता स्वतः सिद्ध हो जाती है।

ऊपर जो बात अस्ति रूप और नास्ति रूप के सम्बन्ध में कही गई है वही ध्रुव-अध्रुव के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिए। सांख्यदर्शन लोक को एकान्त ध्रुव मानता है जब कि बौद्धदर्शन लोक को सर्वथा अध्रुव। जैनदर्शन लोक को ध्रुव-अध्रुव-उभयरूप मानता है। सांख्यों का कथन है कि जो सत् है वह कदापि नष्ट नहीं होता और जो असत् है वह कदापि उत्पन्न नहीं हो सकता है। अतएव लोक नित्य ही है—उत्पाद-विनाश से रहित है केवल आविर्भाव और तिरोभाव होता रहता है। सांख्यदर्शन की कूटस्थ नित्य की मान्यता युक्तिसंगत नहीं है। पदार्थ का लक्षण अर्थक्रियाकारित्व सभी वादियों को सम्मत है। यह अर्थक्रियाकारित्व कूटस्थ नित्य पदार्थ में नहीं पाया जा सकता है क्योंकि जहाँ क्रिया होती है वहाँ परिणति अवश्य होती है। जहाँ परिणति है वहाँ कूटस्थ नित्यता नहीं घटित होती। कूटस्थ नित्य मानने से आविर्भाव और तिरोभाव भी नहीं घट सकते हैं। आविर्भाव और तिरोभाव ही वस्तु के कूटस्थ नित्यत्व का विरोध करते हैं।

विश्व के पदार्थों का अवलोकन करने से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि पदार्थमात्र उत्पत्ति, विनाश और स्थिति से युक्त है। तत्त्वार्थाधिगम सूत्र में उमास्वाति ने कहा है—

उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ।

अर्थात्—पदार्थ उत्पत्ति, विनाश और स्थिति वाला है। जिसकी उत्पत्ति होती है, जिसका नाश होता है और जो ध्रुव रहता है वह पदार्थ है। जो उत्पन्न नहीं होता, नष्ट नहीं होता और ध्रुव नहीं रहता वह पदार्थ नहीं हो सकता है जैसे आकाश-पुष्प। यह आशंका की जा सकती है कि जो उत्पन्न होता है वह भला ध्रुव कैसे हो सकता है ? इस शंका का समाधान यह है कि उत्पत्ति और विनाश ध्रुवता के विरोधी नहीं हैं परन्तु समर्थक हैं। बिना ध्रुवता के उत्पत्ति और विनाश नहीं होते। इसी तरह ध्रुवता भी उत्पत्ति और विनाश से निरपेक्ष नहीं रह सकती है। जहाँ हम वस्तु में उत्पत्ति और विनाश का अनुभव करते हैं वहाँ पर उसकी स्थिरता का भी अविचल रूप से भान होता है। जहाँ ध्रुवता का भान होता है वहाँ कथञ्चित् उत्पत्ति और विनाश अवश्य प्रतीत होते हैं। उत्पत्ति, विनाश और ध्रौव्य यह त्रिपुटी एक दूसरे के अभाव में नहीं रहती। ये तीनों ही सापेक्ष हैं। उदाहरण के लिए सुवर्णपिण्ड को ही लीजिए। प्रथम सुवर्णपिण्ड को गलाकर उसका कटक (कड़ा) बना लिया गया। कटक का ध्वंस करके उसका मुकुट तैयार किया गया। यहाँ पर सुवर्णपिण्ड के विनाश से कटक की उत्पत्ति और कटक के ध्वंस से मुकुट का उत्पन्न होना देखा गया है। इस उत्पत्ति-विनाश के सिलसिले में मूल वस्तु सुवर्ण

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

की सत्ता बराबर मौजूद है। पिण्डदशा के विनाश और कटक की उत्पत्तिदशा में भी स्वर्ण की सत्ता मौजूद है एवं कटक के विनाश और मुकुट के उत्पाद-काल में भी स्वर्ण बराबर विद्यमान है। इससे यह सिद्ध हुआ कि उत्पत्ति और विनाश वस्तु के आकार-विशेष का होता है न कि मूल वस्तु का। मूल वस्तु तो लाखों परिवर्तन होने पर भी अपनी स्वरूप-स्थिरता से च्युत नहीं होती। कटक-कुण्डलादि स्वर्ण के आकार-विशेष हैं। इन आकारों का ही उत्पन्न और विनाश होना देखा जाता है। इनका मूल तत्त्व स्वर्ण उत्पत्ति और विनाश दोनों से अलग है। इस उदाहरण से यह प्रतीत हुआ कि पदार्थ में उत्पत्ति, विनाश और स्थिति ये तीनों ही धर्म स्वभावसिद्ध हैं। किसी भी वस्तु का आत्यन्तिक विनाश नहीं होता। वस्तु की किसी आकृति के विनाश से यह नहीं समझ लेना चाहिए कि वह वस्तु सर्वथा नष्ट हो गयी। आकृति के बदलने मात्र से किसी वस्तु का सर्वथा नाश नहीं होता। जैसे बाल जिनदत्त, बाल अवस्था को छोड़कर युवा होता है और युवावस्था को छोड़कर वृद्ध होता है। इससे जिनदत्त का नाश नहीं कहा जा सकता है। जैसे सर्प फणावस्था को छोड़कर सरल होता है तो इस आकृति के परिवर्तन से उसका नाश होना नहीं माना जाता है इसी तरह आकृति के बदलने से वस्तु का नाश नहीं होता है। इसी तरह कोई भी वस्तु नवीन नहीं उत्पन्न होती है। अतः जगत् के सारे पदार्थ उत्पत्ति-विनाश और स्थितिशील हैं यह प्रमाणित हो जाता है।

उत्पाद और व्यय को "पर्याय" और ध्रौव्य को "द्रव्य" के नाम से कहा जाता है। इस तरह वस्तु द्रव्य-पर्यायात्मक है। द्रव्य-स्वरूप नित्य है और पर्याय-स्वरूप अनित्य है। कहा भी है:—

द्रव्यात्मना स्थितिरेव सर्वस्य वस्तुनः, पर्यायात्मना सर्वं वस्तूत्पद्यते विपद्यते वा।

अर्थात्—द्रव्यरूप से सब पदार्थ नित्य हैं और पर्याय की अपेक्षा से सभी पदार्थ उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं अतएव अनित्य हैं। इस कथन से यह प्रतीत हो जाता है कि वस्तु न तो एकान्त नित्य है और न एकान्त-अनित्य है। परन्तु सापेक्ष दृष्टि से नित्यानित्य है।

बौद्ध दर्शन की मान्यतानुसार यदि लोक को सर्वथा क्षणभंगुर और अनित्य मान लिया जाय तो जगत् व्यवहार सब समाप्त हो जाता है। जगत् व्यवहार परस्पर लेनदेन पर अवलम्बित है मान लीजिए कि जिनदत्त ने देवदत्त से सौ रुपये उधार लिए। ये दोनों क्षण-क्षण में बदल रहे हैं। जिस जिनदत्त ने रूपये लिये हैं और जिस देवदत्त ने रुपये दिये हैं वे दोनों क्षण के बाद ही दूसरे हो गये तो लेनदेन का व्यवहार कैसे चल सकता है? लेने वाला और देने वाला दोनों ही नहीं रहे तो यह व्यवहार कैसे हो सकता है? इसी तरह एकान्त अनित्य मानने पर पुण्य, पाप, स्वर्ग, नरक आदि की संगति भी नहीं बनती है। जिस आत्मा ने पाप किया है वह तो पाप करके दूसरे ही क्षण में नष्ट हो गया। उसे उसका फल नहीं मिला। जिसे फल मिलेगा उसने वह कर्म नहीं किया। इस तरह कृत कर्म का विनाश और अकृत कर्म के फल का प्रसंग प्राप्त होगा। यह सब अनिष्ट है। अर्थक्रिया भी एकान्त अनित्य पक्ष में नहीं घटित होती है। अतएव लोक को एकान्त अध्रुव भी नहीं मानना चाहिए। यह लोक ध्रुव भी है और अध्रुव भी। द्रव्यापेक्षया ध्रुव है और पर्यायापेक्षया अध्रुव है। एकान्त ध्रुवाध्रुव की मान्यता युक्तिरहित है।

कई वादियों ने लोक की आदि कही है। उनका कथन है कि ईश्वर ने लोक की सृष्टि की है। जो चीज कृतक होती है वह सादि सान्त होती है। जैसे घट कुम्भकारकृत है तो वह सादि भी है और सान्त भी है। इसी तरह यह लोक भी ईश्वरादि रचित होने से सादि सान्त है। वस्तु तत्त्व का विचार करने पर

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

इन वादियों की यह बात सत्य सिद्ध नहीं होती। यह लोक ईश्वर का बनाया हुआ है यह प्रमाणों से सिद्ध नहीं होता। जो ईश्वर कृतकृत्य है और पूर्ण है वह पुनः सृष्टि रचना के प्रपञ्च में पड़ता है यह बात बुद्धि को मान्य नहीं होती। ईश्वर समस्त विकारों और इच्छाओं से परे है। उसे लोकनिर्माण की इच्छा कैसे उत्पन्न हो सकती है? ईश्वर में यदि इच्छा का अस्तित्व माना जाय तो ईश्वर की ईश्वरता नष्ट हो जाती है। क्योंकि जहाँ इच्छा है वहाँ अपूर्णता है और जहाँ अपूर्णता है वहीं इच्छा है। ईश्वर तो पूर्ण है, उन्हें इच्छा का उत्पन्न होना घटित नहीं होता है। दूसरी बात यह है कि यदि ईश्वर को कर्त्ता मान लिया जाय तो उसके अन्य गुणों में त्रुटियाँ आ जाती हैं। ईश्वर समर्थ है, कृपालु है, सर्वज्ञ है, उसने दुखों से संतप्त जगत् का निर्माण क्यों किया? उसने दुखों की सृष्टि ही क्यों की? क्यों दुनिया में रङ्क-राव, धनी-गरीब आदि वर्गों का भेद किया? यदि इस सृष्टि का कर्त्ता ईश्वर ही है तो वह सर्वज्ञ, समदर्शी और कृपालु है यह नहीं माना जा सकता है। जो इन सद्गुणों से युक्त है वह ईश्वर ऐसी दुख से संत्रस्त सृष्टि क्योंकर बनाता है? ये प्रश्न ऐसे हैं जो ईश्वर कर्त्तृत्व का निषेध सिद्ध करते हैं। इस विषय की चर्चा अन्यत्र की जा चुकी है अतएव यहाँ उसका पिष्टपेषण नहीं किया जाता है।

वस्तुतः यह लोक अनादि अनन्त है। इसके निर्माण का प्रश्न ही खड़ा नहीं होना चाहिए। द्रव्यों की अपेक्षा से यह संसार अनादि है। अनादिकाल से जीव अजीव द्रव्यों की विविधता और सम्मिश्रणता से संसार का वैचित्र्य सिद्ध होता है। जड़ और चेतन का समूह लोक कहलाता है। संसार में जो अपरिमित पदार्थ दिखाई देते हैं उनका यदि वर्गीकरण किया जाय तो वे जड़ और चेतन इन दो वर्गों में ही समाविष्ट हो जावेंगे। जड़ और चेतन के सिवाय तीसरी वस्तु नहीं दिखाई देती। संयोगों की विविधता के कारण जड़ और चेतन पदार्थों के विविध रूपान्तर होते रहते हैं। कारणों की भिन्नता के कारण पदार्थ की पर्याय-अवस्थाएँ बदलती रहती हैं। ये पर्याय-परम्पराएँ अनन्तकाल तक चलती रहती हैं। ये पर्याय अनन्तकाल तक चलती रहने वाली हैं तो वे आज-कल की नहीं हो सकतीं, वे अनादिकालीन होनी चाहिए। उनका कभी आरंभ और अन्त नहीं होता।

जड़ और चैतन्य द्रव्य अनादिकालीन हैं और अनन्तकाल तक स्थिर रहेंगे। अतएव लोक भी अनन्त है। पर्यायों की दृष्टि से अवश्य उसकी उत्पत्ति भी होती है और नाश भी होता है परन्तु उस उत्पत्ति और विनाश के लिए न तो ब्रह्मा की आवश्यकता है और न स्वयंभू की। उसके लिए ईश्वर की भी अपेक्षा नहीं है और न किसी देव की। जड़ और चेतन पदार्थ स्वयं यह क्रिया करते रहते हैं। इस सत्य तत्त्व को न समझने के कारण ही सृष्टि के सम्बन्ध में वादियों ने विभिन्न कल्पनाओं के घोड़े दौड़ाए हैं और विविध मनमाने सिद्धान्तों का प्रणयन किया है। वस्तुतः लोक अनादि अनन्त है। द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से संसार अविनश्वर और अनन्त है अतएव अनादि भी है। पर्याय की अपेक्षा से उत्पाद विनाश होता है लेकिन वह वस्तु के आकार का ही होता है न कि मूल वस्तु का। इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि लोक के विषय में वादियों की मानी हुई बातें काल्पनिक ही हैं।

विश्व में प्रचलित वादों का निराकरण करने के लिए जैनधर्म का स्याद्वाद सिद्धान्त ही अचूक रामबाण औषध है।

सूत्रकार साधक को यह उपदेश करते हैं कि दुनिया में अनेक वादी अपने माने हुए सिद्धान्तों को ही सम्पूर्ण सत्य मानते हैं और उन्हीं का आग्रह रखते हैं। वे दूसरों के सिद्धान्तों को मिथ्या कह देते हैं

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

यह उनकी अज्ञानता है। सच्चा साधक कभी कदाग्रही नहीं होता है। कदाग्रह सत्य का प्रबल बाधक है। साधक को कदाग्रह में कभी नहीं पड़ना चाहिए। साधक का यह कर्त्तव्य है कि वह अपने ही सिद्धान्तों को सम्पूर्ण सत्य समझकर उन पर पूर्ण सत्यता का आरोप न करे वरन् विशाल सत्य के समुद्र में से जितना जान पाया हूँ वह यह है इस प्रकार जनताको उपदेश करे। कदाचित् अन्य वादी उसके साथ विवाद में उतरें तो हित-बुद्धि से उन्हें समझाने के लिए उनके साथ प्रेम से चर्चा करें। दूसरों को समझाते हुए स्वयं कहीं कदाग्रह में न फँस जाय यह ध्यान रखना चाहिए। सर्वज्ञानी सर्वदर्शी प्रभु महावीर का सिद्धान्त एकान्तवाद का प्रबल खंडन करता है। जो एकान्त का आग्रह रखता है वह सत्य को नहीं पा सकता है। इस समन्वय के सिद्धान्त को समझ कर परस्पर के विवादों का समाधान करना चाहिए। यदि ऐसी योग्यता न हो तो मौन रहना अच्छा है लेकिन विवाद में पड़कर कदाग्रह में फँस जाना अच्छा नहीं है।

अहा! जैनदर्शन कितना उदार है! कितना महान् इसका आदर्श है! कैसे उच्चकोटि के इसके सिद्धान्त हैं! सर्वज्ञ, सर्वदर्शी प्रभु महावीर का स्याद्वाद सिद्धान्त कितना व्यापक और कितना हितावह है! इस परम कल्याणमय सिद्धान्त के अनुशीलन से हृदय की संकुचितता नष्ट हो जाती है और विश्व-व्यापकता प्राप्त होती है। इसके अनुशीलन से सब प्रकार के द्वन्द्व, संघर्ष एवं कलहों का अन्त हो जाता है और विश्वप्रेम की परमपावनी सरिता सर्वत्र प्रवाहित होती है।

सव्वत्थ सम्मयं पावं, तमेव उवाइक्कम्म एस महं विवेगे वियाहिए, गामे वा अदुवा रण्णे, नेव गामे नेव रण्णे धम्ममायाणह पवेइयं माहणेण मइमया, जामा तिन्नि उदाहिया जेसु इमे आयरिया संबुज्झमाणा समुट्ठिया, जे णिव्वुया पावेहिं कम्मेहिं अणियाणा ते वियाहिया।

संस्कृतच्छाया—सर्वत्र सम्मतं पापं, तदेवोपातिक्रम्य, एष मम विवेको व्याख्यातः, ग्रामे वा, अथवा ऽरण्ये, नैव ग्रामे नैवारण्ये धर्म्ममाजानीत। प्रवेदितं माहणेन (भगवता) मतिमता यामाश्चय उदाहृताः, येषु इमे आर्याः सम्बुध्यमानाः समुत्थिताः, ये निर्वृत्ताः पापेषु कर्म्मसु अनिदानास्ते व्याख्याताः।

शब्दार्थ—सव्वत्थ=सर्वत्र। पावं=पाप। सम्मयं=अभिप्रेत हो रहा है-स्वीकृत हो रहा है। तमेव=उसीको। उवाइक्कम्म=लाघकर मैं रहा हूँ। एस=यह। महं=मेरा। विवेगे=विवेक। वियाहिए=कहा गया है। गामे वा=ग्राम में। अदुवा=अथवा। रण्णे=जंगल में। नेव गामे=न तो ग्राम में। नेव रण्णे=न जंगल में। धम्मं=धर्म। आयाणह=समझो। मइमया=केवल-ज्ञानी। माहणेण=भगवान् ने। पवेइयं=यह कहा है। तिन्नि=तीन। जामा=व्रत। उदाहिया=कहे हैं। जेसु=जिन में। इमे आयरिया=ये आर्यपुरुष। संबुज्झमाणा=बोध पाकर। समुट्ठिया=जागृत होते हैं। जे=जो। पावेहिं कम्मेहिं=पापकर्मों से। णिव्वुया=निवृत्त हुए हैं। ते=वे। अणियाणा=निदानरहित। वियाहिया=कहे गये हैं।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

भावार्थ—प्रवादियों का प्रसंग प्राप्त होने पर साधक मुनि उन्हें संक्षेप में इस प्रकार कहे कि "सब जगह पापकर्म हो रहे हैं, मैं उन्हें लांघकर स्थिर हूँ। यही आपमें और मुझ में भेद है। सर्वज्ञानी भगवान् ने कहा है कि यदि विवेक हो तो ग्राम में अथवा जंगल में, कहीं भी धर्म हो सकता है और यदि विवेक न हो तो चाहे जंगल में चला जाय अथवा गांव में रहे तो भी धर्म की आराधना नहीं हो सकती है। सर्वदर्शी भगवान् ने धर्म की आराधना के लिए तीन प्रकार के यामों (व्रतों) का कथन किया है। आर्यपुरुष इन तत्त्वों के रहस्य को समझ कर सदा सावधान रहते हैं। जो क्रोधादि कषायों के वेग को शान्त कर शीतल हो गये हैं वे पापकर्मों से अलग रहते हैं और निदानरहित होते हैं।

विवेचन—कदाग्रही वादियों के साथ विवाद में उतरने पर साधक को भी कदाग्रह का चेप लगने की सम्भावना रहती है इसलिए ऐसे प्रसंगों पर मौन रखने का अथवा तो सत्यधर्म को जिस रूप में स्वयं ने समझा है उस रूप को शान्तभाव से व हितबुद्धि से उन्हें समझाने का सूत्रकार ने फरमाया है। सूत्रकार यह स्पष्ट करते हैं कि दूसरों को सत्य समझाते हुए किस शैली का आश्रय लिया जाय ? वे स्पष्ट फरमाते हैं कि सच्चा साधक सत्य समझाते हुए किसी की निन्दा नहीं करता। वह व्यक्तिगत आक्षेपों से दूर रहता है। वह वाणी पर ऐसा संयम रखता है कि उसकी वाणी से किसी को आघात न पहुँचे। ऐसे साधक में न तो मिथ्या आवेश होता है और न दूसरों की निन्दा करने की भावना। वह तो सत्य को समझने और समझाने की कोशिश करता है।

सच्चा साधक अधर्म का विरोधी होता है और धर्म का समर्थक होता है। दुनिया में उसे जहाँ अधर्म दिखाई देता है वह उसे दूर करने की चेष्टा करता है और जहाँ उसे धर्म की झलक दिखाई देती है उसे वह बिना किसी संकोच के अपना लेता है। विश्व में चलने वाले अधर्मों की वह उपेक्षा नहीं कर सकता है। धर्म की ओट में होने वाले पापकर्मों को वह सहन नहीं करता है। वह धर्म और अधर्म के विवेक को स्पष्ट समझता है और समझाता है। वह यह सत्य दृढ़ता के साथ प्ररूपित करता है कि धर्म केवल बाह्य क्रियाकाण्डों में नहीं है लेकिन विवेक में है। जहाँ विवेक है वहाँ धर्म है और जहाँ विवेक नहीं है वहाँ धर्म नहीं हो सकता। विवेक के अभाव में केवल बाह्य क्रियाकाण्डों में माना जाने वाला धर्म, धर्म नहीं वरन् धर्म का ढोंग मात्र है।

जो व्यक्ति वन में निवास करता है, केवल फलाहार करता है, अज्ञान कष्ट सहन करता है, पञ्चाग्नि तप तपता है, भयंकर शीत की वेदना सहता है तदपि यदि उसमें विवेक का अभाव है तो उसकी ये क्रियाएँ उसका विकास नहीं कर सकतीं। इन क्रियामात्र से धर्म की आराधना नहीं हो जाती। धर्म की आराधना के लिए आवश्यकता है सत् असत् के विवेक की—कर्त्तव्याकर्त्तव्य के परिच्छेद की। यदि विवेक है तो जंगल में जाने की कोई आवश्यकता नहीं है। वह ग्राम में भी धर्माराधन कर सकता है। यही कारण है कि भरत चक्रवर्ती सरीखे महलों में ही कैवल्य प्राप्त कर सके हैं। इसके विपरीत जहाँ विवेक नहीं है तो वन में भटकने से क्या प्रयोजन ? यदि वन में जाने से ही कल्याण होता हो तो समस्त वनचर प्राणियों का कल्याण हो जाना चाहिए। लेकिन ऐसा नहीं होता है। इसलिए मुख्य बात क्रियाकाण्डों की नहीं है लेकिन विवेक की प्रधानता है। विवेक में ही धर्म है—धर्माराधन है।

इस पर से यह नहीं समझ लेना चाहिए कि बाह्य क्रियाओं की, वेष की, काल की और अन्य बाह्य सामग्री की कोई कीमत नहीं है। मूल वस्तु उपादान की शुद्धि है, परन्तु उपादान की शुद्धि के लिए भी

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

बाह्य निमित्तों की आवश्यकता होती है। जितने अंश में बाह्य संयोग उपादान की शुद्धि में सहायक होते हैं उतने ही अंश में उनकी महत्ता है। मूल वस्तु उपादान की शुद्धि है और इसीके लिए प्रयत्न करना चाहिए। उपादान की शुद्धि के बिना बाह्य संयोग कुछ कारगर नहीं होते। जंगल में जाकर भी एक व्यक्ति अपने मानसिक विचारों से नया संसार खड़ा कर सकता है जब कि विवेकी व्यक्ति बस्ति में रहकर भी निर्लेप रह सकता है। अतएव विवेक को धर्म का मूल कहा गया है।

सर्वज्ञ सर्वदर्शी प्रभु महावीर ने उपादान की शुद्धि के लिए तीन यामों का उपदेश दिया है। याम का अर्थ व्रत होता है। यहाँ यह शंका होती है कि प्रभु महावीर ने तो पांच व्रतों का उपदेश दिया है फिर यहाँ तीन व्रतों का उल्लेख कैसे किया गया है? इसका समाधान यह है कि यहाँ तीन व्रतों से अहिंसा, सत्य और अपरिग्रह से तात्पर्य है। अपरिग्रह व्रत में अचौर्य और ब्रह्मचर्य का अन्तर्भाव हो जाता है। तात्विक दृष्टि से इसमें कोई विरोध नहीं है। 'सत्य' परमलक्ष्य है और उसे प्राप्त करने के लिए अहिंसा और अपरिग्रह दो साधन हैं। अपरिग्रह का अर्थ निर्ममत्वभाव है। जैसे जैसे जीवन में निर्ममत्वभाव आता जाता है वैसे वैसे अहिंसा जीवन में उतरती जाती है। जब तक ममत्वभाव है वहाँ तक अहिंसा की सच्ची आराधना असंभव है। निर्ममत्वभाव के विकास में सम्पत्ति का मोह और स्त्री ये दो प्रबल बाधाएँ हैं। जो व्यक्ति निर्मम बनना चाहता है वह सर्वप्रथम सम्पत्ति का मोह और स्त्री को अवश्यमेव छोड़ेगा ही। इसके बिना निर्ममता आ नहीं सकती। इस दृष्टि से अपरिग्रह व्रत में अचौर्य और ब्रह्मचर्य का समावेश हो जाता है।

अथवा "उपरयते संसारभ्रमणादिभिरिति यामाः" संसार भ्रमण से जिनके द्वारा विश्राम मिलता है वे याम हैं। इस व्युत्पत्ति के द्वारा ज्ञान, दर्शन और चारित्र ये तीन याम कहे जा सकते हैं। टीकाकार ने याम का अर्थ अवस्था (वय) भी लिया है। लेकिन यहाँ व्रत अर्थ सुसंगत होता है।

सूत्रकार ने कहा है कि आर्यपुरुष इन व्रतों का महत्व समझ कर इनके पालन में सावधान रहते हैं। यहाँ यह अर्थ फलित होता है कि जो हेय पदार्थों को छोड़कर इन व्रतों को अपने जीवन में उतारता है वही आर्य है। आर्य का अर्थ कोई क्षेत्र या पन्थ नहीं है। जो भी आर्य बनना चाहता है उसे इन व्रतों का पालन करने में सावधान रहना चाहिए।

जीवन में आर्यता और दिव्यता प्रकट करने के लिए यह आवश्यक है कि कषायों पर विजय प्राप्त की जाय। जब तक कषायों का शमन नहीं होता वहाँ तक व्रतों का पालन नहीं होता है और इसके बिना जीवन में आर्यता प्रकट नहीं होती है। यहाँ यह शंका हो सकती है कि क्रोधादि कषायों के साथ द्वन्द्व तो सम्पूर्ण वीतरागता की प्राप्ति के पूर्वक्षण तक चलता रहता है तो साधक उस पर विजय कैसे प्राप्त कर सकता है और जब तक यह पूर्णावस्था नहीं प्राप्त होती तब तक क्या वह आर्य नहीं कहा जा सकता है? क्या तब तक एक साधक और एक सामान्य प्राणी समकक्ष हैं? इसका समाधान यह है कि यद्यपि कषाय वीतराग अवस्था के पूर्वक्षण तक रहते हैं तदपि जो साधक है, उसका लक्ष्य कषायों से द्वन्द्व करके उन पर विजय प्राप्त करना होता है जबकि सामान्य व्यक्ति कषायों से युद्ध न करके उनके वश में हो जाता है। साधक प्रथम बार या बार-बार भी कषायों से युद्ध करता हुआ हार जावे यह सम्भव है तो भी वह युद्ध बन्द नहीं करता है। वह प्रतिदिन अधिक शक्ति-संचय करता जाता है और एक दिन वह आता है जबकि वह प्रबल वेग से कषायों को निर्मूल कर देता है और विजेता बन जाता है। सच्ची दिव्यता और आर्यता कषायादि विकारों पर विजय पाने में ही है। ऐसा विजेता पापकर्मों से मुक्त हो जाता है। जो इन से हार

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

जाता है वह अपनी आत्मा का दिवाला निकाल देता है और पर वस्तु का गुलाम हो जाता है। सच्चा कषाय विजेता मुक्त—स्वतंत्र होता है। वह सर्व पाप-बन्धनों से मुक्त हो जाता है।

उड्ढं अहं तिरियं दिसासु सव्वओ सव्वावंति च णं पाडियक्कं जीवेहिं कम्मसमारम्भेणं तं परिन्नाय मेहावी नेव सयं एएहिं काएहिं दंडं समारंभिज्जा नेवन्ने एएहिं दंडं समारंभाविज्जा, नेवन्ने एएहिं काएहिं दंडं समारंभंते वि समणुजाणेज्जा, जे वऽन्ने एएहिं काएहिं दंडं समारंभंति तेसिं पि वयं लज्जामो तं परिन्नाय मेहावी तं वा दंडं अन्नं वा नो दंडभी दंडं समारंभिज्जासि त्ति बेमि।

संस्कृतच्छाया—*ऊर्ध्वमधास्तिर्यग्दिक्षु सर्वतः सर्वाः (याः काश्चन दिशः) च प्रत्येकं जीवेषु कर्मसमारम्भः, तं परिज्ञाय मेधावी नैव स्वयमेतेषु कायेषु दण्डं समारभेत् न चापरेणैतेषु दण्डं समारम्भयेत्, नैवान्यानेतेषु कायेषु दण्डं समारभमाणान् समनुजानीयात्, ये चान्ये एतेषु कायेषु दण्डं समारभन्ते तैरपि वयं लज्जामः, तत् परिज्ञाय मेधावी तं वा दण्डमन्यं वा नो दण्डभीः सन् नो दण्डं समारभेथाः इति ब्रवीमि।*

शब्दार्थ—उड्ढं=ऊर्ध्व दिशा। अहं=अधो दिशा। तिरियं=तिरछी। दिसासु=दिशाओं में। सव्वओ=सब प्रकार से। सव्वावंति च=सभी विदिशाओं में। पाडियक्कं=प्रत्येक। जीवेहिं=जीव में। कम्मसमारम्भे=कर्मसमारम्भ रहा हुआ है। तं परिन्नाय=उसे जानकर। मेहावी=बुद्धिमान्। नेव सयं=न तो स्वयं। एएहिं काएहिं=इन कायों की। दंडं समारंभिज्जा=हिंसा करें। नेवन्ने=न दूसरे से। एएहिं=इन कायों की। दंडं समारंभाविज्जा=हिंसा करावे। नेवन्ने=न दूसरों को जो। एएहिं काएहिं=इन कायों की। दंडं समारंभंते वि=हिंसा करते हैं। समणुजाणेज्जा=अच्छा समझे। जेवन्ने=जो अन्य व्यक्ति। एएहिं काएहिं=इन कायों का। दंडं समारंभंति=दण्ड समारम्भ करते हैं। तेसिंपि=उनसे भी। वयं=हम। लज्जामो=लज्जित होते हैं। तं परिन्नाय=यह समझ कर। मेहावी=बुद्धिमान्। दंडभी=हिंसा से डरने वाला। तं वा दंडं=उस हिंसा का। अन्नं वा दंडं=अथवा अन्य पाप कर्म का। नो समारंभिज्जासि=समारम्भ न करे। त्ति बेमि=ऐसा मैं कहता हूँ।

भावार्थ—ऊँची, नीची, तिरछी और सभी दिशाओं तथा सभी विदिशाओं में जितने भी छोटे-बड़े जीव रहे हुए हैं, उन सब के कर्मसमारम्भ रहा हुआ है यह जानकर विवेकशील बुद्धिमान् साधक न तो स्वयं दण्ड समारम्भ करें और न दूसरों द्वारा करावें और जो दण्ड समारम्भ करते हैं उन्हें अच्छा

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

न समझे। सच्चा साधक दूसरे व्यक्ति को पापकर्म करते हुए देखकर भी लज्जित होता है। वह उसे नहीं देख सकता है। इस प्रकार पापकर्मों को जानकर बुद्धिमान् संयमी और पापभीरु साधक हिंसा और अन्य प्रकार दन्डों से निवृत्त हो।

विवेचन—पूर्ववर्ती सूत्र में त्रियाम (अहिंसा, सत्य और निर्ममत्व) का कथन किया गया है। अब यहाँ सूत्रकार यह बताते हैं कि ये त्रियाम जीवन व्यवहार में कैसे उतरें ? सूत्रकार इस सूत्र में अहिंसा की व्यावहारिकता का स्पष्टीकरण कर देते हैं।

अहिंसा की व्यावहारिकता के विरुद्ध यह शंका की जाती है कि यह सारा संसार सूक्ष्म बादर जीवों से संकुल है। ऊर्ध्व, निम्न और मध्यम दिशा में तथा सभी विदिशाओं में जीव भरे हुए हैं। ऐसी स्थिति में प्राणी यदि कोई भी क्रिया करता है तो उसमें प्राणी-वध अनिवार्य रूप से होता ही है तो सम्पूर्ण अहिंसा का पालन किस प्रकार सम्भव है ? साधक को भी हलन-चलनादि क्रियाएँ अवश्य करनी ही पड़ती हैं तो वह हिंसा से कैसे बच सकता है ? यह शंका आमतौर पर उठायी जाती है।

इस शंका का समाधान इस सूत्र से हो जाता है। सूत्रकार कहते हैं कि संसार में ऐसा कोई भी प्राणी नहीं है जो कर्मसमारम्भ से मुक्त हो। संसारवर्त्ती प्रत्येक प्राणी कोई न कोई क्रिया अवश्य ही करता रहता है। साधक भी चाहे वे निवृत्ति क्षेत्र के हों, चाहे वे प्रवृत्ति क्षेत्र में हों, चाहे कर्मयोगी हों, चाहें ज्ञान-योगी हों, वे क्रिया अवश्य करते हैं। उनकी क्रियाओं में कभी शारीरिक क्रियाओं की प्रधानता होती है तो कभी मानसिक क्रियाओं की; लेकिन वे क्रियामुक्त तो नहीं कहे जा सकते। इसलिए क्रियामात्र में पाप है ऐसा एकान्त नियम नहीं है। जो मेधावी साधक क्रिया करते हुए विवेक को सामने रखता है वह पाप से बच जाता है। जो व्यक्ति विवेक से काम लेता है वह अपना पाप दूर कर सकता है। पाप का सम्बंध क्रिया से उतना नहीं है जितना कि वृत्ति से। अगर एक व्यक्ति वृत्ति से पाप से मुक्त है तो वह क्रिया करता हुआ भी पापमुक्त हो सकता है। क्रिया तो उसे लगती है परन्तु इससे उसका पतन नहीं होता है। इसके विपरीत अगर वृत्ति—भावना में पाप है तो वह स्थूलक्रिया में परिणत न होने पर भी पाप है और यह पाप पतन का कारण है। वृत्ति में पाप न होने पर होने वाली क्रिया आत्मा के पतन का कारण नहीं होती जब कि वृत्ति सदोष हो तो वह अधर्म—पाप आत्मा के पतन का कारण होता है। इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि क्रिया से सर्वथा मुक्त न होने पर भी अपनी वृत्तियों से सदा अहिंसक रहना चाहिए। जो व्यक्ति वृत्ति से अहिंसक है वह पापकर्म से मुक्त है। अतएव अहिंसा को अपने व्यवहार में उतारना चाहिए।

ऊपर वृत्ति से अहिंसक रहने का कहा गया है। इसका अर्थ यह नहीं है कि क्रिया चाहे जैसी की जाय तो कोई दोष नहीं है। सूत्रकार का आशय यह है कि जिसकी वृत्ति में सच्ची अहिंसा आ गई है वह कभी उपयोगशून्य क्रिया करता ही नहीं है। वह स्वयं उपयोगशून्य क्रिया नहीं करता है इतना ही नहीं वरन् दूसरों की अविवेकी क्रियाओं को वह देख भी नहीं सकता है। दूसरों को ऐसी विचारशून्य क्रिया करते हुए देखकर उसे दुख होता है। वह चुपचाप हिंसा को देखा नहीं करता परन्तु उसका विरोध भी करता है। जो स्वयं पापरहित होता है उसे यह भावना होती है कि वह दूसरों को भी पापरहित बनावे। इसलिए जब वह दूसरों को पाप करते हुए देखता है तो उसे दुख और लज्जा प्रतीत होती है।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

उपसंहार करते हुए सूत्रकार फर्माते हैं कि पापकर्म के रहस्य को समझकर बुद्धिमान् और पाप भीरु साधक हिंसा और अन्य पापों से निवृत्त बने। जब हिंसा के संस्कार निर्मूल हो जाते हैं, अहिंसकवृत्ति आ जाती है तभी विवेक और पाप भीरुता सफल समझी जा सकती हैं। इसलिए साधक को वृत्ति में अहिंसकता लानी चाहिए।

—उपसंहार—

इस उद्देशक के प्रारम्भ में कुसंग-त्याग का उपदेश दिया गया है। जीवन के विकास अथवा पतन में संगति का महत्त्वपूर्ण भाग रहता है। सत्संगति विकास की साधिका होती है जबकि कुसंगति विकास के मार्ग में बढ़े हुए साधक को भी बलात् पतन के गर्त्त में पटक देती है अतएव प्रारम्भ में ही सूत्रकार ने साधकों को कुसंग से दूर रहने का उपदेश दिया है।

कदाग्रह सत्य का प्रबल बाधक है अतएव साधक को कदाग्रह के ग्रह में न फँस जाना चाहिए। इसकी चर्चा करते हुए सूत्रकार ने विविध वादों की भी संक्षिप्त रूपरेखा दी है और यह बताया है कि एकान्तवाद मिथ्या है। विश्व में प्रचलित सभी धर्म, दर्शन अथवा मत सत्य के एक अंश रूप हैं। परन्तु जब अंश को ही सम्पूर्ण सत्य मानने अथवा मनवाने का आग्रह किया जाता है तो वह मिथ्या हो जाते हैं। मति-भिन्नता के कारण भिन्न-भिन्न विचार हो सकते हैं परन्तु अपने विचारों को परम सत्य मानकर कदाग्रह में पड़ जाना हानिकारक है। इसलिए सूत्रकार साधक के लिए अनेकान्त दृष्टि की अनिवार्य आवश्यकता बताते हैं।

जीवन में धर्म की सच्ची आराधना करने के लिए शुद्ध अहिंसा, सत्य और अपरिग्रह रूप त्रियाम के पालन की आवश्यकता है। जीवन में ये तत्त्व जब ओतप्रोत हो जावें तो ही धर्म की आराधना समझनी चाहिए। जीवन-विकास में उपादान की शुद्धि होना आवश्यक है। उपादान शुद्ध होने पर साधक वन में अथवा भवन में, निर्जन स्थान में अथवा जनसमुदाय में चाहे जहाँ रहकर विकास कर सकता है। चाहिए उपादान की शुद्धि—पापरहित वृत्ति।

संसार में कोई भी प्राणी क्रियामुक्त नहीं है। संसार में क्रिया किसी न किसी रूप में अवश्य होती ही है। इस अवस्था में यह अनिवार्य है। अतएव क्रिया में विवेक की आवश्यकता है। विवेकमय क्रिया करने से साधक पाप से बच सकता है। क्रिया साधक का पतन नहीं करती लेकिन अविवेक—अधर्म साधक को विनाश के मुख में ढकेल देता है। अतएव विवेकपूर्वक क्रिया करते हुए आगे बढ़ना चाहिए।

इति प्रथमोद्देशकः

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

विमोक्ष नाम अष्टम अध्ययन

—द्वितीयोद्देशकः—

प्रथम उद्देशक में कुसंग-परित्याग का वर्णन किया गया है। कुसंग-परिहार करने पर भी साधक के सामने ऐसे अनेक प्रसंग आते हैं जब कि साधक संगति से दूर रहने पर भी प्रलोभनों में फंस जाता है। प्रलोभन सुवर्ण की शृङ्खला के समान हैं। प्रलोभन का बन्धन इस प्रकार का जाल है जिसमें प्राणी बिना किसी दूसरे के बांधे-स्वेच्छा से आकर बंध जाते हैं। इन प्रलोभनों में पड़कर साधक अपने कल्प को तोड़ कर विचलित न हो जाय इसके लिए इस उद्देशक में प्रलोभन पर विजय प्राप्त करने और अकल्प का परिहार करने का उपदेश दिया गया है:—

से भिक्खू परिक्कमिज्ज वा चिट्ठिज्ज वा, निसीइज्ज वा तुयट्टिज्ज वा सुसाणंसि वा सुन्नागारंसि वा गिरिगुहंसि वा रुक्खमूलंसि वा हुरत्था वा कहिंचि विहरमाणं तं भिक्खुं उवसंकमित्तु गाहावई बूया—आउसंतो समणा! अहं खलु तव अट्ठाए असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुञ्छणं वा पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं समारब्भ समुद्दिस्स कीयं पामिच्चं अच्छिज्जं अणिसट्ठं अभिहडं आहट्टु चेएमि आवसहं वा समुस्सिणोमि से भुंजह वसह, आउसंतो समणा! भिक्खू तं गाहावइं समणसं सवयसं पडियाइक्खे—आउसंतो! गाहावई! नो खलु ते वयणं आढामि नो खलु ते वयणं परिजाणामि, जो तुमं मम अट्ठाए असणं वा ४ वत्थं वा ४ पाणाइं वा ४ समारम्भ समुद्दिस्स कीयं पामिच्चं अच्छिज्जं अणिसट्ठं अभिहडं आहट्टु चेएसि आवसहं वा समुस्सिणासि, से विरओ आउसो गाहावई! एयस्स अकरणयाए।

संस्कृतच्छाया—*स भिक्षुः पराक्रमेत वा, तिष्ठेद्वा, निषीदेद्वा त्वग्वर्तनं वा विदध्यात् श्मशाने वा, शून्यागारे वा, गिरिगुहायां वा वृक्षमूले वा कुम्भकारायतने वा अन्यत्र वा क्वाचिद्विहरन्तं तं भिक्षुमुपसङ्क्रम्य गृहपतिर्ब्रूयात्—आयुष्मन् सो श्रमण! अहं खलु तवार्थाय अशनं वा पानं वा खादिमं वा स्वादिमं वा*

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

वस्त्रं वा पतद्ग्रहं वा कम्बलं वा पादपुञ्छनं वा, प्राणिनः, भूतानि, जीवान्, सत्वान्, समारभ्य समुद्दिश्य क्रीतं पामिच्चं (अपरस्मादुच्छिन्नं) आच्छिन्नम्, अनिसृष्टम्, अभिहृतं, आहृत्य ददामि, आवसथं वा समुच्छृणोमि तद् भुङ्क्ष्व, वत्स, आयुष्मन् ! श्रमण ! ।भिक्षुस्तं गृहपतिं समनसं सवयसं प्रत्याचष्टेति–आयुष्मन् गृहपते ! न खलु ते वचनमाद्रिये, न खलु ते वचनं परिजानामि, यस्त्वं ममार्थाय अशनं वा ४ वस्त्रं वा ४ प्राणिनः वा समारभ्य समुद्दिश्य क्रीतं पामिच्चं, आच्छिन्नमनिसृष्टमभिहृतमभिहृत्य ददासि, आवसथं वा समुच्छृणोषि, स विरतोहम् आयुष्मन् गृहपते ! एतत्स्याकरणतया ।

शब्दार्थ—से भिक्खु=वह साधु । सुसाणंसि वा=श्मशान में । सुन्नागारंसि वा=शून्य घर में अथवा । गिरिगुहंसि=पर्वत की गुफा में । रुक्खमूलंसि वा=वृक्ष के नीचे । वा=अथवा । कुम्भारायणंसि वा=कुम्हार के घर में । परिक्कमिज्ज वा=फिरता हो । चिट्ठिज्ज वा=खड़ा हो । निसीइज्ज वा=बैठा हो । तुयट्टिज्ज वा=अथवा सोया हो । इतरत्थ वा=अथवा अन्यत्र । कहिंचि=कहीं पर । विहरमाणं=विचरते हुए । तं भिक्खुं=उस भिक्षु के । उवसंकमित्तु=समीप आकर । गाहावई=कोई गृहस्थ । बूया=बोले । आउसंतो=हे आयुष्मन् । समणा=श्रमण । अहं खलु=मैं । तवअट्ठाए=तुम्हारे लिए । असणं वा=अशन । पाणं वा=पेय । खाइमं वा=खादिम । साइमं वा=स्वादिम पदार्थ । वत्थं वा=वस्त्र । पडिग्गहं=पात्र । कंबलं वा=कम्बल । पायपुञ्छणं=रजोहरण । पाणाइं=प्राणियों का । भूयाइं=भूतों का । जीवाइं=जीवों का । सत्ताइं=सत्त्वों का । समारब्भ=समारम्भ करके । समुद्दिस्स=तुम्हें उद्देश्य करके । कीयं=खरीद कर । पामिच्चं=उधार लेकर । आच्छिज्जं=निर्बल से छीन कर । अणिसिट्ठं=दूसरे के होने पर उनकी आज्ञा के बिना लाकर । अभिहडं=आपके सन्मुख लाया हुआ । आहट्टु=लाकर । चेएमि=देता हूँ । आवसहं=मकान । समुस्सिणोमि=बनवाता हूँ अथवा जीर्णोद्धार करवाता हूँ । से=सो । भुञ्जह=आप उपभोग करें । वसह=उसमें रहें । आउसंतो समणा=हे आयुष्मन् श्रमण ! भिक्खु=वह भिक्षु । तं=उस । सवयसं=समवयस्क मित्र को । समणसं=मनस्वी । गाहावइं=गृहस्थ को । पडियाइक्खे=इस प्रकार कहे । आउसंतो गाहावई=हे आयुष्मन् गृहस्थ ! । नो खलु ते वयणं आढामि=मैं तेरे वचनों का आदर नहीं करता हूँ । नो खलु ते वयणं परिजाणामि=और न पालन करता हूं । जो तुमं=जो तुम । मम अट्ठाए=मेरे लिए । असणं वा ४=अशनादि । वत्थं वा ४=वस्त्र पात्रादि । पाणाइं ४ वा=प्राणियों भूतों का । समारम्भ=समारम्भ करके । समुद्दिस्स=उद्देश्य बनाकर । ("कीयं" से लगाकर "आहट्टु" तक का शब्दार्थ पूर्ववत्) । चेएसि=देते हो । आवसहं वा समुस्सिणासि=मकान बनवाते हो । आउसो गाहावई=हे आयुष्मन् गृहस्थ । एयस्स अकरणयाए=ये नहीं करने के लिए तो । से=वह मैं । विरओ=त्यागी बना हूं ।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

भावार्थ—भिक्षु साधक श्मशान में, शून्यगृह में, पर्वत की गुफा में, वृक्ष के मूल में, कुम्हार के खाली घर में फिरता हो, खड़ा हो, बैठा हो, सोया हो अथवा अन्यत्र कहीं विचरता हो, ऐसे प्रसंग पर कोई पूर्व परिचित अथवा अन्य कोई गृहस्थ उसके पास आकर इस प्रकार आमंत्रण करे कि हे आयुष्मन् श्रमण ! मैं आपके लिए खान, पान, खादिम, स्वादिम, वस्त्र, पात्र कम्बल, पादपुञ्छन वगैरह पदार्थ आपके लिए नाना प्राण, भूत, जीव और सत्त्वों का समारम्भ करके, खरीद कर, उधार लेकर, किसी से छीनकर, अथवा दूसरे के होने पर भी उसकी आज्ञा के बिना लाकर और मेरे घर से लाकर देता हूँ, आपके लिए सुन्दर मकान बनवाता हूँ या जीर्णोद्धार करवाता हूँ आप कृपा कर यहां रहो और खाओ, पीओ।

हे आयुष्मन् साधको ! वह साधु ऐसे प्रसंग पर अपने परिचित मित्र अथवा मनस्वी गृहस्थ को इस प्रकार कहे कि "हे आयुष्मन् गृहस्थ ! मैं आपके वचन को स्वीकार नहीं करता हूँ और न उसका पालन करता हूँ। इसलिए तुम क्यों मेरे लिए आरम्भादि क्रिया करके खान, पान, वस्त्रादि की खटपट करते हो और क्यों मकान बनवाते हो ? हे आयुष्मन् गृहस्थ ! मैं ऐसे कार्यों से दूर रहने के लिए ही तो त्यागी बना हूँ।

विवेचन—त्यागी साधक का जीवन आदर्श-जीवन होता है। उसके जीवन की प्रत्येक क्रिया ऐसी होती है जो विश्व को नवीन आदर्श समर्पित करती है। साधारण दुनिया की दृष्टि में जो वस्तु महत्त्व नहीं रखती वह वस्तु भी त्यागी की दृष्टि में एक महत्वपूर्ण चीज होती है। त्यागी की प्रत्येक क्रिया विश्व से सम्बन्धित होती है अतएव उसे अपनी क्रियाओं के प्रति जागृत रहना पड़ता है। अथवा यों कहना चाहिए कि त्यागी स्वभावतः जागृतिमय जीवन ही जीता है। जीवन में जागृति की किरण चमकाने में नियमों का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। जिस व्यक्ति का जीवन जितना ही अधिक नियमबद्ध होता है वह उतना व्यवस्थित और जागरूक रहता है। हाँ, एक बात साथ ही अवश्य ध्यान देने योग्य है कि नियमों के पीछे रहे हुए आशय को साथ लेकर नियम-पालन होना चाहिए। ऐसा भी देखा जाता है कि नियमों के पीछे रहे हुए आशयों को भूल जाने पर नियम जीवन में नीरसता लाने वाले सिद्ध होते हैं, नियमों के बन्धन में जकड़े जाने पर जीवन शुष्क हो जाता है और नियम केवल भाररूप हो जाते हैं। लेकिन यदि नियमों के आशय को समझकर नियम पालन किया जाता है तो जीवन में नवीन जागृति और ताजगी रहती है। इससे जीवन व्यवस्थित बन जाता है। इसी आशय को लेकर त्यागी साधक की प्रत्येक क्रिया नियमबद्ध होती है। सूत्रकार ने साधक के जीवन की प्रत्येक क्रिया के नियमोपनियमों का विधान किया है। साधक का खानपान, वस्त्र, शय्या, आसन, स्थान-ग्रहण आदि नियमपूर्वक होता है। शास्त्रीय भाषा में इसे कल्प कहते हैं।

साधक का जीवन किसी के लिए पीड़ाकारी न हो इस बात को मुख्य रूप से लक्ष्य में रखकर उसके नियमोपनियम रचे गये हैं। आहारादि के सम्बन्ध में साधक के जो नियम हैं और जो दोष हैं उनका वर्णन पहले किया जा चुका है। यहाँ सूत्रकार यह बताना चाहते हैं कि साधक खान-पान आदि क्रियाओं में आने वाले प्रलोभनों से प्रभावित न हो जाय और अपने नियमों को न छोड़ दे।

प्रायः ऐसा होता है कि त्यागी के वैराग्य और व्यवहार के कारण जनता की भक्ति और श्रद्धा उस त्यागी की ओर हो जाती है। उस भक्ति के कारण यदि कोई गृहस्थ त्यागी साधक को अशन, पान,

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

खादिम, स्वादिम, वस्त्र, पात्र आदि का प्रलोभन दे और कल्प से बाहर की वस्तुओं के लिए आमंत्रण करे तो साधक का यह कर्त्तव्य है कि वह उसे ग्रहण न करे। वह बड़े मिष्ट शब्दों में उसे समझा दे कि इस प्रकार का तुम्हारा निमंत्रण मैं स्वीकार नहीं कर सकता। तुम यह कह रहे हो कि तुमने मेरे लिए ये अशनादि प्राणी, भूत, जीव और सत्वों का समारम्भ करके बनाये हैं, मेरे निमित्त खरीदे हैं, उधार लिये हैं, किसी दूसरे से छीने हैं, दूसरे के पदार्थ उसे बिना पूछे तुम दे रहे हो, मेरे सामने लाकर देने का कह रहे हो, मेरे निमित्त तुम मकान बनवाना चाहते हो अथवा मकान का जीर्णोद्धार करना चाहते हो लेकिन तुम्हें यह समझना चाहिए कि इन आरम्भ के कार्यों से दूर रहने के लिए ही तो मैं त्यागी बना हूँ। अगर त्यागी बन जाने पर भी ये चीजें शेष रह जाय तो उस त्याग का कोई अर्थ नहीं है। इसलिए भाई! ऐसी कोई खटपट न करो। तुम्हारा यह निमंत्रण स्वीकार करने के लिए मैं समर्थ नहीं हूँ। यह मेरे आचार से विपरीत है। इस प्रकार उसे समझावे और अपने त्याग के नियमों से उसे परिचित कर दे। उस गृहस्थ के प्रलोभन में न फँस जाने के लिए सूत्रकार ने इस सूत्र में साधक को सचेत किया है।

सूत्रकार ने सूत्र में श्मशान में, शून्यागार में, वृक्ष के मूल में, पर्वत की गुफा में आदि आदि एकान्त स्थानों का निर्देश किया है। इसका आशय यह है कि एकान्त स्थान पाप-प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देता है। उपादान की शुद्धि है तो एकान्त स्थान साधना का अच्छा साधन है इसीलिए ऋषिमुनि योगी एकान्त में साधना करते हैं। ऐसा होने पर भी यह देखा गया है कि मनुष्य को एकान्त में अशुभ कर्म करने का अधिक अवसर प्राप्त होता है। एकान्त स्थान में रहे हुए भिक्षु को, कोई गृहस्थ—ऐसे समय में जब कि उसे अशनादि की आवश्यकता हो—भक्तिपूर्वक उक्त प्रकार का आमंत्रण करे तो यह एक बड़ा आकर्षक प्रलोभन गिना जा सकता है। ऐसे प्रलोभन के समय साधक की कसौटी होती है। ऐसे समय में भी साधक अपने त्याग के नियमों का भंग न करें यह बताने के लिए एकान्त स्थानों का निर्देश किया गया प्रतीत होता है।

सूत्र में "सुसाणंसि" पाठ है। टीकाकार यह कहते हैं कि यह पाठ जिनकल्पी अथवा प्रतिमा-प्रतिपन्न भिक्षुओं की अपेक्षा से है। स्थविरकल्पियों को श्मशान में रहना कल्पनीय नहीं है। इसका कारण यह है कि श्मशान के पास के अशुद्ध वातावरण का अशुद्ध असर होने की सम्भावना रहती है इसलिए विधिनिषेध में मानने वाले स्थविरकल्पी साधक के लिए श्मशान में निवास करना अकल्पनीय है। प्रतिमाधारी त्यागी का तो ऐसा आचार है कि जहाँ कहीं सूर्य अस्त हो जाय वहीं वे ठहर जाते हैं; वह चाहे जैसा स्थान क्यों न हो। इसलिए यह श्मशान का पाठ जिनकल्पी और प्रतिमाधारी की अपेक्षा समझना चाहिए।

ऐसे निर्जन स्थानों पर भी यदि प्रलोभन आवें तो साधक का कर्त्तव्य है कि वह प्रलोभनों में न फँसे और अपने त्याग के नियमों का यथाविधि पालन करे। प्रलोभनों पर विजय पाना ही त्याग की कसौटी है।

से भिक्खू परिक्कमिज्ज वा जाव हुरत्था वा कहिंचि विहरमाणं तं भिक्खुं उवसंकमित्तु गाहावई आयगयाए पेहाए असणं वा ४ वत्थं वा ४ जाव आहट्टु चेएइ आवसहं वा समुस्सिणाइ भिक्खू परिघासेउं, तं च भिक्खू जाणिज्जा सहसम्मइयाए परवागरणेणं अन्नेसिं वा सुच्चा अयं खलु गाहावई मम अट्ठाए

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

असणं वा ४ वत्थं वा ४ जाव आवसहं वा समुस्सिणाइ तं च भिक्खू पडिलेहाए आगमित्ता आणविज्जा अणासेवणाए त्ति बेमि ।

संस्कृतच्छाया—स भिक्षुः पराक्रमेत वा यावदन्यत्र वा क्वचिद्विहरन्तं तं भिक्षुमुपसङ्क्रम्य गृहपतिरात्मगतया प्रेक्षया ऽशनं वा ४ वस्त्रं वा ४ यावदाहृत्य ददाति, आवसथञ्च समुच्छ्रृणोति, भिक्षुं परिघासयितुं तच्च भिक्षुः जानीयात् स्वसन्मत्या परव्याकरणेन, अन्येभ्यो वा श्रुत्वा, अयं खलु गृहपतिः ममार्थाय अशनं वा ४ वस्त्रं वा यावदावसथं वा समुच्छ्रृणोति, तच्च भिक्षुः प्रत्युपेक्ष्यावगम्य ज्ञापयेदनासेवनयेति ब्रवीमि ।

शब्दार्थ—से भिक्खू=वह साधु परिक्कमिज्ज वा=श्मशानादि में फिरता हो। जाव=यावत्। हुरत्था=अन्यत्र। कहिंचि=कहीं। विहरमाणं=विचरते हुए। तं भिक्खुं=उस भिक्षु के। उवसंकमित्तु=समीप आकर। गाहावई=कोई गृहस्थ। भिक्खू=भिक्षु को। परिघासेउं=जिमाने के लिए। आयगयाए पेहाए=मन में संकल्प करके। असणं वा ४=अशनादि। वत्थं वा ४=वस्त्रादि। जाव आहट्टु=यावत् लाकर। चेएइ=देने लगे। आवसहं=मकान। समुस्सिणाइ=बनवाने लगे। तं च=यह। भिक्खू=साधु। सहसम्मइयाए=अपनी बुद्धि द्वारा। परवागरणेणं=तीर्थङ्करादि द्वारा बताये हुए मार्ग से। अन्नेसिं वा सुच्चा=अथवा अन्य किसी से सुनकर। जाणिज्जा=जान ले कि। अयं खलु गाहावई=यह गृहस्थ। मम अट्ठाए=मेरे लिए। असणं वा=अशनादि। वत्थं वा=अथवा वस्त्रादि। जाव=यावत्। आवसहं=मकान। समुस्सिणाइ=तय्यार कराता है। तं च=इसे। भिक्खू=साधु। पडिलेहाए=विचार कर। आगमित्ता=जानकर। अणासेवणाए=उसे नहीं सेवन करने के लिए। आणविज्जा=गृहस्थ को सूचित कर दे। त्ति बेमि=ऐसा मैं कहता हूँ।

भावार्थ—मुनि साधक श्मशानादि में फिरता हो या अन्य कहीं विचरता हो, उसे देखकर कोई गृहस्थ उस भिक्षु को जिमाने का मन में संकल्प करके वह मुनि के लिए आरम्भ करके आहारादि देवे अथवा मुनि के लिए मकान बनावे—यह बात मुनि साधक अपने बुद्धिबल से अथवा तीर्थंकर प्ररूपित मार्ग से अथवा अन्य किसी से सुनकर यह जान ले कि "यह गृहस्थ मेरे लिए आहारादि बनाकर अथवा मकान तय्यार कर देना चाहता है"। ऐसे प्रसंग पर मुनि को चाहिए कि वह इस बात का विचार कर तथा पूरी जांचकर उस गृहस्थ को यह स्पष्ट सूचित कर दे कि "मैं मेरे निमित्त तैयार किये हुए अशनादि या मकान का सेवन नहीं कर सकता हूँ।

विवेचन—प्रथम सूत्र में गृहस्थ अशनादिक घर से तय्यार करके मुनि के स्थान पर आकर भिक्षा देने की प्रार्थना करता है। वह भिक्षा मुनि नहीं ग्रहण कर सकता है। क्योंकि अगर भिक्षुक ऐसी भिक्षा ग्रहण करता है तो उसमें शिथिलता का दोष आ जाता है। शिथिलता जागृति की विरोधिनी है। अतएव

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

त्यागी साधक अपने स्थान पर लाई हुई भिक्षा की सामग्री नहीं ग्रहण करता है। अब इस सूत्र में सूत्रकार यह बता रहे हैं कि मुनि साधक गृहस्थ के घर पर गौचरी (भिक्षा) के लिए जाय तो उसे वहाँ भी कितना सतर्क और सावधान रहना चाहिए। मुनि-साधक का जीवन समाज पर अथवा किसी व्यक्ति पर भाररूप न हो यह विशेषतः इष्ट होने से इस तरह का विधान किया गया है।

कोई भद्रपरिणामी गृहस्थ त्यागी साधक को कहीं श्मशानादि में या अन्यत्र कहीं विचरते हुए देखकर उन्हें अञ्जलि जोड़कर वन्दन करे और मन ही मन में यह संकल्प करे कि इन त्यागी मुनि को विविध प्रकार से अशनादि तैयार करके भोजन कराना चाहिए अथवा इनके रहने के लिए कोई मकान बनवा देना चाहिए या मकान की मरम्मत करा देनी चाहिए। वह गृहस्थ अपने मन के विचार को व्यक्त नहीं करता है और घर जाकर विविध प्रकार के अशनादिक तैयार करता है या मकान बनवाता है और वह मुनि-साधक को देना चाहता है। ऐसे प्रसंग पर यदि साधक को अपनी बुद्धि द्वारा या मनोविज्ञान के द्वारा अथवा तीर्थङ्कर के प्ररूपित मार्ग के द्वारा अथवा उसके सगे सम्बन्धियों द्वारा यह मालूम हो जाय कि इस भावुक गृहस्थ ने मेरे लिये ही यह अन्नादि बनाया है अथवा मेरे निमित्त ही मकान तैयार किया है तो साधक उस गृहस्थ को यह साफ साफ सूचित कर दे कि इस प्रकार का आहार अथवा स्थान मैं कदापि ग्रहण नहीं कर सकता। मुनि-साधक के निमित्त से अगर आहार या मकान या और कोई वस्तु प्राणी, भूत, जीव और कोई सत्त्वों की हिंसा द्वारा तैयार की जाती है तो वह त्यागी साधक के लिए अकल्पनीय है। मुनि-साधक अपने निमित्त से बनने वाली कोई वस्तु नहीं ग्रहण कर सकता है। अगर वह ग्रहण करता है तो वह हिंसा का भागी होता है। मैं तुम्हारा ऐसा आहार या अन्य पदार्थ ग्रहण करने में विवश हूँ। साथ ही अगर वह गृहस्थ समझदार है तो उसे साधु के आचार-विचारों का बोध करावे और निर्दोष दान देने का महत्त्व समझावे। कल्पानुसार दान करने से भव्यजन शीघ्र दुखरूपी समुद्र को तिर जाते हैं—जैसे कि जहाज द्वारा वणिक समुद्र से पार होते हैं। दान में यह ध्यान रखना चाहिए कि वह दानयोग्य काल, देश, पात्र और कल्प में है या नहीं ? योग्य काल में, योग्य पात्र में, योग्य स्थान में कल्प के अनुसार श्रद्धासहित दिया गया दान ही सात्विक दान है। कहा भी है:—

काले देशे कल्प्यं श्रद्धायुक्तेन शुद्धमनसा च ।
सत्कृत्य च दातव्यं दानं प्रयतात्मना सद्भ्यः ॥

इस प्रकार उस भावुक गृहस्थ को कल्पानुसार दान का महत्व समझावे। लेकिन ऐसा उद्देश्यपूर्वक तैयार किया हुआ आहारादि ग्रहण न करे। इसी में मुनि साधक की दृढ़ता है।

भिक्खुं च खलु पुट्ठा वा अपुट्ठा वा जे इमे आहच्च गंथा वा फुसंति से हंता हणह, खणह, छिंदह, दहह, पयह आलुंपह विलुंपह, सहसाकारेह, विप्परामुसह, ते फासे धीरो पुट्ठो अहियासए, अदुवा आयारगोयरमाइक्खे तकिया णमणेलिसं अदुवा वइगुत्तीए गोयरस्स अणुपुव्वेण सम्मं पडिलेहए आयत्तगुत्ते बुद्धेहिं एयं पवेइयं ।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

संस्कृतच्छाया—*भिक्षुञ्च खलु पृष्ट्वा वाऽपृष्ट्वा वा य इमे, आहृत्य ग्रन्थाः (अथवा-आहृत्य ग्रन्थात्) वा स्पृशन्ति, स हन्ता, हत, क्षणुत, छिन्त, दहत, पचत, आलुम्पत, विलुम्पत सहसात् कारयत विपरामृशत, तं ६ स्पर्शान्धीरः स्पृष्टः सम्यधिसहेत अथवा SSचारगोचरमाचक्षीत, तत्कायत्वा अनीदृशम् अथवा वाग्गुप्तिर्विधेया, गोचरस्यानुपूर्व्या सम्यक्प्रत्युपेक्षेत, आत्मगुप्तो, बुद्धैरेतत्प्रवेदितम् ।*

शब्दार्थ—जे इमे=ये कोई गृहस्थ । भिक्खुं च खलु-भिक्षु को । पुट्ठा वा=पूछकर अथवा । अपुट्ठा वा=बिना पूछे । आहच्च गंथा=बहुत द्रव्य खर्च करके आहार बनाते हैं, साधक के न लेने पर । फुसंति=उसे पीड़ा देते हैं । से हंता=कदाचित् वह मारने लगे व कहे कि । हणह=इसे मारो । खणह=दण्डादि से कूटो । छिंदह=हाथ पाँव छेदो । दहह=अग्नि में जलाओ । पयह=पकाओ । आलुम्पह=वस्त्रादि लूटो । विलुम्पह=सर्वस्व छीन लो । सहसाकारेह=प्राणरहित कर दो । विपरामुसह=विविधरीति से पीड़ा दो । पुट्ठो=इन कष्टों से स्पृष्ट होने पर । धीरो=धीर साधु । ते फासे=उन दुखों को । अहियासए=सहन करे । अदुवा=अथवा । तक्किया=योग्य व्यक्ति विचार कर । णमणेलिसं=अच्छी तरह--अनन्यरीति से । आयारगोयरं=साधु का आचार-गोचर । आइक्खे=कहे । अदुवा=अथवा । वइगुत्तिए=मौन रहे । आयत्तगुत्ते=आत्मगुप्त होकर । अणुपुव्वेण=क्रम से । गोयरस्स=आचार-गोचर का । संमं पडिलेहए=अच्छीतरह पालन करता रहे । बुद्धेहिं=ज्ञानियों ने । एयं=यह । पवेइयं=बार-बार कहा है ।

भावार्थ—कोई गृहस्थ मुनि साधक को पूछकर (मुनि के निषेध करने पर भी) छल करके अथवा बिना पूछे व्यर्थ का बहुत खर्च करके आहारादि बनाकर मुनि को देने लगे । मुनि ऐसा आहार नहीं लेते हैं तब वह गृहस्थ अपनी भावना पूर्ण न होने से मुनि पर क्रोध करे, मारे अथवा बोले कि "इसको मारो, कूटो, हाथ-पांव का छेदन करो, अग्नि से जलाओ, इसका मांस पकाओ, इसके वस्त्रादि लूटो, इसका सर्वस्व छीन लो, इसको प्राणरहित कर दो अथवा विविध रीति से यातनाएँ दो" । इस प्रकार संकट में पड़कर भी धैर्य और समता द्वारा मुनि प्रसन्नतापूर्वक इन कष्टों को सहन करे । अगर सामने वाला व्यक्ति सुयोग्य हो तो उसे ऐसे प्रसंग पर मुनि के आचार-विचार का सुन्दर रीति से परिचय करावे और अगर इस उपदेश का विपरीत असर होने की सम्भावना मालूम दे तो मौन धारण करना चाहिए । परन्तु इन कष्टों से डरकर दूषित आहार न ले। मुनि-साधक अपने आचार-गोचर में सावधान रहे ऐसा ज्ञानी पुरुषों ने बार-बार कहा है ।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में मुनि-साधक को अपने नियमोपनियमों में दृढ़ रहने का उपदेश दिया गया है । साधक का यह कर्त्तव्य है कि चाहे प्राणान्त कष्ट का प्रसंग भी प्राप्त क्यों न हो, अपने नियमों में कदापि शिथिलता न आने दे । साधक अपने नियमों में किसी भी कारण से शिथिलता नहीं आने देता है। कई प्रसंग तो ऐसे आते हैं जब साधक को कष्टों का सामना करना पड़ता है और वह कष्ट सहन कर अपने

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

व्रतों का पालन करता है। वही साधक जो कष्टों को सह लेता है परन्तु व्रत पालन में दोष नहीं लगने देता है, कई बार अपने श्रद्धालु भक्तों के आग्रह के वश हो जाता है और व्रत के पालन में शिथिलता कर देता है। यह वृत्ति की दूषितता है। श्रद्धालु भक्तों का आग्रह अनुकूल प्रलोभन है। साधक अनुकूल और प्रतिकूल प्रसंगों के उपस्थित होने पर भी किसी प्रकार से व्रत में—नियमों में शिथिलता न आने दे यही उसकी कर्त्तव्यनिष्ठा है। इसी में उसकी दृढ़ता की कसौटी और नियमपालन की दृढ़ता प्रतीत होती है।

सूत्रकार कह रहे हैं कि कोई गृहस्थ मुनि को देखकर यह कहे कि "हे मुने! मैं आपके लिए अशनादि तैयार करूँगा आप कृपाकर आज मेरे घर को पावन करिएगा। कृपया आज का भोजन मेरे यहाँ लेकर मुझे अनुगृहीत करिए"। गृहस्थ के ऐसे वचनों को सुनकर मुनि ने उसे इन्कार कर दिया कि हम मुनि अपने निमित्त तैयार किया हुआ आहारादि नहीं ले सकते हैं। स्पष्ट शब्दों में निषेध करने पर भी वह गृहस्थ यह सोचकर कि "मैं बहुत अनुनय करके, चाटुकारी द्वारा और जबर्दस्ती भी मुनि को आहार प्रदान करूँगा" वह बहुत द्रव्य व्यय करके और जीवों का उपमर्दन करके आहारादि निष्पन्न करता है। दूसरा कोई गृहस्थ-साधु के थोड़े-थोड़े आचारों को जानने वाला—मुनि को बिना पूछे ही "छल-कपट द्वारा आहारादि निष्पन्न हो जाने के बाद मुनि को आहारादि लेने की प्रार्थना करे—अनुनय-विनय करे लेकिन साधक अपने नियमों का भङ्ग करके कदापि वह आहार नहीं ले सकता है। इस प्रकार बहुत आग्रह करने पर भी जब मुनि आहार लेने को तैयार न हो तो यह बहुत सम्भव है कि उस गृहस्थ की श्रद्धा भङ्ग हो जाय और वह यह समझ ले कि हम इतना आग्रह कर रहे हैं, चाटुकारी कर रहे हैं और ये तो ध्यान ही नहीं देते हैं, ये लोक-व्यवहार से अनजान हैं, साधु होकर भी ये इतना आग्रह रखते हैं। इस विचार से वह कुपित भी हो जाय और राजादि हो तो वे इसमें अपना अपमान समझें और उसे मारने लगे या दूसरों से यह कहे कि इसे मारो, कूटो, अवयव काट डालो, अग्नि से जलादो, इसे अग्नि में पकाओ, लूट लो, इसका सर्वस्व छीन लो, इसे जान से मार डालो, और भांति-भांति से पीड़ा दो। इस प्रकार संकट उपस्थित होने पर भी साधक अपने नियमों से विचलित न हो जाय। संकटों को अपनी कसौटी समझ कर समभाव से और धीरतापूर्वक सहन करे लेकिन वह दूषित आहार ग्रहण न करे।

अगर सामने वाला व्यक्ति पात्र प्रतीत हो तो उसे साधु के आचारगोचर से परिचित करे। उसे सुन्दर रीति से उपदेश दे। परन्तु उपदेश देने के पहले यह भलीभांति अपनी प्रज्ञा से जान ले कि यह पुरुष कौन है? किस प्रकृति का है? किस मत को मानता है? यह भद्रपरिणामी है या आग्रही है? इन बातों का विचार करने पर यदि वह उपदेश देने योग्य हो तो उसे यह समझावे कि इन कारणों से साधु ऐसा आहार नहीं ग्रहण करते हैं। अगर उपदेश का विपरीत असर होता हो तो उस समय मौन धारण करे। लेकिन किसी भी अवस्था में उस अशुद्ध आहार को ग्रहण न करे। बुद्ध पुरुषों का यह पुनः पुनः कथन है कि साधक में इतनी दृढ़ता और निडरता होनी चाहिए कि वह अपने नियमों का पालन पहाड़ के समान अविचल होकर करे।

सूत्रकार ने अशुद्ध आहार को ग्रहण करने का इतना तीव्र निषेध किया है इसका आशय भी विचारणीय है। आहार का असर जीवन पर पड़े बिना नहीं रह सकता। संयमी पुरुष का आहार भी संयम-जन्य ही होना चाहिए। संयम-जन्य आहार ही संयमी जीवन के लिए सुन्दर असरकारक हो सकता है। अगर संयमी पुरुष असंयम-जन्य आहार का उपयोग करता है तो उसका असर खराब हुए बिना नहीं रह सकता है। संयमी पुरुष किसी पर भी भार बनकर नहीं रह सकता है इसलिए वह अपने

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

उद्देश्य से बनाये गए आहार का कदापि ग्रहण नहीं करता है। जो व्यक्ति अपनी आवश्यकता पर संयम करके मुनि को देता है वही संयम-जन्य आहार है और उसे ही मुनि ग्रहण कर सकता है। यद्यपि मुनि जगत् का आदर्श अङ्ग है तदपि वह इतनी उच्च भूमिका पर पहुँच जाता है कि वह दुनिया के किसी पदार्थ पर अपना हक नहीं समझता है। इसलिए वह अपने उद्देश्य से निर्मित पदार्थों का त्याग करता है।

साधक इस उपर्युक्त आशय को भलीभांति समझ कर इस प्रकार के दूषित आहार को कदापि ग्रहण न करे। संकटों से डरकर अथवा भक्तों की भक्ति के अनुचित दबाव में आकर अपने नियमोपनियमों में शिथिलता करना निर्बलता है, यह त्यागी जीवन के लिए संगत नहीं है। अतएव दृढ़ता और निर्भीकता के साथ अपने नियमों का पालन करना साधक का परम कर्त्तव्य है।

से समणुन्ने असमणुन्नस्स असणं वा जाव नो पाइज्जा नो निमंतिज्जा, नो कुज्जा वेयावडियं परं आढायमाणे त्ति बेमि। धम्ममायाणह पवेइयं माहणेणं मइमया समणुन्ने समणुन्नस्स असणं वा जाव कुज्जा वेयावडियं परं आढायमाणे त्ति बेमि।

संस्कृतच्छाया—स समनोज्ञः असमनोज्ञायाशनं वा यावन्नो प्रदद्यात्, नो निमन्त्रयेत, नो कुर्याद् वैयावृत्यं परमाद्रियमाण इति ब्रवीमि। धर्ममाजानीत प्रवेदितं वर्द्धमानस्वामिना (माहणेण) मतिमता-समनोज्ञः समनोज्ञायाशनं वा यावत् कुर्याद् वैयावृत्यं परमाद्रियमाण इति ब्रवीमि।

शब्दार्थ—से समणुन्ने=समनोज्ञ साधु। असमणुन्नस्स=असमनोज्ञ व्यक्ति को। परं आढायमाणे=अत्यन्त आदरपूर्वक। असणं वा=आहारादि। जाव=यावत्। नो पाइज्जा=न देवे। नो निमंतिज्जा=निमंत्रण भी न करे। नो कुज्जा वेयावडियं=और वैयावृत्य भी न करे। त्ति बेमि=ऐसा मैं कहता हूँ। मइमया=ज्ञानी। माहणेण=वर्द्धमानस्वामी ने। धम्मं पवेइयं=यह धर्म प्रवेदित किया है। आयाणह=सो बराबर समझो कि। समणुन्ने=समनोज्ञ साधु। समणुन्नस्स=समनोज्ञ साधु को। परं आढायमाणे=अत्यन्त आदरपूर्वक। असणं=अशनादि दे। जाव=यावत्। वेयावडियं=वैयावृत्य करे।

भावार्थ—समनोज्ञ साधु आदरपूर्वक असमनोज्ञ साधु को आहार या वस्त्रादि न दे, निमन्त्रण न दे और सेवा शुश्रूषा न करे ऐसा मैं कहता हूँ। अहो साधको! ज्ञानी भगवान् महावीरस्वामी ने जो धर्म कहा है उसका स्वरूप बराबर समझो। संविग्न साधु, संविग्न साधु को आदरपूर्वक आहार वस्त्रादि दें, निमंत्रण दें, और उनकी सेवा शुश्रूषा करे ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—इस सूत्र में सूत्रकार असमनोज्ञ साधु के साथ आहारादि का दान-प्रतिदान-व्यवहार का निषेध करते हैं। शंका हो सकती है कि प्रथम उद्देशक में कुसंग परित्याग में यह कहा जा चुका है फिर

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

यहाँ कहने की क्या आवश्यकता है ? इस शंका का समाधान यह है कि द्वितीय उद्देशक "प्रलोभन विजय और अकल्प परिहार" का है। असमनोज्ञ साधु के साथ दान-प्रतिदान का व्यवहार भी एक प्रकार का प्रलोभन है। असमनोज्ञ साधु के साथ का सम्बन्ध प्रलोभन कैसे है यह समझने योग्य बात है। यह निश्चित बात है कि समनोज्ञ साधु आत्माभिमुख प्रवृत्ति वाला होता है और असमनोज्ञ साधु विश्वाभिमुख प्रवृत्ति वाला होता है। असमनोज्ञ साधु आत्मा के लक्ष्य को भूलकर दुनियाँ की तारीफ का भूखा होता है। वह चाहता है कि दुनिया मेरी प्रतिष्ठा करे और मेरी तारीफ करे। वह इस आशय से दुनियाँ को खुश करने के लिए प्रवृत्ति करता है। जनरंजन करना उसका ध्येय हो जाता है इसलिए वह अंध संसार को अपनी ओर आकर्षित कर लेता है और उसके द्वारा अपनी आवश्यकता पूर्ण कर लेता है। इसलिए इसे देने में उसकी आवश्यकता की पूर्ति होती है ऐसी तो बात नहीं दिखाई देती। समनोज्ञ साधु उसे न दे तो भी उसकी आवश्यकता की पूर्ति तो हो ही जाती है। फिर विचारने की बात है कि समनोज्ञ साधु असमनोज्ञ साधु को आदरपूर्वक क्यों अशनादि दें, क्यों लें, क्यों उसके साथ सम्बन्ध रखे ? विचारने पर यह प्रतीत होगा कि इस प्रकार के व्यवहार में उसके साथ सम्बन्ध करके लोकैषणा प्राप्त करने का ही आशय हो सकता है। साधक के लिए यह प्रलोभन हानिप्रद है। इसलिए उसके संग-दोष से बचने के लिए सूत्रकार आदरपूर्वक उसके साथ दान-प्रतिदान-व्यवहार और सेवाशुश्रूषा का निषेध करते हैं। इस प्रकार का व्यवहार रखने से असमनोज्ञ साधु की असमनोज्ञता को अनुमोदन और प्रोत्साहन मिलता है इसलिए उद्युक्तविहारी साधु शिथिलाचारियों से आदरपूर्वक लेन-देन का व्यवहार न करे।

साथ ही सर्वज्ञ सर्वदर्शी प्रभु महावीर यह उपदेश कर रहे हैं कि मेरे कथन के आशय को बराबर समझ कर उसका पालन करो। आशय को भूलकर केवल अक्षरों का पालन करना हितावह नहीं है। आशय को ध्यान में रखकर असमनोज्ञ के साथ इस प्रकार का व्यवहार न करना चाहिए।

समनोज्ञ साधु का यह भी कर्त्तव्य है कि वह समनोज्ञ साधु के साथ दान प्रतिदान व्यवहार करें, उनको प्रत्येक वस्तु के ग्रहण के लिए निमंत्रण करें और उनकी प्रसंगोचित्त सेवा शुश्रूषा भी करें। ऐसा करने से पारस्परिक वत्सलता की वृद्धि होती है और समनोज्ञता को प्रोत्साहन मिलता है। यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिए कि समनोज्ञ साधु को समनोज्ञ साधु के साथ ही इस प्रकार का व्यवहार रखना चाहिए।

—उपसंहार—

प्रलोभन स्वर्ण की शृङ्खला के समान है। विकास के मार्ग में ये भी अवरोध हैं। निर्भयता और आत्म-स्वातन्त्र्य ये साधक के जीवन के मुद्रा-लेख है। एक तरफ संकट के कांटे हों और दूसरी तरफ प्रलोभन के पुष्प हों तो भी साधक न निराश हो, न मुग्ध बने। समभावपूर्वक पवित्र एवं निर्दोषरीति से संयम के मार्ग में आगे प्रगति करना और आत्मा में लीन रहना ही साधक को इष्ट होना चाहिए।

इति द्वितीयोद्देशकः

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

विमोक्ष नाम अष्टम अध्ययन

—तृतीयोद्देशकः—

अष्टम अध्ययन के दो उद्देश्यों की व्याख्या की जा चुकी है। अब तृतीय उद्देशक प्रारम्भ होता है। गत उद्देशक में कुसंग परिहार और अकल्प-त्याग का वर्णन कर चुकने पर इस उद्देशक में सूत्रकार त्यागी साधक के जीवन को स्पर्श करती हुई महत्वपूर्ण बात का उल्लेख करते हैं। वह बात है विवेकमय समदृष्टि। विश्व के आङ्गन में विविध प्रकार की मान्यताएँ प्रचलित हैं। भिन्न-भिन्न वाद, दर्शन और पन्थों की परम्परा दृष्टिगोचर होती है। इन सबके बीच में से सत्य को पाना एक बड़ी जटिल समस्या है। समझदार साधक भी इस सम्बन्ध में एक बार भूलभूलैया में पड़ जाता है। इस उद्देशक में श्रमण भगवान् महावीर ने इस समस्या का संक्षिप्त समाधान कर दिया है। वे साधक के सामने उसके जीवन के आदर्श की ऐसी त्रिकालाबाधित रूपरेखा खींचते हैं कि फिर उसके सामने यह चकराने वाला प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता है। वे इस विषय को स्पष्ट करते हुए सूत्ररूप में फरमाते हैं:—

मज्झिमेणं वयसा वि एगे संबुज्झमाणा समुट्ठिया, सुच्चा मेहावी वयणं पंडियाणं निसामिया, समियाए धम्मे आरिएहिं पवेइए ते अणवकंखमाणा अणइवाएमाणा अपरिग्गहेमाणा नो परिग्गहावंती सव्वावंति च णं लोगंसि निहाय दंडं पाणेहिं पावं कम्मं अकुव्वमाणे एस महं अगंथे वियाहिए, ओए जुइमस्स खेयन्ने उववायं चवणं च नच्चा।

संस्कृतच्छाया—मध्यमेन वयसापि, एके सम्बुध्यमानाः समुत्थिताः, श्रुत्वा मेधावी पण्डितानां वचनं निशम्य (समतामालम्बेत) समतया धर्मः आर्यैः प्रवेदितः तेऽनभिकाङ्क्षन्तः, अनतिपातयन्तः, अपरिगृह्णन्तः न परिग्रहवन्तश्च सर्वस्मिन्नपि लोके, निधाय दण्डं प्राणिषु (प्राणिभ्यो वा) पापं कर्माकुर्वाणः एषो महान् अग्रन्थः व्याख्यातः, ओजः द्युतिमतः खेदज्ञः, उपपातं च्यवनं च ज्ञात्वा।

शब्दार्थ—एगे=कतिपय साधक। मज्झिमेणं=मध्यम। वयसावि=वय में भी। संबुज्झमाणा=जागृत होकर। समुट्ठिया=त्यागमार्ग में पुरुषार्थी बने हैं। मेहावी=बुद्धिमान्। पंडियाणं=पंडितों के। वयणं=वचन को। सुच्चा=सुनकर। निसामिया=धारण कर समता का आश्रय ले। आरिएहिं=आर्यपुरुषों ने। समियाए=समता में। धम्मे=धर्म। पवेइए=कहा है। ते=ऐसे साधक। अणवकंखमाणा=कामभोगों की इच्छा न करते हुए। अणइवाएमाणा=किसी प्राणी

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

की हिंसा न करते हुए। अपरिग्गहेमाणा=परिग्रह नहीं रखते हुए। सव्वावंति च लोगंसि=समस्त लोक में। नो परिग्गहावंती=निष्परिग्रही हो जाते हैं। पाणेहिं=प्राणियों में। दंडं=हिंसा को। निहाय=छोड़कर। पावं कम्मं=पापकर्म। अकुव्वमाणे=नहीं करता हुआ। एस=यह साधक। महं=महान्। अगंथे=निर्ग्रन्थ। वियाहिए=कहा गया है। उववायं=उत्पन्न होना। चवणं च=मरण होना। नच्चा=जानकर। जुइमस्स=प्रकाशरूप संयम के। खेयण्णे=निष्णात होते हैं। ओए=रागद्वेषरहित, अद्वितीय होते हैं।

भावार्थ—हे जम्बू! कतिपय साधक मध्यम वय में प्रबुद्ध होकर त्यागमार्ग में पुरुषार्थी होते हैं। बुद्धिमान् साधक ज्ञानीजनों के वचनों को सुनकर उनको धारण करे। आर्यपुरुषों ने "समता में" धर्म कहा है। इसलिए त्यागी पुरुष भोगों की आसक्ति की इच्छा तक नहीं करते हैं, किसी प्राणी की हिंसा नहीं करते हैं और परिग्रह से दूर रहते हैं। ऐसे व्यक्ति ही सारे लोक में निष्परिग्रही रह सकते हैं। ऐसे व्यक्ति फिर प्राणियों की हिंसा नहीं करते हैं और पापकर्म नहीं करते हुए वे महान् निर्ग्रन्थ कहे जाते हैं। देवलोक में भी जन्म-मरण के दुख को जानकर प्रकाशमय संयम के निष्णात बनकर वे अद्वितीय-रागद्वेषरहित हो जाते हैं।

विवेचन—सूत्रकार फरमाते हैं कि कतिपय साधक यौवनावस्था में प्रबोध पाकर त्यागमार्ग में पुरुषार्थ करते हैं। मनुष्य की तीन अवस्थाएँ मानी गई हैं—(१) बाल (२) युवा और (३) वृद्ध। इन तीन अवस्थाओं में से युवावस्था ही सब प्रकार के पुरुषार्थों के लिए योग्य अवस्था है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चारों पुरुषार्थ युवावस्था में ही भलीभांति सम्पन्न हो सकते हैं। बाल वय में इन्द्रिय, मन, बुद्धि, चित्त आदि का विकास नहीं हुआ रहता है और वह अवस्था अपरिपक्व होती है अतएव वह पुरुषार्थ में उपयोगी नहीं होती। इसी तरह वृद्धावस्था में शक्ति क्षीण हो जाती है, इन्द्रियों और शरीर परवश हो जाता है इसलिए यह अवस्था भी प्रगति के लिए अनुकूल नहीं है। केवल युवावस्था ही ऐसी है जिसमें समुन्नति के सभी साधन प्राप्त होते हैं, शरीर का पूरा संगठन हो जाता है, इन्द्रियाँ और बुद्धि भी पुष्ट हो जाती है तथा जीवन के विकास के लिए उपयोगी साधन-सामग्री भी प्राप्त हो जाती है। युवावस्था में सहज प्राप्त होने वाला उत्साह, उमङ्ग और सौन्दर्य इसके प्रतीक हैं। तात्पर्य यह है कि युवावस्था जीवन-नौका के लिए पतवार के समान है। इसी पर विकास और ह्रास निर्भर है।

युवावस्था में जैसे साधन-सामग्री की उपलब्धि होती है उसी तरह उस प्राप्त सामग्री को विपरीत मार्ग में खींचने वाले साधन भी बहुत उपस्थित होते हैं। अधिकांश व्यक्ति विवेकबुद्धि के अभाव के कारण इन साधनों का दुरुपयोग करते हैं। शक्ति का अधिक संग्रह यौवनवय में ही होता है साथ ही साथ शक्ति का अधिक से अधिक दुरुपयोग भी इसी वय में होता है। यदि इस अवस्था में विवेकबुद्धि जागृत होकर काम करने लगे तो सब के सब पुरुषार्थ आसानी से सिद्ध हो जायँ। परन्तु इस अवस्था में विवेक का प्राप्त होना बहुत कठिन है। विरल व्यक्ति ही इस अवस्था में अपने विवेकदीप को प्रज्वलित रख सकते हैं। यौवन की आंधी में विवेकदीप को बुझने न देना विरल आत्माओं का ही कार्य है। इसलिए सूत्रकार ने "कतिपय साधक" यह पद दिया है। इस अवस्था में विवेकबुद्धि का विकसित होना पूर्व पुरुषार्थ पर भी

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

अवलम्बित है। पूर्वसंस्कार, उच्च प्रारब्ध अथवा महापुरुषों की कृपा द्वारा ऐसी अवस्था में त्यागमार्ग का आचरण करना सम्भवित होता है। सर्वसाधारण के लिए यह दुष्कर ही नहीं वरन् असम्भवसा है।

सूत्रकार ने "संबुज्झमाणा" पद दिया है। सम्बुध्यमान तीन प्रकार के होते हैं—(१) स्वयं बुद्ध (२) प्रत्येक बुद्ध और (३) बुद्ध बोधित। जो बिना किसी दूसरे के उपदेश के स्वयं जातिस्मरणादि द्वारा बोध पाते हैं वे स्वयंबुद्ध कहलाते हैं। जो बाह्य साधन—शव, मेघ, जीर्ण, उद्यान आदि को देखकर बोध प्राप्त करते हैं वे प्रत्येक बुद्ध हैं। जो दूसरों के द्वारा दिए गए उपदेश को श्रवण कर प्रबुद्ध होते हैं वे बुद्ध-बोधित हैं। यहाँ बुद्धबोधित का अधिकार है। सूत्रकार कह रहे हैं कि तीर्थङ्करादि पण्डित पुरुषों के वचनों को सुनकर तथा उनके हिताहित के विवेक को समझ कर तदनुसार आचरण करने वाला बुद्धिमान् है। महापुरुषों के वचन जीवन में अमृत का संचार करने वाले होते हैं। महापुरुषों के शब्दों में वह संजीवनी शक्ति होती है जो मुर्दों में भी प्राण का संचार कर देती है। इसलिए महापुरुषों के वचन-श्रवण का सूत्र-कार उपदेश कर रहे हैं। साथ ही यह ध्यान देने योग्य तत्त्व है कि सूत्रकार ने "सोच्चा" और "निसामिया" दो पद क्यों दिये हैं? इन दो पदों के प्रयोग का तात्पर्य यह है कि केवल श्रवण करने से ही कुछ सिद्ध नहीं हो जाता। एक कान से श्रवण कर दूसरे कान से निकाल देने से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है। महापुरुष जो उपदेश करते हैं वह केवल सुनने के लिए ही नहीं है परन्तु आचरण करने के लिए है। महा-पुरुषों के वचनों को सुनकर उन पर मनन करना चाहिए और अपनी शक्ति के अनुसार उसका सेवन करना चाहिए। यद्यपि महापुरुषों का कथन सागर के समान गम्भीर होता है तदपि अपनी शक्ति का विचार करके उसमें से कुछ न कुछ अवश्य ग्रहण करना चाहिए।

सूत्रकार ने ज्ञानी पुरुषों के वचनों का पालन करने का फरमाया है लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि उसको समझे बिना ही उसका अन्धानुकरण किया जाय। महापुरुषों के वचन को अपनी विवेक-बुद्धि द्वारा सोचना चाहिए। अपनी बुद्धि का भी उसमें उपयोग करना चाहिए और पश्चात् उसका पालन करना हितकारी है। अपना कर्त्तव्य स्थिर करने के लिए शास्त्रदृष्टि, महापुरुषों के वचन और विवेकबुद्धि का उपयोग, इन तीनों का समन्वय करना बड़ा हितावह होता है। इन तीन कसोटियों पर चढ़ा हुआ आचरण अवश्यमेव जीवन को विकास की ओर अग्रसर करेगा। महापुरुषों के वचनों को सुनकर तदनु-सार आचरण करके कतिपय साधक समतायोग की साधना करते हैं।

महापुरुषों ने "समता" में ही धर्म कहा है। दुनिया में जितने महापुरुष हुए, जितने हैं और भविष्य में जितने भी होवेंगे सभी का यही मत है कि समभाव द्वारा ही धर्म की सच्ची आराधना हो सकती है। गीता में कही हुई स्थित-प्रज्ञता इसी समता का पर्याय वाची शब्द है। सुख-दुख, हानि-लाभ, जय-पराजय, मित्र-अमित्र आदि में अपनी वृत्तियों को समतोल रखना ही स्थित-प्रज्ञता है और यही समता का अर्थ है। इस समतायोग की सिद्धि के बिना शाश्वत सुख प्राप्त नहीं हो सकता क्योंकि यह समता जब तक प्राप्त न हो वहाँ तक अपूर्णता है। अपूर्णता में शाश्वत सुख कहाँ?

सूत्रकार ने इस उदार सूत्रद्वारा विश्व की एक जटिल समस्या का बड़ा ही सरल समाधान कर दिया है। दुनियाँ के आङ्गन में विविध मत, पन्थ और दर्शनों की भूलभुलैया बिछी हुई है। इसमें से अपना मार्ग ढूँढ लेना समझदार साधक के लिए भी बड़ा विकट काम होता है। इस समस्या को सूत्रकार ने बड़ी ही सुगम बना दी है। वे विश्व जितने उदार और व्यापक बनकर फर्माते हैं कि किसी भी पन्थ में या

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

मत में या वेश और लिङ्ग में रहकर साधक इस समतायोग की साधना द्वारा अपना अन्तिम ध्येय सिद्ध कर सकता है। इस प्रकार सूत्रकार ने "समता धर्म" का कैसा विशाल सिद्धान्त विश्व को समर्पित किया है।

समताभाव की साधना के द्वारा विश्व की जटिल बनी हुई परिस्थिति चिर शान्ति को प्राप्त कर सकती है। समता में ही शान्ति की अक्षय निधि निहित है। समता ही संसार के संघर्षणों का अन्त कर सकती है इसीलिए संसार के सभी देश के नायक साम्यवाद के आदर्श की घोषणा कर रहे हैं। विश्व की *चिर शान्ति का मूल समतायोग की वास्तविक आराधना में है।*

जैनदर्शन ने समता को केवल आदर्श ही नहीं रखा है वरन् उस आदर्श को प्राप्त करने के व्यावहारिक साधन भी बताये हैं। समता-योग की साधना के लिए तीन साधन कहे गये हैं। इसीलिए धर्म के भी तीन लक्षण कहे हैं—(१) अहिंसा (२) संयम और (३) तप। इन तीन साधनों के द्वारा समता की साधना होती है। अहिंसा के बिना विश्व के साथ "मित्ती मे सव्वभूएसु वेरं मज्झं न केणइ" की भावना नहीं प्रकट होती और विश्व के साथ मैत्रीभाव के बिना समभाव कैसे हो सकता है? अतएव ऐसे साधक को अहिंसा पर पर्याप्त ध्यान देना होता है। उसे वृत्ति द्वारा पूर्ण अहिंसक होना पड़ता है। अहिंसक बनने के लिए संयम की अनिवार्य आवश्यकता होती है। जिस अहिंसा में संयम नहीं है वह अहिंसा ही नहीं है। संयम का अर्थ निष्परिग्रहीत्व है। परिग्रह में समस्त कामभोगों का समावेश हो जाता है इस लिए अपरिग्रही बनने के लिए भोगों की कांक्षा और सभी पदार्थों का त्याग करना पड़ता है और वृत्ति में अपरिग्रहत्व आ जाना चाहिए। क्योंकि वृत्ति में अपरिग्रहत्व नहीं है तो क्षेत्र परिवर्त्तन के साथ एक वस्तु को त्याग कर दूसरी वस्तु पर ममत्व हो जाता है। अहिंसक और संयमी किसी भी प्राणी के साथ दंडरूप आचरण नहीं करता है। कदाचित् वृत्ति के कारण कोई प्राणी दण्डित हो जाय तो तप के द्वारा उस दोष की शुद्धि कर ली जाती है। इस प्रकार अहिंसा, संयम और तप की त्रिपुटी के द्वारा समता की सिद्धि होती है। दूसरे शब्दों में कामभोग की आकांक्षा का त्याग, हिंसकवृत्ति का त्याग और परिग्रहवृत्ति का त्याग ये तीन वस्तुएँ समतायोग की साधिकाएँ हैं।

उपर्युक्त गुणों से अलंकृत साधक किसी प्रकार का पापकर्म नहीं करता अर्थात्-वह ऐसी सहज स्थिति में आ जाता है कि उसके द्वारा पापकर्म होता ही नहीं है। ऐसा साधक जन्म-मरण के रहस्य को समझ लेता है। वह जानता है कि देवों तक को जन्म-मरण होता है। देवों को भी यह उपाधि लगी हुई है। वह इस उपाधि से मुक्त होने की कोशिश करता है अतएव वह मृत्यु से नहीं डरता है। वह संयममार्ग का विशेषज्ञ होता है। संयम प्रकाशरूप है अतएव उसे द्युतिमान् कहा गया है। ऐसा साधक राग-द्वेष पर विजय प्राप्त कर लेता है इसलिए वह परम ओजस्वी और अनुपम दिखाई देता है। दुनिया उसे अद्वितीय मानने लगती है। इसका कारण यह है कि साधारण दुनिया की प्रवृत्ति राग-द्वेष बढ़ाने वाले साधनों द्वारा साध्य करने की होती है जब कि वह साधक इस विपरीत प्रणाली का त्याग करता है और सत्य साधनों द्वारा साध्य प्राप्त करता है इसलिए वह दुनिया को विलक्षण दृष्टिगोचर होता है। यह सम्भव है कि जगत् उस पुरुष की विलक्षणता और अद्वितीयता का रहस्य न समझ सके तदापि यह तो अवश्य बनता है कि दुनिया की पूज्यबुद्धि उसकी ओर हो जाती है। वह परम तेजोमय होकर दूसरे के मार्ग को भी प्रकाशमय करता है। धन्य है समता के साधन का यह पुण्य-प्रकाश।

आहारोवचया देहा परीसह पभंगुरा, पासह एगे सव्वि दिएहिं परिगिलायमाणेहिं, ओए दयं एयइ, जे संनिहाण सत्थस्स खेयन्ने से भिक्खु

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

कालन्ने, बालन्ने, मायन्ने, खणन्ने, विणयन्ने, समयन्ने परिग्गहं अममायमाणे कालेणुट्ठाइ अपडिन्ने दुहओ छित्ता नियाइ ।

संस्कृतच्छाया—आहारोपचया देहाः परीषह प्रभंजिनः, पश्यत एके सर्वैरिन्द्रियैः परिग्लायमानैः, ओजो दयां दयते, यः सन्निधानशास्त्रस्य खेदज्ञः स भिक्षुः कालज्ञः, मात्रज्ञः, क्षणज्ञः, विनयज्ञः, समयज्ञः परिग्रहममत्वेन (अचरत्) कालेनोत्थायी, अप्रतिज्ञः उभयतश्छेत्ता निर्याति ।

शब्दार्थ—देहा=शरीर । आहारोवचया=आहार से बढ़ते हैं । परीसहपभंगुरा=और परीषह के द्वारा क्षीण होते हैं । पासह=हे शिष्यों ! देखो । एगे=कितनेक व्यक्ति । सव्विन्दिएहिं=सभी इन्द्रियों से । परिगिलायमाणेहिं=ग्लानि का अनुभव करते हैं । ओए=ओजस्वी । दयं=दया । दयइ=पालता है । जे=जो । सन्निहाणसत्थस्स=संयम और कर्मों के स्वरूप का । खेयन्ने=कुशल ज्ञाता होता है । से भिक्खू=वह साधु । कालन्ने=अवसर को जानने वाला । बलन्ने=बल को जानने वाला । मायन्ने=मात्रा को जानने वाला । खणन्ने=समय को जानने वाला । विणयन्ने=विनयज्ञ । समयन्ने=शास्त्रज्ञ होकर । परिग्गहं अममायमाणे=परिग्रह पर से ममता उतार कर । कालेणुट्ठाइ=कालानुकाल क्रिया करते हुआ । अपडिन्ने=निदानरहित होकर । दुहओ=रागद्वेष को । छित्ता=छेदकर । नियाइ=आगे बढ़ता जाता है ।

भावार्थ—शरीर आहार से बढ़ता और टिकता है तदपि परीषहों के आने से वह क्षीण होता है । ऐसा स्वाभाविक होते हुए भी कतिपय कातर प्राणी शरीर के ग्लान होने पर सभी इन्द्रियों से ग्लानि का अनुभव करते हैं । पराक्रमी (ओजस्वी) साधक परीषहों में भी दया का रक्षण करता है । हे जम्बू! जो साधक संयम के यथार्थ स्वरूप को कुशलता के साथ समझता है वही अवसर, अपनी शक्ति, विभाग, अभ्यास समय, विनय तथा शास्त्रदृष्टि को जानता है । ऐसा साधक [redacted] की ममता को छोड़कर कालानुकाल क्रिया करता हुआ, किसी प्रकार का निदान—आकांक्षा—आग्रह न रखता हुआ, रागद्वेष के बन्धन को छेदकर संयम के मार्ग में विकास की पराकाष्टा पर पहुँचता है ।

विवेचन—इस सूत्र में सूत्रकार साधक और सामान्य व्यक्ति के बीच में रहे हुए अन्तर को स्पष्ट करते हैं । पूर्ववर्ती सूत्र में कहा है कि ऐसा साधक दुनिया की दृष्टि में अद्वितीय मालूम होता है । इस विलक्षणता का कारण सूत्रकार यहाँ स्पष्ट करते हैं—

सामान्य जनता देहपालन को अपने जीवन का ध्येय समझती है जबकि साधक देह को जीवन-विकास का साधनमात्र समझता है । इस भावना के भेद के कारण एक त्याग, संयम, परिश्रम और तप को महान् दुखरूप मानता है और दूसरा इनमें ही सुख के दर्शन करता है । सामान्य वर्ग खाने के लिए जीता है । खाना ही उसने अपना ध्येय समझा होता है इसलिए वह विविध सामान-सामग्री जुटाने के लिए यत्न करता है और उसे जो कुछ प्राप्त होता है उसको अति आसक्ति के साथ—स्वाद लेता हुआ—

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

भोग करता है। विविध वस्तुओं की प्राप्ति होने पर भी वह अतृप्त ही रहता है। इसके विपरीत साधक जीवन के सर्वोच्च ध्येय की सिद्धि के लिए शरीर को उपयोगी समझ कर, शरीर धारण के निमित्त ही पदार्थों का भोग करता है। न उसे शरीर का मोह होता है और न विविध स्वादयुक्त मिष्ठान और व्यञ्जनों का। उसे जो कुछ मिलता है उसे वह अनासक्त होकर काम में लेता है। इसलिए उसे सदा संतोष का अनुभव होता है। इसी भेद के कारण साधक को विपरीत संयोगों में पीड़ा का अनुभव नहीं होता जबकि सामान्य व्यक्ति प्रतिकूल संयोगों में एकदम अधीर हो उठता है। सामान्य दृष्टि वाले वर्ग में और दिव्य-दृष्टि वाले साधक में यह महान् अन्तर रहा हुआ है।

संसार का कोई भी व्यक्ति यह नहीं चाहता कि उसे दुख हो, असंतोष हो तदपि प्रत्येक के जीवन में दुख की छाया आये बिना नहीं रह सकती। चाहे यह दुख की छाया पूर्वसञ्चित कर्मों द्वारा आवे चाहे अन्य किसी निमित्त से। शरीर की अवस्था का परिवर्त्तन, व्याधियां, अनिष्ट प्राप्ति, इष्ट का वियोग, लाभ, हानि आदि अनेक कष्ट सञ्चित, प्रारब्ध और क्रियमाण कर्मों के फल के रूप में जीवन में उतरते हैं। संसार के सामान्य वर्ग पर और दिव्यदृष्टि वाले साधक पर भी ऐसे प्रसंग आते हैं परन्तु दोनों के हृदय में इसकी प्रतिक्रिया सर्वथा विपरीत होती है। साधक तो यह समझता है कि सञ्चित, प्रारब्ध और क्रियमाण कर्मों का फल मिलना सर्वथा स्वाभाविक ही है। कर्मों का फल भोगे बिना छुटकारा नहीं। यह समझ कर वह समभावपूर्वक उसको सहन करता है। अपने किए हुए कर्मों के फल को भोगते समय वह अधीर, कातर और व्याकुल नहीं बन जाता परन्तु अपने दिमाग को समतोल रखकर वह शान्ति के साथ उसे सहन करता है और उसमें से भी कुछ नवीनता प्राप्त करता है। इसके विपरीत सामान्य प्राणी दुखों के आने पर व्याकुल हो उठता है, कातर बन जाता है, अत्यन्त ग्लानि का अनुभव करता है। वह इस प्रकार कर्मों का फल भोगते हुए भी नवीन कर्मों का उपादान कर लेता है। यह कितना विशाल अन्तर है जो सामान्य व्यक्ति और साधक के बीच इस कदर रहा हुआ है।

साधक को कदाचित् आहार की प्राप्ति न हो और उसका शरीर क्षीण होता जाता हो तदपि वह कदापि अधीर नहीं होता है क्योंकि वह जानता है कि शरीर का स्वभाव है कि आहार बिना और परीषहों के कारण क्षीण होता है। यह स्वाभाविक नियम है तो इसमें खेद की क्या आवश्यकता है? वह जानकर वह दुख का अनुभव नहीं करता है जबकि अन्य व्यक्ति कायर बनकर अत्यन्त ग्लानि का अनुभव करते हैं। आहार न मिलने पर उन[redacted] इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं। वे क्षुधापीड़ित होकर न सुनते हैं और न देखते हैं। ऐसी अधीर स्थिति में वे दुखों का अनुभव करते हैं। आहार के बिना केवली का शरीर भी क्षीण हो जाता है तब सामान्य प्राणी के शरीर का क्या कहना? केवली भी चार कर्मों से युक्त हैं अतएव वे सम्पूर्ण कृतार्थ नहीं हैं उन्हें भी शरीर-धारण के लिए आहार करना पड़ता है। आहार शरीर के लिए आवश्यक है तदपि कभी संयोगवश न प्राप्त हो तो साधक उसमें अधीर न हो जाता है। परीषहों के प्रसंग में भी वह धैर्य से काम लेता है।

परीषहों के प्राप्त होने पर वह विचलित होकर अपने व्रतों का, नियमों का और धर्म का त्याग नहीं कर देता है। दुखों से विचलित होकर वह ऐसा कोई कार्य नहीं करता जो उसके दयाधर्म के विपरीत हो। वह धर्म के सामने देह को तुच्छ समझता है इसलिए देह के लिए वह धर्म का भोग नहीं देता है। उसकी दृष्टि में देह धर्म की रक्षा का साधन है। वह धर्म के लिए ही देह का उपभोग करता है। अगर देह से धर्म का भंग होता है तो वह देह को नहीं रखना चाहता है। धर्म महान् है, देह नगण्य है।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

प्राणी मात्र में दया का भाव स्वाभाविक रूप से होता है। दया का कार्य भावनाप्रधान होता है। प्रत्येक प्राणी को हृदय है तो उसमें सहृदयता (दया) स्वतःसिद्ध है। विवेकी साधक विशेष रूप से अपने स्वभाव की ओर अग्रसर होता है जब कि साधारण वर्ग स्वभाव से गिर कर परभाव में अग्रसर होता है। मुनि-साधक की दया स्वाभाविक दया है—उसमें किसी की प्रेरणा नहीं है। साधक दया करता हुआ यह नहीं समझता है कि मैंने अमुक की दया कर उस पर अनुग्रह किया वरन् यह समझता है कि यह मेरा सहज काम है। उसे यह प्रवृत्ति सहज होती है और वह परदया को स्वदया ही समझता है। दया प्राणीमात्र का स्वभाव है और साधक स्वभाव में रमण करता है अतएव उसका जीवन दयामय ही होता है।

शास्त्रकार फरमाते हैं कि जिस व्यक्ति ने संयम के इस तत्त्व को यथार्थरूप से समझ लिया है वही साधक अवसर को पहचानने वाला, अपनी शक्ति को जानने वाला, मात्रा को जानने वाला, समय को जानने वाला, विनय को जानने वाला और शास्त्रों का जानने वाला है। ऐसा साधक परिग्रहरहित होकर निष्काम कार्य करता हुआ और राग-द्वेष के बाह्याभ्यन्तर बन्धन को तोड़कर विकास के मार्ग में आगे बढ़ता जाता है और विकास की पराकाष्ठा को प्राप्त कर लेता है।

"कालज्ञे बलज्ञे" आदि पदों की व्याख्या लोकविजय अध्ययन के पञ्चम उद्देशक में की जा चुकी है अतएव यहाँ विस्तार नहीं किया जाता है।

तं भिक्खुं सीयफास-परिवेवमाणगायं उवसंकमित्ता गाहावई बूया—आउसंतो ! समणा ! नो खलु ते गामधम्मा उव्वहंति ? आउसंतो गाहावई ! नो खलु मम गामधम्मा उव्वाहंति सीयफासं च नो खलु अट्टं संचाएमि अहियासित्तए, नो खलु मे कप्पइ अगणिकायं उज्जालित्तए वा, पज्जालित्तए वा, कायं आयावित्तए वा पयावित्तए वा अन्नेसिं वा वयणाओ, सिया स एवं वयंतस्स परो अगणिकायं उज्जालित्ता पज्जालित्ता, कायं आयाविज्ज पयाविज्ज वा तं च भिक्खू पडिलेहाए आगमित्ता आणविज्जा[redacted]सेवणाए त्ति बेमि ।

संस्कृतच्छाया—तं भिक्षुम् शीतस्पर्शपरिवेपमानगात्रमुपसंक्रम्य गृहपतिब्रुयात्-आयुष्मन् श्रमण ! नो त्वां ग्रामधर्मा उद्बाधन्ते ? आयुष्मन् ! गृहपते ! नैव माम् ग्रामधर्मा उद्बाधन्ते शीतस्पर्शम् च न खल्वहं शक्नोम्यधिसोढुं, न खलु मे कल्पते ऽग्निकायमुज्ज्वालयितुं प्रज्वालयितुं वा, कायमातापयितुं प्रतापयितुमन्येषां वा वचनात् । स्यात् स एवं वदतः परोऽग्निकायमुज्ज्वाल्य प्रज्वाल्य कायमातापयेत् प्रतापयेद्वा तच्च भिक्षुः प्रत्युपेक्ष्यावगम्य ज्ञापयेदनासेवनाय इति ब्रवीमि ।

शब्दार्थ—सीयफासपरिवेवमाणगायं=शीत स्पर्श से काँपते हुए शरीर वाले। तं भिक्खुं=भिक्षु के। उवसंकमित्ता=पास आकर। गाहावई=कोई गृहस्थ। बूया=बोले। आउसंतो समणा=हे आयुष्मन् श्रमण !। गामधम्मा=ग्रामधर्म-काम तो। नो खलु ते उव्वाहंति=आपको

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

पीड़ित नहीं करता है ? आउसंतो गाहावई=हे आयुष्मन् ! । नो खलु मम गामधम्मा उव्वाहंति= मुझे काम पीड़ा नहीं देता है लेकिन । सीयफासं=शीत स्पर्श को । अहियासित्तए=सहन करने में । नो खलु अहं संचाएमि=मैं समर्थ नहीं हूँ । अगणिकायं=अग्निकाय को । उज्जालित्तए वा= जलाना । पज्जालित्तए वा=अथवा बार-बार जलाना । कायं=शरीर को । आयावित्तए वा=एक बार तपाना अथवा । पयावित्तए वा=बार-बार तपाना । अन्नेसिं वा=अथवा दूसरे को । वय-णाओ=वचन से ऐसा कहना । नो खलु मे कप्पइ=मुझे नहीं कल्पता है । सिया=कदाचित् । एवं वयंतस्स=साधु के ऐसा कहने पर । स परो=वह गृहस्थ । अगणिकायं=अग्निकाय को । उज्जालित्ता पज्जालित्ता=उज्ज्वलित प्रज्वलित करके । कायं=मुनि के शरीर को । आयविज्ज=एक बार तपावे अथवा । पयाविज्ज=बार-बार तपावे । तं च भिक्खुं=भिक्षु इसे । पडिलेहाए=देखकर । आगमित्ता= जानकर । अणासेवणाए=इसका सेवन न करने के लिए । आणविज्जा सूचित कर दे । त्ति बेमि= ऐसा मैं कहता हूं ।

भावार्थ—शीत स्पर्श से कांपते हुए मुनि के समीप आकर कोई गृहस्थ बोले कि हे आयुष्मन् श्रमण ! आपको इन्द्रियधर्म (काम) पीड़ित तो नहीं करता है न ? यह सुनकर साधु को कहना चाहिए कि मुझे ग्रामधर्म पीड़ित नहीं करते हैं परन्तु मैं ठंड को सहन करने में असमर्थ हूँ । अग्नि जलाना या बार-बार जलाना या शरीर को तपाना अथवा बार-बार तपाना मुझे नहीं कल्पता है तथा वचन द्वारा अन्य को ऐसा करने का कहना भी मुझे नहीं कल्पता है । मुनि के ऐसा कहने पर कदाचित् कोई गृहस्थ अग्नि को उज्ज्वलित प्रज्वलित करके मुनि के शरीर को तपाने लगे तो मुनि को यह देखकर और जानकर गृहस्थ को इन्कार कर दे कि मुझे अग्नि का सेवन करना युक्त नहीं है ।

विवेचन—इसके पूर्ववर्ती सूत्रों में साधक की समता का और उसके उच्च जीवन की सहजता का वर्णन किया गया है । इस सूत्र में [redacted] की समता की कसौटी का वर्णन है । साधना के मार्ग में अनु-कूल और प्रतिकूल संयोगों की कसौ[redacted]यक के हृदयरूपी स्वर्ण को अधिक विशुद्ध बनने का प्रसंग देती है । साधक में समता का कितना विकास होना चाहिए इस बात को स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण दिया गया है ।

कल्पना करिए कि साधक शीतज्वर अथवा शीत के कारण कांप रहा हो ऐसे प्रसंग पर कोई गृहस्थ साधुता की कसौटी के लिए या विनोद करने के लिए साधक से कहें कि अहो आयुष्मन् श्रमण ! तुम्हारा शरीर कामपीड़ा से तो नहीं कांपता है न ? क्या आप जैसे त्यागी को भी कामवासना पीड़ा देती है ? (गृहस्थ के मन में मुनि के कम्पन से यह शंका हो सकती है कि इस त्यागी का मन भी मेरे घर की स्त्रियों को देखकर विचलित तो नहीं हो गया है । इस शंका के कारण वह साधु को उक्त प्रश्न करता है ।) पूर्ण ब्रह्मचारी त्यागी साधक उस गृहस्थ के ऐसे कातिल वचनों को सुनकर भी अल्पमात्र भी क्रोधित न हो और शान्तचित्त से वह उस गृहस्थ से ऐसा कहे कि "हे आयुष्मन् ! मुझे काम पीड़ा नहीं देता है लेकिन ठण्ड जोर की है और मेरा शरीर उसे नहीं सह सकने के कारण कांप रहा है" ।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

मुनि के इस प्रकार के उत्तर को सुनकर यदि वह गृहस्थ यों कहे कि—यदि आपकी बात सत्य है तो आप अपनी ठण्ड दूर करने के लिए अग्नि का सेवन क्यों नहीं करते हैं ? क्यों न अग्नि से शरीर को तपाते हैं ? तब मुनि साधक उसे समझावे कि जैन श्रमण के लिए अग्नि जलाना या उसका सेवन करना कल्पनीय नहीं है; इतना ही नहीं किसी दूसरे को वचन द्वारा ऐसा कहना भी जैनश्रमण का आचार नहीं है।

मान लीजिए कि वह गृहस्थ मुनि के इस समाधान को सुनकर भक्तिनिर्भर होकर स्वयं अग्नि जलाकर मुनि के शरीर को तपाना चाहे तो मुनि उसके अभिप्राय को समझ कर प्रथम ही प्रेमपूर्वक उसे ऐसा न करने समझावे। उसे यों कहे कि "मेरे निमित्त ऐसा करना योग्य नहीं है। जैनश्रमण स्वयं किसी को दण्डित नहीं करता है और साथ ही अपने निमित्त किसी दूसरे को कष्ट में डालना भी नहीं चाहता है। आपको तो अपनी भावना से फल मिल ही चुका है अब ऐसी क्रिया करना योग्य नहीं है"। इस प्रकार मुनि उस गृहस्थ को मीठे शब्दों द्वारा समझा दे। साधक स्वयं उसके मीठे शब्दों में प्रभावित होकर अपने आचार को न छोड़ दे।

तात्पर्य यह है कि साधक का जीवन सर्वथा स्वाभाविक होता है। वह न तो एकदम आवेश में आ जाता है और प्रलोभन में ही फँस जाता है। अपनी स्वाभाविकता के कारण वह न तो प्रतिकूल संयोगों से चिढ़ जाता है और न अनुकूल संयोगों में फँस जाता है। समतायोगी साधक की दृष्टि बाह्य न होकर आन्तरिक होती है इसलिए उसके चित्त की शान्ति बाह्य साधनों से भंग नहीं हो जाती है। इसकी चित्तशान्ति के जलाशय को बाह्य वचनरूपी कङ्कर भङ्ग नहीं कर सकते। ऐसा साधक उपादान की शुद्धि करता हुआ आत्मस्वरूप में स्थिर होता जाता है। यही चरम साध्य है जिसे वह प्राप्त कर लेता है।

यौवन सभी पुरुषार्थों की सिद्धि के लिए प्रयत्न करने का सबसे सुन्दर सुअवसर है। यौवन वय ही जीवन के विकास और पतन की अवस्था है। इस अवस्था में विवेक द्वारा किया हुआ वृत्तिसंयम विकास का कारण है और असंयम—उच्छृङ्खलता पतन का कारण है। संयम बिना समता और विश्व-बन्धुत्व असंभव है।

समता ही धर्म है। निस्वार्थता, अर्पणता और प्रेम ये तीन समता के स्तम्भ हैं। इन पर ही धर्म का प्रासाद टिका हुआ है। समताधर्म ही मुक्ति का मूल है।

इति तृतीयोद्देशकः

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

विमोक्ष नाम अष्टम अध्ययन

—चतुर्थोद्देशकः—

(मर्यादा और दृढ संकल्प)

गत तृतीय उद्देशक में समतायोग की और वृत्तिसंयम की विवेचना की गई थी। वृत्तिसंयम के लिये वस्त्रपात्रादि की मर्यादा और साथ ही उसे निभाने का दृढ़ संकल्प अनिवार्य है। अतएव इस उद्देशक में वृत्ति-संयम को व्यावहारिक और रचनात्मक बनाने के लिए मर्यादा और दृढ़ संकल्प की समीक्षा की जाती है—

जे भिक्खु तिहिं वत्थेहिं परिवुसिए पायचउत्थेहिं, तस्स णं नो एवं भवइ—चउत्थं वत्थं जाइस्सामि, से अहेसणिज्जाइं वत्थाइं जाइज्जा, अहापरिग्गहियाइं वत्थाइं धारिज्जा, नो धोइज्जा, नो धोयरत्ताइं वत्थाइं धारिज्जा, अपलिओवमाणे गामंतरेसु ओमचेलिए, एयं खु वत्थधारिस्स सामग्गियं।

संस्कृतच्छाया—यो भिक्षुः त्रिभिर्वस्त्रैः पर्युषितः पात्रचतुर्थैः तस्य नैवं भवति चतुर्थं वस्त्रं याचिष्ये, सः यथैषणीयानि वस्त्राणि याचेत, यथापरिगृहीतानि धारयेत् नो धोवेत् न धौतरक्तानि वस्त्राणि धारयेत्, अगोपयन् ग्रामान्तरेषु (व्रजेत्) अवमचेलिकः एतत् वस्त्रधारिणः सामग्र्यं भवति।

शब्दार्थ—जे भिक्खु=जो अभिग्रहधारी भिक्षु। पायचउत्थेहिं=पात्र चतुर्थ। तिहिं वत्थेहिं=तीनवस्त्र रखने की मर्यादा करके। परिवुसिए=रहा हुआ है। तस्स=उसे। नो एवं भवइ=ऐसा विचार नहीं आता है। चउत्थं=चौथा। वत्थं=वस्त्र। जाइस्सामि=मांगूगा। से=वह साधु। अहेसणिज्जाइं=एषणीय। वत्थाइं=वस्त्र। जाइज्जा=को याचे। अहापरिग्गहियाइं=जैसे मिले वैसे। वत्थाइं=वस्त्र। धारिज्जा=धारण करे। नो धोइज्जा=वस्त्र न धोवे। धोयरत्ताइं=धोये हुए और रंगे हुए। वत्थाइं=वस्त्र। नो धारिज्जा=धारण न करे। गामंतरेसु=एकगांव से दूसरे गांव जाते हुए मार्ग में। अपलिओवमाणे=वस्त्रों को छिपाने की जरूरत न हो ऐसे। ओमचेलिए=अल्प वस्त्र रखे। एयं=यह। खु=निश्चय ही। वत्थधारिस्स=वस्त्रधारी साधक की। सामग्गियं=सामग्री है।

भावार्थ—जिस अभिग्रहधारी भिक्षु साधक ने एकपात्र और तीन वस्त्र रखने की मर्यादा की है उसे ऐसा विचार कभी नहीं होता है कि मैं चौथे वस्त्र की याचना करूँगा। कदाचित् उस साधक के

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

पास मर्यादित तीन वस्त्र भी पूरे न हो तो उसे एषणीय (साधु के योग्य) वस्त्र याचना कल्पता है। वस्त्र जसे मिलें वैसे धारण करे। वस्त्रों को न धोवे और न पहले धोये हुए व पश्चात् रंगे हुए वस्त्र धारण करे। एकगांव से दूसरे गांव जाते हुए (चौरादि के भय से) वस्त्रों को छिपाने की आवश्यकता पड़े ऐसे बहुमूल्य व प्रमाण से अधिक वस्त्र न रखे। यह वस्त्रधारी मुनि का आचार है।

विवेचन—वृत्ति-संयम के लिए पदार्थ-त्याग की आवश्यकता होती है। इसलिए साधक संसार के समस्त पदार्थों का त्याग कर देता है, केवल संयम के निर्वाह के लिए वह आहार और वस्त्रों को ग्रहण करता है। संयमी अपनी आवश्यकताओं को अत्यन्त मर्यादित कर लेता है। वह आसक्त भावना से तो कोई पदार्थ—यहाँतक शरीर भी—नहीं धारण करता है। संयम के पोषण के लिए जो उपकरण वह अङ्गीकार करता है वह भी अति मर्यादित ही होते हैं। सूत्रकार इस सूत्र में वस्त्रमर्यादा का सूचन करते हैं।

जिस साधक ने यह मर्यादा कर ली है कि "मैं तीन वस्त्र और पात्र ही रक्खूंगा उसे यह भावना नहीं होती है" कि मैं चोथे वस्त्र के लिए याचना करूँगा। यह कह कर सूत्रकार यह बता रहे हैं कि जो साधक इस प्रकार मर्यादा कर लेता है वह मर्यादा बाहर के पदार्थों पर के ममत्वभाव से सहज ही छूट जाता है। उसकी तत्सम्बन्धी चिन्ता स्वयमेव क्षीण हो जाती है और उसका संकल्प बल दृढ़ होता है। साधक ज्यों ज्यों आवश्यकताओं को मर्यादित करता जाता है त्यों त्यों वह बाह्य जगत् से छूटकर अन्तर्जगत् में विचरण करने लगता है क्योंकि बाह्य जगत् की विचारणा से वह मुक्त होता है। इसके विपरीत जो व्यक्ति अभी बाह्य जगत् की विचारणा में फँसा हुआ है वह आत्मा के आन्तरिक संसार से दूर रहता है। इसलिए आभ्यन्तरिक जगत् में स्वच्छन्द विचरने के लिए सूत्रकार वस्त्रपात्रादि उपधि की मर्यादा करने की सूचना करते हैं। वृत्तिकार कहते हैं कि इस सूत्र में बताई गई मर्यादा अभिग्रहधारी भिक्षु की अपेक्षा से है। अस्तु।

आगे चलकर इसी सूत्र में सूत्रकार मर्यादित उपधि पर भी ममत्व न रखने के लिए फरमाते हुए ममत्व पैदा होने के कारणों का निवारण करने की सूचना करते हैं। मर्यादित वस्त्र रखने पर भी उन पर ममत्व हो सकता है इसलिए ममत्व पैदा करने के कारणों—यथा वस्त्रों को धोना, सुगन्धित करना आदि शृङ्गार सूचक कार्यों—का त्याग करने का कहा गया है। साधक अगर बाह्य पदार्थों की टापटीप में पड़ जाता है तो वह ममत्व के बन्धन में पड़ जाता है इसलिए सूत्रकार फर्माते हैं कि साधक वस्त्रों को (शरीर को सजाने के उद्देश्य से) न धोवे और न रंगे हुए वस्त्र धारण करे। साधक का ध्येय आत्मा के अतिरिक्त समस्त पदार्थों पर से ममत्व उठा लेना होता है इसलिए, उसके लिए इतना ममत्व भी बन्धन कारक है। जो व्यक्ति यह मानता है कि वस्त्रपात्रादि साधन केवल संयम निर्वाह के लिए हैं वह वस्त्रों को धोने रंगने के प्रपञ्च न पड़े यह स्वाभाविक ही है। यहाँ वस्त्र-धावन का निषेध शरीर शृङ्गार की अपेक्षा से है। स्वच्छता की दृष्टि से नहीं। जो जिनकल्पी साधक हैं वे तो वस्त्र कदापि नहीं धोते हैं परन्तु जो गच्छवासी हैं वे कारणविशेष से विवेकपूर्वक वस्त्र-धावन कर सकते हैं। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि प्रत्येक क्रिया—उसमें रहे हुए आशय के कारण—सदोष या निर्दोष होती है, क्रिया स्वयं सदोष निर्दोष नहीं होती। वस्त्र-धावन के पीछे भी यदि आशय शुद्ध हो तो वह सदोष नहीं। शरीर को सजाने के लिए यदि यह क्रिया हो तो अवश्य ही त्याज्य है।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

इसी सूत्र में सूत्रकार ने यह कहा है कि साधक जैसे भी वस्त्र मिले वैसे धारण करे। इसका आशय यह है कि साधक को वस्त्रों के प्रकार का आग्रह नहीं होता। वह शरीर की लज्जा और शीतादि से बचने के उद्देश्य से वस्त्र धारण करता है न कि शरीर की सुन्दरता के लिए। ऐसी अवस्था में वह वस्त्रों की सुन्दरता या असुन्दरता का विचार कैसे कर सकता है?

"अपलिओवमाणे गामंतरेसु ओमचेलिए" कहकर सूत्रकार यह फर्मा रहे हैं कि साधक को बहुमूल्य वस्त्र न धारण करने चाहिए। पहली बात तो यह है कि साधक सर्वथा अपरिग्रही होता है। उसकी भावना जगत् से कम से कम लेने की और अधिक से अधिक देने की होती है। ऐसा साधक जगत् से बहुमूल्य वस्त्र कैसे ले सकता है? जिसने संसार के समस्त पदार्थों से ममत्व दूर कर दिया है और जो त्यागी है उसे बहुमूल्य वस्त्र शोभा नहीं देते। बहुमूल्य वस्त्र संयमी जीवन के साथ संगत नहीं है। दूसरी बात यह है कि यदि साधक बहुमूल्य वस्त्र धारण करेगा तो ग्रामान्तर में विहार करते हुए उसे चोरादि का भय बना रहेगा। चोरादि द्वारा चुराये जाने की सम्भावना से भी बहुमूल्य वस्त्र धारण करना योग्य नहीं है"। "ओमचेलए" पद में "अवम" का अर्थ "अल्प" है। यहाँ अल्पता, मूल्य और प्रमाण दोनों की अपेक्षा से समझनी चाहिए। तात्पर्य यह है कि साधक अल्प से अल्प प्रमाण में और अल्प से अल्प मूल्य का वस्त्रधारण करे। यह वस्त्रधारी साधक का कल्प है।

सूत्रकार ने सूत्र में "पात्र" शब्द दिया है। इससे सात प्रकार के पात्रनिर्योग का ग्रहण स्वयमेव हो जाता है। सात प्रकार का पात्रनिर्योग इस प्रकार है:—

पत्तं पत्ताबन्धो पायट्ठवणं च पायकेसरिआ।
पडलाइ रयत्ताणं च गोच्छओ पायणिज्जोगो॥

अर्थात्—(१) पात्र (२) पात्रबन्धन (३) पात्रस्थापन (४) पात्रके शरीका (पूंजनी) (५) पटल (६) रजस्त्राण (७) गोच्छक ये सात पात्रनिर्योग हैं।

सप्तपात्रनिर्योग, तीन वस्त्र, रजोहरण और मुखवस्त्रिका यह बारह प्रकार की ओघ उपधि वह रखता है, अन्य संस्तारकादि उपधि नहीं रखता है। यह अभिग्रहधारी भिक्षु की अपेक्षा से समझना चाहिए। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक साधक के लिए वस्त्र पात्रादि की ममत्वरहित मर्यादा करना आवश्यक है। इसके द्वारा ही वृत्ति संयम को व्यावहारिक और रचनात्मक रूप दे सकता है।

अह पुण एवं जाणिज्जा—उवाइक्कंते खलु हेमंते गिम्हे पडिवन्ने अहापरिजुन्नाइं वत्थाइं परिट्ठविज्जा, अदुवा संतरुत्तरे अदुवा ओमचेले अदुवा एगसाडे अदुवा अचेले, लाघवियं आगममाणे तवे से अभिसमन्नागए भवइ, जमेयं भगवया पवेइयं तमेव अभिसमिच्चा सव्वओ सव्वत्ताए सम्मत्तमेव समभिजाणिज्जा।

संस्कृतच्छाया—अथ पुनरेवं जानीयात्—अपक्रान्तः खलु हेमन्तो ग्रीष्मः प्रतिपन्नः यथा परिजीर्णानि वस्त्राणि परिष्ठापयेत्, अथवा सान्तरोत्तरोऽथवा ऽवमचेलः अथवैकः शाटकः, अथवा-

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

ऽचेले (भवति) लाघविकमागमयन्, तपस्तस्यापिसमन्वागतं भवति, यदेतद्भगवता प्रवेदितं तदेवाभिसमेत्य सर्वतः सर्वात्मतया सम्यक्त्वमेव समभिजानीयात्।

शब्दार्थ—अह पुण=अनन्तर। एवं जाणिज्जा=ऐसा मालूम पड़े कि। हेमन्ते खलु=हेमन्त ऋतु। उवाइक्कंते=बीत गई है। गिम्हे=ग्रीष्म ऋतु। पडिवन्ने=आ गई है तो। आहापरिजुन्नाइं=पूर्व के प्राचीन जीर्ण। वत्थाइं=वस्त्रों को। परिट्ठविज्जा=छोड़ देना चाहिए। अदुवा=अथवा। संतरुत्तरे=यदा-कदा जरूरत हो तो धारण करे। अदुवा=अथवा। ओमचेले=जितने वस्त्र हैं उनमें से कम करे। अदुवा=अथवा। एगसाडे=एक ही वस्त्र रक्खे। अदुवा=अथवा। अचेले=वस्त्ररहित हो जावे ऐसा करने से। लाघवियं=लघुता की। आगममाणो=प्राप्ति होकर। से=उस साधक को। तवे=तप की। अभिसमन्नागए भवइ=प्राप्ति होती है। जमेयं=यह जो। भगवया=भगवान् ने। पवेइयं=कहा है। तमेव=उसी को। अभिसमिच्चा=भलीभांति जानकर। सव्वओ=सब प्रकार से। सव्वत्ताए=सम्पूर्ण रूप से। सम्मतमेव=समभाव का ही। समभिजाणिज्जा=आसेवन परिज्ञा से पालन करे।

भावार्थ—जब साधक मुनि यह जान ले कि हेमन्त ऋतु चली गई है और ग्रीष्मऋतु आ गई है तो शीत को लक्ष्य में रखकर जो वस्त्र धारण किये थे उनका त्याग कर दे और उपयोगी हो तो-यदा-कदा आवश्यकतानुसार उनका उपयोग करे अथवा तीन वस्त्र हो तो एक को छोड़कर दो रक्खे, अथवा दो को छोड़कर एक ही रक्ख अथवा सर्वथा वस्त्ररहित हो जावे। इस प्रकार वस्त्रत्याग द्वारा लाघवगुण प्रकट होता है और तप की आराधना होती है। यह जो भगवान् ने प्ररूपित किया है इसके रहस्य को समझकर वस्त्रसहित और वस्त्ररहित दोनों अवस्थाओं में समताभाव रक्खे।

विवेचन—पूर्ववर्ती सूत्र में वस्त्रादि की मर्यादा करने का सूचन किया गया था। तदनन्तर सूत्रकार इस सूत्र में यह प्रतिपादित करते हैं कि साधक का उद्देश्य सब पदार्थों का त्याग करना होता है। लेकिन जब साधक को यह मालूम हो कि वह शीतादि परिषह को सहन करने में असमर्थ है तो ही वह वस्त्र रखता है। वस्त्रधारण करने का उद्देश्य केवल शीत-निवारण का ही होता है। जब साधक को यह मालूम हो जाय कि अब शीतऋतु चली गई है और ग्रीष्मऋतु आ गई है, अब शीत का उपद्रव नहीं है तो उसने ठण्ड निवारण के लिए जो वस्त्र स्वीकार किये थे उन्हें छोड़ देना चाहिए। इसी प्रकार जो वस्त्र जीर्ण हो गये हो उन्हें भी छोड़कर निस्संगतया विचारना चाहिए। अगर वस्त्रों को रखने की आवश्यकता हो तो सभी का त्याग न करे। अल्प वस्त्र अपने पास रक्खे और जब कभी शीतादि का अनुभव हो तो उसे काम में लेवे। अगर पास में तीन वस्त्र हो तो एक का त्याग करे और दो ही रक्खे। अगर दो की आवश्यकता न हो तो एक ही रक्खे। और एक की भी आवश्यकता न प्रतीत हो तो सर्वथा नग्न रहे।

इस तरह वस्त्र-परिहार करने से होने वाले परिणाम को व्यक्त करते हुए सूत्रकार फर्माते हैं कि जो साधक इस तरह वस्त्रादि का त्याग करता है वह ममतारहित हो जाता है और शरीर तथा उपकरणों की भी लघुता प्राप्त होती है। आशय यह है कि वस्त्रों के क्रमिक त्याग से निर्ममत्व गुण की प्राप्ति होती है

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

और साधनों की लघुता से अप्रतिबन्ध विहार में सुगमता भी होती है। साथ ही उपकरण लाघव से ममत्व का भी लाघव होता है और ममत्वलाघव से बन्धलाघव होता है। उपकरण में की लघुता से साधक को तपो गुण की सहज ही प्राप्ति हो जाती है। इस तरह वह साधक तप की आराधना का सुअवसर प्राप्त करता है। वस्त्र-परिहार से शीतादि का उपद्रव होने पर उसे सहन करने से कायक्लेश नामक तप की आराधना होती है। आगम में कहा है:—

पंचहिं ठाणेहिं समणाणं निग्गंथाणं अचेलगत्ते पसत्थे भवति तंजहा—(१) अप्पा पडिलेहा (२) वेसासिए रूवे (३) तवे अणुमए (४) लाघवे पसत्थे (५) विउले इंदियनिग्गहे।

अर्थात्—इन पाँच कारणों से श्रमण निर्ग्रन्थों की अचेलता प्रशंसनीय होती है (१) अल्प प्रतिलेखना (२) वैश्वसिक रूप (३) तप की प्राप्ति (४) लाघवप्रशस्त और विपुल इन्द्रिय निग्रह। इस आगम वाक्य में यह बताया गया है कि जो साधक अल्प वस्त्रादि रखता है या बिल्कुल नहीं रखता है उसे प्रतिलेखना अल्प करनी पड़ती है। दूसरी बात ऐसा करने से वह विश्वनीय होता है—जनसमाज उसकी अचेलकता देखकर ही उसकी साधकता का विश्वास कर लेते हैं। तीसरी बात—ऐसा करने से सहज ही तप की आराधना हो जाती है। चौथी बात—अचेलकता से उपकरण लघुता प्राप्त होती है और पांचवी बात यह है कि इससे खूब इन्द्रिय-निग्रह होता है। इन कारणों से साधक को अचेलकता का विशेष ध्यान रखना चाहिए। यह सब प्रभु महावीर के वचन हैं। इन वचनों को भलीभांति समझ कर सर्वथा सर्वात्मरूप से समभावपूर्वक असेवन परिज्ञा द्वारा उनका पालन करना चाहिए।

सूत्रकार ने "सम्मतं" पद देकर यह स्पष्ट किया है कि साधक सचेल अवस्था में और अचेलावस्था में समभाव को कायम रक्खें। वस्तुतः वस्त्र-परिहार और वस्त्र स्वीकार की क्रिया का महत्त्व नहीं है वरन् उसके पीछे रही हुई वृत्ति की प्रधानता है। क्रियामात्र कोई सदोष या निर्दोष नहीं होती। इस क्रिया के पीछे रहा हुआ आशय सदोष या निर्दोष होता है जिससे क्रिया में वैसा उपचार होता है। वस्तुतः सूत्रकार का आशय अपरिग्रहत्व से है। वस्त्र-परिहार कर देने पर भी यदि ममत्व रह गया—शरीर के प्रति आसक्ति रह गयी तो उससे प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। इसके विपरीत वस्त्र होते हुए भी यदि वृत्ति में उन पर ममत्व नहीं है तो वह बन्धनरूप नहीं होता है। मूर्छा परिग्रह है। उस मूर्छा का निवारण करना अभीष्ट है। वस्त्रादि पदार्थों का परिहार तो एक साधन है। इसलिए सचेलक और अचेलक अवस्था में समभाव रखने के लिए सूत्रकार सूचन कर रहे हैं।

कई साधक अपने आपको उत्कृष्ट क्रिया पात्र समझ कर दूसरे साधकों को हीन दृष्टि से देखते हैं। यह उनका अभिमान है। ऐसे साधकों को सूत्रकार के "सम्मत्त" पद पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। साधकों का कर्त्तव्य यह है कि वे अपने ही चारित्र का अवलोकन करे और दूसरे के चारित्र को देखते हुए उसमें रहे हुए गुण ही अपनी दृष्टि में लावे। इससे ही वे अपना विकास कर सकते हैं। अगर वे दूसरों के अवगुणों पर दृष्टि फैलावेंगे तो वे आत्मप्रशंसा और परनिन्दा के पाप के भागी बनेंगे। इसलिए समभाव रखते हुए आगे बढ़ने के लिए सूत्रकारने प्रेरणा की है।

जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ—पुट्ठो खलु अहमंसि नालमहमंसि सीयफासं अहियासित्तए से वसुमं सव्वसमन्नागयपन्नाणेणं अप्पाणेणं केइ

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

अकरणयाए आउट्टे तवस्सिणो हु तं सेयं जमेगे विहमाइए तत्थावि तस्स कालपरियाए सेऽवि तत्थ वि अंतिकारए, इच्चेयं विमोहायतणं हियं सुहं खमं निस्सेसं आणुगामियं त्ति बेमि ।

संस्कृतच्छाया—यस्य भिक्षोरेवं भवति—स्पृष्टः खल्वहमस्मि नालमहमस्मि शीतस्पर्शमधिसोढुम्, स वसुमान् सर्वसमन्वागतप्रज्ञानेनात्मना कश्चित् तदकरणतया आवृत्तः, तपस्विनस्तत् श्रेयः यदेकः वैहानसादि कमादद्यात्, तत्रापि तस्य कालपर्यायः सोऽपि तत्र व्यन्तिकारकः इत्येतद् विमोहायतनं हितं सुखं क्षमं निःश्रेयसमानुगामिकमिति ब्रवीमि ।

शब्दार्थ—जस्स णं=जिस । भिक्खुस्स=साधु को । एवं भवइ=ऐसा मालूम हो कि । पुट्ठो खलु अहमंसि=मैं उपसर्गों में फँस गया हूं । सीयफासं=शीत-स्पर्शादि उपसर्ग को । अहियासित्तए=सहन करने में । नालमहमंसि=मैं समर्थ नहीं हूँ तो । से वसुमं=वह संयमधनी । सव्वसमन्नागयपन्नाणेणं अप्पाणेणं=अपनी समस्त ज्ञान बुद्धि द्वारा सोचकर । अकरणयाए=वह अकार्य नहीं करता हुआ । आउट्टे=व्यवस्थित रहे । तवस्सिणो=तपस्वी के लिए । हु तं सेयं=वह श्रेयस्कर है । जमेगे=जो एकेक । विहमाइए=फांसी खाकर अपघात करते हैं । तत्थावि=यह अपघात मरण भी । तस्स=उस भिक्षुक के लिए । कालपरियाए=समय प्राप्त मृत्यु के समान ही है । से वि=वह मरने वाला भी । तत्थ=इस अपघात में भी । वि अन्तिकारए=कर्मों का अन्त करता है । इच्चेयं=यह मरण भी । विमोहायणं=निर्मोही का आश्रय है । हियं=हितकारी है । सुहं=सुखरूप है । खमं=योग्य है । निस्सेसं=मोक्ष का कारण है । आणुगामियं=अन्य भव में भी पुण्यप्रद है । त्ति बेमि=ऐसा मैं कहता हूं ।

भावार्थ—साधना के कठिन मार्ग में चलते हुए साधक को कभी ऐसा मालूम पड़े कि मैं परीषह और उपसर्गों से घिर गया हूँ और उन्हें सहन करने के लिए मैं सर्वथा असमर्थ हूँ तो ऐसे प्रसंग पर साधक को प्रथम तो अपनी समस्त बुद्धि द्वारा सोचकर बने वहां तक उस उपसर्ग से बच निकलना चाहिए परन्तु अकार्य में प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिए । यदि किसी भी तरह बचने की सम्भावना न हो तो वैहानसादि (अकाल) मरण से मर जाना चाहिए परन्तु अकार्य में प्रवृत्ति न करनी चाहिए । इस प्रसंग का आकस्मिक मरण भी अनशन और मृत्युकाल के मरण के समान निर्दोष और हितकर्त्ता है । इस तरह मरण की शरण होने वाले मुक्ति के अधिकारी हो सकते हैं । कतिपय निर्मोही आत्माओं ने ऐसे प्रसंग पर मरण का शरण लिया है इसलिए यह हितकारी, सुखकारी, युक्तियुक्त कर्मक्षय का हेतुभूत और भवान्तर में भी पुण्यप्रद है, ऐसा मैं कहता हूँ ।

विवेचन—इस सूत्र में प्रतिज्ञा-पालन और संकल्प बल की दृढ़ता का प्रतिपादन किया गया है । साधक में इतना संकल्प-बल होना चाहिए कि वह एकबार जो व्रत-प्रतिज्ञा अङ्गीकार करले उसे अन्त

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

तक निभावे। चाहे प्राणों का बलिदान चढ़ाना पड़े तो भी वीर-धीर साधक प्रतिज्ञा से पतित नहीं हो सकता है।

सूत्रकार कहते हैं कि यदि साधक को ऐसा मालूम हो कि "मैं शीतस्पर्शादि उपसर्गों द्वारा गिर गया हूँ और मैं उन्हें सहन करने में समर्थ नहीं हूँ" तो उसे मरण की शरण में जाना चाहिए परन्तु अकार्य में प्रवृत्ति न करनी चाहिए। मूलपाठ में "शीतस्पर्श" शब्द दिया गया है। परन्तु वृत्तिकार और टीकाकार का मत यह है कि शीतस्पर्श का अर्थ केवल ठन्ड का परीषह ही नहीं है परन्तु यहाँ भावशीत—स्त्री का उपसर्ग अभीष्ट है। यह बात अधिक सुसंगत है। क्योंकि शीतादि के परीषह के निवारण के लिए तो अधिक वस्त्रादि रखने का सूत्रकार प्रथम ही कह चुके हैं इसलिए केवल बाह्य द्रव्यशीत के उपसर्ग का आशय नहीं है बल्कि "स्त्री आदि के उपसर्ग से" यहाँ सूत्रकार का आशय है।

कदाचित् कोई युवती स्त्री कामविह्वला होकर हावभाव-कटाक्षादि के द्वारा मुनि को उपसर्ग देने की चेष्टा करे और उसे भोग भोगने के लिए प्रार्थना और निमंत्रण करे। ऐसे प्रसंग के उपस्थित होने पर साधक अपनी प्रज्ञा, बुद्धि और युक्ति द्वारा उससे बचने का प्रयत्न करें लेकिन मुनि को यह मालूम हो कि मैं बुरी तरह घिर गया हूँ और बचने का कोई उपाय दिखाई न दे तो सूत्रकार फर्मा रहे हैं कि ऐसे मौके पर साधक को फांसी खाकर, ऊपर से गिरकर अपघात कर लेना श्रेयस्कर है लेकिन अब्रह्म का सेवन करना योग्य नहीं है। भगवान् ने सभी व्रतों और नियमोपनियमों के लिए उत्सर्ग और अपवाद मार्ग कहे हैं परन्तु ब्रह्मचर्य व्रत में किसी प्रकार का अपवाद नहीं बताया है। ब्रह्मचर्य का पालन तो प्रत्येक अवस्था में साधक के लिए अनिवार्य ही है। इसमें कोई अपवाद का स्थान ही नहीं है। ऐसे अपवादरहित ब्रह्मचर्य व्रत की रक्षा के लिए सूत्रकार वैहानस मरण, गार्धपृष्ठ मरण आदि अपघात करने का योग्य सूचन कर रहे हैं।

शंका हो सकती है कि शास्त्रों में अपघात करने का निषेध किया गया है और उसे अनन्त संसार की वृद्धि का कारण कहा है जैसाकि आगम का पाठ है कि:—

इच्चेएणं बालमरणेणं मरमाणे जीवे अणंतेहिं नेरइयभवग्गहणेहिं अप्पाणं संजोएइ जाव अणाइयं च अणवयग्गं चाउरंतं संसारकंतारं भुज्जो भुज्जो परियट्टइ।

अर्थात्—अपघातिक बालमरण से मरने वाला जीव नरकगति के अनन्त भव ग्रहण करता है और अनादि अनन्त संसार वन में पुनः पुनः भटकता है। इस आगम प्रमाण से वैहानसमरण, विषभक्षण आदि अनर्थ के कारण सिद्ध होते हैं फिर यहाँ उनका विधान कैसा किया जाता है?

इस शंका का समाधान यह है कि आर्हत मत में मैथुनभाव को छोड़कर एकान्ततः न तो किसी का विधान किया गया है और न निषेध किया गया है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से कर्त्तव्य अकर्त्तव्य हो जाता है और अकर्त्तव्य कर्त्तव्य हो जाता है। कहा भी है:—

उत्पद्यते हि साऽवस्था देशकालामयान्प्रति।
यस्याम् कार्यमकार्यं स्यादकार्यं कार्यमेव च॥

यह श्लोक वैद्यकग्रन्थ का है। इसमें कहा गया है कि ऐसी अवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं जबकि अकार्य कार्य होता है और कार्य अकार्य हो जाता है। स्थान, समय और रोगी की विभिन्नता से ऐसे प्रसंग

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

आते हैं। यही बात आर्हत मत के लिए भी है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से उत्सर्ग मार्ग भी अगुणकर हो सकता है और अपवाद मार्ग गुणकारी होता है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का विचक्षण साधु उत्सर्ग और अपवाद मार्ग में किसका आश्रय लेना यह स्वयं जान सकता है। ब्रह्मचर्य का खण्डन संयमी जीवन का सर्वथा विरोधी है और संयमी जीवन के हनन से आत्मा का हनन होता है इसलिए अब्रह्म द्वारा आत्मा का हनन करने की अपेक्षा अपघात करना श्रेयस्कर कहा गया है।

ऐसे प्रसंग पर जो साधक मरण की शरण ग्रहण करते हैं वे अनशन करके पण्डितमरण मरने वाले साधकों के समान ही लाभ प्राप्त करते हैं। वे इस वैहासनमरण के द्वारा ही कर्मों का अन्त करने वाले होते हैं। इस अपवादमरण से मरकर भी साधक सिद्धि को प्राप्त कर सकते हैं। यह वैहानसादिमरण अनेक निर्मोही जनों द्वारा आचीर्ण है। यह हितकर, सुखरूप और युक्तियुक्त है। इसका फल अनेक भवों में पुण्यरूप होता है। साधक प्राणान्त करना और ऐसे मरण से मर जाना पसन्द करे परन्तु अब्रह्म का सेवन न करे। यह कहकर प्रतिज्ञा को दृढ़ता से पालन करने की सूत्रकार सूचना कर रहे हैं।

साधक में अपनी प्रतिज्ञा के लिए देह अर्पण कर देने तक की भावना होनी चाहिए। यह संकल्प बल प्रत्येक साधक के लिए आवश्यक है।

इति चतुर्थोद्देशकः

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

विमोक्ष नाम अष्टम अध्ययन

—पञ्चम उद्देशकः—

(प्रतिज्ञा-पालन)

चतुर्थ उद्देशक का वर्णन किया जा चुका है। अब पञ्चम उद्देशक प्रारम्भ होता है। गत उद्देशक में तीन वस्त्र का अभिग्रह करने वाले साधक का कथन किया गया था अब इस उद्देशक में दो वस्त्र रखने वाले साधक का कथन किया जाता है। साधक का उद्देश्य दिन-प्रतिदिन अपने साधनों को घटाने का होता है। साधनों को घटाने से आभ्यन्तर की उपाधि कम होती है और उपाधि की कमी होने से अशान्ति कम होती है इससे साधक का मार्ग अति सरल बनता है। बाह्य साधन जितने अल्प होते हैं उतनी ही अधिक शान्ति की प्राप्ति होती है इसलिए क्रमशः बाह्य साधनों को घटाने का उपदेश देते हुए सूत्रकार फर्माते हैं:—

जे भिक्खू दोहिं वत्थेहिं परिवुसिए पायतइएहिं तस्स णं नो एवं भवइ—तइयं वत्थं जाइस्सामि, से अहेसणिज्जाइं वत्थाइं जाइज्जा जाव एवं खु तस्स भिक्खुस्स सामग्गियं—अह पुण एवं जाणिज्जा—उवाइक्कंते खलु हेमंते, गिम्हे पडिवण्णे, अहापरिजुन्नाइं वत्थाइं परिट्ठविज्जा, अहापरिजुन्नाइं परिट्ठवित्ता अदुवा संतरुत्तरे, अदुवा ओमचेले, अदुवा एगसाडे, अदुवा अचेले लाघवियं आगममाणे तवे से अभिसमन्नागए भवइ, जमेयं भगवया पवेइयं तमेव अभिसमिच्चा सव्वओ सव्वत्ताए सम्मत्तमेव समभिजाणिया।

संस्कृतच्छाया—यो भिक्षुर्द्वाभ्यां वस्त्राभ्यां पर्युषितः पात्रतृतीयाभ्यां तस्य नैवं भवति—तृतीयं वस्त्रं याचिष्ये, स यथैषणीयानि वस्त्राणि याचेत यावतेवन्तस्य भिक्षोः सामग्र्यम्—अथ पुनरेवं जानीयात्—अपक्रान्तः खलु हेमन्तो ग्रीष्मः प्रतिपन्नः, यथा परिजीर्णानि वस्त्राणि परिष्ठापयेत्, अथवा सान्तरोत्तरो ऽथवाऽवमचेलः, अथवैकशाटकः अथवाऽचेलो, लाघविकमागमयन् तपस्तस्याभिसमन्वागतम् भवति, यदेतद्भगवता प्रवेदितं तदेवाभिसमेत्य सर्वतः सर्वात्मतया सम्यक्त्वमेव समभि जानीयात्।

शब्दार्थ—जे भिक्खु=जो भिक्षु। पायतइएहिं=पात्रतृतीय। दोहिं वत्थेहिं=दो वस्त्रों की मर्यादा करके। परिवुसिए=रहा हुआ है— शेष चतुर्थ उद्देशक के प्रथम द्वितीय सूत्रानुसार समझ लेने चाहिए। वहाँ शब्दार्थ लिख दिये हैं।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

भावार्थ—जिस अभिग्रहधारी भिक्षु साधक ने एकपात्र और दो वस्त्र रखने की मर्यादा की है उसे ऐसा विचार कदापि नहीं होता है कि मैं तीसरे वस्त्र की याचना करूँगा। कदाचित् उसके पास दो वस्त्र भी पूरे न हों तो उसे साधक के योग्य दो वस्त्रों की याचना करना कल्पता है। यावत् यह साधु का आचार है। अनन्तर जब साधक को यह मालूम हो कि हेमन्तऋतु चली गई है और ग्रीष्मऋतु आ गई है तो हेमन्तऋतु को लक्ष्य में लेकर जो वस्तु लिए हों उनका त्याग करे अथवा (शीत की सम्भावना हो तो) यदा-कदा आवश्यकतानुसार उनका उपयोग करे, अथवा दो में से एक का त्याग कर दे और उसकी भी आवश्यकता न हो तो वस्त्ररहित हो जावे, इस प्रकार करने से तपश्चर्या होती है ऐसा भगवान् ने प्ररूपित किया है। इस कथन के रहस्य को समझ कर साधक वस्त्रसहित और वस्त्ररहित दोनों अवस्थाओं में समभाव रक्खे।

विवेचन—चतुर्थ उद्देशक में तीन वस्त्र रखने वाले साधक का कथन किया गया है। तीन वस्त्र रखने वाले साधक जिनकल्पी भी हो सकते हैं और स्थविरकल्पी भी हो सकते हैं परन्तु यहाँ जो दो वस्त्र रखने वाले साधकों का कथन है वे या तो नियम से जिनकल्पी, अथवा परिहार-विशुद्धि चारित्र वाले अथवा यथा लन्दिक या प्रतिमाप्रतिपन्न ही हो सकते हैं। यह बात टीकाकार श्री शिलाङ्काचार्य ने अपनी टीका में स्पष्ट की है।

प्रासंगिक होने से यहाँ भिक्षु की बारह प्रतिमाएँ (प्रतिज्ञा-विशेष) बतायी जाती हैं:—

(१) पहली प्रतिमा में भिक्षु साधक एकमास तक एक दत्ति (दात) आहार ले और एक दत्ति पानी ले। अर्थात् आहार देते समय दाता एकबार में जितना आहार दे दे उसी में अपना निर्वाह कर ले और एकबार में—विनाधारा टूटे जितना पानी मिल जाय उस पानी का उपयोग करे, अधिक न ले। इस प्रकार एकमास तक अनुष्ठान करना प्रथम प्रतिमा है।

(२) दूसरी प्रतिमा में दो मासतक दो दत्ति आहारकी और दो दत्ति पानीकी ग्रहण करे-अधिक नहीं।

(३) तीसरी प्रतिमा में तीन मास तक तीन दत्ति आहार की और तीन दत्ति पानी ग्रहण करे।

(४) चौथी प्रतिमा में चार मास तक चार दत्ति आहार और चार दत्ति ही पानी ले।

(५) पाँचवीं प्रतिमा में पाँच मास तक पाँच दत्ति आहार और पाँच दत्ति पानी पर निर्वाह करे।

(६) छठी प्रतिमा में छह मास तक छह दत्ति आहार और छह दत्ति पानी की ग्रहण करे।

(७) सातवीं प्रतिमा में सात मास तक सात दत्ति आहार और सात दत्ति पानी पर निर्वाह करे।

(८) आठवीं प्रतिमा में सात दिन तक चौविहार एकान्तर उपवास करे। दिन में सूर्य की आतापना ले और रात्रि में नग्न रहे। रात्रि में एक ही करवट से सोवे अथवा चित्त ही सोवे। करवट बदले नहीं। सामर्थ्य होने पर कायोत्सर्ग करके बैठे।

(९) नवमीं प्रतिमा का अनुष्ठान आठवीं के समान ही है। विशेषता यह है कि रात्रि में शयन न करे। दण्डासन, लगुडासन या उत्कटासन लगाकर रात्रि व्यतीत करे। दण्ड की तरह सीधा-खड़ा रहना दण्डासन है। पैर की एडी और मस्तक का शिरोवास्थान पृथ्वी पर लगाकर समस्त शरीर धनुष की भांति अधर रखना लगुड़ासन है। दोनों घुटनों के मध्य में मस्तक झुकाकर ठहरना उत्कट आसन है।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

(१०) दसवीं प्रतिमा आठवीं की तरह है। इसमें विशेषता यह है कि समस्त रात्रि गोदुहासन या वीरासन से स्थित होकर व्यतीत करना चाहिए। गाय दुहने के लिए जिस आसन से दुहने वाला बैठता है वह गोदुहासन है। पाट पर बैठकर दोनों पैर जमीन से लगा लिए जांय और पाट हटा लेने पर उसी प्रकार अधर बैठा रहना वीरासन है।

(११) ग्यारहवीं प्रतिमा में षष्ठभक्त (बेला) करना चाहिए। दूसरे दिन ग्राम से बाहर आठ प्रहर तक कायोत्सर्ग करके खड़ा रहे।

(१२) बारहवीं प्रतिमा में अष्टमभक्त (तेला) करना चाहिए। तीसरे दिन श्मशान में अथवा वन में कायोत्सर्ग करके खड़ा रहना चाहिए और उस समय जो भी उपसर्ग हो उन्हें स्थिरचित्त से सहन करना चाहिए।

ये भिक्षु की बारह प्रतिमाएँ हैं। प्रतिमाधारी या उच्चभूमिका पर पहुँचा हुआ साधक दो ही वस्त्रों से अपना काम निकालता है। वह क्रमशः बाह्य उपाधि को कम कर देता है और यहाँ तक कि सर्वथा वस्त्ररहित होकर साधना में जुड़ जाता है। उसे अपने शरीर पर भी ममत्व नहीं होता तो उसे वस्त्रों पर ममत्व कैसे हो सकता है? पदार्थों के त्याग से वह ममत्वरहित हो जाता है। ममत्व त्याग ही आदर्श त्याग है। आदर्श त्याग ही आदर्श तपश्चर्या है। इस सूत्र का विशेष विवेचन चतुर्थ उद्देशक के प्रथम द्वितीय सूत्रवत् समझना चाहिए।

जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ-पुट्ठो अबलो अहमंसि नालमहमंसि गिहंतर-संकमणं भिक्खायरियं गमणाए, से एवं वयंतस्स परो अभिहडं असणं वा ४ आहट्टु दलइज्जा, से पुव्वामेव आलोइज्जा आउसंतो ! नो खलु मे कप्पइ अभिहडं असणं वा भुत्तए वा पायए वा अन्ने वा एयप्पगारे।

संस्कृतच्छाया—यस्य (णं वाक्यालंकारे) भिक्षोरेवं भवति स्पृष्टोऽहमस्मि (रोगैः) नालमहमस्मि गृहान्तरसंक्रमणं भिक्षाचर्यां गमनाय, तस्यैवं वदतः परोऽभिहृतमशनं वा ४ आहृत्य दद्यात् स पूर्वमेवालोचयेत्-आयुष्मन्! न खलु मे कल्पतेऽभिहृतमशनं वा ४ भोक्तुं पातुं वा अन्यं वा एतत्प्रकारं।

शब्दार्थ—जस्स णं भिक्खुस्स=किसी साधक को। एवं भवइ=ऐसा मालूम दे कि। पुट्ठो=रोगद्वारा स्पृष्ट होने से। अबलो अहमंसि=मैं निर्बल हो गया हूँ। गिहंतर-संकमणं=एक घर से दूसरे घर जाने। भिक्खायरियं=और भिक्षाचर्या के लिए। गमणाए=जाने में। नालमहमंसि=मैं समर्थ नहीं हूँ। से एवं वयंतस्स=ऐसा कहने वाले साधक को। परो=कोई गृहस्थ। अभिहडं=सन्मुखस्थान पर लाया हुआ। असणं वा ४=अशन-पानादि। आहट्टु=लाकर। दलइज्जा=देवे तो। से=वह साधु। पुव्वामेव=पहले ही। आलोइज्जा=विचार ले और कहे कि। आउसंतो=हे आयुष्मन्! अभिहडं=सन्मुख लाया हुआ। असणं वा=अशनादि। अन्ने वा

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

एयप्पगारे=अथवा अन्य इस प्रकार का सदोष आहार पानी। भुत्तए वा=भोगना अथवा। पायए=पानी। नो खलु मे कप्पइ=मुझे नहीं कल्पता है।

भावार्थ—प्रसंग वश किसी साधक को ऐसा मालूम होने लगे कि मैं रोगादि संकटों से ग्रसित होने से इतना अशक्त हो गया हूँ कि मैं एक घर से दूसरे घर जाकर भिक्षाचर्या लाने में समर्थ नहीं हूँ। (यह बात किसी को स्वाभाविक रूप से कहने पर) यह सुनकर कोई भावुक गृहस्थ उस साधु के लिए आहारादि पदार्थ उसके स्थान पर लाकर देने लगे तो मुनि साधक उसे लेने के पूर्व ही विवेकपूर्वक उससे कहे कि हे आयुष्मन् गृहस्थ! मेरे निमित्त यहां लाये हुए ये पदार्थ अथवा अन्य इस प्रकार के सदोष पदार्थ मुझे ग्रहण करना या खाना, पीना नहीं कल्पता है। (मेरे नियमानुसार मैं इन्हें नहीं ले सकता हूँ)।

विवेचन—इस सूत्र में कठिनाई के समय में भी अपने नियमों का सख्ती के साथ पालन करने का उपदेश दिया गया है। भिक्षु साधक कदाचित् रोगादि के कारण इतना निर्बल हो गया हो कि वह एक घर से दूसरे घर घूम कर भिक्षाचर्या ला सकने में सर्वथा असमर्थ हो गया हो तो भी उसे अपने नियमों को भङ्ग करके गृहस्थ द्वारा सन्मुख-अपने स्थान पर लाया हुआ—आहार पानी नहीं लेना चाहिए। हो सकता है कि साधु ने अपनी स्थिति का वर्णन सहज स्वभाव से किसी के सामने किया हो और वह गृहस्थ साधु के प्रति अपनी भक्ति के कारण या भद्रस्वभाव के कारण अपने घर जाकर आहारादि तैयार करके और उन्हें लेकर साधु के स्थान पर आकर कहे कि हे महात्मन्! आप अनुग्रह करके इसे ग्रहण करिए। साधक अपने विवेक से यह जान ले कि आहार अभ्याहृत है। सामने लाया हुआ है। इसलिए सदोष है, यह मेरे काम का नहीं है। ऐसा जानकर उस गृहस्थ को समझावे कि "आयुष्मन् गृहस्थ! जैन श्रमणों का यह आचार है कि वे अपने निमित्त अपने स्थान पर लाया हुआ अशनादि ग्रहण नहीं करते। अपने इस आचार के अनुसार मैं तुम्हारा लाया हुआ अशनादि नहीं ग्रहण कर सकता हूँ"।

यहाँ यह बात स्मरण में रखनी चाहिए कि साधु, गृहस्थ द्वारा लाया हुआ आहारादि नहीं ले सकते हैं परन्तु अन्य साधु द्वारा लाया हुआ आहारादि पदार्थ ले सकते हैं। गृहस्थों द्वारा लाये हुए आहार का निषेध करने में दो आशय प्रतीत होते हैं। एक तो साधु का गृहस्थ के साथ गाढ़ सम्पर्क का निवारण करना और दूसरा साधक में श्रम के द्वारा शिथिलता का न आने देना। अगर गृहस्थ इस प्रकार साधुओं के स्थान पर आहारादि लाकर देने लगेंगे तो साधुओं का गृहस्थों के साथ अति परिचय होना स्वाभाविक है। इस अति परिचय के कारण रागभाव पैदा हो जाना मामूली बात है। रागभाव आ जाने के बाद तत्काल या नजदीक भविष्य में त्यागमार्ग में शिथिलता आने की सम्भावना रहती है। इस आशय से गृहस्थों की इस प्रकार की सेवा साधक स्वीकार नहीं कर सकता है। सूत्रकार के इस कथन से भलीभांति सिद्ध हो जाता है कि मुनियों की सेवा के लिए मुनि ही उपयुक्त हैं। किसी मुनि साधक की बीमारी में उसकी सेवा शुश्रूषा करना दूसरे मुनियों का कर्त्तव्य हो जाता है। मुनियों का जीवन किसी को बाधारूप नहीं होता इसलिए मुनिद्वारा लाया हुआ आहार अशक्त मुनि कर सकते हैं। दूसरी बात यह है कि यदि साधु की बीमारी में अपवादरूप कोई गृहस्थ आहारादि लाकर दे और वह मुनि ले ले तो यह संभव है कि विवेक-चक्षु के अभाव में यह अपवाद धीरे २ रूढिरूप में परिणत हो जाय। ऐसा होने से साधुओं का गृहस्थों के साथ परिचय गाढ़ होगा और साथ ही साधुओं में पराश्रयता और आलस्य अपना

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

घर कर लेंगे। इससे साधक के जीवन में अकर्मण्यता प्रविष्ट हो जायगी और वह साधक साधना में शिथिल होता जायगा। साधक जीवन में स्फूर्ति और कर्मण्यता को बनाये रखने के लिए श्रम की आवश्यकता है। श्रम के बिना जीवन बासी होता है। श्रम जीवन को ताजा रखता है। अगर साधक को अपने स्थान पर ही आहार मिलने लगे तो वह श्रम से वञ्चित रहेगा और इसका फल साधना के लिए अहितकर होगा। इस आशय से सूत्रकार ने यह प्रतिषेध किया है कि साधक अशक्ति में भी गृहस्थ द्वारा लाया हुआ आहार न करे।

यहाँ पाठान्तर भी है। वह इस प्रकार है:—तं भिक्खुं केइ गाहावइ ! उवसंकमित्तु बूया—आउसंतो समणा ! अहन्नं तव अट्ठाए असणं वा ४ अभिहडं दलामि, से पुव्वामेव जाणेज्जा 'आउसंतो गाहावई ! जन्नं तुम मम अट्ठाए असणं वा ४ अभिहडं चेतेसि, णो य खलु मे कप्पइ मे एयप्पगारं असणं वा ४ भोत्तए वा पायए वा अन्नं वा तहप्पगारं' इस पाठान्तर का पाठ सरल है अतः पुनः नहीं किया जाता है।

जस्स णं भिक्खुस्स अयं पगप्पे अहं च खलु पडिन्नत्तो अपडिन्नत्तेहिं गिलाणो अगिलाणेहिं अभिकंखं साहम्मिएहिं कीरमाणं वेयावडियं साइज्जिस्सामि, अहं वावि खलु अपडिन्नत्तो पडिन्नत्तस्स अगिलाणो गिलाणस्स अभिकंखं साहम्मियस्स कुज्जा वेयावडियं करणाए आहट्टु परिन्नं आणक्खिस्सामि आहडं च साइज्जास्सामि ? आहट्टु परिन्नं आणक्खिस्सामि आहडं च नो साइज्जास्सामि २, आहट्टु परिन्नं नो आणक्खिस्सामि आहडं च साइज्जास्सामि ३, आहट्टु परिन्नं नो आणक्खिस्सामि आहडं च नो साइज्जिस्सामि ४, एवं से आहाकिट्टियमेवधम्मं समीमभिजाणमाणे संते विरए, सुसमाहियलेसे तत्थावि तस्य कालपरियाए, से तत्थ विअन्तिकारए, इच्चेयं विमोहाययणं हियं सुहं खमं, निस्सेसं आणुगामियं त्ति बेमि।

संस्कृतच्छाया—यस्य भिक्षोरयं प्रकल्पः—अहञ्च खलु प्रतिज्ञप्तः, अप्रतिज्ञप्तैः, ग्लानः अग्लानैः अभिकांक्ष्य साधर्मिकैः क्रियमाणं वैयावृत्यं स्वादयिष्यामि, अहं वापि खलु अप्रतिज्ञप्तः प्रतिज्ञप्तस्याग्लानो ग्लानस्याभिकांक्ष्य साधर्मिकस्य कुर्याम् वैयावृत्यं करणाय, आहृत्य प्रतिज्ञामन्वेषयिष्यामि, आहृतञ्च स्वादयिष्यामि १, आहृत्य प्रतिज्ञामन्वेषयिष्यामि आहृतञ्चनोस्वादयिष्यामि २, आहृत्यप्रतिज्ञां नान्वेषयिष्यामि, आहृतञ्च स्वादयिष्यामि ३, आहृत्यप्रतिज्ञां नान्वेषयिष्यामि, आहृतञ्च नो स्वादयिष्यामि ४, यथा कीर्तितमेव धर्मं समभिजानन् शान्तो विरतः, सुसमाहृत लेश्यः, तत्रापि तस्य कालपर्यायः स तत्र व्यन्तिकारकः, इत्येतद् विमोहायतनं हितं सुखं क्षमं, निश्रेयसमानुगामिकमिति ब्रवीमि।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

शब्दार्थ—जस्स णं भिक्खुस्स=जिस भिक्षु का। अयं=यह। पगप्पे=आचार हो कि। अहं च खलु=मैं। पडिन्नत्तो= दूसरों के द्वारा सेवा के लिए कहे जाने पर। गिलाणो=रोगादि से ग्लान होने पर। अपडिन्नत्तेहिं=मेरे द्वारा नहीं कहे हुए-पर स्वेच्छा से सेवा के लिए तत्पर। अगिलाणेहिं=अग्लान। साहम्मिएहिं=सहधर्मी साधकों द्वारा। अभिकंख=कर्म निर्जरा की अभिलाषा से। कीरमाणं=की हुई। वेयावडियं=सेवा-शुश्रूषा। साइस्सामि=स्वीकार करूंगा। अहं वावि खलु=मैं भी। अगिलाणो=अग्लान होकर। अपडिन्नत्तो=दूसरों के द्वारा नहीं कहा हुआ भी स्वेच्छा से। गिलाणस्स=ग्लान। पडिन्नत्तस्स=और सेवा के लिए मेरे द्वारा कहे हुए। साहम्मियस्स= सहधर्मी। अभिकंख=कर्मनिर्जरा की इच्छा से। करणाए=उपकार करने के लिए। वेयावडियं= वैयावृत्य। कुज्जा=करूँगा। आहट्टु परिन्नं=प्रतिज्ञा लेकर कि। अणुक्खिस्सामि=मैं दूसरे सहधार्मियों के लिए आहार-अन्वेषण करूँगा। आहडं च साइस्सामि=और दूसरों द्वारा लाया हुआ स्वीकार करूँगा १। आहट्टु परिन्नं=प्रतिज्ञा ग्रहण करके कि। आणक्खिस्सामि=दूसरों के लिए आहारादि लाऊँगा। आहडं च नो साइस्सामि=दूसरों द्वारा लाया हुआ नहीं लूँगा २। आहट्टु परिन्नं= प्रतिज्ञा करके कि। नो आणक्खिस्सामि=दूसरों के लिए नहीं लाऊँगा। आहडं च साइस्सामि= पर दूसरों द्वारा लाया हुआ लूँगा ३। आहट्टु परिन्नं=प्रतिज्ञा करके कि। नो आण क्खिस्सामि= न तो लाऊँगा। आहडं च नो साइस्सामि=और न लाया हुआ लूँगा। एवं=इस प्रकार। अहाकहियमेव धम्मं=यथा प्ररूपित धर्म की। समभिजाणमाणे=सम्यग् आराधना करता हुआ। से=वह साधक। संते=शान्त। विरए=विरत। सुसमाहियलेसे=उज्ज्वल लेश्या वाला होकर मरण पसंद करता है परन्तु प्रतिज्ञा भंग नहीं करता है। तत्थावि=वहाँ भी। तस्स=उस साधक का मरण। कालपरियाए=अनशन प्राप्त मरण के समान कहा है। से तत्थवि अंतिकारए=यह मरण कर्म का क्षय करने वाला है। इच्चेयं=यह मरण। विमोहायणं=निर्मोही द्वारा आचीर्ण है। हियं=हितकर है। सुहं=सुखकर है। खमं=समुचित है। निस्सेसं=कल्याणकारी है-मोक्ष का कारण है। आणुगामियं=अन्य जन्म में भी इसकी पुण्य-परम्परा चलती है। त्ति बेमि=ऐसा मैं कहता हूँ।

भावार्थ—किसी साधक की यह प्रतिज्ञा होती है कि "मैं रोगों से ग्रस्त होऊँ तो भी मुझे दूसरों को मेरी सेवा करने के लिए कहना नहीं परन्तु ऐसी स्थिति में दूसरे समान धर्म पालने वाले तनदुरस्त श्रमण कर्मनिर्जरा के हेतु से (निस्वार्थभाव से) स्वेच्छापूर्वक मेरी सेवाशुश्रूषा करे तो मुझे उसे स्वीकार करनी चाहिए और यदि मैं स्वस्थ होऊँ तो दूसरे सहधर्मी अस्वस्थ श्रमणों की स्वेच्छापूर्वक निस्वार्थभाव से सेवा करने"। (ऐसी प्रतिज्ञा वाले साधक अपनी प्रतिज्ञा की पूर्ति के लिए प्राणों की आहुति दे दे परन्तु प्रतिज्ञाभंग न करें) कोई श्रमण (इस प्रकार प्रतिज्ञा करें) कि (१) मैं दूसरे श्रमणों के लिए

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

आहारादि लाऊँगा और दूसरे द्वारा लाया हुआ स्वीकार करूँगा (२) मैं दूसरे श्रमणों के लिए ला दूँगा परन्तु दूसरों का लाया हुआ नहीं लूँगा (३) मैं दूसरों के लिए नहीं लाऊँगा परन्तु दूसरों का लाया हुआ स्वीकार करूँगा (४) मैं दूसरों के लिए लाऊँगा भी नहीं और उनका लाया हुआ स्वीकार भी नहीं करूँगा। इन चार प्रतिज्ञाओं में से जैसे प्रतिज्ञा की हो उसके अनुसार सद्धर्म की आराधना करता हुआ श्रमण साधक संकटों के आने पर भी शांत और पापों से विरत तथा सद्भाव की श्रेणी पर चढ़ता हुआ मृत्यु को पसन्द करता है परन्तु प्रतिज्ञा का भंग किन्हीं भी संयोगों में नहीं होने देता है। ऐसी स्थिति में उसका मरण यशस्वी मरण है, यह मरण कालपर्याय के समान माना गया है (कालपर्याय—अर्थात् बारह वर्ष तक क्रमशः दीर्घतपश्चर्या के बाद शरीर के निसत्व होने पर अनशन करना) ऐसा वीर साधक कर्मों का क्षय कर सकता है। इस तरह का संकल्प-बल या ऐसा यशस्वी मरण अनेक निर्मोही पुरुषों द्वारा आचीर्ण है, यह हितकर, सुखकर, समुचित, कर्मक्षय का कारणभूत और अन्य जन्म में भी पुण्य-परम्परा का देने वाला है ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में सेवा और स्वावलम्बन को श्रमण-जीवन के प्राणभूत तत्त्व कहे हैं। साधक का जीवन स्वावलम्बी होना चाहिए। उसे दूसरों की सेवा लेने की आवश्यकता न होनी चाहिए। उसे इस प्रकार सावधानी रखनी चाहिए कि उसका जीवन दूसरों के लिए भारभूत न बने। इसके लिए उसे परिश्रमी होना चाहिए ताकि वह रोगों का शिकार न बने। परिश्रमी जीवन व्यतीत करने वाला साधक श्रमजन्य व्याधि के सिवाय प्रायः व्याधियों से ग्रसित नहीं होता। जब साधक सावधानी रखता हुआ भी कर्मों के उदय से बीमारी का भोग बन जाय तो भी वह अपनी सेवा करने के लिए किसी को न कहे और समभावपूर्वक वेदना सहन करे। यदि कोई सहधर्मी श्रमण उसकी ग्लानदशा के कारण उसकी स्वेच्छा से सेवा करना चाहे तो साधक उसकी सेवा का स्वीकार कर सकता है। अगर कोई दूसरा साधक अस्वस्थ हो या तपश्चर्यादि द्वारा ग्लान हो तो साधक का कर्त्तव्य है कि निस्वार्थ भावना से उसकी सेवा-शुश्रूषा करे। पारस्परिक सेवाशुश्रूषा सहधार्मियों में वात्सल्यभाव पैदा करती है जो कि श्रमणसंस्था के लिए आवश्यक है।

सूत्रकार ने सूत्र में भक्तपरिज्ञा मरण का निर्देश किया है ऐसा टीकाकार ने टीका में स्पष्ट किया है। साधक अपनी प्रतिज्ञा का पालन अखण्ड रूप से करे। अगर उसे प्रतिज्ञा पालने के लिए अपने प्राणों की आहुति देनी पड़े, भक्तपरिज्ञा मरण द्वारा मृत्यु का आलिंगन करना पड़े तो कोई चिन्ता नहीं परन्तु अपनी गृहीत प्रतिज्ञा का त्याग करना ठीक नहीं है। साधक अगर प्रतिज्ञा के पालन में शिथिलता करता है तो यह उसकी साधना के लिए भयंकर होता है क्योंकि यह शिथिलता उपादान को विकृत कर देती है। उपादान के विकृत होने पर निमित्त लाभदायी नहीं हो सकते। इसलिए प्रतिज्ञा भंग करने की अपेक्षा प्राणभंग करना अधिक अच्छा है। यह मरण अपघात मरण नहीं है वरन् समाधि मरण गिना जाता है। यह मरण कालपर्याय के समान ही यशस्वी है। यह मरण हितकारी, सुखकारी, मोक्ष का कारण रूप और पुण्य-परम्परा को जन्मान्तर में भी उत्तराधिकार में देने वाला है। अनेक निर्मोही पुरुषों ने इसका सेवन किया है।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

सूत्रकार ने सूत्रों में प्रतिज्ञा का कथन किया है इस पर से यह फलित होता है कि प्रत्येक साधक को अवश्यमेव प्रतिज्ञा करनी चाहिए। साथ ही की हुई प्रतिज्ञा का प्राणान्त तक निर्वाह करना चाहिए। प्रतिज्ञा में मेरु को कंपाने, पृथ्वी को चलित करने और हिमालय को हिलाने की दिव्य चेतना शक्ति है। प्रतिज्ञा के द्वारा पतन के गर्त में गिरते हुए व्यक्ति की रक्षा होती है। प्रतिज्ञा के दुर्ग में कोई विकार प्रवेश नहीं पा सकता। प्रतिज्ञा गिरे हुए का उद्धार करती है और गिरने से बचाती है। प्रतिज्ञा से संकल्पबल अति दृढ़ होता है और साधना संकल्पबल की दृढ़ता से ही सफल होती है। अतएव प्रतिज्ञा का पालन करने में अपने प्राणों की आहुति देने के लिए साधक को सदा तत्पर रहना चाहिए।

साधना की सफलता के लिए प्रतिज्ञा-पालन की आवश्यकता है। साधक को खान-पान वस्त्रादि में मर्यादित रहने की, महाव्रतों को पालने की, नियमोपनियमों में दृढ़ रहने की, सेवाशुश्रूषा की टेक की आदि २ प्रतिज्ञाएँ अवश्य स्वीकारनी चाहिए और प्राणार्पण तक उसका पालन करना चाहिए। प्रतिज्ञा की अपूर्व शक्ति पूर्वाध्यासों से खिंचाते हुए साधक को साधना में स्थिर करती है। अतएव प्रतिज्ञा का पालन दृढ़ता से करना साधक का कर्त्तव्य है।

इति पञ्चमोद्देशकः

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

विमोक्ष नाम अष्टम अध्ययन

—षष्ठ उद्देशकः—

पञ्चम उद्देशक में भक्त-परिज्ञा मरण द्वारा प्राणों की आहुति प्रदान करना कहा गया है। अब इस उद्देशक में इङ्गित मरण का प्रतिपादन करते हैं। साधक के लिए मृत्यु भी जीवन के समान ही महोत्सव रूप है। जैसे बालक में सुकुमारता, युवक में उत्साह और वृद्ध में शान्ति स्वाभाविक है उसी तरह मृत्यु भी स्वाभाविक है। ऐसा समझने वाला साधक मृत्यु में भी हर्ष का अनुभव करता है। सच्चा साधक शरीर को एक साधन समझता है और इसी आशय से उसकी उचित सार-सम्भाल करता है लेकिन जब यह मालूम हो जाता है कि अब यह साधन निःसत्व हो गया है—अब इसमें कोई सार नहीं रहा है तो वह साधक स्वेच्छा से—प्रसन्नतापूर्वक उसका त्याग कर देता है। मृत्यु का डर कायरों को ही होता है। साधक तो हँसते २ मृत्यु से भेंट करता है। इसीलिए साधक मृत्युञ्जय हो जाता है। यही प्रकृत उद्देशक में बताया गया है:—

जे भिक्खू एगेण वत्थेण परिवुसिए पायबिईएण, तस्स णं नो एवं भवइ बिइयं वत्थं जाइस्सामि, से अहेसणिज्जं वत्थं जाइज्जा, अहापरिग्गहियं वत्थं धारिज्जा, जाव गिम्हे पडिवन्ने अहापरिजुन्नं वत्थं परिट्ठविज्जा, अदुवा एगसाडे, अदुवा अचेले लाघवियं आगममाणे जाव सम्मत्तमेव समभिजाणिया। जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ—एगे अहमंसि, न मे अत्थि कोइ, न याहमवि कस्स वि, एवं से एगागिणमेव अप्पाणं समभिजाणिज्जा, लाघवियं आगममाणे तवे से अभिसमन्नागए भवइ जाव समभिजाणिया।

संस्कृतच्छाया—य भिक्षुरेकेन वस्त्रेण पर्युषितः पात्रद्वितीयेन तस्य नैवं भवति—द्वितीयं वस्त्रं याचिष्ये, यथैषणीयं वस्त्रं याचेत, यथा परिगृहीतं वस्त्रं धारयेत् यावद् ग्रीष्मः प्रतिपन्नः यथा परिजीर्णं वस्त्रं परिष्ठापयेत्, अथवा एकशाटकः, अथवाऽचेलः, लाघवमागमयन् यावत् सम्यक्त्वमेव समभिजानीयात्। यस्य भिक्षोरेवं भवति—एकोऽहमस्मि, न मेऽस्ति कोऽपि, न चाहम् कस्यापि एवं स एकाकिनमेवात्मानम् समभिजानीयात् लाघवमागमयन् तपस्तस्याभिसमन्वागतं भवति यावत् समभिजानीयात्।

शब्दार्थ—जे भिक्खू=जो भिक्षु। पायबिईएण=पात्रद्वितीय। एगेण वत्थेण=एकवस्त्र रखने की मर्यादा करके। परिवुसिए=रहा हुआ है। तस्स णं नो एव भवइ=उसे यह भावना नहीं

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

होती। बिइयं वत्थं जाइस्सामि=मैं दूसरे वस्त्र की याचना करूँगा। से=वह। अहेसणिज्जं=एषणिक। वत्थं=वस्त्र की। जाइज्जा=याचना करे। अहापरिग्गहियं=जैसा मिले वैसा। वत्थं=वस्त्र। धारिज्जा=धारण करे। जाव=यावत्। गिम्हे पडिवन्ने=ग्रीष्मऋतु के आने पर। अहापरिजुन्नं=जीर्ण। वत्थं=वस्त्र को। परिट्ठविज्जा=छोड़ दे। अदुवा एगसाडे=अथवा एक वस्त्र रक्खे। अदुवा अचेले=अथवा वस्त्ररहित हो जाय। लाघवं=लघुता को। आगममाणे=जानकर। जाव=यावत्। सम्मत्तमेव=समभाव को। समभिजाणिया=आसेवन परिज्ञा द्वारा जाने। जस्स णं भिक्खुस्स=जिस भिक्षु को। एवं भवइ=ऐसा विचार होता है कि। एगे अहमंसि=मैं अकेला हूं। न मे अत्थि कोई=कोई मेरा नहीं है। न याहमवि कस्सवि=मैं भी किसी का नहीं हूं। एवं=इस प्रकार। अप्पाणं=आत्मा के। एगागिणमेव=एकत्व को। समभिजाणिज्जा=जानकर। लाघवियं=लघुता को। आगममाणे=प्राप्त करना चाहिए। तवे से अभिसमन्नागए भवइ=इससे तपश्चर्या होती है। जाव समभिजाणिया=यावत् समभाव का सेवन करना चाहिए।

भावार्थ—जिस महामुनि साधक को एक वस्त्र और एक ही पात्र रखने की प्रतिज्ञा हो उसे ऐसी भावना नहीं होती है कि "मैं दूसरा वस्त्र मांगूँ"। ऐसा मुनि वस्त्र की आवश्यकता होने पर भी एषणीय वस्त्र की ही याचना करता है और जैसा वस्त्र मिलता है वैसा ही पहनता है। ग्रीष्मऋतु के आने पर—वस्त्र की आवश्यकता न मालूम हो तो जीर्ण वस्त्र को छोड़ दे अथवा आवश्यकता मालूम हो तो एक वस्त्र का उपयोग करे अथवा सर्वथा छोड़ दे और लाघवता को प्राप्त कर समभाव धारण करे।

जो साधक यह भावना करता है कि "मैं अकेला हूँ, मेरा कोई नहीं है और मैं भी किसी का नहीं हूँ" वह लघुभाव को प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार अपनी आत्मा का एकत्व विचारने से लाघव की प्राप्ति होती है और तप की आराधना भी होती है इसलिए भगवान् ने जो प्ररूपित किया है उसके रहस्य को समझ कर सर्वथा सर्वात्मरूप से (मन, वचन व कर्म से) समभाव रखना चाहिए।

विवेचन—चतुर्थ उद्देशक में तीन वस्त्र रखने वाले साधक का वर्णन किया था। पञ्चम उद्देशक में बाह्य उपाधि को क्रमशः कम करने वाले दो वस्त्र की मर्यादा करने वाले साधक का वर्णन किया। कम से कम उपाधि साधक के लिए अधिक से अधिक शान्ति देने वाली होती है इसलिए इस सूत्र में एक ही वस्त्र रखने वाले साधक का वर्णन किया गया है। जो साधक केवल एक ही वस्त्र रखता है उसे यह भावना ही नहीं होती कि "मैं दूसरे वस्त्र की याचना करूँ"। इससे उसका ममत्व प्रतनु होकर क्षीण हो जाता है और वह अपरिग्रह व्रत की पराकाष्ठा पर पहुँचने के नजदीक होता है।

बाह्य साधनों का स्वीकार जितना अल्प होता है उतनी ही अधिक लाघव की प्राप्ति होती है। कर्मभार से हल्का होने के लिए बाह्य साधनों की अल्पता होनी चाहिए। इसीलिए सूत्रकार फर्माते हैं कि बाह्य साधनों की तुलना से लाघव की प्राप्ति होती है और तपश्चर्या की आराधना भी होती है।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

लघुभाव प्राप्त करने का उपाय भी सूत्रकार ने बताया है। वे फर्माते हैं कि साधक को लाघव प्राप्त करने के लिए इस भावना का चिन्तन करना चाहिए—"मैं अकेला हूँ, मेरा कोई नहीं है, मैं भी किसी का नहीं हूँ"। इस प्रकार आत्मा के एकत्व का चिन्तन करना चाहिए। यह एकत्व-भावना साधक में द्रव्य और भाव—बाह्य और आभ्यन्तर लघुता को विकसित करती है। उपाधि की अल्पता से द्रव्य की लघुता स्पष्ट ही है। भाव लघुता निरभिमानता के रूप में होती है। साधक बाह्य पदार्थों का त्याग कर देता है तदपि उसे यह अभिमान नहीं होता है कि मैं बड़ा त्यागी हूँ। उसका त्याग और तप बिल्कुल स्वाभाविक ही होता है। अगर त्याग के बाद साधक में अभिमान पैदा हो जाता है तो उस साधक का विकास स्तम्भित हो जाता है। राग और द्वेष की तरह अभिमान भी संसार का मूल भाव-कारण है। साधना के मार्ग में अभिमान एक जहरीला कांटा है। यह कांटा अगर अलग लग गया तो साधक की साधना रुक जाती है। ज्यों-ज्यों यह कांटा निकलता जाता है त्यों त्यों सरलता, उदारता और सत्यनिष्ठा जगती है। इसीलिए अभिमान का लय करने के लिए सूत्रकार ने फर्माया है। इस अभिमान का लय एकत्वभावना से होता है। "मैं अन्य हूँ, बाह्य पदार्थ मुझ से पृथक् है, मान, प्रतिष्ठा की इच्छा आदि विकृतभाव आत्मा के स्वभाव के नहीं हैं" आदि विचारों द्वारा अभिमान का लय हो जाता है। अन्तःकरण से निकले हुए विचारों का असर जीवन पर बहुत ही गाढ़ होता है। अतः एकत्वभावना के चिन्तन से साधक का जीवन अधिक और अधिक सुधरता जाता है और वह शीघ्र अपनी साधना में सफलता प्राप्त करता है।

शेष चतुर्थ और पञ्चम उद्देशक के समान समझना चाहिए।

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा असणं वा ४ आहारमाणे नो वामाओ हणुयाओ दाहिणं हणुयं संचरिज्जा आसाएमाणे, दाहिणाओ वामं हणुयं नो संचरिज्जा आसाएमाणे, से अणासाएमाणे लाघवियं आगममाणे तवे से अभिसमन्नागए भवइ, जमेयं भगवया पवेइयं तमेव अभिसमिच्चा सव्वओ सव्वत्ताए सम्मत्तमेव समभिजाणिया।

संस्कृतच्छाया—स भिक्षुः भिक्षुणी वा ऽशनं वा आहारयन्नो वामतो हनुतो दक्षिणी हनुं संचारयेदास्वादयन्, दक्षिणतः वामां हनुं नो संचारयेदास्वादयन्, स अनास्वादयद्, लाघवमागमयन् तपस्तस्याभिसमन्वागतं भवति, यदेतद् भगवता प्रवेदितं तदेवाभिसमेत्य सर्वतः सर्वात्मतया सम्यक्त्वमेव समभिजानीयात्।

शब्दार्थ—से भिक्खु=वह साधु। वा=अथवा। भिक्खुणी वा=साध्वी। असणं वा ४=अशन-पानादि को। आहारमाणे=आहार करते हुए। आसाएमाणे=स्वाद लेते हुए। वामाओ हणुयाओ=बायें जबड़े से। दाहिणं हणुयं=दायें जबड़े की ओर। नो संचारिज्जा=न ले जावे। आसाएमाणे=स्वाद लेते हुए। दाहिणाओ=दायें जबड़े से। वामं हणुयं=बायें जबड़े की ओर। नो संचारिज्जा=न ले जावे। से अणासाएमाणे=स्वाद नहीं लेता हुआ वह साधु-साध्वी। लाघवियं=लघुता को। आगममाणे=प्राप्त करता है—शेष सुगम है (पूर्ववत्)।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

भावार्थ—साधु अथवा साध्वी अशनादिक का आहार करते हुए स्वाद लेने के लिए आहार को बायें गाल (जबड़े) से दाहिने गाल की ओर न ले जावे, इसी तरह दाहिने जबड़े से बायें जबड़े की ओर न ले जावे। इस प्रकार स्वाद नहीं लेने से बहुत-सी पंचायतें कम हो जाती हैं (लाघव प्राप्त होता है) और तप की प्राप्ति होती है। इसलिए भगवान् प्ररूपित तत्त्व के रहस्य को जानकर समभाव से रहना चाहिए।

विवेचन—इस आठवें अध्ययन के द्वितीय उद्देशक में उद्गम, उत्पादन आदि दोषों का निषेध करने से गवेषणैषणा का प्रतिपादन किया। पांचमें उद्देशक में अभ्याहृत आहार का निषेध करके ग्रहणैषणा का वर्णन किया अब शेष रही हुई ग्रासैषणा का वर्णन इस सूत्र में किया है।

ग्रासैषणा की शुद्धि के लिए साधक को निम्न पांच प्रकार के दोषों से बचना चाहिए—(१) संयोजना (२) अप्रमाण (३) इङ्गाल (४) धूम (५) अकारण।

(१) संयोजना—जिह्वा की लोलुपता के कारण आहार को स्वादिष्ट बनाने के लिए दूसरों पदार्थों से मिला कर खाना। जैसे-दूध में शक्कर मिलाना आदि।

(२) अप्रमाण—प्रमाण से अधिक भोजन करना।

(३) इङ्गाल—सरस आहार करते हुए वस्तु की अथवा दाता की तारीफ करते हुए खाना।

(४) धूम—नीरस आहार करते हुए पदार्थ की अथवा दान की निन्दा करते हुए अरुचिपूर्वक आहार करना।

(५) अकारण—क्षुधा वेदनीय आदि छह कारणों में से किसी भी कारण के बिना आहार करना।

उपर्युक्त पांचों दोषों का सम्बन्ध स्वाद से है। पांचों दोषों से रहित आहार करने का विधान करके अस्वाद व्रत की अनिवार्यता प्रकट कर रहे हैं। पहले के उद्देशों में संयमी साधक के जीवन सम्बन्धी बहुत से प्रश्नों का समाधान सूत्रकार कर चुके हैं। उनमें ब्रह्मचर्य पर विशेषतः भार दिया गया है। ब्रह्मचर्य ही साधनामन्दिर का मूल आधार है। ब्रह्मचर्य पालन के साथ अस्वाद व्रत का बहुत निकट सम्बन्ध है। अस्वाद व्रत के पालन के बिना ब्रह्मचर्य की यथावत् पालना करना अति दुष्कर है। जो व्यक्ति स्वाद को जीते बिना वास्तविक ब्रह्मचर्य पालने की इच्छा रखता है वह कदापि सफल नहीं हो सकता। स्वाद ब्रह्मचर्य पर बड़ा घातक प्रभाव डालता है इसलिए सूत्रकार यहाँ स्वाद को जीत कर अस्वाद व्रत का पालन करने का उपदेश देते हैं।

जिह्वेन्द्रिय पर विजय पाने के लिए सूत्रकार ने यहाँ तक फर्मा दिया है कि स्वाद के लिए आहार को मुख में एक तरफ से दूसरी तरफ न ले जाना चाहिए। इतने कठिन नियम का विधान करके सूत्रकार ने यह स्पष्ट किया है कि साधक के लिए स्वादजय एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। स्वाद को जीते बिना साधना अधूरी है। स्वाद के वश में पड़ा हुआ प्राणी कैसे संयम की आराधना कर सकेगा? स्वाद सभी विकारों को उत्तेजना देने वाला है। स्वाद का असंयम संसार के बहुत से प्रपञ्चों का कारण है। जो स्वाद पर विजय प्राप्त कर लेता है उसके बहुत से प्रपञ्च स्वयमेव दूर हो जाते हैं और वह लघुभूत होकर शान्ति का अनुभव करता है।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

साधक केवल संयमी जीवन के लिए आवश्यक होने से आहार ग्रहण करता है। उसके लिए आहार कोई आकर्षक या अनुराग की वस्तु नहीं है। जीवन के लिए आवश्यक होने से ही वह आहार ग्रहण करता है। इसलिए उसके लिए स्वाद का प्रश्न ही नहीं होता। वह तो जिसके द्वारा निर्वाह हो जाय उसी वस्तु को अनासक्त भाव से ग्रहण कर लेता है। वह आहार को एक प्रकार की औषधि समझता है।

जिस प्रकार औषधि लेते समय इस बात का विचार नहीं किया जाता है कि यह (औषधि) स्वादिष्ट है या नहीं ? केवल शरीर को उसकी आवश्यकता होती है तो उसका उचित मात्रा में सेवन किया जाता है। यही बात भोजन के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिए। शरीर को भोजन की आवश्यकता है इसलिए भोजन करना चाहिए। वह भोजन स्वादिष्ट है या नीरस है इससे कोई प्रयोजन नहीं होना चाहिए। जिस प्रकार औषधि कम मात्रा में लेने से असर नहीं करती है या बहुत कम करती है और अधिक मात्रा में लेने से हानि करती है इसी तरह अन्न की भी बात समझनी चाहिए। आहार अत्यल्प हो तो उसके निर्वाह नहीं हो सकता है और यदि स्वादिष्ट होने की लालच से अधिक किया जाय तो वह अनर्थ का कारण होता है। इस पर से यह भी समझना चाहिए कि वस्तु को स्वादिष्ट बनाने के लिए उसमें दूसरे पदार्थ मिलाना भी अनुचित है।

यह भलीभांति समझ लेना चाहिए कि भोजन शरीर के लिए है न कि शरीर भोजन के लिए। आवश्यकता होने पर ही भोजन ग्रहण करना चाहिए। ऐसा न होना चाहिए कि खाने के लिए ही जीवन हो जाय। प्रायः ऐसा देखने में आ रहा है कि अधिकांश लोग खाने के लिए ही जी रहे हैं। उनका व्यवहार यह बताता है कि खाना-पीना ही इनके जीवन का ध्येय है। ये लोग क्षुधा के अभाव में भी खाने की उमङ्ग रखते हैं। इसलिए पदार्थ को स्वादिष्ट बनाने के लिए अनेक दूसरे पदार्थों का सम्मिश्रण करते हैं और इस कृत्रिमता के द्वारा अपनी खाने की लालसा को पूरी करते हैं। अपनी इस लालसा को तृप्त करने के लिए वह विविध प्रयत्न करते हैं। अनेक प्रकार के खर्च करते हैं और खर्च के लिए द्रव्य प्राप्त करने के लिए अनेक प्रपञ्च करते हैं। साथ ही साथ यह भी मानना पड़ेगा कि अधिकांश बीमारियाँ आहार की अनियमितता से होती है। स्वाद के वश में पड़ा हुआ प्राणी यह नहीं सोचता कि यह पदार्थ मेरे स्वास्थ्य के लिए हितकर होगा या हानिकारक ? वह तो अपनी रसना की लोलुपता का ही ध्यान करता है। इसका परिणाम यह होता है कि उसका स्वास्थ्य बिगड़ जाता है और वैद्य, हकीम और डाक्टरों की शरण लेनी पड़ती है। एक वैद्य का कथन है कि जो स्वाद लेता है वह अपनी स्वस्थता खोता है और शरीर को भ्रष्ट करता है।

वस्तुतः अगर मनुष्य यह समझे कि जीने के लिए खाना है तो वह अनेक प्रकार के पदार्थों को अनावश्यक समझ कर स्वयं छोड़ देगा। इस प्रकार वह कई प्रपञ्चों से मुक्त हो जाता है। त्याग उसके लिए सहज हो जाता है और उसके विकार शान्त हो जाते हैं।

पदार्थ जब तक उपयोगिता की दृष्टि से काम में लिये जाते हैं तब तक वे विकार पैदा करने वाले नहीं होते लेकिन जब उपयोगिता का लक्ष्य भुला दिया जाता है और पदार्थों का उपभोग करना लक्ष्य हो जाता है तो वे विकार को उत्पन्न करने वाले होते हैं। इसलिए साधक आहार को जीवननिर्वाह के लिए आवश्यक समझ कर ही उसका उपयोग कर सकता है। वह खाने के लिए आहार नहीं करता लेकिन जीवन के लिए आहार करता है। इसलिए सच्चे साधक के लिए स्वाद का प्रश्न ही नहीं रहता। उसे चाहे जैसा पदार्थ-निर्दोष पदार्थ-मिलता है वह उसे अनासक्तभाव से ग्रहण करता है।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो गया है कि ब्रह्मचर्य व्रत के पालन के लिए स्वाद पर विजय प्राप्त करने की मुख्य आवश्यकता है। ब्रह्मचारी साधक को स्वाद का निग्रह करना ही चाहिए। स्वादनिग्रह की अत्यन्त महत्ता बताने के लिए ही सूत्रकार ने इतना कठिन नियमन किया है कि साधक को स्वाद के निमित्त आहार को मुख की एक तरफ से दूसरी तरफ न ले जाना चाहिए। इस रहस्य को समझ कर स्वाद-जय करना साधक का परम कर्त्तव्य है।

जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ—से गिलामि च खलु अहं इमंमि समए, इमं सरीरगं अणुपुव्वेण परिवहित्तए, से अणुपुव्वेणं आहारं संवट्टिज्जा, अणुपुव्वेण आहारं संवट्टित्ता कसाए पयणुए किच्चा समाहियच्चे फलगावयट्ठी उट्ठाय भिक्खू अभिनिव्वुडच्चे अणुपविसित्ता गामं वा नगरं वा खेडं वा कव्वडं वा मडंबं वा, पट्टणं वा दोणमुहं वा, आगरं वा, आसमं वा सन्निवेसं वा नेगमं वा रायहाणिं वा तणाइं जाइज्जा, तणाइं जाइत्ता से तमायाए एगंतमवक्कमिज्जा, एगंतमवक्कमित्ता अप्पंडे, अप्पपाणे, अप्पबीए, अप्पहरिए, अप्पोसे, अप्पोदए, अप्पुत्तिंगपणगदगमट्टियमक्कडासंताणए पडिलेहिय २ पमज्जिय २ तणाइं संथरिज्जा, तणाइं संथरित्ता इत्थवि समए इत्तरियं कुज्जा।

तं सच्चं सच्चवाई ओए तिन्ने छिन्नकहंकहे अईयट्ठे, अणाईए, चिच्चाण भेउरं कायं संविहूय विरूवरूवे परीसहोवसग्गे अस्सिं विस्संभणयाए भेरवमणुचिन्ने तत्थावि तस्स कालपरियाए जाव आणुगामियं त्ति बेमि।

संस्कृतच्छाया—यस्य भिक्षोरेवं भवति—तद् ग्लायामि च खल्वहमस्मिन्समये, इदं शरीरकमानुपूर्व्या परिवोढुं, स आनुपूर्व्या आहारं संवर्त्तयेत्, आनुपूर्व्याऽऽहारं संवर्त्य कषायान्प्रतनून कृत्वा समाहितार्च्चः फलकावस्थायी (फलकापदर्थी, फलकावकृष्टः) उत्थाय भिक्षुरभिनिर्वृत्तार्च्चः, अनुप्रविश्य ग्रामं वा नकरं वा, खेटं वा, कर्बटं वा, मडम्बं वा, पत्तनं वा, द्रोणमुखं वा आकरं वा, आश्रमं वा, सन्निवेशं वा, नैगमं वा, राजधानीं वा, तृणानि याचेत, तृणानि याचित्वा स तान्यादायैकान्तमपक्रामेत्, एकान्तमपक्रम्य, अल्पाण्डे, अल्पप्राणे, अल्पबीजे, अल्पहरिते, अल्पावश्याये, अल्पोदके, अल्पोत्तिंग-पनकोदकमृत्तिकामर्कटसन्तानके प्रत्युपेक्ष्य २ प्रमृज्य २ तृणानि संस्तरेत्, तृणानि संस्तीर्य, अत्रापि समये इत्वरं कुर्यात्।

तत्सत्यं सत्यवादी, ओजः, तीर्णः, छिन्नकथंकथः, अतीतार्थः अनातीतः त्यक्त्वा भिदुरं कायं संविधूय विरूपरूपान् परीषहोपसर्गान्, अस्मिन् विस्रम्भणतया भैरवमनुचीर्णवान् तत्रापि, तस्य कालपर्यायः यावदानुगामिकमिति ब्रवीमि।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

शब्दार्थ—जस्स णं भिक्खुस्स=जिस साधु को। एवं भवइ=ऐसा मालूम हो कि। अहं खलु=मैं। इमंमि समए=इस समय। इमं=इस। सरीरगं=शरीर को। अणुपुव्वेण=क्रमपूर्वक। परिवहित्तए=धारण करने में, वहन करने में। गिलामि=समर्थ नहीं हूँ। से=वह भिक्षु। अणुपुव्वेणं=क्रमशः। आहारं=आहार को। संवट्टिज्जा=कम करे। आणुपुव्वेण=क्रमशः। आहारं=आहार को। संवट्टित्ता=कम करके। कसाए=कषायों को। पयणुए=पतले। किच्चा=करके। समाहियच्चे=कायव्यापार को नियमित करके। फलगावयट्ठी=लकड़ी के पाटियों के समान सहनशील होकर। भिक्खू=साधु। उट्ठाय=समाधिमरण के लिए तय्यार होकर। अभिनिव्वुडच्चे=शरीर संताप से रहित होकर। गामं वा=ग्राम। नगरं वा=नगर। खेडं वा=मिट्टी की कोट वाला खेड़ा। कब्बडं वा=छोटी कोट वाला कस्बा। मडंबं वा=अढाई गव्यूति के अन्दर दूसरा ग्राम न हो ऐसी वस्ती। पत्तनं वा=पाटण। दोणमुहं वा=बन्दरगाह। आगरं वा=खान। आसमं वा=आश्रम। सन्निवेसं वा=यात्रा स्थानों में। नेगमं वा=व्यापारियों के व्यापारस्थलों में। रायहाणिं वा=राजधानी में। अणुपविसित्ता=प्रवेश करके। तणाइं=तृण की। जाइज्जा=याचना करे। तणाइं=तृण। जाइत्ता=याचकर। से=वह भिक्षु। तमायाए=उन्हें लेकर। एगंतं=एकान्त स्थान में। अवक्कमिज्जा=जावे। एगंतमवक्कमित्ता=एकान्त में जाकर। अप्पंडे=अंडों से रहित। अप्पपाणे=प्राणियों से रहित। अप्पबीए=बीजरहित। अप्पहरिए=हरियालीरहित। अप्पोसे=ओसरहित। अप्पोदए=जलरहित। अप्पुत्तिंग पणग-दग-मट्टियमक्कडासंताणए=कीड़ी के नगरे, फूलन काई, पानी से गीली मिट्टी, मकड़ी के जाले से रहित स्थान को। पडिलेहिय २=देख २ कर। पमज्जिय २=पूंज २ कर। तणाइं संथरिज्जा=तृणों को बिछावे। तणाइं संथरित्ता=तृण बिछाकर। इत्थंपि=वहाँ। समए=उस समय। इत्तरियं=इत्वरिक-इंगितमरण। कुज्जा=करे।

तं सच्चं=इस सत्य रूप मरण को। सच्चवाई=सत्यवादी। ओए=रागद्वेषरहित। तिन्ने=संसार से तीर्णवत्। छिन्नकहंकहे='कैसे होगा' आदि भय-निराशा की कथा को छेदने वाला। अइयट्ठे=वस्तुओं के स्वरूप को जानने वाला। अणईए=संसार के बन्धन में नहीं फँसा हुआ। भेरवं=नश्वर। कायं=शरीर को। चिच्चाण=छोड़कर। विरूवरूवे=अनेक प्रकार के। परीसहोवसग्गे=परीषह उपसर्गों की। संविहूय=अवगणना करके। अस्सिं=इस सर्वज्ञ प्रणीत आगम में। विस्संभणयाए=श्रद्धा होने से। भेरवं=कठिनता से आचरने योग्य इस सत्य का। अणुचिन्ने=आचरण करता है। तत्थावि=ऐसा मरण भी। तस्स=उसकी। कालपरियाए=कालपर्यायवत्। जाव=यावत्। आणुगामियं=यह अन्य जन्मों में भी पुण्यप्रद है। त्ति बेमि=ऐसा मैं कहता हूँ।

भावार्थ—जब मुनि को यह अध्यवसाय हो कि 'अब मैं इस शरीर को क्रमशः धारण करने में अशक्त हो रहा हूँ' तो उसे अनुक्रम से आहार का संक्षेप करना चाहिए और ऐसा करके कषायों को पतले करने चाहिए

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

और शरीर-जन्य व्यापारों को नियमित करके, लकडी के पाटिये के समान सहनशील होकर रोगादि आने पर मरण के लिए तय्यार होकर, शरीर-संताप से रहित होकर इंगितमरण से मरना चाहिए। ग्राम, नगर खेड़ा, कर्वट, मडम्ब, पाटण, बन्दरगाह, खान, आश्रम, सन्निवेश, निगम अथवा राजधानी में प्रवेश करके तृणों की याचना करनी चाहिए। तृण लेकर एकान्त स्थान में जाना चाहिए। वहाँ अण्डे, प्राणी, बीज, हरियाली, ओस, पानी, कीडियों के नगरे, लीलन-फूलन, थोडी देर की पानी से गिली मिट्टी, मकड़ियों के जाले आदि से रहित स्थान की प्रतिलेखना और प्रमार्जन करके तृण की शय्या बिछानी चाहिए और उस पर इंगितमरण से मरना चाहिए।

सत्यवादी, पराक्रमी, रागद्वेष से रहित, संसार से तिरा हुआ सा, "कैसे करूँगा" इस प्रकार के डर और निराशा से रहित, अच्छी तरह वस्तु के स्वरूप को जानने वाला और संसार के बन्धनों में नहीं बँधा हुआ मुनि सर्वज्ञ के आगमों में विश्वास होने के कारण, भयंकर परीषहों और उपसर्गों की अवगणना करके और इस नश्वर शरीर को छोड़कर कायरों द्वारा दुरनुचरणीय सत्य का आचरण करता है। इस प्रकार का इंगित मरण काल पर्याय के समान (स्वाभाविक) है। यह हितकारी, सुखकारी है यावत् भवान्तर में भी इसकी पुण्य-परम्परा साथ आने वाली है। ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—पूर्ववर्ती सूत्रों में त्याग, तप और सद्विचार का वर्णन किया गया है। संयम, तप एवं सद्विचार रूप त्रिपुटी के साहचर्य से साधक को आत्म-तत्त्व की ऐसी तीव्र अनुभूति होने लगती है कि उसका देहाभिमान सर्वथा लय हो जाता है। शरीर पर न उसे मोह होता है और न आसक्ति। वह देह को एक साधनमात्र समझता है। इससे जब तक साध्य सिद्ध करने में सहायता मिलती है तब तक वह इसका यथोचित निर्वाह करता है। उसे शरीर पर न मोह है और न घृणा। इसलिए वह रोगादि के आने पर भी—यहाँ तक कि मृत्यु के आने पर भी अधीर और दुखी नहीं होता और न शरीर के प्रति घृणा ही होती है जो किना कारण ही उसका अन्त करना चाहे। साधक के लिए शरीर एक सहज साधन है। इस साधन का वह जितना सदुपयोग कर सकता है उतना वह करता है लेकिन जब उसे यह मालूम हो जाता है कि "मेरा शरीर अब इतना क्षीण हो गया है कि अब इसका क्रमशः निर्वाह करने में मैं असमर्थ हूँ; अब यह शरीर संयमसाधना की क्रियाएँ करने में उपयोगी नहीं है अर्थात् अब जीवन का किनारा आ चुका है" तो उसे मृत्यु का आलिङ्गन करने के लिए तय्यार हो जाना चाहिए और अन्तकाल की शुद्धि के लिए द्रव्य से आहारादि पर और भाव से कषायादि शत्रुओं पर विजय प्राप्त करके अन्त में शरीरजन्य व्यापार भी बन्द कर देने चाहिए और समाधिस्थ होकर काष्ठ खण्ड के समान सहज सहिष्णुता और समता द्वारा शरीर की ममता त्याग देनी चाहिए। ऐसा करने से रोगादि के आने पर भी साधक समाधि-मरण द्वारा धैर्य को प्राप्त करके, देह-संताप से दूर रहकर सुखद मरण से मर सकता है। यह मरण इङ्गित-इत्वर मरण कहा जाता है।

यहाँ इङ्गित अथवा इत्वर का अर्थ "अमुककाल की मर्यादा वाला" नहीं है। यहाँ इङ्गित का प्रयोग पादपोपगमन की अपेक्षा से समझना चाहिए। अगर इङ्गित का अर्थ सागार प्रत्याख्यान से समझा जाय तो युक्त नहीं होता है। क्योंकि सागार प्रत्याख्यान तो श्रावक करता है कि यदि मैं इतने दिन में

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

इस रोग से मुक्त हो जाऊँ तो इसका सेवन करूँगा अन्यथा नहीं"। जब श्रावक भी ऐसा प्रत्याख्यान करता है तो जिनकल्पी उच्च साधक ऐसा प्रत्याख्यान कैसे कर सकता है? वह तो उच्चकोटि का करेगा; इसलिए यहाँ पादपोपगमन की अपेक्षा इत्वर समझना चाहिए। पादपोपगमन में इधर-उधर चलना-फिरना भी निषिद्ध है परन्तु इत्वर मरण में मर्यादित किए हुए क्षेत्र में हलन-चलन, चलना-फिरना किया जा सकता है इसलिए पादपोपगमन की अपेक्षा यह इत्वर कहा गया है। कहा भी है:—

पच्चक्खइ आहारं चउव्विहं नियमओ गुरुसमीवे।
इंगियदेसंमि तहा चिट्ठपि नियमओ कुणइ॥
उव्वत्तइ परिअत्तइ काइगमाई वि अप्पणा कुणइ।
सव्वमिह अप्पणच्चिअ ण अन्नजोगेण धितिबलिओ॥

अर्थात्—गुरु के समीप नियमपूर्वक चारों प्रकार के आहार का त्याग करता है और मर्यादित स्थान में चेष्टा भी नियमित करता है। करवट बदलना अथवा उठना या शारीरिक हाजत (पेशाब आदि) भी स्वयं करता है। धैर्य, बलयुक्त मुनि सर्व कार्य अपने आप करे, दूसरों की सहायता न ले। यह इङ्गित-मरण का रूप है।

इत्वरमरण की विधि इस प्रकार है—ग्राम, नगर, खेड़ा, कर्वट, मडम्ब, पाटण, बन्दरगाह, खान, आश्रम, सन्निवेश, निगम अथवा राजधानी में प्रवेश करके तृणों की याचना करनी चाहिए और एकान्त स्थान का—जहाँ कोई प्राणी न हो—अच्छी तरह प्रतिलेखन और प्रमार्जन करके तृण का संस्तारक (शय्या) बिछाकर इङ्गितमरण करना चाहिए।

सामान्य लोगों की वस्ती को ग्राम कहते हैं। जहाँ कर न हो उसे नगर कहते हैं। मिट्टी का बना हुआ प्राकार (कोट-चाहार दिवारी) हो वह खेड़ा। जहाँ छोटा प्राकार हो वह कर्वट। जिसके ढाइ कोस (गव्यूति) के अन्तर पर दूसरा कोई ग्राम न हो वह मडम्ब। पत्तन दो प्रकार के होते हैं—जलपत्तन और स्थलपत्तन। काननद्वीप आदि जलपत्तन है और मथुरा आदि स्थलपत्तन हैं। द्रोणमुख बन्दरगाह को कहते हैं—जहाँ जल और स्थल दोनों प्रकार के प्रवेश और निर्गम के मार्ग हों; सोना-चांदी आदि की खान को आकर कहते हैं। तापस के रहने के स्थान को आश्रम कहते हैं। यात्रानिमित्त आये हुए मनुष्यों के डेरे—पड़ाव को सन्निवेश कहते हैं। जहाँ अधिक व्यापारियों की वस्ती हो उसे निगम (मंडी) कहते हैं। जहाँ राजा निवास करता हो उसे राजधानी कहते हैं।

सूत्रकार इङ्गित मरण का विधान करते हैं। इससे यह न समझ लेना चाहिए कि वे परोक्ष रूप में अपघात करने का कहते हैं। शरीर की उपयोगिता पूर्ण होने पर मृत्यु से भेंट करना अपघात नहीं कहा जाता है। अपघात करने वाला तो अपने देह का दुरुपयोग करता है जब कि समाधिमरण से मरने वाला शरीर से संयम की साधना का पूरा कार्य लेकर उसकी निरर्थकता होने पर उसका त्याग करता है। पदार्थ का दुरुपयोग करना भयंकर अपराध है इसलिए अपघात को नरक का कारण कहा है।

इङ्गित मरण के लिए सूत्रकार आहार के त्याग के साथ कषायों के त्याग पर भार देते हैं इससे यह फलित होता है कि साधक का यह मरण शान्ति और समाधिपूर्वक तथा स्वेच्छा से होना चाहिए। बहुत बार प्रायः साधक प्रतिष्ठा के लिए ऐसा करते हैं परन्तु ऐसा करने से उन्हें शान्ति नहीं मिलती लेकिन

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

अशान्ति उत्पन्न हो जाती है। इस मरण का आशय तो यह है कि अन्तिम समय में आत्मा पूर्ण समाधि में रहे और निजस्वरूप में मग्न रहे।

हर एक व्यक्ति इस अनशन (इङ्गितमरण) के योग्य नहीं होता है। जो व्यक्ति सत्यवादी, पराक्रमी, अधीरतारहित और निडर होते हैं वे ही इसका आश्रय लेने के पात्र हो सकते हैं। कायर, अधीर, झूठे और डरपोक व्यक्ति यदि अनशन का सहारा लें तो यह उनका श्रेय नहीं कर सकता क्योंकि ऐसे व्यक्ति इसका यथोचित रूप से अनुष्ठान नहीं कर सकते हैं। यह वीरों का ही अनुष्ठान है। अनेक वीर पुरुषों ने इसका अनुष्ठान किया है। यह हितकारी, सुखकारी, कर्मों का अन्त करने वाला, मोक्ष की सिद्धि करने वाला और दीर्घकाल तक सुख की परम्परा को देने वाला है।

—उपसंहार—

(१) एकत्वभावना जीवन की अनमोल निधि लघुता को जन्म देती है। (२) स्वादजय साधना का मुख्य अंग है। अपघात करना शरीर का दुरुपयोग है। उपयोगपूर्वक मृत्यु का आलिंगन करना हितकारी है।

इति षष्ठ उद्देशकः

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

विमोक्ष नाम अष्टम अध्ययन

—सप्तम उद्देशकः—

गत उद्देशक में एकत्व-भावना का निरूपण करके उपधि की लघुता से होने वाली समाधि का वर्णन किया गया है। उपधि की लघुता से निरासक्ति का अभ्यास होता है और यह अभ्यास बढ़ते बढ़ते इस अवस्था पर पहुँच जाता है कि साधक अपने शरीर के प्रति भी ममत्वरहित हो जाता है। अतः वह जब तक देह संयमयात्रा में सहायभूत है तब तक अनासक्त भाव से उसका पालन करता है और जब शरीर इस योग्य नहीं रहता तब वह इङ्गित मरण के द्वारा मृत्यु का हँसते-हँसते स्वागत करता है। उसे देह का ममत्व नहीं होता अतः मृत्यु से उसे किसी तरह का भय नहीं लगता। यह षष्ठ उद्देशक में प्रतिपादित किया गया है। अब इस उद्देशक में इससे आगे की उच्च श्रेणी का प्रतिपादन करते हुए विशिष्ट प्रतिमाओं का और पादपोपगमन मरण का निरूपण किया जाता है। प्रारम्भ में विशिष्ट प्रतिमाओं का उल्लेख करते हुए सूत्रकार फरमाते हैं:—

जे भिक्खू अचेले परिवुसिए तस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ—चाएमि अहं तणफासं अहियासित्तए, सीयफासं अहियासित्तए, तेउफासं अहियासित्तए, दंसमसगफासं अहियासित्तए, एगयरे अन्नयरे विरूवरूवे फासे अहियासित्तए हिरिपडिच्छायणं चऽहं नो संचाएमि अहियासित्तए, एवं से कप्पइ कडिबंधणं धारित्तए। अदुवा तत्थ परक्कमंतं भुज्जो अचेलं तणफासा फुसन्ति, सीयफासा फुसन्ति, तेउफासा फुसन्ति, दंसमसगफासा फुसन्ति, एगयरे अन्नयरे विरूवरूवे फासे अहियासेइ, अचेले लाघवियं आगममाणे जाव समभिजाणिया।

संस्कृतच्छाया—यो भिक्षुरचेलः पर्युषितस्तस्य भिक्षोरेवं भवति—शक्नोम्यहं तृणस्पर्शमध्यासयितुम्, शीतस्पर्शमध्यासयितुम्, तेजःस्पर्शमध्यासयितुम्, दंशमशकस्पर्शमध्यासयितुमेकतरान्यतरान् विरूपरूपान् स्पर्शानध्यासयितुम्, ह्रीप्रच्छादनं चाहं न शक्नोम्यध्यासयितुम्, एवं तस्य कल्पते कटिबन्धनं धारयितुम्। अथवा तत्र पराक्रममाणम् भूयोऽचेलं तृणस्पर्शाः स्पृशन्ति, शीतस्पर्शाः स्पृशन्ति, तेजःस्पर्शाः स्पृशन्ति, दंशमशकस्पर्शाः स्पृशन्ति, एकतरानन्यतरान् विरूपरूपान् स्पर्शानधिसहतेऽचेलो लाघवमागमयन् यावत् समभिजानीयात्।

शब्दार्थ—जे भिक्खू=जो साधु। अचेले=वस्त्ररहित। परिवुसिए=रहा हुआ है। तस्स णं भिक्खुस्स=उस साधु का। एवं भवइ=ऐसा अभिप्राय होता है। अहं=मैं। तणफासं=तृणस्पर्श

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

को। अहियासित्तए=सहन करने में। चाएमि=समर्थ हूं। सीयफासं=शीत के दुख को। अहियासित्तए=सहन कर सकता हूं। तेउफासं अहि०=उष्णता के दुख को सहन कर सकता हूं। दंसमसगफासं अहि०=डाँस-मच्छर के दुख को सहन कर सकता हूँ। एकयरे=कोई एक अनुकूल। अन्नतरे=दूसरी तरह के प्रतिकूल। विरूवरूवे=नाना तरह के। फासे अहि०=दुखों को सहन कर सकता हूं। हिरिपडिच्छायणं=लज्जा ढँकने के वस्त्र को छोड़ने के दुख को। अहियासित्तए=सहन करने में। नो संचाएमि=समर्थ नहीं हूं। एवं=इस कारण से। से=उसको। कडिबंधणं=चोलपट्टक। धारित्तए=धारण करना। कप्पइ=कल्पता है। अदुवा=अथवा। तत्थ=संयम में। अचेलं=वस्त्ररहित। परक्कमंतं=पराक्रम करने वाले भिक्षु को। भुज्जो=पुनः। तणफासा फुसन्ति=तृणस्पर्श के दुख सताते हैं। सीयफासा फुसन्ति=शीत के दुख आते हैं। तेउफासा फुसन्ति=उष्णता के दुख आते हैं। दंसमसगफासा फुसन्ति=डाँस-मच्छर सताते हैं। एगयरे=कोई एक—अनुकूल। अन्नयरे=अन्य किसी तरह के प्रतिकूल। विरूवरूवे फासे=नाना प्रकार के दुखों को। अहियासेइ=सहन करता है। अचेले=वस्त्ररहित भिक्षु। लाघविये=लाघव-हल्कापन। आगममाणे=जानता हुआ। जाव=यावत्। समभिजाणिया=समभाव रक्खे।

भावार्थ—जो साधु वस्त्ररहित होकर संयम के मार्ग में व्यवस्थित है उसे ऐसा विचार होता है कि मैं तृणजनित वेदना को सहन कर सकता हूँ, शीत की वेदना सहन कर सकता हूँ, उष्णता की वेदना सहन कर सकता हूँ, डांस-मच्छर की वेदना सहन कर सकता हूँ और एक या अनेक अनुकूल प्रतिकूल दुखों को सहन कर सकता हूँ परन्तु लज्जा के कारण गुह्यप्रदेश के आच्छादन का त्याग करने में असमर्थ हूँ, ऐसे साधु को कटिवस्त्र (चोलपट्टक) धारण करना कल्पता है। (यदि उक्त कारण न हो तो वस्त्ररहित होकर विचरण करे। अथवा वस्त्ररहित होकर विचरण करने वाले साधु को पुनः तृणस्पर्श परीषह पीडित करता है, शीत परीषह त्रास देता है, उष्ण परीषह संताप देता है, डांस-मच्छर पीड़ा पहुँचाते हैं और एक या अनेक अनुकूल-प्रतिकूल परीषह आते हैं उन्हें वह भलीभांति सहन करता है। वह अचेल साधक उपकरण और कर्मभार से हलका हो जाता है। उसे तप का लाभ होता है। इस प्रकार भगवान् के कथन को जानकर सर्वात्मना—सर्व प्रकार से समभाव का सेवन करना चाहिए।

विवेचन—पूर्ववर्त्ती उद्देशकों में तीन वस्त्र रखने वाले, दो वस्त्र रखने वाले और एक वस्त्र रखने साधकों का वर्णन किया गया है। क्रमशः उपकरणों की लाघवता को सूचित करते हुए सूत्रकार इस सूत्र में सर्वथा निर्वस्त्र रहने वाले साधक का वर्णन करते हैं।

सब साधक एक कोटि के नहीं हो सकते। उनमें धृति, संहनन, मनोबल आदि की तरतमता होती है। इस तरतमता के कारण साधकों की कई कोटियाँ हो जाती हैं। विशिष्ट कोटि के साधक अपनी धृति और शक्ति के अनुकूल विविध प्रकार की प्रतिमाएँ (प्रतिज्ञाएँ) अंगीकार करते हैं। ये विविध प्रतिज्ञाएँ साधक

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

को साधना के मार्ग में विशेष दृढ़ बनाती हैं। विशिष्ट दृढ़ता सम्पादन करने के आशय से ही प्रतिमाएँ धारण की जाती हैं। जिस साधक ने किसी विशिष्ट सीमा तक तन, मन और वचन पर काबू पाया होता है वही अभिग्रह और प्रतिमाएँ धारण कर सकता है।

जो साधक वस्त्र आदि बाह्य उपकरणों को उत्तरोत्तर कम करता हुआ इस कोटि पर पहुँच गया है कि वह बिना वस्त्र के ही निर्वाह कर सकता है तो वह सर्वथा निर्वस्त्र रहने की प्रतिमा अंगीकार करता है। निर्वस्त्र रहते हुए तृण-स्पर्श, शीतस्पर्श और उष्णस्पर्श का कष्ट सहना होता है, डाँस मच्छरों का उपद्रव सहना होता है और अन्य नाना प्रकार के अनुकूल-प्रतिकूल परीषहों को सहना होता है। इन सब से अधिक महत्त्वपूर्ण बात लज्जा-परीषह को जीतने की है। लज्जा को जीत लेना बहुत कठिन है। शारीरिक कष्टों और वेदनाओं को सहन करने में जिस सामर्थ्य की आवश्यकता होती है उससे लज्जा-परीषह को जीतने में कहीं अधिक सामर्थ्य की आवश्यकता होती है। जो साधक लज्जालु स्वभाव वाला है अतः वह गुह्य-प्रदेश के आच्छादन का त्याग करने में समर्थ नहीं है तो उसे कटि-बन्ध धारण करना कल्पता है। ऐसा साधक यह सोचता है कि मैं तृण वगैरह का तीक्ष्ण स्पर्श सहन कर सकता हूँ, शीत की वेदना सह सकता हूँ, कठोर उष्णता बर्दाश्त कर सकता हूँ, डाँसमच्छरों के डँसने की मुझे परवाह नहीं और भी निर्वस्त्रता से होने वाले विविध दुखों को सहन करने की शक्ति मुझ में है परन्तु मैं लज्जा ढाँकने के वस्त्र का परित्याग नहीं कर सकता। ऐसे साधक के लिए सूत्रकार यह विधान करते हैं कि उसे कटि-बन्ध (चोल-पट्टक) धारण करना कल्पता है। टीकाकार कटि-बन्ध का परिमाण बताते हैं कि वह एक हाथ चार अङ्गुल विस्तार वाला और दीर्घता में कमर के प्रमाण का होना चाहिए। गणना प्रमाण से ऐसा एकवस्त्र रखना उसे कल्पता है।

यदि वह साधक लज्जा परीषह को जीतने का सामर्थ्य रखता है तो उसे सर्वथा निर्वस्त्र होकर संयम की साधना करनी चाहिए। इस साधना में होने वाले तृणजन्य दुख, शीत और उष्णजन्य वेदनाएँ, डाँस-मच्छर का काटना, अन्य एक तरह या दूसरी तरह के परीषह और उपसर्गों को वह समभावपूर्वक सहन करे। ऐसा करने से वह कर्म-भार से हल्का हो जाता है और द्रव्य-उपधि से भी हल्का हो जाता है। यह महान तपश्चर्या है। इसकी सम्यक् प्रकार से आराधना करनी चाहिए। भगवान् के कथन के रहस्य को भलीभांति हृदयगम करके समभावपूर्वक साधना की सिद्धि करनी चाहिए।

यहाँ यह विशेषरूप से ध्यान देने योग्य बात है कि वह निर्वस्त्र रहने वाला साधक अपने आपको बहुत ऊँचा मानकर अन्य वस्त्रधारी साधकों की हीलना न करे। वस्तुतः वस्त्रों के त्यागने या न त्यागने से लक्ष्य की सिद्धि नहीं होती परन्तु आत्मिक गुणों के विकास से ही आत्मा को ध्येय की प्राप्ति होती है। इसलिए वस्त्रधारण करने वाले और निर्वस्त्र रहने वाले साधकों में समभाव रखना चाहिए। निर्वस्त्र साधक को अपने आपको ऊँचा और वस्त्रधारी को हीन मानने की भूल नहीं करनी चाहिए। इसलिए सूत्रकार ने "सम्मत्तमेव समभिजाणिया" कह कर समभाव रखने का विशेषतया निरूपण किया है। भगवान् के कथन को जानकर सब प्रकार से अपने आचार का पालन करना चाहिए।

अब विशिष्ट अभिग्रहों का निरूपण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ—अहं च खलु अन्नेसिं भिक्खूणं असणं वा ४ आहट्टु दलइस्सामि आहडं च साइज्जिस्सामि १ । जस्स णं भिक्खुस्स

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

एवं भवइ—अहं च खलु अन्नेसिं भिक्खूणं असणं वा ४ आहट्टु दलइस्सामि आहडं च नो साइस्सामि २। जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ—अहं च खलु असणं वा ४ आहट्टु नो दलइस्सामि आहडं च साइज्जिस्सामि ३। जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ—अहं च खलु अन्नेसिं भिक्खूणं असणं वा ४ आहट्टु नो दलइस्सामि आहडं च नो साइज्जिस्सामि ४। अहं च खलु तेण अहाइरित्तेण अहेसणिज्जेण अहापरिग्गहिएण असणेण वा ४ अभिकंख साहम्मियस्स कुज्जा वेयावडियं करणाए, अहं वावि तेण अहाइरित्तेण अहेसणिज्जेण अहापरिग्गहिएण असणेण वा पाणेण वा ४ अभिकंख साहम्मिएहिं कीरमाणं वेयावडियं साइज्जिस्सामि लाघवियं आगममाणे जाव सम्मत्तमेव समभिजाणिया।

संस्कृतच्छाया—यस्य भिक्षोरेवं भवति—अहं च खल्वन्येभ्यो भिक्षुभ्योऽशनं वा ४ आहृत्य दास्याम्याहृतं च स्वादयिष्यामि १। यस्य भिक्षोरेवं भवति—अहं च खल्वन्येभ्यो भिक्षुभ्योऽशनं वा ४ आहृत्य दास्यामि, आहृतं च नो स्वादयिष्यामि २। यस्य भिक्षोरेवं भवति—अहं च खल्वशनं वा ४ आहृत्य नो दास्यामि, आहृतं च स्वादयिष्यामि ३। यस्य भिक्षोरेवं भवति—अहं च खल्वन्येभ्यो भिक्षुभ्योऽशनं वा ४ आहृत्य नो दास्यामि, आहृतं च नो स्वादयिष्यामि ४। अहं च खलु तेन यथातिरिक्तेन यथैषणीयेन यथापरिगृहीतेनाशनेन वा ४ अभिकाङ्क्ष्य साधर्मिकस्य कुर्याम् वैयावृत्यं करणाय, अहं चापि तेन यथातिरिक्तेन यथैषणीयेन यथापरिगृहीतेनाशनेन वा पानकेन वा अभिकाङ्क्ष्य साधर्मिकैः क्रियमाणं वैयावृत्त्यं स्वादयिष्यामि लाघविकमागमयन् यावत् सम्यक्त्वमेव समभिजानीयात्।

शब्दार्थ—जस्स णं भिक्खुस्स=जिस मुनि को। एवं भवइ=ऐसा संकल्प होता है कि। अहं च खलु=मैं। अन्नेसिं भिक्खूणं=दूसरे मुनियों को। असणं वा=आहार आदि। आहट्टु=लाकर। दलइस्सामि=दूंगा। आहडं च=और उनके द्वारा लाया हुआ। साइज्जिस्सामि=उपयोग में लूँगा। इस तरह चारों भंगों के शब्दार्थ समझ लेने चाहिए। अहं च खलु=मैं। तेण=उस। अहाइरित्तेण=बचे हुए। अहेसणिज्जेण=निर्दोष। अहापरिग्गहिएण=जिस तरह स्वीकृत किया है वैसे। असणेण वा=आहारादि से। अभिकंख=निर्जरा की कामना से। साहम्मियस्स=साधर्मिक की। करणाए=उपकार करने के लिए। वेयावडियं कुज्जा=वैयावृत्य करूँगा। अहं वावि=मैं भी। तेण अहाइरित्तेण=उस बचे हुए आहारादि से इत्यादि पूर्ववत्। साहम्मिएहिं=साधर्मियों के द्वारा। कीरमाणं=किये जाने वाले। वेयावडियं=वैयावृत्य को। साइज्जिस्सामि=स्वीकार करूँगा। शेष पूर्ववत्।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

भावार्थ—कोई मुनि इस प्रकार अभिग्रह धारण करता है कि मैं भोजन-पानी आदि की गवेषणा करके अन्य मुनियों को दूँगा और उनका लाया हुआ मैं उपयोग में लूँगा १। कोई मुनि ऐसा अभिग्रह करता है कि मैं भोजन-पानी लाकर अन्य मुनियों को दूँगा परन्तु उनका लाया हुआ काम में न लूँगा २। कोई मुनि ऐसा विचार करता है कि मैं भोजन-पानी की गवेषणा करके अन्य मुनियों को न दूँगा किन्तु दूसरे मुनियों का लाया हुआ उपयोग में लूँगा ३। किसी मुनि को ऐसा अभिग्रह होता है कि भोजनादि की गवेषणा करके मैं किसी दूसरे मुनि को नहीं दूँगा और मैं भी दूसरे के लाये हुए आहारादि का उपयोग नहीं करूँगा ४। कोई मुनि इस प्रकार का अभिग्रह धारण करता है कि मैं अपने उपभोग के पश्चात् शेष रहे हुए, विधिपूर्वक ग्रहण किये हुए और अपने लिए स्वीकृत किए हुए आहारादि से निर्जरा की अभिलाषा से समान समाचारी वाले मुनि का वैयावृत्य करूँगा और मैं भी उनके बचे हुए, विधि से लाए हुए और यथापरिगृहीत आहार-पानी को उनके द्वारा निर्जरा की इच्छा से वैयावृत्य के हेतु दिये जाने पर ग्रहण करूँगा। इस प्रकार के अभिग्रह धारण करने वाले मुनि में निरभिमानता आती है अथवा वह कर्म-भार से हल्का हो जाता है। उसे तपस्या का लाभ होता है। अतः सम्पूर्ण आचार को जानकर उसका पूर्णरूप से पालन करे।

विवेचन—इस सूत्र में विभिन्न २ प्रतिज्ञाओं का रूप बताया गया है। कोई साधक ऐसी प्रतिज्ञा करता है कि मैं दूसरों की सेवा भी करूँगा और दूसरों के द्वारा की जाने वाली सेवा को भी स्वीकार करूँगा। कोई साधक ऐसी प्रतिज्ञा करता है कि मैं दूसरों की सेवा करूँगा परन्तु दूसरों की सेवा स्वीकार नहीं करूँगा। कोई साधक यह प्रतिज्ञा करता है कि मैं दूसरों की सेवा नहीं करूँगा किन्तु उनकी सेवा को स्वीकार करूँगा और कोई साधक ऐसी भी प्रतिज्ञा करता है कि मैं न तो दूसरों की सेवा ही करूँगा और न दूसरों की सेवा ही स्वीकार करूँगा। यह चतुर्भङ्गी सूत्र में दिखाई गई है। प्रतिमाधारी साधक उक्त चार भङ्गों में से किसी भी तरह की प्रतिज्ञा ग्रहण करता है।

उक्त प्रतिज्ञाओं के स्वरूप को देखने से यह प्रतीत होता है कि सेवा और स्वालम्बन मुनि-धर्म के प्रबल पोषक गुण हैं। जो मुनि दूसरे मुनियों की सेवा के लिए अपना तन-मन अर्पण कर देते हैं वे भी साधना के मार्ग में सफल होते हैं और जो मुनि दूसरों की अपेक्षा न रखते हुए अपने आप पर अवलम्बित होते हैं वे भी साधना में सफलता प्राप्त करते हैं। उक्त प्रतिज्ञाओं के सम्बन्ध में पहले पर्याप्त विवेचन किया जा चुका है। अतः पुनः पिष्टपेषण नहीं किया जाता।

उक्त चतुर्भङ्गी के आदि के तीन भंगों में से कोई साधक एक पद से ही अभिग्रह ग्रहण करता है। वह इस प्रकार है:—कोई साधक यह प्रतिज्ञा करता है कि प्रतिमाधारियों के आचार-कल्प के अनुसार एषणीय, अपने लिए स्वीकार किये हुए और स्वयं के परिभोग के पश्चात् बचे हुए आहारादि से अपने सहधर्मी अन्य प्रतिमाधारियों की सेवा करूँगा। कोई साधक यह अभिग्रह करता है कि अन्य मुनि इस तरह आहारादि से मेरी सेवा करना चाहेंगे तो मैं उसे स्वीकार करूँगा। अथवा अन्य साधर्मिक अन्य किसी साधर्मिक की सेवा करेगा तो मैं मन, वचन और काया से उसका अनुमोदन करूँगा।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

यहाँ एक शंका हो सकती है कि प्रतिमा-प्रतिपन्न मुनि एक साथ भोजन नहीं करते हैं तो वे साम्भोगिक कैसे कहे जा सकते हैं? इसका समाधान यह है कि यद्यपि वे एक साथ बैठकर आहारादि नहीं करते हैं तदपि समान अभिग्रह का अनुष्ठान करने से वे साम्भोगिक कहे जाते हैं। ऐसे साम्भोगिक मुनियों की सेवा करना और उनकी सेवा का स्वीकार करना प्रतिमाधारियों का आचार है।

जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ—से गिलामि खलु अहं इमंमि समए, इमं सरीरगं अणुपुव्वेण परिवहित्तए, से अणुपुव्वेणं आहारं संवट्टिज्जा, आहारं संवट्टित्ता कसाए पयणुए किच्चा समाहियच्चे फलगावयट्ठी उट्ठाय भिक्खू अभिनिव्वुडच्चे अणुपविसित्ता गामं वा नगरं वा जाव रायहाणिं वा तणाइं जाइज्जा, जाव संथरिज्जा, इत्थवि समए कायं च जोगं च ईरियं च पच्चक्खाइज्जा, तं सच्चं सच्चावाई ओए तिन्ने छिन्नकहंकहे आइयट्ठे अणाईए, चिच्चाणं भेउरं कायं संविहूणिय विरूवरूवे परीसहोवसग्गे अस्सिं विस्संभणयाए भेरवमणुचिन्ने तत्थावि तस्स कालपरियाए, से वि तत्थ विअन्तिकारए, इच्चेयं विमोहाययणं हियं सुहं खमं निस्सेसं आणुगामियं त्ति बेमि।

संस्कृतच्छाया—यस्य भिक्षोरेवं भवति तद ग्लायामि खल्वहमित्यादि पूर्वोद्देशकवत् यावत्तृणानि संस्तरेत् अत्रापि समये कायं च योगं च ईर्यां च प्रत्याचक्षीत, तच्च सत्यं सत्यवादीत्याद्यनन्तरोद्देशकवन्नेयम्।

शब्दार्थ—षष्ठ उद्देशक के अनुसार समझ लेने चाहिए। विशेष शब्दों का अर्थ इस प्रकार है—इत्थवि समये=वहाँ समय आने पर। कायं=शरीर को। योगं=शरीर के आकुंचन-प्रसारण प्रवृत्ति को। ईरियं=सूक्ष्म हलन-चलन को। पच्चक्खाइज्जा=छोड़ दे। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—जब मुनि को यह मालूम हो जाय कि मैं इस शरीर को यथाक्रम धारण करने में असमर्थ हो रहा हूँ तब उसे अनुक्रम से आहार को कम कर देना चाहिए और आहार का त्याग करके कषायों को कृश कर देना चाहिए। शरीर के व्यापारों को नियमित करके, लकड़ी के पाटिये के समान सहनशील होकर, मरने के लिए तय्यार होकर शरीर की शुश्रूषा को छोड़कर ग्राम, नगर यावत् राजधानी में तृण की याचना करे यावत् तृण-शय्या बिछावे और योग्य समय में उस पर आरूढ़ होकर शरीर का, शरीर के व्यापार का और सूक्ष्म हलन-चलन का भी त्याग कर दे। सत्यवादी, पराक्रमी, रागद्वेषरहित संसार से तिरा हुआ-सा, डर और निराशा से रहित, वस्तु के स्वरूप को जानने वाला और संसार के बन्धनों में नहीं बँधा हुआ मुनि सर्वज्ञ के आगमों में विश्वास रखने के कारण भयंकर परीषह और उप-

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

सर्गों की अवगणना करके, नश्वर शरीर को छोड़कर, कायरों के द्वारा दुरनुचरणीय सत्य का आचरण करता है। यह पादपोपगमन मरण काल-पर्याय के समान स्वाभाविक है। यह हितकारी है, सुखकारी है, यावत् भवान्तर में भी इसकी पुण्य-परम्परा साथ आने वाली है, ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—पूर्व उद्देशक में भक्तपरिज्ञा और इङ्गितमरण का कथन किया गया है। यहाँ उससे उच्च श्रेणी के मरण का निरूपण करते हैं। इङ्गितमरण से उच्च श्रेणी का मरण पादपोपगमन-मरण है। इसका ही इस सूत्र में कथन किया गया है।

जब साधक को यह भलीभाँति ज्ञात हो जाय कि अब मेरा शरीर धर्म-क्रिया में सहायक नहीं हो रहा है तो उसे शरीर के बन्धन से मुक्त होने का प्रयत्न करना चाहिए। साधक का देह-पालन धर्म-क्रिया के लिए ही होता है। जब शरीर से यह आशय पूरा न होता दिखाई दे तो उससे अपना सम्बन्ध-विच्छेद करना ही वह हितकर समझता है। साधक को शरीर के प्रति मोह या आसक्ति नहीं होती अतः उसे शरीर के क्षीण होने का दुख नहीं होता है। वह तो हँसते २ मृत्यु का स्वागत करने के लिए तय्यार रहता है। इसलिए वह साधक अपना अन्तिम समय आया हुआ जानकर आहार को प्रतिदिन कम करता हुआ किसी दिन सर्वथा छोड़ देता है और कषायों को भी कृश कर देता है। ऐसा करने के पश्चात् वह पूर्वोक्त इङ्गितमरण में बताई हुई विधि के अनुसार ग्राम, नगर यावत् राजधानी में तृणों की याचना करता है, जीवरहित योग्य स्थान पर तृण-शय्या बिछाता है और योग्य समय जानकर उस पर आरूढ होता है। संस्तारक पर आरूढ होकर वह सिद्धों की साक्षी से पञ्च महाव्रतों का नवीन आरोपण करता है और सब प्रकार के आहार—अशन, पान, खादिम, स्वादिम का प्रत्याख्यान करता है। इसके पश्चात् शरीर का त्याग कर देता है अर्थात् उस पर से ममत्व हटा लेता है, शरीर के अवयवों को फैलाना या संकुचित करने का त्याग करता है और यहाँ तक सूक्ष्म हलन-चलन को भी छोड़ देता है। वह वृक्ष की तरह सर्वथा निश्चेष्ट हो जाता है। मन, वचन और काया की सर्वप्रवृत्ति को त्याग कर वह आत्मलीन हो जाता है। इस उच्चकोटि की अवस्था में देह का विसर्जन करना पादपोपगमन-मरण कहा जाता है। इङ्गितमरण में देह का आकुञ्चन और प्रसारण करने का अवकाश है जब कि पादपोपगमन में सूक्ष्म हलन-चलन का भी प्रत्याख्यान होता है। इस पादपोपगमन-मरण का यथोक्त विधि से अनुष्ठान करने से आत्मा परिपूर्ण समाधि में लीन हो जाती है।

जो व्यक्ति विशिष्ट कोटि पर पहुँचा हुआ होता है वही इसकी सम्यक् आराधना कर सकता है। यह वीरों का अनुष्ठान है, कायरों का नहीं। यह हितकारी, सुखकारी, कर्मों का अन्त करने वाला, मोक्ष की सिद्धि करने वाला और दीर्घकाल तक सुख की परम्परा को देने वाला है। भगवान् के वचनों पर दृढ श्रद्धा रखने वाले व्यक्ति इस समाधि मरण से मरकर अपना साध्य सिद्ध कर लेते हैं। षष्ठ उद्देशक में इस विषय में पर्याप्त प्रकाश डाल दिया गया है। जो व्यक्ति इस प्रकार समाधिमरण में लीन हो जाते हैं वे देह-भान से अतीत होकर आत्मा के सत्य-स्वरूप को प्राप्त कर लेते हैं।

इति सप्तम उद्देशकः

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

विमोक्ष नाम अष्टम अध्ययन

— अष्टम उद्देशकः —

पूर्व के उद्देशकों में रोगादि उत्पन्न होने के कारण शरीर के क्षीण और असमर्थ होने पर भक्त-परिज्ञा, इङ्गितमरण और पादपोपगमन करने का विधान किया गया है। अब इस उद्देशक में यथाक्रम विहारी साधकों के समाधिमरण का निरूपण किया जाता है। प्रव्रज्या अंगीकार करना, शिक्षा प्राप्त करना, सूत्र और अर्थ का ग्रहण करना और सब प्रकार से परिपक्व होने पर एकलविहार प्रतिमा आदि विविध प्रतिज्ञाओं का स्वीकार करना इत्यादि रूप से क्रमशः संयम का पालन करते हुए अन्तिम अवस्था का आगमन होने पर अपनी शक्ति एवं धृति को देखकर तदनुकूल समाधि-मरण की आराधना करने का विधान करते हुए सूत्रकार इस रीति से उद्देशक का आरम्भ करते हैं:—

अनुष्टुपछन्द— अणुपुव्वेण विमोहाइं, जाइं धीरा समासज्ज ।
वसुमन्तो मइमन्तो सव्वं नच्चा अणेलिसं ॥१॥
दुविहंपि विइत्ताणं, बुद्धा धम्मस्स पारगा ।
अणुपुव्वीइ संखाए आरम्भाओ तिउट्टइ ॥२॥

संस्कृतच्छाया— आनुपूर्व्या विमोहानि यानि धीराः समासाद्य ।
वसुमन्तो मतिमन्तः सर्वं ज्ञात्वाऽनीदृशम् ॥
द्विविधमपि विदित्वा बुद्धाः धर्मस्य पारगाः ।
आनुपूर्व्या संख्याय, आरम्भात् त्रुट्यति ॥

शब्दार्थ—अणुपुव्वेणं=क्रमशः । जाइं विमोहाइं=जो मोहरहित भक्तपरिज्ञा आदि हैं उन्हें । समासज्ज=प्राप्त करके । धीरा=धीर पुरुष । वसुमन्तो=संयमी । मइमन्तो=सच्चे मतिमान् होते हैं । सव्वं अणेलिसं=सब अनन्यसदृश । नच्चा=जानकर समाधि का पालन करे ॥१॥ दुविहं=पि=दोनों प्रकार के तप आदि । विइत्ता=जानकर । बुद्धा=तत्त्ववेत्ता । धम्मस्स पारगा=धर्म के पार पहुँचे हुए मुनि । अणुपुव्वीइ=क्रम से । संखाए=सब जानकर । आरम्भाओ=शरीर के लिए अन्नपान आदि गवेषणा रूप आरम्भ से । तिउट्टइ=दूर हो जाते हैं ।

भावार्थ—अनुक्रम से (दीक्षाधारण, शिक्षाधारण, सूत्रार्थ का अध्ययन और परिपक्वता प्राप्त होने पर एकाकी विहार आदि क्रम से) मोह दूर करने के साधन रूप भक्तपरिज्ञा आदि को अंगीकार

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

करने वाले धीर पुरुष सच्चे संयमी और बुद्धिमान् हैं। यह सब अनुपम कथन है, अन्यत्र कहीं ऐसा विधान नहीं है अतः मुनि यह सब जानकर समाधिवन्त बने ॥ १ ॥

बुद्धिमान् और धर्म के स्वरूप को सम्यक् प्रकार से जानने वाले मुनि बाह्य और आभ्यन्तर तप का सेवन कर या बाह्य और आभ्यन्तर उपधि का त्याग कर क्रमशः शरीर-मोक्ष के अवसर को जानकर संलेखना स्वीकार कर शरीर के पोषण रूप आरम्भ से दूर हो जाते हैं ॥ २ ॥

विवेचन—इन गाथाओं में क्रमपूर्वक संलेखना आदि करने का विधान किया गया है। क्रम-पूर्वक की हुई साधना ही प्रायः सफल होती है। जो व्यक्ति क्रम को छोड़कर एकदम आगे बढ़ने का प्रयत्न करता है वह प्रायः असफल और निराश ही होता है। क्रमपूर्वक कार्य करने से वह कार्य सुव्यवस्थित, चिरकालस्थायी और सफल परिणाम वाला होता है। प्रत्येक कार्य चाहे वह दुनियादारी का हो या चाहे वह धार्मिक हो—क्रमशः किये जाने पर ही इष्ट फल का देने वाला होता है। इसलिए संयम की साधना भी क्रमशः करनी चाहिए, यह इन गाथाओं में कहा गया है।

दीक्षाग्रहण करना, तत्पश्चात् आसेवनी आदि शिक्षाओं का ग्रहण करना, सूत्र और अर्थ का अध्ययन करना और सब तरह से योग्य तथा परिपक्व बनने पर विविध प्रतिमाओं को अङ्गीकार करना इस क्रम से संयम का पालन करते हुए विचरण करना चाहिए। इस प्रकार यथाक्रम संयम का पालन करते हुए अवस्था-परिणाम से या अन्य कारणों से साधक का शरीर क्षीण और दुर्बल हो जाय, वह धर्म क्रियाओं का सम्यक् पालन करने में अशक्त-सा प्रतीत होने लगे तो साधक को समझना चाहिए कि अब यह आत्मा इस शरीर के बन्धन को तोड़ देने वाली है, आत्मारूपी हंस इस जर्जरित पींजड़े से बाहर होना चाहता है। अब इस जीर्ण शरीर से मुझे कोई लाभ नहीं हो रहा है। यह मेरे संयम की साधना में सहायक न होकर बाधक हो रहा है। इसलिए अब मुझे इसका परित्याग कर देना चाहिए। ऐसी परि-स्थिति में भक्त-परिज्ञा, इङ्गितमरण अथवा पादपोपगमन अङ्गीकार करना क्रम-प्राप्त समाधिमरण है।

जो साधक शरीर की जीर्ण-शीर्ण दशा को देखकर और मृत्यु का आगमनकाल जानकर क्षुब्ध नहीं होता, जिसे किसी तरह का भय और आशंका नहीं होती, जो आकुल-व्याकुल नहीं हो जाता और दृढ़तापूर्वक देह के ममत्व को छोड़कर संलेखना आदि स्वीकार करता है वही सच्चा संयमी और बुद्धिमान् है। हेय को छोड़ना और उपादेय को ग्रहण करना ही तो बुद्धिमानी है। वह साधक हेय शरीर को छोड़ने के लिए उद्यत हो जाता है और भक्त-परिज्ञादि उपादेय को अङ्गीकार करता है इसलिए वह सच्चा बुद्धिमान् है।

शरीर-मोक्ष के अवसर के प्राप्त होने पर इस प्रकार संलेखना का स्वीकार करना समाधिमरण का अनुपम मार्ग है। ऐसा विधान अन्यत्र कहीं नहीं है। यह जानकर अपनी शक्ति एवं धृति को जांचकर तदनुकूल भक्त-परिज्ञा आदि मरण स्वीकार करना चाहिए। यह स्वीकार करके समाधि का अनुपालन करना चाहिए।

धर्म के स्वरूप को जानने वाले बुद्धिमान् मुनि दो प्रकार के—बाह्य एवं आभ्यन्तर तप को जान कर उनका सेवन करते हैं तथा बाह्य शरीर आदि उपकरण और अन्तरंग राग आदि हेय पदार्थों को जानकर परित्याग करते हैं। इस प्रकार यथाक्रम संयम की पालना करते हुए शरीर के क्षीण होने पर वे आहारादि का त्याग कर देते हैं। वे शरीर के भान से अतीत हो जाते हैं अतः उसके पोषण के लिए

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

आहारादि के अन्वेषण आदि की क्रिया से निवृत्त हो जाते हैं। वे शरीर के ममत्व को छोड़कर उससे अलिप्त हो जाते हैं।

"आरम्भाओ तिउट्टइ" के स्थान पर "कम्मुणाओ तिउट्टई" ऐसा पाठान्तर पाया जाता है। उसका अर्थ है कि ऐसे समाधिमरण को स्वीकार करने वाला साधक आठ प्रकार के कर्म से मुक्त हो जाएगा। वह निकट भविष्य में कर्म से मुक्त होने वाला होता है इसलिए "वर्त्तमानसामीप्ये वर्त्तमानवद्वा" इस अपेक्षा से वर्त्तमानकाल का निर्देश किया गया है। समाधिमरण की अभिलाषा रखने वाला साधक देह-ममत्व को छोड़कर भक्त-परिज्ञा, इङ्गितमरण और पादपोपगमन में से किसी का भी शक्ति अनुसार आराधना करे। यही आत्मशान्ति का अनुपम उपाय है।

कसाए पयणू किच्चा, अप्पाहारे तितिक्खए।
अह भिक्खू गिलाइज्जा, आहारस्सेव अन्तियं ॥३॥
जीवियं नाभिकंखिज्जा, मरणं नो वि पत्थए।
दुहओऽवि न सज्जिज्जा, जीविए मरणे तहा ॥४॥

संस्कृतच्छाया—कषायान् प्रतनून् कृत्वा, अल्पाहारः तितिक्षते।
अथ भिक्षुः ग्लायेत् आहारस्यैवान्तिकम् ॥ ३ ॥
जीवितं नाभिकांक्षेत् मरणं नापि प्रार्थयेत्।
उभयतोऽपि न संगं विदध्यात् जीविते मरणे तथा ॥४॥

शब्दार्थ—कसाए=कषायों को। पयणू=हल्का। किच्चा=करके। अप्पाहारे=अल्पाहारी बनकर। तितिक्खए=क्षमाधारण करे। अह=अनन्तर। भिक्खू=मुनि। गिलाइज्जा=ग्लान हो जाय तो। आहारस्सेव अन्तियं=आहार का सर्वथा त्याग कर दे ॥ ३ ॥ जीवियं=जीवित रहने की। नाभिकंखिज्जा=अभिलाषा न करे। मरणं वि=मृत्यु की भी। नो पत्थए=इच्छा न करे। जीविए=जीवन में। तहा मरणे=तथा मरण में। दुहओऽवि=दोनों में। न सज्जिज्जा=गृद्धि-अभिलाषा न रक्खे।

भावार्थ—संलेखना धारण करने वाला मुनि कषायों को हल्का करके, अल्पाहारी बनकर क्षमा धारण करे। अल्पाहार के कारण ग्लान होने पर मुनि आहार का सर्वथा त्याग कर अनशन धारण करे ३।

संलेखना करने वाला मुनि अधिक काल जीवित रहने की इच्छा न करे और कष्ट से घबरा कर मृत्यु की भी इच्छा न करे। जीवन और मरण दोनों में समभाव धारण करता हुआ वह मुनि किसी की भी इच्छा न करे ॥ ४ ॥

विवेचन—समाधिमरण की अभिलाषा रखने वाला मुनि संलेखना करने के लिए तत्पर हो उसके पूर्व उसे भावसंलेखना करनी चाहिए। भावसंलेखना का आत्मिक समाधि और शान्ति के लिए बहुत

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

अधिक महत्त्व है। भाव-संलेखना का अर्थ है--कषायों को कृश करना। कषाय ही अशान्ति और संसार के मूल कारण हैं अतएव उन्हें दूर करने पर ही शान्ति और मुक्ति मिल सकती है। इसलिए संलेखना करते हुए कषायों को कृश करना सर्वप्रथम अनिवार्य है।

क्रोधादि कषायों को कम करते हुए मुनि को अल्पाहार करना चाहिए। षष्ठ, अष्टम आदि तप करते हुए तथा पारणे में भी अल्प आहार करते हुए संलेखना का आराधन करना चाहिए। प्रायः देखा जाता है कि तपश्चर्या करने वाले को क्रोध अधिक आया करता है। कदाचित् अल्पाहार के कारण क्रोध का उद्भव हो तो मुनि को उसे शान्त करना चाहिए। यदि क्रोध की शान्ति न हो तो वह सच्चा अनशन और तप नहीं है। आध्यात्मिक दृष्टि से वही सच्चा तप है जो क्रोधादि कषायों को क्षीण करता है। तप करने से यदि क्रोध बढ़ता है तो वह वास्तविक तप ही नहीं है। इसलिए संलेखना करने वाला मुनि अनशन आदि तप भी करे और कषायों को एकदम कृश कर दे। यदि कोई उसे कटु शब्द भी कह दे तो भी वह क्षमा धारण करे। क्षमा धारण करना आत्मा की प्रबलता और उन्नति का द्योतक है। जो व्यक्ति किसी के शब्दों को सुनकर एकदम आवेश में आ जाता है, क्रोध से जल उठता है तो समझना चाहिए कि अभी उसकी आत्मा का विकास नहीं हुआ है। जिसकी आत्मा जागृत हो जाती है वह सहज क्षमा धारण करता है। संलेखना करने वाला मुनि भी क्षमा धारण करे।

कदाचित् अनशन आदि करते हुए या कर्मोदय से उस मुनि के शरीर में रोग उत्पन्न हो जाय तो भी वह समभाव रखता हुआ उसे सहन करे। सहनशीलता साधक का श्रेष्ठतम सद्गुण है। यदि मुनि ग्लान हो जाय तो उसे आहार का सर्वथा परित्याग कर देना चाहिए। आहार की अभिलाषा न करते हुए समाधि में दत्तचित्त हो जाना चाहिए। संलेखना में आहार का सर्वथा त्याग कर देने पर यदि भूख सताने लगे तो भी मुनि को मन से भी आहार की अभिलाषा नहीं करना चाहिए। वह ऐसा विचार भी न करे कि अभी तो मैं आहार कर लूं और बाद में शेष रही हुई संलेखना-विधि को पूर्ण कर लूंगा। ऐसा विचार कर आहार की अभिलाषा करने वाला मुनि संलेखना से पतित हो जाता है और समाधिमरण को प्राप्त नहीं कर सकता है। अतः संलेखना में स्थित रहने वाला मुनि आहार का परिपूर्ण त्याग करे और समाधि में लीन हो जाय।

ऐसे साधक को जीवन और मरण की कामना नहीं होनी चाहिए। संलेखना स्वीकार करने के कारण होने वाली महिमा और यश की लालसा से अधिक काल तक जीवित रहने की इच्छा नहीं करनी चाहिए। इसी तरह दुख और वेदना से घबरा कर जल्दी मरने की भावना भी नहीं लानी चाहिए। जीवन और मरण—दोनों में समान भाव रखते हुए आत्म-स्वरूप के चिन्तन में लीन हो जाना चाहिए। जो साधक इस प्रकार स्वरूप-लीन हो जाता है वह समाधिमरण को प्राप्त कर कृतार्थ हो जाता है।

मज्झत्थो निज्जरापेही, समाहिमणुपालए।
अन्तो बहिं विउस्सिज्ज, अज्झत्थं सुद्धमेसए ॥५॥
जं किंचुवक्कमं जाणे, आऊखेमस्समप्पणो।
तस्सेव अन्तरद्धाए, खिप्पं सिक्खिज्ज पण्डिए ॥६॥

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

संस्कृतच्छाया—मध्यस्थो निर्जरापेक्षी समाधिमनुपालयेत्।
अन्तः बहिर्व्युत्सृज्य, अध्यात्मं शुद्धमेषयेत् ॥५॥
यं कंचनोपक्रमं जानीत, आयुः क्षमस्यात्मनः।
तस्यैवान्तरकाले क्षिप्रं शिक्षेत पण्डितः ॥६॥

शब्दार्थ—मज्झत्थो=मध्यस्थ। निज्जरापेही=निर्जरा की अभिलाषा रखने वाला। समाहिं=समाधि का। अणुपालए=पालन करे। अन्तो=आभ्यन्तर। बहिं=बाह्य उपधि को। विउस्सिज्ज=छोड़कर। अज्झत्थं=अन्तःकरण को। सुद्धमेसए=शुद्ध बनावे ॥५॥ अप्पणो=अपने। आऊखेमस्स=जीवन के लिए। जं किंचि=जो कोई भी। उवक्कमं=उपक्रम—विघ्न। जाणे=मालूम हो तो। तस्सेव=उस संलेखना काल के। अन्तरद्धाए=बीच में ही। पण्डिए=पण्डित मुनि। खिप्पं=शीघ्र ही। सिक्खिज्ज=भक्तपरिज्ञादि का सेवन करे ॥६॥

भावार्थ—मध्यस्थभाव में स्थित, एकान्त निर्जरा का अभिलाषी मुनि समाधि का पालन करे। कषाय आदि आन्तरिक और उपकरण आदि बाह्य उपधि का त्याग करके अपने अन्तःकरण को विकार-विहीन बना करके आत्म-चिन्तन करे ॥५॥

संलेखना में स्थित मुनि को यदि अपने जीवन को कम करने वाले किसी विघ्न का ज्ञान हो जाय तो उस बुद्धिमान् मुनि को संलेखना काल में ही शीघ्र भक्त-परिज्ञा आदि का अनुष्ठान कर लेना चाहिए ॥६॥

विवेचन—इन गाथाओं में संलेखना में स्थित मुनि को कैसा होना चाहिए यह बताया गया है। सूत्रकार ने सर्वप्रथम 'मज्झत्थो' पद दिया है। इसका आशय यह है कि संलेखना करने वाले को मध्यस्थ भाव रखना चाहिए। उसे किसी पर राग और किसी पर द्वेष नहीं होना चाहिए अथवा उसे जीवन और मरण में समभाव रखना चाहिए। जीवन बना रहे तो क्या? और जीवन चला जाय तो क्या? इस प्रकार की निराकांक्षा रखना संलेखना करने वाले मुनि का प्रधान कर्त्तव्य है। जीवन और मरण की आकांक्षा बनी रहती है तो जिस समाधि और शान्ति की अभिलाषा से संलेखना की जाती है वह प्राप्त नहीं होती है। अतः जीवन और मरण में तथा अन्यत्र भी कहीं राग-द्वेष नहीं करना चाहिए।

दूसरा गुण है—निज्जरापेही। संलेखना करने वाला मुनि केवल निर्जरा की भावना से ही संलेखना करे। मान-प्रतिष्ठा के लिए अथवा शरीर के दुखों से घबराकर शीघ्र मरने के लिए संलेखना न करे। संलेखना करने से मेरी लोक में सर्वत्र महिमा होगी अथवा परलोक में दिव्य कामभोगों की प्राप्ति होगी ऐसे विचार से की जाने वाली संलेखना से कोई आत्मिक लाभ नहीं होता। इसी तरह परीषह और उपसर्गों से पीड़ित होने पर व्याकुल होकर मरने के लिए संलेखना करना कायरता है। संलेखना का उद्देश्य एक ही होना चाहिए और वह है—निर्जरा की भावना। निर्जरा की भावना से अंगीकृत संलेखना ही आध्यात्मिक संलेखना है।

संलेखना करने वाले का तीसरा गुण है—समाधि का पालन। चाहे जैसी वेदना हो तो भी समभावपूर्वक उसे सहन करना चाहिए और चित्त में तनिक भी आकुलता-व्याकुलता न लानी चाहिए। धीर-

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

वीर बनकर स्वाभाविक रूप से आने वाली मृत्यु का स्वागत करना चाहिए। जो साधक इस अवस्था में अपने चित्त की समाधि को भंग नहीं होने देता वही संलेखना का सफल आराधक होता है।

संलेखना के अभिलाषी मुनि का चौथा गुण है—बाह्य-आभ्यन्तर उपधि का परित्याग। बाह्य वस्तुओं का त्याग किए बिना सभी आत्मलीनता नहीं प्राप्त हो सकती है। बाह्य पदार्थों के प्रति आसक्ति या ममत्व बना रहता है तो आत्मिक शान्ति नहीं मिल सकती है। संलेखना तो कर ली और चित्त में पदार्थों का मोह रहा हुआ है तो वह संलेखना किसी काम की नहीं है। वह तो केवल शुष्क क्रियामात्र है। इसलिए साधक मुनि को उपकरण और शरीर के प्रति मोह नहीं रखना चाहिए और आभ्यन्तर उपधि—कषाय आदि का सर्वथा परिहार करना चाहिए। तभी संलेखना की आराधना हो सकती है।

पञ्चम सद्गुण है—अन्तःकरण की विशुद्धि। संलेखना करने के पश्चात् हृदय में किसी प्रकार के संकल्पों-विकल्पों को स्थान नहीं देना चाहिए। सब प्रकार के द्वन्द्व और शंकाओं से रहित होकर केवल आत्म स्वरूप में लवलीन होना चाहिए। संकल्प-विकल्पों और शंकाओं से अन्तःकरण दूषित होता है। उसमें विकारों की उत्पत्ति हो सकती है अतः विकल्पजाल से दूर रहकर आत्म-चिन्तन करना चाहिए। इस तरह आत्मा को विकार-विहीन और निर्मल बना लेना चाहिए। इन गुणों से युक्त होने पर ही संलेखना सफल हो सकती है।

संलेखना करते हुए यदि साधक को ऐसा मालूम हो जाय कि उसके जीवन का शीघ्र ही अन्त कर देने वाला कारण उपस्थित हो गया है तो उसे किसी भी तरह की व्याकुलता न लाते हुए संलेखना काल में ही भक्ति-परिज्ञा मरण आदि का आराधन कर लेना चाहिए। ऐसा करने वाला साधक ही मतिमान् मुनि है।

टीकाकार ने छठी गाथा का ऐसा भी अर्थ किया है कि पूरी तरह संलेखना नहीं हो पाने के पूर्व ही यदि मुनि के देह में वात आदि का उपद्रव हो जाय और यदि वह शीघ्र प्राणों का अन्त करने वाला मालूम हो समाधिमरण से मरने की अभिलाषा से उस उपद्रव को शान्त करने के लिए एषणीय विधि से अभ्यंगन वगैरह का आश्रय लेना चाहिए। उपद्रव दूर होने पर पुनः विधिपूर्वक संलेखना करना चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि वातादि के उपद्रव के कारण साधक बेभान हो जाता है उसे किसी तरह का विवेक नहीं रहता है अतः उस अवस्था में मृत्यु को प्राप्त करना समाधिमरण नहीं है इसलिए समाधिमरण से मृत्यु को प्राप्त होने की कामना से उस उपद्रव के समय उसे शान्त करने का एषणीय उपाय किया जाय कोई अनुचित नहीं है। उपद्रव के शान्त होने पर पुनः संलेखना करना चाहिए।

संलेखना से शुद्ध होने पर और मरण-काल उपस्थित होने पर क्या करना चाहिए सो आगे बताया गया है:—

गामे वा अदुवा रण्णे, थंडिलं पडिलेहिया।
अप्पपाणं तु विन्नाय, तणाइं संथरे मुणी ॥७॥
अणाहारो तुयट्टिजा, पुट्ठो तत्थऽहियासए।
नाइवेलं उवचरे, माणुस्सेहिं विपुट्ठवं ॥८॥

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

संस्कृतच्छाया—ग्रामे वा अथवा अरण्ये, स्थण्डिलं प्रत्युपेक्ष्य।
अल्पप्राणं तु विज्ञाय, तृणानि संस्तरेत् मुनिः ॥७॥
अनाहारस्त्यक्तवर्त्सनं कुर्यात्, स्पृष्टस्तत्राध्यासयेत्।
नातिवेलमुपचरेत् मानुष्यैर्विस्पृष्टवान् ॥८॥

शब्दार्थ—गामे वा=ग्राम में। अदुवा=अथवा। रण्णे=जंगल में। थंडिलं=भूमि को। पडिलेहिया=देखकर। अप्पपाणं=प्राणी से रहित। विन्नाय=जानकर। मुणी=साधु। तणाइं=तृण की शय्या। संथरे=बिछावे ॥७॥ अणाहारो=आहार का त्याग करके। तुयट्टिज्जा=उस पर शयन करे। तत्थ पुट्ठो=वहाँ परीषह-उपसर्ग आने पर। अहियासए=सहन करे। माणुस्सेहिं=मनुष्यसम्बन्धी। विपुट्ठवं=उपसर्ग से स्पृष्ट होने पर। नाइवेलं उवचरे=मर्यादा का उल्लंघन न करे ॥८॥

भावार्थ—ग्राम में या निर्जन वन में भूमि को देखकर और उसे जीव-जन्तु से रहित जानकर (प्रमार्जन कर) मुनि घास का बिछौना बिछावे ॥७॥ तदनन्तर आहार का त्याग करे और उस पर शयन करे। आने वाले परीषहों और उपसर्गों को क्षमाभाव से सहन करे। मनुष्यों द्वारा उपसर्ग होने पर अपनी ग्रहण की हुई मर्यादा का उल्लंघन न करे ॥८॥

विवेचन—संलेखना द्वारा शुद्ध होने पर मुनि अपना अन्तिम अवसर आया हुआ जानकर निर्दोष भूमि का परीक्षण करे। वह भूमि चाहे बस्ती में हो, चाहे वन में हो। सूत्रकार ने ग्राम शब्द से उपाश्रय का सूचन किया है और अरण्य शब्द से उपाश्रय से बाहर की भूमि का सूचन किया है। ग्राम में, नगर में, राजधानी में और अन्य बस्ती में रहे हुए उपाश्रय में अथवा गिरि-गुहा या उद्यान आदि निर्जन स्थान में संस्तारक भूमि का निरीक्षण करे। उस भूमि को जीव-जन्तुओं से रहित जानकर वहाँ पूर्वोक्त ग्राम, नगर, खेडा, कर्बट, मडम्ब आदि में से तृणों की याचना करे और उचित काल का ज्ञाता मुनि योग्य समय पर दर्भमय शय्या बिछावे।

इसके पश्चात् अपनी धृति और शक्ति के अनुसार त्रिविध अथवा चतुर्विध आहार का प्रत्याख्यान करे और परिपूर्ण विशुद्धि के लिए पुनः पाँच महाव्रत अङ्गीकार करे। इसके पश्चात् संसार के समस्त प्राणियों से क्षमायाचना करे। सबसे क्षमायाचना करके और सबको क्षमा-प्रदान करके सुख-दुख में समभाव रखता हुआ, मृत्यु से किसी प्रकार का भय न रखता हुआ उस दर्भमय शय्या पर शयन करे।

यदि यहाँ शयन करते हुए देव और तिर्यञ्च सम्बन्धी कोई परीषह और उपसर्ग हो तो उसे दृढ़ता के साथ सहन करे। इसीतरह मनुष्य सम्बन्धी अनुकूल या प्रतिकूल कोई उपसर्ग हो तो अपनी मर्यादा का भंग न करे। पुत्र, कलत्र आदि सांसारिक सम्बन्धी या मोहवश बने हुए अन्य प्रियजन अनुकूल परीषह दें तो साधक को इतना दृढ़ होना चाहिए कि वह उनके कारण आर्त्तध्यान न करने लगे और इसी तरह प्रतिकूल संयोगों में साधक क्रोध का शिकार न हो जाय। साधक को प्रत्येक अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति में दृढ़ता, धीरता और विवेकशक्ति से काम लेना चाहिए। उसे किसी भी अवस्था में ग्रहण की हुई मर्यादा का उल्लंघन नहीं करना चाहिए।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

संसप्पगा य जे पाणा जे य उड्ढमहाचरा ।
भुञ्जन्ति मंससोणियं न छणे न पमज्जए ॥९॥
पाणा देहं विहिंसन्ति, ठाणाओ न वि उब्भमे ।
आसवेहिं विवित्तेहिं तिप्पमाणोऽहियासए ॥१०॥

संस्कृतच्छाया—संसर्पकाश्च ये प्राणाः, ये चोर्ध्वाधश्चराः ।
भुञ्जन्ते मांसशोणितं न क्षणुयात् न प्रमार्जयेत् ॥९॥
प्राणाः देहं विहिंसन्ति, स्थानात्नापि उदभ्रमेत् ।
आस्रवैर्विविक्तैस्तप्यमानोऽध्यासयेत् ॥१०॥

शब्दार्थ—जे य=जो । संसप्पगा=कीड़ी आदि चलने-फिरने वाले । पाणा=प्राणी । जे य=और जो । उड्ढमहाचरा=गृद्ध आदि ऊर्ध्वचर और सर्प आदि अधश्चर प्राणी हैं वे । मंससोणियं=मांस और खून को । भुञ्जन्ति=खाते हैं । मुनि उन्हें । न छणे=न मारे । न पमज्जए= न रजोहरणादि से हटावे ॥९॥ पाणा=प्राणी । देहं=शरीर की । विहिंसन्ति=हिंसा करते हैं । ठाणाओ=उस स्थान से । न वि उब्भमे=अन्यत्र न जावे । आसवेहिं=आस्रवों से । विवित्तेहिं= अलग होकर । तिप्पमाणो=दुख दिये जाने पर भी । अहियासए=सहन करे ॥१०॥

भावार्थ—कीड़ी आदि संसर्पक, गिद्ध आदि खेचर, सांप वगैरह बिलवासी तथा अन्य मांसभक्षी या लोहू पीने वाले मच्छर आदि रक्त-मांस को खावें-पीवें तो संथारे में रहने वाला मुनि हाथ-पैर आदि से उन्हें न हने और न रजोहरण आदि से दूर करे ॥९॥ पूर्वोक्त प्राणी मेरे देह की ही हिंसा करते हैं, मेरे ज्ञान-दर्शन आदि का कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते हैं यह विचार कर उस स्थान से अन्यत्र न जावे । आस्रवों से दूर रहकर वेदना को सहन करे ॥१०॥

विवेचन—संथारे में रहा हुआ मुनि शरीर की ममता का सर्वथा त्याग करता है। उसकी कसौटी तब होती है जब रक्त पीने वाले और मांस खाने वाले विविध कीड़ी-मकौड़े, खटमल आदि प्राणी, गिद्ध वगैरह अथवा सिंह या सर्प आदि उसके शरीर का खून पीते हैं और मांस खाते हैं। वह संथारे में रहा हुआ मुनि अवन्तिसुकुमार की तरह उन आहारार्थी प्राणियों का हाथ आदि से निवारण नहीं करता है। वे प्राणी अपने तीखे-तीखे डंकों से उस मुनि के शरीर को वेदना पहुँचाते हैं तदपि वह मुनि यह सोचता है कि ये बेचारे प्राणी मेरे शरीर को पीड़ा पहुँचा रहे हैं लेकिन मेरी मूल वस्तु का तो कुछ बनता-बिगड़ता नहीं है, मेरे ज्ञान, दर्शन और चारित्र में कोई पीड़ा नहीं पहुँचने वाली है अतः इन बेचारे जीवों के आहार में अन्तराय क्यों डालूं ? यदि मेरे शरीर से इन बेचारों को शान्ति पहुँचती है, इनकी क्षुधा का निवारण होता है तो यह मेरे शरीर की सार्थकता है। यह विचार कर वह मुनि उन्हें हनना तो दूर रहा उन्हें रजोहरणादि से अलग भी नहीं करता है। वह उन पर किसी भी प्रकार का द्वेष नहीं लाता है। उनके द्वारा

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

कण्टक के समान डंक दिए जाने पर भी अमृत से सिञ्चित होने पर होने वाली शान्ति का अनुभव करता है और शान्तिपूर्वक वेदना को सहन करता है। देह पर से ममता उतर जाने के बाद साधक को शारीरिक वेदनाएँ विचलित नहीं कर सकतीं। जब तक देह पर ममत्व होता है तब तक ही वेदनाएँ प्रबल बनकर मुनि को विचलित बना सकती हैं। संथारे में रहा हुआ मुनि आत्मा और शरीर की पृथक्ता को हृदयंगम करके शुभ अध्यवसायों में तल्लीन होता है अतएव शारीरिक वेदनाओं को वह भलीभांति सहन कर लेता है। शरीर को वेदना पहुँचाने वाले प्राणियों के प्रति उसे तनिक भी द्वेष या क्रोध नहीं हो सकता। यह देह की ममता के परित्याग की कसौटी है। साधक को इस कसौटी पर खरा उतरना चाहिए।

गंथेहिं विवित्तेहिं आउकालस्स पारए ।
पग्गहियतरगं चेयं दवियस्स वियाणओ ॥११॥
अयं से अवरे धम्मे नायपुत्तेण साहिए ।
आयवज्जं पडीयारं विजहिज्जा तिहा तिहा ॥१२॥

संस्कृतच्छाया—ग्रन्थैर्विविक्तैः, आयुः कालस्य पारगः ।
प्रगृहीततरकं चेदं द्रव्यस्य विजानतः ॥११॥
अयं सोऽपरो धर्मो ज्ञातपुत्रेण स्वाहितः ।
आत्मवर्जं प्रतिचारं विजह्यात् त्रिधा त्रिधा ॥१२॥

शब्दार्थ—गंथेहिं=बाह्य-आभ्यन्तर ग्रन्थि से। विवित्तेहिं=पृथक् होकर। आउ-कालस्स=जीवन को। पारए=पार करे। वियाणओ=गीतार्थ। दवियस्स=संयमी के लिए। चेयं= यह इङ्गितमरण। पग्गहियतरगं=विशेष रूप से ग्रहण करने योग्य है ॥११॥ नायपुत्तेण=ज्ञात-पुत्र भगवान् के द्वारा। अयं से=यह। अवरे धम्मे=विशेष धर्म। साहिए=भलीभांति कहा गया है। आयवज्जं पडीयारं=दूसरों से ली जाने वाली सेवा का। तिहा तिहा=तीन करण तीन योग से। विजहिज्जा=त्याग करे ॥१२॥

भावार्थ—बाह्य और आभ्यन्तर ग्रन्थि का त्याग करके आयुकाल के अन्त तक-अन्तिम श्वासो-च्छ्वास तक शुद्ध ध्यान में रहे। (यह भक्तपरिज्ञा का कथन हुआ। अब इंगितमरण का कथन करते हैं।) यह इंगितमरण गीतार्थ संयमी साधकों के लिए विशेष रूप से ग्रहण करने योग्य है ॥११॥

ज्ञातपुत्र श्री महावीर ने इस इंगितमरण में यह विशेष धर्म बतलाया है कि आत्म-व्यापार के सिवाय दूसरों से ली जाने वाली सेवा का तीन करण तीन योग से त्याग करे ॥१२॥

विवेचन—भक्तपरिज्ञा मरण का उपसंहार करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि वह साधक सब प्रकार के ग्रन्थ-संयोगों का त्याग करके जीवन के अन्तिम श्वासोच्छ्वास तक आत्मध्यान में निमग्न रहे। अथवा

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

विविध प्रकार के अंग प्रविष्ट और अंग बाह्य सद्ग्रन्थों के द्वारा अपनी आत्मा को भावित करता हुआ और धर्मध्यान, शुक्लध्यान में लीन होता हुआ अपने जीवन को सुख-समाधिमय स्वरूप में समाप्त करे। ऐसा साधक या तो सिद्धि को प्राप्त करता है या कर्मों के शेष रह जाने पर स्वर्ग में जाता है और बाद में सिद्धि गति को प्राप्त होता है। अतएव साधकों को यथाविधि भक्त-परिज्ञा मरण की आराधना करनी चाहिए।

सूत्रकार भक्त-परिज्ञा के बाद क्रमप्र इङ्गितमरण का निरूपण करते हुए कहते हैं कि यह उच्च-श्रेणी किन्हीं २ विशिष्ट धृति-संहनन वाले एवं गीतार्थ साधकों के लिए ही ग्राह्य है। उत्कृष्ट क्रिया का पालन करने के लिए शरीर भी उत्कृष्ट शक्ति वाला होना चाहिए और ज्ञान भी विशिष्ट होना चाहिए। तभी अन्त तक दृढ़ता रह सकती है। अन्यथा बीच में ही विचलित होने से 'अतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः' वाली हालत हो जाती है। अतः किसी विशिष्टतर कार्य को हाथ में लेने के पूर्व अपनी शक्ति का अपने आप माप निकालना चाहिए। यदि उस कार्य को अन्त तक पार पहुँचाने की शक्ति दिखाई दे तो ही उसे हाथ में लेना चाहिए अन्यथा नहीं। इङ्गितमरण भी कष्ट-साध्य क्रिया है अतएव इसे ग्रहण करने के पूर्व पूरी २ शक्ति की परीक्षा कर लेनी चाहिए। सूत्रकार स्वयं कह रहे हैं कि वही व्यक्ति इसे अङ्गीकार कर सकता है जो विशिष्ट गीतार्थ और विशिष्ट धृति-संहनन आदि गुणों से युक्त हो। टीकाकार लिखते हैं कि जो जघन्यतः नौ पूर्वों में विशारद होता है और विशिष्टतर धीर-वीर होता है वही इसे अंगीकर कर सकता है। दूसरा नहीं। ऐसी विशिष्ट क्रिया का सफल अधिकारी वही हो सकता है जिसमें उसे अन्त तक पार पहुँचाने की शक्ति हो।

इङ्गितमरण में वही सब पूर्वोक्त भक्त-परिज्ञा के समान विधि करनी होती है, विशेषता यह है कि इसमें नियमतः चतुर्विध आहार का प्रत्याख्यान करना होता है और नियमित प्रदेश में ही—संस्तारक पर ही हलन-चलन करने की छूट होती है। प्रव्रज्या ग्रहण, शिक्षा, सूत्रार्थ अध्ययन, प्रतिमा स्वीकार, संले-खना आदि सब पूर्ववत् समझना चाहिए। इसमें सब उपकरणों का परित्याग कर, संस्तारक भूमि को देखकर, आलोचना-प्रतिक्रमण कर, पांच महाव्रतों को पुनः स्वीकार कर चारों आहार का प्रत्याख्यान कर संस्तारक पर शयन करना होता है। इस इङ्गितमरण में ज्ञातपुत्र श्रमण भगवान् महावीर ने यह विशेष धर्म बतलाया है कि इसे स्वीकार करने वाला साधक अपने सिवाय किसी दूसरे से ली जाने वाली सेवा का त्रिकरण त्रियोग से त्याग करता है। वह सब क्रियाएँ अपने आप ही करता है। वह स्वयं ही करवट बदलता है और नीहार भी स्वयं ही बिना किसी की सहायता के करता है। तात्पर्य यह है कि इस मरण को स्वीकार करने वाला साधक सम्पूर्ण स्वावलम्बी ही होता है। यह इङ्गितमरण का स्वरूप है। इसे अप-नाने वाला साधक शीघ्र ही सिद्धि प्राप्त करता है।

हरिएसु न निव जिज्जा, थण्डिलं मुणिया सए।
विओसिज्ज अणाहारो, पुट्ठो तत्थऽहियासए ॥१३॥
इन्दिएहिं गिलायन्तो समियं आहरे मुणी।
तहावि से अगरिहे अचले जे समाहिए ॥१४॥

संस्कृतच्छाया—हरितेषु न शयीत स्थण्डिलं मत्वा शयीत।
व्युत्सृज्य अनाहारः स्पृष्टस्तत्राध्यासयेत् ॥१३॥

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

इन्द्रियैर्ग्लायमानः शमितामाहारयेन्मुनिः।
तथापि सोऽगर्ह्यः अचलो यः समाहितः ॥१४॥

शब्दार्थ—हरिएसु=दूब आदि हरियाली पर। न निवज्जिज्जा=शयन न करे। थण्डिलं=शुद्ध भूमि को। मुणिया=जानकर। सए=सोवे। विओसिज्ज=उपधि को छोड़कर। अणाहारो=आहार का सर्वथा त्याग करे। पुट्ठो=परीषह उपसर्ग आने पर। तत्थ=उस संस्तारक पर रहा हुआ। अहियासए=सहन करे ॥१३॥ इन्दिएहिं=इन्द्रियों के द्वारा। गिलायन्तो=ग्लानता का अनुभव करने पर भी। मुणी=मुनि। समियं=शान्ति अथवा समभाव। आहरे=स्थापित करे। तहा वि=हलन-चलनादि करता हुआ भी। से=वह मुनि। अगरिहे=अनिन्दनीय है। जे=जो अचले=विचलित नहीं होता हुआ। समाहिए=समाधि में स्थित रहता है ॥१४॥

भावार्थ—दूब, अंकुर आदि हरितकाय पर न सोवे, भूमि को शुद्ध जानकर सोवे। सब प्रकार की उपधि को त्याग कर, आहार का परिहार करके, परीषह-उपसर्ग के आने पर संस्तारक पर रहा हुआ समभावपूर्वक सहन करे ॥१३॥ निराहार रहने के कारण इन्द्रियों को शिथिल हुई देखकर मुनि समभाव धारण करे. आर्तध्यान न करे। इंगितमरण में शरीर की हलन-चलन रूप क्रिया निन्दनीय नहीं है अतः हलन-चलनादि क्रिया करता हुआ भी जो भाव से विचलित नहीं होता और समाधिवन्त है वह अनिन्दनीय है ॥१४॥

विवेचन—इतनी उत्कृष्ट और कठिनतम साधना करते हुए कहीं सूक्ष्म प्राणिदया के प्रति साधक उपेक्षा न करने लगे इसलिए यहाँ पुनः प्राणियों की दया करने का कहा गया है। साधक का सर्वप्रथम लक्ष्य प्राणियों का सर्वथा संरक्षण करना होना चाहिए इसलिए उस विषय में पुनः पुनः कहा जाता है। इङ्गितमरण की आराधना करने वाला मुनि हरितकाय युक्त भूमि पर संस्तारक न करे किन्तु अचित्त भूमि पर संस्तारक करे और उस पर शयन करे। सब प्रकार की बाह्य और आभ्यन्तर उपधि का परित्याग करे और सर्वथा निराहार रहे। उस संस्तारक पर रहे हुए ही आने वाले और परीषह और उपसर्गों को समभाव से सहन करे। इस प्रकरण में एक ही बात कई बार कही गई है सो इसका आशय यह मालूम होता है कि सूत्रकार इन बातों पर विशेष भार देना चाहते हैं।

निराहार रहने के कारण इन्द्रियों का शिथिल हो जाना और ग्लानता का अनुभव होना स्वाभाविक है तदपि दृढ़ मनोबल वाले साधक आर्त्तध्यान नहीं करते हुए समभाव और शान्ति धारण करते हैं। एक ही स्थान पर रहने के कारण चित्त में ग्लानि आ जाय तो अमुक चेष्टाओं के द्वारा उसका निवारण करना चाहिए। जैसे अंगादि के संकोचन से ग्लानि का अनुभव होने लगे तो अङ्गों को फैला लेना चाहिए। इससे भी खिन्नता मालूम हो तो बैठ जाना चाहिए। इससे भी मन ऊब जाय तो मर्यादित-प्रदेश में संचरण करना चाहिए। इस तरह जिस प्रकार वह ग्लानि दूर हो ऐसा प्रयत्न करना चाहिए। इङ्गितमरण में नियमित प्रदेश में हलन-चलन क्रिया करना निषिद्ध नहीं है अतः हलन-चलन करता हुआ भी वह साधक निन्दनीय नहीं है।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

जो साधक शरीरमात्र से हलन-चलन करता है लेकिन समाधिमरण से विचलित नहीं होता है और धर्मध्यान, शुक्लध्यान में मन लगाए रहता है वह गर्हणीय नहीं है। अतः इङ्गितमरण के आराधक साधक को चित्त की समाधि पर विशेष लक्ष्य देना चाहिए।

अभिक्कमे पडिक्कमे, संकुचए पसारए ।
कायसाहारणट्ठाए इत्थं वावि अचेयणो ॥१५॥
परिक्कमे परिकिलन्ते, अदुवा चिट्ठे अहायए ।
ठाणेण परिकिलन्ते निसीइज्जा य अंतसो ॥१६॥

संस्कृतच्छाया—अभिक्रामेत् प्रतिक्रामेत् संकोचयेत्प्रसारयेत् ।
कायसाधारणार्थमत्रापि अचेतनः ॥ १६ ॥
परिक्रमेत् परिक्लान्तोऽथवा तिष्ठेत् यथायतः ।
स्थानेन परिक्लान्तो निषीदेच्चान्तशः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ—अभिक्कमे=सन्मुख जावे। पडिक्कमे=वापस लौटे। संकुचए=संकुचित करे। पसारए=फैलावे। काय साहारणट्ठाए=शरीर की सुविधा व समाधि के लिए ऐसा करे। वावि=अथवा। इत्थं=यहाँ भी। अचेयणो=अचेतन की तरह हलन-चलन रहित हो॥१५॥ परिकिलन्ते=बैठे २ थक जाने पर। परिक्कमे=थोड़ा भ्रमण करे। अदुवा=अथवा। चिट्ठे=खड़ा रहे। अहायए=इच्छा के अनुसार आसन करे। ठाणेण=खड़ा रहने से। परिकिलन्ते=श्रान्त होने पर अंतसो=अन्त में। निसीइज्जा=बैठ जावे।

भावार्थ—इंगितमरण की आराधना करने वाला नियमित प्रदेश में सन्मुख जा सकता है और वापस लौट सकता है। वह अपने अंगों को संकुचित कर सकता है और उन्हें फैला सकता है। शरीर की सुविधा और समाधि के लिए वह हलन-चलन कर सकता है। यदि विशेष सामर्थ्य हो तो यहां भी पादपोपगमन की तरह अचेतन काष्ठ की तरह निश्चेष्ट रहा जा सकता है ॥१५॥ ऐसा सामर्थ्य न होने पर बैठे-बैठे खेद होने पर नियत भूमि में गमनागमन कर सकता है, अथवा खड़ा हो सकता है या इच्छा के अनुसार अन्य आसन कर सकता है। खड़ा-खड़ा थक जाने पर बैठ सकता है या लेट सकता है॥१६॥

विवेचन—इङ्गितमरण में हलन-चलन की छूट होती है अतएव जब मुनि सोया-सोया या बैठा-बैठा ग्लानि का अनुभव करने लगे तो उसे मर्यादित-प्रदेश में सन्मुख जाना और वापस लौटना कल्पता है। नियत देश में गमनागमन करने की उसे छूट होती है। वह अपनी समाधि के अनुसार भुजा आदि अङ्गों को संकुचित भी कर सकता है और फैला भी सकता है। बैठे २ थक जाने पर वह नियमित प्रदेश में थोड़ा २ भ्रमण भी कर सकता है, खड़ा रह सकता है और इच्छानुसार आसन से स्थित हो सकता है। ऐसा करने से श्रान्त होने पर लेट सकता है या बैठ सकता है। उसे जिस प्रकार समाधान मालूम हो

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

वैसा हलन-चलन वह कर सकता है। इस इङ्गितमरण को अंगीकार करने वाले महापुरुष ही होते हैं अतएव शरीर की सुविधा के अनुसार चेष्टा करने पर भी उनमें अन्यथा भाव या विकार की सम्भावना नहीं होती।

शंकाकार कहता है कि शरीर के समस्त व्यापारों को रोक कर शुष्क काष्ठ की तरह अचेतन की भांति पड़े रहने से प्रचुरतर पुण्य का लाभ होना कहा गया है, क्या यह ठीक है ? इसका समाधान करते हुए टीकाकार कहते हैं कि ऐसा कोई एकान्त नियम नहीं है। जिसके अध्यवसाय विशुद्ध हैं वह अपनी शक्ति के अनुसार भार उठावे और उसे अन्त तक भलीभांति निभावे तो उसे भी उसके समान ही कर्मक्षय हो सकता है। तात्पर्य यह है कि यदि अध्यवसाय विशुद्ध हैं तो इङ्गितमरण में हलन-चलन करते हुए भी पादपोपगमन की भांति कर्म का क्षय हो सकता है। जिसमें जितना भार उठाने की शक्ति है वह उतना भार उठाता है और अन्त तक उसे निभाता है तो वह अवश्य कर्मक्षय का अधिकारी है। अथवा इंगितमरण अंगीकार करने पर भी यदि साधक में विशिष्ट सामर्थ्य है तो वह यहाँ भी पादपोपगमन की तरह निष्क्रिय रह सकता है। यदि ऐसा सामर्थ्य नहीं है तो हलन-चलन करता हुआ भी समाधि को कायम रखने से वह कर्मों का अन्त कर सकता है।

आसीणेऽणेलिसं मरणं इन्दियाणि समीरए।
कोलावासं समासज्ज वितहं पाउरेसए ॥१७॥
जओ वज्जं समुप्पज्जे न तत्थ अवलम्बए।
तउ उक्कसे अप्पाणं फासे तत्थऽहियासए।१८।

संस्कृतच्छाया—आसीनोऽनीदृशं मरणमिन्द्रियाणि समीरयेत्।
कोलावासं समासाद्य वितथं प्रादुरेषयेत् ॥१७॥
यतोऽवद्यं समुत्पद्येत न तत्रावलम्बेत।
ततः उत्कर्षेदात्मानम् स्पृष्टस्तत्राध्यासयेत्॥१८॥

शब्दार्थ—अणेलिसं=अनुपम। मरणं=मरण का। आसीणे=आश्रय लेने वाला। इन्दियाणि=इन्द्रियों को। समीरए=सम्यक् प्रेरणा करे। कोलावासं=घुण आदि से युक्त पाटिये आदि को। समासज्ज=प्राप्त कर। वितहं=उससे भिन्न अन्य निर्दोष की। पाउरेसए=एषणा करे—सेवना करे। जओ=जिससे। वज्जं=वज्र के समान भारी कर्म अथवा पाप। समुप्पज्जे=उत्पन्न होता हो। न तत्थ अवलम्बए=उसका सहारा न ले। तओ=उससे। अप्पाणं=अपने आपको। उक्कसे=ऊपर निकाले। फासे=दुखों को। तत्थ अहियासए=वहाँ स्थित होकर सहन करे।

भावार्थ—ऐसे अनुपम इंगितमरण को स्वीकार करके इन्द्रियों को राग-द्वेष न करने के लिए प्रेरित करे। सहारा लेने के लिए घुण आदि जीवयुक्त पाटिया हो तो उसे छोड़कर दूसरे निर्जीव काष्ठ खण्ड (पाटिये) की गवेषणा करे ॥१७॥ जिससे वज्रतुल्य भारी पाप उत्पन्न हो ऐसे जीव-जन्तु वाले पाटिये

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

का, ऐसी क्रिया का चिन्तन या अवलम्बन न ले। पाप के व्यापार से आत्मा को निवृत्त करे और जो परीषह-उपसर्ग आवें उन्हें समभाव से सहन करे ॥ १८॥

विवेचन—इन्द्रियाँ और मन विषयों की ओर स्वाभाविकरूप से प्रवृत्त हो जाया करते हैं अतः साधक को उन पर पूरा नियंत्रण रखना चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि इन्द्रियाँ अपने २ विषय को ग्रहण किये बिना तो नहीं रह सकतीं अतएव आवश्यक यह है कि उनके द्वारा गृहीत मनोज्ञ या अमनोज्ञ विषयों के प्रति राग या द्वेष न किया जाय। यदि साधक राग या द्वेष मे फँस जाता है तो उसकी साधना निष्फल हो जाती है इसलिए ऐसे उच्चकोटि के तथा अनन्य सदृश (अनुपम) इङ्गितमरण को अपनाकर साधक राग-द्वेष से परे हो। 'अनन्यसदृश' पद देकर सूत्रकार इङ्गितमरण का गौरव सूचित करते हैं और उसकी आराधना करने वाले की विशिष्ट योग्यता प्रतिपादित करते हैं।

इङ्गितमरण में शरीर क्षीण हो जाता है अतएव साधक को सहारे की आवश्यकता हो यह स्वाभाविक है। इसलिए सहारा लेने के लिए जीवरहित पाटिये की अन्वेषणा करनी चाहिए। जिस पाटिये में घुण इल्ली आदि जीव-जन्तु पड़ गये हों उसका कदापि अवलम्बन नहीं लेना चाहिए। जीवों की यतना का तप की अपेक्षा विशेष महत्व है इसलिए साधक कदापि जीवयुक्त काष्ठखण्ड का अवलम्बन न ले। इसी तरह जिन क्रियाओं से, जिन वचनों से और जिन विचारों से वज्र के समान भारी कर्म की उत्पत्ति होती हो उनका सर्वथा परित्याग करे। मन, वचन और काया को इस प्रकार संयमित करे कि उनसे पाप की उत्पत्ति ही न हो। पाप के उपादानों और निमित्तों से अपने आपको दूर रक्खे।

संस्तारक पर रहा हुआ मुनि मेरु के समान निश्चल, धीर और दृढ़ बनकर उत्तरोत्तर वर्द्धमान अध्यवसायों की श्रेणी पर चढ़ता हुआ सर्वज्ञ-प्रणीत आगमों में अडोल श्रद्धा रखता हुआ, आत्मतत्त्व का चिन्तन करता हुआ, देह और आत्मा की भिन्नता का अनुभव करता हुआ और सब परीषह-उपसर्गों को समभाव से सहन करता हुआ समाधि में मग्न रहे। ऐसा साधक आये हुए दुखों को, रोगों को और परीषहों को अपने कर्मों का फल समझकर कर्मक्षय के लिए सहर्ष सहन करता है। वह समझता है कि इन दुखों और वेदनाओं से शरीर की ही हानि होती है, आत्मा की नहीं। मेरा आत्मतत्त्व तो अखण्ड आनन्दमय है उसे पीड़ा हो ही नहीं सकती। जिसे पीड़ा हो रही है वह शरीर तो नष्ट होने वाला ही है अतः उसकी क्या चिन्ता! ऐसे शुभ अध्यवसायों के द्वारा यह साधक सब संकटों और स्पर्शों को सहन करता है। वह आत्मा के आनन्दमय स्वरूप में निमग्न रहता है अतः उसकी समाधि अखण्ड बनी रहती है। ऐसा साधक इङ्गितमरण का सफल आराधक होता है और वह शीघ्र ही अपना साध्य सिद्ध कर लेता है। यह इङ्गितमरण का अधिकार पूर्ण हुआ। अब इससे उच्चतर स्थिति—पादपोपगमन का वर्णन करते हुए सूत्रकार फरमाते हैं:—

अयं चायतरे सिया जो एवमणुपालए।
सव्वगायनिरोहेऽवि ठाणाओ न विउब्भमे ॥१९॥
अयं से उत्तमे धम्मे पुव्वट्ठाणस्स पग्गहे।
अचिरं पडिलेहित्ता विहरे चिट्ठे माहणे ॥२०॥

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

संस्कृतच्छाया—अयं चायततरः स्यात् यो एवमनुपालयेत् ।
सर्वगात्रनिरोधेऽपि स्थानान्न व्युद्ग्रमेत् ॥१९॥
अयं स उत्तमो धर्मः, पूर्वस्थानस्य प्रग्रहः ।
अचिरं प्रत्युपेक्ष्य विहरेत् तिष्ठेत् माहनः ॥२०॥

शब्दार्थ—अयं=यह पादपोपगमन । आययतरे=विशेष महत्त्व वाला । सिया=होता है । जो=जो मुनि । एवम्=इस विधि से । अणुपालए=पालन करता है वह । सव्वगायनिरोहेऽवि=सारे शरीर में तीव्र वेदना होने पर भी । ठाणाओ=उस स्थान से । न विउब्भमे=चलित नहीं होता है ॥१९॥ से अयं=यह । उत्तमे धम्मे=उत्तम धर्म है । पुव्वट्ठाणस्स=पूर्व कहे हुए दोनों स्थानों की अपेक्षा । पग्गहे=अधिक प्रयत्न से ग्राह्य है । अचिरं=योग्य भूमि को । पडिलेहित्ता=देखकर । माहणे=मुनि । विहरे=पादपोपगमन की विधि का पालन करे । चिट्ठे=उसी स्थान पर रहे ।२०।

भावार्थ—यह पादपोपगमन पूर्वोक्त भक्तपरिज्ञा और इंगितमरण की अपेक्षा विशेष महत्त्व वाला है । जो मुनि पूर्वोक्त विधि से इसका पालन करता है वह सारे शरीर में तीव्र वेदना होने पर भी उस स्थान से नहीं हटता है ॥१९॥ यह पादपोपगमन उत्तम धर्म है । पूर्वोक्त दोनों मरणों की अपेक्षा अधिक प्रयत्न से ग्राह्य है । मुनि निर्दोष भूमि को देखकर पादपोपगमन की विधि का पालन करे और चाहे जैसी परिस्थिति में भी स्थानान्तर न करे ॥२०॥

विवेचन—भक्तपरिज्ञा और इङ्गितमरण के पश्चात् पादपोपगमन का निरूपण इन गाथाओं में किया गया है । यह तीसरा मरण पूर्वोक्त दो मरणों की अपेक्षा विशेष महत्त्व वाला है और विशेष प्रयत्न-साध्य है । इसे ग्रहण करने में पूर्वोक्त दो मरणों की अपेक्षा प्रबलतर सामर्थ्य की अपेक्षा रहती है । इस मरण में पूर्व की सारी विधि तो करनी ही होती है परन्तु विशेषता यह है कि इसमें हलन-चलन का भी निरोध कर दिया जाता है । दीक्षा-शिक्षा आदि सारी बातें पूर्वोक्त मरण के अनुसार ही हैं, हलन-चलन को रोककर वृक्ष की तरह स्थिर हो जाना इसकी विशेषता है ।

जिस स्थान पर, जिस आसन से पादपोपगमन विधि अंगीकार की है उसको किसी भी परिस्थिति में नहीं छोड़ना यह इस विधि का मुख्य आचार है । चाहे सारे शरीर में तीव्र वेदना हो, शरीर जल रहा हो, या मूर्छा आ गई हो, मारणान्तिक कष्ट हो रहा हो, सिंह, सर्प, गिद्ध, कीड़ी आदि शरीर का मांस-रक्त खा-पी रहे हों और भयंकर से भयंकर परिस्थिति हो तो भी वह साधक उस स्थान से और उस आसन से चलायमान नहीं होता । जलने पर, काटे जाने पर, छेदे-भेदे जाने पर या और विषम परिस्थिति आने पर भी चिलातपुत्र की तरह वह साधक उस स्थान का परित्याग नहीं करता । उस स्थान से जरा भी विचलित नहीं होता और अध्यवसायों से भी चलायमान नहीं होता ।

पूर्वोक्त दो विधियों में हलन-चलन की छूट होती है और इसमें इसका भी निषेध होता है इसलिए यह विशेष प्रयत्न से ग्राह्य है । इसका आराधन करने वाला साधक पूर्वोक्त विधि से ही स्थानादि का प्रत्युपेक्षण करे और उसी विधि के अनुसार सब कार्य करके अच्छिन्नमूल वृक्ष की तरह निश्चेष्ट और निष्क्रिय

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

होकर समाधिमरण से जीवन का अन्त करे। यदि बैठे २ इस विधि को अंगीकार की हो तो अन्त तक बैठा ही रहे। खड़े २ की हो तो खड़ा रहे और जिस आसन से की हो उसी आसन से स्थित रहे। निर्जीव की तरह निश्चेष्ट रहे। अवयवों का सूक्ष्म संचालन भी इसमें निषिद्ध है। यह पादपोपगमन की विधि उत्तम धर्म है। अपने सामर्थ्य को देखकर साधक को इसका स्वीकार करना चाहिए।

अचित्तं तु समासज्ज ठावए तत्थ अप्पगं।
वोसिरे सव्वसो कायं न मे देहे परीसहा ॥२१॥
जावज्जीवं परीसहा उवसग्गा इति संखया।
संवुडे देहभेयाए, इय पन्नेऽहियासए ॥२२॥

संस्कृतच्छाया—अचित्तं तु समासाद्य स्थापयेत्तत्रात्मानम्।
व्युत्सृजेत् स्ववशः कायं न मे देहे परीषहाः ॥२१॥
यावज्जीवं परीषहा उपसर्गाः इति संख्याय।
संवृतो देहभेदाय इति प्राज्ञोऽध्यासयेत् ॥२२॥

शब्दार्थ—अचित्तं=निर्जीवस्थान या पाटिया आदि। समासज्ज=प्राप्त करे। तत्थ=उस पर। अप्पगं=अपने आपको। ठावए=स्थापित करे। सव्वसो=सब तरह से। कायं=शरीर का। वोसिरे=ममत्व छोड़ दे। मे देहे=मेरे शरीर में। न परीसहा=परीषह नहीं हो रहे हैं ऐसा विचारे॥२१॥ जावज्जीवं=जब तक जीवन है तब तक। परीसहा-उवसग्गा=परीषह और उपसर्ग हैं। इति संखया=यह जानकर। संवुडे=काया का निरोध करने वाला। देहभेयाए=शरीर का भेद करने के लिए उत्थित। पन्ने=बुद्धिमान् मुनि। अहियासए=सहन करे ॥२२॥

भावार्थ—निर्जीव भूमि और फलक आदि को प्राप्तकर मुनि उस पर अपने आपको स्थापित करे। विधिपूर्वक अपने शरीर के ममत्व का सर्वथा परित्याग कर दे और यह विचार करे कि मेरे शरीर में परीषह नहीं हो रहे हैं। (शरीर ही मेरा नहीं है तो परीषह कैसे हो सकते हैं?) ॥२१॥ जब तक जीवन है तब तक परीषह और उपसर्ग तो आने ही वाले हैं यह जानकर पूरी तरह काया का निरोध करने वाला देहभेद के लिए उत्थित और बुद्धिमान् मुनि आने वाले सब परीषह-उपसर्गों को सहन करे ॥२२॥

विवेचन—पादपोपगमन-विधि में देह का ममत्व सर्वथा छोड़ना आवश्यक है। ममत्व के छूटने पर ही यह उत्कृष्टतम विधि हो सकती है अन्यथा नहीं। इसलिए इन गाथाओं में देह के ममत्व का पूरी तरह त्याग करने को कहा गया है। इस विधि को अङ्गीकार करने वाले साधक को यह समझ लेना चाहिए कि यह शरीर उसका है ही नहीं। शरीर के रहते हुए भी अपने आपको अशरीरी अनुभव करने का सामर्थ्य उत्पन्न होने पर ही इस विधि का आराधन हो सकता है। इसकी विधि इस प्रकार है:—

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

अचित्त भूमि और अचित्त काष्ठ पर मुनि अपने आपको स्थापित कर ले और चारों प्रकार के आहार का त्याग कर दे, आलोचना प्रतिक्रमण करके, नवीन महाव्रतों का आरोपण करके, क्षमायाचना एवं क्षमाप्रदान करके, गुरुदेव की आज्ञा लेकर तथा मेरु की भांति निष्प्रकम्प बनकर अपने शरीर का सब प्रकार से ममत्व हटा ले। ऐसा दृढ़ अध्यवसाय बना ले कि अब से यह देह मेरा नहीं है।

इस स्थिति में रहते हुए यदि परीषह और उपसर्ग हों तो वह मुनि ऐसा विचारे कि ये परीषह मेरे शरीर में नहीं हो रहे हैं। अर्थात् शरीर ही मेरा नहीं है क्योंकि मैंने तो इसे छोड़ दिया है तो उसमें होने वाले परीषहों से मुझे पीड़ा क्यों होनी चाहिए, यह विचार कर उन्हें भलीभांति सहन करे। वह साधक परीषहों और उपसर्गों को कर्मरूपी शत्रुओं को जीतने का साधन मानता है अतः उन्हें अपरीषह ही मानकर सहन कर लेता है।

वह बुद्धिमान् साधक यह समझता है कि जब तक जीवन है तब तक परीषह-उपसर्ग आते ही हैं। इनसे घबराने की क्या आवश्यकता है? संकटों और दुखों का नाम ही तो जीवन है। यह जानकर वह आकुल-व्याकुल नहीं होकर उन्हें सहन करता है। अथवा वह यह समझता है कि ये परीषह और उपसर्ग अन्तिम श्वासोच्छ्वास तक ही रहने वाले हैं। मेरा जीवन अब थोड़ा ही है। मैं जीर्ण-शीर्ण हो ही गया हूँ तो थोड़े समय तक होने वाले परीषहों और उपसर्गों से घबराने की क्या आवश्यकता है? यह जानकर भी वह भलीभांति सब दुखों और वेदनाओं को सहन कर लेता है।

ऐसा साधक देह का भेद करने के लिए ही उत्थित होता है और वह काया के ममत्व को सर्वथा छोड़ देता है इसलिए उसे किसी प्रकार की असमाधि नहीं होती। वह संकटों में भी मेरु की तरह दृढ़ और निश्चल होता है। वह शरीर से भी निश्चल होता है और भावों से भी निश्चल होता है। अतः समाधिमरण से मरकर वह अपने जीवन-साध्य को सिद्ध कर लेता है। वह कृतार्थ हो जाता है।

भेउरेसु न रज्जिज्जा, कामेसु बहुतरेसु वि।
इच्छालोभं न सेविज्जा धुववन्नं सपेहिया ॥२३॥
सासएहिं निमन्तिज्जा, दिव्वमायं न सद्दहे।
तं पडिबुज्झ माहणे सव्वं नूमं विहूणिया ॥२४॥
सव्वट्ठेहिं अमुच्छिए, आउकालस्स पारए।
तितिक्खं परमं णच्चा, विमोहन्नयरं हियं ॥२५॥ त्ति बेमि ॥

संस्कृतच्छाया— भिदुरेषु न रज्येत् कामेषु बहुतरेष्वपि।
इच्छालोभं न सेवेत धुववर्णं संप्रेक्ष्य ॥२३॥
शाश्वतैर्निमन्त्रयेत् दिव्यमायां न श्रद्दधीत।
तत् प्रतिबुध्यस्व माहनः सर्वं नूमं विधूय ॥२४॥
सर्वार्थेष्वमूर्च्छितः, आयुः कालस्य पारगः।
तितिक्षां परमां ज्ञात्वा विमोहान्यतरं हितम् ॥२५॥ इति ब्रवीमि।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

शब्दार्थ—भेउरेसु=नश्वर। बहुतरेसु वि=विपुल। कामेसु=कामभोगों में। न रज्जिज्जा=राग न करे। धुववन्नं=अचल कीर्ति रूप मोक्ष का। संपेहिया=विचार कर। इच्छालोभं=किसी प्रकार की इच्छा-निदान का। न सेविज्जा=सेवन न करे ॥२३॥

सासएहिं=शाश्वत-अक्षय वैभव के लिए। निमंतिज्जा=कोई निमन्त्रण करे। दिव्वमायं=देवता की माया में। न सद्दहे=श्रद्धा न करे। माहणे=मुनि। सव्वं नूमं=सब प्रकार की माया को। विहूणिया=दूर कर। तं पडिबुज्झ=सत्य वस्तु को समझे ॥२४॥

सव्वट्ठेहिं=सब प्रकार के पदार्थों में। अमुच्छिए=गृद्ध नहीं होता हुआ। आउकालस्स पारए=जीवन के पार पहुँचता है। तितिक्खं=सहनशीलता को। परमं णच्चा=श्रेष्ठ जानकर। विमोहन्नयरं=किसी भी प्रकार का पण्डितमरण। हियं=हितकर है अतः उसका सेवन करे ॥२५॥

भावार्थ—मुनि विपुल कामभोगों को नश्वर जानकर उनमें राग न करे। अचल कीर्ति रूप मोक्ष का विचार करके किसी प्रकार की इच्छा-निदान का सेवन न करे ॥२३॥ ऐसे मुनि को कोई अक्षय वैभव ग्रहण करने के लिए निमंत्रित करे अथवा कोई देव नाना प्रकार की ऋद्धि ग्रहण करने के लिए निमंत्रित करे या देवांगना रमण करने की प्रार्थना करे तो उत्तम मुनि उसमें श्रद्धा न करे। मुनि सब प्रकार की माया (कर्म) को दूर कर सत्यस्वरूप को समझे ॥२४॥ सब पदार्थों में गृद्ध न होते हुए वह मुनि जीवन के पार पहुँच जाता है। सहिष्णुता को सर्वोत्तम समझ कर इन हितकर पंडितमरणों में से किसी भी एक का सेवन करे। ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—पूर्ववर्ती गाथाओं में प्रतिकूल परीषह-उपसर्गों को सहन करने के लिए कहा गया है अब यहाँ अनुकूल-परीषहों के आने पर अविचलित रहने का उपदेश दिया गया है। प्रतिकूल-उपसर्गों की अपेक्षा अनुकूल-उपसर्गों से विचलित होने की अधिक सम्भावना रहती है अतः अनुकूल-संयोगों में विशेष जागृति रखना चाहिए।

मुनि की इस प्रकार की विशिष्ट साधना से प्रभावित होकर कोई श्रद्धालु और भावुक राजा आदि भोगों के लिए निमन्त्रण करे, विविध रीति से कन्यादान आदि देना चाहे तो मुनि मन से भी उसे ग्रहण करने की इच्छा न करे। मुनि भलीभांति जानता है कि ये कामभोग नश्वर और क्षणिक हैं। इनमें कोई सार नहीं है। असार के लिए वह सारभूत तत्त्व को नहीं हार सकता।

"कामेसु बहुतरेसु वि" के स्थान पर 'कामेसु बहुलेसु वि' ऐसा भी पाठान्तर पाया जाता है। दोनों का तात्पर्य एक ही है।

इस विधि का अनुष्ठान करने वाले व्यक्ति को इस बात का मुख्य रूप से ध्यान रखना चाहिए कि वह ऐहलौकिक या पारलौकिक आशंसाओं में न फँस जाय। सच्चा मुनि अपने तप के फल के रूप में किसी सांसारिक वस्तु की अभिलाषा नहीं कर सकता। जो व्यक्ति तप के फल के रूप में सांसारिक कामना की

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

सिद्धि चाहता है वह रत्न को काच के मोल बेच देता है। इसलिए मुनि को किसी प्रकार का निदान नहीं करना चाहिए। आगम में कहा गया है:—

इहलोगासंसप्पओगे १ परलोगासंसप्पओगे २ जीवियासंसप्पओगे ३ मरणासंसप्पओगे ४ कामभोगासंसप्पओगे ५।

अर्थात्—सच्चे आराधक मुनि को इस लोक की महिमा पूजा की अभिलाषा १, परलोक में देव की ऋद्धि आदि की अभिलाषा २, जीवित रहने की अभिलाषा ३, दुख से घबरा कर मरने की अभिलाषा ४ और कामभोगों की अभिलाषा ५, का त्याग करना चाहिए। इनकी अभिलाषा करने से इस विधि का सम्यग् आराधन नहीं हो सकता। ब्रह्मदत्त के उदाहरण से निदान का कटुक फल जानकर साधक किसी तरह का निदान न करे।

एकान्त संयम और मोक्ष का ही विचार करके काम और इच्छालोभ का सर्वथा परिहार करे। मोक्षरूप उज्ज्वल कीर्ति के सामने सांसारिक पदार्थों का क्या मोल हो सकता है?

सूत्रकार ने 'दिव्वमायं न सद्दहे' कह कर साधक को सावधान कर दिया है कि वह देवताओं के द्वारा विचलित किये जाने पर भी चलायमान न हो। कोई देव परीक्षा के लिए, कौतुक के लिए, भक्ति के लिए या साधना से विचलित करने के लिए दिव्य ऋद्धि का प्रदर्शन करे और उस ऋद्धि को मुनि को समर्पित करने लगे तो मुनि उसकी माया में न फँसे। अथवा कोई देवाङ्गना दिव्यरूप धारण कर मुनि से भोग-याचना करे तो मुनि उसके माया-जाल में न फँसे। सच्चा मुनि पूर्वोक्त बातों को माया-जाल समझे और उनमें न फँसे। मुनि अपने कर्मों को दूर कर सत्यतत्त्व को समझता रहे।

जो मुनि किसी भी वस्तु में आसक्ति नहीं रखता है वह विधिपूर्वक पादपोपगमन की आराधना करता हुआ और वर्द्धमान शुभ अध्यवसाय रखता हुआ जीवन के पार पहुँच जाता है।

इस प्रकार इस उद्देशक में भक्तपरिज्ञा, इङ्गितमरण और पादपोपगमन रूप तीनों पण्डित-मरण का स्वरूप दिखाकर उपसंहार करते हुए सूत्रकार यह बताते हैं कि काल, क्षेत्र, पुरुष और अवस्था के आश्रय से ये तीनों मरण तुल्यकक्ष हैं। अपनी शक्ति का विचार कर मुनि को किसी भी एक प्रकार का पण्डित-मरण स्वीकार करना चाहिए। पण्डितमरण में मुख्य बात सहिष्णुता है। समभावपूर्वक परीषहों और उपसर्गों को सहन करना ही इन मरणों का मुख्य आचार है। अतः इन्हें हितकर, कल्याणकर और मोक्ष-प्रदाता समझ कर मुनि यथोक्त रूप से इनका सेवन करे। विधिपूर्वक इनका अनुष्ठान करने वाला साधक सब दुखों से छूटकर सिद्ध-बुद्ध हो जाता है।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

उपधानश्रुताख्य नवम अध्ययन

—प्रथम उद्देशकः—

(महावीर की साधना)

गत आठ अध्ययनों में जो तत्त्वार्थ प्ररूपित किया गया है वह भूमिति की सरल रेखा के समान कल्पनात्मक या आदर्शरूप ही नहीं है अपितु व्यावहारिक है। वह सब कथन आचरणगम्य है। श्रमण भगवान् महावीर ने न केवल यह उपदेश ही प्रदान किया है बल्कि स्वयं उसका आचरण किया है। अनुभव, परीक्षण और आचरण के पश्चात् ही भगवान् वर्द्धमानस्वामी ने यह सब तत्त्वार्थ प्ररूपित किया है अतः यह अनुभूत, परीक्षित और आचीर्ण होने से सर्वथा उपादेय है। यह बताने के लिए इस अध्ययन में भगवान् की साधना का वर्णन किया जाता है।

आठवें अध्ययन में तीन प्रकार के अभ्युद्यतमरण का कथन किया गया है। उनमें से किसी भी समाधि-मरण की आराधना करने वाले मुनि को परीषह और उपसर्गों में पर्वत के समान निश्चल एवं अडोल रहने का कहा गया है। इस कठिनतम साधना की सिद्धि के लिए उस मुनि के सन्मुख ऐसा प्रेरणा देने वाला आदर्श रहना चाहिए जिससे प्रेरणा पाकर वह मुनि इस कार्य में सफलता प्राप्त कर सके। श्रमण भगवान् महावीर का तपोमय जीवन एक ऐसा प्रेरणात्मक आदर्श है जो किसी भी व्यक्ति को भयंकर से भयंकर परीषह और उपसर्गों में चट्टान की तरह दृढ़ रहने की शिक्षा प्रदान करता है, जो अपने साध्य की सिद्धि के लिए अन्तिम दम तक लगे रहने की प्रेरणा प्रदान करता है। अतएव इस अध्ययन में भगवान् के तपोमय जीवन का उल्लेख किया जाता है ताकि साधक उनके आदर्श को अपने सामने रख कर साधना में निश्चल एवं अडोल बन सके।

सब तीर्थङ्करों का यह कल्प है कि वे अपने २ तीर्थ में आचारार्थ का प्ररूपण करते हुए अन्त में अपने तपः कर्म का वर्णन करते हैं। यह तपश्चर्या का विवरण 'उपधानश्रुत' कहा जाता है।

'उप-सामीप्येन धीयते-व्यवस्थाप्यते इत्युपधानम्'।

जो समीप में रक्खा जाय वह उपधान है। यह उपधान दो प्रकार का है—द्रव्य उपधान और भाव उपधान। शय्यादि पर सुखपूर्वक शयन करने के लिए सिर के सहारे के लिए तकिया रक्खा जाता है यह द्रव्य-उपधान है। चारित्र के लिए ज्ञान, दर्शन और तपश्चरण अवलम्बनभूत हैं अतएव ये भाव-उपधान कहे जाते हैं। यहाँ ज्ञान, दर्शन और तपश्चरण रूप भाव-उपधान का अधिकार समझना चाहिए। भाव-उपधान का फल बताते हुए निर्युक्तिकार कहते हैं:—

जह खलु मइलं वत्थं सुज्झइ उदगाइएहिं दव्वेहिं।
एवं भावुवहाणेण सुज्झए कम्ममट्ठविहं ॥

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

जिस प्रकार मलिन वस्त्र जल आदि द्रव्यों से शुद्ध हो जाता है इसी प्रकार भाव-उपधान से आठ प्रकार के कर्म नष्ट हो जाते हैं और आत्मा शुद्ध-निर्मल हो जाता है।

निर्युक्तिकार ने भाव-उपधान से होने वाले कर्म-विनाश की विभिन्न पर्यायों का निम्न गाथा में संकलन किया है:—

ओधूणए धुणए नासणे विणासणे भवणे खवणे सोहिकरे।
छेयणे भेयणे फेडणे डहणे धुवणे य कम्माणं ॥

यह भाव-उपधान कर्मग्रन्थि को अपूर्वकरण से भेदने वाला, अनिवर्तिकरण से सम्यक्त्व में स्थापन करने वाला, कर्मप्रकृति को स्तिबुक-संक्रमण से अन्य प्रकृति के रूप में बदलने वाला, शैलेशी अवस्था में कर्मों का सर्वथा अभाव करने वाला, उपशम श्रेणी में कर्मों के उदय को रोकने वाला, क्षपक श्रेणी में क्षय करने वाला, शुद्धि करने वाला, कर्मस्थिति का छेदन करने वाला, बादरसम्पराय अवस्था में सञ्ज्वलन लोभ का भेदन करने वाला, चतुःस्थितिक अशुभ प्रकृति को रसादि से त्रिस्थानिकादि करने वाला, केवलि-समुद्घात से दग्धरज्जुतुल्य करने वाला और अशुभ कर्मों को सर्वथा धो डालने वाला है। प्रायः यह सब कर्म-विनाश की अवस्थाएँ उपशम श्रेणी, क्षपक श्रेणी, केवलिसमुद्घात और शैलेशी अवस्था के कारण होने वाली हैं। तात्पर्य यह है कि यह उपधान कर्मों का क्षय करने वाला है अतएव इसमें सदा प्रयत्नशील होना चाहिए। उपधान के आचरण पर भार देते हुए निर्युक्तिकार ने कहा है:—

तित्थयरो चउनाणी सुरमहिओ सिज्झियव्वय धुवम्मि।
अणिगूहियबलविरिओ तवोविहाणम्मि उज्जमइ ॥
किं पुण अवसेसेहिं दुक्खक्खयकारणा सुविहिएहिं ।
होइ न उज्जमियव्वं सपच्चवायम्मि माणुस्से ? ॥

तीर्थङ्कर, चारज्ञान के धारक, देवताओं से पूजित और निश्चित सिद्ध होने वाले भी अपने बल-वीर्य का गोपन नहीं करते हुए तपः कर्म में प्रयत्नशील होते हैं तो शेष बुद्धिमानों को अनेक विघ्न-बाधाओं से पूर्ण मनुष्य जीवन में कर्म का क्षय करने के लिए क्यों प्रयत्नशील नहीं होना चाहिए ? अर्थात् कर्मक्षय के लिए अवश्य ही उद्यम करना चाहिए।

वीरवर वर्द्धमान स्वामी ने इस तपःकर्म का आचरण किया है। इसका आचरण करने वाले अन्य धीर-वीर भी शाश्वत निर्वाण को प्राप्त करते हैं। अब भगवान् के आदर्श तपोमय जीवन का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं:—

अहासुयं वइस्सामि जहा से समणे भगवं उट्ठाए।
संखाए तंसि हेमन्ते अहुणो पव्वइए रीइत्था ॥१॥
णो चेविमेण वत्थेण पिहिस्सामि तंसि हेमन्ते।
से पारए आवकहाए एयं खु अणुधम्मियं तस्स ॥२॥

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

चत्तारि साहिए मासे, बहवे पाणजाइया आगम्म ।
अभिरुज्झ कायं विहरिंसु आरुसिया णं तत्थ हिंसिंसु ॥३॥
संवच्छरं साहियं मासं जं न रिक्कासि वत्थगं भगवं ।
अचेलए तओ चाई तं वोसिज्ज वत्थमणगारे ॥४॥

संस्कृतच्छाया—यथा श्रुतं वदिष्यामि यथा स श्रमणो भगवानुत्थाय ।
संख्याय तस्मिन्हेमन्ते, अधुना प्रव्रजितः रीयते स्म ॥१॥
न चैवानेन वस्त्रेण पिधास्यामि तस्मिन्हेमन्ते ।
स पारगो यावत्कथमेतत्खल्वनुधार्मिकम् तस्य ॥२॥
चतुरः साधिकान् मासान् बहवः प्राणिजातय आगत्य ।
आरुह्य कायं विजह्रुः, आरुह्य तत्र हिंसन्ति स्म ॥३॥
संवत्सरं साधिकं मासं यद्यत्यक्षधान् वस्त्रकं भगवान् ।
अचेलकस्ततस्त्यागी तद् व्युत्सृज्य वस्त्रमनगारः ॥४॥

शब्दार्थ—अहासुयं=जैसा मैंने सुना है वैसा । वइस्सामि=कहूँगा । जहा=जैसा कि । से समणे भगवं=वह श्रमण भगवान् । उट्ठाए=उद्यत विहार अङ्गीकार करके अथवा कर्मक्षय के लिए उद्यत होकर । संखाए=ज्ञान प्राप्त कर । तंसि हेमन्ते=उस हेमन्त ऋतु में । अहुणो पव्वइए=दीक्षा अङ्गीकार करते ही । रीइत्था=विहार कर गये ॥१॥ इमेण वत्थेण=इस वस्त्र से । तंसि हेमन्ते=उस हेमन्त ऋतु में । णो चेव पिहिस्सामि=अपने शरीर को ढँक लूंगा ऐसा विचार भी नहीं हुआ । आवकहाए=यावज्जीवन । से पारए=वह भगवान् परीषहों के पारगामी थे । तस्स एयं=भगवान् का यह वस्त्र-धारण । खु=निश्चय ही । अणुधम्मियं=अनुधार्मिक है—पूर्व तीर्थङ्करों से आचीर्ण है ॥२॥ साहिए चत्तारि मासे=कुछ अधिक चार मास तक । बहवे पाणजाइया=बहुत से प्राणी । आगम्म=आकर । अभिरुज्झ=चढ़कर । कायं विहरिंसु=शरीर पर फिरने लगे—काटने लगे । तत्थ आरुसिया=शरीर पर चढ़कर । हिंसिंसु=विविध रीति से दुख देने लगे ॥३॥ संवच्छरं=एक वर्ष । साहियं मासं=और एक मास से कुछ अधिक समय तक । भगवं=भगवान् ने । जं वत्थगं न रिक्कासि=उस वस्त्र का त्याग नहीं किया । तओ=तत्पश्चात् । तं वत्थं=उस वस्त्र को । वोसिज्ज=छोड़कर । अणगारे=अनगार भगवान् । अचेलए चाई=वस्त्ररहित त्यागी हो गए ॥४॥

भावार्थ—श्री सुधर्मस्वामी अपने अन्तेवासी जम्बूस्वामी को कहते हैं कि उन भगवान् वर्द्धमान स्वामी का जीवन-चरित्र जैसा मैंने सुना है वैसा कहूँगा । उन श्रमण भगवान् महावीर ने कर्मक्षय करने के लिए उद्यत होकर राज्य आदि को बन्धन का कारण जानकर और उनका परित्याग कर हेमन्त ऋतु में दीक्षा अंगीकार की । दीक्षा अंगीकार करने के अनन्तर उसी समय (तीसरे पहर में) विहार किया ॥१॥

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

सब प्रकार के वस्त्र, अलंकार आदि उपधि का त्यागकर निकले हुए भगवान् के शरीर पर इन्द्र ने देवदूष्य वस्त्र डाल दिया। मगर भगवान् ने यह विचार नहीं किया कि इस वस्त्र से मैं हेमन्त ऋतु में अपने शरीर को ढँक लूँगा। भगवान् यावज्जीवन अपनी प्रतिज्ञा के अथवा परीषह और उपसर्ग के पारगामी थे। भगवान् का यह वस्त्र-धारण उनके पूर्ववर्ती तीर्थंकरों के द्वारा समाचीर्ण होने से आनुधार्मिक है। अर्थात् परम्परागत कल्प है ॥२॥

दीक्षा अंगीकार करते समय धारण किये सुगन्धित वस्त्रों और सुगन्धित देवदूष्य के गन्ध से आकृष्ट होकर चार मास से कुछ अधिक समय तक बहुत से भौंरे आदि प्राणी आकर भगवान् के शरीर पर चढ़े और शरीर पर चढ़कर डंक मारने लगे ॥३॥

एक वर्ष और कुछ अधिक एक मास तक स्थितकल्प मानकर भगवान् ने उस वस्त्र का परित्याग नहीं किया। इसके पश्चात् उस वस्त्र का त्याग करके वे अनगार सर्वथा अचेल होकर विचरने लगे ॥४॥

विवेचन— जिस प्रकार आकाश-दीप समुद्र में भटकते हुए जहाजों को पथप्रदर्शन करने वाला होता है उसी प्रकार महापुरुषों की जीवन-चर्या दूसरे प्राणियों के लिए आदर्श रूप होती है। महापुरुषों के जीवन आकाश-दीप की तरह मार्ग भूले हुए व्यक्तियों के लिए पथप्रदर्शन करने वाले होते हैं। श्रमण भगवान् महावीर का साधना-जीवन साधना-मार्ग के पथिकों के लिए आकाश-दीप और प्रकाश-स्तम्भ के समान है। भगवान् का साधना-जीवन उन पर आने वाले परीषह और उपसर्गों का शृङ्खलाबद्ध इतिहास है। भयंकर से भयंकर कष्टों के आ पड़ने पर भी तनिक भी विचलित न होना कैसी महावीरता है! महावीर इसीलिए महावीर कहलाए कि वे परीषहों और उपसर्गों के बीच पर्वत की तरह अडोल रह सके और दृढ़ता के साथ कर्मरिपुओं के साथ संग्राम करते हुए आत्मबल के कारण विजयी हुए।

कहा जाता है कि श्रमण भगवान् महावीर के पूर्व जन्मोपार्जित कर्म अन्य सब तीर्थङ्करों के सम्मिलित कर्मों की अपेक्षा भी अधिक गुरुतर थे। इतने गुरुतर कर्मों के होते हुए भी भगवान् ने अपने प्रबल पुरुषार्थ, दीर्घ तपश्चरण और कठोर कष्ट-सहिष्णुता के कारण उन पर विजय प्राप्त की। भगवान् की कर्म-विजय और आत्मविजय की सत्य कहानी सब मुमुक्षुओं के लिए आदर्शरूप है अतएव इस अध्ययन में भगवान् के साधना-जीवन का वृत्तान्त दिया गया है।

आर्य सुधर्मस्वामी अपने शिष्य जम्बूस्वामी को सम्बोधन कर कहते हैं कि मैं उन अनन्यसदृश महापुरुष की जीवन-चर्या का वृत्तान्त अपनी मनोकल्पना से नहीं किन्तु श्रुत के अनुसार या जैसा मैंने सुना है वैसा तुम्हें कहूँगा सो ध्यानपूर्वक श्रवण करो।

सिद्धार्थ-तनय, त्रिशलानन्दन, राजकुमार वर्द्धमान को सांसारिक सुखोपभोग के सब साधन उपलब्ध थे। सुख-वैभव की गोद में पले होने पर भी उन्हें वह सब असार प्रतीत हुआ। राजकीय वैभव, स्त्री, कुटुम्ब-परिवार, वस्त्रालंकार आदि सब बन्धनरूप मालूम होने लगे। वे आत्मकल्याण और जनकल्याण के लिए उत्सुक हो उठे। विश्वबन्धुत्व की भावना से उनका अन्तःकरण लहलहा उठा। वे अब अपने आपको संकुचित क्षेत्र में सीमित न रख सके। अतएव राजकीय वैभव, धन, कुटुम्ब-परिवार आदि के

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

बन्धन को तोड़कर वे प्रव्रज्या अंगीकार करने के लिए तत्पर हुए। वे भावी भगवान्, त्रिलोकपूजित देवाधिदेव तीर्थङ्कर बनने वाले थे, उनके द्वारा तीर्थ का प्रवर्त्तन होने वाला था अतएव वे राजसी ऐश्वर्य को ठुकरा कर, सर्व वस्त्रालंकार का परित्याग करके, पञ्चमुष्टि लोच करके हेमन्तऋतु के मार्गशीर्ष कृष्णा दशमी की पूर्व की ओर नमती हुई छाया के समय—अन्तिमप्रहर में दीक्षा अङ्गीकार करके सामायिक चारित्र ग्रहण करते हैं। दीक्षा ग्रहण करते ही भगवान् को मनः पर्याय ज्ञान उत्पन्न हो जाता है।

दीक्षा अंगीकार करने के पश्चात् उसी समय भगवान् क्षत्रियकुण्ड ग्राम से विहार कर एक मुहूर्त्त दिन शेष रहते हुए कुमारग्राम में आ पहुँचे। दीक्षा अंगीकार करते ही विहार करके भगवान् ने यह सूचित किया कि दीक्षा-धारण करने पर उस स्थान पर नहीं रहना चाहिए क्योंकि ऐसा करने से नवदीक्षित के कुटुम्बियों के मोहोत्पादक सहवास के कारण नवदीक्षित के वर्द्धमान परिणामों में हानि होने की और मोहोदय होने की सम्भावना रहती है। अतः दीक्षा-धारण करने के पश्चात् विहार करने की प्रणाली प्रचलित होने का ऐसा आशय प्रतीत होता है।

वहाँ पहुँचने पर भगवान् ने नाना प्रकार के अभिग्रह धारण किये और देव, मनुष्य तथा तिर्यञ्च सम्बन्धी उपसर्गों और परीषहों को अविचलभाव से सहन करने की प्रतिज्ञा की। यावज्जीवन प्रतिज्ञा के पारगामी भगवान् ने घोर परीषह-उपसर्गों को समभावपूर्वक सहन किया। साधिक बारह वर्ष पर्यन्त कठिनतम तपश्चर्या की, मौनव्रत धारण किया, अनार्यदेश में भयंकर कष्ट सहन किये और अन्त में प्रबल पुरुषार्थ के द्वारा कर्म-रिपुओं को परास्त कर निरावरण केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त किया।

भगवान् के सामायिक चारित्र स्वीकार करने के पश्चात् ही इन्द्र ने उनके शरीर पर देवदूष्य वस्त्र डाल दिया। भगवान् ने सब प्रकार के वस्त्रों का पहले ही त्याग कर दिया था तदपि निःसंग अभिप्राय से यह समझ कर कि दूसरे मुमुक्षु धर्मोपकरण के बिना धर्म का अनुष्ठान करने में समर्थ नहीं होंगे इसलिए मध्यस्थवृत्ति से भगवान् ने वह वस्त्र अपने शरीर पर रहने दिया। भगवान् तो सर्वथा वस्त्ररहित होकर साधना करने में समर्थ थे, वे देवदूष्य को हटा सकते थे फिर भी उसे तेरहमास पर्यन्त रख कर भगवान् ने यह बताया कि एकान्त अचेलता या सचेलता का आग्रह रखना उचित नहीं है। आत्मिक साधना में अचेलता या सचेलता का विशेष महत्त्व नहीं है। अचेलता में महत्त्व का अनुभव करना और सचेलता में हीनता मानना उचित नहीं है। यह सूचित करने के लिए ही सर्ववस्त्र त्यागी भगवान् ने देवदूष्य का अमुक काल पर्यन्त त्याग नहीं किया ऐसा अनुमान सहज ही होता है।

इन्द्र के द्वारा डाले गये देवदूष्य का उपभोग करने का भगवान् ने कदापि विचार नहीं किया। उन्हें ऐसा विचार कभी नहीं हुआ कि मैं इस वस्त्र के द्वारा हेमन्त ऋतु की ठिठुराने वाली सर्दी में अपने शरीर को ढँक लूंगा अथवा इस वस्त्र से लज्जा ढँक लूँगा। भगवान् ने दीक्षा के समय ही सब वस्त्रों का परित्याग कर दिया था अतः प्रतिज्ञा-पालक भगवान् ने उस वस्त्र के उपभोग की कभी इच्छा नहीं की। उपभोगेच्छा के बिना ही अनुधार्मिक व्यवहार समझकर भगवान् ने उस वस्त्र को शरीर पर रहने दिया अनुधार्मिक का अर्थ यह है कि अन्य तीर्थङ्करों से भी यह समाचीर्ण है। जैसा कि कहा गया है:—

से जेमि जे य अईया जे य पडुप्पन्ना जे य आगमिस्सा अरिहन्ता भगवन्तो जे य पव्वयन्ति, जे य पव्वइस्सन्ति सव्वेते सोवहीधम्मो देसिअव्वो त्ति कट्टु तित्थधम्मयाए एसाणुधम्मिगत्ति एगं देवदूसमायाए पव्वइंसु वा पव्वयन्ति वा पव्वइस्सन्ति वा।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

अर्थात्—जो अतीत, वर्त्तमान और आगामी अर्हन्त भगवन्त दीक्षित हुए दीक्षा लेते हैं और दीक्षा लेंगे वे सब धर्मोपकरण युक्त धर्म की देशना करने के लिए एक देवदूष्य लेकर प्रव्रजित होते हैं या होंगे, *यह तीर्थ धर्म के लिए अनुधार्मिक व्यवहार है।*

उक्त व्यवहार के पालन के हेतु भगवान् ने वस्त्र शरीर पर रहने दिया लेकिन कदापि उसके उपभोग की भावना नहीं की। भगवान् यावज्जीवन अपनी प्रतिज्ञा का पालन करते रहे। अथवा परीषह-उपसर्गों को समभावपूर्वक सहन करते हुए उनके पारगामी हुए।

दीक्षा-धारण के समय धारण किए सुगन्धित वस्त्रों और सुगन्धित देवदूष्य की गन्ध से आकृष्ट होकर भौंरे आदि विविध प्राणी आकर भगवान् के शरीर पर चढ़ जाते और डंक मारते। मांस-रुधिर की इच्छा से वे प्राणी भगवान् के शरीर को काटते और दुख पहुँचाते थे। भगवान् समभावपूर्वक सब कष्ट सहन करते रहे।

स्थितकल्प मर्यादा समझकर भगवान् ने कुछ अधिक तेरह मास तक उस देवदूष्य का त्याग नहीं किया। बाद में उसका परित्याग करके भगवान् सर्वथा अचेल होकर विचरने लगे। जैनशासन में एकान्तवाद को कतई अवकाश नहीं है तो इसमें सचेलता या अचेलता का एकान्त आग्रह कैसे हो सकता है? श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा को इस ओर उदार दृष्टिकोण से विचार करने की आवश्यकता है। अनेकान्तवाद के प्रवर्त्तक जैनधर्म में एकान्त आग्रह का होना खटकता है। वह दिन धन्य होगा जब एकान्त आग्रह को दूर कर सब जैन बन्धु एक सूत्र में बँधकर जैनशासन की दीप्ति को दमकाएँगे। जैनं जयति शासनम्।

अदु पोरिसिं तिरियं भित्तिं चक्खुमासज्ज अन्तसो झायइ।
अह चक्खुभीया संहिया ते हन्ता हन्ता बहवे कंदिंसु ॥१॥
सयणेहिं वितिमिस्सेहिं इत्थिओ तत्थ से परिन्नाय।
सागारियं न सेवेइ य, से सयं पवेसिया झाइ ॥३॥
जे के इमे अगारत्था मीसीभावं पहाय से झाइ।
पुट्ठो वि नाभिभासिंसु गच्छइ नाइवत्तइ अंजू ॥७॥

संस्कृतच्छाया—अथ पौरुषीं तिर्यग्भित्तिं चक्षुरासाद्य अन्तशः ध्यायति।
अथ चक्षुर्भीताः संहितास्ते हत्वा हत्वा बहवः चक्रन्दुः ॥५॥
शयनेषु व्यतिमिश्रेषु स्त्रीः तत्र स परिज्ञाय।
सागारिकं न सेवते च स स्वयं प्रवेश्य ध्यायति ॥६॥
ये केचन इमे अगारस्थाः मिश्रीभावं प्रहाय स ध्यायति।
पृष्टोऽपि नाभ्यभाषत गच्छति नातिवर्त्तते ऋजुः ॥७॥

शब्दार्थ—अदु=बाद में। पोरिसिं=पुरुष-प्रमाण। तिरियं भित्तिं=आदि में सँकड़े और आगे विस्तीर्ण मार्ग को। चक्खुमासज्ज=आँख से देखकर। अन्तसो झाइ=मार्ग में ध्यान

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

देते हुए गति करते थे। चक्खुभीया=देखकर डरे हुए। संहिया=मिलकर। बहवे=बहुत से बालक। हन्ता हन्ता=धूल की मुट्ठियाँ फेंक-फेंक कर। कंदिंसु=कोलाहल करते थे ॥५॥ विति-मिस्सेहिं=गृहस्थों के सम्पर्क वाले। सयणेहिं=स्थानों में रहने पर। तत्थ=वहाँ। इत्थिओ=स्त्रियों को। परिन्नाय=प्रत्याख्यान-परिज्ञा से छोड़कर। से=वह भगवान्। सागारियं=मैथुन का। न सेवेइ=सेवन नहीं करते थे। से सयं=वह भगवान् अपने आपको। पवेसिया=विरक्ति मार्ग में लगाकर। झाइ=प्रशस्त ध्यान में लीन रहते थे ॥६॥ जे के इमे अगारत्था=जो कोई गृहस्थ थे उनके साथ। मीसीभावं=सम्पर्क को। पहाय=छोड़कर। से=वह भगवान्। झाइ=प्रशस्त ध्यान करते थे। पुट्ठोऽवि=गृहस्थों के द्वारा पूछे जाने पर भी। नाभिभासिंसु=उत्तर नहीं देते थे। गच्छइ=अपने ही रस्ते चलते थे। अंजू=वे संयमी। नाइयत्तइ=मोक्ष पथ का उल्लंघन नहीं करते थे ॥७॥

भावार्थ—वे भगवान् अपने शरीर-प्रमाण आदि में सँकड़े और आगे से विस्तीर्ण मार्ग को आंख से देखते हुए अर्थात् युगपरिमित भूमि का अवलोकन करते हुए एकाग्र होकर लक्ष्यपूर्वक ईर्यासमिति से चलते थे। भगवान् को देखकर, डर कर या कुतूहल से कई बालक आदि इकट्ठे होकर धूल फेंक-फेंक कर हल्ला करते थे ॥५॥

कभी कभी गृहस्थों के संसर्ग वाले स्थान में रहते तब कामविह्वल स्त्रियां भोग की प्रार्थना करतीं किन्तु स्त्री के प्रति मोह करना—भोग भोगना बंध का कारण जानकर, प्रत्याख्यान-परिज्ञा से छोड़कर भगवान् ने मैथुन का सेवन नहीं किया। वे आत्मा को विरक्ति के मार्ग में लगाकर प्रशस्त ध्यान में ही लीन रहते थे ॥६॥

कभी गृहस्थों के सम्पर्क में रहने पर भी वे उनमें घुलते-मिलते नहीं थे। गृहस्थों के सम्पर्क को छोड़कर वे धर्म-शुक्ल ध्यान में लीन रहते थे। गृहस्थों के पूछने पर भी उत्तर नहीं देते थे (मौन का अवलम्बन लिये हुए थे) वे अपने ही रस्ते पर चलते थे। उन संयमी भगवान् ने कभी मोक्षपथ का या शुभ ध्यान का उल्लंघन नहीं किया ॥७॥

विवेचन—भगवान् की चर्या का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वे चलते समय ईर्यासमिति का पूरा ध्यान रखते थे। अपने शरीर-परिमाण भूमि को ध्यानपूर्वक देखते हुए वे विचरण करते थे। चार ज्ञान के स्वामी भगवान् भी जब चलते हुए इतनी सावधानी रखते थे तब सामान्य साधकों को तो कितनी अधिक सावधानी रखनी चाहिए। भगवान् ने अपने चर्या-गुण के द्वारा ईर्यासमिति के पालन पर विशेष ध्यान देने का संकेत किया है। चलते समय मन, वाणी और शरीर की अन्य प्रवृत्तियों को रोककर सावधानीपूर्वक चलना चाहिए। कुतूहल से इधर-उधर दृष्टि डालते हुए कभी नहीं चलना चाहिए। चलते हुए वाचना, पृच्छना, पर्यटना और अनुप्रेक्षा तक का निषेध किया गया है इसलिए मन, वचन और तन को

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

एकाग्र करते हुए, लक्ष्यपूर्वक, जीवों की यतना करते हुए गमन करना चाहिए। ईर्यासमितिपूर्वक गमन करने से अप्रमत्तभाव की वृद्धि होती है और सतत जागरूकता बनी रहती है।

भगवान् को इस प्रकार उपयोगपूर्वक चलते हुए देखकर कई अनार्य और बे-समझ व्यक्ति भगवान् को शंका की और कुतूहल की दृष्टि से देखते थे। कई बालक भगवान् को नग्न, मुण्डित और धीरे २ चलते हुए देखकर डर जाते अथवा कुतूहलवश होकर भगवान् पर धूल की मुट्ठियाँ भर-भर कर फेंकते थे तथा हो-हल्ला मचाते थे। वे चिल्लाते थे कि अरे देखो! यह नंगा कौन है? कहाँ से आया है? यह कोई जादूगर तो नहीं है? इस प्रकार वे बालक एकत्रित होकर चिल्लाते थे। मगर भगवान् तो अपने कर्त्तव्य में लगे रहते। वे इन लोगों के व्यवहार पर तनिक भी ध्यान नहीं देते और सब कुछ सहन कर लेते थे।

उपयोगपूर्वक विहार करते हुए भगवान् को कभी गृहस्थों के संसर्ग वाले स्थानों पर भी रहना पड़ता था। उन स्थानों में विविध प्रकृति के स्त्री-पुरुषों का सम्पर्क रहता था। भगवान् के स्वाभाविक सौन्दर्य से मुग्ध होकर कई स्त्रियाँ भोग की याचना करती थीं मगर भगवान् तनिक भी विचलित नहीं होते थे। प्रबल पवन के चलने पर भी मेरु कभी चलायमान नहीं होता इसी तरह विविध रूपवती स्त्रियों के भोग की याचना करने पर भी भगवान् रोममात्र से भी विचलित नहीं हुए। जिनके मन में वैराग्य की लौ लगी हुई है वे स्त्रियों के वश में नहीं हो सकते। भगवान् ने स्त्री के प्रति मोह को शुभमार्ग में अर्गला की भांति समझ कर त्याग कर दिया था इसलिए अनुकूल परिस्थिति में भी भगवान् ने कभी मैथुन का सेवन नहीं किया। स्त्रियों के प्रति मोह और आसक्ति को आत्म-स्वरूप की प्राप्ति का प्रबलतर बाधक कारण जानकर और उसे प्रत्याख्यान-परिज्ञा से छोड़कर भगवान् अपने आपको वैराग्य-मार्ग में लगाये रहते थे। वे सदा शुभ ध्यान में लीन रहते थे। साधकों को चाहिए कि वे अपने मन को विषयों की ओर न जाने देने के लिए उसे सदा शुभ प्रवृत्ति में लगाये रहे। विषयों के प्रभाव से बचने का यह सरल उपाय है।

ग्रामानुग्राम विहार करते हुए भगवान् को गृहस्थों के सम्पर्क में भी आना पड़ता था मगर भगवान् कभी उनमें घुलते-मिलते नहीं थे। सम्पर्क में आने पर भी वे अलिप्त-से रहते थे। जैसे जल के सम्पर्क में रहते हुए भी कमल जल से लिप्त नहीं होता है इसी प्रकार भगवान् गृहस्थों का कदाचित् सम्पर्क होने पर भी अपनी वैराग्यवृत्ति के कारण उनसे अलिप्त रहते थे। वे तो उदासीन-से होकर धर्म-शुक्ल ध्यान में लीन रहते थे। भगवान् मौन रहकर साधना करते थे। कभी कोई गृहस्थ कुछ पूछता तो भी वे उसका उत्तर नहीं देते थे। उत्तर नहीं पाने के कारण वह गृहस्थ किसी प्रकार के चोर आदि की शंका करता या क्रुद्ध होकर संताप देता तो भी भगवान् सब सहन कर लेते थे मगर उत्तर नहीं देते थे। भगवान् अपने काम से काम रखते हुए अपने निर्धारित मार्ग पर चला करते थे। वे संयम का अनुष्ठान करने वाले भगवान् कभी मोक्षपथ का उल्लंघन नहीं करते थे। चाहे जैसी सम या विषम परिस्थिति में भी वे धर्मध्यान और शुक्लध्यान में लीन रहते थे। उन्होंने अपने आपको ऐसा दृढ़ और मजबूत बना लिया था कि उन पर सम-विषम परिस्थिति का मानों कोई प्रभाव ही नहीं पड़ता था। इस प्रकार भगवान् दृढ़ता के साथ परीषह और उपसर्गों में भी सब प्रकार की समतोलता को कायम रखते हुए साधना के मार्ग में आगे बढ़ते जाते थे।

नागार्जुनीय वाचना में 'पुट्ठो वि नाभिभासिंसु' आदि के स्थान पर "पुट्ठो व सो अपुट्ठो व णो अणुन्नाइ पावगं भगवं" ऐसा पाठ है। इसका अर्थ है कि गृहस्थों के पूछने पर या नहीं पूछने पर या नहीं पूछने पर भगवान् सावद्य कार्य की अनुमति नहीं देते थे।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

णो सुकरमेयमेगेसिं नाभिभासे य अभिवायमाणे ।
हयपुव्वे तत्थ दण्डेहिं लूसियपुव्वे अपुण्णेहिं ॥८॥
फरुसाइं दुतितिक्खाइं अइअच्च मुणी परक्कममाणे ।
आघायनट्टगीयाइं दण्डजुद्धाइं मुट्ठिजुद्धाइं ॥९॥
गढिए मिहुकहासु समयम्मि नायसुए विसोगे अदक्खु ।
एयाइं से उरालाइं गच्छइ नायपुत्ते असरणयाए ।१०।

संस्कृतच्छाया—न सुकरमेतदेकेषां नाभिभाषते चाभिवादयतः ।
हतपूर्वस्तत्र दण्डैः लूषितपूर्वोऽपुण्यैः ॥८॥
परुषाणि दुस्तितिक्षाणि अतिगत्य मुनिः पराक्रममाणः ।
आख्यातनृत्यगीतानि दण्डयुद्धानि मुष्टियुद्धानि ॥९॥
ग्रथितान् मिथः कथासु समये ज्ञातसुतः विशोकोऽद्राक्षीत् ।
एतानि स उरालानि गच्छति ज्ञातपुत्रः अस्मरणाय ।१०।

शब्दार्थ—एगेसिं=अन्य के लिए । एयं नो सुकरं=यह सरल नहीं है कि । अभिवयमाणे=नमस्कार करने वाले से । नाभिभासे=भाषण न करे । अपुण्णेहिं=पुण्यहीन अनार्यों के द्वारा । तत्थ=अनार्यदेश में । दण्डेहिं=दण्डों से । हयपुव्वे=पीटे जाने पर । लूसियपुव्वे=बाल आदि नोंचने पर भी समभाव में स्थित रहे ॥८॥ फरुसाइं=कठोर । दुतितिक्खाइं=दुस्सह्य वचनों की । अइअच्च=अवगणना करके । मुणी=वह मुनि भगवान् । पराक्कममाणे=पराक्रम करते हुए सहन करते थे । आघायनट्टगीयाइं=कथा, नृत्य गीत आदि सुनकर कुतूहल नहीं पाते । दण्डयुद्धाइं=लकडियों की मारामारी । मुट्ठियुद्धाइं=मुष्टियुद्ध देखकर विस्मय नहीं करते ॥९॥ मिहुकहासु समए=किसी समय परस्पर कामादि कथा में । गढिए=लीन बने हुए को । णायसुए=ज्ञात पुत्र भगवान् । विसोगे=शोक-हर्ष से रहित होकर । अदक्खु=देखते थे । से णायपुत्ते=वह ज्ञातपुत्र भगवान् । एयाइं उरालाइं=इन दुस्सह परीषह-उपसर्गों का । असरणयाए=स्मरण नहीं करते हुए । गच्छति=संयम में विचरण करते थे ॥१०॥

भावार्थ—साधारण जनों के लिए यह अनुष्ठान सरल नहीं है कि कोई अभिवादन करे तो उसके साथ भाषण भी न करे । पुण्यहीन प्राणियों के द्वारा अनार्य देश में जाने पर डंडों से पीटे जाने पर और बाल नोंचने पर भी भगवान् समभाव में ही स्थित रहे ॥८॥ दुस्सह कठोर शब्द आदि की परवाह न करते हुए भगवान् संयम में पराक्रम करते रहे । कथा, नृत्य, गीत आदि सुनकर कुतूहल अनुभव न करते । दण्डयुद्ध और मुष्टियुद्ध देखकर विस्मय नहीं पाते । भगवान् ने सब प्रकार के कुतूहल का त्याग कर

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

दिया था ॥९॥ किसी समय कोई व्यक्ति परस्पर कामादि कथा में लीन हों तो उनकी बात सुनकर भी ज्ञातपुत्र महावीर न हर्ष का अनुभव करते, न शोक का। वे मध्यस्थभाव धारण करते। (ऐसे भाव में रहते मानों उन्होंने वह बात सुनी ही न हो।) ऐसे अनुकूल-प्रतिकूल भयंकर परीषह आने पर भी वे उनका विचार न करते हुए संयम में विचरण करते थे ॥१०॥

विवेचन—प्रतिकूल संयोगों की अपेक्षा अनुकूल संयोगों में फिसल पड़ने की अधिक सम्भावना रहती है। अनुकूल उपसर्गों पर विजय प्राप्त करना बहुत कठिन होता है। कोई गाली दे तो उसे सहन कर लेना आसान है किन्तु कोई तारीफ करे तो उसे सुनकर हर्ष का अनुभव न करना कठिन है। इसीलिए सूत्रकार ने कहा है कि अनुकूल संयोगों में अविचल रहना साधारण जनों के लिए सरल नहीं है। कोई अभिवादन करे–नमस्कार करे उसके साथ नहीं बोलना रूप उदासीन व्यवहार करना बड़ा कठिन है। अभिवादन और तारीफ करने वाले के साथ ऐसा उदासीन वर्त्ताव करना उच्चकोटि की निस्पृहता का सूचक है। साधारण प्राणियों में ऐसी निस्पृहता का आना अत्यन्त कठिन है। भगवान् अपने को अभिवादन करने वाले के प्रति भी इतने निस्पृह थे कि वे उससे भाषण भी नहीं करते। इसी तरह भगवान् अभिवादन के भूखे भी न थे जो अभिवादन न करने वाले पर कोप करते। भगवान् तो प्रशंसा और मान से सर्वथा निस्पृह थे। भगवान् प्रतिकूल परीषहों को भी समभावपूर्वक सहन करते थे। अनार्य देश में पापात्माओं ने उन्हें डंडों से मारा, उनके बाल नोंचे तो भी वे समभावपूर्वक सहन करते रहे। परीषह और उपसर्गों को कर्म का साधन मानकर भगवान् शान्तभाव से सब सहते रहे। कैसी अनुपम है प्रभु की सहिष्णुता! कैसा अद्भुत है प्रभु का आत्मबल! कैसा अनोखा है प्रभु का समभाव! शेष स्पष्ट ही है अतः विवेचन की आवश्यकता नहीं।

अवि साहिए दुवे वासे सीओदं अभुच्चा निक्खंते।
एगत्तगए पिहियच्चे से अहिन्नायदंसणे सन्ते ॥११॥
पुढविं च आउकायं च तेउकायं च वाउकायं च।
पणगाइं बीयहरियाइं तसकायं च सव्वसो नच्चा ॥१२॥
एयाइं सन्ति पडिलेहे चित्तमन्ताइं से अभिन्नाय।
परिवज्जिय विहरित्था इय संखाय से महावीरे ॥१३॥

संस्कृतच्छाया—अपि साधिके द्वे वर्षे शीतोदकमभुक्त्वा निष्क्रान्तः।
एकत्वगतः पिहितार्चः सोऽभिज्ञातदर्शनः शान्तः ॥११॥
पृथिवीञ्चाप्कायञ्च तेजस्कायञ्च वायुकायञ्च।
पनकानि बीजहरितानि त्रसकायञ्च सर्वशो ज्ञात्वा॥१२॥
एतानि सन्ति प्रत्युपेक्ष्य चित्तवन्ति सोऽभिज्ञाय।
परिवर्ज्य विहृतवान् इति संख्याय स महावीरः ॥१३॥

शब्दार्थ—अवि=तथा। साहिए दुवे वासे=दो वर्ष से कुछ अधिक काल तक। सीओदं=सचित्त जल का। अभुच्चा=उपभोग नहीं करके। निक्खन्ते=प्रव्रजित हुए। से=वह भगवान्

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

एगत्तगए=एकत्व भावना भावित थे। पिहियच्चे=क्रोधादि कषायों को बुझाए हुए थे। अहिआयदंसणे=सम्यक्त्व भावना भावित थे। सन्ते=इन्द्रियों और मन से शान्त थे ॥११॥ पुढविं च=पृथ्वीकाय को। आउकायं च=अप्काय को। तेउकायं च=अग्निकाय को। वाउकायं च=वायुकाय को। पणगाइं=लीलन-फूलन, सेवार आदि को। बीयहरियाइं=बीज और अन्य वनस्पतिकाय को। तसकायं च=त्रसकाय को। सव्वसो नच्चा=सब प्रकार से जानकर ॥१२॥ एयाइं सन्ति=पृथ्वीकाय आदि जीव हैं ऐसा। पडिलेह=विचार कर। चित्तमन्ताइं=उन्हें सचित्त। अभिन्नाय=जानकर। इय संखाय=ऐसा समझ कर। से महावीरे=वह महावीर भगवान्। परिवज्जिय=आरम्भ को छोड़कर। विहरित्था=विचरने लगे ॥१३॥

भावार्थ—(माता-पिता का स्वर्गवास होने के पश्चात् भगवान् अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार दीक्षा-धारण करने के लिए तत्पर हुए। तब उनके ज्येष्ठ भाई नन्दीवर्धन आदि ने कहा कि घाव पर नमक न छिड़किये। भगवान् ने दो वर्ष तक और गृहस्थाश्रम में रहना स्वीकार किया किन्तु) उन दो वर्ष से कुछ अधिक समय तक भगवान् ने सचित्त जल का पान नहीं किया और अन्य काम में भी नहीं लिया। भगवान् उस गृहस्थ अवस्था में भी एकत्व-भावना का चिन्तन करते थे, क्रोधादि कषायों को उपशान्त किए हुए थे, सम्यक्त्व भावना से भावित थे और इन्द्रियों तथा मन से शान्त थे ॥११॥ पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, लीलन-फूलन, सेवार आदि बीज तथा अन्य वनस्पतिकाय और त्रसकाय को सब प्रकार से जानकर—इन सब जीवों का अस्तित्व है और उनमें चेतना है ऐसा जानकर उनकी हिंसा का त्याग करके वह महावीर विचरने लगे ॥१२-१३॥

विवेचन—त्यागमार्ग यकायक अंगीकार नहीं किया जा सकता। इसके लिए भी साधना की आवश्यकता होती है। यदि आवेशवश या अन्य कारणवश यकायक त्यागमार्ग स्वीकार कर लिया जाता है तो उसका परिणाम अनिष्ट भी आ सकता है। यह हो सकता है कि आवेश के कम हो जाने और त्यागमार्ग में आने वाली कठिनाइयों के कारण वह साधक न इधर का रहे और न उधर का। इसलिए त्यागमार्ग जैसा कठिन मार्ग स्वीकार करने से पूर्व गृहस्थाश्रम में रहते हुए त्यागी की क्रियाओं का अभ्यास कर लेना आवश्यक होता है। भगवान् ने भी दीक्षा-धारण करने से पूर्व दो वर्ष से कुछ अधिक समय तक त्यागमार्ग की क्रियाओं का अभ्यास किया, यही इन गाथाओं में बताया गया है।

भगवान् ने गर्भावस्था में ही यह प्रतिज्ञा कर ली थी कि माता-पिता के जीवित रहने तक मैं दीक्षा नहीं लूँगा। जब भगवान् के माता-पिता का स्वर्गवास हो गया तब अपनी प्रतिज्ञा की पूर्ति होने से वे दीक्षा धारण करने के लिए तय्यार हुए। इस पर उनके ज्येष्ठ बन्धु नन्दीवर्धन आदि ने प्रार्थना की कि—अभी दीक्षा धारण कर आप घाव पर नमक न छिडकिए। अवधिज्ञानी भगवान् ने उनका कथन स्वीकार किया और दो वर्ष पर्यन्त गृहस्थाश्रम में रहना मंजूर कर लिया। उन दो वर्षों में भगवान् गृहस्थाश्रम में भी योगी की तरह रहे। उन्होंने त्यागमार्ग की क्रियाओं का अभ्यास कर लिया। इन वर्षों में भगवान् ने सचित्त जल का उपभोग नहीं किया। न तो सचित्त जल का पान किया और न पादप्रक्षालन आदि में

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

काम लिया। भगवान् प्रासुक जल का ही उपयोग करते। भगवान् ने सचित्त आहार का भी त्याग कर दिया था। गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी उन्होंने सावद्य आरम्भ का त्याग किया। न केवल त्रस जीवों की ही अपितु पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और वनस्पति के जीवों की भी वे यतना करने लगे। इस तरह प्राणातिपात का उन्होंने परिहार किया। शेष व्रतों की भी इसी तरह आराधना आरम्भ कर दी। गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी भगवान एकत्व-भावना का चिन्तन करते थे। वे अपने आपको अकेला समझते थे। वे परिवार आदि में रहते हुए भी उनसे अलिप्त रहते थे। क्रोध आदि कषायों पर उन्होंने काबू कर लिया था। वे कूर्म की तरह इन्द्रियों का गोपन करते थे। वे सम्यक्त्व भावना से भावित थे। उनकी इन्द्रियाँ और मन शान्त थे। त्रस ही नहीं अपितु अव्यक्त चेतना वाले सूक्ष्म स्थावर जन्तुओं को भी सुख-दुख का संवेदन होता है यह जानकर उन्होंने सब आरम्भ का परित्याग कर दिया था। इस तरह गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी वे योग की साधना करते थे। दो वर्ष तक साधना करने के पश्चात् भगवान् ने प्रव्रज्या अङ्गीकार की।

अदु थावरा य तसत्ताए, तसा य थावरत्ताए।
अदुवा सव्वजोणिया सत्ता कम्मुणा कप्पिया पुढो बाला ॥१४॥
भगवं च एवमन्नेसी सोवहिए हु लुप्पई बाले।
कम्मं च सव्वसो णच्चा तं पडियाइक्खे पावगं भगवं ॥१५॥

संस्कृतच्छाया—अथ स्थावराश्च त्रसतया, त्रसाश्च स्थावरतया।
अथवा सर्वयोनिकाः सत्त्वाः कर्मणा कल्पिताः पृथग् बालाः ॥१४॥
भगवांश्चैवमन्वैषीत् सोपधिकः खलु लुप्यते बालः।
कर्म च सर्वशो ज्ञात्वा तत् प्रत्याख्यातवान् पापकं भगवान् ॥१५॥

शब्दार्थ—अदु=अनन्तर। थावरा=स्थावर जीव। तसत्ताए=त्रसरूप में उत्पन्न हो सकते हैं। तसा य थावरत्ताए=त्रस भी स्थावर रूप में उत्पन्न हो सकते हैं। अदुवा=अथवा। सत्ता=जीव। सव्वजोणिया=सब योनियों में उत्पन्न होने के स्वभाव वाले हैं। बाला=रागद्वेष युक्त जीव। कम्मुणा=अपने किये हुए कर्म के कारण। पुढो=पृथक् २ रूप से, विविध योनि वाले। कप्पिया=माने गये हैं ॥१४॥ भगवं=भगवान् ने। एवमन्नेसी=ऐसा जाना कि। सोवहिए=द्रव्य-भाव उपधि वाला। बाले=अज्ञ जीव। लुप्पइ=क्लेश पाता है। कम्मं च=कर्म को। सव्वसो नच्चा=भलीभांति जानकर। भगवं=भगवान् ने। तं पावगं=कर्म और उसके कारण पाप को। पडियाइक्खे=त्याग दिया ॥१५॥

भावार्थ—स्थावर जीव, त्रसरूप में और त्रसजीव स्थावररूप में भी उत्पन्न होते हैं। अथवा सभी संसारी जीव सब योनियों में पैदा होने के स्वभाव वाले हैं। अज्ञानी जीव अपने-अपने कर्म के अनुसार पृथक २ योनियों को धारण करते हैं ॥१४॥ भगवान् वर्धमान स्वामी ने ऐसा जाना कि अज्ञ जीव बाह्य और आन्तरिक उपधि के कारण कर्म से लिप्त होकर क्लेश पाता है। इस कर्म के रहस्य को पूरी तरह जानकर कर्म और उसके कारण पाप का भगवान् ने त्याग कर दिया ॥१५॥

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

विवेचन—जिस समय भगवान् महावीर का जन्म हुआ उस समय की परिस्थिति बड़ी विषम थी। चारों तरफ हिंसा और पाप का साम्राज्य था। धर्म के नाम पर पाखण्ड की पूजा होती थी। थोथे क्रियाकाण्डों में ही धर्म सीमित था। यज्ञों में पशुओं की बलि दी जाती थी। जिसकी लाठी उसकी भैंस वाली कहावत चरितार्थ होती थी। निर्बलों की पुकार सुनने वाला कोई नहीं था। धर्म का स्वरूप विकृत हो चुका था। अहिंसा का दिवाला और हिंसा का बोलबाला था। ऐसी परिस्थिति भगवान् के सामने थी। अतः उन्होंने अपने प्रबल पुरुषार्थ के द्वारा अहिंसक क्रान्ति करने का निश्चय किया। हिंसा के विकार को दूर करने के लिए उन्होंने अहिंसा का अवलम्बन लिया। अहिंसा में ही उन्हें उस विषम परिस्थिति का हल (समाधान) दिखाई दिया। अतः उन्होंने अहिंसा को अपनाया, उसका गहराई से चिन्तन किया, उसे अपने आचरण में उतारा और अन्त में विश्व भर में प्रचार किया। यही कारण है कि भगवान् के शासन में, सूत्र में, आचार में और व्यवहार में अहिंसा ओत-प्रोत है। भगवान् ने जनता को उपदेश दिया कि तुमने पञ्चेन्द्रियत्व पाया है, स्थूल और समर्थ शरीर पाया है तो इसके मद में दूसरे सूक्ष्म और निर्बल प्राणियों को पीड़ा न दो। यह याद रखना चाहिए कि किसी समय तुम इनकी योनि में आ सकते हो और ये सूक्ष्म प्राणी तुम्हारे जैसी स्थूल और समर्थ योनि में आ सकते हैं। त्रस प्राणी कर्मवश स्थावर हो सकते हैं और स्थावर प्राणी कर्म के कारण त्रसरूप उत्पन्न हो सकते हैं। प्राणियों का यह स्वभाव है कि वे अपने कर्म के अनुसार सब योनियों में उत्पन्न हो सकते हैं। ऐसा कहा गया है कि इस संसार में ऐसा एक भ प्रदेश नहीं है जहाँ जीव ने अनेक बार जन्म-मरण न किया हो। कहा भी है—

रंगभूमिर्न सा काचिच्छुद्धा जगति विद्यते।
विचित्रैः कर्मनेपथ्यैर्यत्र सत्त्वैर्न नाटितम्॥

इस संसार की नृत्यशाला में ऐसी कोई भी रङ्गभूमि खाली नहीं है जहाँ विचित्र कर्मरूपी पर्दे की ओट में जीवों ने नृत्य न किया हो। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक जीव ने अनेक बार प्रत्येक योनि में जन्म लिया है। यह जानकर त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा से बचना चाहिए।

भगवान् ने उपधि (परिग्रह) को कर्म-बन्धन का मूल माना है। यही संसार की जड़ है। उपधि के बन्धन को तोड़ने से कर्म का बन्धन टूट जाता है। कर्म के इस भेद को जानकर भगवान् ने परिग्रह, और उसके उपादान पाप का सर्वथा परित्याग किया। परिग्रह कर्मबन्ध का मूल है यह पहले प्रतिपादित किया जा चुका है।

दुविहं समिच्च मेहावी किरियमक्खायऽणेलिसं नाणी।
आयाणसोयमइवायसोयं जोगं च सव्वसो णच्चा॥१६॥
अइवत्तियं अणाउट्टिं सयमन्नेसिं अकरणयाए।
जस्सित्थिओ परिन्नाया सव्वकम्मावहा उ से अदक्खु॥१७॥

संस्कृतच्छाया—द्विविधं समेत्य मेधावी क्रियामाख्यातवाननीदृशीं ज्ञानी।
आदानस्रोतोऽतिपातस्रोतो योगञ्च सर्वशो ज्ञात्वा॥१६॥
अतिपातिकामनाकुट्टिम् स्वयमन्येषामकरणतया।
यस्य स्त्रियः परिज्ञाताः सर्वकर्मावहास्तु सोऽद्राक्षीत्॥१७॥

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

शब्दार्थ—दुविहं=दो प्रकार के कर्मों को। समिच्च=जानकर। आयाणसोयं=आस्रव का कारणभूत इन्द्रियों के असंवर को। अइवायसोयं=हिंसादि पाप को। योगं च=और योग को। सव्वसो णच्चा=सब प्रकार से जानकर। मेहावी=सर्वभाव को जानने वाले। नाणी=केवलज्ञानी भगवान् ने। अणेलिसं=अनन्यसदृश-अनुपम। किरियं=संयमानुष्ठान का। अक्खायं=कथन किया ॥१६॥ अइवत्तियं=पापरहित। अणाउट्टिं=अहिंसा का आश्रय लेकर। सयमन्नेसिं=स्वतः और दूसरों को भी। अकरणयाए=पाप जनक व्यापार करने योग्य नहीं है। जस्स=जिसने। सव्वकम्मावहा=सब कर्मों की मूलभूत। इत्थिओ परिन्नाया=स्त्रियों का त्याग कर दिया है। से अदक्खु=वही सच्चा परमार्थदर्शी है ॥१७॥

भावार्थ—ईर्यापथिक (कषायरहित) और साम्परायिक (कषाय-युक्त) दोनों प्रकार के कर्मों को जानकर तथा कर्म के आस्रव का कारणभूत इन्द्रियों का असंवर, हिंसा आदि पाप के स्रोत और योग को जानकर सर्वभावों के ज्ञाता केवलज्ञानी भगवान् ने कर्म का उच्छेद करने वाली संयमानुष्ठान रूप क्रिया का कथन किया ॥१६॥ पापरहित-निर्दोष अहिंसा का आश्रय लेकर स्वयं तथा दूसरों को भी पापजनक व्यापार करने योग्य नहीं है (ऐसा समझ कर तथा समझा कर स्वयं निवृत्त हुए और दूसरों को भी निवृत्त किया)। स्त्रियों के प्रति किया जाने वाला मोह सब कर्मों का मूल है यह जानकर जिसने स्त्री-मोह का परित्याग कर दिया वही सच्चा दृष्टा—परमार्थदर्शी है। (भगवान् ने स्त्री-मोह का सर्वथा परित्याग कर दिया था अतएव वे परमार्थदर्शी हुए) ॥१७॥

स्पष्ट होने से विवेचन की आवश्यकता नहीं है।

अहाकडं न से सेवे सव्वसो कम्म अदक्खू।
जं किंचि पावगं भगवं तं अकुव्वं वियडं भुंजित्था ॥१८॥
णो सेवइ य परवत्थं परपाए वि से न भुंजित्था।
परिवज्जियाण उमाणं गच्छइ संखडिं असरणयाए ॥१९॥
मायण्णे असणपाणस्स नाणुगिद्धे रसेसु अपडिन्ने।
अच्छिंपि नो पमज्जिज्जा नो वि य कंडूयए मुणी गायं ॥२०॥

संस्कृतच्छाया—यथाकृतं न स सेवते सर्वशः कर्म अद्राक्षीत्।
यत्किंचित्पापकं भगवांस्तदकुर्वन् विकटमभुंक्त ॥१८॥
नो सेवते च परवस्त्रं परपात्रेऽपि स नाभुंक्त।
परिवर्ज्यापमानं गच्छति संखण्डीमशरणतया ॥१९॥

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

मात्राज्ञोऽशनपानस्य नानुगृद्धो रसेष्वप्रतिज्ञः ।
अक्ष्यपि नो प्रमार्जयेन्नापि च कण्डूयते मुनिर्गात्रम् ॥२०॥

शब्दार्थ—अहाकडं=अपने लिए बनाये हुए--आधाकर्मी आहार का। से=वह भगवान्। न सेवें=सेवन नहीं करते थे। सव्वसो=सब प्रकार से। कम्म अदक्खु=कर्म का बन्धन जाना था। जं किंचि पावगं=जो कुछ भी पाप का कारण था। तं=उसको। अकुव्वं=नहीं करते हुए। भगवं=भगवान्। वियडं=प्रासुक। भुञ्जित्था=आहार करते थे ॥१८॥ परवत्थं=परवस्त्र का। णो सेवइ=सेवन नहीं करते थे। से=वह। परपाए वि=परपात्र में भी। न भुञ्जित्था=भोजन नहीं करते थे। उमाणं=अपमान का। परिवज्जियाण=विचार छोड़कर। असरणाए=अदीन होकर। संखडिं=भोजनशालाओं में। गच्छइ=जाते थे ॥१९॥ असणपाणस्स=आहार पानी की। मायण्णे=मात्रा को जानते थे। रसेसु=रसों में। नाणुगिद्धे=आसक्ति नहीं रखते। अपडिन्ने=रसीले पदार्थों को ग्रहण करने की प्रतिज्ञा नहीं करते। अच्छिपि=आँख को भी। न पमाजिज्जा=धूल आदि दूर करने के लिए नहीं पोंछते थे। मुणी=वे मुनि। गायं=शरीर को। नो वि य कण्डूयए=खुजाते भी नहीं थे ॥२०॥

भावार्थ—भगवान् अपने निमित्त बनाये हुए भोजन आदि का सेवन नहीं करते थे क्योंकि ऐसा करने में सब प्रकार के कर्मों का आस्रव होता है ऐसा उन्होंने जाना था। जो कुछ भी पाप का कारण होता उसको नहीं करते हुए भगवान् निर्दोष अन्नपानी का ही सेवन करते थे। (तात्पर्य यह है कि भगवान् ने साधक अवस्था में भी किसी प्रकार के दोष का सेवन नहीं किया) ॥१८॥ भगवान् पर-वस्त्र* का सेवन नहीं करते थे और पर-पात्र में भोजन नहीं करते थे। वे अपमान का विचार न करते हुए अदीन-भाव से भोजन-स्थानों में भिक्षा के लिए जाते थे ॥१९॥ भगवान् आहार-पानी ग्रहण करने के परिमाण के ज्ञाता थे। वे दूध-दही आदि रसों में आसक्ति नहीं रखते थे। वे रस वाले पदार्थों को ही लेने की प्रतिज्ञा नहीं करते थे। आंख में रज आदि गिर जाने पर भी उसे पोंछते नहीं थे और वे मुनि खुजली आने पर भी शरीर को खुजाते नहीं थे ॥२०॥

अप्पं तिरियं पेहाए अप्पं पिट्ठओ पेहाए ।
अप्पं बुइएऽपडिभाणी पंथपेही चरे जयमाणे ॥२१॥

*पर-वस्त्र का अर्थ टीकाकार ने—"प्रधानं वस्त्रं परस्य वा वस्त्रं" ऐसा किया है। अर्थात् भगवान् उत्तम वस्त्र या दूसरे का वस्त्र काम में न लाते थे। इसका अर्थ यह नहीं कि वे साधारण वस्त्र या अपना वस्त्र काम में लाते थे। इसका तात्पर्य इतना ही मालूम होता है कि वस्ती में गोचरी के लिए जाने पर कोई गृहस्थ वस्त्र देता तो नहीं लेते थे। पात्र न रखने के कारण गृहस्थ अगर अपने पात्र में आहार देता तो उसमें जीमते नहीं थे। मतलब यह है कि भगवान् न गृहस्थ का दिया हुआ वस्त्र काम में लेते थे और न गृहस्थ के पात्र में भोजन करते थे। उनके पास अपना वस्त्र या पात्र तो था नहीं। वे अचेलक और पाणिपात्र थे।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

सिसिरंसि अद्धपडिवन्ने तं वोसिज्ज वत्थमणगारे।
पसारित्तु बाहुं परक्कमे नो अवलम्बियाण कंधम्मि।२२।
एस विही अणुक्कन्तो माहणेण मईमया।
बहुसो अपडिन्नेण भगवया एवं रियंति ॥२३॥ त्ति बेमि ॥

संस्कृतच्छाया—अल्पं तिर्यक् प्रेक्षते, अल्पं पृष्ठतः प्रेक्षते।
अल्पं ब्रूते अप्रतिभाषी पथिप्रेक्षी चरेद्यतमानः ॥२१॥
शिशिरेऽध्वप्रतिपन्नस्तद् व्युत्सृज्य वस्त्रमनगारः।
प्रसार्य बाहू पराक्रमते नावलम्ब्य स्कन्धे (निहुति) ।२२।
एष विधिरनुक्रान्तो माहनेन मतिमता।
बहुशोऽप्रतिज्ञेन भगवता एवं रीयन्ते ॥२३॥ इति ब्रवीमि ॥

शब्दार्थ—अप्पं तिरियं पेहाए=भगवान् इधर-उधर नहीं देखते थे। अप्पं पिट्ठओ पेहाए=पीछे नहीं देखते थे। अप्पं बुइए=बोलते नहीं थे। अपडिभाणी=पूछने पर उत्तर नहीं देते थे। पंथपेही=मार्ग में देखते हुए। जयमाणे=यतनापूर्वक। चरे=चलते थे ॥२१॥ अणगारे=वह अनगार। तं वत्थं=उस देवदूष्य वस्त्र को। वोसिज्ज=छोड़ देने के पश्चात्। सिसिरंसि=शिशिर ऋतु में। अद्धपडिवन्ने=मार्ग में चलते समय। बाहुं पासरित्तु=भुजाओं को फैला कर। परक्कमे=चलते थे। कंधम्मि अवलंबियाण नो=कंधे पर हाथ नहीं रखते थे ॥२२॥ मईमया=बुद्धिमान्। माहणेण=माहन। बहुसो अपडिन्नेण=किसी प्रकार का निदान न करने वाले। भगवया=भगवान् महावीर ने। एस विही अणुक्कन्तो=इस आचार का पालन किया है। एवं रियंति=अन्य मुमुक्षु भी इस प्रकार आचरण करते हैं। त्ति बेमि=ऐसा मैं कहता हूँ ॥२३॥

भावार्थ—अप्रतिबन्ध विहारी भगवान् सामने युग प्रमाण मार्ग का अवलोकन करते हुए यतनापूर्वक चलते थे। वे न इधर-उधर देखते थे और न पीछे की ओर देखते थे। किसी के पूछने पर उत्तर नहीं देते और मौन रहते थे ॥२१॥ वह महान् योगी देवदूष्य का त्याग कर देने के पश्चात् शिशिर ऋतु में, मार्ग में चलते समय दोनों हाथ लम्बे फैला कर चलते थे। ठंड से घबरा कर हाथ सिकोड़ कर नहीं चलते थे और कंधे पर हाथ नहीं रखते थे ॥२२॥ मतिमान्, माहन, किसी प्रकार की आकांक्षा न रखने वाले भगवान् महावीर ने इस आचार का पालन किया। अन्य मुमुक्षु मुनि भी इसी प्रकार पालन करते हैं। ऐसा मैं कहता हूँ ॥२३॥

इति प्रथमोद्देशकः

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

उपधानश्रुताख्य नवम अध्ययन

—द्वितीय उद्देशकः—

प्रथम उद्देशक में भगवान् की चर्या (विहार) का प्रतिपादन किया गया है। विहार करते हुए कहीं न कहीं निवास करना ही होता है अतः इस द्वितीय उद्देशक में भगवान् की शय्या–उपाश्रय का प्रतिपादन किया जाता है। भगवान् कैसे स्थानों में निवास करते थे, वहाँ रहते हुए किस प्रकार परीषह-उपसर्गों को सहन करते थे इत्यादि बातें इस उद्देशक में बतायी गयी हैं। उद्देशक इस प्रकार आरम्भ होता है:–

चरियासणाइं सिज्जाओ एगइयाओ जाओ बुइयाओ।
आइक्ख ताइं सयणासणाइं जाइं सेवित्था से महावीरे ॥१॥
आवेसणसभापवासु पणियसालासु एगया वासो।
अदुवा पलियठाणेसु पलालपुञ्जेसु एगया वासो ॥२॥
आगन्तारे आरामागारे तह य नगरे व एगया वासो।
सुसाणे सुण्णगारे वा रुक्खमूले व एगया वासो ॥३॥
एएहिं मुणी सयणेहिं समणे आसि पतेरसवासे।
राइं दिवंपि जयमाणे अपमत्ते समाहिए झाइ ॥४॥

संस्कृतच्छाया—चर्याऽऽसनानि शय्यानि, एकेकानि यान्यभिहितानि।
आचक्ष्व तानि शयनासनानि यानि सेवितवान् स महावीरः ॥१॥
आवेशनसभाप्रपासु पण्यशालासु एकदा वासः।
अथवा पलित (कर्म) स्थानेषु पलालपुञ्जेष्वेकदा वासः ॥२॥
आगन्तारेऽऽरामागारे तथा च नगरे वैकदा वासः।
श्मशाने शून्यागारे वा वृक्षमूले वैकदा वासः ॥३॥
एतेषु मुनिः शयनेषु श्रमणः (समना) आसीत् प्रव्रयोदशवर्षम्।
रात्रिं दिनमपि यतमानोऽप्रमत्तः समाहितो ध्यायति ॥४॥

शब्दार्थ—चरियासणाइं=विहार में अवश्य होने वाले आसन। सिज्जाओ=शय्या–वस्ती। एगइयाओ जाओ बुइयाओ= जो कोई भी कहीं गई हैं। ताइं सयणासयाइं=उन शय्या और आसन का। आइक्ख=कथन करिये। जाइं से महावीरे सेवित्था=जिनका उन महावीर

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

महावीर ने सेवन किया ॥१॥ आवेसणसभापवासु=भींत वाले शून्य घरों में, सभाओं में, प्याऊ में। पणियसालासु=दुकानों में। एगया=कभी। वासो=रहते थे। अदुवा=अथवा। एगया=कभी। पलालपुञ्जेसु=घास के मंचों के नीचे। वासो=निवास करते थे ॥२॥ आगन्तारे=गांव के बाहर मुसाफिर खाने में। आरामागारे=बगीचे में बने हुए मकानों में। तह य नगरे=तथा नगर में। एगया वासो=कभी निवास होता था। एगया=कभी। सुसाणे=श्मशान में। सुण्णागारे=खँडहर में। रुक्खमूले वा वासो=अथवा वृक्ष के नीचे निवास करते थे ॥३॥ मुणी=वह मुनि। एएहिं सयणेहिं=इन स्थानों में। पतेरसवासे=तेरह वर्ष पर्यन्त। समणे आसि=तप करते हुए या निश्चल मन से रहे। राइं दिवंपि=रातदिन। जयमाणे=यतना करते हुए—संयम में उद्यत होकर। अपमत्ते=निद्रादि प्रमादरहित होकर। समाहिए=शंकादि से रहित बनकर। झाइ=धर्म-शुक्ल-ध्यान ध्याते थे ॥४॥

भावार्थ—भगवान् की चर्या का वर्णन सुनकर जम्बूस्वामी सुधर्मास्वामी से कहते हैं कि चर्या (विहार) में वस्ती, आसन आदि अवश्यंभावी हैं अतएव जिन शय्या--आसन आदि का उन भगवान् महावीर ने सेवन किया है उनका कथन करने की कृपा करें। (अर्थात् भगवान् कैसी वस्ती में रहते थे? कैसी शय्या और आसन का उपयोग करते थे सो कहिए) ॥१॥ (सुधर्मास्वामी कहते हैं—भगवान् स्थान के लिए किसी प्रकार की प्रतिज्ञा नहीं करते थे। विहार करते-करते जहां चरम पौरुषी का समय आता वहीं रात्रि व्यतीत करते थे।) भगवान् कभी भींत वाले खाली घरों में, सभाओं में (विश्रान्तिगृहों में), पानी की प्याऊ में, दुकानों में रहते थे, कभी लुहार की शाला में, घास के बने हुए मंचों के नीचे निवास करते थे ॥२॥ भगवान् कभी ग्राम के बाहर बने हुए मुसाफिरखानों में, कभी बगीचे में बने हुए मकानों में तो कभी नगर में निवास करते थे। वे कभी खँडहरों में, श्मशान में और कभी वृक्ष के नीचे ही ठहर जाते थे ॥३॥ वे मुनि महावीर तेरह वर्ष तक इस प्रकार की वस्तियों में तपस्या में लीन होकर अथवा निश्चल मन रखकर रात-दिन अप्रमत्त रूप से संयम में उद्यत रहकर किसी प्रकार की शंका न करते हुए समाधिपूर्वक धर्मध्यान-शुक्लध्यान ध्याते रहे ॥४॥

णिद्दंपि नो पगामाए सेवइ भगवं उट्ठाए।
जग्गावेइ य अप्पाणं इसिं साई य अपडिन्ने ॥५॥
संबुज्झमाणे पुणरवि आसिंसु भगवं उट्ठाए।
निक्खम्म एगया राओ बहि चंकमिया मुहुत्तागं ॥६॥
सयणेहिं तत्थुवसग्गा भीमा आसी अणेगरूवा य।
संसप्पगा य जे पाणा अदुवा जे पक्खिणो उवचरन्ति ॥७॥

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

अदु कुचरा उवचरन्ति गामरक्खा य सत्तिहत्था य।
अदु गामिया उवसग्गा इत्थी एगइया पुरिसा य ॥८॥

संस्कृतच्छाया—निद्रामपि नो प्रकामतः सेवते भगवानुत्थाय।
जागरयति चात्मानमीषच्छायी चाप्रतिज्ञः ॥५॥
संबुध्यमानः पुनरपि स्थितवान् भगवानुत्थाय।
निष्क्रम्यैकदा रात्रौ बहिश्चङ्क्रम्य मुहूर्तकम् ॥६॥
शयनेषु तत्रोपसर्गाः भीमा आसन्ननेकरूपाश्च।
संसर्पकाश्च ये प्राणिनोऽथवा ये पक्षिणः उपचरंति ॥७॥
अथ कुचरा उपचरंति ग्रामरक्षाश्च शक्तिहस्ताश्च।
अथ ग्रामिका उपसर्गाः स्त्रियः एकाकिनः पुरुषाश्च ॥८॥

शब्दार्थ—भगवं=भगवान्। पगामाए=अधिक। णिद्दंपि नो सेवइ=निद्रा भी नहीं लेते थे। उट्ठाए=उत्थित होकर। अप्पाणं जग्गावइ=आत्मा को जागृत करते थे। इसिं साई य=उनका अल्प-शयन भी। अपडिन्ने=प्रतिज्ञारहित था अर्थात्—सोने के लिए नहीं सोते थे ॥५॥ संबुज्झमाणे=प्रमाद को संसार-पात का कारण समझकर अप्रमत्त रहते हुए भी (नींद आने लगती तो) पुणरवि=पुनः। भगवं=भगवान्। उट्ठाए आसिंसु=सीधे तनकर बैठते। एगया=कभी। राओ=रात्रि में। बहि निक्खम्म=बाहर निकलकर। मुहुत्तागं=मुहूर्त्त तक। चंकमिया=भ्रमण करते थे ॥६॥ तत्थ सयणेहिं=इन स्थानों में रहते हुए। अणेगरूवा=नाना प्रकार के। भीमा=भयंकर। उवसग्गा आसी=उपसर्ग आते थे। जे य संसप्पगा पाणा=जो सर्प, नकुल आदि सरकने वाले प्राणी हैं। अदुवा=अथवा। जे पक्खिणो=जो गिद्ध आदि पक्षी हैं वे। उवचरन्ति=उपसर्ग देते थे ॥७॥ अदुवा=अथवा। कुचरा=कुत्सित आचरण वाले जार चोर आदि। उवचरन्ति=उपसर्ग देते थे। सत्तिहत्था=शस्त्र हाथ में रखने वाले। गामरक्खा=ग्रामरक्षक पुलिस आदि उपसर्ग देते थे। एगइया=एकाकी भगवान् को। इत्थी पुरिसा य=स्त्रियाँ और पुरुष। गामिया उवसग्गा=विषयाश्रित उपसर्ग देते थे ॥८॥

भावार्थ—साधक अवस्था में भी अप्रमत्त होकर विचरने के कारण भगवान् अधिक नींद नहीं लेते थे। (बारह वर्ष के सुदीर्घ तपश्चरणकाल में अस्थिक ग्राम में व्यन्तर के उपसर्ग के पश्चात् कायोत्सर्ग अवस्था में ही अन्तर्मुहूर्त्त तक केवल एक बार निद्रा प्रमाद का सेवन किया था परन्तु शीघ्र ही अपने आपको उन्होंने जागृत कर लिया था) कदाचित् निद्रा आने लगती तो वे उत्थित होकर आत्मा को जागृत करते थे। "अब मैं सो जाऊँ" इस भाव से भगवान् ने कभी शयन नहीं किया ॥५॥ प्रमाद पतन का कारण है यह जानकर भगवान् सविशेष जागृत रहते थे फिर भी कदाचित् निद्रा आने लगती तो उठकर

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

सीधे तनकर बैठ जाते और कभी शीतकाल की कड़कड़ाती सर्दी में रात्रि में बाहर निकलकर मुहूर्त्तभर तक भ्रमण करके निद्रा को दूर करते थे। (और पुनः ध्यानस्थ हो जाते) (परीषह की उदीरणा कर प्रमाद को हटाते थे मगर प्रमाद के वश में नहीं होते थे।) ॥६॥ पूर्वोक्त निर्जन स्थानों में रहने के कारण तरह-तरह के भयंकर उपसर्ग आते थे। सुने घर आदि में सर्प, नकुल आदि विषैले जानवर, श्मशान आदि में गिद्ध वगैरह पक्षी आकर भगवान् को कष्ट पहुँचाते थे ॥७॥ जब भगवान् शून्य घरों में ध्यानमग्न होते तब वहां छिपने या गुप्त कार्य करने की इच्छा से दुराचारी-चोर लम्पट आदि आते और (भगवान् को अपने कार्य में बाधक समझकर उन्हें वहां से हटाने के लिए कष्ट देते अथवा इसने हमें देख लिया है, यह किसी को कह देगा ऐसा समझकर) भगवान् को नाना प्रकार के कष्ट देते। कभी ग्रामरक्षक सिपाही (भगवान् को चोर या ढोंगी समझ) अपने हथियारों के द्वारा त्रास देते थे। कभी भगवान् की मनोहर मुद्रा को देखकर मुग्धा स्त्रियां और पुरुष भी उन्हें उपसर्ग देते थे ॥८॥

इहलोइयाइं परलोइयाइं भीमाइं अणेगरूवाइं।
अवि सुब्भिदुब्भिगंधाइं सद्दाइं अणेगरूवाइं ॥९॥
अहियासए सया समिए फासाइं विरूवरूवाइं।
अरइं रइं अभिभूय रीयइ माहणे अबहुवाई ॥१०॥

संस्कृतच्छाया—ऐहलौकिकान् पारलौकिकान् भीमाननेकरूपान्।
अपि सुरभिदुरभिगन्धान् शब्दाननेकरूपान् ॥९॥
अध्यासयति सदा समितः स्पर्शान् विरूपरूपान्।
अरतिं रतिमभिभूय रीयते माहनोऽबहुवादी ॥१०॥

शब्दार्थ—इहलोइयाइं=इस लोक सम्बन्धी—मनुष्यकृत या प्रतिकूल। परलोइयाइं=पारलौकिक—अनुकूल अथवा देवादिकृत। भीमाइं=भयंकर। अणेगरूवाइं=नाना प्रकार के। अवि सुब्भिदुब्भिगन्धाइं=कभी मनोज्ञ अमनोज्ञ गन्धों को। अणेगरूवाइं सद्दाइं=नाना प्रकार के मनोज्ञ-अमनोज्ञ शब्दों को ॥९॥ विरूवरूवाइं=विविध प्रकार के। फासाइं=स्पर्शों को। सया समिए=सदा समितियुक्त होकर। अहियासए=सहन करते थे। अरइं=शोक को। रइं=हर्ष को। अभिभूय=दूर करके। माहणे=वे महान् भगवान्। अबहुवादी=कभी २ बोलने वाले—प्रायः मौनी हो। रीयइ=संयम में विचरते थे ॥१०॥

भावार्थ—श्रमण भगवान् ने इहलौकिक और पारलौकिक—मनुष्य, देव और पशुजन्य अनुकूल प्रतिकूल भयंकर उपसर्गों को सहन किया। उन्होंने अनेक प्रकार के सुगन्ध और दुर्गन्ध को, मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्दों को, प्रशस्त और अप्रशस्त स्पर्शों को सदा समभावपूर्वक सहन किया। ऐसे अनुकूल-प्रति-

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

कूल परीषहों में भी वे भगवान् हर्ष और शोक से परे रहे। वे विरल-भाषी--प्रायः मौनव्रती होकर संयम में विचरण करते रहे ॥९-१०॥

स जणेहिं तत्थ पुच्छिंसु एगचरा वि एगया राओ।
अव्वाहिए कसाइत्था पेहमाणे समाहिं अपडिन्ने ॥११॥
अयमंतरंसि को इत्थ ? अहमंसि त्ति भिक्खु आहट्टु।
अयमुत्तमे से धम्मे तुसिणीए कसाइए झाइ ॥१२॥

संस्कृतच्छाया—स जनैस्तत्र (पृष्टः), पप्रच्छुः एकचरा अपि एकदा रात्रौ।
अव्याहृते कषायिताः प्रेक्षमाणः समाधिमप्रतिज्ञः ॥११॥
अयमन्तः कोऽत्र ? अहमस्मीति भिक्षुराहृत्य।
अयमुत्तमः स धर्मः तूष्णीकः कषायिते ध्यायति ॥१२॥

शब्दार्थ—एगया=कभी दिन में या। राओ=रात्रि में। एगचरा वि=अकेले घूमने वाले चोर-जार आदि। पुच्छिंसु=पूछते थे कि तू कौन है ? स जणेहिं=वह भगवान् मनुष्यों के द्वारा पूछे जाने पर। अव्वाहिए=उत्तर नहीं देते थे तो। कसाइत्था=वे क्रोधित होकर मारने लगते। अपडिन्ने=अप्रतिज्ञ-बदला न लेने वाले भगवान्। समाहिं पेहमाणे=समाधि में लीन होकर सब सहन करते ॥११॥ अयमंतरंसि को इत्थ=यहाँ अन्दर कौन है ? ऐसा पूछे जाने पर। अहमंसि त्ति भिक्खु=मैं भिक्षु हूँ ऐसा। आहट्टु=उत्तर देते। कसाइए=उस गृहस्थ के कुपित होने पर भी। अयमुत्तमे से धम्मे=यह उत्तम आचार है ऐसा मानकर। तुसिणीए=चुप-चाप। झाइ=ध्यान में लीन रहते ॥१२॥

भावार्थ—कभी दिन में या रात्रि के समय भगवान् निर्जनस्थान में कायोत्सर्ग करके खड़े होते उस समय चोर, जार या अन्य लोग आकर उन्हें पूछते कि तू कौन है ? क्यों खड़ा है ? ध्यानमग्न भगवान् की ओर से उत्तर न मिलने पर वे लोग क्रोध से भर जाते और मारने लगते परन्तु वे योगीश्वर बदला लेने का विचार तक न करते हुए समाधि में लीन रहते ॥११॥ जब भगवान् चिन्तन-मन्थन में मग्न होते उस समय कोई आकर पूछता कि यहां कौन खड़ा है ? तो भगवान् (ध्यान में न होते तो) उत्तर देते कि "मैं भिक्षु हूँ"। ऐसा कहने पर यदि वह क्रोध से भरा हुआ उस स्थान को छोड़ने के लिए कहता तो भगवान् वहां से चल देते थे। अथवा (जाने का अवसर न होने पर) उस गृहस्थ के कुपित होने पर भी भगवान् मौन रहकर यह प्रधान आचार है ऐसा मानकर सब कुछ सहन करने के लिए तैयार होकर ध्यान-लीन हो जाते थे ॥१२॥

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

जंसिप्पेगे पवेयन्ति सिसिरे मारुए पवायंते ।
तंसिप्पेगे अणगारा हिमवाए निवायमेसन्ति ॥१३॥
संघाडीओ पवेसिस्सामो एहा य समादहमाणा ।
पिहिया व सक्खामो अइदुक्खे हिमगसंफासा ॥१४॥
तंसि भगवं अपडिन्ने अहे विगडे अहियासए ।
दविए निक्खम्म एगया राओ ठाइए भगवं समियाए ॥१५॥
एस विही अणुक्कन्तो माहणेण मईमया ।
बहुसो अपडिन्नेण भगवया एवं रीयन्ति ॥१६॥ त्ति बेमि ।

संस्कृतच्छाया—यस्मिन्नप्येके प्रवेपन्ते शिशिरे मारुते प्रवाति ।
तस्मिन्नप्येकेऽनगाराः हिमवाते निवातमेषन्ति ॥१३॥
संघाटीः प्रवेक्ष्यामः एधाश्च समादहन्तः ।
पिहिताः वा शक्ष्यामोऽतिदुःखं हिमसंस्पर्शाः ॥१४॥
तस्मिन् भगवानप्रतिज्ञः, अधोविकटेऽध्यासयति ।
द्रविको निष्क्रम्यैकदा रात्रौ स्थितो भगवान् समतया ॥१५॥
एष विधिरनुक्रान्तो माहनेन मतिमता ।
बहुशोऽप्रतिज्ञेन भगवता एवं रीयन्ते ॥१६॥ इति ब्रवीमि ॥

शब्दार्थ—जंसि पि सिसिरे=जिस शिशिर ऋतु में । मारुए पवायंते=ठंडी हवा चलने पर । एगे पवेयन्ति=सब कोई काँपने लगते हैं । तंसि पि हिमवाए=उस ठंडी हवा में । एगे अणगारा=कोई २ साधु । निवायमेषन्ति=वायुरहित स्थान की गवेषणा करते हैं ॥१३॥ संघाडीओ पवेसिस्सामो=ठंड लगने पर दो तीन वस्त्र धारण करेंगे । एहा य समादहमाणा=तापस आदि आग सुलगाते हैं । पिहिया वा सक्खामो=कम्बल आदि से शरीर ढँक कर ठंड सहन कर सकेंगे। हिमगसंफासा अइदुक्खे=शीतस्पर्श को सहन करना बड़ा कठिन है ॥१४॥ तंसि=उस शिशिर ऋतु में । अपडिन्ने भगवं=किसी बात की इच्छा न करने वाले भगवान् । अहे विगडे=किसी वृक्षादि के नीचे खुले स्थान में रहकर । अहियासए=शीत सहन करते थे । दविए भगवं=वे संयमी भगवान् । एगया राओ निक्खम्म=कभी अत्यन्त शीत से बाधित होने पर थोड़ी देर बाहर रहकर । समियाए ठाइए=समभावपूर्वक अन्दर आकर ध्यानस्थ हो जाते ॥१५॥ सोलहवीं गाथा का शब्दार्थ प्रथम उद्देशक में लिखा जा चुका है ।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

भावार्थ—जिस शिशिर ऋतु में ठंडी हवा चलती है, लोग थरथर कांपते हैं, जब दूसरे कई साधु (अन्यतीर्थी अग्नि सुलगाते हैं, गर्म कम्बल आदि खोजते फिरते हैं) वायु न आ सके ऐसा बन्द स्थान खोजते हैं ॥१३॥ कई साधु दो-तीन वस्त्र धारण करने का सोचते हैं, कई तापस ईन्धन जलाते हैं, कई कम्बल से शरीर ढँककर शीत सहन करने की सोचते हैं, इस प्रकार जब ठंड सहन करना बड़ा कठिन होता है ॥१४॥ उस शिशिरऋतु में वे संयमीश्वर भगवान् इच्छारहित होकर किसी वृक्षादि के नीचे रहकर ठन्ड सहन करते थे। किसी समय अत्यधिक शीत से बाधित होने पर मुहूर्त्त मात्र रात्रि में बाहर रहकर समभाव से अन्दर आकर ध्यानस्थ होकर शीतस्पर्श सहन करते थे ॥१५॥ मतिमान् माहन भगवान् ने बिना किसी कामना के इस विधि का पालन किया। अन्य मुमुक्षु साधक भी इसी प्रकार इस विधि का अनुसरण करते हैं ऐसा मैं कहता हूँ॥१६॥

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

उपधानश्रुताख्य नवम अध्ययन

—तृतीय उद्देशकः—

(अनुपम सहिष्णुता)

गत दो उद्देशकों में श्रमण भगवान् महावीर के पादविहार और सम-विषम आवासस्थानों का वर्णन किया गया है। संयमी साधक के साधना-मार्ग में पल-पल पर और पद-पद पर परीषह-उपसर्ग आते ही रहते हैं। साधना का मार्ग अति विषम और विकट है। इस कण्टकाकीर्ण मार्ग पर चलने के लिए अखूट धैर्य, कष्ट-सहिष्णुता और मानसिक दृढ़ता की आवश्यकता होती है। संकट और प्रलोभनों से विचलित न होने वाला साधक ही इस मार्ग पर सफलतापूर्वक प्रयाण कर सकता है। श्रमण भगवान् महावीर ने भयंकर-संकटों को सहन किया और अपने दृढ़ आत्मबल के द्वारा आर्य-अनार्य क्षेत्रों में विचर कर साधना में सफलता प्राप्त की। अनार्य क्षेत्रों में विचरते हुए भगवान् को कैसे २ कष्टों का सामना करना पड़ा और वे उन कष्टों में भी कैसे चट्टान की तरह दृढ़ एवं स्थिर रहे यह इस उद्देशक में बताया है—

तणफासे सीयफासे य तेउफासे य दंसमसगे य ।
अहियासए सया समिए फासाइं विरूवरूवाइं ॥१॥
अह दुच्चर लाढमचारी वज्जभूमिं च सुब्भभूमिं च ।
पंतं सिज्जं सेविंसु आसणगाणि चेव पंताणि ॥२॥
लाढेहिं तस्सुवस्सग्गा बहवे जाणवया लूसिंसु ।
अह लूहदेसिए भत्ते कुक्कुरा तत्थ हिंसिंसु निवइंसु ॥३॥
अप्पे जणे निवारेइ लूसणए सुणए दसमाणे ।
छुच्छुकारिंति आहंसु समणं कुक्कुरा दसंतु त्ति ॥४॥

संस्कृतच्छाया— तृणस्पर्शान् शीतस्पर्शांश्च तेजःस्पर्शांश्च दंशमशकांश्च ।
अध्यासयति सदा समितः स्पर्शान् विरूपरूपान् ॥१॥
अथ दुश्चरलाढं चीर्णवान् वज्रभूमिञ्च शुभ्रभूमिञ्च ।
प्रान्तां शय्यां सेवितवान् आसनानि चैव प्रान्तानि ॥२॥
लाढेषु तस्योपसर्गाः बहवो जानपदाः लूषितवन्तः ।
अथ रूक्षदेश्यं भक्तं कुर्कुरास्तत्र जिहिंसुः निपेतुः ॥३॥

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

अल्पो जनो निवारयति लूषकान् दशतः।
सीत्कुर्वन्ति कथं नाम श्रमणं कुक्कुराः दशन्तु ॥४॥

शब्दार्थ—तणफासे=तृणस्पर्शों को। सीयफासे=शीतस्पर्शों को। तेउफासे=उष्ण-स्पर्शों को। दंसमसगे य=डाँस-मच्छर के दुखों को। विरूवरूवाइं=नाना प्रकार के। फासाइं=स्पर्शों को-दुखों को। सया समिए=सदा समभावपूर्वक। अहियासए=सहन करते थे ॥१॥ अह=अनन्तर। दुच्चरलाढं=दुर्गम्य लाढ देश में। वज्जभूमिं च सुब्भभूमिं च=वज्रभूमि और शुभ्रभूमि रूप दोनों विभाग में। अचारी=विचरण किया। पंतं सिज्जं=गये बीते विषम वास-स्थान। पंताणि चेव आसणगाणि=और गये-बीते आसनों का। सेविंसु=सेवन किया ॥२॥ लाढेहिं=लाढ देश में। तस्स=उन भगवान् को। बहवे उवसग्गा=बहुत उपसर्ग सहन करने पड़े। जाणवया=उस देश के रहने वाले अनार्य लोग। लूसिंसु=मारते और दाँतों से काटते थे। भत्ते=आहार भी। लूहदेसिए=लूखा और सूखा मिलता था। तत्थ=वहाँ=कुक्कुरा=कुत्ते। हिंसिंसु=कष्ट देते। निवइंसु=काटने के लिए ऊपर पड़ते थे ॥३॥ अप्पे जणे=अल्प-हजार में कोई एक आदमी। लूसणए=कष्ट देते हुए। दसमाणे=काटते हुए। सुणए=कुत्तों को। निवारेइ=रोकता था। आहंसु=वे अनार्य भगवान् को मारते। छुच्छुकारिंति=कुत्तों को छू-छू करते और चाहते कि। समणं=इस साधु को। कुक्कुरा दसंतु त्ति=कुत्ते काट लें ॥४॥

भावार्थ—श्रमण भगवान् महावीर तृण के तीक्ष्ण स्पर्श, ठण्ड, गर्मी और डांस-मच्छर के डंक आदि विविध परीषहों को समभावपूर्वक सहन करते थे। (उन दुखों से उनके चित्त में तनिक भी विचार या विकार नहीं होता था। उन दुखों से बचने तक का विचार नहीं आता था ॥१॥ वे दीर्घ तपस्वी महावीर दुर्गम्य *लाढ देश के वज्रभूमि और शुभ्रभूमि नामक दोनों विभाग में विचरे थे। वहां उन्हें रहने में लिए एकदम गये-बीते स्थान (उपद्रव युक्त खँडहर आदि) मिलते और बैठने के लिए आसन भी घूल आदि से भरे हुए और विषम ही मिलते थे ॥२॥ लाढदेश में विचरते हुए भगवान् को बहुत से कष्ट उठाने पड़े। वहां के अनार्य लोग भगवान् को मारते और दांतों से काटने दौड़ते थे। भगवान् को वहां बड़ी कठिनाई से रूखा-सूखा आहार मिलता था। वहां के कुत्ते भगवान् को कष्ट देते और काटने के लिए ऊपर गिरते थे ॥३॥ वहां के अनार्य और असंस्कारी लोगों में हजार में से कोई एक उन कष्ट देते हुए और काटने के लिए दौड़ते हुए कुत्तों को रोकता था। शेष लोग तो कुतूहल से छू-छू करके उन कुत्तों को काटने के लिए प्रेरणा करते। वे अनार्य लोग भगवान् को दण्डादि से मारते भी थे। (इन सब कष्टों को शान्त और समभाव से सहन करते हुए भगवान् छह मास तक वहां-अनार्य देश में विचरे ॥४॥

*यह प्रदेश वर्त्तमान उड़ीसा प्रान्त की सीमा पर और प्राचीन सूत्र की दृष्टि से वज्र अथवा चेदी देश की सीमा होना चाहिए ऐसी "प्राचीन भारतवर्ष" के लेखक की कल्पना है। अन्य ग्रन्थकार इस प्रदेश को श्रावस्ती नगरी के में हिमालय बरफ के पहाड़ी प्रदेश में होना बताते हैं। इनमें सत्य क्या है सो इतिहासज्ञ विचारें।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

एलिक्खए जणा भुज्जो बहवे वज्जभूमि फरुसासी।
लट्ठिं गहाय नालियं समणा तत्थ य विहरिंसु ॥५॥
एवं पि तत्थ विहरन्ता पुट्ठपुव्वा अहेसि सुणिएहिं।
संलुंचमाणा सुणएहिं दुच्चराणि तत्थ लाढेहिं ॥६॥
निहाय दण्डं पाणेहिं तं कायं वोसज्ज मणगारे।
अह गामकण्टए भगवन्ते अहियासए अभिसमिच्चा ॥७॥
नागो संगामसीसे वा पारए तत्थ से महावीरे।
एवं पि तत्थ लाढेहिं अलद्धपुव्वो वि एगया गामो ॥८॥

संस्कृतच्छाया—ईदृश्यां जनाः भूयो बहवो वज्रभूमौ परुषाशिनः।
लष्टिं गृहीत्वा नालिकां श्रमणास्तत्र च विजह्रुः ॥५॥
एवमपि तत्र विहरन्तः स्पृष्टपूर्वाः आसन् श्वभिः।
संलुच्यमानाः श्वभिर्दुश्चराणि तत्र लाढेषु ॥६॥
निधाय दण्डं प्राणिषु तत्कायं व्युत्सृज्यानगारः।
अथ ग्रामकण्टकान् भगवानध्यासयत्यभिसमेत्य ॥७॥
नागो संग्रामशीर्षे वा पारगस्तत्र स महावीरः।
एवमपि तत्र लाढेषु अलब्धपूर्वोऽप्येकदा ग्रामः ॥८॥

शब्दार्थ—एलिक्खए=इस प्रकार की। वज्जभूमि=वज्रभूमि में। भुज्जो=पुनः पुनः भगवान् विचरे। बहवे जणा=अधिकांश मनुष्य। फरुसासी=रूक्ष भोजन करने वाले थे। तत्थ=उस लाढ देश में। समणा=बौद्ध आदि श्रमण। लट्ठिं=लाठी। नालियं=शरीर से चार अंगुल बड़ी लकड़ी। गहाय=हाथ में रखकर। विहरिंसु=विचरते थे ॥५॥ तत्थ=वहाँ। एवं पि विहरन्ता=इस प्रकार विचरने पर भी। सुणिएहिं पुट्ठपुव्वा अहेसि=कुत्ते उनके पीछे लगे रहते। सुणएहिं संलुंचमाणा=वे कुत्तों के द्वारा काटे जाते। तत्थ लाढेहिं=उस लाढ देश में। दुच्चराणि=विचरना बड़ा कठिन है ॥६॥ पाणेहिं=जीवों की। दण्डं निहाय=हिंसादि का त्याग करके। तं कायं वोसज्ज=अपने देह-भान को भूलकर। गामकण्टए=कठोर वचनों को। भगवन्ते=भगवान्। अभिसमिच्चा=निर्जरा और समभाव का विचार कर। अहियासए=सहन करते थे ॥७॥ संगामसीसे नागो वा=जैसे संग्राम में हाथी आगे रहकर विजय पाता है इसी तरह। तत्थ से महावीरे पारए=वहाँ अनार्यदेश में भगवान् महावीर परीषहों को जीतकर पार हुए। तत्थ लाढेहिं=उस लाढ देश में। एगया=कभी २ तो। गामो अलद्धपुव्वो वि=रहने के लिए ग्राम भी नहीं मिलता था ॥८॥

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

भावार्थ—ऐसे अनार्य लोगों की बस्ती में भगवान् महावीर एकबार ही नहीं, अनेक बार विचरे। उस वज्रभूमि के निवासियों को (भूमि की कठोरता के कारण या अन्य कारणों से) खाने के लिए कम और रूखा मिलता था। (इसलिए वे तामसी प्रकृति वाले और क्रोधी थे अतः साधु को भिक्षा के लिए आता हुआ दूर से देखकर ही द्वेषी बनकर कुत्तों को छू-छू करके उस साधु की तरफ दौड़ा कर उपद्रव करते थे।) उस प्रदेश में विचरने वाले शाक्यादि श्रमण उस उपद्रव से बचने के लिए हाथ में लकड़ी और नालिका (शरीर-प्रमाण से चार अंगुल बड़ी लकड़ी) रखते थे ॥५॥ इस प्रकार लकड़ी रखकर विचरने पर भी कुत्ते उनके पीछे लगे रहते और उन्हें काट खाते थे। उस लाढप्रदेश में विचरना आर्यों के लिए बड़ा विकट था ॥६॥ ऐसे भयंकर देश में भी भगवान् ने दुख देने वाले प्राणियों को भी दण्ड देने के विचार का त्याग करके (किसी भी प्राणी के प्रति मन, वचन और कर्म से अशुभ प्रवृत्ति न करते हुए) अपने देह का भान भूलकर विहार किया। इतना ही नहीं किन्तु उन अनार्य लोगों के कठोर वचनों को भी भगवान् ने निर्जरा-हेतु जानकर समभावपूर्वक सहन किया ॥७॥ जैसे उत्तम हाथी संग्राम में अग्रभाग पर रहता है (विरोधी के प्रहारों की परवाह न करता हुआ आगे बढ़ता जाता है) उसी प्रकार लाढ देश में परीषहों की परवाह न करते हुए भगवान् महावीर उनके पारगामी हुए। उस लाढ देश में ग्राम इतने विरल थे कि चलते २ सांझ हो जाने पर भी कभी २ ठहरने के लिए ग्राम तक नहीं मिलता (और भगवान् को वहीं वृक्ष के नीचे रह जाना पड़ता था।)

उवसंकमन्तमपडिन्नं गामन्तियम्मि अप्पत्तं ।
पडिनिक्खमित्तु लूसिंसु एयाओ परं पलेहित्ति ॥९॥
हयपुव्वो तत्थ दण्डेण अदुवा मुट्ठिणा अदु कुन्तफलेण ।
अदु लेलुणा कवालेण हन्ता हन्ता बहवे कन्दिंसु ॥१०॥
मंसाणि छिन्नपुव्वाणि उट्ठभिया एगया कायं ।
परीसहाइं लुंचिंसु अदुवा पंसुणा उवकरिंसु ॥११॥
उच्चालइय निहणिंसु अदुवा आसणाउ खलइंसु ।
वोसट्ठकाय पणया ऽऽसी दुक्खसहे भगवं अपडिन्ने ॥१२॥

संस्कृतच्छाया—उपसंक्रामन्तमप्रतिज्ञम् ग्रामान्तिकमप्राप्तम् ।
प्रतिनिष्क्रम्यालूलिषुः इतः परं पर्येहीति ॥९॥
हतपूर्वस्तत्र दण्डेनाथवा मुष्टिनाऽथवा कुन्तफलेन ।
अथवा लोष्ठुना कपालेन हत्वा २ बहवश्चक्रन्दुः ॥१०॥
मांसानि छिन्नपूर्वाणि अवष्टभ्यैकदा कायं ।
परीषहाश्चालुञ्चिषुः अथवा पांसुनाऽवकीर्णवन्तः ॥११॥

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

उत्क्षिप्य निहतवन्तः अथवाऽऽसनात् स्खलितवन्तः।
व्युत्सृष्टकायः प्रणतः आसीद् दुःखसहो भगवानप्रतिज्ञः ॥१२॥

शब्दार्थ—अपडिन्नं=नियत निवास आदि की प्रतिज्ञा न करने वाले। उवसंकमंतं= भोजन या स्थान के लिए वस्ती में आने का विचार करने वाले भगवान् के। गामंतियम्मि अप्पत्तं=ग्राम के पास पहुँचते न पहुँचते तक (तो ग्रामवासी) पडिनिक्खमित्तु=ग्राम से बाहर आकर। लूसिंसु=भगवान् को मारते और कहते कि। एयाओ=यहाँ से। परं=दूसरे स्थान पर। पलेहित्ति=चला जा ॥९॥ तत्थ=वहाँ। दण्डेण=लकड़ी से। अदुवा मुट्ठिणा=अथवा मुष्टियों से। अदुवा कुन्तफलेण=अथवा भाले की नौंक से। अदु लेलुणा=अथवा मिट्टी के ढेले से। कवालेण= घड़े की ठिकरियों से। हयपुव्वो=मारते थे। हन्ता-हन्ता=मार-मार कर। बहवे कंदिंसु=बहुत से अनार्य कोलाहल करते थे। ॥१०॥ मंसाणि छिन्नपुव्वाणि=कई बार वे भगवान् के शरीर से मांस काट लेते थे। एगया=कभी। कायं उट्ठंभिया=शरीर पर आक्रमण कर। परीसहाइं लुञ्चिंसु= नाना प्रकार के कष्ट थे। अदुवा=अथवा। पंसुणा उवकरिंसु=धूल बरसाते थे ॥११॥ उच्चालइय= ऊँचा उठाकर। निहणिंसु=नीचे पटक देते थे। अदुवा आसणाओ खलइंसु=अथवा आसन से गिरा देते थे। अपडिन्ने=बिना किसी दुख-प्रतीकार की भावना के। दुक्खसहे=दुख सहन करने वाले। भगवं=भगवान्। वोसट्ठकाय पणयासी=शरीर की ममता को छोड़कर परीषह सहन करते थे ॥१२॥

भावार्थ—नियत निवास आदि की प्रतिज्ञा न करने वाले भगवान् भोजन या स्थान की गवेषणा करने के विचार से ग्राम के सन्निकट पहुँचते या न पहुँचते कि कितनेक अनार्य लोग गांव से बाहर निकलकर सामने जाकर भगवान् को मारने लगते और कहते कि "यहां से दूसरी जगह चला जा ॥९॥ लाढदेश के वे अनार्य लोग लकड़ी से मुक्कों से अथवा भाले की नौंक से या ईंट-पत्थर से अथवा घट के खप्पर से मारते थे और ऊपर से चिल्लाते थे कि देखो! देखो! यह कैसा है? इत्यादि ॥१०॥ कभी-कभी वहां रहने वाले अनार्य लोग भगवान् के शरीर का मांस भी काट लेते थे। कभी उनके शरीर पर आक्रमण कर नाना प्रकार के कष्ट देते थे और उन पर धूल की वर्षा करते थे ॥११॥ कभी भगवान् को ऊँचा उठाकर नीचे जमीन पर पटक देते थे। कभी ध्यान के लिए गोदोहासन या वीरासन से बैठे होते तो धक्का देकर जमीन पर लुढका देते थे। परन्तु इन सब परिस्थितियों में भी कष्टों का प्रतीकार करने का संकल्प तक न करने वाले कष्ट-सहिष्णु भगवान् शरीर के ममत्व को दूर कर समभावपूर्वक परीषह सहन करते थे ॥१२॥

सूरो संगाम सीसे वा संवुडे तत्थ से महावीरे।
पडिसेवमाणे फरूसाइं अचले भगवं रीइत्था ॥१३॥

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

एसविही अणुक्कन्तो माहणेण मईमया।
बहुसो अपडिन्नेणं भगवया एवं रीयन्ति ॥१४॥त्ति बेमि॥

संस्कृतच्छाया—शूरः संग्रामशीर्षे वा संवृतस्तत्र स महावीरः।
प्रतिसेवमानश्च परुषान् अचलो भगवान् रीयते स्म ॥१३॥
एष विधिरनुक्रान्तो माहनेन मतिमता।
बहुशोऽप्रतिज्ञेन भगवता एवं रीयन्ते ॥१४॥इति ब्रवीमि॥

शब्दार्थ—संगामसीसे वा=संग्राम के अग्रभाग पर। संवुडे सूरो=कवच से रक्षित शूरवीर (शस्त्रों से छिन्न-भिन्न नहीं होता है इसी तरह) तत्थ=लाढ देश में। से महावीरे=वह भगवान् महावीर। फरुसाइं=कठोर दुखों को। पडिसेवमाणे=झेलते हुए भी। अचले भगवं=वे भगवान् मेरु की तरह दृढ़ होकर। रीइत्था=विचरण करते रहे ॥१३॥ चौदहवीं गाथा का शब्दार्थ पूर्ववत्।

भावार्थ—जिस प्रकार कवच से सुसज्जित वीर-सुभट युद्ध के अग्रभाग पर रहता हुआ भी शस्त्रों से छिन्न-भिन्न नहीं होता है इसी प्रकार धैर्य से सुरक्षित भगवान् भी परीषहों को झेलते हुए तनिक भी विचलित न हुए। वे मेरु की भांति अडोल रहकर संयममार्ग में विचरण करते रहे ॥१३॥ मतिमान् माहन भगवान् महावीर ने बिना किसी कामना के इस विधि का आचरण किया है। अन्य मुमुक्षु भी इस विधि का आचरण करते हैं। ऐसा मैं कहता हूँ ॥१४॥

इति तृतीयोद्देशकः

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

उपधानश्रुताख्य नवम अध्ययन

—चतुर्थ उद्देशकः—

(महावीर की तपश्चर्या)

गत उद्देशक में भगवान् की अनुपम उपसर्ग-सहिष्णुता का वर्णन किया गया है। भगवान् न केवल पर-कृत उपसर्गों को ही सहन करते थे वरन् तपश्चर्या के हेतु स्वेच्छा से भी दुखों का आह्वान करते थे। तपश्चर्या धर्म का अनिवार्य अङ्ग है। अहिंसा, संयम और तप की त्रिपुटी ही धर्म कहलाती है। भगवान् के साधक-जीवन में धर्म ताने-बाने की तरह बुन गया था। अथवा यों कहना चाहिए कि भगवान् साक्षात् धर्ममय बन गये थे। धर्म के दो तत्त्व अहिंसा और संयम भगवान के जीवन में किस प्रकार ओत-प्रोत हो गये थे यह पहले बताया जा चुका है। इस उद्देशक में उनके तप का वर्णन किया जाता है।

आत्मा की सुषुप्त शक्तियों को जागृत करने के लिए तप की आवश्यकता को सब महापुरुषों ने स्वीकार किया है। श्रमण भगवान् महावीर ने तो तपश्चर्या पर अधिक भार दिया और वे साढ़े बारह वर्ष पर्यन्त कठोर तपश्चर्या में लीन रहे इसीलिए वे 'दीर्घ तपस्वी महावीर' के रूप में विख्यात हुए।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि महाश्रमण महावीर ने अविवेकमय तप को महत्त्व नहीं दिया है अपितु ज्ञान और ध्यानमय तप को ही उन्होंने महत्त्व प्रदान किया है। विवेकहीन तपश्चर्या से आत्म-संशोधन नहीं होता अतः उसका कोई आध्यात्मिक महत्त्व नहीं है। भगवान् ने उसे बाल-तप बताया है। भगवान् की साधना में ज्ञान-ध्यान युक्त तप का प्रधान स्थान रहा है इसीलिए वे सर्वज्ञ-सर्वदर्शी भगवान् बन सके। भगवान् की तपश्चर्या का वर्णन आरम्भ करते हुए सूत्रकार कहते हैं:—

ओमोयरियं चाएइ अपुट्ठेऽवि भगवं रोगेहिं।
पुट्ठे वा अपुट्ठे वा नो से साइज्जई तेइच्छं ॥१॥
संसोहणं च वमणं च गायब्भंगणं च सिणाणं च।
संबाहणं च न से कप्पे दन्तपक्खालणं च परिन्नाय ॥२॥
विरए गामधम्मेहिं रीयइ माहणे अबहुवाई।
सिसिरम्मि एगया भगवं छायाए झाइ आसी य ॥३॥
आयावइ य गिम्हाणं अच्छइ उक्कुडए अभितावे।
अदु जावइत्थ लूहेणं ओयणमंथुकुम्मासेणं ॥४॥

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

संस्कृतच्छाया—अवमौदर्यं शक्नोति कर्तुं अस्पृष्टोऽपि भगवान् रोगैः ।
स्पृष्टो वा ऽस्पृष्टो वा न सोऽभिलषति चिकित्साम् ॥१॥
संशोधनञ्च वमनञ्च गात्राभ्यङ्गनञ्च स्नानञ्च ।
संबाधनं च न तस्य कल्पते दन्तप्रक्षालनं च परिज्ञाय ॥२॥
विरतो ग्रामधर्मेभ्यः रीयते माहनो ऽवहुवादी ।
शिशिरे एकदा भगवांश्छायायां ध्यायेत् ॥३॥
आतापयति ग्रीष्मेषु तिष्ठत्युत्कुटुको ऽभितापम् ।
अथ यापयति स्म रूक्षौदनमन्थुकुल्माषेण ॥४॥

शब्दार्थ—भगवं-भगवान् । रोगेहिं अपुट्ठेवि=रोगों से स्पृष्ट न होने पर भी । ओमोयरियं=अल्प भोजन । चाएइ=करते थे । अपुट्ठे वा=रोग न होने पर । पुट्ठे वा=या होने पर । से=वे भगवान् । तेइच्छं=चिकित्सा की । नो साइज्जइ=अभिलाषा नहीं करते थे ॥१॥ संसोहणं च=विरेचन-जुलाब । वमनं=वमन । गायब्भंगणं=शरीर पर तेल-मर्दन करना । सिणाणं च=स्नान करना । संबाहणं=हाथपैर आदि दबवाना । दन्तपक्खालणं च=और दाँत साफ करना आदि । परिन्नाय=सारे शरीर को अशुचिमय जानकर । न से कप्पे=उन्हें नहीं कल्पता था—अर्थात् वे ये क्रियाएँ नहीं करते थे ॥२॥ माहणे=वे माहन । गामधम्मेहिं=इन्द्रियों के धर्मों से—विषयों से । विरए=पराङ्मुख थे । अवहुवादी=अल्पभाषी होकर । रीयइ=विचरते थे । एगया=कभी । भगवं=भगवान् । सिसिरम्मि=शिशिर ऋतु में । छायाए=छाया में । झाई आसी य=ध्यान करते थे ॥३॥ गिम्हाणं=ग्रीष्म ऋतु में । अभितावे=तापाभिमुख होकर । उक्कुडए=उत्कट आसन से । अच्छइ=बैठते । आयावइ य=और आतापना लेते । अदु=अनन्तर । लूहेण=रूक्ष । ओयणमंथुकुम्मासेणं=चावल, बेर का चूर्ण और उड़द आदि से । जावइत्थ=निर्वाह करते थे ॥४॥

भावार्थ—श्रमण भगवान् महावीर नीरोग होते हुए भी अल्पभोजन करते थे । भगवान् का शरीर स्वाभाविक नीरोग रहता था । यदि कर्मोदय से आगन्तुक व्याधि होती तो भी वे चिकित्सा के द्वारा उसका प्रतीकार करने की इच्छा नहीं करते थे । (रोग होने पर या न होने पर शरीर को पुष्ट करने के लिए भगवान् औषधि का प्रयोग नहीं करते थे) ॥१॥ (प्रतीकार-वृत्ति से परे होने के कारण) जुलाब लेना, वमन करना, शरीर पर तेल-मर्दन करना, स्नान करना, हाथ-पांव आदि दबवाना, दांत साफ करना इत्यादि क्रियाओं का भगवान् ने (सारे शरीर को अशुचिमय जानकर) त्याग कर दिया था । (भगवान् की जीवन-चर्या ऐसी नैसर्गिक थी कि उन्हें इन सब क्रियाओं को करने की आवश्यकता ही नहीं थी) ॥२॥ वे श्रमण भगवान् इन्द्रियों के धर्मों—विषयों से विरक्त रहते थे और अल्पभाषी होकर विचरते थे । (प्रायः मौन रहते थे ।) वे शिशिर ऋतु में शीतल छाया में धर्मध्यान—शुक्लध्यान ध्याते थ ॥३॥ वे ग्रीष्म ऋतु में ताप के सामने मुख रखकर (सूर्य के अभिमुख होकर) उत्कट आदि आसन करके आता-

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

पना लेते थे। वे रूखे-सूखे चावल, बेर का चूर्ण, उड़द आदि नीरस आहार से निर्वाह कर लेते थे। (भोजन का उद्देश्य क्षुधा की शान्ति करना है स्वाद लेना नहीं। अतः स्वाद पर विजय प्राप्त करना साधकों का कर्त्तव्य है) ॥४॥

एयाणि तिन्नि पडिसेवे अट्ठ मासे अजावयं भगवं ।
अपिइत्थ एगया भगवं अद्धमासं अदुवा मासंपि ॥५॥
अवि साहिए दुवे मासे छप्पि मासे अदुवा विहरित्था ।
राओवरायं अपडिन्ने अन्नगिलायमेगया भुञ्जे ॥६॥
छट्ठेण एगया भुञ्जे अदुवा अट्ठमेण दसमेणं ।
दुवालसमेण एगया भुञ्जे पेहमाणे समाहिं अपडिन्ने ॥७॥
णच्चा एं से महावीरे नोऽवि य पावगं सयमकासी ।
अन्नेहिं वा ण कारित्था कीरंतंपि नाणुजाणित्था ॥८॥

संस्कृतच्छाया—एतानि त्रीणि प्रतिसेवतेअष्टौ मासानयापयद् भगवान् ।
अपिबदेकदा भगवानर्द्धमासमथवा मासमपि ॥५॥
अपि साधिकौ द्वौ मासौ षड्मासानथवा विहृतवान् ।
रात्रौपरात्रमप्रतिज्ञः पर्युषितमेकदा भुक्तवान् ॥६॥
षष्ठेनैकदा भुंक्ते, अथवाष्टमेन दशमेन ।
द्वादशमेनैकदा भुंक्ते प्रेक्षमाणः समाधिमप्रतिज्ञः ॥७॥
ज्ञात्वा स महावीरो नापि च पापकं स्वयमकार्षीत् ।
अन्यैर्वा नाचीकरत् क्रियमाणमपि नानुज्ञातवान् ॥८॥

शब्दार्थ—एयाणि तिन्नि पडिसेवे=चावल, बेर-चूर्ण और कुल्माष इन तीनों का ही सेवन करके। भगवं=भगवान् ने। अट्ठमासे अजावयं=आठ मास व्यतीत किए। एगया=कभी। भगवं=भगवान्। अद्धमासं अदुवा मासंपि=पन्द्रह पन्द्रह दिन और महीने-महीने तक। अपिइत्थ=जल भी नहीं पीते थे ॥५॥ अवि साहिए दुवे मासे=कभी दो-दो महीनों से अधिक। छप्पि मासे=छह छह महीने तक भगवान् पानी तक नहीं पीते हुए। राओवरायं अपडिन्ने=रात-दिन निरीह होकर विहरित्था=विचरते थे। एगया=कभी (पारणे के दिन)। अन्नगिलायं=नीरस आहार। भुञ्जे=काम में लेते ॥६॥ एगया छट्ठेण भुञ्जे=वे कभी दो दिन के बाद खाते। अदुवा अट्ठमेण दसमेण=अथवा तीन-तीन दिन बाद, चार-चार दिन बाद। एगया दुवालसमेण=कभी पांच-पांच दिन बाद। अपडिन्ने=निरासक्त होकर। समाहिं पेहमाणे=शरीर-समाधि का विचार कर।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

भुञ्जे=आहार करते थे ॥७॥ णच्चा=हेय-उपादेय को जानकर। से महावीरे=उन महावीर ने। सयं पावगं नोवि य अकासी=स्वयं पापकर्म नहीं किया। अन्नेहिं वा ण कारित्था=अन्य से नहीं कराया। कीरंतंपि नाणुजाणित्था=करते हुए को अनुमोदन भी नहीं दिया ॥८॥

भावार्थ—भगवान् ने (चावल, बेर-चूर्ण और उड़द के बाकुल) इन तीन वस्तुओं का सेवन करके आठ मास तक देह का निर्वाह किया। (लगातार आठ मास तक इन नीरस वस्तुओं का ही आहार करना कितनी उग्र तपश्चर्या है!) भगवान् पन्द्रह-पन्द्रह दिन तक और मास-मास तक आहार तो क्या, जल तक नहीं पीते थे ॥५॥ कभी दो मास से भी अधिक समय तक और कभी छह-छह मास तक आहार-पानी का सर्वथा त्याग कर भगवान् रात-दिन निरीह (भोजनादि की इच्छा रहित) होकर विचरते थे। वे पारणे में भी सादा-नीरस भोजन ही करते थे ॥६॥ वे भगवान् कभी दो-दो दिन के अन्तर से, कभी तीन-तीन के अन्तर से, कभी चार-चार दिन के अन्तर से, कभी पांच-पांच दिन के अन्तर से, कभी छह-छह दिन के अन्तर से आहार करते थे। वे समाधि का विचार कर पारणे में अनासक्त-भाव से सादा आहार करते थे ॥७॥ हेय-उपादेय को जानकर श्रमण भगवान् महावीर ने स्वयं पापकर्म नहीं किया, अन्य से नहीं करवाया और करते हुए दूसरे को अनुमोदन भी नहीं दिया ॥८॥

विवेचन—दीर्घतपस्वी श्रमण भगवान् महावीर की तपश्चर्या का वर्णन करते हुए सूत्रकार ने प्रथम ऊनोदरी—अल्पाहार की, तत्पश्चात् स्वादविजय की बात कही है और अन्त में उपवास से लेकर छह-छह मास तक उनके निर्जल-निराहार रहने का कथन किया है। सूत्रकार के इस कथन से क्रमपूर्वक शक्ति-अनुसार तपश्चर्या करने की ध्वनि निकलती है। साधक के सामने यह आदर्श होना चाहिए कि आहार स्वाद के लिए नहीं है किन्तु देह के निर्वाह के लिए है। इसलिए देह की समाधि कायम रखने के लिए अनासक्तभाव से सादा भोजन करना चाहिए। भोजन के बिना भी निर्वाह हो सकता हो और समाधि कायम रह सकती हो तो भोजन नहीं करना चाहिए। साधक को क्रमशः अभ्यास करते हुए इस स्थिति पर पहुँचना चाहिए कि वह अधिक से अधिक दिन तक निराहार रहकर भी अपनी समाधि को कायम रख सके। भगवान् महावीर की उग्र तपश्चर्या का आदर्श प्रत्येक साधक के सन्मुख सदा रहना चाहिए।

भगवान् महावीर अपनी घोरतम तपश्चर्या के कारण 'दीर्घ तपस्वी और महावीर' कहलाये। उनके समग्र-जीवन का छठे से भी अधिक भाग तपश्चर्या की गोद में बीता। उनके साधना-काल का तो प्रायः सारा समय ही तपस्या में व्यतीत हुआ। कैसी है भगवान् की उग्रतम तपश्चर्या!

भगवान् १२ वर्ष ६ मास और १४ दिन साधक अवस्था में रहे। दिनों की कुल संख्या ४५१४ होती है। इन दिनों में से ४१६५ दिन भगवान् निराहार रहे। शेष ३४९ दिन पारणा-दिवस रहे। कैसा है यह घोर तप! भगवान् की तपश्चर्या का विवरण इस कोष्टक से जानना चाहिए:—

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

अनुक्रम	तप का नाम	संख्या	दिवस संख्या	पारणा दिवस
१	पूर्ण छहमासी	१	१८०	१
२	पांच दिन कम छह मास	१	१७५	१
३	चार मासिक	६	१०८०	६
४	त्रैमासिक	२	१८०	२
५	अढ़ाई मासिक	२	१५०	२
६	द्वैमासिक	६	३६०	६
७	मासक्षमण	१२	३६०	१२
८	अर्ध मासिक	७२	१०८०	७२
९	अष्टम भक्त	१२	३६	१२
१०	षष्ठ भक्त	२२९	४५८	२२९
११	भद्र तप	१	२	०
१२	महाभद्र तप	१	४	०
१३	सर्वतोभद्र तप	१	१०	१
	कुल योग	३५१	४१६५	३४९

इस प्रकार तपश्चर्या की आग में अपने आत्मा रूपी स्वर्ण को डालकर भगवान ने उस पर लगे हुए कर्म-मैल को जलाकर नष्ट कर दिया। उनकी आत्मा कर्म-मैल से मुक्त हो गई। उन्हें निरावरण केवलज्ञान और केवलदर्शन की प्राप्ति हो गई। वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हो गये। यह है तपश्चर्या का पुनीत प्रभाव! यह है तप का विमल प्रकाश!! धन्य है महिमामय तप! और धन्य है महावीर की तपोमय साधना!!

गामं पविसे नगरं वा घासमेसे कडं परट्ठाए।
सुविसुद्धमेसिया भगवं आयतजोगयाए सेवित्था ॥९॥
अदु वायसा दिगिञ्छत्ता जे अन्ने रसेसिणो सत्ता।
घासेसणाए चिट्ठन्ति सययं निवइए य पेहाए ॥१०॥
अदुवा माहणं च समणं वा गामपिण्डोलगं च अतिहिं वा।
सोवाग मूसियारिं वा कुक्कुरं वावि विट्ठियं पुरओ ॥११॥
वित्तिच्छेयं वज्जन्तो तेसिमप्पत्तियं परिहरन्तो।
मन्दं परक्कमे भगवं अहिंसमाणो घासमेसित्था ॥१२॥

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

संस्कृतच्छाया—ग्रामं प्रविश्य नगरं वा प्रासमन्वेषयेत् कृतं परार्थाय ।
सुविशुद्धमेषित्वा भगवानायतयोगतया सेवितवान् ॥९॥
अथ वायसा बुभुक्षार्त्ताः येऽन्ये रसैषिणः सत्त्वाः ।
प्रासैषणार्थं तिष्ठन्ति (तान्) सततं निपतिताञ्च प्रेक्ष्य ॥१०॥
अथवा ब्राह्मणं च श्रमणं वा ग्रामपिण्डोलकं चातिथिं वा ।
श्वपाकमूषिकारिं वा कुक्कुरं वापि विस्थितं पुरतः ॥११॥
वृत्तिच्छेदं वर्जयन् तेषामप्रत्ययं परिहरन् ।
मन्दं पराक्रमते भगवानहिंसन् ग्रासमेषितवान् ॥१२॥

शब्दार्थ—गामं नगरं वा पविसे=ग्राम अथवा नगर में प्रवेश करके। परट्ठाए कडं= दूसरों के लिए बनाये हुए। घासमेसे=आहार की गवेषणा करते। सुविसुद्धमेसिया=निर्दोष आहार प्राप्त कर। भगवं=भगवान्। आयतजोगतया=मन, वचन, काया को संयत करके। सेवित्था=सेवन करते थे ॥९॥ अदु=अगर। दिगिंछत्ता=भूख से व्याकुल। वायसा= कौवे। जे अन्ने रसेसिणो सत्ता=अन्य पानाभिलाषी प्राणी। घासेसणाए चिट्ठन्ति=जो आहार की अभिलाषा में बैठे हैं। सयं निवइए य=और सतत भूमि पर पड़े हुए। पेहाए=देखकर ॥१०॥ अदुवा=अथवा। माहणं च समणं वा=ब्राह्मण को, शाक्यादि श्रमण को। गामपिण्डोलगं= भिखारी को। अतिहिं वा=अतिथि को। सोवागं=चाण्डाल को। मूसियारिं वा=बिल्ली को। कुक्कुरं वावि=और कुत्ते को। पुरओ विट्ठियं=सामने स्थित देखकर ॥११॥ वित्तिच्छेयं वज्जन्तो= उनकी वृत्ति में (आहार-प्राप्ति में) अन्तराय न डालते हुए। तेसिमप्पत्तियं परिहरन्तो=उनकी अप्रीति के कारण को छोड़ते हुए। अहिंसमाणे=उनको थोड़ा भी त्रास नहीं देते हुए। भगवं= भगवान्। मन्दं परक्कमे=मन्द २ चलते और। घासमेसित्था=आहार की गवेषणा करते ॥१२॥

भावार्थ—भगवान् ग्राम या नगर में प्रविष्ट होकर दूसरों के निमित्त बने हुए आहार की शोध करते थे। (उद्गमन के १६ दोषों को टालकर आहार-पानी लेते थे।) सम्पूर्ण विशुद्ध (उत्पादन के १६ दोषों से रहित) आहार की एषणा करके (एषणा के १० दोषों को टालकर ग्रहण किया हुआ आहार) मन, वचन और काया के योगों को संयत करके उपभोग में लेते थे। (मण्डल के दोषों का परिहार करते थे ॥९॥ जब भगवान् भिक्षा के लिए पधारते तब मार्ग में क्षुधा से आर्त कौवा आदि पक्षियों को या पान की अभिलाषा वाले प्राणियों को भूमि पर एकत्रित हुए देखकर अथवा किसी ब्राह्मण या शाक्यादि श्रमण को, भिखारी को, अतिथि को, चाण्डाल को, बिल्ली को, कुत्ते को और अन्य किसी प्राणी को सामने खड़ा देखकर, उनकी आजीविका में बाधा न डालते हुए, उनके लिए अप्रीतिकर न होते हुए, किसी की भी हिंसा न करते हुए (त्रास न देते हुए) धीरे से निकल जाते थे (वह स्थान छोड़कर अन्यत्र) भिक्षा की गवेषणा करते थे। (अपने निमित्त सूक्ष्म से सूक्ष्म प्राणी को भी तनिक भी कष्ट न हो इसका भगवान् पूरा-पूरा ध्यान रखते थे ॥१०–१२॥

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

अवि सूइयं वा सुक्कं वा सीयं पिण्डं पुराणकुम्मासं ।
अदु बुक्कसं पुलागं वा लद्धे पिण्डे अलद्धे दविए ॥१३॥
अवि झाइ से महावीरे आसणत्थे अकुक्कुए झाणं ।
उड्ढं अहे तिरियं च पेहमाणे समाहिमपडिन्ने ॥१४॥
अकसाई विगतगेही य सद्दरूवेसु अमुच्छिए झाइ ।
छउमत्थो वि परक्कममाणे न पमायं सइंपि कुव्वित्था ॥१५॥
सयमेव अभिसमागम्म आयतजोगमायसोहीए ।
अभिनिव्वुडे अमाइल्ले आवकहं भगवं समियासी ॥१६॥
एस विही अणुकन्तो माहणेण मईमया ।
बहुसो अपडिन्नेण भगवया एवं रीयन्ति ॥१७॥त्ति बेमि॥

संस्कृतच्छाया—अपि सूपिकं वा शुष्कं वा शीतपिण्डं पुराणकुल्माषं ।
अथवा बुक्कसं पुलाकं वा लब्धे पिण्डे अलब्धे द्रविकः ॥१३॥
अपि ध्यायति स महावीरः आसनस्थोऽकौत्कुचो ध्यानं ।
ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् प्रेक्षमाणः समाधिमप्रतिज्ञः ॥१४॥
अकषायी विगतगृद्धिश्च शब्दरूपेष्वमूर्च्छितो ध्यायति ।
छद्मस्थोऽपि पराक्रममाणो न प्रमादं सकृदपि कृतवान् ॥१५॥
स्वयमेवाभिसमागम्याऽऽयतयोगमात्मशुद्ध्या ।
अभिनिर्वृत्तोऽमायावी यावत्कथं भगवान् समित आसीत् ॥१६॥
एष विधिरनुक्रान्तो माहनेन मतिमता ।
बहुशोऽप्रतिज्ञेन भगवता एवं रीयन्ते ॥१७॥ इति ब्रवीमि ॥

शब्दार्थ—अवि सूइयं=मिला हुआ आहार चाहे दूध-दही से आर्द्र । वा सुक्कं=अथवा सूखा हो । सीयं पिण्डं=चाहे ठंडा आहार हो । पुराणकुम्मासं=बहुत दिन के पकाये हुए उड़द हों । अदु बुक्कसं=अथवा पुराने धान्य का हो अथवा पुराना सतुवा हो । पुलागं वा=जौ आदि का हो । लद्धे पिण्डे=आहार के मिलने पर । अलद्धे=न मिलने पर । दविए=भगवान् समभाव रखते थे ॥१३॥ से महावीरे=वह महावीर भगवान् । आसणत्थे=उत्कट, गोदोहिकादि आसन से स्थित होकर । अकुक्कुए=स्थिर या निर्विकार होकर । समाहिं पेहमाणे=समाधि-अन्तःकरण की शुद्धि का विचार कर । अपडिन्ने=कामनारहित होकर । झाणं झाइ=ध्यान ध्याते थे । उड्ढं, अहं, तिरियं=ध्यान में ऊर्ध्वलोक, अधोलोक, और तिर्यक् लोक के स्वरूप का विचार करते थे ॥१४॥

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

अकसाई=कषायरहित। विगयगेही=आसक्ति रहित। सद्दरूवेसु अमुच्छिए=शब्द और रूप में गृद्ध न होकर। झाइ=ध्यान करते थे। छउमत्थो वि=छद्मस्थ होते हुए भी। परक्कममाणो=संयम में पराक्रम करते हुए। सइंपि=एक बार भी। पमायं न कुव्वित्था=प्रमाद नहीं किया ॥१५॥ सयमेव=स्वयं ही। अभिसमागम्म=तत्त्व को जानकर। आयसोहीए=आत्म शुद्धि के द्वारा। आयतजोगं=योगों को संयत करके। अभिनिव्वुडे=कषायों से अतीत हुए। अमाइल्ले=मायारहित हुए। भगवं=भगवान्। आवकहं=यावज्जीवन। समियासी=समितियों से समित थे ॥१६॥ शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—प्राप्त हुआ आहार चाहे दूध-दही-घी से आर्द्र हो चाहे सूखा हो, ठंडा हो, बहुत दिन के पकाये हुए उड़द हों, पुराने धान्य का हो या पुराना सत्तुआ हो, या जौ आदि का हो, उसके मिलने पर भगवान् खेद नहीं मानते थे। आहार मिलने या न मिलने पर भी भगवान् समभाव रखते थे ॥१३॥ भगवान् महावीर उत्कट, गोदोहिक, वीरासन आदि आसनों से स्थित होकर, स्थिर—निर्विकार रहकर, अन्तःकरण की शुद्धिपूर्वक, कामनारहित होकर धर्म-ध्यान—शुक्लध्यान ध्याते थे। उसमें ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यग्लोक के स्वरूप का चिन्तन करते थे। (ध्यान-योग का यह स्वरूप अवश्य मननीय है) ॥१४॥ वे भगवान् कषायरहित और आसक्तिरहित बनते जाते थे अतः शब्द, रूप आदि इन्द्रियों के विषयों में कभी गृद्ध नहीं होते थे। वे सदा आत्म-ध्यान में लीन रहते थे। छद्मस्थ होते हुए भी संयम में प्रबल पुरुषार्थ करते हुए भगवान् ने एकबार भी प्रमाद का सेवन नहीं किया ॥१५॥ इस प्रकार श्रमण भगवान् महावीर ने स्वयं ही तत्त्वों को जानकर (स्वयं-बुद्ध होकर) आत्मशुद्धि की और मन, वचन और काया को संयत करके, मायादि कषायों से मुक्त होकर अन्त तक सत्प्रवृत्तिमय रहे और कर्मों से सर्वथा निवृत्त हुए। (तथा सिद्ध-बुद्ध बन गये) ॥१६॥ मतिमान् श्रमण भगवान् महावीर ने किसी प्रकार की कामना न रखते हुए इस उत्तम आचार का पालन किया। इसको लक्ष्य में रखकर अन्य मुमुक्षु साधक भी उसी मार्ग में विचरण करें ॥१७॥

श्री सुधर्मस्वामी ने अपने जिज्ञासु शिष्य जम्बूस्वामी से कहा कि जैसा मैंने भगवान् के मुखारविन्द से सुना, वैसा तुम्हें कहा है।

—उपसंहार—

इस प्रकार श्रमण भगवान् महावीर की तीव्रतम तपोमय साधना का और अन्ततः साध्यसिद्धि का सूत्रकार ने सूक्ष्म आलेखन किया है। इस आलेखन का अभिप्राय अन्य मुमुक्षु आत्माओं को अभीप्सित मार्ग पर प्रयाण करने के लिए प्रेरणा प्रदान करना है। जो मुमुक्षु भगवान् के प्रकाशमय जीवन से प्रकाश पाकर साधना की मंजिल को तै करता हुआ आगे बढ़ता रहता है वह अवश्य ही अपने लक्ष्य पर पहुँचेगा। मोक्षाभिलाषी आत्माओं को भगवान् का आदर्श जीवन अपने सन्मुख रखते हुए उनके बताये हुए मार्ग पर दृढ़ विश्वास के साथ प्रयाण करते रहना चाहिए। इसी में परम और चरम कल्याण है। यही सिद्धि का सोपान है।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

—नयविचार—

ग्रन्थ के अन्त में नयों का विचार करने की परिपाटी है। वैसे तो नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत–यों सात नय हैं तदपि यहाँ ज्ञान और क्रिया इन दो नयों में ही सबका समावेश कर लिया जाता है। ज्ञाननय का अभिप्राय यह है कि—ज्ञान ही प्रधान है, क्रिया नहीं। क्योंकि हेय का परित्याग और उपादेय का उपादान आदि सब प्रवृत्तियाँ ज्ञानाधीन ही हैं। ज्ञान के होने से ही क्रिया सार्थक हो सकती है। ज्ञान के अभाव में क्रिया करने से कोई लाभ नहीं होता अतः ज्ञान का प्राधान्य है। क्रियानय का अभिप्राय यह है कि क्रिया का प्राधान्य है, ज्ञान का नहीं। क्योंकि क्रिया के करने से ही फल की प्राप्ति हो सकती है, जानने मात्र से नहीं। क्रिया के बिना ज्ञान विफल है। इत्यादि पहले इस विषय में कहा जा चुका है। ये दोनों नय परस्पर निरपेक्ष हों तो मिथ्या हैं। यदि सापेक्ष हैं तो दोनों सत्य हैं। वस्तुतः ज्ञान और क्रिया का समन्वय ही विवक्षित कार्य की सिद्धि करने वाला होता है। प्रस्तुत आचाराङ्ग भी ज्ञानक्रियात्मक उभयरूप है। शास्त्र की प्रवृत्ति मोक्ष के लिए है और मोक्ष की सिद्धि ज्ञान और क्रिया के समन्वय से है अतः ज्ञान और आचार-दोनों की आराधना करनी चाहिए। ऐसा करने से ही सच्चिदानन्दमय स्वरूप की प्राप्ति हो सकती है। इति शम्! शुभं भूयात्!

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

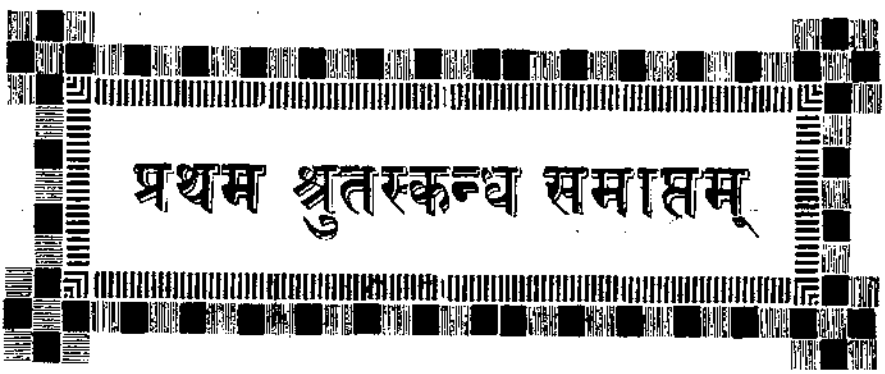

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

परिशिष्ट [अ]

विशिष्ट पाठभेद

पृष्ठ नं.

४ आउसं ! तेणं, आवसंतेणं, आमुसंतेणं ।
२४ अणुसंचरइ, अणुसंसरइ ।
२४ णायं भवइ, जं णायं भवइ ।
२४ अणुदिसाओ, सव्वाओ अणुदिसाओ ।
३३ अपरिण्णायकम्मा, अपरिण्णायकम्मे ।
३३ संधेइ, संधावइ ।
३७ जाइमरणमोयणाए, जाइमरणभोयणाए ।
४६ नियायपडिवण्णे, नियागपडिवण्णे, निकाय प.
४६ विसोत्तियं, पुव्वसंजोगं ।
५६ पुढोसत्थं, पुढोऽपासं ।
६६ पासमाणो रूवाइं, पासमाणो पासिमाइं ।
६६ सुणमाणे सद्दाइं, सुणमाणो सुणिमाइं ।
७१ आसासयं के, आगे चूर्णि में 'इमंपि अधुवं एयंपि अधुवं' भी है ।
८० एजस्स, एगस्स, एयस्स ।
८६ विणिविट्ठचित्ते, विणिविट्ठचिट्ठे । सत्थे, सत्ते ।
६० माणवाणं, असंजयाणं ।
१०७ विणाधि, विणइत्तु ।
११३ से असइं इत्यादि, एगमेगे खलु जीवे अईअद्धाए असइं उच्चागोए असइं नीयागोए, कण्डगट्ठयाए नो हीणे नो अइरित्ते (नागार्जुनीयपाठ)।
११५ पडिलेहं सातं, यहाँ "पुरिसे णं खलु दुक्खुव्वेअसुहेसए" ऐसा नागार्जुनीय पाठ है ।
१२१ पियाउया, पियायया ।
१४४ पडिसेहिओ, पडिलाभिओ ।
१८२ दिट्ठपहे, दिट्ठभए ।
१८४ तम्हा वीरे न रज्जइ, तम्हादेव विरज्जए ।
१८८ एस वीरे, सुवसु वीरे ।
२०७ आयवं नाणवं, आयवी नाणवी ।
२११ माराभिसंकी, मारावसक्की ।

पृष्ठ नं.

२४३ कम्ममूलं, कम्ममाहूय ।
२४३ विरागं रूवेहिं इत्यादि के स्थान पर 'विसयम्मि पंचगम्मियि दुविहम्मि तियं तियं । भावओ सुट्ठु जाणित्ता, से न लिप्पइ दोसु वि ।
२४६ अवरेण पुव्वि के स्थान पर-अवरेण पुव्वं किह से अईयं, किह आगमिस्सं न सरन्ति एगे । भासंति एगे इह माणवाउ, जह से अईयं तह आगमिस्सं ॥
२६१ 'उवरय जाव सगडब्भि' यह चूर्णि में नहीं है।
२६६ आघाइ नाणी यहाँ नागार्जुनीय पाठ इस प्रकार है:—आघाई धम्मं खलु से जीवाणं तं जहा-संसारपडिवन्नाणं माणुसभवत्थाणं आरंभविणईणं दुक्खुव्वेगसुहेसगाणं, धम्मसवणगवेसगाणं निक्खित्तसत्थाणं सुस्सूसमाणाणं पडिपुच्छमाणाणं विण्णाणपत्ताणं ।
२६६ पुढो जाइं पकप्पयंति, एत्थ मोहे पुणो पुणो ।
३३६ आवंती केयावंती के स्थान पर नागार्जुनीय पाठ ऐसा है—जावन्ति केइ लोए छक्कायवहं समारभंति अट्ठाए अणट्ठाए वा ।
३४२ मोहे, फासे ।
३४६ कट्टु एवमविजाणओ की जगह—जे खलु विसए सेवइ, सेवित्ता वा नालोएइ, परेण पुट्ठो निण्हवइ, अहवा तं परं सएण वा दोसेण पाविट्ठयरएण वा दोसेण उवलिंपेज्जा ।
३६८ अप्पमत्तो परिव्वए, अप्पमायं सुसिक्खेज्जा ।
३६८ अणुवासेज्जासि, अणुपालेज्जासि ।
२७६ जुद्धारिहं, जुद्धारियं ।
३८३ संविद्धपहे, संविद्धभए ।
४२८ इत्थ विरमिज्ज वेयवी, विवेगं किट्टेइ वेयवी ।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

पृष्ठ नं.

४४४ पकुव्वइ, पगब्भइ।

४४७ धूयवायं, धूओवायं धुयवायं।

४५६ अहेगे, सहिए।

४६६ लाघवं आगममाणे-भवइ, एवं खलु से उवगरणलाघवियं तवं कम्मक्खय-कारणं करेइ।

४८७ समुट्ठाए अविहिंसा सुव्वया दंता, समुट्ठाए समणा भविस्सामो अणगारा अकिंचणा अपुत्ता अपसू अविहिंसगा सुव्वय दन्ता परदत्तभोइणो पावकम्मं नो करिस्सामो।

(ग) आइक्खे विभए, यहाँ नागार्जुनीय पाठ ऐसा है—खलु भिक्खू बहुस्सुए, बब्भागमे आहरणहेउकुसले धम्मकहालद्धिसम्पन्ने खेत्तं कालं पुरिसं समासज्ज के अयं पुरिसे कं वा दरिसणं अभिसम्पन्ने एवं गुणजाईए पभू धम्मस्स आघवेत्तए।

(ब) विओवाए, वियाघाए।

(च) कालोवणीए इत्यादि, जइ खलु अहं अपुण्णे आउतेउकालं करिस्सामि तो परिण्णालोवे अकित्ती, दुग्गइगमणागमणं च भविस्सइ।

५२६ सन्निहाणसत्थस्स, सन्निहाणस्स।

५४९ से एवं वयंतस्स इत्यादि, तं भिक्खुं केइ गाहावई उवसंकमित्तु बूया—आउसंतो समणा! अहं णं तव अट्ठाए असणं वा ४

पृष्ठ नं.

अभिहडं दलामि से पुव्वामेव जाणेज्जा—आउसन्तो गाहावई! जं णं तुमं मम अट्ठाए असणं वा चेएसि नो खलु मे कप्पइ एयप्पगारं असणं वा भोत्तए वा पायए वा अन्नं वा तहप्पगारए।

५५० आसाएमाणे, आदायमाणे।

५६५ वसुमन्तो, वुसीमन्तो।

५६५ आरम्भाओ, कम्मुणाओ।

५६७ अन्तियं, कारणा।

५८१ धुववन्नं, सुहुमं वण्णं, धुवं अन्नं।

५८६ पुट्ठो वि नाभिभासिंसु, पुट्ठे व से अपुट्ठे वा, पुट्ठो व सो अपुट्ठो वा नो अणुजाइ पावगं भगवं इति नागार्जुनीय पाठः।

५९६ बहुसो अपडिन्नेण, अपडिन्नेण वीरेण।

६०१ निद्दं पि नो पगामाए सेवइ य भगवं उट्ठाए, निद्दा वि न पगामा आसी तहेव उट्ठाए।

६०२ समिए फासाइं विरूवरूवाइं सहिए इति मन्ता भगवं अणगारे।

६०४ अयमुत्तमे से धम्मे, को एत्थ सामी ठिओ।

६०५ सक्खामो, चाएस्सामो।

६१३ न से कप्पे, न सेवित्था।

६१६ झायइ समाहिमपडिन्ने, झायई समियं पेहमाणो, पेहमाणे समाहिमपडिन्ने।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

परिशिष्ट [ब]

पारिभाषिक शब्द कोष

अकुओभय— जिसके आचरण से किसी भी प्राणी को भय न हो ऐसा संयम।

अगारि— गृहस्थ साधक।

अगुत्त— जिसने अपनी इन्द्रियाँ वश में न की हो।

अणगार— गृहत्यागी साधु।

अपरिण्णायकम्मा— जो व्यक्ति हिंसादि पापकर्मों को न जाने और न उनका त्याग करे वह अपरिज्ञातकर्मा कहलाता है।

अपरिहारिअ— शिथिलाचारी साधु को 'अपरिहारिअ' कहते हैं।

अबोहि— आत्मस्वरूप का भान न होना। या सत्य देव-गुरु और धर्म की प्रतीति न होना।

असन्थ— संयम का पर्यायवाची शब्द।

आयाण— कर्मबन्धन के कारणों को आदान कहते हैं। ग्रहण करने योग्य सम्यग्दर्शन या चारित्र को भी आदान कहा जाता है।

आयार-गोयर— साधु-साध्वी के अनुष्ठान-क्रियाकलाप को 'आयार-गोयर' कहते हैं।

आरंभ— जिस क्रिया से किसी प्राणी की हिंसा होती है वह क्रिया आरम्भ है। सावद्य क्रिया और सावद्य प्रवृत्ति को भी आरम्भ कहते हैं।

आलोयणा— आत्मशुद्धि के लिए दोषों की विचारणा करने को आलोयणा कहते हैं।

आवट्ट— जिसमें प्राणी जन्म-मरण रूप परिभ्रमण करते हैं वह संसार।

आसव— जिन क्रियाओं से आत्मा में कर्मों का आगमन होता है।

उग्गहण— साधु-साध्वी किसी वस्तु को ग्रहण करने के लिए उसके स्वामी की आज्ञा लेते हैं उसे 'उग्गहण' कहते हैं।

उववाइअ— जन्म धारण करना 'उपपात' कहलाता है। आत्मा भिन्न २ गतियों और योनियों में जन्म लेता है इसलिए वह औपपातिक कहा जाता है।

उवसग्ग— दूसरों के द्वारा दिये गये कष्टों को 'उपसर्ग' कहते हैं।

उवहि— बाह्य उपकरण आदि सामग्री को 'उपधि' कहते हैं।

एसणिज्ज— साधुओं के लिए ग्राह्य निर्दोष—कल्पनीय वस्तु को 'एषणीय' कहते हैं।

कम्मसमारम्भ— ज्ञानावरणीय आदि आठ प्रकार के कर्मों के उपार्जन के कारणभूत सावद्य अनुष्ठान को कर्मसमारम्भ कहते हैं।

कसाय— राग-द्वेष या क्रोध, मान, माया, लोभ रूप मानसिक विकारों को जो संसार-वृद्धि के कारण हैं—कषाय कहते हैं।

खेयन्न— क्षेत्रज्ञ—वस्तु-स्वभाव या लोकालोक का ज्ञाता।
खेदज्ञ—संसार-परिभ्रमण के दुःख को जानने वाला।

गुण— इन्द्रियों के शब्दादि विषय को 'गुण' कहते हैं।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

चवण— देवादि की मृत्यु को 'च्यवन' कहा जाता है।

थंडिल— अचित्त भूमि को या त्याज्य वस्तुओं को त्यागने की भूमि को स्थण्डिल कहते हैं।

दविअ— कर्मों को द्रवीभूत करने के कारण संयम को द्रव कहते हैं। संयमी को 'द्रविक' कहते हैं।

दीहलोगसत्थ— पृथ्वी, जल आदि की अपेक्षा वनस्पति की आयु और शरीर की ऊँचाई अधिक है इसलिए वनस्पति को दीर्घलोक कहते हैं। उसका शस्त्र अग्नि है वह दीर्घलोक शस्त्र है।

नियाण— सांसारिक फल की इच्छा करना 'निदान' कहा जाता है।

पगप्प— आचार या अनुष्ठान विशेष को प्रकल्प कहते हैं।

पडिलेहण— साधु के उपकरणों में 'जन्तु तो नहीं है' इस भावना से विवेकपूर्वक उनको देखना।

पमज्जण— रजोहरण आदि से आसन, भूमि आदि को साफ करना।

परिण्णा— वस्तु के स्वरूप को जानकर हेय पदार्थों का परित्याग करना परिज्ञा है।

परिट्ठवण— मल-मूत्रादि त्याज्य वस्तु को विवेकपूर्वक त्यागना।

परिसव— आत्मा के साथ लगे हुए कर्मों का अंश से दूर होना—निर्जरा या परिस्रव है।

परीसह— साधुओं के कष्टों को परीषह कहते हैं।

पारिहारिअ— उत्कृष्ट आचार वाला साधु 'पारिहारिक' कहा जाता है।

फासुय— निर्जीव और साधु-साध्वी के लिए कल्पनीय वस्तु को 'प्रासुक' कहते हैं।

बाल— सद् असत् के विवेक से शून्य और रागादि मोहित व्यक्ति को 'बाल' कहते हैं।

मूलट्ठाण— संसार के मूलभूत कारण-कषायों के आश्रय को 'मूलस्थान' कहते हैं।

राइणिय— ज्ञान, दर्शन और चारित्रादि गुणों में ज्येष्ठ और श्रेष्ठ साधु को 'रात्निक' कहते हैं।

लेस्सा— अध्यवसाय या विचारों को सामान्यतया लेश्या कहा जाता है। योग के निमित्त से होने वाले आत्मा के शुभाशुभ अध्यवसाय को लेश्या कहते हैं।

विणय— कर्मों को दूर करने वाला होने से संयम को विनय भी कहते हैं।

वितिगिच्छा— धर्मक्रिया के फल के विषय में शंकाशील होना।

वियड— शीत-उष्ण आदि शस्त्र से विकार को प्राप्त हुआ प्रासुक आहार पानी।

विसोत्तिया— जिन-वचन में शंका करना अथवा मोक्षमार्ग के प्रतिकूल विचार और आचरण करना।

सण्णा— पूर्वापर विमर्शरूप विशेष प्रकार के ज्ञान को संज्ञा कहते हैं।

सम्मइ— जातिस्मरण ज्ञान, जिसके द्वारा पूर्वभव का ज्ञान होता है। अथवा अवधि मनः पर्याय और केवलज्ञान को सन्मति कहते हैं।

सम्मत्तदंसी— सत्यदृष्टि वाला या सबको समदृष्टि से देखने वाला।

संग— जिसके द्वारा जीव संसार में फँसते हैं वह कर्म 'संग' कहा जाता है।

सिज्जा— साधु-साध्वी के ठहरने योग्य स्थान को 'शय्या कहते हैं।

For Private And Personal

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailashsagarsuri Gyanmandir

For Private And Personal